शास्त्रीय-ग्रन्थमाला
[द्वितीयं पुष्पम्]

श्रीविद्यारण्यमुनिविरचिता

पञ्चदशी

श्रीरामकृष्णविरचित-'तत्त्वदीपिका'-व्याख्यया
श्रीअच्युतरायमोडकविरचित-'पूर्णानन्देन्दुकौमुदी'-व्याख्यया च समलङ्कृता

पद्मभूषण-आचार्यबलदेव-उपाध्याय महोदयानां
भूमिकया विभूषितां

सम्पादकः
आचार्यः करुणापतित्रिपाठी
कुलपतिचरः
सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालयस्य वाराणसीस्थस्य

उत्तर प्रदेश संस्कृत संस्थान
लखनऊ

२०५४ तमे वैक्रमाब्दे, १९१९ तमे शकाब्दे, १९९७ तमे खैष्टाब्दे

शास्त्रीय-ग्रन्थमाला

[द्वितीयं पुष्पम्]

श्रीविद्यारण्यमुनिविरचिता

पञ्चदशी

श्रीरामकृष्णविरचित-'तत्त्वदीपिका'-व्याख्यया
श्रीअच्युतरायमोडकविरचित-'पूर्णानन्देन्दुकौमुदो'-व्याख्यया च समलङ्कृता

पद्मभूषण-आचार्यबलदेव-उपाध्याय महोदयानां
भूमिकया विभूषितां

सम्पादकः
आचार्यः करुणापतित्रिपाठी
कुलपतिचरः
सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालयस्य वाराणसीस्थस्य

उत्तर प्रदेश संस्कृत संस्थान
लखनऊ

२०५४ तमे वैक्रमाब्दे, १९१९ तमे शकाब्दे, १९९७ तमे खैष्टाब्दे

दुर्लभ एवं अप्राप्य महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ-प्रकाशन योजनान्तर्गत
सप्तमम् पुष्पम्

प्रकाशक : डॉ. (श्रीमती) अलका श्रीवास्तवा
निदेशक
उत्तर प्रदेश संस्कृत संस्थान, लखनऊ

प्राप्ति-स्थान : विक्रय विभाग
उत्तर प्रदेश संस्कृत संस्थान,
नया हैदराबाद, लखनऊ-२२६ ००७

द्वितीय संस्करण : वि. सं. २०५४ (१९९७ ई.)

प्रतियाँ : १०००

मूल्य : रु. १५०/- (एक सौ पचास रुपये)

© उत्तर प्रदेश संस्कृत संस्थान, लखनऊ

मुद्रक शिवम् आर्टस्, २११, पांचवीं गली,
निशातगंज, लखनऊ। दूरभाष : ३८६३८६

भूमिका

'पञ्चदशी' अद्वैत वेदान्त के विवरण-प्रस्थान का प्रमुख पद्यबद्ध ग्रन्थ है। इसके रचयिता स्वामी विद्यारण्य और उनके गुरू भारतीतीर्थ हैं। यह वेदान्त दर्शन का प्रारंभिक और सर्वमान्य ग्रन्थ है। पञ्चदशी सेतुबन्ध रामेश्वर से लेकर हिमालय तक अद्वैतवेदान्त का लोकप्रिय ग्रन्थ माना जाता है।

पञ्चदशी के लेखक स्वामी विद्यारण्य त्यागी, बुद्धिमान्, कर्मकुशल और महाविभूतियुक्त पुरुष थे। इन्होंने दक्षिण के विजयनगर साम्राज्य की स्थापना बुक्क राजा के द्वारा करायी थी और साम्राज्य का संचालन भी वे स्वयं करते थे। इनका पूर्वाश्रम का नाम माधवाचार्य था। चतुर्थ संन्यास आश्रम में इनका नाम 'विद्यारण्य' हुआ। इनके पिता का नाम 'मायण' और माता का नाम 'श्रीमती' था। सायण और भोगनाथ नाम के दो छोटे भाई थे। इनके गुरु सर्वज्ञविष्णु और भारतीतीर्थ थे। पूर्वाश्रम में राज्य कार्य में परम प्रवीण माधवाचार्य ने अपनी अद्भुत योग्यता से उच्चकोटि के ग्रन्थों का निर्माण कर वेदशास्त्रों के सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया। पुनः सांसारिक सुख से विरक्त होकर और सन्यास की दीक्षा लेकर 'विद्यारण्य' मुनि के नाम से श्रृङ्गेरी मठ के शङ्कराचार्य पद को विभूषित किया। माधवाचार्य विलक्षण प्रतिभा के राजनीतिज्ञ और विविध शास्त्र के मर्मज्ञ मनीषी थे। इनका सम्पूर्ण जीवन महत्त्वपूर्ण राजकार्य, अत्यन्त गम्भीर और महनीय ग्रन्थों के निर्माण और श्रृङ्गेरी मठ के शंकराचार्य के रूप में धर्मसञ्चालन में व्यतीत हुआ था। इन्होंने एक श्रेष्ठ कर्मयोगी के समान निष्काम भाव से राज्यस्थापन और धर्मरक्षण का पावन कार्य करके सनातन आर्य संस्कृति को जीवित रखा था। इनके विचार से ज्ञानी लोग राज्यादि लौकिक कार्यों का अच्छी तरह से सम्पादन कर सकते हैं -

"ज्ञानिनाचरितुं शक्यं सम्यग् राज्यादि लौकिकम्" (पंचदशी)

स्वामी विद्यारण्य का समय सन् १३५०-१३८१ है। वे वेदान्तदेशिक के समकालिक थे। इन्होंने अद्वैत वेदान्त दर्शन को जितना प्रचारित और प्रतिष्ठित किया उतना शङ्कराचार्य के बाद किसी ने नहीं किया। दक्षिण पूर्व एशिया में इनके शिष्यों ने अद्वैत वेदान्त का विशेष प्रचार किया। इसीलिए कभी-कभी इन्हें द्वितीय शङ्कराचार्य कहा जाता है।

विद्यारण्य मुनि का सम्बन्ध निम्नलिखित ग्रन्थों से माना जाता है- १. ऋग्वेद भाष्य, २. यजुर्वेद भाष्य, ३. सामवेद भाष्य, ४. अथर्ववेद भाष्य, ५. चारों वेदों के शतपथादि ब्राह्मण ग्रन्थों का विचार, ६. दशोपनिषद्दीपिका, ७. जैमिनीय न्यायमालाविस्तर, ८. पञ्चदशी ९. अनुभूति प्रकाश १०. ब्रह्मगीता, ११. पाराशर स्मृति भाष्य १२. मनुस्मृति व्याख्यान, १३. सर्वदर्शनसंग्रह, १४. माधवीय धातुवृत्ति, १५. शङ्कर दिग्विजय, १६. कालनिर्णय।

अनेक विद्वानों के मतानुसार वेदभाष्य के रचयिता इनके छोटे भाई 'सायण' थे। इन ग्रन्थों के सायण माधवीय कहने से ऐसा प्रतीत होता है कि विद्यारण्य वेदभाष्यों के रचयिता भले ही न हों, किन्तु भाष्यरचना में इनका सहयोग अवश्य था।

पञ्चदशी के प्रतिपाद्य विषय

स्वामी विद्यारण्य की अमूल्य कृति पञ्चदशी में १५ प्रकरण हैं। प्रथम पाँच प्रकरण विवेकान्त हैं-तत्त्वविवेक, पञ्च महाभूतविवेक, पञ्च महाकोशविवेक, द्वैतविवेक और महावाक्यविवेक। बीच के पाँच प्रकरण दीपान्त हैं- चित्रदीप, तृप्तिदीप, कूटस्थदीप, ध्यानदीप और नाटकदीप। अन्तिम पाँच प्रकरण आनन्दान्त हैं- योगानन्द, आत्मानन्द, अद्वैतानन्द, विद्यानन्द और विषयानन्द। इन पञ्चदश प्रकरणों में मध्य के पाँच प्रकरण अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं।

परम्परा यह मानती है कि प्रारम्भ के छः प्रकरणों की रचना स्वामी विद्यारण्य ने की है और शेष ९ प्रकरणों की रचना उनके गुरु भारती तीर्थ ने की है। पञ्चदशी के टीकाकार राम कृष्ण ने सप्तम प्रकरण 'तृप्तिदीप' को भारती तीर्थ द्वारा रचित माना है। अप्पयदीक्षित ने 'ध्यानदीप' को भारतीतीर्थ की रचना कहा है। परन्तु निश्चलदास ने वृत्तिप्रभाकर में स्पष्ट कहा है कि विद्यारण्य प्रथम दश प्रकरणों के तथा भारतीतीर्थ अन्तिम पाँच प्रकरणों के लेखक हैं। सम्प्रति सामान्य रूप से पंचदशी के लेखक स्वामी विद्यारण्य ही माने जाते हैं[1]।

सत्य ज्ञान रूप व्यापक जीवन तत्त्व की बात जब मन और बुद्धि की समझ में आ जाती है और मन की समझ को जब अहंकार अपना लेता है, तब संसार के समस्त जीव और सम्पूर्ण पदार्थ एक तत्त्व बन जाते हैं। 'परेऽव्यये सर्व एकी भवन्ति' इस आभाणक का रहस्य समझ में आने लगता है। परन्तु व्यापक जीवन-तत्त्व की बात बोधगम्य होने में इस तत्त्व की आधारभूत विश्वसृष्टि ही सबसे बड़ा विघ्न है। जिस प्रकार सर्प रस्सी को दीखने नहीं देता और द्रष्टा तथा रस्सी के बीच में आकर खड़ा हो जाता है, उसी प्रकार इस व्यापक ज्ञान रूप जीवन तत्त्व और जीव के बीच आकर खड़ी हुई विश्वसृष्टि ने जीव का सम्पूर्ण ध्यान अपनी ओर आकृष्ट कर जो अतत्त्व - अवास्तविक है उसी का दर्शन करा रखा है और तत्त्व की प्रतीति को रोक रखा है। पञ्चदशी में उस यथार्थ तत्व की बाधाओं को दूर करने की विधि को बताते हुए तत्त्व दर्शन की प्रक्रिया का, तत्त्वविवेक नामक प्रथम प्रकरण में वर्णन किया गया है। द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ प्रकरणों में तत्त्वदर्शन के जो तीन प्रमुख विघ्न हैं उनको ही तत्त्वदर्शन का सहायक बना लेने की विधि का विचार किया गया है।

पञ्चम महावाक्यविवेक नामक प्रकरण में आगम के अनुभवप्रधान हो जाने पर अनुभूति का जो-जो व्यावहारिक रूप हो जाता है उसका वर्णन है। षष्ठ चित्रदीप नामक

---

१. संस्कृत वाङ्मय का बृहद् इतिहास, वेदान्त खण्ड, प्रथम संस्करण पृ. १६४

प्रकरण में अपनी ही अज्ञान तूलिका से अंकित संसारचित्र को अपने सत्यान्वेषी प्रयत्नों से मिटाकर स्वयं एकाकी शेष रह जाने की विधि पर प्रकाश डाला गया है। तृप्तिदीप नामक सप्तम प्रकरण में वर्णित है कि व्यापक जीवन तत्त्व के स्वरूप का ज्ञान होने पर जब मन में किसी भी प्रकार के सुख की इच्छा शेष नहीं रह जाती तभी वास्तविक सुख का आविर्भाव होता है। कूटस्थदीप में चिदाकार बनी हुई बुद्धियों की सन्धियों को भी और बुद्धि के अभावों को भी प्रकाशित करते रहने वाले सामान्य कूटस्थ चैतन्य का दिग्दर्शन कराया गया है। जो व्यक्ति ब्रह्मतत्त्व का चिन्तन नहीं कर सकते परन्तु उनके दर्शन पर श्रद्धा रखते हैं उनके लिए उपासना अथवा योग की बात ध्यानदीप में बतायी गयी है। दशम नाटकदीप प्रकरण में कुतूहलवश अभिनीत इस विश्वनाटक के पक्षक्षेप करने की विधि पर विचार किया गया है। अन्तिम पाँच प्रकरणों में अनेक उपायों से आनन्द रूप का दर्शन कराते हुए ब्रह्मतत्त्व का वर्णन किया गया है। इस प्रकार पञ्चदशी में एक व्यापक परम जीवन तत्त्व को पन्द्रह प्रकार से विवेचित किया गया है।

जिस प्रकार ठोस दर्पण, जिसमें तिल रखने को भी कहीं स्थान नहीं होता, किन्तु उसी में विस्तृत आकाश दीख पड़ता है, उसी प्रकार शिला की भाँति अत्यन्त ठोस सच्चिदानन्द रूप तत्त्व में अघटितघटना पटीयसी माया के प्रभाव से अनन्त जगत् प्रतीत होता है। दर्पण के भीतर अनन्त आकाश को देखकर भी हम दर्पण की निर्मलता जानते हैं और उस दर्शन पर विश्वास नहीं करते हैं, उसी प्रकार सच्चिदानन्द तत्त्व के भीतर अनन्त जगत् को देखते हुए भी उसकी निर्मलता यदि चित्त में समा जाय, मन उसी तत्त्व में रम जाय और बाह्य दर्शन से विश्वास उठ जाय तो समझना चाहिए कि अतत्त्व वस्तु हट गयी और तत्त्व वस्तु ज्ञात हो गयी है। इसी तत्त्व का ज्ञान करा देना तत्त्वविवेक प्रकरण का उद्येश्य है।

'पञ्चभूत विवेक' में इस तथ्य पर विचार किया गया है कि वर्षा ऋतु में पर्वत से ही उत्पन्न होने वाले तिनके जिस प्रकार पर्वत को ढक लेते हैं, उसी प्रकार ये पञ्चभूत उसी अद्वैत सत् तत्त्व से उत्पन्न हुए हैं परन्तु उसे ही छिपा लिए हैं। अब परम तत्त्व के जिज्ञासु साधकों का यह कर्तव्य है कि वे इन पञ्चमहाभूतों का विश्लेषण करके, छिपे हुए तत्त्व का पुनः प्रत्यभिज्ञान करें। पञ्चभूत के विवेक हो जाने पर जिस वेदान्तसिद्ध अद्वैत तत्त्व का ज्ञान होगा, वह अनन्तकाल तक अबाधित रहेगा और तब साधक को विदेहमुक्ति मिल जायेगी।

पञ्चकोश विवेक में इस तथ्य का विवेचन किया गया है कि अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय इस पञ्चकोशों की परम्परा ही आत्मतत्त्व के छिपने की गुहा है। इस कोशरूपी गुहा में जो ब्रह्मतत्त्व आवृत सा हो गया है, उसका ज्ञान तभी हो सकता है, जब इनके आवरक काशों का विवेक किया जाय। नारियल के छिलकों की भाँति उन अन्नमयादि पञ्चकोशों को छीलकर उनमें अन्तर्निहित ब्रह्मतत्त्व का दर्शन कराना इस प्रकरण का मुख्य प्रतिपाद्य है।

पञ्चदशी में द्वैततत्त्व पर भी विचार किया गया है। द्वैतविवेक प्रकरण में यह बताया गया है कि द्वैत के दो भेद होते हैं - एक ईश्वर का द्वैत और दूसरा जीव का द्वैत। इन्द्रियों द्वारा दृश्यमान जगत् ईश्वरकृत द्वैत है। इस ईश्वरकृत द्वैत के विषय मे अपनी-अपनी प्रकृति के अनुसार जीवों के जो विभिन्न विचार हैं वही जीवकृत द्वैत है। अध्यात्मतत्त्व के पारंगत मुनिजनों का कथन है कि ब्रह्मतत्त्व के साक्षात्कारी ज्ञानी साक्षात् ब्रह्मतत्त्व ही - सर्वव्यापक आत्म तत्त्व ही हो चुके हैं। जीव के बनाये हुए द्वैत को जब कोई प्राणी सम्पूर्ण रूप से त्याग देगा, तभी उसे जीवन्मुक्ति की ऊँची स्थिति प्राप्त हो सकेगी, इसी दृष्टि से द्विविध द्वैत का वर्णन मुमुक्षुओं की सुविधा के लिए किया गया है।

पञ्चदशी में महावाक्यों का सूक्ष्म विवेचन किया गया है। महावाक्य का अर्थ है - जिससे बड़ा, जिससे व्यापक अर्थवाला कोई अन्य वाक्य न हो। दूसरा अर्थ यह भी है कि जिसके पश्चात् दूसरा वाक्य बोलने की आवश्यकता ही न हो। पञ्चदशी का यह महावाक्य प्रकरण उपनिषदों के 'तत्त्वमसि', 'अहं ब्रह्मास्मि', 'प्रज्ञानं ब्रह्म', 'अयमात्मा ब्रह्म', इन सारगर्भित वाक्यों का विश्लेषण करता है। यह प्रकरण आगम प्रधान है- इसमें कुतर्क और निरर्थक विवाद को स्थान नहीं है। इसमें वर्णित सभी महावाक्य प्राणियों के मध्य गुप्त भाव से विद्यमान 'पूर्ण अहम्' का निर्देश करते हैं।

पञ्चदशी में वर्णित 'चित्रदीप' के मर्म को इस प्रकार समझा जा सकता है- चित्रितवस्त्र की जैसे चार अवस्थायें हैं - धुला हुआ, मांड़ी लगाया हुआ, चिह्नित किया हुआ, और रंग भरा हुआ, वैसे ही परमात्मा में भी चार अवस्थायें हैं - चेतन, अन्तर्यामी, सूत्रात्मा तथा विराट्। परमात्मा स्वयं तो चेतन है, माया की दृष्टि से वह अन्तर्यामी है, सूक्ष्मदृष्टि से देखने पर वह सूत्रात्मा है और स्थूल सृष्टि पर दृष्टि डालने से वह विराट् है।

माया के अधीन जो चिदाभास है। वही तो वेदों का महेश्वर, अन्तर्यामी और सर्वज्ञ है। वही जगत् का कारण भी है। सूत्रात्मा सूक्ष्मदेहों में अहंभाव रखता है, उसमें इच्छा, ज्ञान तथा क्रिया नाम की शक्तियाँ रहती हैं। अंकुरित होने वाले पौधे की अवस्था की भाँति सूत्रात्मा की अवस्था है। विराट् नामक अवस्था तो धूप में चमकते हुए जगत् की-सी है। संसार के जो भी स्थूल-सूक्ष्म जड़-चेतन पदार्थ हैं वे सब ईश्वर तत्त्व ही हैं- अस्यावयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत्। चित्रदीप का निष्कर्ष है कि जब जीव आत्म चैतन्य में माया कृत जगच्चित्र को ज्ञान की महिमा से न देखकर अपने चेतन को शेष रख लेगा तब जगच्चित्र को देखकर भी वह मुग्ध नहीं होगा।

मनुष्य यदि स्वयं को पहचान ले कि यह तत्त्व मैं हूँ (मेरा स्वरूप यह है) तो उसके लिए इच्छा करने की कोई वस्तु रह ही नहीं जाती है और न कोई इच्छा करने वाला तत्त्व ही शेष रह जाता है। आत्मज्ञानी को शारीरिक सुख-दुःखों के साथ-साथ सुख या दुःख का अनुभव नहीं होता। इसी तथ्य का सविस्तर वर्णन 'तृप्तिदीप' में जीवन्मुक्त महात्माओं में रहने वाली तृप्ति का निर्देश देने के लिए किया गया है।

किसी दीवार पर सूर्य का प्रकाश पड़ रहा हो। उसी दीवार पर यदि दर्पण के सूर्य का दुहरा प्रकाश पड़ जाय और वह दीवार दो प्रकाशों से जगमगा उठे, उसी प्रकार निर्विकार चैतन्य ने जीवदेह को सामान्यतया प्रकाशित किया है, किन्तु इसी देह को बुद्धिस्थ चिदाभास ने दुबारा प्रकाशित किया है। जिस प्रकार एक दीवार पर अनेक दर्पणों की दीप्तियाँ पड़ रही हैं, उन दीप्तियों के बीच जहाँ दर्पण की दीप्ति नहीं पड़ रही है वहाँ सूर्य की सामान्य दीप्ति दृष्टिगोचर होती है। एक भी दर्पण दीप्ति के शेष न रहने पर भी सामान्य सूर्यदीप्ति दिखायी पड़ती है, उसी प्रकार चिदाभास युक्त बुद्धियों के मध्य यह कूटस्थ तत्त्व रहता है। सुषुप्ति के समय सभी बुद्धिवृत्तियों के नहीं रह जाने पर उनके अभाव को प्रकाशित करने वाला कूटस्थ चैतन्य ही है। कूटस्थ दीप प्रकरण का यही स्वारस्य है। यदि किसी प्रतिबन्ध के कारण किसी को ब्रह्मज्ञान न हो सकता हो और वह इस मार्ग पर श्रृद्धालु हो तो वह ब्रह्मतत्त्व की उपासना करे। उससे भी उसे मोक्ष की प्राप्ति होगी। एक व्यक्ति मणि की प्रभा को मणि समझ कर उसे लेने दौड़ता है, दूसरा व्यक्ति दीपक की प्रभा को मणि समझकर उसे उठाने चलता है, यद्यपि इन दोनों को ही समानरूप से मिथ्याज्ञान हो रहा है, तथापि प्रयोजन सिद्धि में भेद पाया जाता है– प्रथम व्यक्ति को तो मणि मिल जाती है, दूसरा उससे वंचित रह जाता है। दीपक की प्रभा को मणि समझना 'विसंवादि भ्रम' (विफल भ्रम) और मणि की प्रभा को मणि समझना 'संवादि भ्रम' (सफल भ्रम) कहा जाता है। किसी वस्तु को विपरीत समझकर भी जब अभीष्ट फल अचानक मिल जाय तभी वह 'संवादि भ्रम' कहा जाता है। जैसे संवादिभ्रम भ्रम होने पर भी ठीक फल दे देता है, उसी प्रकार ब्रह्मतत्त्व की उपासना भ्रान्ति होने पर भी मुक्तिफल को दे ही देती है। ध्यानदीप का सन्देश है कि जो साधक ब्रह्म में श्रद्धा रखकर उसकी उपासना करेगा वह संशयरहित होकर ब्रह्मध्यान में सदा निमग्न रहेगा–

ध्यानदीपमियं सम्यक् परामृशति यो नरः ।
मुक्तसंशय एवायं ध्यायति ब्रह्म संततम् ।। (ध्यानदीप १५८)

परमात्म तत्त्व पहले भी अद्वयानन्दपूर्ण था और अब भी है। यह कौतुकवश स्वमाया से पहले जगत् बना और फिर जीव रूप से उसी में प्रविष्ट हो गया। उत्तम देह में प्रविष्ट होकर वह देव बना और अधमदेह में प्रवेश करने से मर्त्य बना। देहादि में अहन्ता (मैंपन) का अभिमान करने वाला अहंकार कर्ता (जीव) कहा जाता है। उसके अभिमान करने का साधन मन है। जो केवल चिद्रूप रह कर ही उस कर्ता को, मनोवृत्तियों को और परस्पर भिन्न गन्धादि विषयों को भी एक ही प्रयत्न से प्रकाशित करता है, उसी चिद्रूप तत्त्व को वेदान्त में 'साक्षी' कहा गया है। जिस प्रकार लौकिक नाट्यशाला में जलता हुआ दीप नाट्यगृह के स्वामी को, नाटक देखने वाले प्रेक्षकों को तथा नर्तकी को एक ही रूप से प्रकाशित करता है और नाट्यशाला से सब लोगों के चले जाने पर भी अकेला जलता रहता है, उसी प्रकार यह चिद्रूप साक्षी तत्त्व अहंकार को, बुद्धि को तथा विषयों को प्रकाशित

करता है। परन्तु जब सुषुप्ति आदि में अहंकार आदि में से कोई भी शेष नहीं रह जाता, तब भी वह साक्षी पूर्ववत् प्रकाशमान रहता है। वह कूटस्थ चिद्रूप साक्षितत्त्व अखण्ड दीपक की भाँति सदा भासमान रहता है-

नृत्यशालास्थितो दीपः प्रभुं सभ्यांश्च नर्तकीम् ।
दीपयेदविशेषेण तदभावेऽपि दीप्यते ।।
अहंकारं धियं साक्षी विषयानपि भासयेत्
अहंकाराद्यभावेऽपि स्वयं भात्येव पूर्णवत् ।। (नाटकदीप १०-११)

नाटकदीप के इसी दृष्टान्त से कूटस्थ साक्षी-तत्त्व का बोध कराना नाटकदीप प्रकरण का लक्ष्य है। अन्तिम आनन्दान्त-योगानन्द, आत्मानन्द, अद्वैतानन्द, विद्यानन्द और विषयानन्द प्रकरणों में ब्रह्मानन्द का विस्तृत विवेचन किया है और निष्कर्ष रूप में यह कहा गया है कि ब्रह्मतत्व की पहचान और ब्रह्मस्वरूप आनन्द की अनुभूति से लोक और परलोक के त्रिविध ताप नष्ट हो जाते हैं और ब्रह्मज्ञानी साधक सुखरूप ब्रह्मतत्त्व ही हो जाता है। सुषुप्ति अवस्था में, समाधि भावना के समय स्वयंप्रकाश ब्रह्मानन्द को प्रकाशित करने वाला योगी का प्रत्यक्ष योगानन्द प्रकरण का प्रतिपाद्य विषय है।

योगिजन योग द्वारा निजानन्द को प्राप्त करते हैं किन्तु जिनकी योग में गति नहीं है वे आत्मानन्द को कैसे प्राप्त करें, इस प्रश्न का समाधान आत्मानंन्द प्रकरण में किया गया है। जगत् के मिथ्याभाव का चिन्तन करने से जो आनन्द जागरित होता है वही 'अद्वैतानन्द' है। मुमुक्षुजन इस अद्वैतानन्द में सदा विश्राम करें, यही अद्वैतानन्द प्रकरण की फलश्रुति है।

योग से, आत्मविवेक से अथवा द्वैत के मिथ्यात्व के चिन्तन से जब किसी साधक को ब्रह्मानन्द की अनुभूति होने लगे तब उस समय के ज्ञानानन्द का वर्णन विद्यानन्द प्रकरण में किया गया है।

विषयानन्द ब्रह्मानन्द के बोध में लौकिक द्वार है अतः पंचदशी के अन्तिम प्रकरण में विषयानन्द का विवेचन किया गया है। वस्तुतः यह विषयानन्द भी ब्रह्मानन्द का ही एक अंश है अतः उसका वर्णन भी प्रसंग प्राप्त है।

पंचदशी के ब्रह्मानन्द नामक पंचप्रकरण में ज्ञान और योग के द्वारा जिस ध्यान का वर्णन है वह ध्यान ब्रह्मविद्या ही है। ध्यान से जब चित्त एकाग्र हो जाता है तब उस चित्त में ब्रह्मविद्या स्थिर हो जाती है। ब्रह्मविद्या के सुस्थिर हो जाने पर 'सत्' 'चित्' और 'आनन्द' में भेद दृष्टि नहीं रह जाती। तब 'सच्चिदानन्द' अखण्ड एकरस होकर प्रतीत होने लगता है। जब उपाधिरहित स्वयं प्रकाश अद्वैत ब्रह्मतत्त्व का भासन होने लगता है तब यह प्रत्यक्ष दीख पड़ने वाली त्रिपुटी नहीं रह जाती। इसीलिए उसे 'भूमानन्द' भी कहा जाता है।

पंचदशी की भाषा शैली सरल तथा प्रांजल है। श्रुति, युक्ति और अनुभूति से इसमें

अद्वैतवाद का प्रतिपादन किया गया है। यह अद्वैतवेदान्त दर्शन का प्रामाणिक आप्त ग्रन्थ है। पंचदशी अद्वैतमन्दिर का गोपुरम् है। अद्वैतमत में इसका महत्त्व आकलनीय है।

पंचदशी का यह संस्करण उत्तर प्रदेश संस्कृत संस्थान द्वारा पुनर्मुद्रित होकर पाठकों के समक्ष प्रस्तुत है। इस संस्करण से पूर्व 'तत्त्वदीपिका' और 'पूर्णानन्देन्दु कौमुदी' इन दो टीकाओं से संवलित पंचदशी का प्रकाशन पं० करुणापति त्रिपाठी के सम्पादकत्व में सन् १९८९ में संस्कृत अकादमी से हो चुका है। संस्कृत संस्थान द्वारा उपर्युक्त टीकाद्वय युक्त पंचदशी का पुनः प्रकाशन इस ग्रन्थ की महनीयता और लोकप्रियता का द्योतक है। इस पुण्य कार्य के लिए संस्थान के अधिकारिवर्ग साधुवाद के पात्र हैं।

श्रावणी पूर्णिमा
वि. सं. २०५४

बलदेव उपाध्याय
विद्या विलास
रवीन्द्रपुरी, वाराणसी।

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

महामण्डलेश्वर-श्रीश्री-१००८ पूज्यपादानां काशीस्थ-श्रीदक्षिणामूर्त्तिमठस्थ-
महेश-रीसर्च—इन्स्टिच्यूटस्य स्वामिनां विविधशास्त्रनदीष्णानां
वेद-वेदान्त-संस्कृतविद्यासेवासंलग्नचेतसां महापण्डितानां
श्रीमहेशानन्दगिरिमहाभागानां वैदुष्यभास्वरं—

शुभाशंसनम्

टीकाद्वयोपेता पञ्चदशी

श्रीशङ्कराचार्याय नमः

उनशतवर्षं प्राक् प्रकाशितापि मोडकावतंसस्याच्युतरायस्य पञ्चदशीटीका बहुकालाद् दुर्लभा बभूव। आचार्यकरुणापतित्रिपाठिभिः पुनः प्रकाशिता वेदान्तसहृदयेभ्य उपकाराय। संस्कृताकादम्यास्–त्रिपाठिकरुणापतिमहाभागानां चाधमर्णा वेदान्तशास्त्रे रतास्सर्वे।

विद्यारण्यस्वामिपादप्रणीता पञ्चदशी वेदान्तप्रविविक्षूणामुपकरोति सर्वप्रक्रिया-भेदसमर्पणेन। सतश्चितआनन्दस्य च वर्णनङ्क्रमेण प्रतिपञ्चप्रकरणेषु कृतम्। सद्वर्णन-प्रसङ्गेन तत्पदार्थशोधनमपि सम्पादितं पञ्चविवेकप्रकरणैः। तथैव चिद्वर्णने त्वम्प-दार्थस्य वाच्यार्थलक्ष्यार्थयोः सुविस्तृतं वर्णनं मध्यमैर्दीपपञ्चकैर्बभूव। तत्त्वयोरैक्यं महावाक्यार्थमानन्दमन्तिमे वर्णितम्। एवं महावाक्यवर्णनरूपत्त्वेऽपि प्रतिप्रकरणे विषयभेदं, प्रायशः विशिष्ट-श्रुतिमवलम्ब्य कृतं, येन तत्तच्छ्रुतेः प्रसादगाम्भीर्यप्रकाशन-म्बभूव। यथा सप्तमे "आत्मानञ्चेद्विजानीयादयमस्मीति पूरुषः—किमिच्छन्कस्य कामाय शरीरमनुसञ्ज्वरेदि'ति। काण्वशाखास्थिताम्बृहदारण्यकोपनिषदमाश्रित्य द्विशताधिकमष्टनवतिमितं श्लोकपूगं विरचितम्। अल्पेनैव शब्देन श्रुतिर्यत्प्रत्यपादयत् तत्र कियन्गाम्भीर्यमिति तु पञ्चदशीप्रकरणादृते ज्ञातुङ्कथमपि न संभवति। तत्राज्ञानस्य लक्षणम् "न जानामि इत्युदासीनव्यवहारस्य कारणम्" इति विलक्षणरूपेण प्रतिपा-दितम्। रामकृष्णेनात्र 'आत्मतत्त्वविचारप्रागभावसहितमुदासीनव्यवहारस्य कारणन्न जानामी' त्यनुभूयमानमज्ञानम्' इत्येवं कृत्वा सामान्यरूपेणाज्ञानलक्षणङ्कृतम्। प्रकरण-मत्र तावन्मूलाज्ञानस्यैव। तस्यैव लक्षणमपेक्षितम्। मोडकवर्येण 'जन्यजगज्जन्माद्य-भिन्ननिमित्तोपादानतया 'यतो वे'त्यादि श्रुत्यादिभिः परोक्षतया प्रतिपादितमपि ब्रह्माहमपरोक्षतया न जानामीत्युदासीनव्यवहारलक्षणकार्यलिङ्गकमनुगम्य विचारा-सहानादिभावरूपं वस्त्वेव अज्ञानमिति पर्यवस्यती' त्युक्त्वा सम्यक् प्रकाशितम्। एवं सर्वत्र मोडकेन गूढार्थस्य विवरणङ्कृत्वा वेदान्तसहृदया उपकृताः।

पूर्णानन्देदुकौमुद्या पञ्चदशप्रतिबन्धकम्प्रतिपाद्यैकैकप्रकरणेनैकैक-प्रतिबन्ध-नाशमुक्तम्। प्रतिप्रकरणविशेषेण तत्प्रकारमपि प्रतिपादितम्। तथैव प्रतिप्रकरणं षड्विधलिङ्गविवेचनेन प्रकरणतात्पर्यमद्वितीयब्रह्मणि साधितमिति दृष्ट्वा चमत्करोति हृदयं कौमुदी। एतत्सर्वङ्कौमुदीं विना कुत्रापि न लभ्यते। विशिष्टेषु श्लोकेष्वपि बहु विचारितं मोडकेन विदुषा, तद्यथा महाभूतविवेकप्रकरणेऽष्टनवतितमे श्लोके सिद्धान्त-

बिन्दुव्याख्यया सह समन्वयं साधितमतिविस्तृतविचारेण। चित्रदीपप्रकरणे जीवेश्वरयोः स्वरूपविषयेऽष्टादशश्लोकव्याख्यायाम्प्रक्रियात्रयप्रतिपादनमेकस्मिन्नेव ग्रन्थे विरुद्धमिति पूर्वपक्षमुत्थाप्य 'यथोत्तरं मुनीनां प्रामाण्यम्' इति न्यायमनुसृत्य वार्तिककारमतमेव विवक्षितमिति सुष्ठु वर्णितम्। तत्तत्प्रक्रियाभासवादे पर्यवसिता, 'अवच्छिन्नप्रति-बिम्बवादयोरत्रैवान्तर्भावश्चे'ति कथनेन।

क्वचित्क्वचित्पाठान्तरमपि लभ्यते कौमुदीव्याख्यायाम्। तद्यथा चित्रदीप-प्रकरणस्य द्विशताधिकसप्तसप्ततितमे श्लोके 'प्रविविच्यते'ति पाठः प्रायेणोपलभ्यते। तस्यापपाठत्वमुक्त्वा 'प्राविचिन्विते'ति पाठं स्वीकृत्य तस्य पदस्य व्याख्यानमपि कृतं मोडकवर्यैः।

तृप्तिदीपप्रकरणे षट्पञ्चाशदेकशततमे श्रीरामचन्द्रस्य नलयुधिष्ठिरेण सहोक्ति-रनुचितेति पूर्वपक्षङ्कृत्वा श्रीरामचन्द्रस्यापरतन्त्रत्त्वं सिद्धान्तितम्। प्रारब्धशब्दस्य यौगिकं प्रचुरमारब्धमिति तात्पर्यङ्गृहीत्त्वाऽकर्मपरतन्त्रता साधितेति मोदयति राम-भक्तत्वात् मोडकः। अनेकेषु स्थलेषु 'तन्त्रगन्धेनाप्यनास्कन्दिता' 'तन्त्रगन्धेनापिहीन'-मित्यादिना स्वीयतन्त्रद्वेषम्प्रकटयति। महाराष्ट्रप्रदेशे तस्मिन् काले तान्त्रिकाणाम्प्राधा-न्यमभूदिति भाति। शाक्तास्संसारस्य सत्यताप्रतिपादकाः प्रायशः। 'भोगञ्च मोक्षञ्च करस्थ एवे'त्यादिना भोगरुचिरतैव प्रकटीकृतास्तैः। वेदान्तिभिरत एव तन्त्रगन्धादपि दूरं स्थातव्यमिति मोडकवर्याणामभिप्रायः। एवमनेकरत्नसमन्वितेयं व्याख्या। समा-दरणीया पठनीया विचारणीया च वेदान्तविद्भिः शास्त्ररसिकैः, वेदान्तार्थानुभवरसिकै-र्नैस्तारिभिश्च।

मुद्रणस्खलनमनेकेषु स्थलेषु विरसतामुत्पादयति सहृदयहृदयेषु। मातृकान्तर-स्थानेऽपि नवषष्टितमे पृष्ठे निरुक्तप्रतिबन्धादवभासः संजातो''''न तु नित्यापरोक्ष-त्वेने'ति वाक्यखण्डस्य वीप्सानिवृत्तिस्तु सारल्येन भवत्येव। अग्रिमे संस्करणेऽशुद्धि-परिमार्जनम्पदादिविभागं, वाक्यादिविभागं' समुद्धृतस्थलोद्धारणञ्च भवितेत्याशासे। मूलोद्धारे सति प्रसिद्धस्य सङ्क्षेपशारीरकस्य 'न फलाय भर्च्छुविषया भवति श्रुति-सम्भवापि तु तथात्मनि 'धी'रिति श्लोकस्य 'भर्चु (?) विषया भवति श्रुतिसम्भवापितु तथात्मनिधीति मुद्रणन्न संभवति।

सर्वदुःखनिवृत्तिः परमसुखाप्तिश्च सर्वप्राणिभिराकाङ्क्ष्यते। तच्च द्वैते विराज-माने कथमपि न सम्भवति। "द्वितीयाद्वै भयं भवतो'ति श्रुतेः। अनुभवाच्च तथा। सुषुप्तौ द्वैताभावाद्दुःखाभाव आनन्दाप्तिश्च, जाग्रतस्वप्नयोर्द्वैतसत्त्वे दुःखभावसुखाभाव-योश्चान्वयव्यतिरेकेणानुमानाच्च। अतस्स्वातिरिक्तद्वैतप्रपञ्चापह्नवसिद्धं निष्प्रतियोगि-ताद्वैतमिति प्रकटयितुमद्वैतप्रकरणरूपम् पञ्चदशीप्रकरणम् श्रीमत्परमहंसविद्यारण्य-स्वामिना विरचितम्। अत्र निर्हेतुजातकरुणैव हेतुः। 'आत्माज्ञानजन्यस्य शोकमोहस्य कारणनाशेन नाश इत्यनुभवसिद्धः। पञ्चदशी सम्यग्विचारिताऽनुभवायालम्। उदीच्यां परमहंसाः, शाङ्करमतानुयायिनो गृहस्थाश्च, उदासी-निराकार-प्रभृतयश्चान्ये चतुर्था-श्रमिणः प्रायशः पञ्चदशीङ्गुरुमुखाच्छ्रुत्वा मत्वा च सम्यग्ज्ञाननिष्ठा भवन्तीति दृश्यते।

तस्माद् विद्यारण्यपादा अस्मिन्ग्रन्थे मूर्तरूपेणावतरिता इति भाति सत्स्वपि वार्त्तिकसार-विवरणप्रमेयसङ्ग्रहादि-प्रमेयप्रमाणप्रभूतग्रन्थान्तरेषु प्रायशः सप्तशतवर्षपूर्वन्तेषामाविर्भाव इत्यैतिहासिकाः। रामकृष्णष्टीकाकारस्तु तेषामन्तेवासी। मोडकस्तु द्विशतवर्षंपूर्वं महाराष्ट्रे बभूव। अनेन ग्रन्थरत्नेन व्याख्याद्वययुतेन सर्वेऽस्मिन् घोरतरे कलिकालेऽपि सुखसाक्षात्कारङ्कुर्वन्त्विति प्रार्थये गौरीरमणम्। संस्कृताकादम्या अन्यवेदान्तग्रन्थप्रकाशनमपि कर्त्तव्यमेव यतो वेदान्ते सर्वमतसमन्वयमेव। उक्तञ्च परमाचार्येण सर्वज्ञेन गौडपादेन—

स्वसिद्धान्तव्यवस्थासु द्वैतिनो निश्चिता दृढम्।
परस्परं विरुध्यन्ते तैरयन्न विरुध्यते॥

इत्यद्वैतप्रकरणे सप्तदशश्लोके। जगद्गुरुभिश्शङ्कराचार्यैश्च षण्मतस्थापनङ्कृत्त्वा व्यवहारेऽपि पञ्चदेवोपासनं विस्तारितम्। सकलनिगमागमेऽपरतन्त्रा विद्यारण्यमहाभागा अपि सर्ववेदभाष्यादिरचितवन्तः। विजयनगरसाम्राज्यस्थापनङ्कृत्वा तत्र सर्वसमन्वयेनैव शासनाय बुक्कहरिहरौ प्रातिष्ठत्। विश्वशान्तिप्राप्त्यै समन्वयप्रसूतशान्तिरावश्यकी। तत्र वेदान्तस्यैव सामर्थ्यम्। अतो वेदान्तप्रचारस्य प्रचारणेनैव विश्वशान्तिर्भवितेति निश्चप्रचम् इति।

—महेशानन्दगिरिः

॥ श्रीशौ वन्दे ॥

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

प्रस्तावना

बुद्धिसिद्धिमहितो विनायको दायकः सकलसम्पदां भुवि ।
प्रत्यवायसमवायदाहको मङ्गलानि विदधातु नः सदा ॥ १ ॥

शाङ्करस्य हि भाष्यस्य विनिर्माता जगद्गुरुः ।
शङ्करस्यावतारश्च शङ्करः शङ्करोतु नः ॥ २ ॥

अज्ञानतिमिरान्धस्य लोकस्यानुग्रहाय यः ।
निर्ममे शाङ्करं भाष्यं तं वन्दे शङ्करं गुरुम् ॥ ३ ॥

सत्यं ब्रह्म ततोऽखिलं जगदिदं मायाविलासोद्भवं
सत्तावत्प्रतिभात्यसत्यमितरद् ब्रह्मैव जीवः परः ।
सर्वांस्तान् विषयान् विविच्य भगवत्पादीयभाष्यानुगान्
विद्यारण्यमनीषिणा विरचिताऽसौ पञ्चदश्यद्भुता ॥ ४ ॥

श्रुतीनां पारदृश्वानं विद्यारण्यविहारिणम् ।
विद्यारण्यं मुनिं वन्देऽविद्यारण्यविदारिणम् ॥ ५ ॥

अनेकशास्त्रवेत्तारं शृङ्गेरीपीठमाश्रितम् ।
पञ्चदश्याश्च कर्तारं विद्यारण्यं नमाम्यहम् ॥ ६ ॥

अनन्तश्रीविभूषितेभ्यो भगवत्पादगोविन्दाचार्यशिष्येभ्यो जगद्गुरुभ्य आद्यशङ्करपादेभ्यो नमः ।

महानयं प्रमोदस्यावसरो यत्संस्कृतवाङ्मयोपनिबद्धदर्शनशास्त्रपङ्कजपुञ्ज-मकरन्दरसिकमधुव्रतानां शाङ्कराद्वैतपारावारतलस्थमुक्ताफलानुसंधित्सूनां वेद-वेदान्त-प्राच्यविद्या-दर्शनादिनदीष्णानां श्रुतिस्मृतिपुराणमर्मवेदिनां विचक्षणानां कृते, तत्तद्दर्शन-विमर्शनगहनं प्रविविक्षूणां छात्राणां चोपकाराय, शास्त्राटवीसञ्चारपञ्चाननस्य वेद-वेदाङ्ग-सर्वशास्त्र-समग्रदर्शनतत्त्व-निरूपणकुशलप्रज्ञाविलासिनो लोकानुग्रहैकनिरतस्य श्रृङ्गेरीशाङ्करपीठमधिष्ठितवतः श्रीविद्यारण्यस्वामिचरणस्य किलैषाऽद्वैतवेदान्तसार-भारभरिता, टीकाद्वयोपेता पञ्चदशीनामिका कृतिः शास्त्ररसिकविद्वत्पाणिपङ्कजेषु निधीयते।

सर्वतन्त्रस्वतन्त्र-वेद-वेदाङ्ग-धर्मशास्त्र-सर्वदर्शन-विचक्षस्य विद्यारण्यमुनि-महाभागस्यैतस्याः शाङ्करवेदान्त-सिद्धान्तजुष्टाया अतुलनीयाया रचनायाः पञ्चदश्या विषये संक्षेपेण स्वज्ञानसीमानुसारेण च किञ्चिन्निवेदयितुमहमुपक्रमे। ततश्च पूर्वं कांश्च शब्दानस्य विपश्चिदपश्चिमस्य विद्यारण्यस्वामिमहोदयस्य व्यक्तित्वमाधारीकृत्य इतस्ततश्च सङ्कलितं तस्य जीवनवृत्तमादाय समुपस्थापयि-तुमुत्सुकोऽस्मि।

किंवदन्त्यनुसारेण विद्यारण्यमुनेः संन्यासदीक्षाग्रहणात् प्राक् पूर्वाश्रमे माधव इति नाम्ना ख्यातिरासीत्। अयं माधवाचार्यः खलु ऋग्वेदादिभाष्यकारस्य सायणाचार्य-स्याद्भुतप्रतिभामेधावतो महापण्डितस्य ज्येष्ठो भ्राताऽऽसीत्। अयमेव माधवाचार्यः संन्यासदीक्षानन्तरं पश्चिमे वयसि स्वामिविद्यारण्यमुनिरित्याख्यया ख्यातिं जगाम। अनयोः कनिष्ठोऽनुजोऽपि भोगनाथनामको बभूव।

माधवाचार्यः

ज्ञायते च जनश्रुतिभिर्यद् विलक्षणमनीषाभास्वरस्य ऋग्वेदादिभाष्यकारस्य सायणाचार्यस्यायमग्रजोऽभूत् तथैवानयोर्भ्रात्रोर्जनकस्य नाम मायण इति मातुश्च श्रीमतीति आसीत्। उत्तराश्रमे खलु संन्यासदीक्षाग्रहणानन्तरमस्य माधवस्यै-वाख्या स्वामिविद्यारण्यमुनिर्बभूव। अमुष्मिन्सन्दर्भे न केवलं लोकप्रसिद्धिरेव कारणमपि तु बहून्यैतिहासिकानि प्रमाणानि लभ्यन्ते, येषां चर्चा यथावसरमग्रे भविष्यति। किन्तु मया पूर्वं माधवाचार्यमनीषिणो वंश-जीवनवृत्तप्रभृतिविषयकं वर्णनमधिकृत्य संक्षेपेण किञ्चिद् निवेद्यते। एतेषां पित्रोर्नाम्नी तु उपरि सूचिते वर्तेते। ते एव नाम्नी पित्रोः पराशरस्मृतिव्याख्यायां माधवाचार्येणापि स्वयं निर्दिष्टे विद्येते। एतदपि तत्रैव सूचितं यत्सायण-भोगनाथौ च तस्यानुजावास्ताम्।

एतेषां कुलं भारद्वाजगोत्रीयमभवत्। सायणाचार्येणापि स्वरचनासु माधवा-चार्यस्य ज्येष्ठभ्रातृरूपेणोल्लेखः कृतः। अस्यैव माधवाचार्यस्य परिणते वयसि गृहीतसंन्यासदीक्षस्य आख्या स्वामिविद्यारण्यमुनिरभूदित्यग्रिमासु पङ्क्तिषु पक्षविपक्षप्रमाणोपन्यासपुरःसरं विवेचयिष्यते। प्रथमतो विपक्षिमतस्य सारोऽत्र समुपस्थाप्यते।

अमीषां विपक्षिणां मते माधव-स्वामिविद्यारण्यौ द्वौ भिन्नौ जनावास्ताम्। तथा च सायणाचार्यसहोदरो माधवो नैव किल स्वामिविद्यारण्यमुनिनामकः संन्यासदीक्षानन्तरं बभूव येन विद्यारण्येन पञ्चदश्याद्यनेकग्रन्थग्रन्थनं कृतमिति ते मन्यन्ते। सायणाचार्याग्रजो माधवः खलु पराश्रमे दीक्षाग्रहणानन्तरं विद्यारण्य-मुनिनाम्ना ख्यातिं जगाम श्रृङ्गेरीमठस्य च शङ्कराचार्यपादपदमलङ्चकारेति या जनश्रुतिः, सा कपोलकल्पनाजल्पितादधिकं प्रामाण्यं न वहति। कारणमत्र वर्तते यद् माधवाचार्यविद्यारण्ययोरैक्यप्रतिपादको न कश्चित् किंवदन्त्यतिरिक्तो दृढतर ऐतिहासिक आधार उपलभ्यते।

उपरिनिर्दिष्टस्य मतस्य प्रवलसमर्थकौ प्रतिपादकौ च द्वौ सुधियावितिहास-पुरातत्त्वविशेषज्ञौ श्रीरामरावः श्री र० नृसिंहाचार्यश्च। तौ पूर्णनिष्ठयैतिहासिक—पुरातत्त्वशास्त्रीय-प्रमाणान्याधारीकृत्य व्यज्ञापयतां यत्कथञ्चिदपि द्वौ माधव-स्वामि-विद्यारण्यौ किलाभिन्नौ न। तयोर्मतेन उभौ पुरुषवर्यौ भिन्नावेवास्ताम्।

श्रीरामरावस्यामुष्मिन् सन्दर्भे मतम् ''इण्डियन् हिस्टारिकल क्वार्टर्ली'' इति शोधपत्रिकायां[1] प्रकाशितं वर्तते।

श्री र० नृसिंहाचार्योऽपि पुरातत्त्वीयशिलालेखादिप्रामाण्यमनुसरन्नुक्तमतेन सह स्वसंवादं प्रकटयामास। तथा च सोऽपि द्वयोः पुरुषयोर्वैभिन्न्यमेव प्रतिपादयति।

अस्मिन्प्रसङ्गे अन्या अप्युक्तयो भिन्नतावादिभिः समुपस्थाप्यन्ते। ते वदन्ति यत् सायणाचार्यस्य कस्यामपि रचनायां भ्रातृरूपेण विद्यारण्यस्योल्लेखो न लभ्यते। विद्यारण्यस्यापि कस्मिंश्चिद् ग्रन्थे स्वकीयस्य पूर्वाश्रमस्य माधवइत्यस्य नाम्नो निर्देशो नोपलभ्यते। अन्यानि चातिदुर्बलप्रमाणानि श्रीरामराव-श्री र० नृसिंहाचार्याभ्या-मन्यैर्विद्वद्भिर्द्वयोर्भिन्नताप्रतिपादनार्थमुपस्थापितानि सन्ति।

सर्वतः प्रथममेतदत्रावधेयम्। लोकविख्यातानां श्रृङ्गेरीमठाचार्याणां परम-विख्याते एकस्मिन् प्रामाणिके ग्रन्थे (गुरुवंशाख्ये काव्ये) श्रृङ्गेरीमठस्य गुरु-(शिष्य)-परम्परामधिकृत्य वर्णनं लभ्यते। तस्मिन्नन्येषु चोक्तग्रन्थकल्पेषु नानान्यग्रन्थेषु किल तत्रभवतो महापण्डितस्य लोकविश्रुतस्य माधवाचार्यस्य विषये बहूनि विवरणानि लिखितानि विद्यन्ते। श्रृङ्गेरीमठगुरुपरम्परापरककाव्याद्यनेककृतिषु सायणाचार्यस्य भ्रातृरूपेण माधवाचार्यस्य स्पष्ट उल्लेखो लभ्यते। तत एव विज्ञायते यत्तुङ्गभद्रा-ख्यसरितो दक्षिणे पुलिनपरिसरे स्थितस्य विजयनगरस्य विजयनगरपार्श्ववर्तिप्रदेशेषु च द्वयोरेतयोः कर्मभूमिरासीत्। इयं भूमिः कर्णाटकान्ध्रप्रदेशयोः सङ्गमस्थली वर्तते।

---

१. द्रष्टव्यम्—Vol. VI PP. 701-717 पुनश्च Vol. VII, PP. 78-92 (एतदुद्धरणं पण्डितवर्याणामाचार्यबलदेवोपाध्यायमहाभागानां ग्रन्थे—'आचार्य सायण और माधव' इति शीर्षके १३३ तमे पृष्ठे हिन्दीसाहित्यसम्मेलन-प्रयाग-प्रकाशिते १९८४ ईसवीये मुद्रिते संस्करणे लभ्यते।

(सम्पादकः)

अस्यामुभयप्रदेशयोरुद्भूता ब्राह्मणा ऊषुः। आचार्यद्वयस्य जनको मायणाख्योऽभूदित्यपि ताभ्यः पूर्वोक्ताभ्यो रचनाभ्य एव ज्ञायते। मायणस्य सम्बन्धे न किञ्चिदधिकं वृत्तमुपलभ्यते। माधवसायणयोर्जनन्या नाम श्रीमतीति[1] निर्दिष्टं प्रागेव।

मायणश्रीमत्योः तिस्रः सन्ततय आसन्—(१) माधवः (ज्येष्ठः), (२) सायणः (मध्यमः), (३) भोगनाथश्च (कनिष्ठः)। त्रयोऽपि विश्रुता विद्वांसो बभूवुः। सायणाचार्यो विश्वविश्रुतो भारतविभूतिरूपो वेदभाष्यकारः। पाश्चात्या वैदिकवाङ्मयानुशीलनशीला विशेषतश्च ऋग्वेदसंहिताया व्याख्यातारो वेदसंहितानामध्येतारश्च सायणाचार्यस्य वेदव्याख्यासन्दर्भे भूयो भूयो महता समादरेण नामोल्लेखं विदधति।

अन्यान्यपि बहूनि माधवस्वामिविद्यारण्ययोरेकत्वसाधकप्रमाणपोषकाणि तथ्यानि तत्तद्ग्रन्थेषु प्रस्तरलेखेषु दानपत्रादिषु च समुपलब्धानि दृश्यन्ते[2], तेष्वत्र कानिचनोपस्थाप्यन्ते—

(१) नृसिंहसूरिमहाभागेन परम्परागततथ्यविज्ञेन तिथिदीपिकाख्यायां स्वकृतौ संसूच्यते यद्विद्यारण्यप्रभृतिभिरनेकैर्विचक्षणैः 'कालनिर्णय'-शीर्षकस्य ग्रन्थस्य विवेचनं कृतम्—

अनन्ताचार्यवर्येण मन्त्रिणा मञ्चिनल्लुना।
श्रीविद्यारण्यतीर्थाद्यैर्निर्णीतः कालनिर्णयः॥
अनिःशेषीकृतस्तैश्च मम दिष्ट्या कियान् कियान्।
तमहं सुस्फुटं वक्ष्ये ध्यात्वा गुरुपदाम्बुजम्॥

'कालमाधव'-नाम्नाऽपि ख्यातस्य 'कालनिर्णय'-शीर्षकस्य ग्रन्थस्य कर्ता यो माधवः, स एव खलु विद्यारण्यतीर्थ इति तयोर्माधवविद्यारण्ययोरैक्ये न सन्देहलेशोऽस्ति।

(२) 'वीरमित्रोदय'-कारेण षोडशशताब्दीभवेन प्रबन्धलेखकेनापि घोषितं यत् 'पराशरस्मृतिव्याख्या'-ग्रन्थो विद्यारण्यरचित आसीत्। तदपि द्वयोर्माधवविद्यारण्ययोरैक्यं प्रमाणयति।

---

१. काञ्च्याः अरुमाल-पेरुमालमन्दिरस्य खण्डिते प्रस्तरलेखेऽनयोर्मातुः श्रीमायीति नाम दृश्यते। तद्धि खलु श्रीमतीतिस्थाने प्रयुक्तमिति कल्पितुं शक्यते। प्राकृतव्याकरणानुसारेण 'श्रीमती'-शब्दस्य 'ती'-कारे वर्तमानस्य मध्यगतकारस्य लोपे जाते द्वयोः स्वरयोर्मध्ये मुखसुखार्थमुच्चारणसौकर्यार्थं वा ''य्''श्रुत्यागमे श्रीमयी श्रीमायी वा भवतीति प्रतिकल्पना न निराधारा।

२. सन्दर्भ एतस्मिन् आचार्यबलदेवोपाध्यायरचितस्य हिन्दीभाषायां लिखितस्य प्रयागस्थ-हिन्दी-साहित्यसम्मेलनेन प्रकाशितस्य ''आचार्य सायण और माधव'' शीर्षकस्य १९८४ ईसवीये मुद्रितस्य ग्रन्थस्य द्वितीयं संस्करणं द्रष्टव्यम्।

(३) प्रयोगपारिजातग्रन्थस्य रचयितुः 'नरसिंह'-नामकस्याचार्यस्य समयः १३६० ईसवीयतः १४३५ ईसवीयपर्यन्तमासीत्। स्वकीये प्रयोगपारिजातग्रन्थे स सूचितवान् यत्कालनिर्णयाख्यग्रन्थस्य (कालमाधवापरनामकस्य) निर्माता विद्यारण्य-मुनिरेवेति। तथा च "श्रीविद्यारण्यमुनीन्द्रप्रतिपादितप्रकारो दृश्यते" (प्रयोग-पारिजाताख्यग्रन्थे निर्णयसागरप्रेसमुद्रिते पृष्ठे ४११ तमे)।

(४) माधवाचार्यस्य भागिनेयः परमविख्यातः 'अहोबल'-नामकः पण्डितोऽपि स्वकीये विशालकलेवरे तेलगुभाषाव्याकरणग्रन्थे 'माधवीया धातुवृत्ति'-रपि विद्यारण्य-स्वामिनैव रचिता कृतिरिति निर्दिष्टवान्—

वेदानां भाष्यकर्ता विवृतमुनिवचा धातुवृत्तेर्विधाता
प्रोद्यद्विद्यानगर्या हरिहरनृपतेः सार्वभौमत्वदायी।
वाणीनीलाहिवेणी सरसिजनिलया किङ्करीति प्रसिद्धा
विद्यारण्योऽग्रगण्योऽभवदखिलगुरुः शङ्करो वीतशङ्कः॥

'अहोबल'-पण्डितस्येदं पद्यमस्मिन् विवेच्ये प्रसङ्गेऽतीव महत्त्वशालि। माधवा-चार्यस्य विद्यारण्यापरनामकस्य सम्बन्धे विजयनगरराज्य-हरिहर-बुक्करायादिसम्पृक्ता-न्यत्र प्रस्तावनायामग्रेप्रोक्तानि यानि तथ्यानि, तानि सकलान्यस्मिन् श्लोके प्रत्यक्षतः परोक्षतो वोल्लिखितानीतिकृत्वा माधव-विद्यारण्यमुन्योरेकत्वस्वीकरणे दृढं प्रमाणमिति नास्तीह सन्देहगन्धोऽपि।

(५) रङ्गनाथकृता व्याससूत्रवृत्तिः विद्यारण्यकृतां व्याख्यामाधारीकृत्य लिखितेति तथ्यं सङ्केतयति यन्माधवाचार्यकृतिरूपेण यो ग्रन्थो श्लोकात्मकभाष्यरूपो विख्यातः, स एवाधारग्रन्थ इति—

विद्यारण्यकृतैः श्लोकैर्नृसिंहाश्रमसूरिभिः।
संदृब्धा व्याससूत्राणां वृत्तिर्भाष्यानुसारिणी॥

(६) अन्यच्च यस्य भारततीर्थस्य गुरुरूपेण पञ्चदश्याष्टीकायामुल्लेखः, सोऽपि माधवसायणयोर्ये त्रयो गुरवः प्रसिद्धास्तेष्वेवान्यतमः। अन्यान्यपि बहूनि पुष्टानि प्रमाणानि सन्ति। यानि पूर्वोक्तानि तथ्यानि तान्यपि विद्यारण्यमाधवयोरैक्यपोषणपरं पक्षं साधयन्तीति नात्र कश्चित्संशयस्यावसरः।

माधवाचार्यो विजयनगरराज्यस्य संस्थापक इति जानन्तीतिहासमर्मज्ञाः। हरिहरराजश्च विजयनगरराज्यस्य प्रथमो राजा बभूव। राजसिंहासने हरिहर-राजस्याऽभिषेके तस्यैव माधवाचार्यस्य महदवदानमासीत्। तस्मिन्नभिषिक्ते सति माधव एव तस्य प्रथमो महामन्त्री बभूव। तदनन्तरं महामन्त्रिरूपेण तस्य राज्यस्य व्यवस्थापनमप्यसौ माधव एवाकरोत्। प्रथमहरिहरराजपुत्रस्य बुक्करायस्यापि स मन्त्री आसीत्। वयसि परिणते संसारस्य वैभवसुखमसारमित्यनुभवन् वीतरागः सन् स संन्यासदीक्षां जग्राह। तदास्य नाम विद्यारण्यमुनिः स्वामिविद्यारण्यो वाऽभूदित्यत्र नास्ति कश्चिच्छङ्कालेशः।

विद्यारण्यमुनिमहाभागः

मध्यकालिकस्य भारतस्य धार्मिके दार्शनिके चेतिहासे विद्यारण्यस्य नाम महतादरेण गृह्यते। तपोनिष्ठो वीतरागः संन्यासी विद्यारण्यः शाङ्कराद्वैतवेदान्ते प्रतिपादितानामद्वैतराद्धान्तानां दार्शनिकविद्वन्मण्डलेषु प्रचाराय प्रसाराय च स्वकीयं संन्यासिजीवनं समर्पयामास।

शङ्कराचार्यैः स्थापितेषु सर्वमठेषु शृङ्गेरीमठः श्रेष्ठो गण्यते। तस्मिन्नेव सर्वोच्चपीठे शृङ्गेरीमठे शङ्कराचार्यत्वेनायमभिषिक्त आसीत्।

अस्य दीक्षागुरवो भारतीकृष्णतीर्थाः शृङ्गेरीमठाधिष्ठिताः शङ्कराचार्यपदवीमण्डिता आसन्। एतदनुमीयते यद्भारतीतीर्थानां ब्रह्मलीनभावप्राप्तानामनन्तरमयं विद्यारण्यः सप्तत्रिंशदुत्तरचतुर्दशशततमे वैक्रमाब्दे (१४३७ वि० = १३८० ईसवीये) शृङ्गेरीमठे शङ्कराचार्यपदेऽधिष्ठापितोऽभूत्। अस्यानुमानस्य किञ्चित्कारणं वर्तते। अस्मिन्नेव वत्सरे हरिहरद्वितीयस्य विजयनगरमहाराजस्य ताम्रपत्रमयदानपत्रेषु विद्यारण्याचार्यपादस्य भूयसी प्रशंसोपलभ्यते। अत ऐतिहासिकाः कल्पयन्ति यदमुष्मिन्नेवाब्दे स्वामिविद्यारण्यः शृङ्गेरीमठस्य शङ्कराचार्यपदवीमवाप्याभिषिक्तो बभूव। इदमप्यन्यतो विज्ञातं भवति यत्तस्य लोकमहनीयस्याचार्यपीठस्याचार्यरूपेण स्वामिविद्यारण्यमुनिः षड्वर्षपर्यन्तं तच्छङ्कराचार्यपीठं मण्डयाञ्चकार। अत एव च पञ्चदशी-वैयासिकन्यायमालादिशाङ्करवेदान्तग्रन्थेषु गुरुशिष्ययोर्भारतीतीर्थविद्यारण्ययोः संयुक्तकर्तृत्वस्योल्लेखो लभ्यते।

विजयनगराधीश्वरो हरिहरद्वितीय एनं प्रति अनेकेषु स्वकीयप्रस्तरलेखेषु ताम्रपत्रेषु च भूयसीं श्रद्धां प्रकटयामास। ताम्रपत्रेषु एतदप्युट्टङ्कितं वर्तते यत्स हरिहरद्वितीयो विद्यारण्यमुनेरनुग्रहेणैतादृशं दुर्लभं ज्ञानमधिगतवान्, यदन्येषां भूपतीनामप्राप्यमभूत्।

विद्यारण्यस्वामी भारतीतीर्थेन सह स्वसम्बन्धं सूचयन् प्रतिप्रकरणं पुष्पिकायामलिखत्—"इति श्रीपरमहंसपरिव्राजकाचार्य-श्रीभारतीतीर्थविद्यारण्यकृतपञ्चदश्यां तत्त्वविवेकाख्यं प्रकरणं (समाप्तम्)"। इत्थमेव च सर्वेषां प्रकरणानां परिसमाप्तौ निर्दिष्टमस्ति। अन्यच्च—पञ्चदश्याः प्राचीनतमायां 'तात्पर्यदीपिका'-टीकायां व्याख्याकारो रामकृष्णः स्वकीये नमस्कारात्मके प्रथमे मङ्गलश्लोकेऽलिखत्—

नत्वा श्रीभारतीतीर्थविद्यारण्यमुनीश्वरौ।
प्रत्यक्तत्त्वविवेकस्य क्रियते पददीपिका॥

अत्रेदमवधेयम्—यद्यपि पद्येऽस्मिन् सङ्केत्यते यट्टीकाया आख्या पददीपिकेति, तथापि प्रथमप्रकरणान्ते लिखितम्—"इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यभारतीतीर्थ-विद्यारण्यमुनिवर्यकिङ्करेण रामकृष्णेन विरचितायां तात्पर्यदीपिकाख्यायां व्याख्यायां तत्त्वविवेकाख्यं प्रथमं प्रकरणं समाप्तम्"।

उपर्युक्तप्रघट्टकमाधारीकृत्यानुमीयते यत् तात्पर्यदीपिकाव्याख्याकारो रामकृष्णाचार्यः। यतो हि भारतीतीर्थविद्यारण्ययोः स किङ्कर आसीदतस्तयोर्निकटकालवर्त्ती बभूव। द्वितीयञ्च वैशिष्ट्यं वर्त्तते यदसौ टीकाकारः प्रकरणस्योपक्रमे उपसंहारे च प्रकरणसारांशसूचकं शीर्षकं निरदिशत्। मूलग्रन्थे पञ्चदशीनामकेऽपि प्रकरणविषयनिर्देशं ग्रन्थकारो विहितवान्। यथा—

अपरोक्षात्मविज्ञानं शाब्दं देशिकपूर्वकम्।
संसारकारणाज्ञानतमसश्चण्डभास्करः ॥
इत्थं तत्त्वविवेकं विधाय विधिवन्मनः समाधाय।
विगलितसंसृतिबन्धः प्राप्नोति परं पदं नरो न चिरात्॥

(पञ्च० १-६४,६५)

इतिविद्यारण्यमुनिविरचितायां पञ्चदश्यां तत्त्वविवेकाख्यं प्रथमं प्रकरणम्" (पृ० ७०)।

पञ्चदश्याः प्रथमे प्रकरणे द्वितीये पद्येऽपि प्रकरणस्य विवेच्यस्य विषयस्योल्लेखो दृश्यते—

तत्पादाम्बुरुहद्वन्द्वसेवानिर्मलचेतसाम्।
सुखबोधाय तत्त्वस्य विवेकोऽयं विधीयते॥

हरिहरद्वितीयतनुजः 'आरज'-प्रदेशशासकः कुमारचिक्करायोऽपि विद्यारण्याय भूमिमदात्। त्रिचत्वारिंशदुत्तरचतुर्दशशततमे वैक्रमाब्दे (१४४३ वै०) नवतिवर्षवयस्को विद्यारण्यमुनिर्ब्रह्मलीनत्वमभजत।

अत्रैका किंवदन्ती श्रूयते। शङ्कराचार्यनाम्ना प्रायः सर्वदेवीदेवानधिकृत्य विरचितानि सकलानि स्तोत्राणि तत्त्वविदां मतेन न खलु भगवत्पादगोविन्दाचार्यशिष्याद्यशङ्कराचार्यनिर्मितानि, अपि तु तेषु स्तोत्रेषु बहूनि शृङ्गेरीपीठाभिषिक्तपरवर्तिशङ्कराचार्यविरुदमद्भिर्निर्मितानि सन्ति। एतादृशेषु स्तोत्रेष्वेकं **देव्यपराधक्षमापनस्तोत्रमस्ति**, यस्यैकं पद्यमुद्ध्रियते—

परित्यक्ता देवा विविधविधसेवाकुलधिया
मया पञ्चाशीतेरधिकमपनीते तु वयसि।
इदानीं चेन्मातस्तव यदि कृपा नापि भविता
निरालम्बो लम्बोदरजननि! कं यामि शरणम्॥

अमुष्याः परिकल्पनाया एष हेतुर्यदाद्यशङ्कराचार्यस्य जीवनं द्वात्रिंशद्वर्षपर्यन्तमासीदिति सर्वत्र विख्यातम्। परन्त्वत्र निगदितम्—"मया पञ्चाशीतेरधिकमपनीते तु वयसीत्यादि। अतः स्तोत्रस्यामुष्य निर्माता नाद्यः शङ्कराचार्योऽपि तु कश्चित् परवर्ती।

प्रकृतमनुसरामि। स्वामिविद्यारण्यमुनेर्महाप्रयाणमुपलक्षीकृत्य तस्मिन्नेवाब्दे (१४४३ वैक्रमाब्दे) विजयनगरराज्यमहाराजो हरिहरद्वितीयः शृङ्गेरीमठाय भूमिदानं व्यदधात्। तद्वर्षीये चैकस्मिन्प्रस्तरलेखे विद्यारण्यं प्रति स्वकीयां श्रद्धां समर्पयन् हरिहरो विद्यारण्यमुनिं ब्रह्मविष्णुमहेशेभ्योऽधिकं ज्योतिष्मन्तमवर्णयत्।

विद्यारण्यस्य ग्रन्थाः

माधव एव संन्यासदीक्षानन्तरं विद्यारण्यमुनिनाम्ना ख्यातिमभजतेत्यत्र यद्यपि सन्देहगन्धोऽपि नास्ति, तथापि सर्वतः प्रथमं माधवनाम्ना विरचितानां विशिष्टग्रन्थानां विषयेऽतिसंक्षेपेण किञ्चिन्निवेदयामि ।

माधवाचार्यस्य नाम्ना प्रसिद्धा धर्मशास्त्रनिबन्धाः

१. **पराशरमाधवः**—कलौ पराशरस्मृतिरितिवचनमनुसृत्य माधवाचार्येण निर्मितोऽसौ प्रबन्धः । अस्यां रचनायां तस्याः स्मृतेः प्राचीनतमा विस्तृता च व्याख्या वर्त्तते । अयं धर्मशास्त्रस्य महाग्रन्थो भाष्यात्मको, यस्मिन् समेषां पक्षाणां वैदुष्यपूर्णं विवेचनमस्ति । एष एव ग्रन्थो व्यवहारमाधवेति नाम्नापि विख्यातः । परन्तु अयं हि ग्रन्थः 'पराशरमाधवा'ख्यस्य पूर्णग्रन्थस्य एकोंऽशः । दक्षिणभारते खलु 'हिन्दू ला'-विषये अस्य ग्रन्थस्य महत्प्रामाण्यमुररीक्रियते । ग्रन्थममुं धर्मशास्त्रस्य विश्वकोशमपि निगदन्ति विद्वांसः । 'बुक्कराय'महाराजानामादेशानुसारेणास्य रचना जाता—इति ग्रन्थस्य पुष्पिकया परिलक्ष्यते ।

२. **कालनिर्णयः**—कालमाधवापराख्ययाप्ययं ख्यातो ग्रन्थः । धर्मानुष्ठानेषु कालनिर्णयार्थमेनं माधवाचार्योऽरीरचत् । अत्र सन्दर्भे प्रसिद्धिरेषा वर्तते यत्पराशर-माधवेति ग्रन्थरचनानन्तरमेवैतस्यातीव महत्त्वशालिनो महिममण्डितस्य प्रामाणिकस्य विविधधार्मिककृत्यकालनिर्णयार्थं महोपयोगिनः प्रबन्धस्य रचनाऽभवत् । परवर्ति-निबन्धकारा महता समादरेणास्य ग्रन्थस्य नामोल्लेखं विहितवन्तः ।

अपरेऽपि केचन निबन्धग्रन्था माधवनामकेन ग्रन्थकारेण लिखिताः सन्ति, यथा—(क) **दत्तकमीमांसा**, (ख) **गोत्रप्रवरनिर्णयः**, (ग) **मुहूर्त्तमाधवीयः**, (घ) **स्मृतिसंग्रहः**, (ङ) **व्रात्यस्तोमपद्धतिः** । धर्मशास्त्रेतिहासलेखककाणेमहाशयमतेन माधवनाम-साम्यमधिकृत्यान्ये बहवो धर्मशास्त्रप्रबन्धाः विद्यारण्यनिर्मितग्रन्थाः कथ्यन्ते, ते न तथा पुष्टप्रमाणाभावात् । परन्तु ग्रन्थानामन्तरङ्गपरीक्षया निर्भ्रान्तरूपेण निगदितुं शक्यते यत्प्रथमोक्तौ द्वौ प्रबन्धौ माधवाचार्यस्यैवेति न तत्र काचिच्छङ्का ।

पूर्वमीमांसाग्रन्थः

जैमिनीयन्यायमालाविस्तरः—सर्वतन्त्रस्वतन्त्रस्य माधवाचार्यस्य पूर्वमीमांसा-शास्त्रीयोऽयं ग्रन्थः । प्रथममेषा रचना न्यायमालानाम्ना जाता, या कारिकामयी बभूव । तत्र मीमांसाशास्त्रस्य प्रत्येकमधिकरणस्य कृते द्वे कारिके आस्ताम्–प्रथमायां पूर्वपक्षो द्वितीयायां च सिद्धान्तपक्षः । तात्कालिको विजयनगरभूपतिः बुक्करायो माधवाचार्यस्याश्रयदो माधवाचार्यकृतं कारिकामयं ग्रन्थं विलोक्य मोमुद्यते स्म । तस्य राज्ञ आग्रहवशाच्चोक्तायाः कारिकात्मिकायाः कृतेर्विस्तारनाम्नीं व्याख्यां माधवाचार्यो व्यरचयत् । ग्रन्थस्य चामुष्य नाम न्यायमालाविस्तर इति प्रसिद्धिमगात् ।

व्याकरणग्रन्थः

'माधवीया धातुवृत्तिः' इति नाम्ना परमविख्यातो ग्रन्थो माधवाचार्यस्य कथ्यते । ग्रन्थस्य शीर्षके माधवीयेतिशब्दस्य निर्देशो वर्त्तते । किन्तु विद्वज्जनानां

नैकेषां मतस्यानुरोधेनास्य कर्ता सायण इति प्रसिद्धिरपि वर्तते। कथ्यते चास्मिन्प्रसङ्गे यथा ऋक्संहिताभाष्यपुष्पिकायां भाष्यकारः सायणो ज्येष्ठं भ्रातरं प्रति समादरं सूचयन् माधवीयेतिशब्दं प्रयुक्तवान्, तथैवात्रापि। यथा सायण एव ऋग्वेदभाष्यलेखक आसीत्तथैवास्या धातुवृत्तेरपि सायण एव लेखकः। विशेषो विमर्शोऽनवसरः। केषाञ्चन मतेन सायणाग्रज एव माधवीयाया धातुवृत्तेः कर्ता।

विद्यारण्यस्वामिनोऽद्वैतवेदान्तग्रन्थाः

अत्र सन्दर्भेऽपि सैव स्थितिः। माधवाचार्यरचितग्रन्थेषूपलभ्यमानेषु के तस्य ग्रन्थाः के वान्यस्येति दृढतरप्रमाणाभावेन निर्धारयितुं न शक्यते। **'वैयासिकन्यायमाला-पञ्चदशी'**चेति द्वे कृती केन रचिते इत्यत्रापि स्थितिरनिश्चयात्मिका। पञ्चदश्याः प्रत्येकं प्रकरणान्ते यो निर्देशः—'विद्यारण्यमुनिविरचितायां पञ्चदश्यामित्यादि' तेन निश्चितरूपेणानुमीयते यदियं कृतिः विद्यारण्यस्यैव। अपरं चापि प्रमाणम्। शाङ्करवेदान्तमनीषिषु प्रसिद्धिरस्ति यदसौ प्रबन्धो हि एकाकिनो विद्यारण्यस्यैव। इत्थमेव च 'वैयासिकन्यायमाला' भारतीतीर्थपादानामेव कृतिः। यतः भारतीतीर्थविद्यारण्यौ गुरुशिष्यावास्तामतो द्वयोर्ग्रन्थयो रचनायामुभयोः परस्परसहयोगो नासम्भवः।

पञ्चदशी—शाङ्करवेदान्तनिरूप्याणि समग्राणि तत्त्वानि पूर्णतः सुबोध्यानि सुस्पष्टानि च स्युरिति मतिं विधायेयं पञ्चदशी विद्यारण्येन निर्मिता।

सा चेयं भारतविख्याता, संख्यावत्सु ममादृता, विद्यारण्यस्यापूर्वा कृतिरित्यत्र न काचिद्विप्रतिपत्तिः। सरलैः सुगूढैः प्रचुरार्थभरितैः पद्यैरत्राद्वैतवेदान्तवादस्य सर्वे पक्षाः सुनिरूपिता विवेचिता विवृताश्च। अत्र सुस्पष्टया सरलया संक्षिप्तया च शैल्या समस्तश्रुतिस्मृतिपुराणमाण्डूक्यकारिकाबादरायणब्रह्मसूत्रशङ्करकृतब्रह्मसूत्रभाष्यादिभिः प्रतिपादितस्याद्वैतवेदान्तस्योत्तरमीमांसापरपर्यायस्य निखिलपक्षाणां सुस्पष्टं विवेचनं विद्यते। अस्मिन् ग्रन्थे पञ्चदश प्रकरणापराह्वया अध्यायाः सन्ति। प्रकरणानां नामनिर्देशनेनैव विवेच्यानि तथ्यानि विज्ञातानि भवन्ति।

अस्मिन्प्रबन्धे पञ्च पञ्च प्रकरणान्याश्रित्य त्रयो विभागा विनिर्धारिताः— (१) प्रथमस्य प्रकरणपञ्चकस्य विवेकप्रकरणम्, (२) द्वितीयपञ्चकस्याख्या दीपप्रकरणमथ च (३) तृतीयपञ्चकस्य संज्ञा आनन्दप्रकरणमित्यववेयम्। प्रथमे विवेकपञ्चके तत्त्वविवेक-पञ्चभूतविवेक-पञ्चकोशविवेक-द्वैतविवेक - महावाक्यविवेकनामानः पञ्चविवेका निरूपिताः सन्ति। द्वितीये दीपपञ्चकप्रकरणे--चित्रदीप-तृप्तिदीप-कूटस्थदीप-ध्यानदीप-नाटकदीपाख्याः पञ्चदीपा वर्तन्ते। तृतीये चानन्दाख्ये प्रकरणे योगानन्दात्मानन्दाद्वैतानन्दविद्यानन्दविषयानन्दनामकाः आनन्दान्ताः पञ्च प्रकरणात्मका अध्याया विद्यन्ते।

पूर्वमेव सूचितं यद् रामकृष्णमहोदयेन भारतीतीर्थविद्यारण्यकिङ्करेणास्य ग्रन्थस्य 'पददीपिका' 'तात्पर्यदीपिका' वा टीका विरचिता। टीकाद्वयोपेते अस्मिन् संस्करणे

अच्युतरायमोडकेन निर्मिता पूर्णानन्देन्दुकौमुदीति नामिका पूर्वप्रकाशिताऽपि सम्प्रति सुदुर्लभा टीका सहैव मुद्रिताऽस्ति। अस्य प्रथमस्य तत्त्वविवेकप्रकरणस्य पुष्पिकात्रोद्-ध्रियते—

"इति श्रीपरमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमदद्वैतसच्चिदानन्देन्द्रसरस्वतीशिष्य-श्रीमत्-पदवाक्यप्रमाणक्षीरार्णवविहरण-श्रीमदद्वैतविद्येन्दिरारमणषष्ठ्युपनामकश्रीनारायणशास्त्रि-चरणसरोजराजहंसायमानमानस-मोडकोपनामकाच्युतशर्मणा विद्यार्थिना विरचितायां पूर्णानन्देन्दुकौमुद्यभिधायां पञ्चदशीटीकायां तत्त्वविवेकः प्रकाशः प्रथमः समाप्तः"।

अस्य ग्रन्थस्य प्रायः प्रत्येकं प्रादेशिकभाषास्वनूवादो लभ्यते। प्रकरणान्त-पङ्क्तिषु यथोक्तं, तदनुसारेण विद्यारण्यकृतैव कृतिरियमिति ख्यातिश्च सर्वेषु भारतीय-प्रदेशेषु प्रचलति।

टीकाद्वयोपेता पञ्चदशी पूर्वं प्रकाशिताऽऽसीत्। परन्तु सम्प्रति साऽलभ्या। अधुना रामकृष्णकृतव्याख्यया युक्तैव सा लभ्यते इति कृत्वा "अच्युतरायशर्ममोडक" —व्याख्योपेताऽसौ 'पञ्चदशी' उत्तरप्रदेशसंस्कृताकादम्या प्रकाश्यते। श्रीविद्यारण्य-मुनेरन्यस्यापि जीवन्मुक्तिविवेकनामकस्य ग्रन्थस्य अच्युतरायशर्मा टीकाकारोऽस्ति। मन्ये, सोऽवश्यमेव पञ्चदशीकारमतस्य मर्मज्ञः। अतस्तेन कृतया व्याख्यया सहिता, रामकृष्णेन रचितया व्याख्यया च युक्तेयं टीकाद्वयोपेता पञ्चदशी संस्कृता-कादम्या प्रकाश्यते। अस्मिन्प्रसङ्गे स्वव्याख्योपक्रमे 'अच्युतरायमोडकेन' लिखितम्—

दृष्ट्वैव रामकृष्णव्याख्यानं सञ्चरन्तु कौमुद्याम्।
एतस्यां शान्त्यर्थं तृप्त्यर्थं सञ्चरन्तु रसज्ञा ये॥

(तत्त्वविवेकप्रकरणम्, श्लो० ३)

अपरञ्चाप्यस्याष्टीकाया वैशिष्ट्यं वर्तते। एतस्या व्याख्याया उपक्रमे दशम-श्लोकादारभ्य एकोनपञ्चाशश्लोकपर्यन्तं प्रकरणानां प्रतिबन्धानाञ्चाशयनिर्देशपुरस्सरं आरम्भ एव यद् विवेचनं, तदतीव वैदुष्यजुष्टम्। अस्मिन् संस्करणे जिज्ञासुपाठकैः स्वयमेव तत्परिशीलनीयम्।

पूर्वमेव मया निवेदितं यदस्याः पञ्चदश्याः कर्तृत्वसन्दर्भेऽस्य ग्रन्थस्य निर्माणे भारतीतीर्थमहापण्डितैः सह विद्यारण्यस्य संयुक्तकर्तृत्वं लोके विख्यातम्। इत्थमेव च वैयासिकन्यायमालाख्यग्रन्थविषये द्वयोः संयुक्तकर्तृत्वं निगद्यते। अस्तु, तावत्प्रसङ्गमनु-सरामः।

पञ्चदशीग्रन्थस्य वैशिष्ट्यम्

समग्रशाङ्कराद्वैतदर्शनसिद्धान्तसारभूतस्य पञ्चदशीग्रन्थस्य सन्दर्भे किञ्चि-न्निवेदयितुमुपक्रमे।

अस्मिन्ग्रन्थे किलैकतस्तु सरलया सुबोध्यया संक्षिप्तया च शैल्या समग्र-श्रुति-स्मृति-पुराण-ब्रह्मसूत्र-शाङ्करभाष्यादि-प्रतिपादितस्याद्वैतवादात्मकस्य निखिलसिद्धान्त-वर्णनशीलस्य वेदान्तस्योत्तरमीमांसाशास्त्रस्य कारिकारूपेणातिसुस्पष्टं विवेचनं वर्तते, अपरतस्तु प्रमेयबहुलस्य प्रमाणोदाहरणजुष्टस्य तर्कपुष्टस्याद्वैतवेदान्तराद्धान्तस्य सुबोध्यं, शास्त्रजिज्ञासूनां मुमुक्षूणां च कृते मनोहारित्वं तलस्पर्शित्वं पूर्णप्रमेयत्वं चात्र ग्रन्थे समुपलभ्यते।

विमर्शेनैतेन परामृष्टुं शक्यते यच्छाङ्करवेदान्तवाङ्मये नान्या कापि कृतिरेतादृशीतिकृत्वातुलनीयत्वमपूर्वत्वं चास्य ग्रन्थस्योद्घोषयितुं शक्यते। न चात्र काचिदत्युक्तिः। ग्रन्थस्यास्य विनिर्माणेन विद्यारण्यमुनिः शाङ्कराद्वैततत्त्वजिज्ञासूनां कृते महान्तमुपकारं कृतवान्।

शाङ्कराद्वैतवेदान्तप्रतिपादितसिद्धान्तस्य श्रीमद्भगवद्गीतायां निगदितैः पक्षैः सह सामञ्जस्यस्थापनार्थं (श्रीमद्भगवद्गीताया आस्तिकदर्शनेषु प्रस्थानत्रयेषु सर्वस्वीकृतत्वात्) स्थाने गीतोक्तवचनानामत्र समाकलनमुपपत्तियुक्तं च विवेचनं निर्दिश्यते, यथा—अद्वैतज्ञानोदयस्य प्रतिबन्धानां प्रतिबन्धक्षयस्य च विवेचनं पञ्चदशीकारेण क्रियते—

अतीतेनापि महिषीस्नेहेन प्रतिबन्धतः।
भिक्षुस्तत्त्वं न वेदेति गाथा लोके प्रगीयते॥
अनुसृत्य गुरुस्नेहं महिष्यां तत्त्वमुक्तवान्।
ततो यथावद्वेदैष प्रतिबन्धस्य संक्षयात्॥
प्रतिबन्धो वर्तमानो विषयासक्तिलक्षणः।
प्रज्ञामान्द्यं कुतर्कश्च विपर्ययदुराग्रहः॥
शमाद्यैः श्रवणाद्यैश्च तत्र तत्रोचितैः क्षयम्।
नीतेऽस्मिन्प्रतिबन्धेऽतः स्वस्य ब्रह्मत्वमश्नुते॥
(ब्रह्मास्मीति बोधवृत्तिमश्नुते—इति भावः)

आगामिप्रतिबन्धश्च वामदेवे समीरितः।
एकेन जन्मना क्षीणो भरतस्य त्रिजन्मतः॥
योगभ्रष्टस्य गीतायामतीते बहुजन्मनि।
प्रतिबन्धक्षयः प्रोक्तो न विचारोऽप्यनर्थकः॥
प्राप्तपुण्यकृतां लोकानात्मतत्त्वविचारतः।
"शुचीनां श्रीमतां गेहे" साभिलाषोऽभिजायते॥
अथवा "योगिनामेव कुले भवति धीमताम्"।
निःस्पृहो ब्रह्मतत्त्वस्य विचारात्तद्धि दुर्लभम्॥
तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदैहिकम्।
यतते च ततो भूयस्तस्मादेतद्धि दुर्लभम्॥

पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः ।
"अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्" ॥
(पञ्चदशी-ध्यानदीपप्रकरणम्—९ कारिका—४१-५०)

प्रथमे खलु पञ्चदश्या विवेके तत्त्वानां जागरे पृथक्त्वेन भास्यमानेऽपि विभक्ताः रूप-रस-गन्ध-स्पर्श-शब्दादयो वेद्याः संविद एकरूपत्वान्न भिद्यन्ते इत्यारभ्य तत्त्वविवेचनं कृतम् । अन्ते चास्य प्रकरणे परोक्षापरोक्षज्ञानयोः फलं निर्दिशन् पञ्चदशीकारो द्वाभ्यां कारिकाभ्यामुपसंहरति—

परोक्षं ब्रह्मविज्ञानं शाब्दं देशिकपूर्वकम् ।

(अत्र देशिकः श्रीगुरुस्तत्पूर्वकं तदुपदिष्टवेदान्तवाक्यजन्यं' गुरुमुखाल्लब्धमित्याशयः ।)

बुद्धिपूर्वकृतं पापं कृत्स्नं दहति वह्निवत् ॥

एवमेव च—

अपरोक्षात्मविज्ञानं शाब्दं देशिकपूर्वकम् ।
संसारकारणाज्ञानतमसश्चण्डभास्करः ॥

इत्थं च परोक्षापरोक्षगुरुमुखलब्धसम्यग्ज्ञानस्य फलमभिधाय तत्त्वविवेकं च विधाय अचिरात् परपदप्राप्तिं विवृणोति—

इत्थं तत्त्वविवेकं विधाय विधिवन्मनः समाधाय ।
विगलितसंसृतिबन्धः प्राप्नोति परं पदं नरो न चिरात्[1]॥

एवं हि सुबोध्यैः स्पष्टार्थैः सरलैः पदैः सूक्ष्मातिसूक्ष्मतत्त्वस्य विवेचनं पञ्चदश्यां विहितम् ।

अग्रिमेषु च विवेकपञ्चकप्रकरणेषु पञ्चभूतविवेक—पञ्चकोशविवेक-द्वैतविवेक-महावाक्यविवेकादिप्रकरणानि पूर्वोक्तसरण्या सम्यग् विवेचितानि ।

द्वितीये दीपाख्यप्रकरणपञ्चके षष्ठं चित्रदीपप्रकरणं नवत्युत्तरद्विशत—(२९०) श्लोकात्मकं बृहत् ।

यथा चित्रपटे दृष्टमवस्थानां चतुष्टयम् ।
परमात्मनि विज्ञेयं तथावस्थाचतुष्टयम् ॥

इत्यारभ्य—

चित्रदीपमिमं नित्यं येऽनुसंदधते बुधाः ।
पश्यन्तोऽपि जगच्चित्रं ते न मुह्यन्ति पूर्ववत्[2] ॥

इत्युपक्रमोपसंहाराभ्यां चतसृणामवस्थानां विवेकपूर्विकां विस्तृतां व्याख्यां विधाय काण्वोपनिषन्मन्त्रात्मकेन प्रथमेन श्लोकेन विशालमष्टानवत्युत्तरशतद्वयात्मकं सप्तमं तृप्तिदीपप्रकरणं समारभ्यते—

---

१. पञ्चदशी—तत्त्वविवेकप्रकरणम्—श्लोका ६३-६५ ।
२. तत्रैव—चित्रदीपप्रकरणम् (षष्ठम्) श्लोकौ १ तथा २९० ।

आत्मानं चेद्विजानीयादयमस्मीति पूरुषः ।
किमिच्छन्कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरेत्[1] ॥

प्रथमायाश्च कारिकाया आशयं विशदयंस्तस्याः श्रुतेर्मतं बृहता प्रकरणेन विचारयन्नथ च स्पष्टीकुर्वन्नेतत्प्रकरणं रचयति स्म विद्यारण्यः—

अस्याः श्रुतेरभिप्रायः सम्यगत्र विचार्यते ।
जीवन्मुक्तस्य या तृप्तिः सा तेन विशदायते[2] ॥

अत्र च जीवन्मुक्तस्य श्रुतिप्रसिद्धा या तृप्तिः सा स्पष्टीभवति । अन्ते च जीवन्मुक्तः कृतकृत्यतया कृतकृत्यताजन्यया प्राप्तप्राप्यतया च तृप्तः सन् स्वमनसा निरन्तरं मन्यते—

कृतकृत्यतया तृप्तः प्राप्तप्राप्यतया पुनः ।
तृप्यन्नेवं स्वमनसा मन्यतेऽसौ निरन्तरम्[3] ॥

तत्पश्चाच्च षड्भिः कारिकाभिः 'धन्योऽहं धन्योऽहं नित्यमि'ति २९२ कारिकात आरभ्य—

अहो शास्त्रमहो शास्त्रमहो गुरुरहो गुरुः ।
अहो ज्ञानमहो ज्ञानमहो सुखमहो सुखम् ॥
तृप्तिदीपमिमं नित्यं येऽनुसंदधते बुधाः ।

इत्यन्तं स्वतृप्तिमयं सुखं जीवन्मुक्ता अनुभवन्ति । अन्ते च—

ब्रह्मानन्दे निमज्जन्ते ते तृप्यन्ति निरन्तरम्[4] ॥

अष्टमनवमदशमप्रकरणानि कूटस्थदीप-ध्यानदीप-नाटकदीपप्रकरणानि त्रीणि कूटस्थ-ध्यानादिनामानुरूपविवरणनिरूपणात्मकानि लघून्येवेति ग्रन्थत एवानुसन्धेयं सर्वम् ।

अन्तिमपञ्चकस्य प्रकरणानि ब्रह्मानन्दसम्बद्धान्यतीव विशिष्टानि । एकादशे ब्रह्मानन्दे योगानन्दप्रकरणं प्रथमत एव संसूच्यते—

ब्रह्मानन्दं प्रवक्ष्यामि ज्ञाते तस्मिन्नशेषतः ।
ऐहिकामुष्मिकानर्थव्रातं हित्वा सुखायते ॥

अग्रे च द्वितीयायां कारिकायां ग्रन्थकारः सूचयति—

ब्रह्मवित् परमाप्नोति शोकं तरति चात्मवित् ।
रसो ब्रह्मरसं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति नान्यथा ॥

---

१. तत्रैव—तृप्तिदीपप्रकरणम्—(सप्तमम्) कारिका—१ ।

२. तत्रैव—कारिका—२ ।

३. तत्रैव—कारिका २९१ ।

४. पञ्चदशी—७।२९८ ।

अग्रे चातीव दुष्करः प्रश्नः समाधीयते । यथा चोच्यते 'नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि' इत्यादिशास्त्रप्रामाण्यादनादौ संसारे बहुजन्मोपार्जितेषु पुण्यपापलक्षणेषु कर्मसु असंख्यातेष्वप्रसिद्धत्वेनात्मानुसन्धानायोग्येषु सत्सु कथं तद्विषया चिन्ता न भवेदित्याशङ्क्य सनिदानानां तेषां तत्त्वज्ञानेन विनाशितत्वान्न चिन्ताजनकत्वमित्यभिप्रायेण हृदयग्रन्थ्यादिनिवृत्तिपरं मुण्डकोपनिषद्वचनं समुद्धरति—

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे ।। (पञ्चदशी, ११-७)

अष्टमकारिकायां ग्रन्थकारः श्वेताश्वतरोपनिषद्वाक्यमर्थतः पठति, यत्र च साधितं "तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय [(माध्यन्दिनसंहिता—अ० २२, मन्त्रः १८), (श्वेताश्वतरोपनिषद्–६।१५)] । यथा च—

तमेव विद्वानत्येति मृत्युं पन्था न चेतरः ।
ज्ञात्वा देवं पाशहानिः क्षीणैः क्लेशैर्न जन्मभाग् ।। ५३ ।।
(पञ्च० ११-८)

ब्रह्मानन्दे योगानन्दाख्ये एकादशे प्रकरणे ग्रन्थकारो योगदर्शनफलितार्थतुल्यमद्वैतसिद्धान्तं निरूपितवानिति कृत्वाऽस्य वैशिष्ट्यम्—

समाधिनिर्धूतमलस्य चेतसो
निवेशितस्यात्मनि यत्सुखं भवेत् ।
न शक्यते वर्णयितुं गिरा तदा
स्वयं तदन्तःकरणेन गृह्यते ।। (पञ्च० ११।११८)

विद्यारण्यो मुनिरुपसंहरन्नेतत् प्रकरणमन्ते निगदति—

ब्रह्मानन्दाभिधे ग्रन्थे ब्रह्मानन्दप्रकाशकम् ।
योगिप्रत्यक्षमध्याये प्रथमेऽस्मिन्नुदीरितम्[1] ।। (पञ्च० ११।१३४)

समुचितमेवास्य प्रकरणस्य योगानन्दाख्यानम् । पातञ्जले योगशास्त्रे निर्विकल्पसमाधिस्थस्य आत्मनः—'तदा स्वरूपेऽवस्थानम्' इति यदानन्दमयैकसत्तात्मकमवस्थानं तत्त्वद्वैतवादकल्पमिति स्वयमेव जिज्ञासुभिरूह्यम् ।

द्वादशे प्रकरणे वदति तमेव विषयं योगाद्वैतवादयोरानन्दसादृश्यं परिस्फोटयन् ग्रन्थकारः—

नन्वेयं वासनानन्दाद् ब्रह्मानन्दादपीतरम् ।
वेत्तु योगी निजानन्दं मूढस्यात्रास्ति का गतिः ।। (पञ्च०, १२।१)

---

१. अस्मिन् प्रसङ्गे पञ्चदश्या एतस्यैव प्रकरणस्य योगसिद्धान्तनिरूपणपराः कारिकाः ९६ संख्यातः १०८ संख्यापर्यन्तं द्रष्टव्याः ।

एवमेनं प्रसङ्गं विवेचयन् निरूपयति ग्रन्थकारः—

यद्योगेन तदेवेति वदामो ज्ञानसिद्धये।
योगः प्रोक्तो विवेकेन ज्ञानं किं नोपजायते॥
यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।
इति स्मृतं फलैकत्वं योगिनां च विवेकिनाम्[1]॥
(विवेकिनामिति ज्ञानिनाम्) (पञ्च०, १२।८१,८२)

उपसंहारे चात्मानन्दाख्यस्य प्रकरणस्योक्तम्—

ब्रह्मानन्दाभिधे ग्रन्थे मन्दानुग्रहसिद्धये।
द्वितीयाध्याय एतस्मिन्नात्मानन्दो विवेचितः॥ (पञ्च०, १२।९०)

त्रयोदशे प्रकरणे योगानन्दात्मानन्दयोरैक्यं प्रतिपादितम्—

योगानन्दः पुरोक्तो यः स आत्मानन्द इष्यताम्।
कथं ब्रह्मत्वमेतस्य सद्वयस्येति चेच्छृणु॥ (पञ्च० १३।१)

अस्याः कारिकाया व्याख्यायाः प्रारम्भे एवाशयं वर्णयन् टीकाकृद्रामकृष्णो लिखति—'यस्य प्रतिज्ञातस्यैव ब्रह्मानन्दस्य योगजन्यसाक्षात्कारविषयत्वेन निरुपधिकत्वेन निजानन्दत्वं च व्यवहृतं, तथा गौण-मिथ्या-मुख्यात्मविवेचनेनावगम्यत्वविवक्षयाऽऽत्मानन्दत्वमभिहितमिति भावः'। एष एव विषयः सम्यगस्मिन्प्रकरणे विवेचितम्। उपसंहरंश्च कथयति—

एवं च निर्जगद्ब्रह्म सच्चिदानन्दलक्षणम्।
अद्वैतानन्द एतस्मिन् विश्राम्यन्तु जनाश्चिरम्॥ (पञ्च०, १३।१०४)

अग्रिमे चतुर्दशे प्रकरणे (ब्रह्मानन्दपञ्चकस्य चतुर्थे) विद्यानन्दस्य निरूपणं कृतवान् ग्रन्थकारः ६५ संख्यकैः श्लोकैः। अन्तिमे च पञ्चदशे प्रकरणे ब्रह्मानन्दैकदेशत्वेन लौकिकोऽपि विषयानन्दो ब्रह्मानन्दांशो भवतीति सर्वथा नवीनं विषयं प्रतिपादयति ग्रन्थकारः। अन्ते चास्मिन् प्रकरणे "ध्यातृ-ध्यान-ध्येय"-त्रिपुटीरहितस्य भूमानन्दस्योल्लेखः कृतः—

निरुपाधिब्रह्मतत्त्वे भासमाने स्वयंप्रभे।
अद्वैतत्रिपुटी नास्ति भूमानन्दोऽत उच्यते॥ (१५।३३)

मङ्गलकामनया चान्तिमां कारिकां पठति ग्रन्थकारः—

प्रीयाद्धरिर्हरोऽनेन ब्रह्मानन्देन सर्वदा।
पायाच्च प्राणिनः सर्वान्स्वाश्रिताञ्छुद्धमानसान्॥ (१५।३५)

पूर्वोक्तपङ्क्तिभिरस्य पञ्चदश्याख्यग्रन्थस्य प्रतिपाद्यविषयस्य सिंहावलोकनदिशा किञ्चिन्निवेदितमत्र मया।

साम्प्रतं विद्यारण्यमुनेरन्येषां ग्रन्थानां नामोल्लेखनमुपन्यस्यते। ततः पूर्वमत्र एतदवश्यमेवावधेयं यदेतस्य ग्रन्थस्य प्रत्येकं प्रकरणस्यान्ते लिखितमस्ति—इति श्रीविद्यारण्य-

१. तुलनीयम्—"सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः"—श्रीमद्० गीता ५।४।

तीर्थविरचितायां पञ्चदश्यामित्यादि। तत्र महाविदुषो भारतीतीर्थस्य नामोल्लेखोऽपि नास्ति। एतेन कृतिरियं कस्येति स्वयमेवानुशीलकैर्विमर्शनीयमिति दिक्।

(२) जीवन्मुक्तिविवेकः

विद्यारण्यस्वामिनो ग्रन्थश्चतुरध्यायात्मकोऽयम्। अस्य प्रथमोऽध्यायोऽतिविशालोऽतीवप्रौढवैदुष्यमण्डितो यत्र श्रुतिपुराणादिग्रन्थेष्वितस्ततो निर्दिष्टा प्रचुरा प्रमाणसामग्री संग्रथितास्ति, यत्र च जीवनमुक्तेर्लक्षणमेवं कृतम्—"जीवतः पुरुषस्य कर्तृत्व-भोक्तृत्व-सुखदुःखादिलक्षणश्चित्रधर्मत्वाद् बन्धो भवति, तस्य निवारणं जीवन्मुक्तिः"। अर्थाज्जीविते मनुष्ये कर्तृत्व-सुखित्व-दुःखित्वादिलक्षणाश्चित्तधर्मा एव मानवजीवनस्य बन्धाः, तेषामेवात्यन्तिकरूपेण निवारणं जीवन्मुक्तिः[1]।

(३) विवरणप्रमेयसंग्रहः

विद्यारण्यमुनेर्वेदान्तमर्मज्ञताया एषा कृतिरुत्कृष्टं निदर्शनम्। एतदत्रावधेयम्। ब्रह्मसूत्रस्य शाङ्करभाष्यस्य निर्माणानन्तरं शङ्कराचार्यैः स्वप्रियशिष्यमनेक-(त्रि)वारमधीतशाङ्करभाष्यं पद्मपादाचार्यमाचार्यभक्तं विशुद्धवेदान्तिनं शाङ्करभाष्यस्य टीकानिर्माणायादिष्टवान्। सम्पूर्णभाष्यस्य 'पञ्चपादिका'नाम्नी टीका तेन रचिता। प्रभाकरमतानुयायिना मातुलेन साऽग्निना ज्वालिता। पुनरपि कृपयाऽऽचार्यस्य तस्या उद्धारोऽभवत्। परन्तु सा सम्प्रति चतुःसूत्रपर्यन्ता एवोपलभ्यते। केचिद्वदन्ति यदद्वैतवेदान्तदर्शनं किल 'अध्यास-जिज्ञासा-लक्षण-प्रमाण-प्रयोजनात्मक'-पञ्चपादात्मकमेव। तस्य विवेचनं चतुःसूत्र्या विवेचनेन गतार्थमितिकृत्वा एषा पञ्चपादिका चतुःसूत्रीटीकापर्यवसायिनीति।

एतस्याष्टीकायाः प्रकाशात्मयतिना लिखिता विवरणाख्या व्याख्याऽऽसीत्। तस्य विवरणस्य समेषां महत्त्वशालिनां प्रमेयाणामत्र संग्रहणेनास्य ग्रन्थस्य "विवरणप्रमेयसंग्रहः" इति नाम सार्थकमिति च तेनैवोक्तम्—

भाष्यटीकाविवरणं तन्निबन्धनसंग्रहः।
व्याख्याव्याख्येयभावाय क्लेशनाशाय रच्यते॥ इति।

इत्थं चेयं टीका विद्यारण्यस्य चरमोत्कर्षमयी ग्रन्थकृतः प्रौढं वेदान्तरहस्यवेदित्वं प्रकटीकरोति। चतुःसूत्रपर्यवसायिव्याख्यात्मिकायामस्यां रचनायां नव वर्णकाः (विभागाः) विद्यन्ते।

---

१. तुलनीयम्—यावन्न तत्त्वविज्ञानं तावच्चित्तशमः कुतः।
यावन्न चित्तोपशमो न तावत् तत्त्ववेदनम्॥
यावन्न वासनानाशस्तावत् तत्त्वागमः कुतः।
यावन्न तत्त्वसंप्राप्तिर्न तावद्वासनाक्षयः॥

४–अनुभवप्रकाशः, ५–उपनिषद्दीपिका, ६–बृहदारण्यकवार्तिकसारः—इमे खलु ग्रन्था उपनिषद्वाङ्मयसम्बद्धाः। प्रथमे विंशत्यध्यायात्मके ग्रन्थे द्वादशोपनिषदां महनीयांशानां कारिकात्मकं विवरणं वर्त्तते। उपनिषद्दीपिकायां चैतरेय-नृसिंहतापिन्याद्युपनिषद अधिकृत्य (नृसिंहतापिन्युपनिषद उत्तरखण्डमात्रम्) पाण्डित्यपूर्णा "दीपिका" नाम्नी टीका विरचिताऽस्ति।

"बृहदारण्यकसारः" किल विद्यारण्यस्य अद्वैतवेदान्तस्य ग्रन्थः। ग्रन्थोऽयं तस्य वरिष्ठग्रन्थेष्वन्यतम उद्घोष्यते। एषोपनिषद् शाङ्कराद्वैते महतीं प्रतिष्ठां भजते। स्वयमाचार्यकृतमस्य भाष्यं महत्त्वशालि। तदधिकृत्य सुरेश्वराचार्यकृतानां वार्तिकानां रचनाऽपि महनीयाऽस्ति। सुरेश्वराचार्यस्य सा कृतिरतीव दुर्बोधा, बृहती, गूढसारगर्भिता च। तस्यैव ग्रन्थस्य सारात्मका भावा अत्र सुगुम्फिताः सन्ति। असावपि ग्रन्थो विशालकायः। अस्य संस्कृतटीकाऽप्यस्ति। अच्युतग्रन्थमाला च वैशिष्ट्यपूर्णहिन्दीभाषान्तरसहितं तं ग्रन्थं प्राकाशयत्। समग्रोऽयं ग्रन्थः पञ्चदशीवत् सरलः सुबोधः कारिकात्मकश्च।

इत्थं च विद्यारण्यस्वामिनोपरिनिर्दिष्टैर्विख्याताद्वैतवेदान्तग्रन्थैरद्वैतवेदान्ततत्त्वानि सरलशब्दैः समुन्मील्य महत्कार्यं सम्पादितम्।

शाङ्कराद्वैतमते च विद्यारण्यनिरूपितेषु सिद्धान्तेषु तत्र तत्र मौलिकं नावीन्यं दरीदृश्यते। स्थानाभावादल्पज्ञत्वाच्चात्मनो, विस्तरभयाच्चास्याः प्रस्तावनाया, अत्र तेषां पक्षाणां विस्तृतं विवेचनमकृत्वा केचनैव बिन्दवः सूच्यन्ते। पञ्चदश्यां प्रसङ्गे प्रसङ्गे सूचिता नवाः पक्षाः पञ्चदश्या गभीराध्येतृभिः स्वयमेवोह्याः। विद्यारण्यस्य दार्शनिका मौलिकाः पक्षाः—

१. जीवस्येश्वरस्य च सच्चिदानन्दस्वरूपस्य निर्गुणस्य स्वरूपनिरूपणेऽस्य मान्यतायां नवीनता लक्ष्यते।

२. मायाया अविद्यायाश्च स्वरूपकल्पनायां चास्य मतं किञ्चिद्भिन्नम्।

३. चैतन्यस्य (चितः) चातुर्विध्यं—कूटस्थस्वरूपचित्, ब्रह्मचित्, ईश्वरचित्, जीवचिदिति स्वीकृतम्।

४. सगुणोपासनया योगमार्गेण निर्गुणोपासनया वा ब्रह्मत्वप्राप्तिः सम्भाव्या, परन्तु तन्त्रभेदस्तत्र तत्र वर्तते।

५. अध्यासस्वरूपनिरूपणे चापि किञ्चिद्वैशिष्ट्यं लक्ष्यते।

६. साक्षिणः स्वरूपनिर्धारणे विद्यारण्यस्य दृष्टिरपि अभिनवा दृश्यते।

७. ईश्वरस्य सर्वज्ञसन्दर्भेऽप्येतस्य मतं मननीयम्।

८. ब्रह्मत्वप्राप्तिसाधनविमर्शे ध्यानदीपनामके नवमे प्रकरणे मौलिकरूपेण सप्रमाणं यो विचारः कृतः, सोऽनुशीलनीयः।

एतदतिरिक्तमपि बहुषु पक्षेषु विवेचनवैचित्र्यं लक्ष्यते। परन्तु सर्वत्र शास्त्र-प्रमाणपोषणमपि वर्तते। संक्षेपेणैतावदुक्त्वाहमत्र विरमामि।

शङ्करदिग्विजयः

षोडशसर्गात्मिकायामस्यां काव्यकृतौ कविताऽतीव रमणीया वर्त्तते। दार्शनिकपक्षा अपि समीचीनकौशलेनोपस्थापिताः।

एषाऽपि रचना विद्यारण्यस्य कथ्यते, परन्तु तन्न प्रमाणपुष्टम्। यद्यपि ग्रन्थारम्भे विद्यातीर्थवन्दनात्मको मङ्गलश्लोको विद्यारण्यपद्यसंकाशस्तथापि ग्रन्थस्यास्य शैली विद्यारण्यशैल्यननुरूपा, ग्रथितेषु तथ्येषु चैतिहासिकपक्षा अवहेलिताः। अतो ग्रन्था-नुशीलका आमनन्ति यद् ग्रन्थोऽयं नवकालिदासेतिविरुदाख्यातेन केनापि लेखकेन निर्मित इति। विस्तरस्त्वन्यत्रानुसन्धेयः। भारतचम्पूनिर्मातुरयमेवोपाधिरासीदिति दिक्।

सर्वदर्शनसंग्रहः

ग्रन्थस्यास्य कर्त्ता माधवाचार्यः कथ्यते। तस्य संन्यासाश्रमे विद्यारण्य इति नाम जातम्। परन्त्वेतस्मिन् विषये 'सर्वदर्शनसंग्रह'भूमिकायामन्यत्र च बहु विवेचितम्। अधोनिर्दिष्टेन च पद्येनासन्दिग्धरूपेणानुमीयते यदेषा कृतिरन्यस्य माधवाचार्यस्य, न तु सायणाग्रजस्य।

श्रीमत्सायणदुग्धाब्धिकौस्तुभेन महौजसा।
क्रियते माधवार्येण सर्वदर्शनसंग्रहः॥

अग्रे चापि—

पूर्वेषामतिदुस्तराणि सुतरामालोड्य शास्त्राण्यसौ।
श्रीमत्सायणमाधवः प्रभुरुपन्यस्यत् सतां प्रीतये॥

अत्र सायणमाधवेति नामकथनेन विज्ञायते यत् स्वनाम्ना सह पितृनाम-ग्रहणस्य दाक्षिणात्यया रीत्यायं माधवः सायणाचार्यपुत्रो द्वितीयो माधवः। श्रूयते च सायणाचार्यस्य द्वितीयस्य सुतस्य नाम माधव एवासीत्। ग्रन्थस्यान्तरङ्ग-परीक्षया चाप्येष एव निष्कर्षः सिद्ध्यतीत्यलं विस्तरेण। परन्तु सत्यपि उपर्युक्त-प्रमाणपुष्टे पक्षे केचन विद्वांसः कृतिमेनां सायणाग्रजस्य माधवचार्यस्यैवेति मन्वते।

विद्यारण्यमुनिः संगीतज्ञोप्यासीदित्यपि प्रसिद्धिः। बहुषु परवर्तिसङ्गीतग्रन्थेषु विद्यारण्यस्योल्लेखो विद्यते। परन्त्वद्ययावत्काचित्तस्य रचना नोपलब्धा संगीतशास्त्र-संबद्धेति किमपि निश्चयेन वक्तुं न शक्यते।

इत्थं च सर्वतन्त्रस्वतन्त्रस्य वेद-वेदाङ्ग-दर्शन-शास्त्र-धर्मशास्त्राद्यनेकविद्या-निष्णातस्य विद्यारण्यमुनिमहाभागस्य पुण्यचरणयोः प्रणतिपुष्पाञ्जलिमर्घं सम्पादकेनाने-नाल्पज्ञेन यत्किञ्चिन्निवेदितम्, तेनैव वेदान्तपारङ्गता मनीषिणस्तुष्यन्तु। याः काश्चन

प्रस्तावना

त्रुटयोऽशुद्धयो वा भ्रमवशादल्पज्ञत्वात्त्वरया मुद्रणादिदोषवशाद्वाऽत्र सन्ति, तदर्थं विनीतोऽयं सम्पादकः सुधीभिः क्षन्तव्यः। याश्चात्र त्रुटयस्ता मर्मज्ञैर्विद्वद्भिः संसूच्या येनाग्रिमे संस्करणे तासां निराकरणं क्रियतामिति निवेदयति—

वैक्रमाब्दस्य २०४६ तमस्य
ज्येष्ठे मासि सिते दले
निर्जलैकादश्यां पर्वणि गुरौ

विदुषां वशंवदः
करुणापतित्रिपाठी
सम्पादकः

॥ श्रीशौ वन्दे ॥

निवेदनम्

पञ्चदशीं सम्पादयन्नहं परं प्रमोदमनुभवामि। अस्याष्टीकाद्वयोपेतायाः पञ्चदश्याः सम्पादनाय उत्तरप्रदेशसंस्कृताकादमीकार्यपरिषदाऽहमादिष्टः। महता सङ्कोचेन स्वाल्पज्ञत्वं दर्शं दर्शमादेशस्यामुष्यानुष्ठानेऽहं प्रवृत्तः।

टीकाद्वयोपेता पञ्चदशी दुर्लभा। अत एवास्याः प्रकाशनाय संस्कृताकादम्या निर्णयः कृतः। जिज्ञासूनां पिपठिषूणां च कृते एष निर्णयो महोपकाराय कल्प्यते। अत एवैनां पञ्चदशीं विद्यारण्यमुनिविनिर्मितां प्रकाशयति संस्कृताकादमी।

श्रीदक्षिणामूर्तिमहेशानुसन्धानपीठस्य तदानीन्तनसचिवेन श्रीशारदानन्दस्वामिना दुर्लभस्यास्य ग्रन्थस्योपलब्धिः कारिता, अन्याश्च सर्वा व्यवस्था 'अकादम्या' विहिता। तात्कालिको निदेशकः श्रीधर्मनारायणत्रिपाठी आर्थिकं प्रबन्धमकरोत्। आरम्भे च जाते ग्रन्थस्यास्य मुद्रणकार्ये श्रीस्वामिशारदानन्द-श्रीचन्द्रकान्तद्विवेदिनौ प्रूफसंशोधनादिकमकुरुताम्। परन्तु मध्ये एव संस्कृताकादम्याः सामान्यपरिषत्कार्यपरिषदः कार्यकालः समाप्तिमगात्। वर्षद्वयपर्यन्तं मुद्रण-सम्पादनकार्ये च तस्माद्धेतोरवरुद्धे अभवताम्।

जाते च संस्कृताकादम्याः परिषद्द्वयस्य पुनः संघटने समायाते च मयि पुनरध्यक्षपदे तत्कालीननिदेशकस्य श्रीमधुकरद्विवेदिनः सोत्साहप्रयासेन पञ्चदश्याः मुद्रणकार्यं पूर्णमभूत्। डॉ० पारसनाथ-डॉ०राजनाथमहोदयावपि यदा कदा संशोधनकार्ये साहाय्यमकुरुताम्। श्रीकाशीविश्वनाथानुग्रहेण भगवत्पादशङ्कराचार्यप्रसादात्स्वामिविद्यारण्यमुनेश्चानुकम्पया ममाशक्तस्य जनस्य स्कन्धोपरि निहितस्य ग्रन्थस्य सम्पादनं पूर्णमभवत्।

शुभाशंसनलेखकेभ्यो महामण्डलेश्वरेभ्यो वेदान्तशास्त्रतलस्पर्शिमनीषिभ्यो श्री श्री १००८ श्रीमहेशानन्दस्वामिभ्यो भूयो भूयो भृशं नमः। तेषामहैतुक्यायाः कृपाया अहं सदास्पदमभवम्। तैश्च चास्य ग्रन्थस्य कृतेऽतीव महत्त्वशालि शुभाशंसनं मदीयां प्रार्थनां स्वीकृत्य लिखितम्। एतदर्थं तान् प्रति पुनः पुनः प्रणामाः समर्प्यन्ते।

डॉ० पारसनाथ–डॉ० राजनाथ–डॉ० हरिश्चन्द्रमणयः धन्यावादार्हाः। श्रीस्वामिशारदानन्दश्रीचन्द्रकान्तद्विवेदिनावपि शुभाशीर्वादभाजनम्। रत्लाप्रिंटिगवर्क्सेति मुद्रणालयस्य स्वत्वाधिकारी श्रीविपुलशंकरपण्ड्यामहोदयोऽपि भृशं धन्यवादमर्हति, येन सत्स्वपि बहुषु प्रत्यवायेषु मां प्रति सद्भावनया कार्यमेतत्सम्यक् सम्पादितम्।

जानाम्यत्र बह्वयस्त्रुटयो मुद्रणसम्बन्धिन्यः सम्पादनविषयिकाश्च। सर्वेषां स्खलनानां कृते क्षम्योऽहं विदुषाम्, कामये च पण्डितानामाशीर्वादमित्यलम्।

विक्रमाब्दस्य २०४६ तमस्य
निर्जलैकादश्यां
गुरुवासरान्वितायाम्

निवेदकः
करुणापतित्रिपाठी
सम्पादकः

विषयाऽनुक्रमणिका

प्रथमं तत्त्वविवेकप्रकरणम् — १

श्लोकः	विषयः	पृ०
१–२	मङ्गलाचरणम्	१–२
३–४२	**युक्तिसिद्धं जीवब्रह्मणोरैक्यम्**	**९–५६**
३–७	जाग्रदाद्यवस्थात्रये नित्य-स्वयंप्रकाशात्मकसंविदोऽभेदः विषयेभ्यो भेदश्च	९–१४
८–१४	आत्मैव संवित्, स एव परमानन्द इति विषये दृष्टान्तः	१५–२९
१५–१७	प्रकृतेः स्वरूपम्	३०–३८
१८–२२	अपञ्चीकृतपञ्चमहाभूतानामुत्पत्तिः	३८–४०
२३–२५	सूक्ष्म(लिङ्ग)शरीरस्य स्वरूपम्	४०–४३
२६–३०	पञ्चमहाभूतानां पञ्चीकरणम्	४३–४६
३१–३२	देवतिर्यङ्नरविश्वानां संसारतो निवृत्तिः	४६–४७
३३–३६	अन्नादिपञ्चकोशानां निरूपणम्	४८–५१
३७–४२	अन्वय-व्यतिरेकव्याप्तिभ्यामात्मनो ब्रह्मस्वरूपावाप्तिः	५२–५६
४३–६५	**महावाक्येन जीवब्रह्मणोरैक्यप्रतिपादनम्**	**५६–७२**
४३–५२	'तत्त्वमसि' इति महावाक्यार्थनिरूपणम्	५६–६३
५३–५४	श्रवण-मनन-निदिध्यासनानां लक्षणानि	६३–६४
५५–६१	निर्विकल्पसमाधेर्लक्षणम्	६४–६९
६२–६४	परोक्षापरोक्षज्ञानयोः फलम्	६९–७०
६५	तत्त्वविवेकप्रकरणस्याभ्यासफलम्	७०–७२

द्वितीयं पञ्चमहाभूतविवेकप्रकरणम् — ७३

श्लोकः	विषयः	पृ०
१–२७	**अपञ्चीकृतपञ्चमहाभूतानां गुण-धर्म-कार्यवर्णनम्**	**७३–८२**
२–५	आकाशादिपञ्चमहाभूतानां गुणाः, धर्मः, ध्वनिश्च	७३–७५
६–९	पञ्चज्ञानेन्द्रियवर्णनम्	७५–७८
१०–११	पञ्चकर्मेन्द्रियवर्णनम्	७८–७९
१२–१६	मनसो वर्णनम्	७९–८१
१७–२७	जगदिदं भूतकार्यमिति ज्ञानोपायः	८२–८६
२८–४६	**'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' इति श्रुत्या सद्वस्तुप्रतिपादनम्**	**८७–९३**

४७–५८	**मायाशक्तेर्वर्णनम्**	**९३–९९**
४७–५३	मायाया लक्षणम्, तस्या योगेन भासमानद्वैतस्याभावः	९३–९७
५४–५८	ब्रह्मण एकदेशेंऽशरूपेण शक्तेः सद्भावः	९८–९९
५९–१०९	**सद्वस्तुविषये पञ्चमहाभूतविषये च विचारः**	**१००–११९**
५९	शक्तिस्तत्प्रयोजनं च	१००
६०–७६	आकाश-सद्वस्तुविषये विवेकः	१००–१०७
७७–८६	वायु-सद्वस्तुविषये विवेकः	१०७–११०
८७–९०	अग्नि-सद्वस्तुविषये विवेकः	११०–१११
९१–९२	सद्वस्तु-जलविषये विवेकः	१११
९३–९४	पृथिवी-सद्वस्तुविषये विवेकः	११२
९५–१०१	सद्वस्तु-भूतकार्य-ब्रह्माण्डादिविषये विचारः, प्रपञ्चभानविषयेऽविरोधः	११२–११६
१०२–१०९	द्वैतस्यानादरः, अद्वैतफलस्य प्रतिपादनं च	११६–११९
	तृतीयं पञ्चकोशविवेकप्रकरणम्	**१२०**
१–९	**अन्नमयपञ्चकोशात्मनोर्विवेचनम्**	**१२०–१२४**
२	'गुहा'शब्दस्यार्थः, तदन्तर्वर्तिभेदाश्च	१२१
३–९	पञ्चकोशानां स्वरूपम्, तेषामात्मनः सकाशाद्भिन्नत्वं च	१२१–१२४
१०–३६	**आत्मनः स्वरूपनिरूपणम्**	**१२५–१३७**
१०	आत्मा हि आनन्दरूप इति प्रतिपादनम्	१२५
११–२१	आत्मा हि ज्ञानरूप इति प्रतिपादनम्	१२५–१३०
२२–२८	आत्मनोऽस्तित्व-स्वयम्प्रकाशत्वयोः प्रतिपादनम्	१३०–१३४
२९–३४	आत्मनः सत्यस्वरूपत्वप्रतिपादनम्	१३४–१३६
३५–३६	आत्मनोऽनन्तरूपत्वप्रतिपादनम्	१३७
३७–४३	**जीवब्रह्मणोरैक्यप्रतिपादनम्**	**१३८–१४१**
३७–४१	उपाधिहेतुत एव ब्रह्मणो जीवत्वमीश्वरत्वं चेति निरूपणम्	१३८–१४०
४२–४३	वस्तुतस्तु ब्रह्मणो न जीवत्वं, नापीश्वरत्वमिति प्रतिपादम्	१४०–१४१
	चतुर्थं द्वैतविवेकप्रकरणम्	**१४२**
१–४२	**जीवेश्वरयोर्जगदुत्पत्तिविषये सम्बन्धः**	**१४१–१५८**
१–१४	ईश्वरसृष्टं जगत्	१४२–१४८
१५–१७	जीवसृष्टं द्वैतम्	१४८–१४९
१८–३१	जगतो जीवेश्वराभ्यां सहान्योन्यसम्बन्धः	१४९–१५४
३२–४२	जीवसृष्टं द्वैतं बन्धे हेतुभूतम्	१५४–१५८

४३–६९	**जीवसृष्टद्वैतस्य भेदाः, तेषां त्यागश्च**	**१५८–१७०**
४३–४८	जीवसृष्ट-शास्त्रीयद्वैतस्य स्वीकारः, अशास्त्रीयद्वैतानां त्यागश्च	१५८–१६०
४९–५३	जीवसृष्टाशास्त्रीयद्वैतस्य द्वौ भेदौ, तयोः स्वरूपम्, तत्त्यागस्य कारणम्	१६०–१६३
५४–५८	अनर्थहेतुभूतं यज्जीवसृष्टमशास्त्रीयद्वैतं तीव्रद्वैतं च तत्त्यागः	१६३–१६५
५९–६९	जीवकृतशास्त्रीय-मन्दद्वैतस्य त्यागः, तत्रोपायश्च	१६५–१७०
	पञ्चमं महावाक्यविवेकप्रकरणम्	**१७१**
१–२	**ऋग्वेदीयैतरेयोपनिषद्गत 'प्रज्ञानं ब्रह्म' इति महावाक्यस्यार्थः**	**१७१–१७२**
१	तत्र 'प्रज्ञान' शब्दस्यार्थनिरूपणम्	१७१–१७२
२	'ब्रह्म'शब्दस्यार्थः, तद्वाक्यस्य मथितार्थश्च	१७२
३–४	**यजुर्वेदीय-बृहदारण्यकोपनिषद्गत–'अहं ब्रह्मास्मि' इति महावाक्यस्यार्थनिरूपणम्**	**१७३**
३	तत्र 'अहं' पदस्यार्थः	१७३
४	'ब्रह्म-अस्मि' इति पदयोरर्थः, समग्रवाक्यस्यार्थश्च	१७३
५–६	**सामवेदीय-छान्दोग्योपनिषद्गत-'तत्त्वमसि' इति महावाक्यस्यार्थनिरूपणम्**	**१७३–१७४**
५	तत्र 'तत्' इति पदस्यार्थः	१७३–१७४
६	'त्वं असि' इति पदयोरर्थः समग्रवाक्यस्यार्थश्च	१७४
७–८	**अथर्ववेदीय-माण्डूक्योपनिषद्गत-'अयमात्मा ब्रह्म' इति महावाक्यास्यार्थनिरूपणम्**	**१७४–१७६**
७	तत्र 'अयं-आत्मा' इति पदयोरर्थः	१७४–१७५
८	'ब्रह्म' शब्दस्यार्थः, समग्रवाक्यस्यार्थश्च	१७५–१७६
	षष्ठं चित्रदीपप्रकरणम्	**१७७**
१–१६	**ब्रह्मणि जगत आरोपः, ज्ञानेन तस्य निवृत्तिश्च**	**१७७–१८३**
१–४	दृष्टान्तार्थं स्वीकृतस्य चित्रपटस्य परमात्मनश्च अवस्थाचतुष्टय-निरूपणम्	१७७–१७८
५–९	चिदारोपितचित्तस्य वर्णनम्	१७९–१८०
१०–१६	अविद्यायाः स्वरूपम्, अविद्यानिवर्तकाया विद्यायाः स्वरूपम्, तस्याः प्राप्तिसाधनं च	१८१–१८३
१७–२०९	**आत्मतत्त्वस्य विवेचनम्**	**१८३–२४५**
१७–५९	**आत्मतत्त्वविचारणाप्रसङ्गतो जीवकूटस्थयोर्विवेचनम्**	**१८३–२०१**
१७–२३	चिच्चतुष्टस्य दृष्टान्तीभूताकाशचतुष्टयस्य च विवेचनम्	१८३–१९०
२४–३७	कूटस्थ-जीवयोरन्योन्याध्यासः	१९०–१९५

३८–५९	'आत्म'–शब्दार्थ–'स्व' शब्दार्थयोरभेदः; कूटस्थ-चिदाभासयोश्च भेदः	१९५–२०१
६०–१०१	**आत्मनोऽस्तित्व-नास्तित्ववादः**	**२०२–२१४**
६०–७७	आत्मनः स्वरूपविषयको वादः	२०२–२०७
७८–८६	आत्मनः परिमाणविषये वादः	२०७–२०९
८७–१०१	आत्मनश्चिदचिदादिविशेषरूपविषये वादः	२१०–२१४
१०२–१२१	**ईश्वरस्वरूपविषये वादः**	**२१४–२१९**
१०२–११४	'क ईश्वरः' इत्यत्र आऽन्तर्यामिणो विराद्-स्वरूपावधि ईश्वरविषयको वादः	२१४–२१८
११५–१२१	आविरिञ्चेः स्थावरं यावत् ईश्वरविषयको वादः	२१८–२१९
१२२–२०९	**विरोधिमतानां परिहारः, ईश्वरविषये सिद्धान्तसमर्थनं च**	**२१९–२४५**
१२२–१५२	ईश्वरस्योपाधिभूतमायाया वर्णनम्	२१९–२२९
१५३–१५८	ईश्वरस्य स्वरूपवर्णनम्	२२९–२३१
१५९–१८७	ईश्वरस्य गुणाः	२३१–२३९
१८८–१९७	ब्रह्मेश्वरयोर्विषये विवेचनम्	२३९–२४२
१९८–२०५	ईश्वरसृष्टजगत्सृष्टिनिरूपणम्	२४२–२४४
२०६–२०९	आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तं यत्रकुत्रापि ईश्वरोपासना कृता फलदा भवतीति निरूपणम्	२४४–२४५
२१०–२५८	**अद्वैतब्रह्मज्ञानविषये ह्युपयुक्तविचाराः**	**२४५–२६०**
२१०–२४१	ब्रह्मज्ञानं विना न मुक्तिलाभः; अत एव मुमुक्षुभिर्न केवलं जीवेश्वरवादे एव कालपर्यापना कार्या, किन्तु बुद्ध्युपयोगो हि ब्रह्मज्ञानविषये कर्तव्य इति निरूपणम् । जीवब्रह्मैक्यविवेचनम् ।	२४५–२५४
२४२–२५८	द्वैताद्वैतविषयको वादः, अद्वैतस्य समर्थनं, द्वैतस्य मिथ्यात्वप्रतिपादनं च	२५५–२६०
२५९–२९०	**तत्त्वज्ञानस्य फलम्**	**२६०–२७२**
२५९–२७५	तत्त्वज्ञानफलस्य प्रतिपादिकाया 'भिद्यते हृदय-ग्रन्थिच्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः' इति श्रुतेर्व्याख्यानम्	
२७६–२८९	वैराग्य-बोधोपरतीनां वर्णनम्	२६०–२७०
२९०	चित्रदीपाभ्यासस्य फलम्	२७१–२७२
	सप्तमं तृप्तिदीपप्रकरणम्	**२७३**
१–१८	**'आत्मानं चेद्विजानीयात्' इति श्रुत्यन्त-र्वर्ति 'पुरुषोऽहमस्मि' इत्यस्याभिप्रायः**	**२७३–२८२**

१–६	तत्र 'पुरुष'-शब्दस्यार्थः	२७३–२७७
७–१८	'अहम्-अस्मि' इति पदयोरर्थः	२७७–२८२
१९–२२	'आत्मानं चेद्विजानीयादयमस्मीति पूरुषः' इति वाक्यस्थ—'अयं' पदस्यार्थः	२८२–२८४
२३–२८	दार्ष्टान्तिकेन सह 'त्वमेव दशमोऽसि' इति दृष्टान्तस्य यथावत्प्रतिपादनम्	२८४–२८६
२९–८२	चिदाभासस्यावस्थासप्तकस्य वर्णनम्	२८६–३०९
८३–९६	महावाक्यजनितापरोक्षज्ञानस्य वर्णनम्	३०९–३१७
९७–१३५	महावाक्यसंभूतबोधस्य दृढीकरणार्थं श्रवण-मननादिद्वारा करणीयाभ्यासस्य वर्णनम्	३१७–३३३
१३६–१९१	**श्रुतिस्थ-'किमिच्छन्' इति पदस्यार्थः, इच्छाहेतुक-सन्तापस्याभावश्च**	**३३३–३३५**
१३६–१४२	भोग्यवस्तुषु दोषदृष्टवत्त्वम्, भोगेच्छायाश्च संहरणम्	३३३–३३५
१४३–१५०	ब्रह्मज्ञानिनाऽभिलाषं विना प्रारब्धभोग्यत्वम्	३३६–३३८
१५१–१७३	त्रिविधप्रारब्धस्य वर्णनम्	३३८–३५२
१७४–१९१	प्रपञ्चमिथ्यात्वज्ञानस्य प्रारब्धभोगस्य च विरोधाभावत्वम्	३५२–३६१
१९२–२२२	श्रुतिवाक्यस्थ–'कस्य कामाय' इति वाक्यशेषतात्पर्यतो भोक्तृ-भावतो भोगेच्छायाः समुद्भूतसन्तापाभावः	३६१–३७३
२२३–२५१	ब्रह्मज्ञानिनो हि त्रिविधशरीरस्थज्वराणामभावः, शरीरत्रय-स्थज्वरस्वरूपनिरूपणम्	३७३–३८२
२५२–२९८	ब्रह्मज्ञानिनो निरङ्कुशतृप्त्यवस्थाया वर्णनम्	३८२–३९७
	अष्टमं कूटस्थदीपप्रकरणम्	**३९८**
१–७६	**मुमुक्षोर्ब्रह्मात्मैक्यज्ञानं मोक्षसाधनम्, तदङ्गभूतत्वं' पदार्थस्य निरूपणम्**	**३९८–४२९**
१–१६	देहबहिर्भूतब्रह्मचिदाभासयोर्भेदः	३९८–४०७
१७–२६	देहान्तःस्थ-कूटस्थचिदाभासयोर्भेदः	४०८–४१२
२७–४७	चिदाभासस्य निरूपणम्	४१२–४१९
४८–५९	कूटस्थ-ब्रह्मणोरैक्यप्रतिपत्त्यर्थं कूटस्थस्य बुद्ध्यादिभ्यो विवेचनम्	४२०–४२३
६०–७६	ब्रह्मणः कूटस्थस्याद्वितीयत्वसंपादनार्थं जीवादिजगतो मायिकत्वम्	४२३–४२९
	नवमं ध्यानदीपप्रकरणम्	**४३०**
१–१५८	**वाक्यार्थविषयापरोक्षप्रमित्यनुत्पत्तौ तदुत्पादनद्वारा मोक्षफलकोपासनानिरूपणम्**	**४३०–४७६**

१–१३	संवादि-विसंवादिनोर्भ्रमलक्षणम्, ब्रह्मतत्त्वोपासना हि मोक्षफलदेति निरूपणम्	४३०–४३५
१४–२९	परोक्षज्ञानात् ब्रह्मतत्त्वोपासनायाः प्रकारः	४३५–४४०
३०–३७	विचारात् अपरोक्षज्ञानस्योत्पत्तिः	४४०–४४२
३८–५३	अपरोक्षज्ञानोत्पत्तिविषये त्रिविधाः प्रतिबन्धाः	४४२–४४७
५४–७३	ज्ञानवन्निर्गुणोपासनाप्रकारः	४४७–४५३
७४–८५	प्रश्नोत्तररूपेण बोधोपासनाया भेदवर्णनम्	४५३–४५६
८६–१२०	उपासक-ब्रह्मज्ञानिनोर्व्यवहारवैलक्षण्यम्	४५६–४६५
१२१–१५८	निर्गुणोपासनाया वैशिष्टयं, तत्फलं च	४६५–४७६
	दशमं नाटकदीपप्रकरणम्	**४७७**
१–२६	**निष्प्रपञ्चब्रह्मात्मनोस्तत्त्वप्रतिपत्तये आत्मन्यध्यारोप-निरूपणम्**	**४७७–४८९**
१–१०	अध्यारोप–अपवाद-नृत्यशालास्थदीपदृष्टान्तनिरूपणम्	४७७–४८३
११–१५	नृत्यशालास्थदीपवत् परमात्मनो निर्विकारत्वं सर्वप्रकाशकत्वं चेति प्रतिपादनम्	४८३–४८५
१६–१९	साक्षिणि बुद्धिस्थचाञ्चल्यस्यारोपः	४८५–४८६
२०–२६	देशकालादिरहितं साक्षिस्वरूपम्, साक्षिस्वरूपानुभूतिविषयोपायः	४८६–४८९
	एकादशं योगानन्दप्रकरणम्	**४९०**
१–१०	ब्रह्मज्ञानमनिष्टनिवृत्तिहेतुकं परमानन्दावाप्तिकारणीभूतं चेत्यर्थात्मकश्रुतिवचनानि	४९०–४९९
११–२२	'ब्रह्म ह्यानन्दरूपम्' इत्यर्थप्रतिपादिका श्रुतिः, अबाधिताद्वितीय-ब्रह्मणः स्वप्रकाशता	५००–५०४
२३–७६	सुषुप्तौ ब्रह्मानन्दस्य सिद्धिः	५०४–५२२
७७–८८	ब्रह्मानन्दानुभवेऽपि गुरुसेवादीनामनिरर्थकताप्रतिपादनम्	५२२–५२७
८९–११८	जाग्रदवस्थायां वासनानन्दसिद्धिः, अभ्यासेन स्वप्रत्ययमेष्य-माणानन्दप्रतिपादनम्	५२८–५३८
११९-१३४	मानवीयक्षणिकसमाधेर्ब्रह्मानन्दानुभवस्यानुमानं निश्चयश्च	५३८-५४४
	द्वादशं आत्मानन्दप्रकरणम्	**५४५**
१–९०	**आत्मानन्दस्य वैशिष्ट्यम्**	**५४५–५७७**
१–५	आत्मानन्दस्य बोधे मन्दबुद्धिरपि युक्तोऽधिकारी च	५४५–५४७
६–२०	'आत्मान एव कामाय सर्वं प्रियं भवति' इत्यर्थकश्रुतिवचनस्य तात्पर्यम्	५४७–५५१

२१–३१	आत्मनि विद्यमाना प्रीतिः, तस्याः स्वरूपम्, प्रीत्यतिशयश्चात्मन्येव वर्तत इति प्रतिपादनम्	५५१–५५५
३२–५०	आत्मनः स्व-पुत्र-भार्यात्वेन त्रैविध्यम्	५५५–५६२
५१–७२	आत्मनस्त्वत्यन्तप्रियत्वम्	५६३–५७०
७३–७९	चैतन्यवदात्मपरमानन्दत्वस्य सर्ववृत्त्यादिष्वप्रतीतिः	५७०–५७२
८०–९०	योगि-विवेकिनोर्वैषम्यम्	५७२–५७७
	त्रयोदशमद्वैतानन्दप्रकरणम्	**५७८**
१–१०५	**अद्वैतानन्दस्य वैशिष्ट्यम्, मोक्षप्राप्तिसाधकत्वप्रतिपादनं च**	**५७८–६०९**
१–१०	जगतो ब्रह्मणोऽभिन्नत्वम्	५७८–५८१
११–३२	तत्र प्रसङ्गतः योगवासिष्ठगतधात्रीनिरूपितं कथानकम्, शक्तेरनिर्वचनीयतानिरूपणं च	५८१–५८८
३३–५३	शक्तिकार्यस्यानिर्वचनीयत्वस्य निरूपणम्	५८८–५९५
५४–६१	कारणज्ञानेन कार्यसमूहस्य ज्ञानम्	५९५–५९७
६२–७८	ब्रह्मजगतोः स्वरूपनिरूपणम्	५९७–६०२
७९–८४	असद्रूपजगत उपेक्षणं, तस्य फलं च	६०२–६०३
८५–९१	अद्वितीयब्रह्मणो मायासान्निध्येनानेककार्यसमुत्पत्तिः	६०३–६०५
९२–१०५	जडजगति नामरूपाधिष्ठित-ब्रह्मणो व्याप्तिः, नामरूपत्यागे सच्चिदानन्दब्रह्मणः प्राप्तिश्च	६०४–६०९
	चतुर्दशं विद्यानन्दप्रकरणम्	**६१०**
१–६५	**मोक्षप्राप्तौ विद्यानन्दस्य साधनत्वम्**	**६१०–६२१**
१–३	विद्यान्दस्य स्वरूपम्, तस्यावान्तरभेदाश्च	६१०
४–९	विद्याया निवर्तमानदुःखस्यात्मनो भिन्नता, तस्य स्वरूपं च	६११–६१२
१०–१७	दुःखस्याभावः	६१२–६१४
१८–३७	दुःखाभावतः सर्वकामावाप्तिः	६१४–६१७
३८–५७	कृतकृत्यलक्षणात्मकविद्यानन्दस्य भेदः	६१७–६२०
५८–६५	प्राप्तप्राप्यलक्षणात्मकविद्यानन्दस्य भेदः	६२०–६२१
	पञ्चदशं विषयानन्दप्रकरणम्	**६२२**
१–३५	**विषयानन्दस्य मोक्षप्राप्तिसाधनहेतुकत्वम्**	**६२२–६३२**
१–२१	सप्रपञ्चब्रह्मस्वरूपस्य निरूपणम्	६२२–६२६
२२–२४	अमिश्रितब्रह्मणो लक्षणम्, मायास्वरूपस्य विभेदाश्च	६२७
२५–२९	त्रिप्रकारकं सवृत्तिकं ब्रह्मध्यानम्, अवृत्तिकं ब्रह्मध्यानं च	६२७–६२८
३०–३५	अवृत्तिकब्रह्मध्यानेन कैवल्यावाप्तिः	६२९–६३२
	अकारादिवर्णाऽनुक्रमणिका	**६३३–६५६**

सम्पूर्णेयं विषयाऽनुक्रमणिका ॥

श्रीः

अभिनन्दनम्

वागीशाद्याः सुमनसः सर्वार्थानामुपक्रमे ।
यं नत्वा कृतकृत्याः स्युस्तं नमामि गजाननम् ।।

अज्ञानतिमिरान्धस्य लोकस्यानुग्रहाय यः ।
चकार शाङ्करं भाष्यं तं वन्दे शङ्करं गुरुम् ।।

'सत्यं ब्रह्म' जगत्प्रपञ्चमखिलं ह्यध्यासक्रीडोद्भवं
दृश्यादृश्य-चराचरं किल यदसत्तत्सद्वद् भासते ।
भाष्ये शङ्करपादरचिते पक्षान्समालोडय तान्,
सैषा 'पञ्चदशी' कृतिर्विरचिया लोके विराजताम् ।।

श्रुतीनां पारदृश्वानं विद्यारण्यविहारिणम् ।
विद्यारण्यं मुनिं वन्दे ऽविद्यारण्यविदारिणम् ।।

[श्रुतीनामिति महावाक्यमर्मबोधकश्रुतीनमित्यशयः]

ॐ

टीकाद्वयोपेता

श्रीविद्यारण्यमुनिविरचिता

पञ्चदशी

प्रथमं तत्त्वविवेकप्रकरणम्

नमः श्रीशङ्करानन्दगुरुपादाम्बुजन्मने ।
सविलासमहामोहग्राहग्रासैककर्मणे ॥ १ ॥

श्रीरामकृष्णविरचितव्याख्या

नत्वा श्रीभारतीतीर्थविद्यारण्यमुनीश्वरौ ।
प्रत्यक्तत्त्वविवेकस्य क्रियते पददीपिका ॥ १ ॥

प्रारिप्सितस्य ग्रन्थस्याविघ्नेन परिसमाप्तिप्रचयगमनाभ्यां शिष्टाचार-परिप्राप्तमिष्टदेवतागुरुनमस्कारलक्षणं मङ्गलाचरणं स्वेनानुष्ठितं शिष्यशिक्षार्थं श्लोकेनोपनिबध्नाति । अर्थाद्विषयप्रयोजने च सूचयति—

नम इति । शं सुखं करोतीति शंकरः सकलजगदानन्दकरः परमात्मा "एष ह्येवाऽऽनन्दयाति" (तैत्ति० २–७–१) इति श्रुतेः । आनन्दो

श्रीमदच्युतरायमोडकविरचितव्याख्या

अद्वैतानन्दसच्चिद्विभुविमलपरब्रह्म कूटस्थरूपं
मोहाद्द्वैतेन्द्रजालालयमपि तिलकं स्वप्रकाशं श्रुतीनाम् ।

परिच्छेदत्रयशून्यमत एव "यो वै भूमा तत्सुखं" "नाल्पे सुखमस्ति" इत्यादिश्रुते-रानन्देति । एतेनापुरुषार्थत्वव्युदासः । अत एवोक्तश्रुतिशेषः "यो वै भूमा तदमृतमथ यदल्पं तन्मर्त्यम्" इति । अत एव सदिति । कालत्रयाबाध्यम् । तत्रापि मानापेक्षायां चिदिति ।

निरतिशयप्रेमास्पदत्वेन परमानन्दरूपः प्रत्यगात्मा । शंकरश्चासावानन्दश्चेति शंकरानन्दः प्रत्यगभिन्नः परमात्मा स एव गुरुः "परिपक्वमला ये तानुत्सादनहेतुशक्तिपातेन । योजयति परे तत्त्वे स दीक्षयाऽऽचार्यमूर्तिस्थः" इत्यागमात् । श्रीमांश्चासौ शंकरानन्दगुरुश्चेति गन्धद्विप इत्यादिवत्समासः । अनेन श्रीगुरोरणिमाद्यैश्वर्यसम्पन्नत्वं सूचितम् । यद्वा श्रिया भूत्या शं करोतीति शंकरः "[1]रातिर्दातुः परायणम्" (बृह० ३–९–२८) इति श्रुतेः । अनेन श्रीगुरोर्भक्तेष्टसंपादने सामर्थ्यं सूचितं भवति । तस्य गुरोः पादावेवाम्बुजन्म कमलं तस्मै नमः प्रह्वीभावोऽस्तु । किं विधाय सविलासमहामोहग्राहग्रासैककर्मणे विलासः कार्यवर्गस्तेन सह वर्तत इति सविलास एवंविधो यो महामोहो मूलाज्ञानं स एव ग्राहो मकरादिवत्स्ववशंप्राप्तस्यातीव दुःखहेतुत्वात्तस्य ग्रासो ग्रसनं स एवैकं मुख्यं कर्म व्यापारो यस्य तत्तथा तस्मै इत्यर्थः । अत्र च शंकरानन्दपदद्वयसामानाधिकरण्येन जीवब्रह्मणोरेकत्वलक्षणो विषयो जीवस्य भूमब्रह्मरूपतयाऽपरिच्छिन्नसुखाविर्भावलक्षणं प्रयोजनं च सूचितम् । सविलासेत्यादिना निःशेषानर्थनिवृत्तिलक्षणं प्रयोजनं मुखत एवाभिहितम् ॥ १ ॥

सर्वांश्चाचार्यवर्यान् रघुकुलतिलकं सद्गुरुं ब्रह्मनिष्ठं
श्रीमन्नारायणाख्यं स्वगुरुमपि महादेवसंज्ञं प्रणौमि ॥ १ ॥

एवमपि सोपुमस्वरूपेऽतिप्रसङ्गभङ्गाय विभ्विति । तस्य तात्कालिकतथात्वेऽपीदानीमनुपलब्ध्या विभुत्वात् । ननु तादृशेऽपि वस्तुनि गगनमलिनिमेवारोपसम्भवे तन्मूलाज्ञानसत्त्वे प्रयासवैयर्थ्यमिति तन्निरासाय विमलेति । तत्रापि ब्रह्मपदस्य वेदादिवाचकत्वात्तद्व्यावृत्तये परेति । एतादृशोऽपि ब्रह्मणो जीवाद्भिन्नत्वे भेदवादापत्तिरतः कूटस्थेति । प्रत्यगभिन्नमित्यर्थः । नन्वेवं यदि वस्तुतत्त्वं तर्ह्युपलभ्यमानप्रपञ्चः कथमित्यत्राऽऽह मोहादित्यादिना । एतेन स्वदृष्ट्योक्तरूपत्वमेवेति सूचितम् । अपिना लोकदृष्टेर्भ्रान्तत्वेन वास्तविकदृष्ट्या दृश्याधिष्ठानत्वमपि तत्र नैवेति व्यज्यते । अत एव तिलकमित्यादि । "तमालपत्रतिलकचित्रकाणि विशेषकम्" इत्यमराच्छ्रुतिपदस्य स्त्रीलिङ्गत्वेन यथा सौभाग्यवतीनां तत्सूचकं काश्मीरमयं भाले तिलकं प्रसिद्धमेव तद्वदुक्तवस्तु यावच्छ्रुतीनां सौमाङ्गल्यद्योतकं भवतीति भावः । एतेनाद्वैतिमते काण्डद्वयस्यापि स्वार्थसिद्धिर्व्यज्यते । ननूक्तरूपकादिनाऽत्र कृतकत्वमत आह—स्वेति । एवं "यस्य देवे परे"त्यादिश्रुतेरीश्वरं प्रणम्य गुरूनपि प्रणमति—सर्वांश्चेत्यादिना ॥ १ ॥

१—क्वचित् मातृकासु 'रातेर्दातुः परायणमि'ति माध्यन्दिनपाठोऽप्युपलभ्यते ।

श्रीविद्यारण्यमाप्तः सरसगुरुभया भारतीतीर्थमेवं
ध्वान्तं विद्ध्वंसयानः कुमुदवनहितो निष्कलो निष्कलङ्कः।
कुर्वेऽहं पञ्चदश्याममृतवपुरिमां कौमुदीं स्वप्रकाशो
नक्षत्रेशोऽप्रदोषः क्षयचयरहितोऽप्यच्युताख्यो द्विजेशः ॥ २ ॥

श्रियो वसन्तशरदन्यतरर्तुशोभाया विद्या प्रमितिर्यत्र तादृशं यदरण्यं वनं तदेव भारती सरस्वती तत्सदृशं झर्झरप्रवाहवशात्प्रकाशमानस्वाभाविकरूपत्वेन शुभ्रवर्णं यत्तीर्थं गङ्गादि तदपि सरसगुरुभया सरसाऽमृतरसविशिष्टा तथा गुर्वी महती च या भा कान्तिस्तया। उभयेति वा छेदः। उकारवाच्यशिवसदृशसितकान्त्येत्यर्थः। अत एव सरसगुः सरसाः सुन्दरा गावः किरणा यस्य स तथा एतादृशः सन्नाप्तः प्राप्त इति द्विजेशपदवाच्यचन्द्रपक्षेऽर्थः। उपमेयस्वपक्षे तु सरसा आत्मनिष्ठा ये गुरवस्तेषां या भा कृपाकटाक्षकान्तिस्तयेत्यर्थः। प्राग्वच्छेदे तु, उभया शिवशब्दितब्रह्मविषयक-प्रमयेति यावत्। सरसगुः सरसा ब्रह्मप्रतिपादिका गौर्वाग्यस्य स ईदृक्सन् श्रीविद्यारण्यमेवं भारती-तीर्थमप्याप्तस्तन्निबन्धतात्पर्यनिर्णायकत्वेन प्राप्त इत्यर्थः। एवमियं तृतीयाऽग्रेऽपि सर्वत्रान्वेति। श्लेषसूचितोपमानीभूतचन्द्रपक्षे तु व्यतिरेकालङ्कारव्यञ्जकवैधर्म्यान्यविशेषणेष्वेव। ध्वान्तं मूला-ज्ञानम्। पक्षे गाढतिमिरम्। विध्वंसयतीति विध्वंसयानः कुत्सितेषु शब्दादिविषयेषु मुत्प्रीतिर्येषां तेषां यदवनं प्रकृतग्रन्थरचनसूचितविवेकेन संरक्षणं तदेव हितं यस्य स तथा। पक्षे कैरवकुलेष्ट इत्यर्थः। पञ्चदश्यां पञ्चदश्याख्यग्रन्थे। पक्षे पूर्णमास्याम्। नक्षत्रं क्षात्रवृत्त्युपजीविविप्रवृन्दमीशं हिंसकत्वात्पूज्यं यस्य स तथा। अत एव। अप्रदोषः प्रकृष्टदोषशून्यः। एतादृशोऽच्युताख्योऽच्युतेनान्त-र्नियन्त्रा परमात्मनैवाऽऽख्या ग्रन्थकर्तृत्वप्रथा यस्य। अत एव द्विजानां ब्राह्मणादित्रयमात्रवृत्ति-जो विनामीशोऽनुग्राहकः स्पष्टमपरम् ॥ २ ॥

दृष्ट्वैव रामकृष्णव्याख्यानं सञ्चरन्तु कौमुद्याम्।
एतस्यां शान्त्यर्थं तृप्त्यर्थं च द्विजा रसज्ञा ये ॥ ३ ॥

कौमुदीपदवाच्यचन्द्रिकायां ये रसज्ञास्तन्माधुर्यास्वादकाश्चकोरपक्षिणः। रामेति। रामशब्देनात्र कृष्णपदसमभिव्याहाराद्बलरामगः शुक्लवर्णो लक्ष्यते। तथा च निन्द्यकोटौ वककाकावेव वन्द्यकोटौ मरालकोकिलावेव रामकृष्णपदार्थावेतादृशौ यौ वौ पक्षिणौ तयोर्यदाख्यानं सायंकाल-सूचकं शब्दजातं तद्दृष्ट्वानुभूयैव यथा शान्त्यर्थे च सञ्चरति तथेति ॥ ३ ॥

पञ्चदशी पञ्चदशीपूर्णानन्देन्दुकौमुदी नो चेत्।
सत्त्वेऽपि दीपिकानां पुष्करतिमिरानिरासेन ॥ ४ ॥

"पक्षान्तौ पञ्चदश्यौ द्वे" इत्यमरादमावास्यासदृशतमोविशिष्टेत्यर्थः। पुष्करं हृत्पुण्डरी-कस्थं लक्षणया मनस्तस्य यत्तिमिरमज्ञानं पक्षे "व्योम पुष्करमम्बरमि"त्यमरादाकाशं तन्निष्ठं यत्तिमिरं तस्यानिरासेनेत्यर्थः ॥ ४ ॥

तत्र तु पञ्चविवेकैः प्रथमं किल तत्पदार्थसंशुद्धिः।
अथ तावद्भिर्दीपैः सा ज्ञेया त्वंपदार्थस्य ॥ ५ ॥
आन्दपञ्चकात्मब्रह्मानन्दाभिधप्रबन्धेन।
अद्वैतैक्यतनुरसौ तात्पर्यादसिपदार्थस्य ॥ ६ ॥

पञ्चविधप्रतिबन्धध्वंसायैकैकपञ्चकं रचितम् ।
विज्ञेयं विद्वद्भिस्तत्त्वमसिस्वाभिमतपदार्थेषु ॥ ७ ॥
ते विषयवासनाऽथो माने मेयेऽप्यसंभवस्तद्वत् ।
साधनफलविपरीतभ्रमाविति क्रमत एव विज्ञेयाः ॥ ८ ॥
शास्त्रेऽधिकारसंपत्समन्वयाद्यैः क्रमेण ते ध्वंस्याः ।
तद्वदिहाप्यधिकारश्रुतिमितिनिध्यासफलबोधैः ॥ ९ ॥

आसनमेवासः नितरां धियाऽऽसोऽवस्थानं यत्र तदित्यर्थः । एवं फलं मुक्तिस्तद्विषयको यो बोध इत्यर्थः ॥ ९ ॥

प्राधान्यादेवेदं सर्वं स्यात्तत्र तत्र सूक्ष्मतया ।
तत्तद्धर्मस्यातो नैकैकप्रकरणादसिद्धिर्मे ॥ १० ॥
पञ्चदश प्रतिबन्धाः पञ्चदशप्रकरणैरमोभिश्चेत् ।
विध्वस्तास्तर्हि भवेन्निर्विघ्नः प्रोक्तवाक्यजो बोधः ॥ ११ ॥
सायोज्याद्यभिवाञ्छासह सगुणेनाथ तत्र सत्यधिया ।
भक्तिः पुमर्थबुद्ध्या प्रतिबन्धः प्रथम एष ईशमितौ ॥ १२ ॥
सगुणे ब्रह्मण्यखिलं पर्यवसानं प्रयाति शास्त्रमिदम् ।
इति दृढतमबुद्धिर्या प्रतिबन्धोऽयं द्वितीय ईशमितौ ॥ १३ ॥
निर्गुण आत्मा जगतः कर्ता भर्ता कथं नु संहर्ता ।
संभवति वा नियन्ता प्रतिबन्धोऽयं तृतीय ईशमितौ ॥ १४ ॥
ईशोपदिष्टबोधादेव विमुक्तिर्न तु क्वचिद्गुरुजात् ।
इति या निर्णीतमतिः प्रतिबन्धोऽयं चतुर्थ ईशमितौ ॥ १५ ॥
मुक्तस्य सर्वभाने सर्वात्मत्वेन भवति सर्वत्र ।
सर्वनियंतृत्वाद्यपि प्रतिबन्धः पञ्चमोऽयमीशमितौ ॥ १६ ॥
सूत्रात्मानन्दान्तानानन्दानेव भोक्तुमिति वाञ्छा ।
रूपादिधन्यता च प्रतिबन्धः प्रथम एष इह जीवे ॥ १७ ॥
प्रत्यक्षाद्यभिगम्ये जीवे गौरादितः कथं शास्त्रम् ।
तद्बोधिमानताभावप्रतिबन्धोऽयं द्वितीय इह जीवे ॥ १८ ॥
चिन्मात्रो यद्यात्मा प्रत्यक्षाद्यखिलमानमुच्छिद्येत् ।
युक्तिरपि नास्ति तादृक्प्रतिबन्धोऽयं तृतीय इह जीवे॥१९॥
सद्ध्यानकर्मबोधैर्मोक्षो ध्यानेन बोधजातेन ।
शुद्धेन वेति बुद्धिः प्रतिबन्धोऽयं चतुर्थ इह जीवे ॥ २० ॥
मुक्तावद्वैतत्वाद्ब्रह्मानन्दानुभूतिरपि न स्यात् ।
शिव शिव कथमथ भूयात्प्रतिबन्धः पञ्चमोऽयमिह जीवे॥२१॥
कैवल्ये क्व नु विषया गुरुशास्त्रारामगाङ्गतीराद्याः ।
इति विह्वलता चित्ते प्रतिबन्धः प्रथम एष ऐक्येऽपि ॥ २२ ॥

अद्वैतिभिरैक्यार्थो यथा मतं क्रियत एवमन्यैश्च ।
इत्यश्रद्धायेद्धाप्रतिबन्धोऽयं द्वितीय ऐक्येऽपि ॥ २३ ॥
संभवति जीव ईशः सोऽयं वा कथमपीह कल्पान्ते ।
न च दृश्यतेऽत्र तर्कः प्रतिबन्धोऽयं तृतीय ऐक्येऽपि ॥ २४ ॥
ज्ञानेऽपि देहपातानन्तरमेवास्ति मुक्तिरद्वैतात् ।
सप्तमभूम्या वेति प्रबन्धोऽयं चतुर्थ ऐक्येऽपि ॥ २५ ॥
एकरसेऽपि मिथुनसुखममृतेऽस्त्येव स्वरूपसाक्षितया ।
स्वप्रभरवितत्करवत्प्रतिबन्धः पञ्चमोऽयमैक्येऽपि ॥ २६ ॥
एते तत्त्वविवेकादिभिः प्रकरणैर्यथा प्रबाध्यन्ते ।
वक्ष्ये तथाऽति सूक्ष्मं गुरुकृपया तद्रहस्यमवगम्य ॥ २७ ॥
प्रथमेऽधिकारसंपत्तदर्थमुख्यत्वमस्त्युपक्रमतः ।
तत्पादेति च शब्देत्यादिग्रन्थस्य तत्परत्वेन ॥ २८ ॥
एवं समन्वयोक्तेर्भूतविचारेण तत्पदस्यार्थे ।
तत्परता निर्णेया तस्य सदित्यादिना द्वितीयेऽपि ॥ २९ ॥
प्रत्यक्षाद्यविरोधं वक्तुं कोशान्विवेचयद्ब्रह्म ।
संभावयति तृतीये तदर्थभूतं गृहेत्यादि ॥ ३० ॥
ईश्वरमुख्यक्लृप्तद्वैतविचारेण गुरुमृते प्रलये ।
बोधाभावोक्त्या तन्मुख्यत्वं स्याच्चतुर्थेऽपि ॥ ३१ ॥
ब्रह्मैक्यमेवमुक्तिर्यत्र द्वैतं न विद्यते किमपि ।
इति तत्प्रधानताऽपि स्पष्टतरा पञ्चमे ज्ञेया ॥ ३२ ॥
चित्रपटादिनिदर्शनवशेन वैराग्यमात्मशब्देन ।
जीवस्वरूपमिति तत्प्राधान्यं भवति षष्ठेऽपि ॥ ३३ ॥
सप्तम आत्मानं चेदिति श्रुतेर्विवरणात्स्फुटं भवति ।
जीवोद्देशेन समन्वयमुख्यत्वं रसज्ञानम् ॥ ३४ ॥
शोधितजीवविवेकान्नानायुक्त्याऽविरोध एवोक्तः ।
मानान्तरैरतस्तत्परता स्यादष्टमेऽपि न किम् ॥ ३५ ॥
ध्यानविचारान्यतरध्वस्तप्रतिबन्ध एव बुद्धः स्यात् ।
इत्युक्तेस्तत्परता नवमे निर्णीयते स्पष्टा ॥ ३६ ॥
दशमे दीपवदात्मा सर्वस्याभासकोऽपि चैकरसः ।
स्वप्रभसुखैकवारिधिरिति फलकथनेन तत्परता ॥ ३७ ॥
एकादशे तु यौगिकसुखस्य बोधेन निरतिशयतोक्त्या ।
निर्विषयेऽपि पुमर्थात्तत्परता तस्य निर्णेया ॥ ३८ ॥
अद्वैतरूप ऐक्ये मैत्रेयीब्राह्मणादिवाक्यानाम् ।
सम्यक्समन्वयोक्तेस्तत्परता द्वादशेऽपि विज्ञेया ॥ ३९ ॥

उक्तं त्रयोदशेऽपि च नानाविधयुक्तितोऽद्वयैक्यस्य ।
संभावनमिति तस्य तु तत्प्राधान्यं समवसेयम् ॥ ४० ॥
एवं चतुर्दशेऽपि ज्ञानादेवाद्वयात्मतनुमुक्ते ।
उक्तत्वात्स्पष्टतरं तत्परता तस्य किं न स्यात् ॥ ४१ ॥
पञ्चदशेऽप्युक्तिः खल्वद्वैतस्वप्रकाशसुखभूम्नः ।
सर्वांशभास्यभासकराहित्यस्येति तस्य तत्परता ॥ ४२ ॥
इति तत्त्वभूतकोशद्वैतमहावाक्यमुखविवेकानाम् ।
अथ चित्रतृप्तिकूटस्थध्यानसुनाटकाख्यदीपानाम् ॥ ४३ ॥

तत्त्वादिमहावाक्यान्तपदातिक्रमान्मुखेषु नामारम्भेषु येषां ते च ते विवेकास्तेषामित्यर्थः । इदं हि विषयिणामपि सत्यां तीव्रतममुमुक्षायां शीघ्रबोधानुकूलसरसस्वल्पग्रन्थात्मकनाटकरचनचातुरीसूचनार्थमेवेति ॥ ४३ ॥

अपि योगात्माद्वैतविद्याविषयोपपदसुरम्याणाम् ।
आनन्दानां च भवति संग्रहपुटिकैव पञ्चदशी ॥ ४४ ॥

पादान्तस्थं विकल्पेनेति गुरुता तकारस्य ॥ ४४ ॥

पञ्चदश प्रतिबन्धास्तावद्भिः प्रकरणैर्निरस्यन्ते ।
अनया जिज्ञासूनां पूर्णानन्देन्दुभा द्विजेन्द्राणाम् ॥ ४५ ॥

तृप्तिदीपादिविषयानन्दान्तप्रकरणनवकमित्यर्थः । द्विजेन्द्राणां ब्रह्मविदां पक्षे चकोराणाम् । पूर्णेति । अद्वैतस्वानन्दप्रकाशरूपामृतदीधितिस्मृतिरित्यर्थः । संपाद्यत इत्यार्थिकम् । पक्षे चन्द्रभाः ॥ ४५ ॥

इह तु विवेका दीपा आनन्दा अपि न कौमुदीविरहे ।
भ्राजन्ते जाता अप्यनन्ततमसोऽनिरस्तत्वात् ॥ ४६ ॥

तृप्तिदीपादिविषयानन्दान्तप्रकरणनवकमित्यर्थः ॥ ४६ ॥

श्रीविद्यारण्यकृताः पञ्च विवेकाः सचित्रदीपाः स्युः ।
शिष्टं तु समुपदिष्टं श्रीमद्भिर्भारतीतीर्थैः ॥ ४७ ॥

अनन्तं ब्रह्म तन्मात्राश्रयविषयकं यत्तमोऽज्ञानं तस्येत्यर्थः । यद्वाऽनन्ता असंख्याता ये जीवास्तेषां यत्तमस्तस्येति यावत् । एवं च जीवानामानन्त्यात्तन्मध्ये प्रकृतकौमुद्येकनिरस्यसंशया ये जीवास्तदुपकारिकेयं स्यादिति । पक्षे''ऽनन्तं सुरवर्त्मखमि''त्यमरादाकाशगतान्धकारस्येत्यर्थः ॥ ४७ ॥

आराध्यातुलयत्नैः पञ्चदशीं वाऽपि षोडशीं नाऽऽसीत् ।
इष्टमनिष्टनिवृत्तिर्वाऽनुपमेति द्विजा भजध्वमिमाम् ॥ ४८ ॥
मत्वा जीवं जीवान्विद्यारण्यं च भारतीतीर्थम् ।
तत्त्वविवेकं भूमिप्रकाशतो द्योतयामि कौमुद्याः ॥ ४९ ॥

विद्यारण्यं भारतीतीर्थं च प्रकृतग्रन्थकारं मत्वा तत्तद्ग्रन्थतात्पर्यविषयकमननं कृत्वेत्यर्थः । तथा अजीवमिति च्छेदः । न विद्यते जीवस्तदुपलक्षितं द्वैतं यत्र तद्ब्रह्म मत्वाऽऽत्मत्वेनानुसंधायेत्यर्थः । तथा जीवान्संसारिणः । मत्वा दुःखित्वेनानुसन्धाय । कौमुद्या भूमीतिप्रथमप्रकाशेन ।४९।

अथ भगवान्विद्यारण्यमुनिः श्रीमद्ब्रह्मसूत्रभाष्याद्यखिलगुरुलघुनिबन्धवृन्दतात्पर्यसारसमुद्धरणेन सकलमुमुक्षूननुजिघृक्षुः कलावद्यप्रायः शास्त्राकलनकुशलमहाशेमुषीलसन्मुमुक्षुसंक्षेपतस्तत्त्वविवेकादिस्वल्पग्रन्थात्मकपञ्चदशप्रकरणीमनेकप्रक्रियाभिस्तत्तन्मत्युपकारिणीमारभमाणः सन्मङ्गलादीनीत्यादिमहाभाष्यस्मृत्यनुमितश्रुतिविहितं श्रीवाल्मीक्यादिशिष्टाचरितं प्रारिप्सितप्रत्यूहप्रशमैकफलकमस्या अद्वैतशास्त्रीयप्रकरणत्वेन "यस्य देवे" इत्यादिश्रुत्या परमेश्वराभिन्नगुरुनमस्कारात्मकं मङ्गलं कलयन्नन्तेवास्यनुशिशासिषया ग्रन्थादावपि संग्रन्थन्प्रेक्षावत्प्रवृत्त्यर्थं विषयप्रयोजने अप्युपनिबध्नाति—**नम इति**। ननु "यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः" "ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते" इत्यादिश्रुतिस्मृतिभिः श्रिया नित्यैश्वर्यशक्त्या शं कोविदानां कैवल्यलक्षणं कल्याणं करोतीति व्युत्पत्त्या तत्पदवाच्येश्वरत्वोपलक्षितसत्यज्ञानादिरूपशुद्धब्रह्मणा सह "तदेतत्प्रेयः पुत्रात्" इत्यादिश्रुत्या निरुपचरितप्रीतिविषयीभूतानन्दरूपत्वं पदलक्ष्यशुद्धजीवस्य कर्मधारयेणाभेदरूपविषयस्य तद्विज्ञानार्थं "स गुरुमेवाभिगच्छेत्समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्" इति श्रुतेर्ब्रह्मिष्ठसूरिवरिष्ठस्यैव गुरुत्वेन तद्विशेषत्वादेव तन्नामनिरुक्तितः सिद्धावपि सविलासेति विशेषणेन सकार्यकाज्ञानमेव ग्राहः तस्य यो ग्रासस्तदेकं केवलं कर्म व्यापारो यस्येति यावद्दृश्यध्वंसनतः सद्योमुक्तिपक्षप्रतीतेः पूर्वार्धध्वनितजीवन्मुक्तिपक्षः प्रतिक्षिप्तः क्वचिदाङ्गेन वाऽसाविति संदिग्धत्वात्परस्परविरुद्धार्थकत्वाच्चानुचितमेवेदं पद्यमिति चेन्न। गुरुपादयोरम्बुजन्मरूपकादिना संसारस्य तन्महिम्ना सरस्त्वसूचनेन महामोहस्य तद्वैचित्र्यादनेकधेति वक्ष्यमाणरीत्या नानाज्ञानवदाभ्युपगमेन तदन्तर्गतनक्राख्यग्राहरूपकादिना तद्विलासशब्दितस्य विशेषेण लसत्यनेनेति व्युत्पत्तेः "अज्ञानं यदतोऽन्यथा" इति स्मृतेर्मानित्वाद्युपलक्षितस्य हृदयग्रन्थिसर्वसंशयज्ञानाव्यवहितपूर्वक्षणान्तसंचितकर्माख्यस्य "भिद्यते हृदयग्रन्थिः" इत्यादिश्रुतेः "अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति" इत्यादिस्मृतेश्च तन्मुख्यकार्यस्यैव युक्तत्वात्। एवं च नैवात्र विरोधगन्धोऽपीति बोध्यम्। न चैवं विलासपदे स्वारस्याद्यावदविद्याविद्यमानानां दृश्यानामेव प्रतीतौ सत्यां तत्संकोचनेनोक्तविरोधपरिहारापेक्षया समः समविभक्ताङ्ग इति श्रीरामवत्प्रकृतश्रीगुरोरप्युत्तमपुरुषत्वसूचनस्य पादाम्बुजन्मन इत्येकवचनेन विवक्षितत्वादस्य गुरोः पादयोः शक्तिद्वयं वर्तते ये जीवन्मुक्त्यधिकारिणस्तेभ्योऽसौ देया ये तु सद्योमुक्त्यधिकारिणस्तेभ्यस्त्वसावपीति व्यवस्थयैव निरुक्तविरोधपरिहारः स्वार्थाधिक्यात्समुचित इति वाच्यम्। तथात्वे एककर्मण इत्येकपदस्वारस्यसिद्धस्य यावद्द्वैतध्वंसनेतरव्यापारविरहस्य तत्र बाधापत्तेः। तस्मादुक्तमेव युक्तमिति दिक्। अम्बुजन्मग्राहतत्कार्ययोः सरोवच्छेदेन सामानाधिकरण्यसत्त्वेऽपि लोके ग्रास्यग्रासकभावादर्शनात्प्रत्युत वैपरीत्यस्यैव तत्र कादाचित्कत्वेन संभावितत्वादुक्तरूपकादिना विरोधस्य भासमानत्वेऽपि निरुक्तार्थापत्त्यैव परिणामालङ्कारस्य "परिणामः क्रियार्थश्चेद्विषयी विषयात्मनोः" इत्याद्युक्तलक्षणस्यावश्यवाच्यतयाऽऽभासत्वेनेह विरोधाभासालङ्कारोक्त्या "आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनम्" इत्यादि-

तत्पादाम्बुरुहद्वन्द्वसेवानिर्मलचेतसाम् ।
सुखबोधाय तत्त्वस्य विवेकोऽयं विधीयते ॥ २ ॥

इदानीमवान्तरप्रयोजनकथनपुरःसरं ग्रन्थारम्भं प्रतिजानीते—

तत्पादेति । तस्य गुरोः पादावेवाम्बुरुहे कमले तयोर्द्वन्द्वं तस्य सेवया परिचर्यया स्तुतिनमस्कारादिलक्षणया निर्मलं रागादिरहितं चेतोऽन्तःकरणं येषां ते तथोक्तास्तेषां सुखबोधायानायासेन तत्त्वज्ञानोत्पादनायायं वक्ष्यमाणप्रकारस्तत्त्वस्यानारोपितस्वरूपस्य "अखण्डं सच्चिदानन्दं महावाक्येन लक्ष्यते" (पञ्च० १-४६) इति वक्ष्यमाणस्य विवेक, आरोपितात्पञ्चकोशलक्षणाज्जगतो विवेचनं विधीयते क्रियत इत्यर्थः ॥ २ ॥

श्रुत्याद्युक्तरीत्याऽद्भुतरसानुप्राणितः सकलदुःखद्वैतलक्षणविरोधस्याभासमात्रत्वसूचनेन शान्त एव रसः प्राधान्येन ध्वनित इति ध्येयम् ॥ १ ॥

ननु भवत्वेवं विषयादिसिद्धिर्ध्वन्यादिनाऽथापि विमुक्तविषयासितो भ्रमरकीटन्यायेनोक्तप्रयोजनसिद्धिध्यानादिकर्मभिर्बोधेन वा तद्विषमादिरूपेण समुच्चयेन वा । आद्यन्त्ययोरधीतसाङ्गवेदस्य परीक्षस्य कर्मोपयोगिनस्तद्बोधस्य तत एव संभवेन तत्प्रतिपादकस्य चतुर्लक्षणीशास्त्रस्यैवानारम्भणीयत्वे तन्मूलके प्रकृतप्रकरणे तथात्वस्य कैमुत्यसिद्धत्वान्मध्यमे तु कर्मकाण्डवैयर्थ्यापत्त्या "मम देहो मम प्राणो मम चित्तं च धीर्मम न सुखं ममेति यो वेत्ति स कस्त्वमिह नोत्तरम्" इति रीत्या पञ्चकोशतत्कारणेभ्यः पार्थक्येन सत्यज्ञानानन्तानन्दरूपात्मबोधसत्त्वेऽपि मनुष्याद्यवच्छेदेन फलादर्शनादधीतशास्त्राणामपि जीवन्मुक्त्यनुपलब्धेः प्रत्युत केषाञ्चित्तेषां यथेषिताचरणनिरीक्षणाच्चेत्याशंक्य "तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन" इत्यादिश्रुतेः "ज्ञानमुत्पद्यते पुंसां क्षयात्पापस्य कर्मणः" इत्यादिस्मृतेः "प्रत्यग्विविदिषां बुद्धेः कर्माण्युत्पाद्य शुद्धितः । कृतार्थान्यस्तमायान्ति प्राविडन्ते घना इव" इति वार्तिकाच्च विविदिषन्तीत्यत्राश्वेन जिगमिषतीत्यादिवज्ज्ञानलक्षणधात्वर्थस्य प्राधान्याङ्गीकारे श्रवणादिविध्यनुपपत्तेरुक्तस्मृतेः प्रधानीभूतसन्प्रत्ययवाच्ये छायामेव लक्षणौचित्यस्य निरुक्तवार्तिकसूचितत्वादुक्तेश्वरार्पितकर्मभिः पाराशरपुराणोक्तज्ञानानुत्पत्तिकारणीभूतदुरितप्रध्वंसद्वारा मुकुरादिवद्विमलमानसजिज्ञासुजनानामनभ्यासेनाबाधिताप्रतिबद्धाद्वैतात्मवस्तुबोधोपयोगित्वेनास्य सार्थक्यमिति समादधंस्तथाम निबध्नंश्च तत्कृति प्रतिजानीते—तत्पादेति रूपकादिकं तु स्पष्टमेव ॥ २ ॥

शब्दस्पर्शादयो वेद्या वैचित्र्याज्जागरे पृथक् ।
ततो विभक्ता तत्संविदैकरूप्यान्न भिद्यते ॥ ३ ॥

जीवब्रह्मणोरेकत्वलक्षणविषयसंभावनाय जीवस्य सत्यज्ञानादिरूपतां दिदर्शयिषुरादौ ज्ञानस्याभेदप्रतिपादनेन नित्यत्वं साधयति—

शब्दस्पर्शादय इत्यादिना । तत्र तावद्विस्पष्टव्यवहारवति जागरे ज्ञानस्याभेदं साधयति—**शब्देति** । जागरे 'इन्द्रियैरर्थोपलब्धिः जागरितमि'त्युक्तलक्षणेऽवस्थाविशेषे वेद्याः संविद्विषयभूताः शब्दस्पर्शादय आकाशादिगुणत्वेन प्रसिद्धाः । तदाधारत्वेन प्रसिद्धाकाशादयश्च वैचित्र्यात्परस्परं गवाश्वादिवद्वैलक्षण्योपेतत्वात्पृथक् परस्परं भिद्यन्ते । ततस्तेभ्यो विभक्ता बुद्ध्या विवेचिता तत्संवित्तेषां शब्दादीनां संविज्ज्ञानमैकरूप्यात्संवित्संविदित्येकाकारेणावभासमानत्वाद्गगनमिव न भिद्यते । अत्रायं प्रयोगः—विवादाध्यासिता संवित्स्वाभाविकभेदशून्या उपाधिपरामर्शमन्तरेणाविभाव्यमानभेदत्वाद्गगनवत् । शब्दसंवित्स्पर्शसंविदो न भिद्यते संवित्त्वात्स्पर्शसंविद्वदिति । एकस्या एव संविदो गगनस्येवौपाधिकभेदेनापि भिन्नव्यवहारोपपत्तौ वास्तवभेदकल्पनायां गौरवं बाधकमुन्नेयम् ॥ ३ ॥

ननु तत्त्वस्य विवेकोऽयं विधीयते इति प्रतिज्ञया तत्त्वशब्दशक्यस्याबाधितवस्तुत्वेन स्वसिद्धान्तेऽद्वैतब्रह्मण एव तथात्वेन विवेकशब्देन सत्यानृतमिथुनीभावलक्षणाध्यासावबाधितद्वैतपृथग्भावबोधस्य 'तदेकविषयकस्यैव प्रतिपादयितुमुचितत्वेन "बुद्धिर्मनीषा धिषणाधी" इत्यादि कोशे बुद्धिनामोपक्रमेण तत्रैवपठितस्य "प्रेक्षोपलब्धिश्चित्संवित्" इति संविच्छब्दरूढ्या सम्यग्वेत्ति घटाद्यर्थं जानातीति योगेन च तन्मात्रवाचित्वेन तस्याः क्षणिकत्वादि विनश्वरत्वनानात्वादिभिरर्थानामपि दृष्टिसृष्टिवादे ज्ञानानतिरिक्तत्वेन तेषां वेद्यत्वेन तस्यास्तद्भिन्नत्वैकत्वयोः प्रतिपादनमनुचितमेवेत्याशंक्य प्रथमपद्यध्वनितब्रह्मात्मैक्यरूपविषयस्यैव । चिन्मात्रैकरसप्रत्यग्वस्त्वनतिरिक्तत्वेन त्रैकालिकबाधविधुरसन्मात्ररूपत्वात्तस्या एव निरुक्तयोगवृत्त्या प्रकृते "परागर्थप्रमेयेषु या फलत्वेन संमता । संवित्सैवेह मेयोऽर्थो वेदान्तोक्तिप्रमाणतः" इति श्रीमत्सुरेश्वराचार्यचरणारुणनलिनवचनात्संविच्छब्देन विवक्षितत्वात्क्षणभङ्गवादस्य त्वप्रामाणिकत्वाच्चित्रदीपे खण्डमिषितत्वाच्च दृष्टिसृष्टिवादेऽप्यर्थानां वृत्त्यात्मकज्ञानानतिरिक्तत्वेऽपि कूटस्थज्ञानातिरिक्तत्वात्तेषां शब्दाद्युपलक्षितयावद्दृश्यरूपाणां सर्वेषां मिथ्यात्वहेतुभूतमुक्तरूपत्वमेव विविधाकारत्वलक्षणवैचित्र्यहेतुना पृथक्पदशक्यभिन्नत्वहेतुना च साधयंस्ततस्तन्मिथ्यात्वमपि ध्वनयंस्ततो विभिन्नायाः संविदोऽपि भिन्नत्वहेतुकं प्राप्तं मिथ्यात्वघटकं वेद्यत्वं वारयितुं तस्याः सदेकरूप्येण हेतुना जागरे तावदभिन्नत्वं साधयति—**शब्देति** ॥ ३ ॥

तथा स्वप्नेऽत्र वेद्यं तु न स्थिरं जागरे स्थिरम् ।
तद्भेदोऽतस्तयोः संविदेकरूपा न भिद्यते ।। ४ ।।

सुप्तोत्थितस्य सौषुप्ततमोबोधो भवेत्स्मृतिः ।
सा चावबुद्धविषयाऽवबुद्धं तत्तदा तमः ।। ५ ।।

उक्तन्यायं स्वप्नेऽप्यतिदिशति—

तथेति । यथा जागरे वैचित्र्याद्विषयाणां भेद ऐकरूप्यात्संविदो भेदश्च तथा तेनैव प्रकारेण स्वप्ने 'करणेषूपसंहृतेषु जागरितसंस्कारजः प्रत्ययः स विषयः स्वप्न' इत्युक्तलक्षणायां स्वप्नावस्थायामपि विषया एव भिन्ना न संविदिति । ननु यदि स्वप्नजागरयोरेकाकारता विषयतत्संविदो भेदाभेदाभ्यां तर्हि स्वप्नो जागर इति भेदव्यवहारः किंनिमित्तक इत्याशंक्याऽऽह—**अत्र वेद्यं त्विति** । अत्र स्वप्ने वेद्यं परिदृश्यमानं वस्तुजातं न स्थिरं न स्थायि प्रतीतिमात्रशरीरत्वात् । जागरे तु परिदृश्यमानं वस्तुजातं स्थिरं स्थायि कालान्तरेऽपि द्रष्टुं योग्यत्वादतः स्थिरास्थिरविषयत्वलक्षणवैलक्षण्यात्तद्भेद-स्तयोः स्वप्नजागरयोर्भेद इत्यर्थः । ननु स्वप्नजागरयोर्भेदश्चेत्तत्संविदोरपि भेदः स्यादित्याशंक्याऽऽह—**तयोरिति** । एकरूपेति हेतुगर्भं विशेषणम् ।।४।।

एवमवस्थाद्वये ज्ञानस्यैकत्वं प्रसाध्य सुषुप्तिकालीनस्यापि तस्य तेनैक्य-प्रसाधनाय तत्र तावज्ज्ञानं साधयति—

सुप्तेति । पूर्वं सुप्तः पश्चादुत्थितः सुप्तोत्थितः सुप्तं सुषुप्तिस्तस्मादुत्थित इति वा । तस्य सौषुप्ततमोबोधः सुषुप्तिकालीनस्य तमसोऽज्ञानस्य यो बोधो

न च शब्दाद्युपलक्षणेन यावद्द्वैतस्य दृश्यत्वे साधिते तत्र जागर इत्यवस्था विशेषावच्छेदवैयर्थ्यमिति वाच्यम् । उक्तविधया तथात्वेऽपि सति प्रमातर्यबाधा-दिरूपस्पष्टप्रमाणाद्रिव्यवहृतेस्तदेकसत्त्वेन तथैव प्रथमसंविदः सत्यत्वादौ संवेद्यानां कल्पितत्वादौ च सिद्धे तन्न्यायेनान्यत्राप्यनन्तरं तदतिदेशौचित्यादित्याशयेन जाग्रत्स्व-प्नगतविषययोः स्थिरत्वादित्वेन तद्भेदं तत्संविदः प्राग्वदभेदं चाऽऽह—**तथेति** ॥ ४ ॥

एवं विक्षेपरूपजाग्रदादौ दृङ्मात्रस्यैक्येन वक्ष्यमाणनित्यताशासंभवेदपि यदि सर्वानुभूतायां सुप्त्याख्यावरणावस्थायां तत्सत्त्वादि स्यात् । न च सुखमहमस्वाप्सं न किंचिदवेदिषमिति व्युत्थितस्य स्मृत्यनुपपत्त्येव तत्र तत्सिद्धिरावश्यकीति शङ्क्यम् ।

ज्ञानमस्ति न किञ्चिदवेदिषमिति सा स्मृतिरेव भवेन्नानुभवस्तत्कारणस्येंद्रियसन्निकर्षव्याप्तिलिङ्गादेरभावादिति भावः। ततः किं तत्राऽऽह—**सा चेति**। सा च स्मृतिरवबुद्धविषयाऽवबुद्धोऽनुभूतो विषयो यस्याः सा तथोक्ता या स्मृतिः साऽनुभवपूर्विकेति व्याप्तिर्लोके दृष्टेतिभावः। ततोऽपि किं तत्राऽऽह—**अवबुद्धमिति**। तत्तस्मात्कारणात्तत्सौषुप्तं तमस्तदा सुषुप्तावबुद्धमनुभूतमित्यवगन्तव्यम्। अत्रायं प्रयोगः—विमतं न किंचिदवेदिषमिति ज्ञानमनुभवपूर्वकं भवितुमर्हति स्मृतित्वात्सा मे मातेति स्मृतिवदिति ॥५॥

भवन्मतेऽपि तस्य स्मृतित्वानङ्गीकारात्। उक्तं हि वार्तिके "न सुषुप्तगविज्ञानं नाज्ञासिषमिति स्मृतिः॥ कालाद्यव्यवधानत्वान्न ह्यात्मस्थमतीतभाक्" इति॥ अस्यार्थः—**न सुषुप्तेति**। सुषुप्तं गच्छतीति तथा तस्य यद्विज्ञानं सुखमित्याद्युक्तरूपं जाग्रदाद्यननुभूतविषयकत्वेन विशिष्टं ज्ञानमित्यर्थः। तत्स्मृतिर्न मम शैशवे मातृकर्तृकलालनादिसुखमासीदित्यादिवद्भूतार्थविषयकप्रत्ययत्वेन तस्य स्मृतित्वशङ्का नैव कार्येति तात्पर्यम्। तत्र हेतुमाह—**कालेति**। आदिना देशः। पञ्चवट्यां काशीं स्मरामीति प्रतीतेः। यद्यपि दैशिकव्यवधानस्मृतिरपि कालिकव्यवधानव्याप्यैव तथाऽपि देशादेः प्राधान्यस्यैव स्मृतिवैजात्यघटकस्य विवक्षितत्वं बोध्यम्। तथाच स्मृतिकालावच्छेदेनाप्यात्मनः सत्त्वात्तस्यैवानुभवितृत्वान्न किंचिदवेदिषमिति सर्वाभावविषयकस्मरणस्य सर्वाभावानुभवपूर्वकत्वे वाच्ये तदन्तःपातिज्ञानस्याप्यात्मनोऽपि चाभावानुभवेऽनेनैव सिद्धे नैरात्म्यवादाद्यापत्तेरात्ममात्रस्य सर्वास्थानुगतत्वात्तद्गतत्वेन तत्स्थस्याऽऽत्मत्वस्यापि नित्यतयाऽतीतोपलक्षितभूतादिकालभाक्त्वाभावाच्चाहं नाज्ञासिषं तदानीमित्याकारा वृत्तिः स्मृतिर्नैव भवति किंतु भ्रान्तिरेवेति भाव इति। तस्मात्सुषुप्तौ मनसः पुरीतत्याख्यनाडीविशेषप्रवेशात्तदितरावच्छेदेनैवाऽऽत्मनः संयोगस्य ज्ञानकारणस्य तदानीमभावान्नैव तत्र ज्ञानशङ्काऽपीत्याशंक्य सुप्ताख्यसुषुप्त्यवस्थासकाशादुत्थितस्य सुषुप्तौ विद्यमानत्वेन तत्र भवस्य तमसस्तमोगुणाकारेण परिणतस्य विषयितासंबन्धावच्छिन्नं ज्ञानापरपर्यायं न किंचिदवेदिषमित्याद्यात्मकं बोधं पक्षीकृत्य सौषुप्तेति तद्धितसिद्धभूतकालिकार्थविषयकत्वलक्षणार्थिकहेतुना तस्य स्मृतित्वं संसाध्य या या स्मृतिः साऽनुभवपूर्विकेति व्याप्त्या तदानीन्तनतमोविषयकज्ञानपूर्वकत्वे तस्यां सिद्धे तेन तदवस्थाकालिकीमपि प्रकृतसंवित्सत्तां साधयन्निरुक्तवार्तिके त्वात्मस्थपदेन जीवचैतन्यनिष्ठसाक्षिचैतन्यस्यैव द्वितीयपादेन मूलाज्ञानविषयकस्मृतिनिषेधस्यैव च विवक्षितत्वस्य [1]**न्यायरत्नावल्यां ब्रह्मानन्दाचार्यविवृतत्वेन** तद्विरोधस्य तत्तात्पर्यानवबोधनिबन्धनतां ध्वनयन्साक्षिलक्षणबोधस्य तत्कालावच्छेदेन सत्त्वसंभवेऽपि स्मृतित्वहेतुभूतस्य वृत्त्यात्मकज्ञानस्य कथं नाम सामग्र्यभावात्संभव इति शिष्याशयमपि साक्ष्युक्ततमोगुणाकारपरिणताज्ञानात्म-

---

१—सिद्धान्तबिन्दुटीकायाम्।

स बोधो विषयाद्भिन्नो न बोधात्स्वप्नबोधवत् ।
एवं स्थानत्रयेऽप्येका संवित्तद्वद्दिनान्तरे ।। ६ ।।

तस्यानुभवस्य स्वविषयादज्ञानाद्भेदं बोधान्तरादभेदं चाऽऽह—

स बोध इति । स बोधः सौषुप्ताज्ञानानुभवो विषयादज्ञानाद्भिन्नः पृथग्भवितुमर्हति बोधत्वाद्घटबोधवत् । बोधान्तरान्न भिद्यते बोधत्वात्स्वप्न-

सुखाकारनिर्विकल्पकमूलाज्ञानैककार्यतापन्नवृत्तित्रयस्य **श्रीमत्प्रकाशात्मगुरुवराख्यविवरण-कारचणै**रङ्गीकृतत्वं मनसि निधायैव शमयञ्जाग्रदादिवत्सुप्तावपि तत्तद्वृत्त्युपलक्षितस्य निर्विकल्पाखण्डस्वप्रकाशचिदेकरसवस्तुनः सिद्धिर्निर्बाधैवेति समाधत्ते— **सुप्तोत्थि-तस्येति** ॥ ५ ॥

ननु सर्वमिदं सुखमहमस्वाप्सं न किंचिदवेदिषमिति स्मृत्या भवतु सुव्यवस्थमथापि "सुषुप्तिकाले सकले विलीने तमोभिभूतः सुखरूपमेति । पुनश्च जन्मान्तरकर्मयोगात्स एव जीवः स्वपिति प्रबुद्धः" इति श्रुतेर्जीवस्य तदानीं निरुक्त-तमोगुणाकारपरिणतेऽवस्थाज्ञाने विलीनत्वेनानुभवितुरभावे पुनरप्युक्तवृत्तेः स्मृतित्वा-भावतादवस्थ्यमेव । न च **विवरणमतेन** साक्ष्यज्ञानसुखाकारमूलाज्ञानीयोक्तवृत्तित्रयस्य तत्राङ्गीकाराज्जीवस्य विलयेऽपि साक्ष्यनुभूतसुखादेर्जागरे प्रादुर्भूतेन तेन रसालबीजे निषिक्तस्य घनसारादेः फलपरिपाकवेलायां सौरभ्याविर्भाववत्तत्तादात्म्यादेवोपपत्तिरिति वाच्यम् । तदानीं लीनस्य जाग्रत्याविर्भूतस्य जीवस्योभयत्रापि सता साक्षिणा सहेदानीं तादात्म्येन स्मरणोपपत्तिकल्पनापेक्षया वरं लाघवादुभयत्रापि सता मूलाज्ञानेनैव तादृक्साक्षिणः विनाऽपि "सत्त्वात्संजायते ज्ञानम्" इतिस्मृतेः "अजामेकां लोहितशुक्ल-कृष्णाम्" इतिश्रुतेश्च ज्ञानप्रयोजकसत्त्वादिगुणसंपन्नेन तादात्म्यापन्नस्य जीवस्य स्मरणोपपत्तेरिति चेन्न । यो यो बोधः स स्वविषयाद्भिन्न इति व्याप्तेः सर्वतैर्थिकसम-तत्वात्सौषुप्ताज्ञानानुभवस्योक्तस्मृत्यन्यथानुपपत्त्या पूर्वपद्य एव साधितत्वात्स्मृत्यादेस्तु संजायत इत्यादिपदस्वारस्येन कूटस्थभिन्नजन्यज्ञानविषयत्वात्सौषुप्ततमोविषयकः प्रकृतो बोधः स्वविषयात्तमसो भिन्नत्वे सति वृत्यात्मकबोधाभासेतरबोधादभिन्नः । कूटस्थबोध-त्वात्स्वप्नादिविषयकबोधवदित्यनुमानाच्चेति द्योतयति- **स बोध इत्याद्यर्धेन** । ननूक्तानु-मानै साध्योत्तरदले मुख्यविशेष्यताक्रान्तसाध्याभेदप्रतियोगिवाचकबोधपदं किं बोधत्वा-वच्छिन्नयावद्बोधपरमुत पक्षीकृतबोधमात्रपरम् । नाऽऽद्यः । दृष्टान्तासिद्धेः । नान्त्यः सिद्ध-साधनापत्तेरिति चेन्न । भावानवबोधात् । तथा हि यथा स्वप्नविषयको बोधः कूटस्थबोधत्वादेव प्राक्प्रतिपादितजाग्रत्कालिककूटस्थबोधादभिन्नस्तथा सुषुप्तिकालिक-तमोविषयकोऽप्यसौ तत्त्वादेव तदभिन्न इति विवक्षायां न कोऽपि दोषः । न हि केयूरहाटकं यथा कटकहाटकादभिन्नं तथा कुण्डलहाटकमपि तदभिन्नमिति प्रयोक्ता प्रत्यवैति प्रतिपत्ता चाप्रतिपद्यते । यथा वा स्थूलसूक्ष्मसूक्ष्मतरतरङ्गेषु प्रतिबिम्बितत्वेन विभिन्नाः प्रतीयमाना अपि चन्द्राः कूटस्थाद्दिविष्ठचन्द्राच्चन्द्रत्वेनैव हेतुना ह्यभिन्नाः प्रत्येकमनुमानत्रयेण

मासाब्दयुगकल्पेषु [१]गतागम्येष्वनेकधा ।
नोदेति नास्तमेत्येका संविदेषा स्वयंप्रभा ।। ७।।

बोधवत् । फलितं कथयन्नुक्तन्यायमन्यत्राप्यतिदिशति—**एवमित्यादिना** । स्थानत्रयेऽप्येकदिनवर्तिनि जाग्रदाद्यवस्थात्रयेऽपि संविदेकैव सर्वं वाक्यं सावधारणमिति न्यायात्तद्वद्दिनान्तर इति ।। ६ ।।

यथैकस्मिन्दिवसेऽवस्थात्रयेऽपि ज्ञानस्याभेद एवमन्यस्मिन्नपि दिवसेऽनेकधाऽनेकप्रकारेण गतागम्येष्वतीतागामिषु मासेषु चैत्रादिष्वब्देषु प्रभवादिषु युगेषु कृतादिषु कल्पेषु ब्राह्मादिषु च ज्ञानस्याभेद एवेत्यर्थः । संविद एकत्वसमर्थने फलमाह—**नोदेतीति** । यतः संविदेकाऽतो नोदेति नोत्पद्यते नास्तमेति न विनश्यति च । असाक्षिकयोरुत्पत्तिविनाशयो-

माणवकं प्रति प्रबोद्धुमाचार्येण साध्यन्ते तद्वत्प्रकृतेऽपीत्याकूतम् । एतेन यदपि केनचिदाक्षिप्यते ज्ञानविषययोरभेदस्तावदृष्टिसृष्टिवादं सिद्धान्ते विहाय विज्ञानवादं च प्रतिपक्षे विहाय नैवान्यत्र कुत्रापीति स बोधो विषयाद्भिन्न इति तद्भेदसाधनं सिद्धसाधितरोधितमेवेति तदपि प्रत्युक्तम् । उभयत्रापि वृत्त्यात्मकबोधाभासं गृहीत्वैव पर्युदस्तमतद्वये विषयबोधयोरभेदवादेऽपि कूटस्थबोधे तद्भिन्नत्वस्यैवाऽऽद्यमतेऽभीष्टत्वादन्त्यमते तदभावेऽपि वृत्त्यात्मकबोधाभासेतरेति साध्यविशेषणेनैव तत्पर्युदासाच्चेति दिक् । एवं जाग्रदाद्यवस्थात्रयोपलक्षितयावद्व्यवहारे साधितमेकस्मिन्दिने संविदैक्यं दिनान्तरेऽप्यतिदिशति—**एवमित्याद्युत्तरार्धेन** । सर्वं वाक्यं सावधारणमिति न्यायेन सविदेकैव यथैकस्मिन्दिने जाग्रदादिरूपेऽवस्थात्रयेऽप्यस्ति तद्वद्दिनान्तरेऽपि भवतीति सम्बन्धः । स्थानशब्दोऽत्रावस्थापरः । तथाचाऽऽम्नायते "तस्य त्रय आवसथाः" इत्यादि ॥ ६ ॥

अथ फलितं कथयन्नुक्तसंविदः स्वप्रकाशत्वं कालिकपरिच्छेदविधुरत्वं च ध्वनयति—**मासेति** । मासादयस्तु प्रसिद्धा एव **कालमाधवादौ** । ननु भवेत्त्वेवं मासादिकल्पान्तेष्वपि भूतेषु भाविषु च कालावयवेष्वपि नित्यापरोक्षत्वेन प्रकृतायाः संविदः प्रागभावाप्रतियोगित्वे सति ध्वंसाप्रतियोगित्वरूपं सत्यत्वापरनामकं नित्यत्वं किं ततः प्रकृत इत्याशंक्य तद्भास्यस्य द्वैतस्यास्वप्रकाशत्वलक्षणमिथ्यात्वसिद्धिरेवेति समादधंस्तां विशिनष्टि-- **एकेत्यादिद्वाभ्यां विशेषणाभ्याम्** । यत एषा संविदनेकधा गतागामिष्वपि मासाब्दयुगकल्पेषु नोदेति नैवोत्पद्यते नास्तमेति नैव विनश्यति चात एकाऽद्वितीया भवत्युत्पत्तिविनाशयोर्द्वितीयासाध्यत्वात्तथा स्वयंप्रभा स्वप्रकाशाऽप्यस्तीत्यन्वयः । एतेन जाग्रदादिस्थानत्रयेऽपि तत्तद्भास्यभासकत्वेन साधिता या कूटस्थसंविदियमपि संविदन्तरभास्या भवतु ज्ञानत्वाद्वृत्तिरूपज्ञानवदित्यनुमानेन संभाविता-

---

१—गतागामिष्वित्यच्युतरायटीकापाठः ।

रसिद्धेः । स्वोत्पत्तिविनाशयोस्तयैव संविदा गृहीतुमशक्यत्वात्संविदन्तराभावाच्चेति भावः । ननु संविदन्तराभावे ग्राहकाभावादस्या अप्यभाने जगदान्ध्यं प्रसज्जेतेत्यत आह—एषेति । अत्रायं प्रयोगः । संवित्स्वयंप्रकाशाऽवेद्यत्वे सत्यपरोक्षत्वाद्व्यतिरेके घटवन्न चायं विशेषणासिद्धो हेतुः संविदः स्वसंवेद्यत्वे कर्मकर्तृत्वविरोधात्परवेद्यत्वेऽनवस्थानादतः स्वप्रकाशत्वेन भासमानायाः संविदः सर्वावभासकत्वसम्भवान्न जगदान्ध्यप्रसंग इति भावः ॥ ७ ॥

ऽनवस्था प्रयुक्ता । एवं चास्यां स्वप्रकाशायां संविदि प्रतिपादितयुक्त्या द्वितीयत्वावच्छेदकावच्छिन्नद्वितीयस्यास्वप्रकाशत्वलक्षणमिथ्यात्वेन त्रैकालिकाभावाद्देशवस्तुपरिच्छेदवैधुर्येणानन्त्यमपि चतुर्विधाभावाप्रतियोगित्वलक्षणं लक्ष्यते । ननु किमिदं स्वयंप्रभत्वमिति चेद्यत्प्राचीनटीकाकारैः केवलव्यतिरेकिहेतुना लक्षितम् । तद्यथा—एषेति सांप्रतिकसंविदं प्रकृत्य । 'अत्रायं प्रयोगः—संवित्स्वयंप्रकाशा । अवेद्यत्वे सत्यपरोक्षत्वात् । व्यतिरेके घटवत् । न चायं विशेषणासिद्धो हेतुः । संविदः स्ववेद्यत्वे कर्मकर्तृत्वविरोधात्परवेद्यत्वेऽनवस्थानात् । अतः स्वप्रकाशत्वेन भासमानायाः संविदः सर्वावभासकत्वसम्भवान्न जगदान्ध्यप्रसंग इति भाव इति ।' अत्र वदन्ति । हेतोर्विशेषणस्य प्रतिपादनेऽपि विशेष्यीभूतमपरोक्षत्वमेव संदिग्धम् । तथाहि । न तावदत्रापरोक्षत्वं तार्किकादिवत्प्रत्यक्षापरपर्यायमिन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्यज्ञानत्वम् । कूटस्थत्वात् । अत एव प्राभाकरवदावरणवैधुर्यलक्षणं स्फुरणत्वम् । तन्मते हि संविदां स्वप्रकाशकत्वेऽपि जन्यत्वाद्यङ्गीकारात् । नापि "यत्साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म" इति श्रुतेर्ब्रह्मत्वम् । तदर्थीभूतस्य तस्यैव विचार्यत्वादिति चेन्न । साक्षादपरोक्षं प्रत्यक्षं चिच्चितिः संविज्ज्ञानं भानं भाः प्रकाशः प्रबोधो मितिः प्रमितिः स्फुरणं स्फूर्तिर्ज्ञप्तिर्बोध इत्यादि शब्दानामनर्थान्तरत्वमेव । तथा च तादृग्बोधस्य वृत्तिव्यावृत्तं स्वयंत्वमवश्यं लक्षणीयमेव । तच्च लक्षितं यथामति मदीयबोधैक्यसिद्धौ—

"ज्ञानस्य तु स्वप्रभता विनैव ज्ञानप्रयुक्तं विषयत्वमेवम् ।
सन्देहमुख्याऽविषयत्वयोग्यस्वरूपसत्त्वैव मता विपश्चिताम् ॥" इति ।

एवं च ज्ञानाविषयत्वे सति संशयावरणोभयशून्यत्वयोग्यस्वरूपसत्त्वमेव स्वयंप्रभत्वमिति लक्षणं पर्यवसितम् । अत्रायं घट इत्यादिवृत्तिज्ञाने साक्षिभाष्येऽतिव्याप्तिव्यावृत्तये सत्यन्तम् । तावन्मात्रोक्तौ ब्रह्म स्वप्रकाशमेवास्तीत्याप्तवाक्यजन्यपरोक्षज्ञानविषयीभूते स्वप्रकाशे ब्रह्मण्येवाव्याप्तिव्युदस्तये संशयेत्यादि । तस्य संशयादिविषयत्वात् । अत्र योग्येत्यादिना निरुक्तपरोक्षज्ञानविषयीभूतेऽपि स्वप्रकाशे ब्रह्मणि स्वप्रकाशत्वावच्छेदेन ज्ञानविषयत्वात्संशयादिविषयत्वेऽपि तच्छून्यत्वयोग्यस्वरूपसत्त्वान्नैवाव्याप्तिरिति बोध्यम् । इदं गुरुतरमित्यपरितोषे त्वनधीनभानत्वमेव तदस्तु । विस्तरस्तु मामकतट्टीकायामेव ज्ञेय इति दिक् ॥ ७ ॥

इयमात्मा परानन्दः परप्रेमास्पदं यतः ।
मा न भूवं हि भूयासमिति प्रेमाऽऽत्मनीक्ष्यते ।। ८ ।।

भवत्वेवं संविदो नित्यत्वं स्वप्रकाशत्वं च ततः किमित्यत आह—

इयमिति । अत्रायं प्रयोगः—इयं संविदात्मा भवितुमर्हति नित्यत्वे सति स्वप्रकाशत्वाद्यन्नैवं न तदेवं यथा घट इति । आत्मनो नित्यसंविद्रूपत्व-प्रसाधनेन सत्यत्वमपि साधितं भवति नित्यत्वातिरिक्तसत्यत्वाभावात् । नित्यत्वं सत्यत्वं तद्यस्यास्ति तन्नित्यं सत्यमिति **वाचस्पतिमिश्रै**रुक्तत्वादिति भावः । आत्मन आनन्दरूपत्वं साधयति—**परानन्द इति** । आत्मेत्यनु-षज्यते । परश्चासावानन्दश्चेति परानन्दः । निरतिशयसुखस्वरूप इत्यर्थः ।

ननु "य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरः" इत्यादिश्रुतेर्वार्तिककारमते जीवात्मन्यपि विद्यमानस्येश्वरस्यैव साक्षित्वाज्जाग्रदाद्यखिलावस्थावभासकस्योक्तसंविद्रूपस्य साक्षिण ईश्वरत्वमेवास्तु तथाच द्वितीयस्य तद्भिन्नस्य जीवस्य सत्त्वेन वस्तुपरिच्छेदविदलना-भावादेकपदध्वनितमद्वैतत्वेनैव सिध्यतीत्याशंक्य साक्षित्वविशिष्टायाः प्रोक्तलक्षणायाः संविदः पञ्चकोशात्मकावस्थात्रयविशिष्टचिद्रूपाज्जीवाद्भिन्नत्वेऽपि "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" इति स्वरूपलक्षणप्रतिपादिततैत्तिरीयश्रुतिर्लक्षितसत्यज्ञानादिलक्षणस्योक्तरीत्या युक्त्याऽपि सिद्धस्य ब्रह्मणः साक्ष्यप्रयुक्ताविद्यकसाक्षित्वलक्षणोपाधिविधुरस्य शोधिततत्पदार्थीभूतस्य तादृग्रूपेणाविद्यकं पञ्चकोशाद्युपाधिविधुरेण शोधितत्वंपदार्थीभूतेनाऽऽत्मना सह वास्तविकै-क्यमेव महावाक्यार्थीभूतमस्तीति समाधत्ते—**इयमात्मेति** । इयं निरुक्तलक्षणा संवित् । आत्मा—

"यच्चाऽऽप्नोति यदादत्ते यच्चात्ति विषयानिह ।
यच्चास्य संततो भावस्तस्मादात्मेति भण्यते (कीर्त्यते) ।।"

इत्यभियुक्तवचनात्सत्यज्ञानादिलक्षणः प्रत्यगेवास्तीत्यर्थः ।। ननु सत्यादिस्वलक्षणै-क्येऽपि सुवर्णकार्यत्वरूपस्वलक्षणैक्येऽपि मुकुटकटकयोरिव वास्तविकविभेदे बाधकाभाव एव । न च प्राचां प्रयोग एव । इयं संवित् । आत्मा भवितुमर्हति । नित्यत्वे सति स्वप्रकाशत्वात् । यन्नैवं न तदेवं यथा घट इति पराऽर्थानुमानात्मा बाधक इति वाच्यम् । विपक्षे बाधकाभावेन हेतोरप्रयोजकत्वात् । न हि गौरः पीवरस्तरुणः सुब्राह्मणश्चैत्र इति तादृशान्मैत्रादभिन्नः प्रेक्ष्यते परोक्षकैरिति चेन्न "यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति" इति "यो वै भूमा तदमृतमथ यदल्पं तन्मर्त्यम्" इति चान्वयव्यतिरेकव्याप्तिघटितश्रुत्या कण्ठत एव भूमशब्दितत्रिविधपरिच्छेदशून्यचतुर्विधाभावाप्रतियोगिवस्तुन एव परमानन्द-रूपत्वस्य कैवल्यस्वरूपत्वस्य चोक्तत्वात्तदभावे जीवेश्वरयोरुभयोरपि विभिन्नस्वलक्षण-

तत्र हेतुमाह—**परेति** । यतो यस्मात्कारणात्परस्य निरुपाधिकत्वेन निरतिशयस्य प्रेम्णः स्नेहस्याऽऽस्पदं विषयस्तस्मादत्रेदमनुमानमात्मा परमानन्दस्वरूपः परप्रेमास्पदत्वात् । यः परमानन्दरूपो न भवति नासौ परप्रेमास्पदमपि यथा घटः । तथा चायं परप्रेमास्पदं न भवतीति न तस्मात्परमानन्दरूपो न भवतीति न । नन्वात्मनि धिङ्मामिति द्वेषस्योपलभ्यमानत्वात्प्रेमास्पदत्वमेवासिद्धं कुतः परप्रेमास्पदत्वमित्याशंक्य तस्य दुःखसम्बन्धनिमित्तकत्वेनान्यथासिद्धत्वात्प्रेम्णश्चाऽऽत्मन्यनुभवसिद्धत्वान्मैवमिति परिहरति—**मा न भूवमिति** । हि यस्मात्कारणादात्मनि विषये मा न भूवमहं मा भूवमिति न ममासत्त्वं कदाऽपि मा भूत्किन्तु भूयासमेव सदा सत्त्वमेव मम भूयादित्येवंविधं प्रेमेक्ष्यते सर्वैरनुभूयतेऽतो नासिद्धिरित्यर्थः ॥ ८ ॥

वस्तुपरिच्छेदेन तुच्छत्वाज्जीवस्य सिद्धान्ते बुद्धिप्रतिबिम्बितचिदाभासत्वेनेश्वरस्य चाविद्यातादात्म्यापन्नस्वचिदाभासविविक्तचैतन्यरूपसाक्षित्वेन च स्वतः सत्ताशून्यत्वलक्षणमिथ्यात्वाच्च विविक्तकूटस्थचिन्मात्रनानात्वे प्रमाणाभावात् "द्वितीयाद्वै भयं भवति" इत्यादिश्रुतिशतेन प्रत्युत भेदस्य निन्दितत्वाज्जाग्रदादौ भेदसत्त्वे भयसत्त्वस्य सुप्त्यादौ तदभावे तदभावस्य चानुभूतिघटितसर्वसुप्रसिद्धान्वयादिलक्षणतदनुग्राहकयुक्तेश्च । नन्वियमात्मेत्युक्तैक्यलक्षणमहावाक्यार्थे को हेतुः । न च त्रिविधपरिच्छेदविधुरत्वरूपोऽसौ पूर्वमुपपादित एवेति सांप्रतम् । एवं स्थानत्रयेऽप्येकेत्यनेन देशपरिच्छेदस्य तथा मासाब्देत्यादिना नोदेति नास्तमेत्येकेत्यनेन च कालपरिच्छेदस्यैव राहित्योक्त्या वस्तुपरिच्छेदराहित्ये प्रकृतसंविदः प्रकृतश्रुतीतरप्रमाणाभावात्तस्यास्तु तत्त्वमस्यादिमहावाक्यरूपायाः संदिग्धार्थकत्वेन तत्प्रतिबन्धबाधनार्थमेव "अथातो ब्रह्मजिज्ञासा" इत्यादिशास्त्रस्य तथैतत्प्रकरणस्य तीव्राद्यधिकारिभेदेनानुग्राहकतया तत्तदाचार्यैरारब्धत्वाच्च । नापि संविद्रूपात्साक्षिण ईश्वरात्सकाशाज्जीवस्य भिन्नत्वे शब्दादिविषयवद्दृश्यत्वेन जडत्वमिति वाच्यम् । तार्किकमतानुयायिनो ममेष्टापत्तेः सांख्यादिवच्चिन्नानात्वेऽपि बाधकानापत्तेश्चेति चेदत्रोच्यते । यदुक्तसंविद्रूपसाक्षिण ईश्वराज्जीवो भिन्नः स्यात्तर्हि सुखरूपो न स्यादित्यादितर्कस्यैवोक्तवस्तुपरिच्छेदाधायकभेदबाधकत्वादित्यभिसंधायोक्तसाक्षिसंविल्लक्षणस्येश्वरस्य प्रतिज्ञातात्माभिन्नत्वसाधकं निरतिशयानन्दरूपत्वमभिधत्ते–**परेति** । एतेन जाग्रदाद्यवच्छेदेन शब्दादिविषयजन्यक्षुद्रानन्दव्युदासः । तेषामागमापायित्वेन मायिकत्वात् । नन्वसिद्धेनैवाऽऽनन्दरूपत्वेन सामान्यतः किमुत परत्वविशिष्टेनापि तेनोक्तसंविदात्मत्वं साधयतस्तवेदमभिनवमेवाभाति विबुधत्वमिति स्वाशयमनाकलयन्तं प्रतिवादिनं प्रति तत्र हेतुं स्फुटयति—**परेत्यादिपूर्वार्धशेषेण** । यत इयं जाग्रदाद्यवस्थात्रयप्रकाशकत्वेन प्रकृता संविच्छब्दवाच्या स्वप्रकाशचितिः । परप्रेमास्पदं सुखादिसाधनानां

जाग्रदादिनिविष्टविषयविषयकज्ञानानां तदेकायत्तत्वेन तदर्थंनिरतिशयप्रेमाधिकरणं भवति। अतः परानन्दोऽस्ति। यतः परानन्दोऽस्त्यत आत्मा भवतीत्यध्याहृत्य सम्बन्धः। अयं भावः। यदि रमण्यादेरिष्टविषयस्य ज्ञानं न स्याच्चेत्तर्हि तत्र सुखसाधनत्वेनोपादयेत्वं ततः सुखोपभोगश्च नैव स्यात्तथा व्याघ्रादेरनिष्टस्यापि तस्य तन्न स्याच्चेत्तर्हि तत्र दुःखसाधनत्वे हेयत्वं ततो दुःखोपभोगाभावश्चापि नैव सिद्धेदतः सर्वजीवानां तदुभयकामनया निरुक्तज्ञानावश्यकतया तज्ज्ञानमूलीभूतोक्तसंविदि तेषां निरतिशयं प्रेम समुचितमेवेति। एवं चात्रानुमानद्वयमेव क्रमाद्वोध्यम्। इयं संवित्परानन्दः स्यात्। परप्रेमास्पदत्वात्। व्यतिरेके घटवत्। तथा इयं संवित् आत्माऽस्ति। परानन्दत्वात्। प्राग्वदेव। एतेन "तदेतत्प्रेयः पुत्रात्प्रेयो वित्तात्प्रेयोऽन्यस्मात्सर्वस्मादन्तरतरं यदयमात्मा" इतिश्रुतिरप्यनुगृहीता भवति। उक्तं हि **सर्वज्ञात्ममुनीश्वरचरणैः संक्षेपशारीरके।**

सर्वं यदर्थमिह वस्तु यदस्ति किञ्चित्पराध्यंमुज्झन्त च यन्निजसत्तयैव।
तद्वर्णयन्ति हि सुखं सुखलक्षणज्ञास्तत्प्रत्यगात्मनि समं सुखताऽस्य तस्मात्॥
प्रेमानुपाधिरसुखात्मनि नोपलब्धः स प्रत्यगात्मनिक्रमेरपि नित्यसिद्धः।
प्रेयः श्रुतेरपि ततः सुखतानुमानं नैयायिकोऽपि न दृगात्मनि निह्नुवीत" ॥ इति

तस्मादुक्तरीत्या वस्तुपरिच्छेदस्य त्वच्छङ्कितस्य सुतरामसंभावितत्वान्निरुक्तरूपस्तत्त्वमस्यादिवाक्यार्थः सच्चिदानन्दाद्वैतरूपप्रत्यग्ब्रह्मैक्यलक्षणः सकलद्वैतबाधापूर्वकः कैवल्यात्मा निष्प्रत्यूह एव षड्विधतात्पर्यग्राहकलिङ्गानुगृहीतः सर्वशास्त्ररहस्यतया सिद्धः। नन्विमद्वैतसिद्धान्तं माध्वाः प्रध्वंसयन्ति। तदुक्तं **श्रीमाधवाचार्यैरेव सर्वदर्शनसंग्रहे तन्मतं प्रकृत्य**—"अनुमानेनापि भेदोऽवसीयते। परमेश्वरो जीवाद्भिन्नः। तं प्रति सेव्यत्वात्। यो यं प्रति सेव्यः स तस्माद्भिन्नः। यथा भृत्याद्राजा। न हि सुखं मे स्याद्दुखं मे न मनागपीति पुरुषार्थंमर्थयमानाः पुरुषाः स्थपतिपदं कामयमानाः सत्कारभाजो भवेयुः। प्रत्युत सर्वानर्थंभाजनं भवन्ति। यः स्वस्याऽऽत्मनो हीनत्वं परस्य गुणोत्कर्षं च कथयति स स्तुत्या प्रीतः स्तावकस्य तस्याभीष्टं प्रयच्छति। तदाह—

"पातयन्ति हि राजानो राजाहमिति वादिनम्।
ददात्यखिलमिष्टं च स्वगुणोत्कर्षवादिने" ॥ इति

एवं च परमेश्वराभेदतृष्ण्यया। विष्णोर्गुणोत्कर्षस्य मृगतृष्णिकासमत्वाभिधानं विपुलकदलीफललिप्सया जिह्वाछेदनमनुहरति इत्यादि। अत्रोच्यते। योऽयं भवता भेदो जीवेश्वरयोरनुमानेन साध्यते किमसौ पारमार्थिकः किं वा बालिकाशिलाशिशुकन्यायेन भक्त्यतिशयाद्व्यावहारिक एव मुमुक्षुजनं प्रति तत्र प्रीतिदार्ढ्यार्थमुत प्रातिभासिकः। नान्त्यौ। मुमुक्षुजनजीवन्मुक्तयोरिष्टापत्तेः। आद्यः परं परीक्ष्यते। पारमार्थिकत्वं हि त्रिकालाबाध्यत्वमिति निर्विवादमेव। तत्तु भेदे भवता प्रमितमेव परत्वभेदवादिनं प्रति विजिगीषया परार्थानुमानेन साध्यत इत्यवश्यं वक्तव्यम्। तत्तु नैव घटते। किञ्चिज्ज्ञस्य तव त्रिकालज्ञपरमेश्वरेण महाभेदापत्तेः। किंचाहं भृत्य एव राजा तु सततं मत्सेव्य एवेति

स्वप्नं पश्यति राज्येव हेतोर्व्यभिचारात्। न च जाग्रदवस्थायामेव कथायाः प्रवृत्तत्वेन स्वप्नव्यभिचारनिदर्शनमनुचितमेवेति वाच्यम्। तत्रापि दीर्घव्यावहारिकस्वप्नत्वस्येष्टत्वात्। तथा चैतरेयके समाम्नायते "तस्य त्रय आवसथास्त्रयः स्वप्नाः" इत्यादि। बृहद्वासिष्ठेऽपि—

"दीर्घस्वप्नमिमं विद्धि वीर्यं वा चित्तदित्रयम्।
दीर्घमापि मनोराज्यं संसारं रघुनन्दन" ॥ इति

अपि चाबाध्यत्वं हि भेदे बाधविधुरत्वमेव। तथा चान्योन्याश्रयः स्फुटतर एव। किञ्च नेदं सदनुमानम्। हेतोः सत्प्रतिपक्षत्वाद्व्याप्यत्वासिद्धेर्बाधितत्वाच्च। तथाहि परमेश्वरः पारमार्थिकत्वेन जीवादभिन्नः। बुद्धयादिप्रतिबिम्बं तं प्रति मायया बिम्बीभूतत्वात्। आदर्शादिगतमुखप्रतिबिम्बं प्रति ग्रीवास्थमुखवदिति।

तथा हि—"अयं ज्योतिरात्मा विवस्वानपो भिन्ना बहुधैकोऽनुगच्छन्।
उपाधिना क्रियते भिन्नरूपो देवः क्षेत्रेष्वेवमजोऽयमात्मा ॥" इति।
"एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः।
एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत् ॥"

इति च श्रुतिभ्याम्। "आभास एव च" "अत एव चोपमा सूर्यकादिवत्" इति सूत्राभ्यां चानुगृहीतप्रबलप्रत्यनुमानात्सत्प्रतिपक्षता। न च मदनुमानेऽपि सत्य आत्मा सत्यो जीवः सत्यं भिदा सत्यं भिदेत्यस्ति श्रुत्यनुग्रह इति साम्प्रतम्। उक्तवाक्यस्योपलभ्यमानशाखास्वदृष्टत्वेन कल्पितत्वसंभवात्तुष्यतु दुर्जन इति न्यायेन व्यावहारिकभेदपरत्वाद्वा। वस्तुतस्त्वनधिगताबाधितार्थबोधकत्वेनैव तस्य स्वार्थे प्रामाण्ये वक्तव्ये व्यावहारिकप्रामाण्यशालिप्रत्यक्षादिप्रमाणसिद्धस्य भेदस्य "नेह नानाऽस्ति किञ्चन" इत्यादिसु प्रसिद्धश्रुतिबाधितस्य तत्त्वाभावेन तद्बोधने श्रुतेस्तात्पर्याभावेनोक्तव्यावहारिकभेदपरत्वमेव रुदताऽप्यङ्गीकर्तव्यमानन्दतीर्थीयेन। तथा परमेश्वरो जीवाद्भिन्नस्तं प्रति सेव्यत्वादित्याद्यनुमाने मायोपहितत्वमुपाधिः। त्वदभिमते भिन्ने परमेश्वर एव पक्षे मायोपहितत्वात्साध्यव्यापकता। दृष्टान्ते राजनि भृत्यं प्रति सेव्यत्वेऽपि मायोपहितत्वाभावात्साधनाव्यापकतेति सोपाधिकत्वाद्धेतोर्व्याप्यत्वासिद्धिः स्पष्टतमैव। एवं "यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत्" इत्यादिश्रुत्यादिप्रमाणशतेन बाधोऽपि बोध्यः। पराक्रान्तमेवात्र ब्रह्मानन्दसरस्वत्यवधिकप्राचीनाचार्यचरणैः सहस्रधेति विस्तरभिया विरम्यत एव। नन्वेतावताऽविद्यामूलक एव तद्द्वयाप्यंतत्कार्यात्मकः सकलोऽपि द्वैतप्रपञ्चस्तन्निवृत्तिश्च तत्त्वमस्यादिमहावाक्यविचारमात्रजन्येन ब्रह्मात्मैक्यविषयकापरोक्षज्ञानेनैव मुक्तिरितिपर्यवसिते सत्यविद्यामेव भावरूपत्वेन भवत्संमतां न सहन्ते रामानुजाः। तदप्युपपादितं तन्मतं प्रकृत्य सर्वदर्शनसंग्रह एव श्रीमाधवाचार्यैः—"विवादाध्यासितमज्ञानं न ज्ञानमात्रब्रह्माश्रितम्। अज्ञानत्वात्। शुक्तिका ह्यज्ञानवदिति। ननु शुक्तिका ह्यज्ञानस्याऽऽश्रयस्य प्रत्यगर्थस्य ज्ञानमात्र-

स्वभावत्वमेवेति चेन्मैवं शङ्किष्ठाः। अनुभूतिर्हि स्वसद्भावेनैव कस्यचिद्वस्तुनो व्यवहारानुगुणत्वापादकस्वभावाज्ञानावगतिसंविदाद्यपरनामा सकर्मकाऽनुभवितुरात्मत्वं ज्ञानत्वमित्याश्रयणात्। ननु ज्ञानरूपस्याऽऽत्मनः कथं ज्ञानगुणकत्वमिति चेत्तदसारम्। यथा हि मणिद्युमणिप्रभृतितेजोद्रव्यं प्रभावाद्रूपेणावतिष्ठमानं प्रभारूपगुणाश्रयं स्वाश्रयादन्यत्रापि वर्तमानत्वेन रूपवत्त्वेन च प्रभा द्रव्यरूपाऽपि तच्छेषत्वनिबन्धनगुणव्यवहारा। एवमयमात्मा स्वप्रकाशचिद्रूप एव चैतन्यगुणः। तथा च **श्रुतिः**— "स यथा सैन्धवघनोऽनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नो रसघन एवं वा अरे अयमात्माऽनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नः प्रज्ञानघन एव" "अत्रायं पुरुषः स्वयंज्योतिर्भवति" "न हि विज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरिलोपो विद्यते" "अथ यो वेदेदं जिघ्राणीति स आत्मा" "योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः" "एष हि द्रष्टा श्रोता रसयिता घ्राता मन्ता बोद्धा कर्ता विज्ञानात्मा पुरुषः" इत्यादिका। न च "अनृतेन हि प्रत्यूढाः" इत्यादिका श्रुतिरविद्यायां प्रमाणमित्याश्रयितुं शक्यम्। ऋतेतरविषयो ह्यनृतशब्दः। ऋतशब्दश्च कर्मवचनः। "ऋतं पिबन्तौ" इति **वचनात्**। ऋतं कर्म फलाभिसंधिरहितम्। परमपुरुषाराधनतयैव तत्प्राप्यं फलम्। अत्र तद्व्यतिरिक्तसांसारिकाल्पफलकं कर्मानृतं ब्रह्मप्राप्तिविरोधि "य एतं ब्रह्मलोकं न विदन्त्यनृतेन हि प्रत्यूढाः" इति **वचनात्**। "मायां तु प्रकृतिं विद्यात्" इत्यादौ मायाशब्दो विचित्रार्थसर्गकत्रिगुणात्मकप्रकृत्यभिधायको नानिर्वचनीयाज्ञानवचनः।

"तेन मायासहस्रं तच्छम्बरस्याऽऽशुगामिना।
बालस्य रक्षता देहमेकैकं स्वेन सूदितम्॥"

इत्यादौ विचित्रार्थसर्गसमर्थस्य पारमार्थिकस्यैव मायाशब्दाभिधेयत्वोपलम्भात्। अतो न कदाचिदपि श्रुतावनिर्वचनीयाज्ञानप्रतिपादनम् इति। अत्रेदमभिधीयते— यदिदं भवदनुमानमूलीभूतं ज्ञानरूपस्य ब्रह्मणस्तावज्ज्ञानगुणकत्वस्याप्यङ्गीकरणं तत्र दृष्टान्तीकृतं मणिद्युमणिप्रभृतितेजोद्रव्यं च तदेवाऽऽदौ विचार्यते। किं मण्यादेः प्रभाद्रव्यं गुणो वा। नाऽऽद्यः। प्रभारूपगुणाश्रयमिति त्वयैव तस्यागुणत्वोक्तेः। नान्त्यः। स्वाश्रयादन्यत्रापि वर्तमानत्वेन रूपवत्त्वेन च प्रभाद्रव्यरूपाऽपीति तदुत्तरोक्तत्वद्वाक्यविरोधात्। नापि तच्छेषत्वनिबन्धनगुणव्यवहाराऽपीत्यग्रिमग्रन्थस्वारस्यादुभयरूपाऽपीति साम्प्रतम्। त्वदुक्तैव द्रव्यादिपरिभाषा व्युच्छिद्येत। सर्वस्यापि द्रव्यत्वादिसंभवात्। तथा किमसौ भवतो मण्यादेर्भिन्नैव प्रभा संमता। उताभिन्ना। आहोस्विद्भिन्नाभिन्ना। यदा पक्षत्रयविलक्षणा। नाऽऽद्यः। अन्वयादिना तदेकायत्तसत्ताकत्वात्। न द्वितीयः। तदन्यत्रापि वर्तमानत्वेनेति त्वद्वाचैव दत्तोत्तरत्वात्। न हि घटः स्वस्मादन्यत्रापि वर्तते। अत एव न तृतीयोऽपि। एकस्यैव वस्तुनो भिन्नत्वादभिन्नत्वाच्च सर्वसांकर्यात्। नापि चतुर्थः। किं तद्वैलक्षण्यमिति प्रश्नतादवस्थ्यात्प्रभामण्योः कार्यकारणभावस्यावश्यवाच्यत्वेन मणिकार्यीभूतायाः प्रभायाः कारणान्मणेः सकाशाद्भिन्नादिपक्षत्रयवैलक्षण्येऽनिर्वचनवादापत्तेश्च। तस्माद्व्यावहारिकस्वप्रकाश-

मणिद्युमणिप्रभृति तैजसवस्तु प्रभादृष्टान्तेनैवाऽऽत्मनः स्वप्रकाशचिद्रूपस्यापि चैतन्यगुणकत्वमङ्गीकुर्वंस्त्रिदण्डी तत्खण्डने सति कथं नान्वर्थनामा भूयात्। एवं च "साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च" इत्यादिनिर्धर्मकाद्वैतचिन्मात्रात्मतत्त्वप्रतिपादकश्रुतेः स्वारस्येन स यथेत्यादि तदुदाहृतश्रुतीनां चेता न हि विज्ञातुरित्यादिकास्तास्तु गत्यन्तराभावादानर्थक्यप्रतिहतानां विपरीतं बलाबलमिति **न्यायाच्च** तत्परतयैव नेतुं समुचिताः। तथा च विवादाध्यासितमज्ञानं न ज्ञानमात्रब्रह्माश्रितम्। अज्ञानत्वात्। शुक्तिकाज्ञानवदिति **यद्रामानुजा**नुमानं तत्र दृष्टान्तीकृतस्य शुक्तिकाज्ञानस्यापि ज्ञानमात्रस्वभावप्रत्यगाश्रितत्वात्साध्यविकल एव दृष्टान्तः। न चानुभूतिर्हि स्वसद्भावेनैवेत्यादिग्रन्थेन प्रत्यगर्थस्यापि ज्ञानस्वभावत्वेऽपि ज्ञानगुणकत्वस्य साधितत्वेन तत्रापि नैव भावरूपशुक्तिकाविषयकाज्ञानाश्रयत्वं किंतु तद्विषयकज्ञानप्रागभावाश्रयत्वमेवेति वाच्यम्। तत्रापि ज्ञानरूपे प्रति चिज्ज्ञानगुणकत्वसाधकमणिद्युमणिप्रभृतिप्रभादृष्टान्तस्य सद्य एव खण्डितत्वात्। एतेन "य एतं ब्रह्मलोकं न विन्दन्त्यनृतेन हि प्रत्यूढाः" इति श्रुतावनृतपदेन ज्ञानोत्पत्तिप्रतिबन्धककर्मविवक्षया भावरूपाज्ञानखण्डनमपि प्रत्युक्तम्। तद्यथाऽपि "हिरण्यनिधिं निहितमक्षेत्रज्ञा उपर्युपरि संचरन्तो न विन्देयुरेवमेवेमाः सर्वाः प्रजा अहरहर्गच्छन्त्य एतं ब्रह्मलोकं न बिन्दन्त्यनृतेन हि प्रत्यूढाः" इति **पूर्ववाक्यो**पक्रान्तहिरण्यनिधिदृष्टान्तादपि भावरूपाज्ञानस्यैवानृतशब्देन श्रुतेर्विवक्षितत्वात्। तथा हि—तद्यथा यतोऽक्षेत्रज्ञा वक्ष्यमाणहिरण्यनिधिनिधानक्षेत्रशब्दितस्थानविशेषविषयकज्ञानहीनाः पुरुषा उपर्युपरि हिरण्यनिधिनिधानोर्ध्वभूमौ संचरन्तोऽपि तच्छब्दवाच्यं हिरण्यनिधिनिधानस्थलं न विन्देयुर्नैव जानीयुरेवमेवेमाः सर्वाः प्रजा एतं सुषुप्त्यवच्छेदेन साक्षिप्रत्यक्षं ब्रह्मलोकं बृहतेर्धातोरर्थानुगमादिति श्रीमद्भाष्यकारचरणारविन्दवचनात्।

"अव्यावृत्ताननुगतं वस्तु ब्रह्मेति भण्यते।
ब्रह्मार्थो दुर्लभोऽत्र स्याद्द्वितीये सति वस्तुनि॥" इति।

श्रीवार्तिककृत्पादोक्तेश्च चतुर्विधाभावाप्रतियोगिनं स्वप्रकाशमात्मानं प्रतीति यावत्। अहरहः प्रतिदिवसम्। गच्छन्त्योऽपि सुषुप्त्यात्मकतमोगुणाकारपरिणतमूलाज्ञानावृतत्वावच्छेदेन प्राप्नुवन्त्योऽपि। एतं ब्रह्मलोकं निरुक्तरूपमद्वैतात्मानम्। न विन्दन्ति नैव जानन्ति। कुतः। हि यस्माद्धेतोः 'अनृतेन प्रत्यूढाः। माया च तमोरूपाऽनुभूतेस्तदेतज्जडं मोहात्मकमनन्तं तुच्छमिदं रूपमस्यास्य व्यञ्जिका नित्यनिवृत्ताऽपि मूढैरात्मेव दृष्टा" इति **नृसिंहोत्तरतापनीयश्रुतेः** "तुच्छाऽनिर्वचनीया च वास्तवी चेति च त्रिधा। ज्ञेया माया त्रिभिर्बोधैः श्रौतयौक्तिकलौकिकैः" इत्यभियुक्तोक्तेश्च श्रौतदृष्ट्या तुच्छेनापि यौक्तिकदृष्ट्या भावरूपानिर्वचनीयेनोक्ततमोगुणात्मना परिणतेनाज्ञानेन प्रत्यूढाः संव्याप्ता इत्यर्थः। एवं च यथा हिरण्यनिधिरमुकस्थले वर्तत इति तत्क्षेत्रज्ञानमाप्तवाक्यजन्यं प्रथममपेक्षितं तदुत्तरं तत्कामुकस्य तदावरकमृत्तिकापाकरणार्थं खननप्रयत्नस्तदनन्तरं निःशेषं

तदावरणीभूतमृदादिविनिवारणे सा लोकचक्षुःसंनिकर्षेण तत्साक्षात्कारात्तल्लाभः संपद्यते तद्वद्ब्रह्मविषयकं प्राथमिकं परोक्षज्ञानं 'इमाः सर्वाः प्रजा अहरहर्गच्छन्त्य एतं ब्रह्मलोकं न विदन्ति" इति प्रकृतोपनिषद्वाक्यजं सुषुप्त्यवच्छेदेन सकलदृश्याधिष्ठानं ब्रह्म जीवाः सर्वेऽपि प्राप्नुवन्तोऽपि समावृतत्वान्न लभन्त इत्यपेक्षितं तदुत्तरं तत्कामुकस्य तदावरकं सुषुप्तिसाधकगाढतमोगुणात्मना परिणतं सुखमहमस्वाप्सं न किंचिदवेदिषमिति सुप्त्युत्थानोत्तरं जाग्रत्कालिकस्मृत्यन्यथानुपपत्तिसिद्धं "अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः" इतिश्रीमद्भगवदुक्तिसिद्धावरकत्वान्यथानुपपत्तिलब्धभावरूपमुक्तमृत्तिकादृष्टान्तासादिततादृग्रूपं चाज्ञानं निराकर्तुं श्रवणादिप्रयत्नस्तदनन्तरं निःशेषप्रतिबन्धध्वंसे तत्त्वमस्यादिमहावाक्यजन्यब्रह्मात्मैक्यसाक्षात्कारेण द्वैतबाधपूर्वकमूलावरणभावरूपाज्ञानभङ्गः स्वप्रकाशपरमाखण्डाद्वैतानन्दसन्मात्रावशेषलक्षणो मोक्षश्च सिध्यतीति सरल एव पन्थाः। एवं "मायां तु प्रकृतिं विद्यात्" इत्यादौ मायाशब्दः समुदाहृतपौराणवचनेन सत्यार्थपर इत्यपि परास्तम्। माया च तमोरूपेत्याद्युदाहृतश्रुतेरेव तमसोऽन्धकारस्य रूपमिव रूपं स्थाण्वावरणचोरविक्षेपणलक्षणवदावरणविक्षेपशक्तिद्वयशालिस्वरूपं यस्याः सा तथेहि व्युत्पत्त्या स्फुटमेव तस्याः प्रोक्ता ज्ञानरूपत्वात्।

"तरत्यविद्यां विततां हृदि यस्मिन्निवेशिते।
योगी मायाममेयाय तस्मै ज्ञानात्मने नमः"।

इति **स्मृत्या** तु कण्ठत एव तत्राविद्यात्वोक्तेश्च। ननु हिरण्यनिधिदृष्टान्तेऽपि त्वदुक्तरीत्यैव मृत्तिकादिप्रतिबन्धकीभूतावरणस्य खननादिकर्मणैव पूर्वं निरासः पश्चादुक्तनिधेश्चाक्षुषप्रमया तत्प्रागभावरूपाज्ञानध्वंसो यथा संपद्यते तद्वदेव प्रकृतेऽपि श्रवणादिकर्मणाऽनृतशब्दितज्ञानोदयप्रतिबन्धककर्मविशेषनाशे सति ब्रह्मसाक्षात्कारेण तत्प्रागभावात्मकाज्ञानध्वंसः स्यात्तथा च क नामाज्ञानस्यानिर्वचनीयभावरूपत्वम्। एवं च माया च तमोरूपेति श्रुतावपि तमसः पुष्कलालोकाभावरूपत्वेन त्वदुक्तविग्रहरीत्यैवोपमेयीभूतमायायां सत्यत्वाभावेऽप्यभावरूपत्वमेवेति चेन्न। प्रथमवाक्ये तावदावरणापसरणसाक्षात्करणयोस्तुल्यकालत्वात्। यद्यपि दृष्टान्ते निध्यावरकमृत्तिकादेरन्यत्रावस्थानं दार्ष्टान्तिके तु ब्रह्मावरकस्याज्ञानस्य ध्वंस एवेत्याद्यवान्तरविशेषेऽपि निरुक्तसमसमयत्वानपायात्। ज्ञानाभाव एवाज्ञानमिति पक्षस्य तु **सिद्धान्तबिन्द्वादावाचार्यश्चूर्णीकृतत्वान्मयाऽप्यद्वैताभिव्यक्त्यादौ** सामान्येनाभावपदार्थस्यैव निरस्तत्वाच्च। द्वितीयवाक्येऽप्येतेनैव दत्तोत्तरत्वात्तमसः **पूर्वाचार्यैर्भावत्वोपपादनाच्च**। यत्तु तत्त्वमस्यादिवाक्ये जहदजहत्स्वार्थलक्षणायां सोऽयं देवदत्त इति प्रत्यभिज्ञावाक्यं दृष्टान्तत्वेन सर्वत्र **समतमद्वैतशास्त्रे** तत्र वदन्ति। विषमोऽयमुपन्यासः। दृष्टान्तेऽपि विरोधवैधुर्येण लक्षणागन्धासंभवात्। एकस्य तावद्भूतवर्तमानकालद्वयसंबन्धो न विरुद्धः। देशान्तरस्थितिर्भूतासंनिहितदेशस्थितिर्वर्तत इति देशभेदसंबन्धविरोधश्च कालभेदेन परिहार्यः। लक्षणापक्षेऽप्येकस्यैव पदस्य लक्षणाश्रयणेन विरोधपरिहारे पदद्वयस्य लाक्षणिकत्वकक्षीकारो न संगच्छते। अन्यथैकस्य तत्तेदन्ताविशिष्टत्वावगाहनेन प्रत्यभिज्ञायाः प्रामाण्यानङ्गीकारेण

स्थायित्वासिद्धौ क्षणभङ्गवादी **बौद्धो** विजयेतेति । तन्न । विरोधवैधुर्यासिद्धेः । तथाहि— इदं हि संदिहानं प्रति प्रत्यभिज्ञाजनकमाप्तवाक्यमिति तु निर्विवादमेव । तथा च यस्त्वया प्राक्काश्यां परिचितो देवदत्तः सोऽयमिदानीं पञ्चवट्यां समागत इति त्वया पुरोवर्तिनमिमं प्रति कोऽयमिति संदेहो नैव कार्य इति । तथा च प्रत्यक्षेण गृहीतोऽपि पुरोवर्तिब्राह्मणत्वावच्छिन्नश्चेतनपिण्ड एव लुप्तपरिचयं संस्कारत्वेन कोऽयमिति सामान्यतः किं परिचितोऽपरिचितो वेति संशयविषय इति तन्निरासार्थं पूर्वपरिचित-त्वोपलक्षकस्तच्छब्दः प्रत्यक्षदृष्टोक्तपिण्ड एव तत्त्वबोधनार्थं वर्तमानदेशाद्युपलक्षकेदं-शब्दसमानाधिकरणः । सोऽयं देवदत्त इत्याप्तेन प्रयुज्यते । तत्र तद्देशतत्कालयोः प्रकृतबोधने भूतत्वदूरत्वादिना तथैतद्देशकालयोरपि बोधने प्रत्यक्षत्वादिना वक्तु-स्तात्पर्याभावात्संदिग्धोक्तपिण्डमात्रविबोधने तात्पर्यात्तस्य चोक्तभूतादिवाचिप्रयोग-मन्तरासंभवाभावाच्चोक्तलाक्षणिकोभयपदघटितः सोऽयं देवदत्त इति समुचित एव प्रत्यभिज्ञावाक्यप्रयोगः । एवं चात्र तच्छब्देदंशब्दयोः शक्यार्थौ तावद्भूतकालदूर-देशावच्छिन्नवर्तमानकालसंनिकृष्टदेशावच्छिन्नोक्तचेतनपिण्डाविति तु सर्वसम्मतमेव । तयोः सामानाधिकरण्यस्य स्पष्टमेव विरुद्धत्वम् । यदप्येकस्य तावद्भूतवर्तमानकाल-द्वयसम्बन्धो न विरुद्ध इत्युक्तं तत्तथैव परं तु वैयधिकरण्येन । सामानाधिकरण्येन त्वेकस्य भूतादिकालद्वयसम्बन्धो विरुद्ध एव । अन्यथा काले भूतत्वादेरेवासिद्धेरि-दानीं मम भूतकालसम्बन्धो नास्ति भूतकालसम्बन्धे च मम वर्तमानकालसम्बन्धो नाभूदित्याबालकमलासनानुभूतेः । एतेन देशान्तरस्थितिर्भूतेत्यादिना कालभेदेन देशभेदसम्बन्धविरोधपरिहारोऽपि परास्तः । प्रकृतवाक्यप्रतीयमानस्य भूतादिकाल-सामाधिकरण्यस्येव दूरादिदेशसामाधिकरण्यस्यापि विरुद्धत्वानपायात् । यच्चोक्तमेकस्यैव पदस्य लक्षणाश्रयणेन विरोधपरिहारे इत्यादि तत्तुच्छम् । किं तत्पदे लक्षणा इदं-पदे वा । नाऽऽद्यः । भूतकालादिपरित्यागेनोक्तपिण्डमात्रग्रहेऽपीदंशब्दवाच्यवर्तमानकाल-सन्निकृष्टदेशोभयावच्छिन्नोक्तपिण्डेन सह तत्सामानाधिकरण्यबोधने वाक्यस्य प्रत्यक्षादि-गृहीतवर्तमानकालादिज्ञापकत्वेनांशिकाप्रामाण्यापत्तेः । नान्त्योऽपि । प्रत्यक्षादिविरुद्ध-भूतकालादिविशिष्टपिण्डबोधनेन वाक्यस्याप्रामाण्यतादवस्थ्यात् । एकस्य तत्तेदन्तो-भयवैशिष्ट्यविरोधेऽपि तदुपलक्ष्यत्वे न तदभावात्स्थायित्वसिद्ध्या प्रत्यभिज्ञाप्रामाण्येन **क्षणभङ्गवादिविभङ्गसम्भवाच्च** । एतेन तत्त्वमस्यादिवाक्यं न प्रपञ्चबाधकम् । भ्रान्ति-मूलकत्वात् । भ्रान्तिप्रयुक्तरज्जुसर्पवाक्यवदिति तदनुमानमपि प्रयुक्तम् । हेतोर-प्रयोजकत्वात् । तद्यथा स्वप्ने व्याघ्रदर्शनेन तद्भीत्या पलायमानः कश्चित्तत्रैव त्वं स्वकान्तामालिङ्ग्य कुसुमशयने सुखसुप्त एवासीनं स्वप्नमेव व्याघ्रादिलक्षणं पश्यस्यतः शोकं हित्वोत्तिष्ठ सावधानो भवेति समुपदिशन्तं देवदत्तमपि स्वाप्नमेवोपलभ्य देवात्सद्य एव जागरूको वीतशोकश्च भवतीति सुप्रसिद्धमेवेति । तस्माज्जीवाणुत्व-प्रपञ्चतद्भेदसत्यत्वादिना त्रिदण्डिमतमपि माध्वमतवदेव तुच्छमेव । विस्तरस्त्वत्र **सिद्धान्तसिद्धाञ्जने वेदान्तकल्पलतायां** च ज्ञेय इति दिक् । एतेन नास्तिकषड्दर्शनी-

कारास्तर्कद्वयसांख्यद्वयजैमिनीयादयोऽपि व्याख्याताः। भेदवादित्वस्य सर्वत्र समत्वात्। तस्य तु किं भिन्ने भेदो निविशतेऽभिन्ने वा। नान्त्यः। व्याघातात्। न प्रथमः। किं तेनैव भेदेन भिन्ने स भेदो निविशतो भेदान्तरेण वा। आद्ये स्वसिद्धौ स्वापेक्षयाऽऽत्माश्रयः। अन्त्ये सोऽपि भेदो भेदत्वादेव भिन्न एव निविशत इत्यवश्यं वाच्यम्। तथा च यद्यनेन भेदेन भिन्ने स भेदो निविशत इत्युच्येत चेदन्योन्याश्रयः परस्परयापेक्षया भूयात्। तद्धिया तृतीयभेदनिवेशे चक्रकमग्रे त्वनवस्थेत्यादिदूषण-गणनिगिरणं गीर्वाणगुरुणाऽप्यनिवारणीयमेव। प्रपञ्चितं चैतदद्वैतरत्नरक्षणे। विवरिष्यामो वयमप्येतट्टीकायां मुक्तिरमालंक्रियानामिकायामित्यलं प्रसक्तानुप्रसक्त्येति प्रकृतमेवानुसरामः। ननु भवन्त्वेवं दृश्यमिथ्यात्वपूर्वकं दृङ्मात्रात्मत्वमथाप्येतस्य मूलीभूतमात्मनः परप्रेमास्पदत्वमेवासिद्धम्। धिङ्मां मूढमिति प्रत्यक्षानुभूत्या द्वेषस्यैवाऽऽत्मन्युपलम्भात्। सती स्वपतीमृतावात्मद्वेषिणी। अग्निं प्रविष्टत्वात्। व्यतिरेके सुखिवदित्याद्यनुमानेनापि। एवं,

"सितासिते सरिते यत्र संगते तत्राऽऽप्लुतासो दिवमुत्पतन्ति।
ये वै तन्वां विसृजन्ति धीरास्ते जनासो अमृतत्वं भजन्ते॥" इति

श्रौतेन—

"द्वाविमौ पुरुषौ लोके सूर्यमण्डलभेदिनौ।
परिव्राड्योगयुक्तश्च रणे चाभिमुखो हतः॥"

इतिस्मार्तेन चार्थवादेन समुन्नीताद्विधेरपि। मूलीभूतेनामृतत्वकामः प्रयागे सत्यलोकगमनकामोऽभिमुखो रणे च तनुं त्यजेदित्यागमेनापि च। तस्मात्साधारण-प्रेमधामत्वमप्यात्मन्यनुपपन्नं किं पुनः परशब्दितनिरतिशयत्वघटितं तदिति चेन्न। अनुभवविरोधादित्याशयेन तमेव विशदयति—मेत्याद्युत्तरार्धेन। हि यस्मादहमहं-कारोपलक्षितः स्वप्रकाश आत्मा। अनभूवं संहारं प्राप्नुयामिति माऽस्मत्प्रतिः योगिकः प्रध्वंसः कदापि न भवत्वित्यर्थः। किंतु भूयासं सर्वदा मम सत्त्वमेवास्त्विति यावत्। इत्युक्तप्रकारकमित्येतत्। आत्मनि पञ्चकोशसाक्षित्वोपलक्षिताद्वैतसच्चिदानन्दे ब्रह्माभिन्नप्रतीचीत्यर्थः। विषयसप्तमीयम्। ईक्ष्यते स प्रत्यगात्मनि कृमेरपि नित्य-सिद्ध इति प्रागुदाहृतसर्वज्ञात्ममुनीश्वरचरणवचनादखिलैरपि जीवैरनुभूयत एवेत्यन्वयः। एवं च धिङ्मामित्यादि प्रत्यक्षस्य मोहाद्युपाधिविषयकत्वेनानुमानादेर्देह-विषयकत्वेन चान्यथासिद्धत्वमेवेति भावः। नन्वेवमपि प्रत्यक्षेणोपलभ्यमानस्य द्वैतस्य मिथ्यात्वं कथं मन्तव्यम्। न च चन्द्रप्रादेशिकत्वाङ्गुल्याद्यौपाधिकतदीयद्वित्व-मृगजलनभोनैल्यशङ्खीयतपनीयरूपत्वगौडतिक्तत्वप्रतिबिम्बाद्यनेकनिदर्शनैस्तस्य बाधि-तत्वमिति साम्प्रतम्। अर्थक्रियाकारित्वाभावेन तेषां भ्रामिकत्वेऽपि घटः पटो न भवतीति प्रत्यक्षादिप्रामिकस्य भेदस्य जलाहरणाद्यर्थक्रियोपयिकत्वेनातथात्वात्। नापि भेदस्य प्रत्यक्षाद्यविषयतायाः सद्य एवोक्तेर्मैवमिति वाच्यम्। तत्पार्थक्यानुप-

तत्प्रेमाऽऽत्मार्थमन्यत्र नैवमन्यार्थमात्मनि ।
अतस्तत्परमं तेन परमानन्दताऽऽत्मनः ।। ९ ।।

ननु मा भूत्स्वरूपासिद्धिः प्रेम्णः परत्वे मानाभावाद्विशेषणासिद्धिर्हेतोरित्याशङ्क्याऽऽह—

तत्प्रेमेति । अन्यत्र स्वातिरिक्ते पुत्रादौ यत्प्रेम तदात्मार्थं तेषामात्मशेषत्वनिमित्तकमेव न स्वाभाविकमेवमात्मनि विद्यमानं प्रेमान्यार्थं नाऽऽत्मनोऽन्यशेषत्वनिमित्तकं न भवति किन्त्वात्मत्वनिमित्तकमेवातो निरुपाधिकत्वात्तत्परमं निरतिशयं फलितमाह—तेनेति । तेन निरतिशयप्रेमास्पदत्वेनाऽऽत्मनः परमानन्दता निरतिशयसुखरूपत्वं सिद्धम् ।। ९ ।।

पत्तावप्यनुयोग्यादिस्वरूप एव भेद इत्यङ्गीकारे दोषाभावादिति चेन्न । तदसिद्धेः तथाहि—घटादावनुयोगित्वादिकं हि भेदप्रयुक्तमित्यन्योन्याश्रयः । किञ्च त्वन्मते ह्यभावस्य पदार्थान्तरत्वात्सत्यत्वाच्च भेदस्य तद्विशेषत्वेन घटादिस्वरूत्वं सुतरामनुपपन्नमेवेत्यनिर्वचनीयतयैव तन्निर्बंहणमित्यलं पल्लवितेन ॥ ८ ॥

ननूक्तानुभूत्या भवत्वात्मनः प्रेममात्रास्पदत्वमथाप्युक्तसंविद्रूप आत्मा परानन्दः परप्रेमास्पदत्वाद्व्यतिरेके घटवदित्यनुमाने हेतोः स्वरूपासिध्युद्धारेऽपि विशेषणासिद्धिस्तदवस्थैव । किञ्चाऽऽत्मन्यपि प्रेम वस्तुतस्त्वात्यन्तिकदुःखध्वंससाधनीभूतनिरतिशयनिर्विकल्पसमाध्यन्तधर्मार्थमेवेति स्वरूपासिद्धिरपि स्यादित्याशङ्क्य सर्वं यदर्थमिहेति प्रेमानुपाधिरिति च प्रागुदाहृत**संक्षेपशारीरक**श्लोकद्वयाशयमेव विशदयन्समाधत्ते—**तत्प्रेमेति** । त्वदुक्तदुःखनिवृत्तिरप्यात्मसम्बन्धित्वेनैव काम्येत्यावश्यकम् । अन्यथाऽन्यदुःखनिवृत्तावतिप्रसङ्गात् । न च **मदालसा**विरहदुःखिनः स्वपुत्रमित्रस्य **मार्कण्डेयपुराण**प्रसिद्धस्य **कुवलयाश्वस्य** दुःखनिवृत्तिनिदानीभूततत्प्राप्तये **कम्बलाश्वतराख्योरगराजा**भ्यामपि संगीतसाधनसरस्वतीप्रसादसिध्यर्थं तद्द्वारा **श्रीशङ्कर**प्रसादार्थं च तपः संपाद्य ततः साऽपि तथा तस्मै निवेदितेति तदादावन्यः प्रेमविषयः स्वशेषत्वाद्घटवदिति हेतोरनैकान्तिकतेति साम्प्रतम् । "दयाभूतेषु" इति **स्मृते**र्निरुपचरितपरदुःखप्रहरणेच्छारूपायास्तस्या अपि दैवसंपत्पुष्टिद्वारा स्वात्मबोधसाधकत्वेन तत्र स्वशेषत्वाव्यभिचारात् । अत एवाऽऽम्नायते—"न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवत्यात्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति" इत्यादि भूरिपर्यायै**र्मैत्रेयीब्राह्मणे** । अत एव—**नैवमिति** । एवं चाऽऽत्मविषयकं प्रेम परमं निरुपचरितत्वाद्व्यतिरेके पुत्रादिप्रेमवदिति नैव परप्रेमास्पदत्वहेतोर्विशेषणासिद्ध्यादीति फलितकथनेन निगमयति—अत **इत्याद्युत्तरार्धेन** । सिद्धेति शेषः ॥ ९ ॥

इत्थं सच्चित्परानन्द आत्मा युक्त्या तथाविधम् ।
परं ब्रह्म तयोश्चैक्यं श्रुत्यन्तेषूपदिश्यते ॥ १० ॥

एतैः सप्तभिः श्लोकैः प्रतिपादितमर्थं संक्षिप्य दर्शयति—

इत्थमिति । **शब्दस्पर्शादय** इत्यादिना ज्ञानस्य नित्यत्वं प्रसाध्य तस्यैवेयमात्मेत्यात्मत्वप्रसाधनेनाऽऽत्मनः सच्चिद्रूपत्वं साधितं परानन्द इत्यादिना च परमानन्दरूपत्वं समर्थितमत आत्मा महावाक्ये त्वंपदार्थः सच्चिदानन्दस्वरूपः सिद्धः । ननूक्तलक्षणस्याऽऽत्मनो युक्त्यैवावगतावुपनिषदां निर्विषयत्वेनाप्रामाण्यप्रसंग इत्याशङ्क्याऽऽह—**तथाविधमिति** । तथा तादृग्विधा प्रकारो यस्य तत्तथाविधम् । सच्चिदानन्दरूपं परं ब्रह्म तत्पदार्थस्तयोस्तत्त्वपदार्थतोरैक्यमखण्डैकरसत्वं च श्रुत्यन्तेषु वेदान्तेषूपदिश्यते प्रतिपाद्यतेऽतो न वेदान्तानां निर्विषयत्वमित्यर्थः ॥ १० ॥

नन्वेवं शब्दस्पर्शादयो वेद्या इत्यादिपञ्चभिः श्लोकैः श्रीमद्वार्तिककारसंमतसाक्षिलक्षणेश्वरस्य तत्पदवाच्यत्वोपलक्षितचिन्मात्रं स्वरूपं निर्णीय 'अयमात्मा' इत्यादिद्वयेनाऽऽत्मपदेष्टत्वं पदवाच्यजीवशब्दितबुद्धिप्रतिबिम्बितचिदाभासत्वोपलक्षितचिःमात्रेण सहैक्यमप्यस्याद्वैतसच्चिदानन्दलक्षणं निरूपितयुक्त्यैव सिद्धं तथा तत्रान्तरीयकतयैवाखिलद्वैतस्यापि तन्मात्राश्रयविषयकानादिभावरूपानिर्वचनीयाज्ञानाधीनत्वेन स्वतः सत्ताशून्यत्वलक्षणं मिथ्यात्वमपि दृश्यत्वहेतुकं सिद्धमेवेत्यतः किमवशिष्टं "अविद्यास्तमयो मोक्षः स च बन्ध उदाहृतः" इति वार्तिकोक्ताविद्याध्वस्तिलक्षणमुक्तिसिद्धये तस्याः प्रोक्तमहावाक्यार्थजीवब्रह्मैक्यविषयकप्रमयैव सिद्धत्वादतः किमग्रिमग्रन्थेनेति चेत्सत्यम् । निरुक्तैक्यस्याऽऽर्थिकमहावाक्यार्थत्वसिद्धावपि शाब्दिकतदसिद्धेरित्यभिसंधायोक्तानुवादेन तामभिधत्ते—**इत्थमिति ।** तत्र त्वंपदार्थीभूतस्यैवोक्तमुक्तिभाक्त्वेन तदवबोधार्थमेव शास्त्रस्य प्रवृत्तत्वात्प्रथमं शोधितं तत्स्वरूपमनुवदति—**सदित्यादिना ।** सत्त्वं त्रिकालाबाध्यत्वम् । चित्त्वं स्वप्रकाशत्वम् । परानन्दत्वं निरुपचरितप्रीतिविषयत्वम् । नन्वेवं लक्षणभेदात्सदाशिवस्तु भेदे कथं कर्मधारयेणैक्यबोधकमेकवचनं कथं वाऽऽत्मपदार्थोद्देश्यकतदभेदविधानं चेति चेन्न । वास्तविकवस्त्वेकरसत्वेऽपि व्यावर्त्य विनश्वराभासमानानानन्दानात्मत्रिविधपरिच्छेदावच्छिन्नबन्धव्यावृत्त्यैव तत्सार्थक्यादभेदेऽपि खण्डशर्करादौ शुक्लवर्तुलमधुरशिशिरादिपदप्रयोगवदुपपत्तेश्च । युक्त्याऽनुमित्यनुगृहीतानुभूत्येत्यर्थः । सिद्ध इति शेषः । अथ तादृशं तत्पदार्थमपि कथयति—**तथाविधमित्यादिना ।** अथैक्यमनयोः समतमरूपयोरुपनिषत्सु सर्वास्वपि बोध्यत इत्याह— **तयोश्चेत्यादिशेषेण** ॥ १० ॥

अभाने न परं प्रेम भाने न विषये स्पृहा ।
अतो भानेऽप्यभाताऽसौ परमानन्दताऽऽत्मनः ॥ ११ ॥

आत्मनः परमानन्दरूपत्वमाक्षिपति—

अभाने इति । परमानन्दरूपत्वं न भासते भासते वा । अभानेऽप्रतीतौ न परं प्रेमाऽऽत्मनि निरतिशयस्नेहो न स्याद्विषयसौन्दर्यज्ञानजन्यत्वात्स्नेहस्य । भाने प्रतीतौ तु विषये सुखसाधने स्वर्गादौ तज्जन्ये सुखे वा स्पृहा इच्छा न स्यात्फलप्राप्तौ सत्यां साधनेच्छानुपपत्तेः । नित्यनिरतिशयानन्दलाभे सति क्षणिके साधनपारतन्त्र्यादिदोषदूषिते वैषयिके सुखे स्पृहायोगाच्च । तस्मान्नाऽऽनन्दरूपताऽऽत्मन उपपन्नेति प्रकारान्तरस्यात्र संभवान्मैवमिति । परिहरति—**अत इति** । यतो भानाभानपक्षयोरुभयोरपि दोषोऽस्त्यतः कारणादात्मनोऽसौ परमानन्दता भानेऽपि प्रतीतौ सत्यामप्यभाता न प्रतीता भवति ॥ ११ ॥

नन्वेवं यदि त्वंपदलक्ष्य आत्मा नित्यापरोक्षः परमानन्दरूप एव तर्हि निरुक्तविचारजन्यबोधात्प्रागपि नित्यापरोक्षरूपस्य तस्य सा परमानन्दरूपता भावरूपाऽनाद्यनिर्वचनीया विद्याऽऽवृतेत्यवश्यं वक्तव्यम् । बाढं वक्तव्यमेव । अत एवोक्तं **स्वानुभवादर्शे** ।

"सत्ता स्फुरत्ता परमात्मनो या नाऽऽच्छाद्यते सा ह्युपजीव्यभावात् ।
आनन्दमाच्छादयतीव माया तन्नाशने तत्त्वमसीति वाक्यम् ॥" इति ।

मैवम् । तथात्वे परप्रेमास्पदे यत इत्यादिनोक्तहेत्वसिद्ध्यापत्तिरिति शङ्कते—**अभान इति प्रथमपादेन** । एवं तर्हि निरुक्तहेतुघटकानुभूत्यादिनाऽसौ भात्येव परं त्वद्वैतब्रह्माभिन्नत्वेन न भाति तदावरणसंभवादित्यपि मन्दमेव । निरुक्तावरणस्य ब्रह्मात्मैक्यमात्रविषयकत्वात् । तथा चाऽऽत्मनः परमानन्दता भात्येवेति चेन्न । विषयस्पृहानुपपत्तेरिति सिद्धान्त्येव शिष्यं प्रति निरुक्तबोधदार्ढ्यार्थं स्थूणानिखननन्यायेन गूढाभिसन्धिराक्षिपति—**भान इति द्वितीयपादेन** । तथा च श्रूयते—"किं प्रजया करिष्यामो येषां नोऽयमात्माऽयं लोकः" इति । अयमर्थः—अत्र वयमित्यार्थिकम् । ब्रह्मनिष्ठा वयम् । प्रजया त्रिभिरऋणवा जायते ब्रह्मचर्येण ऋषिभ्यो यज्ञेन देवेभ्यः प्रजया पितृभ्य इति श्रुतेः पितृभ्यः सकाशादनृणत्ववत्त्वार्थं संपादनीयपुत्रादिसन्तत्येति यावत् । किं करिष्यामो न किंचिदपि प्रयोजनं संपादयिष्याम इत्यर्थः । नन्वेवं चेदुक्तश्रुत्युक्तः प्रजैकसाध्यः पित्रृणनिर्मोकस्तत्प्रयोजनीभूतो बाध्येतेति चेन्न । तस्या श्रुतेः संतत्यविच्छेदेन तत्तत्पित्रादीनां क्रमाद्वसुरुद्रादित्यरूपतालक्षणतत्तद्देवतातादात्म्येनार्चिरादिमार्गद्वारा ब्रह्मलोकावाप्त्या संजाततत्प्रसादादस्यापि पितृलोकादिप्राप्त्येकपरत्वात्तस्य तु वैषयिकसुखविशेषफलकस्य मनुष्यानन्दमारभ्य हिरण्यगर्भान्तानां वैषयिकानन्दानां सुप्रसिद्धतैत्तिरीयकोपनिषदा

अध्येतृवर्गमध्यस्थपुत्राध्ययनशब्दवत् ।
भानेऽप्यभानं भानस्य प्रतिबन्धेन युज्यते ।। १२ ।।

नन्वेकस्य युगपद्भानाभाने न युज्येते इत्याशङ्क्य किमिदमयुक्तत्वम-दृष्टचरत्वमुपपत्तिरहितत्वं वा ? नाऽऽद्य इत्याह—

अध्येतृवर्गेति । अध्येतॄणां वेदपाठकानां वर्गः समूहस्तस्य मध्ये तिष्ठतीत्यध्येतृवर्गमध्यस्थः स चासौ पुत्रश्चेति तथा । तस्याध्ययनं तत्कर्तृकं पठनं तस्या शब्दो ध्वनिर्यथा बहिःस्थस्य पितुर्भासमानोऽपि सामान्यतो न भासते विशेषतोऽयं मत्पुत्रध्वनिरिति । तथाऽऽनन्दस्यापि भानेऽप्यभानं भवतीत्यर्थः । द्वितीयं प्रत्याह—**भानस्येति ।** भानेऽप्यभानमित्येतदत्राप्यनुषञ्जनीयम् । भानस्य स्फुरणस्य प्रतिबन्धेन वक्ष्यमाणलक्षणेन भानेऽप्यभानसामान्यतः प्रतीतावपि विशेषाकारेणाप्रतीतिर्युज्यते उपपद्यत इत्यर्थः ।। १२ ।।

ब्रह्मनिष्ठानन्देऽन्तर्भाववादिन्या कैमुत्यादेवाऽऽत्मसुखेऽन्तर्भावितत्वसिद्धेश्चेत्याशयेनाऽऽह—येषामित्यादिना । येषां नोऽयं स्वप्रकाशत्वान्नित्यापरोक्षः । आत्मैवायं निरुक्तस्व-प्रकाशाभिन्नो लोकः सुखविशेषोऽस्तीत्यतः किं प्रजया करिष्याम इति पूर्वेणान्वय इति । अत एवाऽऽदर्शकारैप्याच्छादयतीवेत्युक्तम् । एवं च निरुक्तविषयस्पृहाविरहस्तु नैवोपलभ्यत इत्युभयतः पाशारज्जुरियमित्यत्याकुलं शिष्यमाकलय्य सिद्धान्ती स्वाभिसंधिमुद्घाटयति—**अत इत्याद्युत्तरार्धेन ।** अतः पक्षद्वयस्यापि प्रतिक्षिप्तत्वात् । असावियमात्मा परानन्द इत्यादिना प्रागुक्तेत्यर्थः । आत्मनः परमानन्दता । भानेऽपि निःसामान्यविशेषेऽप्यविद्याकल्पितसामान्यविशेषभावे तस्मिन्सामान्यतः परप्रेमान्यथानुप-पत्तिलक्षणप्रथमपक्षोक्तहेतोः परिस्फुरणे सत्यपीत्यर्थः । अभाता ।

"विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः ।
रसवर्ज्यं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥"

इति भगवदुक्ताद्वैतात्मसाक्षात्कारफलीभूतविषयस्पृहाभावाभावान्यथानुपपत्ति-लक्षणद्वितीयपक्षोक्तहेतोर्विशेषतः श्रुत्याद्युक्तज्ञानफलीभूतनिखिलविषयस्पृहाभावप्रयोजका-खण्डत्वेनाभाता भवतीत्यन्वयः । तस्माद्विषयसुखतत्साधनधनवनितादिनिःस्पृहत्वमेव तत्त्वसाक्षात्कारे प्रतिबन्धविधुरतायाः सिद्धान्तिसम्मतं लिङ्गमस्तीत्याकूतम् । तथा चायं प्रयोगः—तत्त्वनिष्ठः सकलविषयादिनिःस्पृहः । लब्धपरमानन्दत्वात् । व्यतिरेके कामुकवदिति । उपपादयिष्याम एवमेवाग्रेऽपीति शिवम् ॥ ११ ॥

ननु परमानन्दतायाः प्रकृतात्मनिष्ठायाः प्रागुक्ते तुल्यकालावच्छेदेनाप्यभिहिते भानाभाने अनुपपन्ने एवेत्याशङ्क्य स्वप्रकाशात्मसुखभानस्य चिन्मात्रवस्तुनोऽध्येतृशब्द-

प्रतिबन्धोऽस्तिभातीति-व्यवहारार्हवस्तुनि ।
तन्निरस्य विरुद्धस्य तस्योत्पादनमुच्यते ।। १३ ।।

कोऽसौ प्रतिबन्ध इत्यत आह—

प्रतिबन्ध इति । अस्तिभातीतिव्यवहारार्हवस्तुनि । अस्ति विद्यते भाति प्रकाशत इत्येवंप्रकारं व्यवहारमर्हतीत्यस्तिभातीतिव्यवहारार्हं, तच्च तद्वस्तु चेति तथा तस्मिन् । तं पूर्वोक्तं व्यवहारं निरस्य निराकृत्य विरुद्धस्य नास्ति न भातीत्येवंरूपस्य व्यवहारस्योत्पादनं जननं प्रतिबन्ध इत्युच्यते ।। १३ ।।

वाच्यवेदादिपठनशीलमाणवकनिकरगतस्याध्यापयितुः पुत्रस्याध्ययनशब्दवत् । मानेऽपि सूर्यत्वेन सामान्यतः स्फुरणवत्परिज्ञानेऽप्यभानमखण्डानन्दत्वेन पक्षे स्वपुत्रध्वनित्वेन पक्षान्तरे स्वर्णश्मश्रुत्वाद्यवच्छिन्नेश्वरलीलाविग्रहविशेषत्वेन चाप्रमापणम् । प्रतिबन्धेन कारणसामग्रीसत्त्वेऽपि कार्याजनकवस्तुरूपेण मूलज्ञानेन पक्षेऽन्याध्येतृशब्दसमुच्चितत्वेन पक्षान्तरे प्रभाप्राचुर्यादिना च युज्यते समुपपद्यत एवेति समाधत्ते—**अध्येतृवर्गेति ।** अत्रायं प्रयोगः—स्वप्रकाशात्माभिन्ननिरतिशयानन्दता । सामान्यतो भासमानत्वे सति विशेषतोऽनवभासमाना । प्रतिबद्धत्वात् । अध्येतृवर्गमध्यस्थपुत्राध्ययनशब्दवत्सूर्यमण्डल-मध्यगहिरण्यश्मश्रुत्वादिशालीशलीलाविग्रहविशेषवच्चेति ॥ १२ ॥

ननु किं लक्षणमादौ प्रतिबन्धस्येत्यतस्तदाह—**प्रतिबन्ध इति । अस्तीत्यादि ।** तमस्तीत्यादिव्यवहारमित्यर्थः । निरस्य निरुद्ध्य । तस्यास्तीत्यादिव्यवहारस्य । विरुद्धस्य निरुक्तव्यवहारस्येति यावत् । उत्पादनमेव प्रतिबन्धः प्रकृतेऽस्माभिरुच्यत इत्यार्थिकं संपूर्य सम्बन्धः । न च पूर्वपद्ये कारणसामग्रीसत्त्वेऽपि कार्याजनकवस्तुरूपत्वं तत्सामान्यलक्षणं त्वयैवोक्तं तत्तु नैव मूलकृतां सम्मतमिति साम्प्रतम् । लक्षणस्य लक्षणान्तरादूषकत्वान्मूलाज्ञानमात्रकर्तृकप्रकृतप्रतिबन्धेऽल्पधियां क्षिप्रं लक्षणसमन्वयार्थं मूले तथा लक्षणे कृतेऽपि मया तदाशयं संगृह्यैवोक्तलक्षणस्य लघुतरस्यं कृतत्वाच्च । न चैवमपि तावके तल्लक्षणे धर्मित्वं प्रतीयते मूले तु धर्मत्वमेवेति स्फुट एव विरोध इति समभिधातव्यम् । सिद्धान्ते धर्मधर्मिभावस्य तादात्म्येन वस्तुतरत्वभेद एव पर्यवसानात् । नापि त्वल्लक्षणं प्रकृतेऽव्याप्तं मूलाज्ञाने मिथ्यात्वेन वस्तुरूपत्वाभावादिति वाच्यम् । वस्तुनाबाधितेन सन्मात्रेण ब्रह्मणैव रूप्यते स्वसत्ताप्रदानेनास्त्यज्ञानमिति स्वाध्यस्ततयैव भास्यत इति व्युत्पत्त्या तस्य स्वतःसत्ताशून्यत्वेन मिथ्यात्वानपायात् । नन्वेवमपि मूलोक्तलक्षणं मण्यादिकृतवह्न्यादिकर्तृकदाहादिकार्यप्रतिबन्धेऽव्याप्तं तत्र लक्षणा समन्वयादिति चेन्न । अस्ति वह्निजन्यो दाहः स्पष्टं भाति च स इत्यादि व्यवहारार्हवस्तुनि वह्नौ तादृशं व्यवहारं निरस्य नास्ति वह्निजन्यो दाहो न भाति चेति

तस्य हेतुः समानाभिहारः पुत्रध्वनिश्रुतौ ।
इहानादिरविद्यैव व्यामोहैकनिबन्धनम् ।।१४।।

उक्तलक्षणस्य प्रतिबन्धस्य कारणं दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोः क्रमेण दर्शयति—**तस्येति** । पुत्रध्वनिश्रुतौ पुत्रध्वनिश्रवणलक्षणे दृष्टान्ते तस्य प्रतिबन्धस्य हेतुः कारणं समानाभिहारो बहुभिः सह पठनम् । इह दार्ष्टान्तिके व्यामोहैकनिबन्धनं व्यामोहानां विपरीतज्ञानानामेकनिबन्धनं मुख्यं कारणमनादिरुत्पत्तिरहिताऽविद्या वक्ष्यमाणलक्षणा प्रतिबन्धस्य हेतुरित्यर्थः ।।१४।।

तद्विरुद्धव्यवहारोत्पादनसत्त्वात् । ननु प्रतिबन्धलक्षणस्यैव भानेऽप्यभानं भानस्य प्रतिबन्धेन युज्यत इति प्राक्तनग्रन्थेनाकाङ्क्षितत्वाद्यथामूलकारैस्तल्लक्षणमेवोक्तं तथा तत्तात्पर्यानुसारेण त्वयाऽपि लघुतरं तल्लक्षणमेव वक्ष्यतां न तु प्रतिबन्धकलक्षणं तस्यानाकाङ्क्षितत्वादिति चेत्तर्हि तत्रैवोत्तरदले ककारस्थले तावन्नकार एव पठनीयः । तथा च कारणसामग्रीसत्त्वेऽपि कार्याजननवस्तुरूपत्वं प्रतिबन्धत्वमिति तत्सामान्यलक्षणे पर्यवसन्नेन धर्मधर्मिभावतादात्म्यादिकल्पनागौरवादिति दिक् । न च प्रतिबन्धकाभावस्यापि कारणकोटिनिविष्टत्वादसंभूतमेवोक्तलक्षणमपीत्याक्षेप्तव्यम् । अभावस्य कारणत्वानङ्गीकारात् । न चैवं तर्हि प्रागभावस्यापि कारणत्वं न स्यात्तथा चोत्पन्नोऽपि घटः पुनरुत्पद्येतेत्यापादनीयम् । कारणीभूतोत्पन्नघटसामग्र्यभावादेव तदीया पुनरुत्पत्तिरिति समाधिसम्भवात् । समर्थितं चैतत्प्राचीनाचार्यचरणैः प्रचुरतरमाकरादावित्युपरम्यत एवेह । एतेन कारणीभूताभावप्रतियोगित्वं प्रतिबन्धकत्वमिति तार्किकोक्तप्रतिबन्धकलक्षणमपि प्रत्युक्तं । तस्य तन्मतरीत्यैव कार्य एवातिव्याप्तत्वात् । मतान्तरे त्वभावस्याकारणत्वेनासम्भवाच्च । एवं च प्रतिबन्धकस्यापि प्राक्तनं यावत्सामग्रीसत्त्वे कार्याजनकत्वं प्रतिबन्धकत्वमिति मदुक्तलक्षणमेव प्रेक्षकविवक्षणीयमिति संक्षेपः ।। १३ ।।

ननु भवत्वेवं प्रतिबन्धलक्षणादिकमथापि प्रतिपादितप्रतिबन्धस्य दृष्टान्ते दार्ष्टान्तिके च किं कारणं निरुक्तप्रतिबन्धकलक्षणलक्षितमित्याशङ्क्य समाधत्ते—**तस्येति** । **पुत्रेति** सुतशब्दीयस्पष्टश्रवणलक्षणकार्ये विषय इत्यर्थः । पितुरध्यापयितुरित्यार्थिकम् । **समानेति** । अन्यमाणवकैः सह शब्दोच्चार इत्यर्थः । एवं दृष्टान्ते प्रतिबन्धकमभिधाय दार्ष्टान्तिके तमभिधत्ते—**इहेति** । स्वप्रकाशात्मभूताया अपि परमानन्दतायाः सामान्यतः परमानन्दता प्रयोजकपरप्रेमास्पदत्वेन भानसत्त्वेऽप्यखण्डत्वलक्षणविशेषेणाभाने विषय इति यावत् । अविद्यैवास्तीति शेषः । नन्वस्या अपि को हेतुरित्यतस्तां विशिनष्टि—**अनादिरिति**

"अनादिमायया सुप्तो यदा जीवः प्रबुध्यते ।
अजमनिद्रमस्वप्नमद्वैतं बुध्यते तदा ।।"

चिदानन्दमयब्रह्मप्रतिबिम्बसमन्विता ।
तमोरजःसत्त्वगुणा प्रकृतिर्द्विविधा च सा ।। १५ ।।

इदानीं प्रतिबन्धहेतुभूतामविद्यां प्रतिपादयितुं तन्मूलभूतां प्रकृतिं व्युत्पादयति —

चिदानन्देति । यच्चिदानन्दरूपं ब्रह्म तस्य प्रतिबिम्बेन प्रतिच्छायया समन्विता युक्ता । तमोरजःसत्त्वगुणा सत्त्वरजस्तमोगुणानां साम्यावस्था या सा प्रकृतिरित्युच्यते । सा च द्विविधा द्विप्रकारा भवति । चकाराद्वक्ष्यमाणं प्रकारान्तरं सूचयति ।। १५ ।।

इति श्रुतेः प्रागभावाप्रतियोगिनीत्यर्थः । नन्वेवमपि किं ज्ञानाभावरूपा सेति तत्रापि पुनस्तां विशिनष्टि—**व्यामोहेति ।** विशेषेण सत्यत्वादिरूपेणाऽऽसमन्तान्मोहयति मुह वैचित्य इतिधातोरहिततत्साधनेऽपि हिततत्साधनधियं जनयतीति तथा यावत्सादि-दृश्यप्रपञ्च इत्यर्थः । तमेकं केवलं नितरां व्याप्य जीवेश्वरादिदृश्यचतुष्टयेतरदृश्यत्वलक्षण-कार्यत्वेन बध्नाति रचयतीति तथेत्येतत् । अत्र निबन्धनशब्दस्याजहल्लिङ्गत्वात्क्लीबत्वे-ऽप्यविद्याविशेषणत्वं "लिङ्गसंख्याविभेदेऽपि विशेषणविशेष्यता । विभक्तिः पुनरेकैव विशेषणविशेष्ययोः" इति वचनादेव । एवं चाऽऽकाशादिभावरूपजन्यदृश्यलक्षणकार्य-निरूपितपरिणाम्युपादानकारणत्वेन तस्यां भावरूपत्वमेवेति भावः । अत्राविद्यैवेत्यव-धारणेन वासनापूर्वापरनाम्नोः संस्कारसुकृतादिरूपयोः कामकर्मणोर्व्युदासः । अत एवाऽऽहुः श्रीमत्सुरेश्वराचार्यचरणाः—"अविद्यास्तमयो मोक्षः सा च बन्ध उदाहृतः" इति ।। १४ ।।

ननु "मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्" इति "तम आसीत्तमसा गूढमग्रे" इति "अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः" इति "कार्योपाधिरयं जीवः" इति च श्रुतिभ्यो मायोपहितो मायाभासितो मायाप्रतिबिम्बितो मायावच्छिन्नोऽविद्योपहितो-ऽविद्याभासितोऽविद्याप्रतिबिम्बितोऽविद्यावच्छिन्नश्चेत्यष्टमूर्तिरेवेश्वरस्तथाऽविद्योपहितादि-चतुर्भेदभिन्नो बुद्ध्युपहितादिचतुर्भेदभिन्नश्चेत्यष्टमूर्तिरेव जीवश्च प्राचीनाचार्यचरणैः स्वस्वाभिमतत्वेन संवर्णितस्तत्र कीदृशौ तावेवाऽऽदौ तत्त्वंपदवाच्यौ प्रकृते मूलकृताम-भिमतौ । न च वदिष्यन्त्येव तेऽनुपदमेव तौ स्पष्टमिति वाच्यम् । एतदेककृतचित्र-दीपोक्ततत्सरण्या सह प्रकृतप्रकरणवक्ष्यमाणजीवादिसरणेर्विरुद्धत्वात् । तस्मात्किमत्र तत्त्वमिति चेन्न । वक्ष्यमाणचित्रदीपव्याख्यान एवैतद्ग्रन्थोक्तजीवेश्वरस्वरूपसिद्धान्तेन सह विरोधमाशङ्क्य परिजिहीर्षितत्वात्प्रकृते तु प्रतिबन्धकत्वेनोक्ताविद्याया एवा-काङ्क्षितत्वेन तामवतारयति—**चिदानन्देति ।** मृन्मयो घटस्तन्तुमयः पट इत्यादौ स्वार्थेऽपि मयटो दृष्टत्वात्स्वप्रकाशसंविदभिन्नापरिच्छिन्नस्वसुखप्रतिबिम्बैकायत्तसत्ता-

सत्त्वशुद्ध्यविशुद्धिभ्यां मायाविद्ये च ते मते ।
मायाबिम्बो वशीकृत्य तां स्यात्सर्वज्ञ ईश्वरः ।। १६ ।।

सहेतुकं द्वैविध्यमेव दर्शयति—

सत्त्वेति । सत्त्वस्य प्रकाशात्मकस्य गुणस्य शुद्धिर्गुणान्तरेणाकलुषीकृतता अविशुद्धिर्गुणान्तरेण कलुषीकृतत्वं ताभ्यां सत्त्वशुद्ध्यविशुद्धिभ्याम् । ते च द्विविधे मायाविद्येति मायेत्यविद्येति च मते सम्मते । विशुद्धसत्त्वप्रधाना माया मलिनसत्त्वप्रधानाऽविद्येत्यर्थः । यदर्थं मायाविद्ययोर्भेद उक्तस्तदिदानीं दर्शयति—**मायाबिम्ब इति** । मायाबिम्बो मायायां प्रतिफलितश्चिदात्मा तां मायां वशीकृत्य स्वाधीनीकृत्य वर्तमानः सर्वज्ञत्वादिगुणक ईश्वरः स्यात् ।। १६ ।।

केत्यर्थः । एतेन तस्याः स्वतः सत्ताशून्यत्वेन मिथ्यात्वमुक्तं भवति । अन्यथा वक्ष्यमाणरीत्या मायादिप्रतिबिम्बस्यैवेश्वरादिस्वरूपकथनार्थमवश्यापेक्षितत्वेन तदुभयमूलीभूतत्वेन प्रकृतिपदवाच्यायास्तस्याः सच्चिदानन्दात्मब्रह्मप्रतिबिम्बवत्त्वकथने प्रयोजनाभावाद्यदि मायादौ ब्रह्मप्रतिबिम्ब ईश्वरादिस्तर्हि तन्मूलीभूतप्रकृतौ ब्रह्मप्रतिबिम्बः क इति प्रश्नसंभवाच्च । नन्वास्तामेवं जीवाद्युपाधिमूलीभूतत्वेन प्रकृतेस्तुच्छत्वव्यावृत्तये ब्रह्मप्रतिबिम्बवत्त्वकथनमथापि सांख्यवत्तस्यास्त्रैगुण्यकथनमौपनिषदानामनुचितमेवेतिचेन्न । "अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णाम्" इति **श्रुतौ** "सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसंभवाः" इति **स्मृतौ** च तस्या जीवाद्युपाध्यर्थमेव त्रैगुण्यकथनादित्याशयेन पुनस्तां विशिनष्टि—**तम इत्यादिना** । अत एव जीवेश्वरजगदाख्यदृश्यमूलत्वसिद्धये पुनस्तद्विभागमपि समभिधत्ते—**द्विविधा चेति** । सा निरुक्तप्रकृतिः । द्विविधा शुद्धसत्त्वप्रधाना मलिनसत्त्वप्रधाना चेति द्विप्रकारेत्यर्थः । एतेनेशाद्युपाधित्वं तत्र क्रमाद्ध्वन्यते । चकारात्तमःप्रधाना ।। १५ ।।

ननु भवत्वेवं द्विविधा च सेति चकाराद्दृश्यपरिणाम्युपादानीभूतायाः प्रकृतेर्जडजगदुपादानीभूतत्वेन ।

"तमःप्रधानप्रकृतेस्तद्भोगायेश्वराज्ञया ।
वियत्पवनतेजोऽम्बुभुवो भूतानि जज्ञिरे ।।" इति ।

वक्ष्यमाणत्वात्तमःप्रधानस्तृतीयोऽपि भागस्तथाऽपि किं प्रकृते प्रत्यगात्मनः परमानन्दताभानप्रतिबन्धकत्वेन विवक्षिते "इहानादिरविद्यैव" इत्यादिना प्रतिज्ञातेऽविद्याख्यवस्तुनि तत्स्वरूपजिज्ञासोर्ममागतमित्याशङ्क्याभ्यर्हितत्वेन प्रथमं चेतनोपाधित्वेनप्रतिज्ञातस्य प्रकृतिभागद्वयस्य सहेतुकं स्वरूपलक्षणमीश्वराद्युपाधिभेदेन क्रमात्तत्संज्ञा-

द्वयं च कथयन्समाधत्ते—**सत्त्वेत्यादिपूर्वार्धेन**। एवं च रजस्तमोनभिभूतसत्त्वप्रधान-स्वगतचित्प्रतिबिम्बकल्पितद्वैतपरिणाम्युपादानत्वं मायात्वं तदभिभूततत्प्रधानस्वगति-चित्प्रतिबिम्बकल्पितद्वैतपरिणाम्युपादानत्वमविद्यात्वमिति तल्लक्षणे फलिते स्तः। अत्राऽऽद्ये सत्त्वेत्याद्येवोक्तेऽविद्यायां व्यभिचारस्तद्वारणायानभिभूतेति। द्वैतपरिणामीत्या-द्येकोक्तौ वृश्चिकादिपरिणाम्युपादाने गोमयादावतिव्याप्तिव्यावृत्तये कल्पितान्तम्। एवमसम्भवभङ्गार्थं स्वगतेत्यादि। तद्वद्द्वितीयलक्षणेऽपि मायादौ व्यभिचारादिवारणं तत्तत्पदकृत्यं द्रष्टव्यम्। ननु निरुक्तद्वैतप्रकृता "अजामेकाम्" इत्यादिश्रुतेः "प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि" इत्यादिस्मृतेश्चानादिरूपायामपि तस्यां सत्त्वादि-गुणानां निरुक्तशुध्यादिलक्षणपरिणामयितृत्वं तु शुद्धब्रह्मण्येव वक्तव्यम्। चिदानन्दम-येत्यादिनोक्ततत्प्रतिबिम्बस्य तु साधारण्येन तत्सत्तादिमात्रप्रयोजकत्वेनोपक्षीणत्वादी-श्वरादेश्च तद्विभाजकसत्त्वादिशुद्धिसिद्धमायाद्यधीनप्रतिबिम्बरूपत्वेन तद्व्याप्यत्वाच्च। तत्त्वनिष्ठमेव। अपसिद्धान्तात्परिणामयितृत्वधर्मे शुद्धत्वाभावाच्च। न च बिम्बत्व-साक्षित्वादिवत्तदपि स्यादिति वाच्यम्। तयोरसङ्गत्वेऽपि सम्भवादिति चेत्सत्यम्। ईश्वरस्यैव तत्परिणामयितृत्वाङ्गीकारादनादित्वेन परस्पराश्रयाद्यभावाच्चेति भावः। ते द्विविधे प्रकृती इति। उक्तं हि **बोधैक्यसिद्धौ** मयैवमेवैतन्मतम्—

"मायाविद्ये जायत एषा स्वयमेव श्रुत्यां जीवस्तल्लवगः क्व प्रतिबिम्बः। एवं भ्रान्तः सत्त्वविशुध्यादिविभेदाद्विद्यारण्यैस्तत्त्वविवेके समशिक्षि।

रजस्तमोभ्यामभिभूतसत्त्वा भवेदविद्या न तथा तु माया।
जीवेश्वरौ तत्प्रतिबिम्बरूपौ ब्रह्मात्मनः शुद्धचितेः क्रमेण॥" इति।

ननु भवत्वेवमाकाङ्क्षितोक्तात्मस्वरूपात्मकपरमानन्दताप्रतिबन्धकीभूत-सोपोद्घाताविद्यास्वरूपनिरूपणमथापि "तत्पादाम्बुरुहद्वन्द्वसेवानिर्मलचेतसाम्" इत्यत्र प्रतिज्ञातसद्गुर्वभिन्नेश्वराराधनशुद्धबुद्धिजीवानुग्राहकत्वं प्रकृतप्रकरणस्येश्वरादिस्वरूप-ज्ञानमन्तराऽनुपपन्नमित्यतस्तत्स्वरूपकार्ये अपि संक्षिपति—**मायेत्युत्तरार्धेन**। मायाया-मुक्तलक्षणायां बिम्बत्यनादित्वेनैव प्रतिबिम्बतीति तयेति यावत्। प्रतिबिम्बादिलक्षणं तूक्तं मदीय**बोधैक्यसिद्धावेव**—

"अथवा प्रतिबिम्बिता मता वत बिम्बैक्यकृते तदर्हता।
विमलोपधिसंनिधानता तदभीप्सद्द्विमतेऽपि बिम्बता॥" इति।

तदभीप्सदिति। तावाभासप्रतिबिम्बावभीप्सतः स्वीकुरुत एतादृशौ यौ द्वौ **वार्तिकविवरणाद्याचार्यौ** तयोर्यन्मतं तत्रेत्यर्थं इति प्रोक्त**ग्रन्थटीका**। विस्तरस्त्वत्र तत्रैव चित्तचित्रीकर्तव्य इति दिक्। एवं च बिम्बभिन्नत्वावभासे सति तदैक्यानुकूलत्वं प्रतिबिम्बत्वमिति तल्लक्षणं पर्यवसितम्। एतेन मायावशीकारे तज्जन्यसार्वज्ञ्ये च हेतुर्द्योतितः॥ १६॥

अविद्यावशगस्त्वन्यस्तद्वैचित्र्यादनेकधा ।
सा कारणशरीरं स्यात्प्राज्ञस्तत्राभिमानवान् ॥ १७ ॥

अविद्येति । अविद्यावशगोऽविद्यायां प्रतिबिम्बत्वेन स्थितस्तत्परतन्त्रस्तु चिदात्माऽन्यो जीवः स्यात् । स च तद्वैचित्र्यात्तस्या अविद्याया उपाधिभूताया वैचित्र्यादविशुद्धितारतम्यादनेकधाऽनेकप्रकारो देवतिर्यगादिभेदेन विविधो भवतीत्यर्थः । यथा "मुञ्जादिषीकैवमात्मा युक्त्या समुद्धृतः शरीरत्रितयाद्धीरैः परं ब्रह्मैव जायत" इत्युत्तरत्र शरीरत्रितयाद्विवेचितस्य जीवस्य परब्रह्मत्वं वक्ष्यति । तत्र तानि कानि त्रीणि शरीराणि तत्तदुपाधिको वा जीवः किंरूपो भवतीत्याकाङ्क्षायां तत्सर्वं क्रमेण व्युत्पादयति—**सा कारणशरीरमित्यादिना** । साऽविद्या कारणशरीरं स्थूलसूक्ष्मशरीरादिकारणभूतं प्रकृत्यवस्थाविशेषत्वात्कारणमुपचाराच्छीर्यते तत्त्वज्ञानाद्विनश्यति चेति शरीरं स्यात्तत्र कारणशरीरेऽभिमानवान्तादात्म्याध्यासेनाहमित्यभिमानवाञ्जीवः । प्रज्ञाऽविनाशिस्वरूपानुभवरूपा यस्य स प्रज्ञः प्रज्ञ एव प्राज्ञः एतन्नामकः स्यादित्यर्थः ॥ १७ ॥

अथ मायाप्रतिबिम्बेश्वरस्वरूपकथनप्रसक्तमर्थसिद्धाविद्याप्रतिबिम्बलक्षणजीवस्य तत्पारवश्यमेव शास्त्राद्यारम्भसार्थक्यार्थं कथयति—**अविद्येत्याद्यपादेन** । ईश्वरवैलक्षण्यावद्योती तुशब्दः । एतेनोभयोरुपाधिप्रतिबिम्बितत्वादिसाम्येऽप्येकस्य तद्वशीकारेण सर्वज्ञत्वमपरस्य तत्पारवश्येन किञ्चिज्ज्ञत्वमिदं कथमित्याक्षेपः प्रतिक्षिप्तः । सत्त्वशुद्धीत्यादिनोपक्षिप्तोपाधिलक्षणाभ्यामेव दत्तोत्तरत्वात् । नन्वथापि किमसावेकोऽनेको वा । आद्येऽपि किन्तच्छरीरस्यैक्यमनैक्यं वा । प्रथमेऽपि किमसौ श्रोतृशरीरावच्छिन्नः किंवा शास्तृशरीरावच्छिन्नो वा । विनिगमनाविरहान्नोक्तपक्षद्वयान्यतरपक्षोऽपि नापि द्वितीयद्वितीयः । सोऽपि किं हिरण्यगर्भापरनामा सूत्रात्मा किंवा कायव्यूहकृद्योगीव तदन्य एव । आद्ये समष्टिलिङ्गशरीराभिमानिनस्तस्य प्रतिकल्पं भिन्नत्वेनानन्त्यात्तदैक्यप्रतिज्ञाव्याघातः समष्टित्वेऽपि प्रत्येकाभासवत्तत्समुच्चयेऽप्यविशेषश्च । अन्त्ये तस्यानन्तकल्पविगमेऽप्यमुक्तत्वे कालान्तरे मुक्तिसम्भावनायां श्रद्धाजाड्यमात्रायत्तत्वप्रसङ्गः कालान्तरभावितन्मुक्त्यैवास्मदादिनिखिलजीवाभासमुक्तिसम्भवेऽस्मदादीनां दुःखप्रयोजकपापकर्मणि प्रवृत्त्यसम्भवेऽपि वैषयिकसुखप्रयोजककाम्यकर्मण्येव प्रवृत्तिसम्भवेन चित्तशुद्ध्यापादकनिष्कामकर्मणि नित्यानित्यविवेकादिनिदिध्यासनान्तनिवृत्तिधर्मे चाप्रवृत्त्यापातश्च नापि प्रथमद्वितियः । अयमेव मुख्यो वेदान्तसिद्धान्त एकजीववादाख्य इत्यादि सिद्धान्तविन्दावनेकजीववादस्य जघन्यत्वावद्योतनादत्राप्यविद्यावशगस्त्वन्य इत्येकवचनस्वारस्येनैक-

जीववादस्यैवाभ्यर्हितत्वध्वनकप्रथमकथनान्मुख्यत्वं संसूच्य तद्वैचित्र्यादनेकधेत्यनेनानेकजीववादस्यानन्तरं निरूपणान्यथानुपपत्या जघन्यत्वस्यैवावेदनाच्च। तस्मात्किमत्र तात्पर्यं **विद्यारण्याचार्य**चरणानामित्याशङ्क्य समाधत्ते—**तदित्यादिद्वितीयपादेन।** अयं भावः। तच्छब्देन येयं रजस्तमोभ्यामभिभूतसत्त्वप्रधानात्मिका जगदुपादानीभूताऽनाद्यनिर्वचनीयोक्तप्रकृतिद्वितीयभागात्मिकाऽद्वैतब्रह्मात्मैक्यदृढापरोक्षप्रमैकबाध्याभावरूपाऽविद्या प्रागुक्ता तस्या वैचित्र्यात् "पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते" इति श्रुतेर्बहुविधत्वात्सहस्रपर्वविशेषका च प्रतिबिम्बितमुखवत्प्रकृत एकोऽपि जीवोऽनेकात्मको भवतीत्यर्थेऽवश्यं वक्तव्ये तत्र प्रतिबिम्बितमुखत्वेनेवोक्ताविद्याप्रतिबिम्बितचित्त्वेनैकोऽपि जीवः प्रत्येकोक्तादर्शपर्वावच्छिन्नतत्तत्प्रतिबिम्बानन्त्यवदुक्ताविद्यारूपभेदानन्त्येनान्तविधोऽपि भवतीति। नन्वेवमप्युक्ताक्षेपसमाधाने किमागतमिति चेच्छृणु यदागतं तत्सावधानतया। तथाहि—"ब्रह्मविदाप्नोति परम्" इतिप्रभृतिश्रुतिशतैर्मोक्षस्य ज्ञानैकप्राप्यत्वं वदद्भिर्बन्धस्य तन्मात्रनिरस्योपादानकत्वं ज्ञाप्यते। तच्चेश्वरजीवजगदात्मकचिज्जडलक्षणत्रिविधद्वैतमूलीभूतत्वेन प्रकृतिपदवाच्यमनादिभावरूपं ब्रह्माद्वैतात्म्यैक्यविषयकज्ञानैकविरोधि मूलाज्ञानं त्रिभागं रजस्तमोनभिभूतसत्त्वप्रधानत्वादिभेदैर्भवतीत्युपपादितमेवाधस्तात्। तत्र द्वैतलक्षणदुःखमूलीभूताविद्याध्वस्तिरूपमुक्त्यर्थमेव शास्त्रस्य "अथातो ब्रह्मजिज्ञासा" इत्यारब्धत्वात्तस्याश्चोक्तलक्षणज्ञानैकसाध्यत्वात्तस्य च जीवनानात्ववादे वियदादेर्विश्वस्येश्वरसृष्टत्वादिना तत्पदार्थशोधपूर्वकत्वादिनाऽतिविलम्बजन्यत्वादेकजीववादे तु—

"ब्रह्मैवाहमिदं जगच्च सकलं चिन्मात्रविस्तारितं।
सर्वं चैतदविद्यया त्रिगुणया सेशं मया कल्पितम्॥"

इत्यादि **मनीषापञ्चक**वचनेनाविद्येतरयवद्दृश्यस्य जीवैककल्पितत्वादिनोक्तायासाभावेन शीघ्रजन्यत्वात्तत्कालमेव योगाभ्यासादिप्रयासं विनैव जीवन्मुक्तिसिद्धेश्चैक एव शास्त्रेण सम्बोध्यो जीवोऽन्ये तु निरुक्ताविद्यायास्तदाश्रितायाः प्रचुरतरविचित्रशक्तिमत्त्वेन तदाभासा एव नानाविधा जीवास्तत्कल्पिता एव सन्तीति। तदेतद्रहस्यं मनसि निधायैवोक्तम् "अविद्यावशगस्त्वन्यस्तद्वैचित्र्यादनेकधा" इति। एवं चाग्रेऽपि "सा कारणशरीरं स्यात्प्राज्ञस्तत्राभिमानवान्" इत्युपसंहारसारस्यादप्येकशरीरैकजीववाद एवात्र विवक्षितः। प्रागुक्तकल्पकविनिगमनाविरहस्तु सम्बोध्य जीवे यदा **मनीषापञ्चक**वचसेश्वरकल्पकत्वमपि सिद्धं तदा गुर्वादिकल्पकत्वस्य कैमुत्यसिद्धत्वादेव प्रत्युक्तः। न च कल्पिताद्गुरोः सकाशात्कथमद्वैतावबोध इति वाच्यम्।

"परिकल्पितोऽपि सकलज्ञतया गुरुरेव तत्त्वमवबोधयति।
परिकल्पितोऽपि मरणाय भवेदुरगो यथा न तु नभोनलितम्॥"

इति **संक्षेपशारीरकाचार्य**चरणैरेव दत्तोत्तरत्वात्। ननु मूलकृतां **श्रीमद्विद्यारण्याचार्य**चरणानामेष एवाशय इति त्वया कथमध्यवसीयते। **प्राचीनटीकाकारैस्तु** यथाश्रुतानु-

सारेणात्र नानाजीववादस्यैव विवृतत्वादिति चेन्न । 'सावकाशनिरवकाशयोर्निरवकाशं बलीयः' इति न्यायेनात्रामितत्प्रकरणेषु तथाऽनुभूतिप्रकाशेऽप्येतदीये दृष्टिसृष्ट्याख्योक्तैकशरीरैकजीववादस्यैवैतेषां सम्मतत्वेनोपलब्धत्वादनेकजीववादस्य सृष्टदृष्ट्यभिधस्यापि भूरितरमुपलब्धस्य तु तद्वैचित्र्यादनेकधेति सूत्रितजीवाभासानन्त्याभिप्रायकत्वादेकजीववादेरपि शीघ्रबोधजीवन्मुक्तिजनकत्वेनोक्ताभिप्रायकल्पनेऽपि तस्यैव मुख्यत्वपर्यवसानाच्च । तद्यथा । तृतीये कोशविवेके तावदुक्तम् "सत्यं ज्ञानमनन्तं यद्ब्रह्म तद्वस्तु तस्य तत् । ईश्वरत्वं च जीवत्वमुपाधिद्वयकल्पितम् ।। शक्तिरस्त्यैश्वरीकाचित्सर्ववस्तुनियामिका । आनन्दमयमारभ्य गूढा सर्वेषु वस्तुषु । वस्तुधर्मा नियम्येरञ्शक्त्या नैव यदा तदा । अन्योन्यधर्मसाङ्कर्याद्विप्लवेत जगत्खलु । चिच्छायावेशतः शक्तिश्चेतनेव विभाति सा । तच्छक्त्युपाधिसंयोगाद्ब्रह्मैवेश्वरतां व्रजेत् । कोशोपाधिविवक्षायां याति ब्रह्मैव जीवताम् । पिता पितामहश्चैकः पुत्रं पौत्रं यथा प्रति । पुत्रादेरविवक्षायां न पिता न पितामहः । तद्वन्नेशो नापि जीवः शक्तिकोशविवक्षणे" इति । अत्र जीव इत्येकवचनं न तु जीवा इति । एवं द्वैतविवेकेऽपि—

"ईश्वरेणापि जीवेन सृष्टं द्वैतं विविच्यते ।
विवेके सति जीवेन हेयो बन्धः स्फुटीभवेत् ॥"

इति प्रतिज्ञाय मायां त्वित्यादि श्रुतीः संग्रथ्य—

कृत्वा रूपान्तरं जैवं देहे प्राविशदीश्वरः ।
इति ताः श्रुतयः प्राहुर्जीवत्वं प्राणधारणात् ॥"

इति सामान्यतो जीवस्वरूपमुक्त्वा—

"चैतन्यं यदधिष्ठानं लिङ्गदेहश्च यः पुनः ।
चिच्छाया लिङ्गदेहस्था तत्सङ्घो जीव उच्यते ॥"

इति विशेषतस्तन्निरूप्य

माहेश्वरी तु या माया तस्या निर्माणशक्तिवत् ।
विद्यते मोहशक्तिश्च तं जीवं मोहयत्यसौ ॥
मोहादनीशतां प्राप्य मग्नो वपुषि शोचति ।
ईशसृष्टमिदं द्वैतं सर्वमुक्तं समासतः ॥"

इति परमेश्वरनिर्मितदृश्यं संक्षिप्य सप्तान्नेत्यादिना जीवकल्पितद्वैतोपोद्घातमभिधाय

व्रीह्यादिकं दर्शपूर्णमासौ क्षीरं तथा मनः ।
वाक्प्राणश्चेति सप्तत्वमन्नानामवगम्यताम् ॥"

इति तत्स्वरूपेणेशसृष्टेष्वपि तेषु स्वोपभोग्यत्वेन जीवसृष्टत्वमप्युक्त्वा

"ईशकार्यं जीवभोग्यं जगद्द्वाभ्यां समन्वितम् ।
पितृजन्या भर्तृभोग्या यथा योषित्तथेष्यताम् ॥"

इति तदुभयमप्यविरोधेनोपपाद्य "मायावृत्त्यात्मको हीशसङ्कल्पः साधनं जनौ। मनोवृत्त्यात्मको जीवसङ्कल्पो भोगसाधनम्। ईशनिर्मितमण्यादौ वस्तुन्येकविधे स्थिते। भोक्तृधीवृत्तिनानात्वात्तद्भोगो बहुधेष्यते। हृष्यत्येको मणिं लब्ध्वा क्रुध्यत्यन्यो ह्यलाभतः। पश्यत्येव विरक्तोऽत्र न हृष्यति न कुप्यति। प्रियोऽप्रिय उपेक्ष्यश्चेत्याकारा मणिगास्त्रयः। सृष्टाः जीवैरीशसृष्टं रूपं साधारणं त्रिषु। भार्या स्नुषा ननान्दा च याता मातेत्यनेकधा। प्रतियोगिधिया योषिद्भिद्यते न स्वरूपतः।" इत्यादिना सर्जने संकल्पभेदादिना जीवसृष्टस्य द्वैतस्येशसृष्टात्पृथग्भावं स्पष्टीकृत्य।

"सत्येवं विषयौ द्वौ स्तो घटो मृन्मयधीमयौ।
मृन्मयो मानमेयः स्यात्साक्षिभाष्यस्तु धीमयः॥
अन्वयव्यतिरेकाभ्यां धीमयो जीवबन्धकृत्।
सत्यस्मिन्सुखदुःखे स्तस्तस्मिन्नसति न द्वयम्॥"

इत्यादिना तस्य बन्धकत्वं प्रपञ्च्य

"जीवन्मुक्तेः परा काष्ठा जीवद्वैतविवर्जनात्।
लभ्यतेऽसावतोऽत्रेदमीशद्वैताद्विवेचितम्॥"

इति जीवद्वैतविवेचनफलमभिधायोपसंहृतम्। एवं च नानाजीववादेऽपि जीवसृष्टमेव द्वैतं बन्धकं तदध्वंसार्थमेव दृढतरत्यागयोगावेन संपादनीयाविति द्वैतविवेके पर्यवसितम्। तेन तदपेक्षया शीघ्रतत्त्वावबोधजीवन्मुक्तिसिद्धिदः प्रकृतैकशरीरैकजीववाद एव वरमिति द्योत्यते। एतदेवोक्तं कण्ठतोऽपि मूलकारैः सपरिकरं कौषीतक्युपनिषद्विवरणेऽनुभूतिप्रकाशीयेऽष्टमाध्याये इन्द्रप्रतर्दनसंवादे—एकादशेन्द्रियाण्येषां विषयाश्च जगत्खलु। सुप्तौ सर्वं जगल्लीनं प्राणोपाधिक आत्मनि। इन्द्रियाण्येव लीयन्ते विषया नेति चेन्न तत्। प्रातीतिकस्य जगतो भावाभावो लयो मतः। प्रातीतिकत्वं वेदान्तसिद्धान्ते जगतः स्फुटम्। अतः सुप्तौ जगल्लीनं प्रबोधे जायते पुनः। प्राणप्रतीतिरप्यस्तु सुषुप्तौ नास्ति चेत्तदा। प्राणोक्तिरन्यदृष्ट्यैव प्राणेनाऽऽत्मोपलक्ष्यते। प्रबोधे स्वात्मनोक्षाणि जायन्ते विस्फुलिंगवत्। तेभ्योऽभिमानिदेवाःस्युर्देवेभ्यो विषया इमे। दृष्टिसृष्टिमिमां ब्रह्मानुभवी बहु मन्यते। स्वप्रबोधात्स्वसंसारो लीयते स्वप्नवद्यतः" इत्यादि। एवं नवमाध्यायेऽपि बालाक्यजातशत्रुसंवादे—

"कुत आगादिति प्रश्नस्योत्तरं दृश्यतामिदम्। अज्ञानेनाऽऽवृतात्पूर्णादागच्छति परात्मनः। यदा प्रबुध्यते सुप्तस्तदाऽग्नेर्विस्फुलिंगवत्। प्राणा यथायथं तस्माज्जायन्ते परमात्मनः। प्राणाभिमानिदेवानामग्न्यादीनां जनिस्ततः। लोक्यन्ते विषया अक्षैस्ते देवेभ्यः समुद्गताः। सर्वसाधारणः सर्ग एकः प्रातिस्विकोऽपरः। आकाशादिक्रमादाद्यः प्राणादिक्रमतोऽपरः। सर्वेषां प्राणिनां कर्मक्षये स्यात्प्रलयो महान्। पुनः कर्मोद्भवे तेषां स्यान्महासृष्टिरीश्वरात्। एकस्य कर्मणि क्षीणे प्रलयः सुप्तिनामभृत्। पुनः कर्मोद्भवे तस्य सृष्टिः स्याज्जागराभिधा। अद्वैततत्त्वबोधाय सृष्टिः सर्वत्र कथ्यते। अल्पा सा महती वाऽस्तु सदद्वैतं विबुध्यते। प्रौढस्य राजगेहस्य द्वारं स्यात्पुरतो महत्। पृष्ठतोऽन्तःपुरद्वारं

चोरद्वाराख्यमल्पकम् । महाद्वारेण सहसा दुर्लभं राजदर्शनम् । जनसम्मर्दबाहुल्याद्द्वाराणां च बहुत्वतः । अल्पद्वारे स्वामिभक्तो हठाद्राजानमीक्षते । दृष्टिसृष्ट्याऽनुभूत्यर्थी वेत्त्यात्मानं तथा हठात् । महासृष्ट्या तत्पदार्थमादौ ज्ञात्वा तथा पुनः । त्वंपदार्थं शोधयित्वा वाक्याद्बोधो विलम्बते । तस्मादिहाजातशत्रुर्बालाकेरविलम्बतः । प्रत्यग्ब्रह्मत्वबोधार्थं दृष्टिसृष्टिमवोचत । सुप्तावासीद्यदज्ञानमहंकारलयोऽत्र हि । सोऽहंकारः कर्मभोगकाले स्यात्पुनरुद्गतः । तेनावच्छिन्न आत्माऽपि कर्ता भोक्ताऽपि पूर्ववत् । भोक्तुरात्मन उत्पन्नं, भोगसाधनमिन्द्रियम् । इन्द्रियप्रेरको देवानुग्रहः स्वत उद्गतः । अक्षेभ्योऽनुगृहीतेभ्यो लोका भान्ति समुद्गताः । सेयं प्रातीतिकी सृष्टिस्तस्माज्जाता ततः स्वयम् । जगत्कर्ता परात्मेति क्षणाद्बालोऽपि बुध्यते । ईश्वरो महिमोपेतः सोऽप्यन्य इति वासना । धीमतां चिरमारूढा, वियदादिक्रमस्ततः । किं बहूक्त्याऽस्तु या काचित्सृष्टिः सा मायिकी ततः । अद्वितीयानन्द आत्मा सुषुप्तावनुभूयते" इति । एवं चात्र क्रमादध्यायद्वयवचनैर्दृष्टिसृष्टित्वविशिष्टैकशरीरावच्छिन्नैकजीववादस्य शीघ्रं जीवन्मुक्तिजनकत्वेन विद्वदनुग्राहकत्वं सत्वरतत्त्वज्ञानजनकत्वेन विविदिष्वनुग्राहकत्वं च स्फुटमेव । तस्मादेतेषां मते मूलाज्ञानापरनामकद्वैतोपादानीभूतत्रिगुणप्रकृतेः सत्त्वादिप्राधान्येन भागत्रयमध्ये जीवत्वप्रयोजको योऽयमविद्याख्यो भागः स त्वेक एवेति तत्प्रतिबिम्बितो जीवोऽप्येक एव । प्रतीयमानानेकजीवास्तु तद्वैचित्र्यादनेकधेतिपदसूचितशतपर्वकाचप्रतिबिम्बितमुखन्यायेन जीवाभासा एव तत्कल्पितास्तत्कल्पितस्वप्नजाग्रतोर्जगदाभासवदिति तं तं सम्बोध्यं प्रति समुपदिष्टदृष्टिसृष्ट्याख्यश्रुत्यादिसम्मतसौषुप्तानन्दमयकोशाख्यैकशरीरैकजीववादावलम्बेन सद्यः संजातदृश्यमिथ्यात्वपूर्वकं ब्रह्माद्वैतात्मसाक्षात्कारेण तदविद्याध्वस्तिलक्षणा मुक्तिर्विदेहाख्या यावत्प्रारब्धं प्रतीयमानानन्दमयकोशाभिधतल्लेशमूलकप्रातिभासिकाखिलद्वैतबाधलक्षणा जीवन्मुक्तिश्चानायासेनैव सिध्यतीति तं प्रति मुख्यो वेदान्तसिद्धान्तोऽयमेवेति फलितम् । तथा चोक्तसम्बोध्यचेतनदृष्ट्या शुकादिमुक्तेरर्थवादत्वेऽपि शास्त्रदृष्ट्या शुकादिजीवो मुक्तस्तत्त्वापरोक्षवत्त्वात्प्रकृतसम्बोध्यचेतनवदिति तटस्थानुमितिदृष्ट्या च याथार्थ्येन बद्धमुक्तव्यवस्था नेकजीववादादिकं सर्वं सुव्यवस्थितमेवेत्याकूतम् । ननुभवत्वेवं जीवैक्यादि व्यवस्था मूलकृत्संमता तथाऽपि निरुक्तरीत्यैवाऽऽनन्दमयकोशात्मकसौषुप्ताज्ञानमेव जीवस्य मुख्यं शरीरं तदेव च सूक्ष्मादिशरीरकारणत्वात्कारणसंज्ञकमिति तु निर्विवादमेव । परन्तु तत्त्वसाक्षात्कारेणाऽऽवरणात्मकस्य तस्यैव विक्षेपस्य स्वरूपं तु प्रारब्धक्षयमीक्षत इति वक्ष्यमाणमूलवचनाद्विक्षेपात्मकसूक्ष्मशरीरादिस्वभोगापादकप्रारब्धरुद्धबाधितद्वैतान्यस्य ध्वंसोऽवश्यं वाच्यः । तथा च ब्रह्मविदः सुषुप्त्यभावापत्तिरित्याशङ्क्य ।

"तस्य त्रय आवसथास्त्रयः स्वप्नाः" इति ।
"त्रिषु धामसु यद्भोग्यं भोक्ता भोगश्च यद्भवेत् ।
तेभ्यो विलक्षणः साक्षी चिन्मात्रोऽहं सदाशिवः" ॥

इति च श्रुतेः "यथा मुञ्जादिषीकैवमात्मा युक्त्या समुद्धृतः । शरीरत्रितयाद्धीरैः

तमःप्रधानप्रकृतेस्तद्भोगायेश्वराज्ञया ।
वियत्पवनतेजोम्बुभुवो भूतानि जज्ञिरे ।। १८ ।।

क्रमप्राप्तं सूक्ष्मशरीरं तदुपाधिकं जीवं व्युत्पादयितुं तत्कारणाकाशादिसृष्टिमाह—

तमःप्रधानेति । तद्भोगाय तेषां प्रज्ञानां भोगाय सुखदुःखमाक्षात्कारसिद्धये तमः प्रधानकृतेस्तमोगुणप्रधानायाः प्रकृतेः पूर्वोक्ताया उपादानकारभूतायाः सकाशादीश्वराज्ञया ईशनादिशक्तियुक्तस्य जगदधिष्ठातुराज्ञया ईक्षापूर्वकसर्जनेच्छारूपया निमित्तकारणभूतया वियदादिपृथिव्यन्तानि पञ्चभूतानि जज्ञिरे प्रादुर्भूतान्युत्पन्नानीत्यर्थः ।। १८ ।।

परं ब्रह्मैव जायते" इति वक्ष्यमाणमूलेन निरुक्तश्रुतिप्रतिपादितकारणादिशरीरत्रयस्यैव त्वंपदवाच्यजीवावलम्बितोपाधित्वात्तस्यापि मूलीभूतब्रह्मात्मैक्यमात्रविषयकमूलाज्ञानध्वंसेऽपि यावत्प्रारब्धं तदुपादेयान्तःपातिकारणशरीरसत्त्वेऽपि निरुक्तोपादानताप्रयोजकमूलाविद्यालेशसत्त्वेऽपि बाधकाभावात् ।

"जीवमुक्तिस्तावदस्ति प्रतीतेर्द्वैतच्छाया तत्र चास्ति प्रतीतेः ।
द्वैतच्छायारक्षणायास्ति लेशस्तस्मिन्नर्थे स्वानुभूतिः प्रमाणम् ।।"

इति संक्षेपशारीरके तथैवोक्तत्वाच्च सोक्ता विद्यैव सौषुप्तगाढतमोगुणप्रधानकारणशरीरात्मना परिणमते तदुपहितजीवस्य प्रकर्षेणाऽऽत्मानन्दानुभवितृत्वदन्यविषयकाज्ञत्वाभ्यां च प्राज्ञ इत्यानन्दभुक्चेतोमुखः प्राज्ञस्तृतीयः पाद इति श्रुतिप्रसिद्धा प्राज्ञसंज्ञाऽप्यस्तीति समाधत्ते—सेत्युत्तरार्धेन ।। १७ ।।

ननु भवत्वेवं चेतनद्वैतव्यवस्था तथाऽप्यन्ततो गत्वा मूलकृतां मतेऽत्र पर्यवसन्नसृष्टदृष्ट्याख्यानेकजीववादात्तद्भोगोपयुक्तजडद्वैतव्यवस्था कथं वर्तत इत्याशङ्क्य प्राक् "सत्त्वशुद्ध्यविशुद्धिभ्यां मायाविद्ये च ते मते" इति ग्रन्थे चकारसूचिततमःप्राधान्यशालितः तृतीयप्रकृतिभागादन्तर्यामित्वेनेश्वरप्रेरितात्सकाशात् "तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः" इत्यादिश्रुतिप्रसिद्धानि सूक्ष्मतमानि पञ्चमहाभूतानि शब्दाद्यात्मकान्येव प्रलयप्रयोजकजीवादृष्टसमाप्त्युत्तरं सृष्टिस्थितिप्रयोजकतददृष्टाविर्भावसमये समभूवन्निति समाधत्ते—तमःप्रधानेति । अत्र प्रकृतेरित्युपादानविवक्षयेव तन्तुभ्यः पट इत्यादिवत्पञ्चमी । निमित्तत्वं तु "सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेयेति" इत्यादिश्रुतेर्मायावृत्त्यात्मकेच्छाविशिष्टेश्वर एवेति भावः ।। १८ ।।

सत्त्वांशैः पञ्चभिस्तेषां क्रमाद्धोन्द्रियपंचकम् ।
श्रोत्रत्वगक्षिरसनघ्राणाख्यमुपजायते ॥ १९ ॥
तैरंतःकरणं सर्वैर्वृत्तिभेदेन तद्द्विधा ।
मनो विमर्शरूपं स्याद्बुद्धिः स्यान्निश्चयात्मिका ॥ २० ॥
रजोंशैः पञ्चभिस्तेषां क्रमात्कर्मेन्द्रियाणि तु ।
वाक्पाणिपादपायूपस्थाभिधानानि जज्ञिरे ॥ २१ ॥

भूतसृष्टिमभिधाय भौतिकसृष्टिमभिदधान आदौ ज्ञानेन्द्रियसृष्टिमाह—

सत्त्वांशैरिति । तेषां वियदादीनां पञ्चभिः सत्त्वांशैः सत्त्वगुणभागैरुपादानभूतैः श्रोत्रत्वगक्षिरसनघ्राणाख्यंधीन्द्रियपञ्चकं धीद्रियाणि ज्ञानेन्द्रियाणि तेषां पञ्चकं क्रमादुपजायते । एकैकभूतसत्त्वांशादेकैकमिद्रियं जायत इत्यर्थः ॥ १९ ॥

सत्त्वांशानां प्रत्येकमसाधारणकार्याण्यभिधाय सर्वेषां साधारणं कार्यमाह—

तैरिति । तैः सह सत्त्वांशैः सर्वैः संभूय वर्तमानैरंतःकरणं मनोबुद्ध्युपादानभूतं द्रव्यमुपजायत इत्यनुषंगः । तस्यावान्तरभेदं सनिमित्तमाह—**वृत्तीति** । तदन्तःकरणं वृत्तिभेदेन परिणामभेदेन द्विधा द्विप्रकारं भवति । वृत्तिभेदमेव दर्शयति—**मन इति** । विमर्शरूपं विमर्शः संशयात्मिका वृत्तिः सा स्वरूपं यस्य तत्तथा तन्मनः स्यात् । निश्चयात्मिका निश्चयोऽध्यवसायः स आत्मा स्वरूपं यस्याः सः निश्चयात्मिका सा वृत्तिर्बुद्धिः स्यात् ॥ २० ॥

क्रमप्राप्तानां रजोंशानां प्रत्येकमसाधारणकार्याण्याह—

रजोंशैरिति । तेषां वियदादीनामेव पञ्चभी रजोंशै रजोभागैस्तूपादानभूतैर्वाक्पाणिपादपायूपस्थाभिधानान्येतन्नामकानि कर्मेन्द्रियाणि क्रियाजनकानीन्द्रियाणि जज्ञिरे ॥ २१ ॥

ततः किं तत्राऽऽह—**सत्त्वेत्यादिचतुर्भिः** । ईश्वराज्ञयेति भूतसृष्टिवद्भौतिकसृष्ट्यादावप्यनुकृष्य योज्यम् । अत्र भूतोपादानमायागतसत्त्वादीनामेव गुणानां तत्परिणामतापन्नाकाशादिभूतेष्वप्यनुवृत्तिः क्षीरशौक्ल्यस्य दध्यादाविव न तु तार्किकवद्गुणान्तरम् । तत्र मानाभावात् । **धीति** । ज्ञानेन्द्रियेत्यर्थः ॥ १९ ॥

तैराकाशादिसत्त्वांशैः । चित्ताहङ्कारयोस्तु मनोबुद्ध्योरेवान्तर्भावः ॥ २० ॥

अत्रापि तच्छब्देन भूतान्येव ॥ २१ ॥

तैः सर्वैः सहितैः प्राणो वृत्तिभेदात्स पञ्चधा ।
प्राणोऽपानः समानश्चोदानव्यानौ च ते पुनः ।। २२ ।।

बुद्धिकर्मेन्द्रियप्राणपञ्चकैर्मनसा धिया ।
शरीरं सप्तदशभिः सूक्ष्मं तल्लिङ्गमुच्यते ।। २३ ।।

रजोंशानामेवं साधारणं कार्यमाह—

तैः सर्वैरिति । सहितैः सम्भूय कारणतां गतैः प्राणो जायत इति शेषः । तस्यावान्तरभेदमाह—**वृत्तिभेदादिति** । स प्राणो वृत्तिभेदात्प्राणनादिव्यापारभेदात्पञ्चधा पञ्चप्रकारो भवति वृत्तिभेदानेव दर्शयति—**प्राण इति** । ते पुनस्ते तु भेदाः प्राणादिशब्दवाच्या इत्यर्थः ।। २२ ।।

यदर्थमाकाशादिप्राणान्तानां सृष्टिरुक्ता तदिदानीं दर्शयति—

बुद्धीति । बुद्धयो ज्ञानानि कर्माणि व्यापारास्तज्जनकानीन्द्रियाणि बुद्धीन्द्रियाणि कर्मेन्द्रियाणि चेत्यर्थः । बुद्धिकर्मेन्द्रियाणि च प्राणाश्च बुद्धिकर्मेन्द्रियप्राणाः तेषां पञ्चकानि तैर्मनसा विमर्शात्मकेन धिया निश्चयरूपया बुद्ध्या च सह सप्तदशभिः सप्तदशसंख्याकैः सूक्ष्मशरीरं भवति । तस्यैव संज्ञान्तरमाह—**तल्लिङ्गमिति** । उच्यते वेदान्तेष्वित्यर्थः ।। २३ ।।

तैराकाशादिरजोंशैः । वृत्तिर्वर्तनम् ।। २२ ।।

एवं सूक्ष्मापरनामकलिंगशरीरसामग्र्युत्पत्तिमभिधायेदानीं तत्संघीभूतमेव तदित्याह **बुद्धीति** । बुद्धिशब्देनात्रेन्द्रिजन्यशब्दादिविषयप्रमा एव । तद्वत्कर्मपदेनापि वचनादिक्रिया एव । ननु ज्ञानेन्द्रियादिसप्तदशसंघात्मकमिदं लिङ्गशरीरमपंचीकृतभूतकार्यत्वात्प्रत्यक्षप्रमाणागम्यमपि तदन्तःपातिप्राण एव तादृशोऽपि कथं मुखनासिकाद्यवच्छेदेन स्पार्शनं प्रत्यक्ष इति चेत्सत्यम् । एवमेवाशंक्य समाहितं मदीयायाम**द्वैताधिकरणचिंतामणिमालाप्रभायाम**विरोधाख्यद्वितीयकांडीयचतुर्थगच्छप्रकाशे''''अणुश्च''इति षष्ठाधिकरणविवरणे—''ननु इन्द्रियाणां ममत्वेन भासमानानां मनोबुद्धिचित्ताभिमानश्रोत्रत्वक्चक्षूरसनघ्राणवाक्पाणिपादपायूपस्थानां भवत्वतीन्द्रियत्वेन केवलसाक्षिभास्यत्वमथापि प्राणस्य तु कथमुच्छ्वासनिःश्वासरूपस्य मुखनासिकाबिलावच्छेदेन करांगुल्यादिस्पार्शनप्रत्यक्षेणैवानुभूयमानत्वाद्वाह्यवायुवत्साक्षिमात्रभास्यत्वं स्यात् । न चास्य पूर्वाधिकरण एवैतेनापञ्चीकृतत्वेनेत्यादिना दत्तोत्तरत्वमेवेति वाच्यम् । तत्रापि प्रश्नमत्त्वात् । तथाहि किं बाह्यवायुः प्राणस्यानुग्राहकः किं वा हिरण्यगर्भाख्यसूत्रात्मापरनाम्नः समष्टिजीवस्य समष्टिप्राणः । नाऽऽद्यः । व्यष्टिप्राणस्य पञ्चीकृतशब्दादिसूक्ष्मपञ्चमहाभूतरजोंऽश-

प्राज्ञस्तत्राभिमानेन तैजसत्वं प्रपद्यते ।
हिरण्यगर्भतामीशस्तयोर्व्यष्टिसमष्टिता ।। २४ ।।

एवं सूक्ष्मशरीरमभिधाय तदभिमानित्वप्रयुक्तं प्राज्ञेश्वरयोरवस्थान्तरं दर्शयति—

प्राज इति । प्राज्ञो मलिनसत्त्वप्रधानाविद्योपाधिको जीवस्तत्र तेजः-शब्दवाच्यान्तःकरणोपलक्षितलिङ्गशरीरेऽभिमानेन तादात्म्याभिमानेन तैज-सत्वं तैजसनामकत्वं प्रपद्यते प्राप्नोति । ईशो विशुद्धसत्त्वप्रधानमायोपाधिकः परमेश्वरस्तत्र शरीरेऽहमित्यभिमानेन हिरण्यगर्भतां हिरण्यगर्भसंज्ञकत्वं प्रपद्यत इत्यनुषङ्गः । तैजसहिरण्यगर्भयोर्लिङ्गशरीराभिमाने समाने सति तयोः परस्परं भेदः किन्निबन्धन इत्यत आह—**तयोरिति** । तस्योस्तैजसहिरण्य-गर्भयोर्व्यष्टित्वं समष्टित्वं भवत्यत एव भेद इत्यर्थः ।। २४ ।।

संघकार्यत्वेन तदेकानुग्राह्यत्वाद्बाह्यवायोस्तु निरुक्तसूक्ष्मपञ्चमहाभूतावशिष्टतमोंश-पञ्चपञ्चीकरणजन्यत्वेन सूक्ष्मवायवीयतमोंशार्धभागतदितरतादृग्भूतचतुष्टयाष्टमा-ष्टमभागविशिष्टात्मकत्वेन तत्कारणत्वासम्भवेन तदनुग्राहकत्वाभावाच्च । न द्वितीयः व्यष्टिसमष्टिप्राणयोः समुदायिसमुदायभावेनावयवावयविभावे वक्तव्ये प्रत्युतावयवा-नामेवावयविनं प्रति कारणत्ववदाध्यात्मिकप्राणस्यैवाधिदैविकप्राणं इति कारणत्वा-पातात् । समष्टिप्राणस्याप्यपञ्चीकृतसूक्ष्मशब्दाद्यात्मकपञ्चभूतरजोंशमसंघविशेष-जन्यत्वेन निरुक्तस्पार्शनप्रत्यक्षविषयत्वायोगाच्च" तस्माच्छरीरान्तःसञ्चारी वायुः प्राण इत्यादितार्किकप्रक्रियैव ज्यायसीति चेदुच्यते । निरुक्तरीत्या प्राणस्य बहिरन्तः-करणवदपञ्चीकृतपञ्चमहाभूतकार्यत्वेनातिसूक्ष्मत्वमध्यमपरिमाणत्वाभ्यां साक्षिभास्यत्वेऽपि मुखनासिकारन्ध्रावच्छेदेन स्पार्शनप्रत्यक्षविषयत्वं सर्वजनैः प्रायोऽनुभूयमानं स्थूलदेहस्य पञ्चीकृतपञ्चमहाभूतकार्यस्यापि पार्थिवभागाधिक्यात्पार्थिवस्यापि तदितराकाशादि-भूतचतुष्टयभागविशेषमेलनावश्यकत्वेन तदीयवायुभागस्य पञ्चीकृतत्वेन स्थूलतया स्पार्शनप्रत्यक्षयोग्यस्य प्राणेन सह यावत्प्रकृतदेहयोगं प्रागुदितक्रियाशक्तिवैशिष्ट्य-साधर्म्येणेश्वरेच्छादृष्टादिवशात्तादात्म्येन तद्विषयमेव । स्थूलदेहकारणीभूतवातस्य पञ्चीकृतत्वेन बाह्यत्वमुचितमेव । यथा परमते भौमं तेजः स्वोत्पत्तिक्षण एव काष्ठादि-तादात्म्यादृते चाक्षुषं नैव भवति तथाऽद्वैतिमते प्राणः शरीरकारणीभूतवायुतादात्म्यापन्न एवोक्तप्रत्यक्षतायोग्योऽपि भवतीति कोऽत्र विरोधगन्धोऽपीति । यथा परमते धूमादिकं लिङ्ग्यते ज्ञाप्यते वह्न्याद्यनेनेतिव्युत्पत्त्याऽनुमापकं लिङ्गं भवति तद्वदिदमपि साक्षिणः साक्षात्तद्भास्यत्वेन तज्ज्ञापकत्वाल्लिङ्गमित्युच्यत इत्यर्थः ।। २३ ।।

ननु भवत्वेवं जीवभोगकरणीभूततत्सूक्ष्मशरीरोत्पत्त्यादिकमथापि तमोगुणाकार-परिणतमूलाविद्यावच्छिन्नस्य मलिनसत्त्वप्रधानाविद्याप्रतिबिम्बरूपजीवत्वसत्त्वेऽपि पूर्वा-

समष्टिरीशः सर्वेषां स्वात्मतादात्म्यवेदनात् ।
तदभावात्ततोऽन्ये तु कथ्यन्ते व्यष्टिसंज्ञया ।। २५ ।।

ईश्वरस्य समष्टिरूपत्वे जीवानां व्यष्टिरूपत्वे च कारणमाह—

समष्टिरिति । ईश ईश्वरो हिरण्यगर्भः सर्वेषां लिङ्गशरीरोपाधिकानां तैजसानां स्वात्मतादात्म्यवेदनात्स्वात्मना तादात्म्यस्यैकत्वस्य वेदनाज्ज्ञानात्समष्टिर्भवति । तत ईश्वरादन्ये जीवास्तु तदभावात्तस्य तादात्म्यवेदनस्याभावाद्व्यष्टिसंज्ञया व्यष्टिशब्देन कथ्यन्ते ।। २५ ।।

पेक्षया निरुक्तावस्थाज्ञानाख्यकिञ्चिदधिकोपाधिवशात्प्राज्ञाभिधयोगारूढसंज्ञान्तरवत्प्रकृतेऽपि कारणशरीरापेक्षया लिङ्गशरीरस्य किञ्चिदधिकोपाधित्वादभिधान्तरमस्ति न वेति विषयं शमयति—**प्राज्ञ इत्यादिपूर्वार्धेन** । अभिमानोऽत्र भेदसहिष्ण्वभेदलक्षणं रक्तः स्फटिक इत्यादिवदाध्यासिकं तादात्म्यमेव । **तैजसत्वमिति** । तेजःशब्दवाच्यप्रकाशरूपसत्त्वाधिकांशोपाधौ निरुक्ततादात्म्याभिमानेन जायमानत्वात्तैजसो द्वितीयः पाद इति **श्रुतेश्च** तैजससंज्ञावत्त्वमित्यर्थः । नन्वस्त्वेवं तस्य संज्ञान्तरं तथाऽपि भ्रमजनकपित्ताख्यतेजःप्राधान्येनैव तस्य तैजसत्वं न तूक्तसत्त्वप्राधान्येन । भ्रमस्य तु स्वप्नाख्यस्य तैजस एव दृष्टेरिति चेन्न । **सिद्धान्तबिन्दौ** "न जाग्रन्न मे स्वप्नको वा सुषुप्तिः" इत्याद्यष्टमश्लोकव्याख्याने तैजसस्य स्वप्नाभिमानिनः सत्त्वगुणोपाधिताया एवोक्तत्वात् । तद्यथा—एवमध्यात्मं तैजसः । अधिभूतं हिरण्यगर्भः । अधिदैवं विष्णुः । अध्यात्मं स्वप्नः । अधिदैवं पालनम् । अधिभूतं सत्त्वगुण इति । विस्तरस्त्वेतट्टीकायां **न्यायरत्नावल्यामेव** द्रष्टव्य इति दिक् । नन्वेवं जीवस्याधिकोपाधिनाभिधान्तराधिसत्त्वेऽपीश्वरस्य त्वैकरूप्यमेवेष्टव्यं तस्य विशुद्धोपाधित्वादित्यत्राऽऽह—**हिरण्येत्युरार्धेन** । प्रपद्यत इत्यत्राप्यनुकृष्य योज्यम् । साकल्येन लिङ्गशरीरतादात्म्याध्यासादीशोऽपि हिरण्यगर्भतां प्रतिपद्यत इत्यन्वयः । तत्र हेत्वाकाङ्क्षायां द्योतयति—**तयोरिति चरमचरणेन** । व्यस्तोपाधिविशिष्टो व्यष्टिः समस्तोपाधिविशिष्टः समष्टिस्तयोर्भावस्तथेत्यर्थः । यतोस्त्यत इति पूर्वत्र सम्बन्धः । एवं चैतन्मते हिरण्यगर्भविराजोरीश्वरोपाधित्वमेवेति भावः ।। २४ ।।

ननु निरुक्तव्यष्ट्यादिसंज्ञायां सूचिततद्व्युत्पत्तौ च किं बीजमित्यतस्तदाह—**समष्टिरिति** । ईशः सकलसूक्ष्मशरीरसंघाभिमानित्वलक्षणहिरण्यगर्भत्वावच्छिन्नोक्तमायाप्रतिफलितचिदात्मेत्यर्थः । सर्वेषां निखिलतत्तल्लिङ्गशरीरावच्छिन्नोक्ताविद्याप्रतिबिम्बिततन्नानात्वविभिन्नानन्तचिदात्मनामिति यावत् । **स्वेति** । अत्र स्वपदं शुद्धव्यावृत्त्यर्थम् । तावन्मात्रग्रहेऽपि स्वोज्ञातावात्मनि स्वं त्रिष्वित्यमराज्ज्ञात्यादावतिप्रसङ्ग-

तद्भोगाय पुनर्भोग्यभोगायतनजन्मने ।
पञ्चीकरोति भगवान् प्रत्येकं वियदादिकम् ।। २६ ।।
द्विधा विधाय चैकैकं चतुर्धा प्रथमं पुनः ।
स्वस्वेतरद्वितीयांशैर्योजनात्पञ्च पञ्च ते ।। २७ ।।

एवं लिङ्गशरीरं तदुपाधिकौ तैजसहिरण्यगर्भौ च दर्शयित्वा स्थूलशरीराद्युत्पत्तिसिद्धये पञ्चीकरणं निरूपयितुमाह—

तद्भोगायेति । भगवानैश्वर्यादिगुणषट्कसम्पन्नः परमेश्वरः पुनः पुनरपि तद्भोगाय तेषां जीवानां भोगायैव भोग्यभोगायतनजन्मने भोगस्यान्नपानादेर्भोगायतनस्य जरायुजादिचतुर्विधशरीरजातस्य च जन्मन उत्पत्तये वियदादिकमाकाशादिभूतपञ्चकं प्रत्येकमेकैकं पञ्चीकरोत्यपञ्चात्मकं पञ्चात्मकं सम्पद्यमानं करोति ।। २६ ।।

कथमेकैकस्य पञ्चपञ्चात्मकत्वमित्यत आह—

द्विधेति । वियदादिकमेकैकं द्विधा द्विधा तन्त्रेणोच्चारितो द्विधाशब्दो विधाय कृत्वा भागद्वयोपेतं कृत्वेत्यर्थः । पुनश्च पुनरपि प्रथमं प्रथमं भागं चतुर्धा भागचतुष्टयोपेतं विधायेत्यनुषज्यते । स्वस्वेतरद्वितीयांशैः स्वस्मात्स्वस्मादितरेषां चतुर्णां चतुर्णां भूतानां यो यो द्वितीयः स्थूलो भागस्तेन तेन सह प्रथमप्रथमभागांशानां चतुर्णां चतुर्णां मध्ये एकैकस्य योजनात्ते वियदादयः प्रत्येकं पञ्चपञ्चात्मका भवन्ति ।। २७ ।।

भङ्गार्थं समुच्चितमेवोपात्तमिति तत्त्वम् । एवं चोक्तविशिष्टस्वेन सह भेदसहिष्ण्वभेदाभिमानादित्यर्थः । शिष्टं तु स्पष्टमेव ॥ २५ ॥

नन्वेवमपि भोग्यभोगायतनाभावात्कथं भोक्तॄणां तत्सिद्धिरित्यत्राऽऽह—तद्भोगायेति । भगवानुक्तलक्षण ऐश्वर्यादिगुणषट्कविशिष्टः परमेश्वर इत्यर्थः । वियदादिकं तत्सम्बन्ध्यवशिष्टतमोंशपञ्चकमित्यार्थिकं पञ्चीकरोति । तत्तदात्मकत्वेनापञ्चात्मकमेव सद्वक्ष्यमाणरीत्या पञ्चात्मकत्वेन भासमानं तनोतीति यावत् । अपरमतिरोहितार्थम् ॥ २६ ॥

ननु व्योमादिपञ्चानां प्रत्येकं पञ्चात्मकत्वं स्वरूपाविनाशेऽपि कथं स्यादित्याशङ्क्य तत्प्रकारं प्रकटयति—द्विधेति । अत्रापि सूक्ष्मशरीरसामग्र्याद्युत्पत्ताविव मायावृत्त्यात्मकेश्वरसङ्कल्प एव निमित्तमनुवर्तते । एवं च सत्यसङ्कल्पः परमेश्वरः प्रोक्तसङ्कल्प-

तैरण्डस्तत्र भुवनं भोग्यभोगाश्रयोद्भवः ।
हिरण्यगर्भः स्थूलेऽस्मिन्देहे वैश्वानरो भवेत् ।।
तैजसा विश्वतां याता देवतिर्यङ्नरादयः ।। २८ ।।

एवं पञ्चीकरणमभिधाय तैर्भूतैरुत्पाद्यं कार्यवर्गं दर्शयति—

तैरण्ड इति । तैः पञ्चकृतैर्भूतैरुपादानकारणभूतैरण्डो ब्रह्माण्ड उत्पद्यते । तत्र ब्रह्माण्डान्तर्भुवनान्युपरिभागे वर्तमाना भूम्यादयः सप्त लोकाः भूमेरधःस्थितान्यतलादीनि सप्त पातालान्तानि तेषु च भुवनेषु तैस्तैः प्राणिभिर्भोक्तुं योग्यान्यन्नादीनि तत्तल्लोकोचितशरीराणि च तैरेव पञ्चीकृतैर्भूतैरीश्वराज्ञया जायन्ते । एवं स्थूलशरीरोत्पत्तिमभिधाय तेषु स्थूलशरीरेष्वभिमानवतो हिरण्यगर्भस्य समष्टिरूपस्य वैश्वानरसंज्ञकत्वमेकैकस्थूलशरीराभिमानवतां व्यष्टिरूपाणां तैजसानां विश्वसंज्ञकत्वं च भवतीत्याह— **हिरण्यगर्भ इति** । अस्मिन्स्थूलदेहे वर्तमानो हिरण्यगर्भो वैश्वानरो भवेत् । तत्रैव वर्तमानास्तैजसा विश्वा भवन्ति । तेषामवान्तरभेदमाह—**देवतिर्यग्गिति ।। २८ ।।**

मात्रेणैव । एकैकमाकाशादिकं भूतं द्विधा द्विप्रकारकम् । विधाय कृत्वा पुनः प्रथमं द्विधाकृताद्यभागं चतुर्धा विधाय । **स्वस्वेति** । स्वस्वशब्दिततत्तद्भूतभिन्नभूतसम्बन्धिद्वैधीकृतत्वप्रयुक्तावशिष्टद्वितीयभागैः सहेत्यर्थः । योजनात्सम्मेलनात्पञ्चापि ते महाभूतपदार्थाः । पञ्चाऽऽकाशाद्यर्धभागात्तदितराष्टमभागेभ्यश्च हेतोराकाशाद्यभिधा भवन्तीति सम्बन्धः ॥ २७ ॥

तत्फलमाह—**तैरित्याद्यर्धेनैव** । अण्डो ब्रह्माण्डगोलकः । भुवनेति । चतुर्दशभुवनशब्दादिविषयाण्डजजरायुजस्वेदजोद्भिज्जाख्यदेहोत्पत्तिश्च भवतीत्यर्थः । ननु तमःप्रधानप्रकृतेरवशिष्टोत्पन्नपञ्चमहाभूतनिष्ठोक्तमौंशमात्रभूतपञ्चकस्य । पञ्चीकरणविकारमात्रेण । कथमिन्द्रियगम्यत्वमिति चेन्न । ऐन्द्रजालिकपठितमन्त्रवदीशकृतपञ्चीकरण एव तत्सामर्थ्यात् । एवं चातथाभूतलिङ्गशरीरादावनिन्द्रियग्राह्यत्वेऽपि न क्षतिरिति सर्वमवदातम् । एवमर्धेन ब्रह्माण्डोत्पत्तिमभिधाय समष्टिसूक्ष्मशरीरतादात्म्याभिमानेन हिरण्यगर्भतां प्राप्तस्येश्वरस्य निरुक्तसमष्टिस्थूलशरीरात्मकब्रह्माण्डेऽपि प्राग्वदेव तादात्म्याभिमानेन विराडपरनामकवैश्वानरसंज्ञा भवतीत्याह—**हिरण्येत्यादिपूर्वार्धेन** । अत्राभवदित्येव साधुतरम् । यातेति तथैवानुपदमेव वक्ष्यमाणत्वाद्भवेदितिपाठस्य

ते पराग्दर्शिनः प्रत्यक्तत्त्वबोधविवर्जिताः ।
कुर्वते कर्म भोगाय कर्म कर्तुं च भुञ्जते ।। २९ ।।

इदानीं तेषां विश्वसंज्ञां प्राप्तानां जीवानां तत्त्वज्ञानरहितत्वेन संसारापत्तिप्रकारं सदृष्टान्तं श्लोकद्वयेनाऽऽह—

ते पराग् इति । ते देवादयः पराग्दर्शिनो बाह्यानेव शब्दादीन्पश्यन्ति न तु प्रत्यगात्मानं "पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयंभूस्तस्मात्पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्" [कठो० ४–१] इति श्रुतेः । ननु तार्किकादयो देहव्यतिरिक्तमात्मानं जानन्तीत्याशङ्क्य यद्यप्यात्मानं ते तथा जानन्ति तथापि श्रुतिसिद्धं तत्त्वं न जानन्तीत्याशयेनोक्तमित्याह—**प्रत्यगिति । कुर्वत इति ।** अत एव भोगाय सुखाद्यनुभवाय मनुष्यादिशरीराण्यधिष्ठाय कर्म तत्तच्छरीरोचितानि कर्माणि कुर्वते । **कर्मे**ति जातावेकवचनम् । पुनश्च कर्म कर्तुं देवादिशरीरैस्तत्तत्फलं भुञ्जते च । फलानुभवाभावे तत्तत्सजातीयेच्छानुपपत्त्या तत्तत्साधनानुष्ठानानुपपत्तेः ।। २९ ।।

तु लेखकप्रमादजन्यत्वाच्च । नन्वेवं चेद्व्यष्टिलिङ्गाख्यसूक्ष्मशरीराभिमानिनां प्रागुक्ततैजसानामपि व्यष्टिस्थूलतत्तद्देहाभिमानप्रयुक्तं किञ्चित्संज्ञान्तरं संज्ञाप्यमेवेत्यतस्तदाह—**तैजसा इति तृतीयपादेन** । तेषामवान्तरभेदमाह—**देवेत्यादिचतुर्थचरणेन** । कर्मानधिकारित्वसाम्येनैव देवग्रहणोत्तरं तिर्यग्ग्रहणं न तु सात्त्विकादितारतम्येन । तथात्वे देवमर्त्यगवादय इत्येव पाठापत्तेः । आदिपदेन विदेहप्रकृतिलयाः । तानसूत्रयद्भगवान्पतञ्जलिः—"भवप्रत्ययो विदेहप्रकृतिलयानाम्" इति । विवृतमिदं **नारायणतीर्थैः**—अयमपि सम्प्रज्ञातो द्विविध उपायप्रत्ययो भवप्रत्ययश्च । तत्र मुमुक्षुभिर्हेयं भवप्रत्ययमाह—भवेति । भूतेन्द्रियाणामन्यतरदात्मत्वेन प्रतिपन्नास्तदुपासनया तद्वासितान्तःकरणाः पिण्डपातानन्तरं भूतेन्द्रियेषु लीना मांसशोणितलोममेदोस्थिमज्जारूपषाट्कौशिकदेहशून्या विदेहाः । एवमव्यक्तं महदहङ्कारपञ्चतन्मात्राणामन्यतमदात्मत्वेन प्रतिपन्नास्तदुपासनया प्रकृत्यादिकारणेषु लीनाः प्रकृतिलया इत्याद्युक्त्वा । अत एवोक्तं **वायुपुराणे**—

"दश मन्वन्तराणीह तिष्ठन्त्यव्यक्तचिन्तकाः ।
पुरुषं निर्गुणं प्राप्य कालसङ्ख्या न विद्यते ॥" इति ॥ २८ ॥

ननु किं ततस्तदाह—**ते परागिति** । ते देवादयः । **परागिति** । "पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयम्भूस्तस्मात्पराङ्पश्यति नान्तरात्मन्" इति श्रुतेः । स्वयम्भूः स्वयमात्मैव

नद्यां कीटा इवावर्तादावर्तान्तरमाशु ते ।
व्रजन्तो जन्मनो जन्म लभन्ते नैव निर्वृतिम् ।। ३० ।।

सत्कर्मपरिपाकात्ते करुणानिधिनोद्धृताः ।
प्राप्य तीरतरुच्छायां विश्राम्यन्ति यथासुखम् ।। ३१ ।।

एवं वर्तमानास्ते जीवा नदीप्रवाहपतिताः कीटाश्चावर्तादावर्तान्तरमाशु व्रजन्तो यथा निर्वृत्तिं सुखं न लभन्त एवमाशु जन्मनो जन्म व्रजन्तः सुखं नैव लभन्त इति ।। ३० ।।

एवं संसारापत्तिमभिधाय तन्निवृत्त्युपायं दर्शयितुं दृष्टान्तं तावदाह—

सत्कर्मेति । ते कीटाः सत्कर्मपरिपाकात्पूर्वोपार्जितपुण्यकर्मपरिपाकात्कृपालुना केनचित्पुरुषविशेषेणोद्धृता नदीप्रवाहाद्बहिर्निःसारिताः सन्तस्तीरतरुच्छायां प्राप्य सुखं यथा भवति तथा यद्वद्विश्राम्यन्ति ।। ३१ ।।

भू-सत्ता यस्य स परमात्मेत्यर्थः । खानोन्द्रियाणि । पराञ्चि पराग्बहिरेवाञ्चन्ति प्रकाशयन्तीति तथा । व्यतृणदकरोत् । पराग्बहिर्मुखमेव द्रष्टुं शीलं येषां ते तथेत्यर्थः । तत्र हेतुः—**प्रत्यगिति ।** अत एव तेषां बहिर्मुखत्वेऽपि संसारः कथं सम्पद्यत इत्यत आह—**कुर्वत इत्युत्तरार्धेन ।** शब्दस्पर्शादिविषयोपभोगलालस्यादेव ते भोगाय कर्माग्निहोत्रादि कुर्वते तथा तत्कर्म सद्यस्तत्संस्काराज्जन्मान्तरे च कर्तुमेव । तान्विषयान्पत्न्यादिद्वारा भुञ्जत इत्यन्वयः ॥ २९ ॥

ततस्तत्फलीभूतं संसारं सदृष्टान्तं स्पष्टयति—**नद्यामिति ।** निर्वृत्तिं पारमार्थिकं सुखम् ॥ ३० ॥

नन्वेवं देवादीनामपि दुर्निरासात्कीटदृष्टान्तेनेष्टानिष्टावियोगसंयोगजन्यदुःखैकफलकाज्जन्ममरणानन्त्यलक्षणद्वैतभ्रान्तिरूपात्संसारात्कदा निर्मुक्तिर्भवेदित्यत्र दृष्टान्ते तामादौ स्पष्टयति—**सत्कर्मेति ।** इदं दार्ष्टान्तिकेऽप्यग्रे योज्यम् । एवमत्र करुणानिधिनेति विशेषणे केनचित्पुंसेति शेषो बोध्यः ॥ ३१ ॥

उपदेशमवाप्यैवमाचार्यात्तत्त्वदर्शिनः ।
पञ्चकोशविवेकेन लभन्ते निर्वृतिं पराम् ।। ३२ ।।

इदानीं दृष्टान्तसिद्धमर्थं दार्ष्टान्तिके योजयति—

उपदेशमिति । एवमुक्तेन प्रकारेण पूर्वोपार्जितपुण्यकर्मपरिपाकवशादेव तत्त्वदर्शिनः प्रत्यगभिन्नब्रह्मसाक्षात्कारवत आचार्याद्गुरोः सकाशादुपदेशं तत्त्वमस्यादिवाक्यार्थज्ञानसाधनं श्रवणं वक्ष्यमाणमवाप्य सम्पाद्य पञ्चकोशविवेकेनान्नादीनां पञ्चानां कोशानां विवेकेन वक्ष्यमाणविवेचनेन परां निर्वृतिं मोक्षसुखं लभन्ते प्राप्नुवन्ति ।। ३२ ।।

अथ दार्ष्टान्तिके तां प्रकटयति—**उपदेशमिति** । एवं निरुक्तकीटवदेव । प्राक्तनपद्यप्रथमपादस्त्वत्राप्यनुवर्तते । ते प्रकृता देवादिजीवाः । **सदिति** । अनन्तजन्मसञ्चितसकलकाम्यनिषिद्धवैधुर्यपूर्वकान्तर्याम्येकप्रीतिमत्यनुष्ठिततन्त्रलेशमात्रामिश्रितश्रौतस्मार्त - नित्यनैमित्तिकप्रायश्चित्ताख्यतत्तद्वर्णाश्रमाद्युच्चितस्वधर्मफलोन्मुखतारूपेश्वरप्रसादादित्यर्थः । **तत्त्वेति** । ब्रह्मनिष्ठवरिष्ठादिति यावत् । एतादृशात् । आचिनोति च शास्त्रार्थमित्यादिना **प्रागुक्तलक्षणात्सद्गुरोः** सकाशादित्यर्थः । उपदेशं विचारिततत्त्वमस्यादिमहावाक्यश्रवणम् । अवाप्य प्राप्य । **पञ्चेति** । व्यष्टयाद्यन्नमयादिपदवाच्यस्थूलदेहादिलक्षणानां खड्गतण्डुलादेरिवाद्वैतब्रह्मरूपप्रतीचः प्रच्छादकत्वाच्चर्मतुषविशेषादीनामिव त्रयाणां देहानां सत्तादिप्रदनिरुक्तरूपात्मनः सकाशात्पृथक्कारेणेति यावत् । परां कैवल्यरूपत्वेनोत्कटाम् । निर्वृतिमद्वैतात्मसुखस्थितिम् । लभन्ते प्राप्नुवन्तीवेति सम्बन्धः । तदाहुः **श्रीमद्वार्तिककारचरणाः**—

"सत्यादिलक्ष्याज्ञानोत्थासत्याद्यर्थनिषेधधी ।
वर्त्मनैवाप्तमाप्नोति केवलाज्ञानहानतः ।।

एवं ज्ञातं विजानाति विमुक्तश्च विमुच्यते ।
निवर्तते निवृत्तं च त्रिवैः शपथयाम्यहम्" ।। इति ।।३२।।

अन्नं प्राणो मनो बुद्धिरानन्दश्चेति पञ्च ते ।
कोशास्तैरावृतः स्वात्मा विस्मृत्या संसृतिं व्रजेत् ।। ३३ ।।

के तेऽन्नादयः पञ्च कोशा इत्याकाङ्क्षायां तानुपदिशति—

अन्नं प्राण इति । अन्नं प्राणो मनो बुद्धिरानन्दश्चेति पञ्च कोशाः । बुद्धिर्विज्ञानम् । तेषामन्नादीनां कोशशब्दाभिधेयत्वे कारणमाह—**तैरिति ।** तैः कोशैरावृत आच्छादितः स्वात्मा स्वरूपभूत आत्मा विस्मृत्या स्वस्वरूपविस्मरणेन संसृतिं जननादिप्राप्तिरूपं संसारं व्रजेत् । **स्पष्टम् ।** कोशो यथा कोशकारकृमेरावरकत्वेन क्लेशहेतुरेवमन्नादयोऽप्यद्वयानन्दत्वाद्यावरकत्वेनाऽऽत्मनः क्लेशहेतुत्वात् कोशा इत्युच्यन्त इत्यर्थः ।। ३३ ।।

ननु के ते पञ्चकोशा इत्यतस्तानुद्दिशति—**अन्नमित्यादिना ।** नन्वन्नादिपदवाच्यस्थूलदेहादीनां कोशपदशक्यत्वे किं कारणमित्यत्राऽऽह—**तैरित्यादिना ।** लोके खड्गादेरावरके चर्मविशेषादौ यथा कोशपदप्रवृत्तिस्तथा प्रकृतेऽपीत्याकूतम् । यथा वा कोशकारकृमिजन्योऽपि कोशस्तत्क्लेशकारणं तद्वदविद्यावशादाकाशादिक्रमेणात्मजन्या अप्यन्नादयस्तद्दुःखहेतव इति कोशपदव्यपदेश्या इत्याशयः । ततः किं तदाह—**विस्मृत्येत्यादिना ।** अत्र "स्वस्वरूपविस्मरणेन" इति **प्राचीनटीकाकृतो** व्याचख्युः । तत्र स्मृतेरनुभूतविषयाऽसम्प्रमोषा स्मृतिः" इति **पतञ्जल्युक्तेः** "संस्कारजन्यं ज्ञानं स्मृतिः" इति **तार्किकोक्तेश्च** सर्वथाऽप्यनुभूतार्थविषयकसंस्कारजन्यपरोक्षान्तःकरणवृत्तावेव स्मृतित्वपर्यवसाने तदभावरूपविस्मृतिपदार्थस्य **शकुन्तलायाः कण्वाश्रमे** गान्धर्वविधिकृतपाणिग्रहणपूर्वकं विहितगर्भाधानादिविषयकविस्मरणस्य **दुष्यन्ते दुर्वासःशापान्महाभारतादि**प्रसिद्धस्य प्रकृते तु वक्तुं सुतरामयुक्तत्वमेव । तस्यानुभवपूर्वकत्वनियमात्प्रत्यगभिन्नब्रह्मानुभवे तु द्वैतस्याखिलस्यापि बाधितत्वेन विस्मृतिसामग्र्या एवाभावाद्**बृहद्योगवासिष्ठ**प्रथमसर्गटीकाप्रसिद्ध**सनत्कुमारदत्तस्य विष्णुं** प्रत्यज्ञानोपगमशापस्य तथा तेन पूर्वं तस्मै दत्तस्य पुनः **स्कन्दरूपेण** जन्मादिशापस्य चेश्वरलीला नाट्यत्वेनानुदाहरणत्वाच्च । अन्यथैतावत्प्रयासतः सम्पादितस्याप्यद्वैतब्रह्मात्मसाक्षात्कारस्यापि जीवन्मुक्तिपक्षे विस्मृतिसम्भवेन वैफल्यापत्तेः । तथा च सकलाद्वैतशास्त्रवैयर्थ्यापत्तेश्च । न **चार्जुनस्य श्रीकृष्णं** प्रति "नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाऽच्युत" इति वच एव स्मृतित्वं ब्रह्मविद्यायां वदत्तद्विरोधिन्यामविद्यायां विस्मृतित्वं व्यनक्तीति वाच्यम् । तत्रागत्या स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्ष इति **छान्दोग्यश्रुतिवदद्वैत**साक्षात्कार एव लाक्षणिकत्वात्प्रकृते तु पौरुषत्वेन तथा वक्तुमशक्यत्वात्तुष्यतु दुर्जन इति **न्यायेन** तदङ्गीकारेऽपि "कोशास्तैरावृतः स्वात्मा" इतिपूर्ववाक्येन संसृतिं व्रजेदित्युत्तरवाक्यविहितजन्ममरणादिलक्षणविशेषात्मकसंसारस्य मूलकारणताया आनन्दमयाख्यपञ्चमकोशान्तर्निविष्टमूलाविद्यायामेवाखण्डापरिच्छिन्ना-

स्यात्पञ्चीकृतभूतोत्थो देहः स्थूलोऽन्नसंज्ञकः ।
लिङ्गे तु राजसैः प्राणैः प्राणः कर्मेन्द्रियैः सह ॥ ३४ ॥

तेषां कोशानां स्वरूपाणि क्रमेण व्युत्पादयति—

स्यात्पञ्चीकृतेत्यादिना मोदावृत्तिभिरित्यन्तेन सार्धश्लोकद्वयेन । पञ्चीकृतेभ्यो भूतेभ्य उत्पन्नः स्थूलो देहोऽन्नसंज्ञकोऽन्नमयशब्दितः कोशः स्यात् । प्राणस्तु प्राणमयकोशस्तु लिङ्गशरीरे वर्तमानै राजसै रजोगुणकार्यभूतैः प्राणैः प्राणापानादिभिर्वायुभिः पञ्चभिर्वागादिभिः कर्मेन्द्रियैः सह दशभिः स्यात् ॥ ३४ ॥

नन्दावरणकारिण्यामावृतपदेन कण्ठत एव स्फुटितत्वेन पौनरुक्त्यापत्तेश्च । नाप्यश्वमेधपर्वोक्तानुगीताकथनान्यथानुपपत्तितोऽर्जुनस्य भीष्मपर्वोक्तब्रह्मविस्मृतिवत्प्रकृतेऽस्मदादेरपि तत्सम्भव इति साम्प्रतम् । तस्याद्वैतब्रह्मविद्याया दौर्लभ्यमात्राभिप्रायकत्वेन निरुक्तशास्त्रवैयर्थ्यादिन्यायसिद्धार्थबाधकत्वासामर्थ्यात् । तस्मात्किमत्र विस्मृतिपदस्वारस्यमिति चेदुच्यते । नवमे मासि सर्वाङ्गसम्पूर्णो भवति—

"मृतश्चाहं पुनर्जातो जातश्चाहं पुनर्मृतः ।
नानायोनिसहस्राणि मयोषितानि यानि वै ॥

आहारा विविधा भुक्ताः पीता नानाविधाः स्तनाः ।
मातरो विविधा दृष्टाः पितरः सुहृदस्तथा ॥

अवाङ्मुखः पीडयमानो जन्तुश्चैव समन्वितः ।
सांख्यं योगं समभ्यस्येत्पुरुषं वा पञ्चविंशकम्" ॥ इति ।

ततश्च दशमे मासे प्रजायते—"जातश्च वायुना स्पृष्टस्तन्न स्मरति' इति निरुक्तम् । जन्तुरिति जन्तुभिरित्यर्थः । यतः समन्वितोऽतः पीडयमानश्चावाङ्मुख एव सन्नहमितो विमुक्तः स्यां चेत्सांख्यं ब्रह्मविचारपूर्वकं योगं चितवृत्तिनिरोधं समभ्यस्य वेति निश्चयेन । पञ्चविंशकम् । ज्ञानेन्द्रियकर्मेन्द्रियप्राणशब्दादिपञ्चकचतुष्टयान्तःकरणाविद्याकामकर्माख्यकल्पितचतुर्विंशतितत्त्वापेक्षया तत्साक्षिभूतं पञ्चविंशकं पुरुषमित एष्यामीति प्रतिजानीत इत्यर्थः । एवं च कदाचिद्गर्भवासविशेषे सञ्जातामपि विवेकादिसामग्रीकृतप्रतिज्ञा बाह्यवायुस्पर्शाज्जीवो यद्विस्मरति तया विस्मृत्या संसृतिं संसारं व्रजेत्प्राप्नुयादित्येव श्रीमद्विद्यारण्यगुरुचरणानामभिमतमिति प्रतिभाति ॥ ३३ ॥

ननु भवत्वेवं गर्भवासविशेषे सञ्जाताया अपि दैवाद्विवेकादिसामग्र्यास्तथा तत्र

सात्त्विकैर्धीन्द्रियैः साकं विमर्शात्मा मनोमयः ।
तैरेव साकं विज्ञानमयो धीर्निश्चयात्मिका ।। ३५ ।।

विमर्शात्मा संशयात्मकं पञ्चभूतसत्त्वकार्यं यन्मन उक्तं तत्सात्त्विकैः प्रत्येकं भूतसत्त्वकार्यभूतैर्धीन्द्रियैः श्रोत्रादिभिः पञ्चभिर्ज्ञानेन्द्रियैः साकं सहितं मनोमयः कोशः स्यादिति पूर्वेण सम्बन्धः । निश्चयात्मिका धीस्तेषामेव सत्त्वकार्यरूपा बुद्धिस्तैरेव पूर्वोक्तैर्ज्ञानेन्द्रियैरेव साकं सहिता सती विज्ञानमयो विज्ञानमयाख्यः कोशः स्यात् ।। ३५ ।।

कृतसांख्ययोगाभ्यासेन ब्रह्मप्राप्तिसम्पादनप्रतिज्ञाया अपि विषयिजनसंसृष्टबाह्यवायुसंस्पर्शमात्रेण विस्मृत्याऽशनायादिजन्यशोकादिलक्षणसंसृतिः परन्तु सर्वमिदमन्नमयाद्युक्तकोशपञ्चकावरणप्रयुक्तमेवेति तु निर्विवादमेव तेऽपि किं प्रागुक्तजाग्रदादिप्रयोजकस्थूलादिदेहत्रयादन्ये किं वा तद्रूपा एव । नाऽऽद्योऽनुपलब्धेः । नाप्यन्त्यः । त्रित्वपञ्चत्वयोर्यथासंख्यत्वाभावादित्याशङ्क्य समाधत्ते—स्यादित्यादिसार्धद्वयेन । अन्नेति । "स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः" इति श्रुतेः "पितृभुक्तान्नजाद्वीर्याज्जातोऽन्नेनैव वर्धते । देहः सोऽन्नमयः" इति वक्ष्यमाणकोशविवेकोक्तद्विवृत्तेश्च पूर्वपद्योक्तान्नाभिधः प्रथमः कोश इत्यर्थः । अथ सूक्ष्माख्यलिङ्गशरीरे प्राणमयादिकोशत्रयान्तर्भावं स्पष्टयति—लिङ्गे त्वित्यादिसार्धेन । पूर्ववैलक्षण्यार्थस्तुशब्दः । राजसैः प्रागुक्ताकाशादिरजोगुणसङ्घकार्यैरित्यर्थः । तथा तद्व्यस्तरजःकार्यैः कर्मेन्द्रियैः सह प्राणः प्राणमयकोशो लिङ्ग एतन्नामके सूक्ष्मशरीरेऽस्तीति सम्बन्धः ।। ३४ ।।

सात्त्विकैः प्रागुक्ताकाशादिव्यस्तसत्त्वगुणकार्यैः । एतादृशैर्धीन्द्रियैर्ज्ञानेन्द्रियैः । विमर्शात्मा सङ्कल्पविकल्पात्मकविचारस्वरूपः । मनोमयः कोशः । तथा तैरेव निरुक्तज्ञानेन्द्रियैरेव साकं निश्चयात्मिका धीश्च विज्ञानमयःकोशोऽपि लिङ्गेऽस्तीति पूर्वेणान्वयः । इह ज्ञानेन्द्रियाणां मनोमयविज्ञानमयकोशद्वयेऽपि सन्निवेशस्तु तेषामपि संशयनिश्चयोभयविधवृत्तिदृष्टेरेवेति भावः ।। ३५ ।।

कारणे सत्त्वमानन्दमयो मोदादिवृत्तिभिः ।
तत्तत्कोशैस्तु तादात्म्यादात्मा तत्तन्मयो भवेत् ॥ ३६ ॥

कारणे कारणशरीरभूतायामविद्यायां यन्मलिनसत्त्वमस्ति तन्मोदादिवृत्तिभिः प्रियमोदप्रमोदाख्यैरिष्टदर्शनलाभभोगजन्यैः सुखविशेषैः सहितमानन्दमय आनन्दमयाख्यः कोशः स्यादिति । ननु स्थूलशरीरादीनामन्नमयादिशब्दवाच्यत्वे "स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः" [तैत्ति० २–१–१] इत्युपक्रम्य "तस्माद्वा एतस्मादन्नरसमयादन्योऽन्तर आत्मा प्राणमयः" [तैत्ति० २–२–१] "अन्योऽन्तर आत्मा मनोमयः" [तैत्ति० २–३–१] इत्यादिश्रुतत्वादात्मनोऽन्नमयादिशब्दवाच्यत्वं कथमुच्यत इत्याशङ्क्य देहादीनामन्नादिविकारत्वेनान्नमयादिशब्दवाच्यत्वमात्मनस्तु तेन तेन कोशेन तादात्म्याभिमानादित्याह—**तत्तदिति** । आत्मा प्रत्यगात्मा तत्तत्कोशैस्तेन तेन कोशेन सह तादात्म्यात्तादात्म्याभिमानात्तत्तन्मयस्तत्तत्कोशमयः स्याद्व्यवहारकालेऽन्नमयादिकोशप्राधान्यादन्नमयादिशब्दवाच्य इत्यर्थः । तुशब्दश्चाऽऽत्मनः कोशेभ्यो वैलक्षण्यद्योतनार्थः ॥ ३६ ॥

कारणशरीरे त्वानन्दमयकोश एवेत्याह—**कारण इत्यर्धेन । मोदादीति । इष्ट**वस्तुदृष्टिलाभसम्भोगजन्यप्रियमोदप्रमोदादिजाग्रदादिकालिकवृत्तिभिः सह सत्त्वमपि सत्त्वगुणप्राधान्यमपि तथा कारणे सुषुप्तिकालिकतमोगुणाकारपरिणतमूलाविद्यात्मकजाग्रदादिकारणशरीरावच्छेदे नाज्ञातात्मसुखविषयकाविद्यावृत्तिभिश्चाऽऽनन्दमयोऽस्तीति योज्यम् । नन्वस्त्वेवं देहत्रये स्थूलादिलक्षणेऽन्नमयादिपञ्चकोशान्तर्भावस्तथाऽप्यात्मनः "स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः । तस्माद्वा एतस्मादन्नरसमयात् । अन्योऽन्तर आत्मा प्राणमयः । मनोमयः । विज्ञानमयः । आनन्दमयः" इति च श्रुत्युक्तं तत्तत्कोशमयत्वं च तेषां तदावरकत्वं च कथमित्याशङ्क्योभयमपि निदर्शितश्रौतमयट्सूचिततादात्म्याध्यासादेवोपपद्यत इति समाधत्ते—**तत्तदित्याद्यर्धेन** ॥ ३६ ॥

अन्वयव्यतिरेकाभ्यां पञ्चकोशविवेकतः ।
स्वात्मानं तत उद्धृत्य परं ब्रह्म प्रपद्यते ।। ३७ ।।

कथं तर्ह्येवंविधस्याऽऽत्मनो ब्रह्मत्वं भवतीत्याशङ्क्य कोशेभ्यो विवेचनाद्भवतीत्याह—

अन्वयेति । अन्वयव्यतिरेकाभ्यां वक्ष्माणाभ्याम् । पञ्चकोशविवेकतः पञ्चानां कोशानामन्नमयादीनां विवेकतः प्रत्यगात्मनो विवेचनेन पृथक्करणेन । यद्वा पञ्चकोशेभ्योऽन्नमयादिभ्य आत्मनः पृथक्करणेन । स्वात्मानं प्रत्यगात्मानं ततस्तेभ्यः कोशेभ्य उद्धृत्य बुद्धया निष्कृष्य चिदानन्दस्वरूपं निश्चित्य परं ब्रह्म पूर्वोक्तलक्षणं प्रपद्यते प्राप्नोति । ब्रह्मैव भवतीत्यर्थः ।। ३७ ।।

ननु निरुक्तकोशैः सहाऽऽत्मनस्तादात्म्याध्यासेनानाद्यविद्याकृतेन जन्ममरणप्रवाहरूपानन्तद्वैतावभासलक्षणसंसारसम्भवेऽपि सकलदृश्यबाधकतदधिष्ठानत्वोपलक्षितदृङ्मात्रब्रह्मात्मैक्यविषयकस्वस्वशाखागतविचारितवेदान्तमहावाक्यैककरणकाप्रतिबद्धापरोक्षप्रमोदयसमकालतन्मात्राश्रयविषयकाविद्यातत्तद्व्याप्यादिद्वैतबाध एव तन्निवृत्तिरूपमुक्त्युपाय इत्यद्वैतशास्त्रसिद्धान्तः स च बोधस्तावत् "इयमात्मा परानन्दः" इत्यादावधस्तात्सूत्रित एव तथा च किमनेनाऽऽम्रेडितत्वाधायकेन पुनस्तद्व्युत्पादनग्रन्थेनेति चेत्सत्यम् । उत्तमाधिकारिणस्तावन्मात्रेण कार्यसिद्धावपि मध्यमादेरनुग्राहकत्वेनोत्तरग्रन्थसार्थक्यात्संक्षेपविस्तराभ्यां हि शास्त्रस्य प्रवृत्तिरिति न्यायाच्चेत्याशयेन प्राक्सूत्रितबोधस्यैव विस्तरलक्षणविवरणं चिकीर्षुरन्नं प्राण इत्यादिनाऽन्नमयादिकोशपञ्चकविरचितावरण एव संसृतिहेतुत्वोक्तेस्ततः सकाशादन्वयव्यतिरेकाभ्यामात्मनः पार्थक्यज्ञाने सति तन्निवृत्तिरिति मध्यमाद्यधिकारिणां तद्रीत्या तद्विवेके झटिति प्रवृत्तिसिद्ध्यर्थं "ब्रह्मविदाप्नोति परम्" इति निरुपमहितैषिण्या भगवत्या तैत्तिरीयकश्रुत्यैव स्फुटितं निखिलद्वैतध्वस्तिपूर्वकाद्वैतसच्चिदानन्दलक्षणब्रह्मस्थितिरूपमुक्तिमेवोक्तविवेकफलत्वेन कथयन्स्तादृशाधिकारिणः प्रति प्रतिजानीते—**अन्वयेति** ।। ३७ ।।

अभाने स्थूलदेहस्य स्वप्ने यद्भानमात्मनः ।
सोऽन्वयो व्यतिरेकस्तद्भानेऽन्यानवभासनम् ॥ ३८ ॥

इदानीं विवक्षितान्वयव्यतिरेकौ दर्शयति—

अभान इति । स्वप्ने स्वप्नावस्थायां स्थूलदेहस्यान्नमयकोशस्याभानेऽप्रतीतौ सत्यामात्मनः प्रतीचो यद्भानं स्वप्नसाक्षित्वेन यत्स्फुरणमस्ति स आत्मनोऽन्वयः । तस्यामेव स्वप्नावस्थायां तद्भाने तस्याऽऽत्मनः स्फुरणे सत्यन्यानवभासनमन्यस्य स्थूलदेहस्यानवभासनमप्रतीतिर्व्यतिरेकः स्थूलदेहस्येति शेषः । अस्मिन्प्रकरणेऽन्वयव्यतिरेकशब्दाभ्यामनुवृत्तिव्यावृत्ती उच्येते ॥ ३८ ॥

ननु कौ पुनरत्रान्वयव्यतिरेकौ याभ्यामनाद्यविद्याकृतपञ्चमहाभूतकार्यीभूतान्नमयादिपदवाच्यस्थूलशरीराद्यात्मकपञ्चकोशतादात्म्याध्यासादात्मनः समुद्धरणाव्यवहितोत्तरक्षण एव जीवस्य ब्रह्मप्रापणं वर्ण्यत इत्याशङ्क्याऽऽदौ स्थूलदेहाध्यासबाधार्थं जाग्रदवस्थां विहाय स्वप्ने तावदात्मनोऽन्वयपदविवक्षितमनुवर्तनं तथा स्थूलदेहस्य व्यतिरेकशब्दविवक्षितं व्यावर्तनं चाऽऽह—**अभान इति ।** एवं चात्र सर्वत्रान्वयव्यतिरेकसामान्यलक्षणमनुवृत्तिव्यावृत्तिरूपमेव विवक्षितमिति पर्यवस्यति । तत्त्वनुचितम् । पूर्वश्लोकेऽन्वयेत्यादिना जीवकर्तृकान्वयादिप्रयोजकं पञ्चकोशविवेककरणकानाद्यविद्यापादिततत्तादात्म्याध्यासापादानकस्वात्मपृथक्करणक्षणाव्यवहितोत्तरक्षणिकब्रह्मप्रापणवर्णनाद्ब्रह्मलक्षणाऽन्यूनानतिरिक्तस्वरूपलक्षणकत्वमात्मन्यवश्यं वाच्यम् । तत्तु नैव घटेत । उक्तवक्ष्यमाणरीतिभ्यामात्मनः स्वप्नादावनुवृत्तत्वकथनाद्ब्रह्मणः शुद्धस्य तावत् "अव्यावृत्ताननुगतं वस्तु ब्रह्मेति भण्यते । ब्रह्मार्थो दुर्लभोऽत्र स्याद्द्वितीये सति वस्तुनि" इति **श्रीमद्वार्तिककारचरणैः**—व्यावृत्याद्यखिलधर्मविधुराद्वैतचिन्मात्रतयैव लक्षितत्वात् । "यथोदकं शुद्धे शुद्धमासिक्तं तादृगेव भवति । एवं मुनेर्विजानत आत्मा भवति गौतमेति" **श्रुतेः** शोधितजीवब्रह्मार्थयोरन्यूनानतिरिक्तस्वरूपत्व एवैक्यार्हत्वाच्च । नन्वेकसत्त्वेऽपि द्वयं नास्तीतिन्यायेनाऽऽहवनीये जुहोतीति श्रुतिविहितहोमस्य लौकिकाग्नावुद्दीप्ताग्नित्वसत्त्वेऽप्याहवनीयपदाभिहिताधानादिसंस्कारविशेषवत्त्वाभावेन व्युदासवदात्मन्यनुवृत्तत्वसत्त्वेपि व्यावृत्तिविशिष्टानुवृत्त्यभावेन ब्रह्मभवनयोग्यतायाः समुचितत्वमेवेति चेन्न । निरुक्तवार्तिके व्यावृत्त्यनुगत्युभयाभावसमुच्चयस्याविवक्षितत्वात्तथात्वे त्वव्यावृत्तेत्याद्यनत्रैव व्यावृत्तं चानुगतं चानयोः समाहारो व्यावृत्तानुगतमेतादृशं यन्न भवतीत्यव्यावृत्तानुगतमिति प्रयोगतश्चारितार्थ्येऽव्यावृत्ताननुगतमिति नैव प्रयुक्तं स्यात्तस्माद्व्यावृत्त्यनुवृत्त्याद्यखिलधर्माभावोपलक्षितचिन्मात्राद्वैतवस्तुन एव तत्र ब्रह्मपदार्थस्तथा ममापि जाग्रदादिसमाध्यन्तनिखिलावस्थानुवृत्त्युपलक्षितप्रत्यक्चिन्मात्र एवाऽऽत्मपदार्थोऽस्तु ब्रह्मैक्ययोग्य इति वाच्यम् । तथात्वेऽभाने स्थूलदेहस्येत्यादिना स्वप्नाद्यवस्थात्रये

लिङ्गाभाने सुषुप्तौ स्यादात्मनो भानमन्वयः ।
व्यतिरेकस्तु तद्भाने लिङ्गस्याभानमुच्यते ।। ३९ ।।
तद्विवेकाद्विविक्ताः स्युः कोशाः प्राणमनोधियः ।
ते हि तत्र गुणावस्थाभेदमात्रात्पृथक्कृताः ।। ४० ।।

एवं स्थूलदेहस्यानात्मत्वावबोधकान्वयव्यतिरेकौ दर्शयित्वा लिङ्गदेहस्य तथात्वावगमकौ तौ दर्शयति—

लिङ्गेति । सुषुप्तौ सुषुप्त्यवस्थायां लिङ्गाभाने लिङ्गस्य सूक्ष्मदेहस्याभानेऽप्रतीतावात्मनो भानं तदवस्थासाक्षित्वेन स्फुरणमात्मनोऽन्वयः स्यात् । **तद्भान** आत्मभाने लिङ्गस्याभानं लिङ्गदेहस्यास्फुरणं व्यतिरेक उच्यते।।३९।।

ननु पञ्चकोशविवेचनमुपक्रम्य लिङ्देहविवेचनं प्रकृतासङ्गतमित्याशङ्क्य प्राणमयादिकोशत्रितयस्य तत्रैवान्तर्भावान्न प्रकृतासङ्गतिरित्याह—

तद्विवेकादिति । तस्य लिङ्गशरीरस्य विवेकाद्विवेचनात्प्राणमनोधिय एतन्नामकाः कोशा विविक्ता आत्मनः पृथक्कृताः स्युः । कुत इत्यत आह—**ते हीति** । हि यस्मात्कारणात्ते प्राणमयादयस्तत्र तस्मिन् लिङ्गशरीरे गुणावस्थाभेदमात्राद्गुणयोः सत्त्वरजसोरवस्थाभेदमात्राद्गुणप्रधानभावेनावस्थाविशेषादेव पृथक्कृता भेदेन निर्दिष्टा इत्यर्थः ।। ४० ।।

स्थूलादिदेहत्रयाभानलक्षणस्तद्व्यतिरेकस्तथा तत्राऽऽत्मनो भानलक्षणोऽन्वयश्च देहत्रयात्मपञ्चकोशतादात्माध्यासबाधफलकः किमिति कथनीयः स्यादहं ब्राह्मणो जाग्रदादिमान्प्राणादिमानात्माऽस्मीत्येतावतैव ब्राह्मणत्वाद्यखिलधर्मोपलक्षितचिन्मात्रप्रत्यगात्मवस्तुनः सकलावस्थादिविलक्षणस्य सिद्धिसम्भवात् । तस्मात्किमत्र **श्रीमद्विद्यारण्याचार्यचरण**तात्पर्यमिति चेच्छृण्वत्राऽऽकूतम् । शब्दस्पर्शादयो वेद्या इत्यादिना प्राग्यथा सर्वसाक्षित्वोपलक्षितचिन्मात्रस्य शोधिततत्पदार्थस्येयमात्मा परानन्द इत्यादिना शोधितत्वंपदार्थेन सहाभेदकथनार्थमुपायविशेषः कृतः संक्षेपतस्तथेह व्यतिहारेणाऽऽत्यन्तिकाद्वैतप्रत्यगात्मप्रबोधदार्ढ्यार्थं शोधितत्वंपदार्थस्यैवानुवृत्त्या तदध्यस्ततादात्म्यापन्नदेहादेस्ततो व्यावृत्त्या च केवलं विवेचनमात्रोपायीभूतयाऽनन्तानन्दसत्ताभिन्नप्रत्यक्चिन्मात्रवस्तुनस्तादृक्शोधिततत्पदार्थीभूतब्रह्मभवनार्थं कथ्यत इति सर्वं सुरसमेवेति दिक् ।। ३८ ।।

एवं स्वप्ने तावदात्मनोऽन्वयं तत्साक्षित्वेन भानलक्षणं स्थूलदेहस्यान्नमयकोशात्मनो जाग्रदवस्थावच्छिन्नस्य व्यतिरेकं चोक्त्वा क्रमप्राप्तत्वात्सुषुप्तावप्यात्मनो भानरूपमन्वयं प्राणमनोविज्ञानमयाख्यत्रिकोशात्मकलिङ्गशरीरस्याभानलक्षणं व्यतिरेकं च संक्षिपति—**लिङ्गेति** ।। ३९ ।।

तत्फलमाह—**तद्विति** । तस्य लिङ्गशरीरस्य विवेकान्निरुक्तान्वयादिनाऽऽत्मनः

सुषुप्त्यभाने भानं तु समाधावात्मनोऽन्वयः ॥
व्यतिरेकस्त्वात्मभाने सुषुप्त्यनवभासनम् ॥ ४१ ॥

इदानीमानन्दमयकोशत्वेन विवक्षितस्य कारणशरीरस्य विवेचनोपायमाह—

सुषुप्तीति । समाधौ वक्ष्यमाणलक्षणायां समाध्यवस्थायां सुषुप्त्यभाने सुषुप्तिशब्दोपलक्षितस्य कारणदेहरूपस्याज्ञानस्याप्रतीतौ । आत्मनस्तु तुशब्दोऽवधारणे आत्मन एव भानं स्फुरणं यदस्ति स आत्मनोऽन्वयः । आत्मभाने आत्मनः स्फूर्तौ सत्यां सुषुप्त्यनवभासनं सुषुप्त्युपलक्षितस्याज्ञानस्याप्रतीतिरेव व्यतिरेकस्तस्येति । अत्रायं प्रयोगः । प्रत्यगात्माऽन्नमयादिभ्यो भिद्यते तेषु परस्परं व्यावर्त्यमानेष्वपि स्वयमव्यावृत्तत्वात् । यद्येषु व्यावर्त्यमानेष्वपि न व्यावर्तते तत्तेभ्यो भिद्यते । यथा कुसुमेभ्यः सूत्रं यथा वा खण्डादिव्यक्तिभ्यो गोत्वमिति ॥ ४१ ॥

पृथक्त्वारक्षणावच्छेदेनैव स्वतःसत्ताराहित्यलक्षणमिथ्यात्वप्रथनादित्यर्थः । **प्राणेति** । एतन्मयनामकाः । कोशा विविक्ताः प्रोक्तमिथ्यात्वमानीताः स्युरिति यावत् । नन्वेकस्य लिङ्गशरीरस्य विवेचनमात्रेण त्रयाणां तेषां कथं तथात्वमित्यत आह—**ते हीति** । हिर्हेतौ यतः कारणात्ते प्राणमयादयस्त्रयः कोशाः । तत्र लिङ्गशरीरे । **गुणेति** । गुणयो रजःसत्त्वयोर्योऽवस्थाभेदः प्रागुक्त आकाशादिसूक्ष्मपञ्चमहाभूतसमस्तरजोंशैः प्राणस्तैर्व्यस्तैः कर्मेन्द्रियाणि चेति प्राणमयः । तथा तेषां समस्तैः सात्त्विकैरंशैः संशयात्मकैर्मनस्तादृशैर्व्यस्तैस्तैः पञ्चज्ञानेन्द्रियाणि चेति मनोमयः । एवं निश्चयात्मकैः समस्तैस्तैर्बुद्धिर्व्यस्तैश्च तैस्तादृशान्येव ज्ञानेन्द्रियाणि चेति विज्ञानमय इति पृथग्भावस्तस्माद्धेतोरेवेत्यर्थः । पृथक्कृताः सन्तीति सम्बन्धः ॥ ४० ॥

एवं समाधौ सुषुप्त्यभानेऽप्यात्मनो भानरूपमन्वयं सुषुप्तेरभानरूपं व्यतिरेकं चाऽऽह—**सुषुप्तीति** । समाधिस्तु—

"लीने पूर्वविकल्पे तु यावदन्यस्य नोदयः ।
निर्विकल्पकचैतन्यं स्पष्टं तावद्विभासते" ॥

इत्यादिशास्त्रादिसुप्रसिद्ध एवेति भावः ॥ ४१ ॥

यथा मुञ्जादिषीकैवमात्मा युक्त्या समुद्धृतः ॥
शरीरत्रितयाद्धीरैः परं ब्रह्मैव जायते ॥ ४२ ॥

परापरात्मनोरेवं युक्त्या सम्भावितैकता ॥
तत्त्वमस्यादिवाक्यैः सा भागत्यागेन लक्ष्यते ॥ ४३ ॥

अन्वयव्यतिरेकाभ्यां कोशपञ्चकाद्विविक्तस्याऽऽत्मनो ब्रह्मप्राप्तिर्भवतीत्युक्त तत्प्रतिपादिकाम् "अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा" [कठ० ६।१७] इत्यादिकां "तं विद्याच्छुक्रममृतम्" [कठ० ६-१७] इत्यन्तां कठश्रुतिमर्थतः पठति—

यथेति । यथा येन प्रकारेण मुञ्जादेतन्नामकात्तृणविशेषादिषीका गर्भस्थं कोमलं तृणं युक्त्या बहिरावरकत्वेन स्थितानां स्थूलपत्राणां विभजनलक्षणोपायेन समुद्ध्रियत एवमात्माऽपि युक्त्याऽन्वयव्यतिरेकलक्षणोपायेन शरीरत्रितयात्पूर्वोक्ताच्छरीरत्रितयाद्धीर्ब्रह्मचर्यादिसाधनसम्पन्नैरधिकारिभिः समुद्धृतः पृथक्कृतश्चेत्स परं ब्रह्मैव जायते चिदानन्दरूपत्वस्य लक्षणस्योभयोरविशिष्टत्वादित्यभिप्रायः ॥ ४२ ॥

एतावता ग्रन्थसन्दर्भेण सफलस्य तत्त्वज्ञानस्य निरूपितत्वादुत्तरग्रन्थभागस्यानारम्भप्रसङ्ग इत्याशङ्क्य तदारम्भसिद्धये वृत्तानुकथनपूर्वकमुत्तरग्रन्थस्य तात्पर्यमाह—

परापरेति । एवमुक्तप्रकारेण परापरात्मनोस्तत्त्वंपदार्थयोः परमात्मजीवात्मनोरेकताऽभिन्नता युक्त्या लक्षणसाम्यप्रदर्शनाद्युपायेन सम्भाविताऽङ्गीकारिता सैकता तत्त्वमस्यादिवाक्यैः स्पष्टं भागत्यागेन विरुद्धांशपरित्यागेन लक्ष्यते लक्षणया वृत्त्या बोध्यते ॥ ४३ ॥

एवं देहत्रयात्मकपञ्चकोशविवेकेन ब्रह्मप्राप्तौ किं मानमित्यपेक्षायाम्

"अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः ।
तँ स्वाच्छरीरात्प्रवृहेन्मुञ्जादिवेषीकां धैर्येण तं विद्याच्छुक्रममृतम्" ॥

इतिश्रुतिमेवार्थतः संग्रथयति—**यथेति** । मुञ्जात्तृणविशेषात् । इषीका तत्स्थूलपत्रपृथक्कारेषीकाख्या तत्कोमलशलाका यथा मौञ्जीकारकैर्निष्काश्यत एवमित्यन्वयः । अङ्गुष्ठमात्रो हृदयस्थमनोवच्छेदादित्यर्थः । प्रवृहेद्विवेचयेदिति यावत् ॥ ४२ ॥

ननु ततः किं प्रकृत इत्यत आह—**परापरेति** । एवमन्नं प्राण इत्यादिदशश्लोकयेत्यर्थः । परापरात्मनोस्तत्त्वंपदलक्ष्यत्वोपलक्षितचिन्मात्रयोरित्यर्थः । युक्त्याऽनुवृत्त-

जगतो यदुपादानं मायामादाय तामसीम् ।।
निमित्तं शुद्धसत्त्वां तामुच्यते ब्रह्म तद्गिरा ।। ४४ ।।
यदा मलिनसत्त्वां तां कामकर्मादिदूषिताम् ।।
आदत्ते तत्परं ब्रह्म त्वंपदेन तदोच्यते ।। ४५ ।।

तत्त्वमसीति वाक्यार्थज्ञानस्य तदादिपदार्थज्ञानपूर्वकत्वात्तत्पदस्य वाच्यार्थं तावदाह—

जगत इति । यत्सच्चिदानन्दलक्षणं ब्रह्म तामसीं तमोगुणप्रधानां मायामादायोपाधित्वेन स्वीकृत्य जगतश्चराचरात्मकस्य कार्यवर्गस्योपादानमध्यासाधिष्ठानशुद्धसत्त्वां विशुद्धसत्त्वप्रधानां तामुपाधित्वेन स्वीकृत्य निमित्तमुपादानाद्यभिन्नं कर्तृ भवति तद् ब्रह्म निमित्तोपादानोभयरूपं ब्रह्म तद्गिरा तत्त्वमसीतिवाक्यस्थेन तत्पदेनोच्यते ।। ४४ ।।

त्वंपदवाच्यार्थमाह—

यदेति । तदेव ब्रह्म यदा यस्यामवस्थायां मलिनसत्त्वामीषद्रजस्तमोमिश्रणेन मलिनसत्त्वप्रधानाऽत एव कामकर्मादिदूषितां तामविद्याशब्दवाच्यां मायामादत्त उपाधित्वेन स्वीकरोति तदा त्वंपदेनोच्यते ।। ४५ ।।

व्यावृत्ताख्यपञ्चमान्वयव्यतिरेकलक्षतर्कविशेषणरूपयुक्त्येति यावत् । तदुक्तं **सिद्धान्तबिन्दौ**—"दृग्दृश्यान्वयव्यतिरेकः साक्षिसाक्ष्यान्वयव्यतिरेक आगमापायितदवध्यन्वयव्यतिरेको दुःखिपरप्रेमास्पदान्वयव्यतिरेकः" इति "अनुवृत्तव्यावृत्तान्वयव्यतिरेकोऽपि पञ्चमः" इति । एकता ऐक्यमभेद इत्यर्थः । सम्भाविता निरस्ता सम्भावनीकृतेति यावत् । ततः किं तत्राऽऽह—**तत्त्वेति** । सा एकता ।। ४३ ।।

तत्प्रकारमेव कथयन्नादौ तच्छब्दशक्यार्थं कथयति—**जगत इति** । तामसीं तमः—प्रधानप्रकृतेरित्यादिना प्रागुक्तामित्यर्थः । आदायेत्युत्तरत्रापि योज्यम् । एवं च सत्त्वतमःप्रधानमायाशक्त्युपहितमद्वैतसच्चिदानन्दं यद्ब्रह्म जगदभिन्ननिमित्तोपादानं तदेव तत्पदवाच्यमस्तीत्यर्थः ।। ४४ ।।

एवं त्वंपदवाच्यमपीश्वरवज्जीवं कथयति— **यदेति** । तां प्रागुक्तां प्रकृत्यपराभिधां मायाम् । सत्त्वमालिन्ये हेतुः—**कामेति** । आदिना संस्काराः "एवमयमनादिरनन्तो नैसर्गिकोऽध्यासः" इति **श्रीमद्भगवत्पूज्यपाद**पादारविन्दवचनादुक्तरूपमलिनसत्त्वप्रधानप्रकृतिभागविशेषलक्षणाविद्यासत्त्वे कामकर्मादिदोषसत्त्वं तत्सत्त्वे च तत्सत्त्वमित्यन्योन्याश्रयः पराकरणीयः । दृश्यपञ्चकाख्यजीवादिवद्बीजात्मनाऽध्यस्ताखिलप्रपञ्चस्याप्यनादित्वादिति ध्येयम् । एवमनन्तत्वमपि ब्रह्मज्ञानेतरानिरस्यत्वादेव ।। ४५ ।।

त्रितयीमपि तां मुक्त्वा परस्परविरोधिनीम् ।।
अखण्डं सच्चिदानन्दं महावाक्येन लक्ष्यते ।। ४६ ।।
सोऽयमित्यादिवाक्येषु विरोधात्तदिदन्तयोः ।
त्यागेन भागयोरेक आश्रयो लक्ष्यते यथा ।। ४७ ।।
मायाविद्ये विहायैवमुपाधी परजीवयोः ।
अखण्डं सच्चिदानन्दं परं ब्रह्मैव लक्ष्यते ।। ४८ ।।

एवं तत्त्वंपदार्थावभिधाय वाक्यार्थमाह—

त्रितयीमिति । त्रितयीमपि त्रिप्रकारामपि तमःप्रधानविशुद्धसत्त्वप्रधान-मलिनसत्त्वप्रधानत्वभेदेनोक्तामत एव परस्परविरोधिनीं तां मायां मुक्त्वा परित्यज्याखण्डं भेदरहितं सच्चिदानन्दं ब्रह्म महावाक्येन लक्ष्यत इत्युक्तम् ।। ४६ ।।

नन्वेवं लक्षणावृत्त्या वाक्यार्थबोधनं क्व दृष्टमित्याशङ्क्याऽऽह—

सोऽयमिति । सोऽयं देवदत्त इत्यादिवाक्येषु तदिदन्तयोस्तदेतद्देश-कालवैशिष्ट्यलक्षणयोर्धर्मयोर्विरोधादैक्यानुपपत्तेर्भागयोर्विरुद्धांशयोस्त्यागेनैक आश्रयो देवदत्तस्वरूपमेकमेव यथा लक्ष्यते ।। ४७ ।।

एवं दृष्टान्तमभिधाय दार्ष्टान्तिकमाह—

मायाविद्ये इति । एवं सोऽयं देवदत्त इत्यादिवाक्ये यथा तद्वत्परजीव-योरुपाधी उपाधिभूते मायाविद्ये पूर्वोक्ते विहायाखण्डं भेदरहितं सच्चिदानन्दं परं ब्रह्मैव महावाक्येन लक्ष्यते ।। ४८ ।।

अथानयोरभेदस्य विरुद्धधर्मत्वेनासम्भवाद्भागत्यागलक्षणया लक्ष्यार्थं कथयति—**त्रितयीमपीति** । तां मायाम् ।। ४६ ।।

ननु शोधिततत्त्वंपदार्थयोरुभयोरपि सच्चिदानन्दवस्तुनः सर्वात्मनैकरसत्वलक्षणाखण्डत्वाद्भवतु तस्याविरोधेन लक्ष्यत्वमथापि भवदभिमतभागत्यागलक्षणालोके क्व दृष्टेत्याशङ्क्य सोऽयं देवदत्त इत्यादिवाक्येषु तद्दर्शनमुदाहरंस्तद्वाक्यमेव दृष्टान्तीकरोति—**सोऽयमित्यादीति** । आश्रयस्तत्तेदन्तालम्बीभूतश्चेतनो देवदत्ताख्यः पिण्ड एवेत्यर्थः ।।४७।।

दार्ष्टान्तिकं स्पष्टयति—**मायेति** ।। ४८ ।।

सविकल्पस्य लक्ष्यत्वे लक्ष्यस्य स्यादवस्तुता ।
निर्विकल्पस्य लक्ष्यत्वं न दृष्टं न च सम्भवि ।। ४९ ।।

ननु किं महावाक्येन लक्ष्यं सविकल्पमुत निर्विकल्पमिति विकल्प्य प्रथमे पक्षे दोषमाह पूर्ववादी—

सविकल्पस्येति । सविकल्पस्य विकल्पेन विपरीतत्वेन कल्पितेन नामजात्यादिना रूपेण सह वर्तत इति सविकल्पं तस्य लक्ष्यत्वे वाक्येन बोध्यत्वे लक्ष्यस्य वाक्यार्थतया लक्ष्यस्यावस्तुता स्यान्मिथ्यात्वं स्यात् । द्वितीये दोषमाह—**निर्विकल्पस्येति** । निर्विकल्पस्य नामजात्यादिना रहितस्य लक्ष्यत्वं न दृष्टं लोके न क्वापि दृष्टं न च सम्भव्युपपद्यमानमपि न भवति लक्ष्यत्वधर्मवतो निर्विकल्पत्वव्याघातादिति यावत् ।। ४९ ।।

एवमखिलवेदान्तसिद्धमद्वैतसिद्धान्तमनन्तजन्मसञ्चितदुरितादेवासहमानस्तत्कालमेव **तार्किकादिर्भेदवादी** शङ्कते । यद्वा कश्चिन्मुमुक्षुः शिष्य एवेतःपरं महावाक्यार्थरहस्योपदेशोत्तरं ममेष्टशब्दादिलाभादिजन्यानन्दसजातीय एव कश्चिल्लोकोत्तरत्रिपुट्यास्वादार्हः कैवल्याख्यः परमानन्दः स्यादित्याशया स्थितः सन्नखण्डं सच्चिदानन्दं परं ब्रह्मैव लक्ष्यत इति-**श्रवणेन** तद्भङ्गाद्दुर्कवस्तुनस्त्ववाङ्मनसगम्यत्वाच्चातुलव्याकुलमनाः शङ्कते—**सविकल्पस्येति** । "नन्वखण्डं सच्चिदानन्दं परं ब्रह्मैव लक्ष्यते" इत्युक्तमसङ्गतमिव प्रतिभाति । तथा हि । अखण्डपदप्रतिपाद्यं तावद्देशकालवस्तुपरिच्छेदविधुरं तु वस्तु सर्वथा नैव सम्भवति । "शुको मुक्तो वामदेवो मुक्तः" इत्यादि श्रुतेः शुकादीनामद्वैतात्मज्ञानेन मुक्तावप्यस्मदादीनां प्रत्यक्षोपलब्धप्रपञ्चसत्त्वेन वस्तुपरिच्छेदानिरासात्किं तु स्वगतभेदरहितमेव । तथाचाऽऽकाशपरमाण्वादीनां यावन्निरवयववस्तूनां स्वगतभेदराहित्यादखण्डत्वं जातिरेव । नित्यत्वे चैकत्वे च सत्यनेकानुगतत्वात् । एवं सदादिनामपदमिति तु निर्विवादमेव । तथा च तेनैव शक्यत्वे कथं लक्ष्यत्वं कथं वाऽखण्डत्वम् । किं चात्र महावाक्यलक्ष्यं किं लक्ष्यतावच्छेदकधर्माक्रान्तत्वेन सविकल्पं ब्रह्म किंवा ।

"निर्विकल्पमनन्तं च हेतुदृष्टान्तवर्जितम् ।
अप्रमेयमनादिं च यज्ज्ञात्वा मुच्यते बुधः ॥"

इत्यादि श्रुतेर्निर्विकल्पम् । नाऽऽद्यः । लक्ष्यस्य सविकल्पत्वेनावस्तुत्वरूपमिथ्यात्वात् । नाप्यन्त्यः । अदृष्टचरत्वादित्याशयः ॥ ४९ ॥

विकल्पो निर्विकल्पस्य सविकल्पस्य वा भवेत् ।
आद्ये व्याहतिरन्यत्रानवस्थात्माश्रयादयः ।। ५० ।।

सिद्धान्ती जात्युत्तरत्वान्नेदं चोद्यमिति विकल्पपूर्वकं दोषमाह—

विकल्प इति । सविकल्पस्य वा निर्विकल्पस्य लक्ष्यत्वमिति वा यो विकल्पस्त्वया कृतः स किं निर्विकल्पस्योत सविकल्पस्य भवेत् । आद्ये प्रथमे पक्षे व्याहतिस्त्वयोक्तो व्याघात एव । अन्यत्र द्वितीये पक्षेऽनवस्थादयः । तथाहि सविकल्पस्य विकल्प इत्यत्र विकल्पेन सह वर्तत इत्यत्र तृतीयान्तविकल्पपदेन प्रथमान्तविकल्पपदेन चैक एव विकल्पोऽभिधीयते । द्वौ वा एक एव चेत्स्वयमेक एव विकल्पाश्रयविशेषणतयाऽऽश्रयस्तदाश्रितो विकल्पश्चेत्तदाऽऽत्माश्रयता द्वौ चेत्तदा तृतीयान्तशब्दनिर्दिष्टस्यापि विकल्पस्य विकल्परूपत्वात्तदाश्रयस्यापि सविकल्पत्वात्तद्विशेषणभूतो विकल्पः किं प्रथमान्तशब्दनिर्दिष्ट एव विकल्प उत ताभ्यामन्य आद्येऽन्योन्याश्रयता, द्वितीयेऽपि धर्मिविशेषणीभूतो विकल्पः किं प्रथमान्तशब्दनिर्दिष्ट उत तेभ्योऽन्य, आद्ये चक्रकापत्तिर्द्वितीये तस्याप्यन्यस्तस्याप्यन्य इत्यनवस्थापात इति ।। ५० ।।

ननु भवत्वेवं भावत्को विकल्पपूर्वकमाक्षेपः परन्त्वद्वैतिसिद्धान्ते शुद्धस्य ब्रह्मणः कथायां सर्वथाऽप्यप्रवेशः प्रवेशश्चेति मतद्वयं तत्रोभयत्राप्युक्तप्रश्नो नैव सम्भवतीति सिद्धान्तो निरुक्तलक्ष्यत्वखण्डनं प्रति खण्डयन्विकल्पयति—**विकल्प इति**। योऽयं "सविकल्पस्य लक्ष्यत्वे लक्ष्यस्य स्यादवस्तुता । निर्विकल्पस्य च लक्ष्यत्वं न दृष्टं न च सम्भवि" इति भवता मदुक्ते "अखण्डं सच्चिदानन्दं परं ब्रह्मैव लक्ष्यते" इत्यद्वैतब्रह्मणि लक्ष्यत्वे विषये प्रश्नमूलीभूतो विकल्पः कृतः शुद्धाद्वैतब्रह्मणः कथायां प्रवेश एव नास्तीति सविकल्पमेव ब्रह्म महावाक्यलक्ष्यं विशुद्धहीरकपरीक्षान्यायेन शबलब्रह्मज्ञानादेव मोक्ष इति प्रथममतमवलम्ब्य पूर्वार्धे प्रथमकोटिकस्तथा शुद्धमपि ब्रह्माद्वैतं कथायां सञ्चरतीति द्वितीयमतमवलम्ब्योत्तरार्धे द्वितीयकोटिकश्च क्रमादस्ति । तदुद्देश्यं ब्रह्म किं निर्विकल्पं किं वा सविकल्पमिति पूर्वार्धनिविष्टकोटिद्वयार्थः । तत्र प्रथमं प्रतिक्षिपति—**आद्य इत्यादिना** । निर्विकल्पं ब्रह्मोद्दिश्य मयाऽयं स विकल्पस्य लक्ष्यत्वे इत्यादि श्लोकेन विकल्प्य प्रश्नमूलको विकल्पः कृत इति वदत एवोपजीव्यविरोधलक्षणो मन्माता वन्ध्येत्यादिवद्व्याघातः स्यात् । स्वभावतो निर्विकल्पत्वेन त्रैकालिकविकल्पशून्यस्य विकल्पविषयत्वासम्भवादित्यर्थः । एवमाद्यं प्रमर्द्यान्त्यं प्रत्याचष्टे—**अन्यत्रेत्यादिशेषेण** । यदि सविकल्पं ब्रह्मोद्दिश्यैव मामकोऽयं प्रश्नमूलीभूतो विकल्प इति ब्रूषे तर्हि त्वदुद्दिष्टं यस्य विकल्पं ब्रह्म तत्किं त्वत्कृतविकल्पेनैव सविकल्पं विकल्पान्तरेण वा । आद्ये ब्रह्मणः प्रकृते त्वदुद्दिष्टस्य

सविकल्पत्वसिध्यर्थं त्वत्कृतविकल्पापेक्षेति स्वस्य स्वापेक्षालक्षण आत्माश्रयः स्यात्। यथा **न्यायशास्त्रीयप्रथमसूत्रे** प्रमाणप्रमेयेत्यादिना प्रमाणादिषोडशपदार्थानां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसाभिगम इत्युक्तम्। तत्र तत्पदं भ्रमादिव्युदासार्थमिति तु निर्विवादमेव। तथा च तत्त्वज्ञानं प्रकृते प्रमात्मकमेव पर्यवसन्नम्। तच्च प्रमाणैककरणमिति सर्वसम्मतम्। तच्च प्रमाणं स्वयमज्ञातं नैव प्रमां जनयितुमलं चक्षुषाऽहं सूर्यं जानामीत्यनुभवाद्व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मत्वेन ज्ञात एव पार्वतधूमादौ तन्निष्ठवह्न्यनुमितिकरणत्वाच्च। एवं च प्रमाणज्ञाने प्रमाणज्ञानापेक्षेति स्वस्य स्वापेक्षालक्षण आत्माश्रयः स्फुट एव तद्वत्प्रकृतेऽपि। यदि सविकल्पं ब्रह्मोद्दिश्यैवायं तल्लक्ष्यत्वविषयको मया विकल्पः कृतः परन्तूद्दिष्टब्रह्मनिष्ठो विकल्पः प्रकृतमत्कृतविकल्पाद्भिन्न एवोद्देश्यतावच्छेदकधर्मलक्षणो ब्रह्मत्वादिरूपस्तथा च काऽऽत्माश्रय इति वदसि चेत्तर्हि निरुक्तोद्देश्यतावच्छेदकब्रह्मत्वरूपविकल्पसिद्धौ तेन विकल्पेन सविकल्पं ब्रह्मोद्दिश्य प्रकृतिलक्ष्यत्वविकल्पसिद्धिः प्रकृतलक्ष्यत्वविकल्परूपविधेयविकल्पसिद्धौ च तन्निरूपितोद्देश्यतावच्छेदकीभूतब्रह्मत्वादिधर्मेण तत्र सविकल्पत्वसिद्धिरिति परस्परापेक्षालक्षणोऽन्योन्याश्रयः। यथा तत्रैव प्रमाणपदार्थसिद्धौ तत्करणकप्रमाविषयीभूतप्रमेयपदार्थसिद्धिः प्रमेयपदार्थसिद्धौ च तद्विषयकप्रमाकरणत्वेन प्रमाणपदार्थसिद्धिरिति स्पष्ट एवान्योन्याश्रयः। एवं प्रकृतेऽप्यसौ। यदि चैतद्भीत्याऽज्ञाते ब्रह्मणि विकल्पासम्भवादज्ञातत्वलक्षणस्तृतीयो विकल्पो ब्रह्मणि स्वोक्रियते चेत्तर्हि ब्रह्मण्यज्ञातत्वसिद्धावुद्देश्यत्वसिद्धिरुद्देश्यत्वसिद्धौ च त्वत्कृतलक्ष्यत्वविकल्पसिद्धिस्त्वत्कृतलक्ष्यत्वविकल्पसिद्धौ च तदन्यथानुपपत्त्या तत्राज्ञातत्वसिद्धिरित्यादिचक्रकं परस्परत्रितयसापेक्षतालक्षणं स्यात्। यथा वा द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायेत्यादौ किन्नाम द्रव्यत्वमित्यपेक्षायां गुणादिमत्त्वं द्रव्यत्वमिति गुणादिमत्त्वेन द्रव्यत्वसिद्धिः केन सम्बन्धेन गुणादिमत्त्वमित्याकाङ्क्षायां समवायेनेति गुणादिमत्त्वसिद्धौ समवायसम्बन्धापेक्षा सोऽपि समवायः किमिति स्वीकार्यं इति प्रश्ने समवायिकारणत्वं द्रव्यस्यैवेति विज्ञेयमिति **विश्वनाथपञ्चानन**वचनाद्द्रव्ये समवायिकारणत्वार्थमिति द्रव्यसिद्ध्यपेक्ष इति विशदमेव चक्रकम्। तद्वदिहापि भवेत्। एवं यद्येतन्निराकरणार्थं न केवलमज्ञातत्वमात्रेण ब्रह्मणि लक्ष्यत्वविकल्पविषयत्वं किन्तु सविकल्पं ब्रह्म निर्विकल्पं ब्रह्मेति च शतशः शास्त्रश्रवणजन्यसंस्कारेणैवेति चतुर्थविकल्पाश्रयणेन व्यवस्था प्रथयसि चेत्तर्हि निरुक्तशास्त्रश्रवणादिजन्यसंस्काराख्यचतुर्थविकल्पविषयीभूतत्वमपि ब्रह्मणि निरुक्तशास्त्रश्रवणादिकारणीभूतजन्मान्तरीयसंस्काराख्यविकल्पान्तरेणैव वक्तव्यं तदपि तज्जन्मान्तरीयसंस्काराख्यविकल्पान्तरविषयत्वेनैवेति सर्वथा कारणशरोपर्यवसानाभावरूपानवस्थैव दुर्निवारा प्रसज्जेत। यथाकार्यनियतपूर्ववृत्ति कारणमिति सामान्यतः कारणलक्षणे नियतपूर्ववृत्तित्वस्य घटं प्रति कपालादौ जन्य एव दृष्टत्वेन जन्यत्वलक्षणकार्यत्वावश्यकत्वेन तत्कारणीयनियतपूर्ववृत्तित्वापेक्षं तत्तदपि तत्कारणीयनियतपूर्ववृत्तित्वापेक्षमिति सुग्रथितैवानवस्था। तद्वदिहापि नासौ दण्डखण्डितेति सर्वं चतुरस्रमेव। न चैवमात्माश्रयादिदोषावमोषणमद्वैतिनामपि दुर्भणमेवेति वाच्यम्। तेषां व्यवहारे केवलं दोषाकरशेखरीभूता भगवती

इदं गुणक्रियाजातिद्रव्यसम्बन्धवस्तुषु ।।
समं तेन स्वरूपस्य सर्वमेतदितीष्यताम् ।। ५१ ।।

न केवलमत्रैवेदं दूषणमपि तु सर्वत्रैवंविधविकल्पपूर्वकं दूषणं प्रसरतीत्याह––

इदमिति । इदं विकल्पदूषणजातं गुणक्रियाजातिद्रव्यसम्बन्धवस्तुषु गुणादिसम्बन्धान्तेषु पञ्चसु वस्तुषु समम् । तथाहि । गुणः किं निर्गुणे वर्ततेऽथवा गुणवति ? क्रियाऽपि क्रियारहिते वर्तते क्रियावति वा ? आद्ये व्याघातोऽन्यत्राऽऽत्माश्रयादय इति सर्वत्र चैवमूह्यम् । नन्विदमसदुत्तरं चेत्कि सदुत्तरमित्याशङ्क्याऽऽह—**तनेति** । तेनैवं विकल्पस्यासंगतत्वेनैतद्-गुणादिकं सर्वं **स्वरूपस्ये**तीष्यतां गुणादयः सर्वे वस्तुस्वरूपे वर्तन्त इत्यभि-प्रायः ।। ५१ ।।

महामायेव दोषाकरमपि शेखरीकृत्य विभूषयिष्यत्येव तदा कैव कथाऽवान्तरानन्तदोष-तुषाणाम् । तस्मात्प्रतिवादिना वा तत्त्वजिज्ञासुना वा भवता तावदद्वैतवादिनि जीव-न्मुक्तचक्रवर्तिनि खण्डनोक्तिसुदर्शनसञ्चारो नैव कार्यस्तस्यैतदाकरत्वात्किंतु भेदवा-दिष्वेव । न हि प्रचण्डमार्तण्डमण्डले प्रद्योतते खद्योतोद्योतः स्वप्नेऽपीत्यतस्तच्चरणशरण-तयैव स्वज्ञानावरणं निराकरणीयमित्याकूतम् ।। ५० ।।

एवं विकल्प्य दूषणं न केवलं त्वदुक्तविकल्प एव प्रसरति किन्तु यावद्भेदवादि-सम्मतपदार्थेष्वपीत्याह—**इदमिति** । किं गुणो निर्गुणे वर्तते गुणवति वेत्यादिविकल्प-दूषणं प्राग्वदेव बोध्यम् । सम्बन्धः समवायादिः किमसम्बद्धे द्रव्ये तिष्ठति सम्बद्धे वेति च पूर्ववदेव । वस्तुपदं वैशेषिकसम्मतविशेषाख्यपदार्थपरमेव । तथा च विशेषोऽपि किं निर्विशेषे नित्यद्रव्येऽस्ति सविशेषे वेत्यादि द्रष्टव्यम् । एवं च तार्किकसम्मतषड्भावपदा-र्थेष्वप्युक्तखण्डनयुक्तिसञ्चारः सुलभ एवेति भावः । अभावखण्डनं तु **मदीये द्वितय-व्यक्तिक्षयेऽद्वैताभिव्यक्त्याख्ये** तद्व्याख्याने च प्रपञ्चितमेवेतीहोपरम्यते । फलितमाह––**तेनेति** । एतत्सर्वं दृश्यजालं स्वरूपस्य स्वात्मसत्ताप्रकाशसम्बन्ध्येवेतीष्यता स्वीक्रिय-तामित्यर्थः । स्वात्माभिन्नसत्ताप्रकाशेनैव सत्तादिमदस्ति तत्पार्थक्ये तु मिथ्यैवेति भावः । एवं च सकलद्वैतेऽपि स्वतःसत्ताशून्यत्वं मिथ्यात्वमेव प्रथत इत्याशयः ।। ५१ ।।

विकल्पतदभावाभ्यामसंस्पृष्टात्मवस्तुनि ॥
विकल्पितत्वलक्ष्यत्वसम्बन्धाद्यास्तु कल्पिताः ॥ ५२ ॥
इत्थं वाक्यैस्तदर्थानुसन्धानं श्रवणं भवेत् ।
युक्त्या सम्भावितत्वानुसन्धानं मननं तु तत् ॥ ५३॥

भवत्वेवमन्यत्र प्रकृते किमायातमित्यत आह--

विकल्पेति । विकल्पतदभावाभ्यां विकल्पेन विकल्पाभावेन चासंस्पृष्टात्मवस्तुनि संस्पर्शरहिते परमात्मवस्तुनि विकल्पितत्वलक्ष्यत्वसम्बन्धाद्यास्तत्र विकल्पितत्वं नाम सविकल्पस्य वा निर्विकल्पस्य वेति पूर्वोक्तेन विषयीकृतत्वं लक्ष्यत्वं लक्षणावृत्त्या ज्ञाप्यत्वं सम्बन्धः संयोगादिः । आदिशब्देन द्रव्यादयो गृह्यन्ते । तुशब्दोऽवधारणे । तत्र द्रव्यं नाम गुणानामाश्रयो द्रव्यं समवायिकारणं द्रव्यमिति वा तार्किकैर्लक्षितं कर्मव्यतिरिक्तत्वे सति जातिमात्राश्रयो गुणो नित्यमेकमनेकवृत्तिसामान्यमिति लक्षिता जातिः संयोगवियोगयोरसमवायिकारणजातीयं कर्मेति लक्षिता क्रिया । एते सर्वे स्वरूपे कल्पिता एवेत्यर्थः ॥ ५२ ॥

एतावता ग्रन्थसन्दर्भेण किमुक्तं भवतीत्याकाङ्क्षायां फलितमाह—

इत्थमिति । इत्थं जगतो यदुपादानमित्यादिग्रन्थजातोक्तप्रकारेण वाक्यैस्तत्त्वमस्यादिवाक्यैस्तदर्थानुसन्धानं तेषां वाक्यानामर्थस्य जीवब्रह्मणोरेकत्वलक्षणस्यानुसन्धानं श्रवणं भवेत् । युक्त्या **शब्दस्पर्शादयो वेद्या** इत्यादिना **परापरात्मनोरेवं युक्त्या सम्भावितैकतेत्यन्तेन** ग्रन्थसन्दर्भेणोक्तप्रकारेण सम्भावितत्वानुसन्धानं श्रुतस्यार्थस्योपपद्यमानत्वज्ञानं यदस्ति तत्तु मननमित्युच्यते ॥ ५३ ॥

ननु यद्येवं स्वाभिन्नप्रकाशप्रकाश्यमेव तदेकायत्तसत्ताकमखिलमपि द्वैतजालं चेत्तर्हि दृग्दृश्ययोस्तयोः सम्बन्धो भास्यभासकभावलक्षणः सत्यमिथ्योभयप्रतियोगिकत्वादुभयात्मक एवार्धनारीश्वरसम्बन्धवद्वाच्यस्तथा चांशिकद्वैतापत्तिरित्याशङ्क्य समाधत्ते—**विकल्पेति** । विकल्पोऽत्राध्यासः । एवं चाध्यासतद्ध्वंसाभ्यामित्यर्थः । **असंस्पृष्टेति । उक्तं अध्यासभाष्ये**—"यत्र यदध्यस्तं तत्कृतेन दोषेण गुणेन वाऽणुमात्रेणापि स न सम्बध्यते" इति । अत एव **विकल्पितत्वेति** । आद्यपदेनाधिष्ठानत्वम् । अत एवोक्तं **संक्षेपशारीरके**—"बहु निगद्य किमत्र वदामि वः शृणुत संग्रहमद्वयशासने । सकलवाङ्मनसातिगता चितिः सकलवाङ्मनसव्यवहारभाक्" इति ॥ ५२ ॥

नन्वेवं सिद्धान्तबोधः श्रवणाद्यन्तरङ्गसाधनैर्विना नैव सिध्यतीत्यत "आत्मा वा

ताभ्यां निर्विचिकित्सेऽर्थे चेतसः स्थापितस्य यत् ।
एकतानत्वमेतद्धि निदिध्यासनमुच्यते ।। ५४ ।।
ध्यातृध्याने परित्यज्य क्रमाद्ध्येयैकगोचरम् ।
निवातदीपवच्चित्तं समाधिरभिधीयते ।। ५५ ।।

इदानीं निदिध्यासनमाह—

ताभ्यामिति । ताभ्यां श्रवणमननाभ्यां निर्विचिकित्से निर्गता विचिकित्सा संशयो यस्मादसौ निर्विचिकित्सस्तस्मिन्नर्थे विषये स्थापितस्य धारणावतश्चेतसो देशसम्बन्धश्चित्तस्य धारणेति **पतञ्जलिनोक्तत्वाद्यदेकता-**नत्वमेकाकारवृत्तिप्रवाहत्वमेतन्निदिध्यासनमुच्यते । हि प्रसिद्धं **योगशास्त्रे** तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानमिति ।। ५४ ।।

तस्यैव निदिध्यासनस्य परिपाकदशारूपं समाधिमाह—

ध्यातृध्याने इति । निदिध्यासने तावद्ध्याता ध्यानं ध्येयं चेति त्रितयं भासते । तत्र यदा चित्तमभ्यासवशेन धातृध्याने ध्यातारं ध्यानं च क्रमात्परित्यज्य ध्येयैकगोचरं ध्येयमेकमेव गोचरो विषयो यस्य तत्तथाविधं भवति तदा समाधिरित्युच्यते । तत्र दृष्टान्तः–**निवातेति ।** वायुरहिते प्रदेशे वर्तमानो दीपो यथा निश्चलो भवति तद्वदित्यर्थः ।। ५५ ।।

अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः'' इति श्रुतिविहितानां तेषां कानि स्वसम्मतानि लक्षणानीत्याकाङ्क्षायां तानि संक्षिपति—**इत्थमित्यादिद्वाभ्यां** क्रमेणैव । इत्थं निरुक्तरूपवस्तुप्रतिपादकैः । वाक्यैः सत्यज्ञानादिवेदान्ततद्व्याख्यातृ**श्रीमद्भगवदा-द्याचार्य**वचनैरित्यर्थः । **तदीत्यादि ।** असङ्गाद्वैतचिन्मात्ररूपतत्प्रतिपाद्यानुसन्धारणमित्येतत् । युक्तिरनुमानं सत्तर्कश्च ॥ ५३ ॥

ताभ्यामिति । ताभ्यामुक्तलक्षणश्रवणमननाभ्यामित्यर्थः । निर्विचिकित्से "विचिकित्सा तु संशयः" इत्यमरादसंदिग्ध इति यावत् ॥ ५४ ॥

नन्वेवं सकलवेदान्तवाक्यकारणकोपक्रमादिलिङ्गकतत्तात्पर्याविस्मरणलक्षणे श्रवणे तदनुकूललौकिकशास्त्रीयसत्तर्कानुगृहीतानुमित्यादिलक्षणयुक्तिकरणकतदसम्भवनिराकरणाविस्मरणलक्षणे मनने च तेनैव सम्पन्ने ततस्ताभ्यामेवासन्दिग्धे ब्रह्मात्मैक्यरूपे किञ्चित्पारोक्ष्यशालिन्यर्थे सुस्थिरीकृतचेतस्तदितराकारपरिणत्यभावपूर्वकतन्मात्राकारपरिणतिपरम्परालक्षणनिदिध्यासनेऽपि साधनादिविपरीतभावनापनोदिनि सिद्धे किमग्रे सम्प्रज्ञातादिसमाधिसमभिधानप्रयोजनमिति चेत्सत्यम् । प्रकृते हि मङ्गलाचरणोत्तरं ।

वृत्तयस्तु तदानीमज्ञाता अप्यात्मगोचराः ।
स्मरणादनुमीयन्ते व्युत्थितस्य समुत्थितात् ।। ५६ ।।

ननु समाधौ वृत्तीनामनुपलब्धौ ध्येयैकगोचरत्वमपि निश्चेतुं न शक्यत इत्याशङ्क्य वृत्तिसद्भावस्यानुमानगम्यत्वान्मैवमित्याह---

वृत्तयस्त्विति । आत्मगोचरा आत्मा गोचरो विषयो यासां ता वृत्तयस्तु तदानीं समाधिकालेऽज्ञाता अपि व्युत्थितस्य समुत्थितादुत्पन्नात्स्मरणादेतावन्तं कालं समाहितोऽभूवमित्येवं रूपादनुमीयन्ते । यद्यत्स्मर्यते तत्तदनुभूतमिति व्याप्तेर्लोकसिद्धत्वादित्यर्थः ।। ५६ ।।

"तत्पादाम्बुरुहद्वन्द्वसेवानिर्मलचेतसाम् ।
सुखबोधाय तत्त्वस्य विवेकोऽयं विधीयते" ।।

इत्यनेन केवलगुर्वभिन्नपरमेश्वरैकसमर्पितनिषिद्धादिरहितशुद्धवैदिकैकनित्यादिकर्मानुष्ठितिजनितविमलीकृतमात्रचेतस्कमुमुक्षुमात्रकरुणया तत्त्वविवेकारम्भस्य कृतत्वात्कलिकालेऽस्मिन्नल्पायुषां मनुष्याणां हठादिसकलसामग्रीपूर्वकदीर्घकालफलकाष्टाङ्गयोगकरणक-दहराद्युपासनानुष्ठानासम्भवाच्च निर्मलेऽपि मुकुरतले जले वा सत्यतुलचञ्चले मुखादिप्रतिबिम्बस्य यथावदकलनेन तन्न्यायेन ब्रह्मात्मैक्यानुभवार्थं स्वान्तशुद्धिवत्तन्निरुद्धेरप्यावश्यकत्वान्नित्यानित्यवस्तुविवेकादिसमाध्यन्तसाधनत्रयप्रयोज्यविशिष्टमुमुक्षाया अपि प्रागनुक्तत्वेन तत्संग्रहार्थमपि समाधिकथनस्यैवाऽऽवश्यकत्वाच्चेत्याशयेन "आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः" इति चोदितश्रवणादिसिद्ध्यन्तरं समाधिमेव तत्फलत्वेन कथयति—**ध्यात्रिति** । समाधिरसम्प्रज्ञात इत्यर्थः । एतेन पूर्वोक्तनिदिध्यासनकालिकैकतानत्वे ध्यानत्वं तथा क्रमादित्यत्र सम्प्रज्ञातसमाध्यभ्यासक्रमश्च ध्वन्यते ।। ५५ ।।

ननु तदानीं वृत्तयः सन्ति न वेत्याशङ्क्य समाधत्ते—**वृत्तयस्त्विति** । समुत्थितादिति स्मरणविशेषणम् ।। ५६ ।।

वृत्तीनामनुवृत्तिस्तु प्रयत्नात्प्रथमादपि ।
अदृष्टासकृदभ्याससंस्कारसचिवाद्भवेत् ॥ ५७ ॥

ननु तदानीं वृत्त्युत्पादकप्रयत्नाभावात्कथं **वृत्त्यनुवृत्तिरि** त्याशङ्क्य तात्कालिकप्रयत्नाभावेऽपि प्राथमिकादेव प्रयत्नाददृष्टादिसहकारिसहिताद्भवतीत्याह—

वृत्तीनामिति । ध्येयैकगोचराणां वृत्तीनामनुवृत्तिस्तु प्रवाहरूपेणानुगतिस्तु प्रथमादपि प्रयत्नात्समाधिपूर्वकालीनादप्यदृष्टमशुक्लकृष्णकर्माख्यो यः पुण्यविशेषः "कर्माशुक्लकृष्णं योगिनस्त्रिविधमितरेषाम्" [योग सू० कै० पा० सू० ७] इति पतञ्जलिना सूत्रितत्वात् । यश्चासकृदभ्याससंस्कारः पुनः पुनः समाध्यभ्यासेन जनितो भावनाख्यः संस्कारविशेषस्ताभ्यां सहकारिकारणाभ्यां सह वर्तमानाद्भवति ॥ ५७ ॥

ननु भवत्वेवं समाधिकाले तस्यासम्प्रज्ञाताख्यनिर्विकल्पत्वेऽपि व्युत्थानकालिकस्मरणानुमिताः सूक्ष्मतमाः सत्त्वमात्रप्रधानाश्चित्तवृत्तयो ध्येयनिर्गुणब्रह्मात्मैक्याकाराः परन्तु तासामनुवृत्तिसामग्रीकेत्यतस्तां स्पष्टयति—**वृत्तीनामिति** । ननु प्राथमिकप्रयत्नेन प्रथमेव वृत्तिर्भवेन्न तु द्वितीयादिरित्यतस्तं विशिनष्टि—**अदृष्टेत्यादि** । अदृष्टं "कर्माशुक्लकृष्णं योगिनस्त्रिविधमितरेषाम्" इति **पातंजलसूत्रोक्तं** शुद्धसात्त्विकं कर्म तथाऽसकृद्भूयो भूयो योऽभ्यासो वारम्वारं चित्तनिरोधनप्रयत्नस्तस्थ यः संस्कारो भावनावासनापरनामा सूक्ष्मावस्थाविशेषस्तौ सचिवौ सहायौ यस्य तस्मादित्यर्थः । एतादृशात् । प्रथमादप्यसंप्रज्ञातसमाधिप्राक्कालिकादपि प्रयत्नाद्वृत्तीनामनुवृत्तिर्धारावाहिकेयमप्रवाहरूपेण स्थितिर्भवेदित्यन्वयः । ननु सति कुडये चित्रमिति न्यायेनाऽऽदावसंप्रज्ञातापराभिधे निर्विकल्पाख्ये निरोधसमाधौ बुद्धौ वृत्तय एव सम्भवन्ति चेत्पश्चात्तासामनुवृत्तिविचारोऽपि समुचितः स्यात्तदेव तु न पश्यामः । **न्यायरत्नावल्यां** तावत्तत्र वृत्तिसद्भावस्य खण्डितत्वात् । तथाहि—असंप्रज्ञातसमाधिस्तु सकलवृत्तिशून्यं निरोधरूपेण परिणतमावृतं मन एव । **वेदान्तसारादौ** तु निरोधरूपेण परिणामोऽपि केवलात्माकारवृत्तिरूपो मनोवृत्तिभानाभावे समानेऽपि मनोवृत्तिसत्त्वासत्त्वाभ्यामसंप्रज्ञातसमाधिसुषुप्त्योर्भेदादित्युक्तम् । तन्न । "मोक्षो निर्विषयं स्मृतम्" "यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह" "तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि" इति श्रुतीनामुक्तसूत्राणां च विरोधादित्युक्तम् । तस्माद्विफल एवायं प्रयास इति चेन्न । तत्तात्पर्यस्य त्वयैवाज्ञातत्वात् । तद्यथा । तत्र तावदुक्तपक्षे निरोधसमाधेः सकाशाद्व्युत्थितस्यैतावत्कालपर्यन्तमहं सुखं निर्विकल्पसमाहितोऽभूवमितिस्मृत्यन्यथानुपपत्त्या **विवरणमते** सुप्ताविव तत्रापि सत्त्वमात्रपरिणतसूक्ष्मतमचित्तवृत्तिकल्पनौचित्यात्तद्बाधरूपा स्वरसं मनसि निधायाथवेति पक्षान्तरं

यथा दीपो निवातस्थ इत्यादिभिरनेकधा ।
भगवानिममेवार्थमर्जुनाय न्यरूपयत् ।। ५८ ।।

नन्वयं समाधिः पूर्वाचार्यैर्न निरूपितो दृष्ट इत्याशङ्क्य सर्वगुरुणा **श्रीपुरुषोत्तमेन** निरूपितत्वान्मैवमित्याह—

यथेति । "यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता" [गीता० ६-१९] इत्यादिभिः श्लोकैरनेकधा नानाप्रकारेण भगवाञ्ज्ञानैश्वर्यादिसम्पन्न इममेव निर्विकल्पकसमाधिरूपमर्थमर्जुनाय शिष्याय न्यरूपयन्निरूपितवान् ।। ५८ ।।

विधाय तं प्रपञ्च्य । मोक्षो निर्विषयमित्यादिश्रुतिस्त्वसंप्रज्ञातसमाधेरात्मान्याविषयकत्वबोधिका । एवं योगसूत्राण्यपि बोध्यानि । अत एवोक्तं **संक्षेपशारीरकाचार्यैः—**

"आत्मानात्माकारं स्वभावतोऽवस्थितं चित्तम् ।
आत्मैकाकारतया तिरस्कृतानात्मदृष्टिविदधीत ।।"

इत्याद्युक्तम् ।। तेन प्रथमपक्षस्यैकदेश्यभिप्रायकत्वं स्पष्टमेव स्फुटति । विस्तरस्तु तत्रैव बोध्यः ।। ५७ ।।

उक्तेऽर्थे दृष्टान्तमपि स्पष्टयन् "निवातदीपवच्चित्तं समाधिरभिधीयते" इति निर्विकल्पसमाधिलक्षणे प्राक्सूत्रितं तं सप्रमाणत्वेन कथयति—**यथा दीप इत्यादिना** । आदिना—

"युञ्जन्नेवं सदाऽऽत्मानं योगी विगतकल्मषः ।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते ।।"

इत्यन्तग्रन्थो ग्राह्यः । एवं च निवातदेशे शिवालयादौ विहितदीपे यथा प्रथममेव सकलसामग्रीवैपुल्यार्थं प्रयत्नोपेक्षितस्तदूर्ध्वं त्वसौ यावत्सामग्रीपरिसमाप्त्यचञ्चलशिख एव प्रज्वलति सामग्रीह्रासान्यथानुपपत्त्या प्रतिक्षणं मध्ये ज्वालाप्रभेदेऽप्येकैवेयं ज्वालेति स्फुरति तद्वत्प्रकृतेऽपि सम्प्रज्ञातसमाधिकाले समनुष्ठितप्राथमिकप्रयत्नादृष्टाभ्यासादिसामग्रीपौष्कल्येन धारावाहिकादिवदपि मध्ये व्युत्थानकालिकस्मृत्याद्यन्यथाऽनुपपत्तिसिद्धवृत्तिशतसत्त्वेऽप्यतिसादृश्यादेकरूपतैव भवतीति भावः ।। ५८ ।।

अनादाविह संसारे सञ्चिताः कर्मकोटयः ।
अनेन विलयं यान्ति शुद्धो धर्मो विवर्धते ।। ५९ ।।
धर्ममेघमिमं प्राहुः समाधिं योगवित्तमाः ।
वर्षत्येष यतो धर्मामृतधाराः सहस्रशः ।। ६० ।।

अस्य समाधेरवान्तरफलमाह—

अनादाविति । अनादौ स्पष्टम् । इहास्मिन्संसारे सञ्चिताः सम्पादिताः कर्मकोटयः कर्मणां पुण्यापुण्यलक्षणानां कोटय इत्युपलक्षणमपरिमितानि कर्माणीत्यर्थः । अनेन समाधिना विलयं यान्ति विनश्यन्ति "क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे" [मुण्ड० २–२–८] इति श्रुतेः "ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि" [गीता० ४–३७] इतिस्मृतेश्च शुद्धो धर्मः सविलासाविद्यानिवर्तकसाक्षात्कारसाधनभूतो धर्मो विवर्धते स्पष्टम् ।। ५९ ।।

तत्र किं प्रमाणमित्यत आह—

धर्मेति । योगवित्तमा अतिशयेन योगज्ञा ब्रह्मसाक्षात्कारवन्त इति यावत् । इमं निर्विकल्पसमाधिं धर्ममेघं प्राहुः स्पष्टं तदुपपादयति वर्षतीति यतः कारणादेव समाधिर्धर्मामृतधारा धर्मलक्षणा अमृतधाराः सहस्रशो वर्षति "क्षणमेकमास्थाय क्रतुशतस्यापि" [अथर्वशिखा० २] इति श्रुतेरतो धर्ममेघं प्राहुरिति पूर्वेणान्वयः ।। ६० ।।

भवत्वेवं ततः किं प्रकृत इत्यत आह—**अनादाविहेति** । अत्र नमः श्रीशङ्करेत्यादिमङ्गलपूर्वार्धोत्तरार्धयोर्ध्वनितजीवन्मुक्तिसद्योमुक्त्याख्यपक्षद्वयस्याप्यधिकारिभेदेनेष्टत्वाज्जीवन्मुक्तिपक्षेऽन्तिमपद्येन वक्ष्यमाण इह सञ्चितपदेन ज्ञानोदयप्रतिबन्धककर्माण्येव ग्राह्याणि । तद्भिन्नकर्मणां तु सञ्चितानां तत्पक्षे "क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे" इति श्रुतेर्ज्ञानोदयैकनाश्यत्वादित्याशयः । अनेन निरुक्तनिर्विकल्पसमाधिनेत्यर्थः ।। ५९ ।।

तत्र तानमाह—**धर्मेति । योगेति** । पतञ्जल्यादयः । तदुक्तं **योगसूत्रे** कैवल्याख्यचतुर्थचरणे—'प्रसङ्ख्यानेऽप्यकुसीदस्य सर्वथा विवेकख्यातेर्धर्ममेघः समाधिः' इति । प्रसङ्ख्यानं साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां तत्त्वानां सम्यक्साक्षात्कारस्तत्राप्यकुसीदस्य फलमलिप्सोरिति नारायणवृत्तिकाराः । तत्र हेतुः—वर्षतीति । तदुक्तं शिवाथर्वशिखोपनिषदि "क्षणमेकं क्रतुशतस्यापि" इत्यादिना ।। ६० ।।

अमुना वासनाजाले निःशेषं प्रविलापिते ।
समूलोन्मूलिते पुण्यपापाख्ये कर्मसंचये ॥ ६१ ॥
वाक्यमप्रतिबद्धं सत्प्राक्परोक्षाभावभासिते ।
करामलकवद्बोधमपरोक्षं प्रसूयते ॥ ६२ ॥

इदानीं समाधेः परमप्रयोजनमाह—

अमुनेति । अमुना समाधिनाः वासनाजालेऽहंकारममकारकर्तृत्वाद्यभिमानहेतुभूते ज्ञानविरुद्धे संस्कारसमूहे निशेषं यथा भवति तथा प्रविलापिते विनाशिते पुण्यपापाख्ये कर्मसंचये समूलोन्मूलिते मूलसहितं यथा भवति तथोन्मूलिते उद्धृते विनाशिते इति यावत् ॥ ६१ ॥

फलितमाह—

वाक्यमिति । वाक्यं तत्त्वमस्यादिवाक्यमप्रतिबद्धं सत्कर्मवासनाभ्यां प्रतिबन्धरहितं सत्प्राक्परोक्षावभासिते पूर्वं परोक्षतया प्रकाशिते तत्त्वे करामलकवत्करस्थितामलकगोचरमिवापरोक्षमपरोक्षतया तत्त्वावभासनसमर्थं बोधं ज्ञानं प्रसूयते जनयति ॥ ६२ ॥

ततः किं तत्राऽऽह– अमुनेति युग्मेन । अमुना प्रकृतसमाधिजन्यशुक्लमात्रकर्मणेत्यर्थः । प्रविलापितं प्रध्वंसिते सति । अत एव । सेत्यादि ॥ ६१ ॥

फलितं कथयति—**वाक्यमिति** । तत्त्वमस्यादिमहावाक्यमित्यर्थः । अप्रतिबद्धं सत्प्रागुक्तविषयवासनाप्रमाणासंभावनाप्रमेयासंभावनासाधनविपरीतभावनाफलविपरीत - भावनाख्यप्रतिबन्धपञ्चकेन नित्यानित्यविवेकादिसकलसाधनसंपच्छ्रवणमननर्निदिध्यासनजीवन्मुक्त्यादिफलसाधकसमाधिभिः क्रमान्निरस्तात्वाच्छून्यम् भवेदित्यर्थः । ननूक्तप्रतिबन्धपञ्चकं तु संक्षेपशारीरके महावाक्यजन्यप्रमितावेव —"पुरुषापराधमलिना धिषणा निरवद्यचक्षुरुदयाऽपि यथा । न फलाय भर्चु (?) विषया भवति श्रुतिसम्भावाऽपितुतथात्सनिधी (?) इत्यादिना सदृष्टान्तं स्पष्टमुक्तम् । इह तु वाक्य एव तदच्युत इति कथं न तद्विरोध इत्यत्राहं ब्रह्मास्मीति बोध एव तत्त्वमस्यादिवाक्यस्वाभाव्याज्जायत इति तु निर्विवादम् । अधीतसांगस्वाध्यायेऽधिकारिणि तथैव दर्शनात्परं त्वसौ निरुक्तप्रतिबन्धध्वंसतः पूर्वम् । परोक्षमिव निरुक्तप्रतिबन्धादवभासः संजातो यस्यैतादृगेव ब्रह्मात्मैक्यं विषयीकरोति न तु नित्यापरोक्षं तेन निरुक्तप्रतिबन्धादवभासः संजातो यस्यैतादृगेव ब्रह्मात्मैक्यं विषयोकरोति न तु नित्यापरोक्षं तेन निरुक्तबोधस्य त्रिक्षणावस्थायित्वात्प्रतिबद्धाग्निवद्दीर्घकालावस्थानासम्भवाद्वाक्य एव तत्रापि तद्वाच्यमित्याह—**प्रागिति** । ब्रह्माद्वैतात्मैक्ये विषय इत्यार्थिकम् । प्रसूयते जनयतीति यावत् ॥ ६२ ॥

परोक्षं ब्रह्मविज्ञानं शाब्दं देशिकपूर्वकम् ।
बुद्धिपूर्वकृतं पापं कृत्स्नं दहति वह्निवत् ।। ६३ ।।
अपरोक्षात्मविज्ञानं शाब्दं देशिकपूर्वकम् ।
संसारकारणाज्ञानतमसश्चण्डभास्करः ।। ६४ ।।
इत्थं तत्त्वविवेकं विधाय विधिवन्मनः समाधाय ।
विगलितसंसृतिबन्धः प्राप्नोति परं पदं नरो न चिरात् ।।६५।।

इति श्रीविद्यारण्यमुनिविरचितायां पञ्चदश्यां तत्त्वविवेकाख्यं प्रथमं प्रकरणम् ।। १ ।।

इदानीं परोक्षज्ञानस्य फलमाह—

परोक्षमिति । देशिकपूर्वकं गुरुमुखाल्लब्धं शाब्दं तत्त्वमस्याद्यागमजन्यं परोक्षं ब्रह्मविज्ञानं बुद्धिपूर्वकृतं ज्ञानपूर्वकं यथा भवति तथा कृत्स्नं समस्तं पापं वह्निवद्दहति ।। ६३ ।।

अपरोक्षज्ञानफलमाह—

अपरोक्षेति । शाब्दं देशिकपूर्वकं व्याख्यातम् । अपरोक्षात्मविज्ञानमपरोक्षस्याऽऽत्मनो विज्ञानं संशयविपर्ययरहितं यज्ज्ञानं तत्संसारकारणाज्ञानतमसः संसारकारणं यदज्ञानमस्ति तदेव तमस्तस्य चण्डभास्करो मध्याह्नकालीनसूर्यो बाह्यतमसश्चण्डभास्कर इवाज्ञानतमसो निवर्तक इत्यर्थः ।।६४।।

ग्रन्थाभ्यासफलमाह—

इत्थमिति । नर इत्थमुक्तेन प्रकारेण तत्त्वविवेकं तत्त्वस्य ब्रह्मात्मैकत्वलक्षणस्य विवेकं कोशपञ्चकाद्विवेचनं विधाय कृत्वा तस्मिंस्तत्त्वे विधिवच्छास्त्रोक्तप्रकारेण मनः समाधाय स्थिरीकृत्य विगलितसंसृतिबन्धोऽपरोक्षज्ञानेन निवृत्तसंसारबन्धः सन्परं पदं निरतिशयानन्दरूपं मोक्षं नचिरादविलम्बेन प्राप्नोति सत्यज्ञानानन्दलक्षणं ब्रह्मैव भवतीत्यर्थः ।। ६५ ।।

एवं तर्हि परोक्षापरोक्षज्ञानयोः फलभेदेनापि भाव्यमित्याशङ्क्य स्कान्दसूतसंहितास्थयज्ञवैभवखण्डीयद्वितीयाध्यायान्तर्गतवाक्याभ्यामेव क्रमेण शब्दार्थपठिताभ्यामेव समाधत्ते—परोक्षमित्यादिद्वाभ्याम् । देशिकः श्रीगुरुः । तत्पूर्वकं तदुपदिष्टवेदान्तवाक्यजन्यम् । "अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद सन्तमेनं ततो विदुः" इति "अहं विश्वं भुवनमभ्यभवाम्" इति च क्रमात्तैत्तिरीयश्रुतिप्रसिद्धमित्यर्थः । पापमिति पुण्यस्याप्युपलक्षणम् । जन्यप्रदत्वसाम्यात् ।। ६३ ।।

अपरोक्षेति ।। ६४ ।।

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमद्भारतीतीर्थविद्यारण्यमुनिवर्य-
किङ्करेण रामकृष्णाख्यविदुषा रचितायां पञ्चदशीव्याख्यायां तात्पर्य-
दीपिकाख्यायां तत्त्वविवेकाख्यं प्रथमं प्रकरणं समाप्तम् ।। १ ।।

एवं—

"ब्रह्मज्ञानविभावसुः सकलमेवाज्ञानतत्सम्भवं
सद्यो वस्तुबलप्रवर्तनमरुद्व्यापारसंदीपितः ।
निर्लेपेन हि दंदहीति न मनागप्यस्य रूपान्तरं
संसारस्य शिनष्टि तेन विदुषः सद्योविमुक्तिर्ध्रुवा ।।"

इति संक्षेपशारीरकचतुर्थाध्यायोक्ता चरमप्रमासमसमयमेव द्वैतध्वस्तिरूप-सद्योमुक्ति तदधिकारिण उक्त्वा जीवन्मुक्तिमपि तदधिकारिणः कथयन्प्रकरणमुपसंहरति—इत्थमिति गीत्या । इह न चिरादित्यनेन "तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्ये" इत्यादिश्रुतिप्रसिद्धा जीवन्मुक्तिरित्याकूतम् । ननु भवता प्रागुपोद्घातेऽस्य प्रकरणस्य—

"सायोज्याद्यभिवाञ्छासहस्रगुणेनाथ तत्र सत्यधिया ।
भक्तिः पूमर्थबुद्ध्या प्रतिबन्धः प्रथम एष ईशमितौ ।।"

इतीश्वरस्वरूपज्ञानविषयकं प्राथमिकं विषयवासनाख्यं प्रतिबन्धमुपन्यस्याग्रे—

"प्रथमेऽधिकारसम्पत्तदर्थंमुख्यत्वमत्स्युपक्रमतः ।
तत्पादेति च शब्देत्यादिग्रन्थस्य तत्परत्वेन ।।"

इति चाऽऽर्यान्तरेण प्रथमस्योक्तप्रतिबन्धबाधकत्वं सूत्रितं तत्कथमुपपद्यत इति चेदुच्यते । अत्र तत्त्वविवेकाख्येऽस्मिन्प्रथमप्रकरणे तावत्सकलाद्वैतशास्त्रीयाकरप्रकरणात्मकनिखिलग्रन्थानां शोधिततत्त्वम्पदार्थैक्यमेवाज्ञातं सद्विषयः प्रज्ञातं सत्प्रयोजनमिति साधारण्येन सुप्रसिद्धविषयादिसत्त्वेऽपि प्राधान्येनाधिकारसम्पदेव प्रतिपादिता प्रतिभाति । तत्र हेतुः । यत उपक्रमतस्तदर्थंमुख्यत्वमेव विवेकवैराग्यादिवस्तुप्रतिपादनप्राधान्यमेवास्ति । तत्रापि हेतुः । उपक्रमशब्दितग्रन्थारम्भे तावत्तत्पादेति "तत्पादाम्बुरुहद्वन्द्वसेवानिर्मलचेतसाम्" इत्यादेर्ग्रन्थस्य तथा शब्देत्यादिग्रन्थस्य—

"शब्दस्पर्शादयो वेद्या वैचित्र्याज्जागरे पृथक् ।
ततो विभक्ता तत्संविदैकरूप्यान्न भिद्यते ।।" इत्यादेः ।

"इत्थं तत्त्वविवेकं विधाय विधिवन्मनः समाधाय" इत्यन्तपद्यवृन्दस्य । तत्परत्वेनाधिकारसम्पदेकप्रधानत्वाद्धेतोरस्तीति पूर्वेणान्वयः । एवं चात्राधिकारसम्पद्येवोपक्रमोपसंहारयोः प्राधान्यलक्षणं तात्पर्यग्राहकमेकं प्रथमं लिङ्गं द्योतितम् । तथा "भाने न विषये स्पृहा" इति ।

"कुर्वते कर्म भोगाय कर्म कर्तुं च भुञ्जते ।
नद्यां कीटा इवाऽऽवर्तादावर्तान्तिरमाशु ते ।
व्रजन्तो जन्मनो जन्म लभन्ते नैव निर्वृतिम् ।।" इति चाभ्यासः ।

"ध्यातृधाने परित्यज्य क्रमाद्ध्येयैकगोचरम् ।
निवातदीपवच्चित्तं समाधिरभिधीयते ॥
वृत्तयस्तु तदानीमज्ञाता अप्यात्मगोचराः ।
स्मरणादनुमीयन्ते व्युत्थीतस्य समुत्थिताद् ॥
वृत्तीनामनुवृत्तिस्तु प्रयत्नात्प्रथमादपि ।
अदृष्टासकृदभ्याससंस्कारसचिवाद्भवेत् ॥" इत्यपूर्वता ।
"अमुना वासनाजाले निःशेषं प्रविलापिते ।
समूलोन्मूलिते पुण्यपापाख्ये कर्मंचये ॥
वाक्तमप्रतिबद्धं सत्प्राक्परोक्षावभासिते ।
करामलकवद्बोधमपरोक्षं प्रसूयते ॥" इति फलम् ।
"यथा दीपो निवातस्थ इत्यादिभिरनेकधा ।
भगवानिममेवार्थमर्जुनाय न्यरूपयत् ॥" इत्यर्थवादः ।
"अनादाविह संसारे संचिताः कर्मकोटयः ।
अनेन विलयं यान्ति शुद्धो धर्मो विवर्धते ।
धर्ममेघमिमं प्राहुः समाधिं योगवित्तमाः ।
वर्षंत्येष यतो धर्मामृतधाराः सहस्रशः ॥" इत्युपपत्तिश्च ।

एवं षोढा लिङ्गैश्चित्तशुद्ध्याद्यसम्प्रज्ञातसमाध्यन्ताधिकारसम्पद्येवासाधारणप्राधान्येऽस्य प्रकरणस्य तात्पर्यतो निर्णीते सति तया सम्पदाऽधिकारिणः सगुणेन ब्रह्मणा शिवविष्ण्वादिरूपेण सह सायोज्यसमानैश्वर्यलक्षणसार्ष्टिसारूप्यसामीप्यसालोक्याख्यपञ्चविधमुक्तीना क्रममुक्तित्वेऽपि "नाल्पे सुखमस्ति" इति श्रुतेर्जाग्रदादौ तथाऽन्वयव्यतिरेकसिद्धत्वलक्षणयुक्तिघटितानुभूतेर्विमतं मिथ्यादृश्यत्वाच्छुक्तिरजतवदित्याद्यनुमितेश्च तत्र सत्यत्वबुद्ध्येच्छातः पुरुषार्थबुद्ध्या प्रेमलक्षणा भक्तिश्च कथं स्थास्येतेति समुपपद्यत एवास्य प्रकरणस्याऽऽचार्यपूर्वकमधिकारिणा विचारितस्योक्तप्रतिबन्धबाधकत्वमिति संक्षेपः ॥ ६५ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमदद्वैतसच्चिदानन्देन्द्रसरस्वतीशिष्यश्रीमत्पदवाक्यप्रमाणक्षीरार्णवविहरणश्रीमदद्वैतविद्येन्दिरारमणषष्ट्युपनामकश्रीनारायणशास्त्रिचरणसरोजराजहंसायमानमानसमोडकोपनामकाच्युतशर्मणा विद्यार्थिना विरचितायां पूर्णानन्देन्दुकौमुद्यभिधायां पञ्चदशीटीकायां तत्त्वविवेकप्रकाशः प्रथमः सम्पूर्णः ॥ १ ॥

द्वितीयं महाभूतविवेकप्रकरणम्

सदद्वैतं श्रुतं यत्तत्पञ्चभूतविवेकतः ।
बोद्धुं शक्यं ततो भूतपञ्चकं प्रविविच्यते ॥ १ ॥

नत्वा श्रीभारतीतीर्थविद्यारण्यमुनीश्वरौ ।
पञ्चभूतविवेकस्य व्याख्यानं क्रियते मया ॥ १ ॥

"सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्" [छान्दो० ६-२-१] इति श्रुत्या जगदुत्पत्तेः पुरा यज्जगत्कारणं सद्रूपमद्वितीयं ब्रह्म श्रुतं तस्यावाङ्मनसगोचरत्वेन स्वतोऽवगन्तुमशक्यत्वात्तत्कार्यत्वेन तदुपाधिभूतस्य भूतपञ्चकस्य विवेकद्वारा तदवबोधनायोपोद्घातत्वेन भूतपञ्चकविवेकं प्रतिजानीते—**सदद्वैतमिति** ॥ १ ॥

अद्वैतानन्दसच्चिद्विभुविमलपरब्रह्मकूटस्थरूपं
मोहाद्द्वैतेन्द्रजालालयमपि तिलकं स्वप्रकाशं श्रुतीनाम् ।
सर्वाश्चाऽऽचार्यवर्यान्रघुकुलतिलकं सद्गुरुं ब्रह्मनिष्ठं
श्रीमन्नारायणाख्यं स्वगुरुमपि महादेवसंज्ञं प्रणौमि ॥ १ ॥
मत्वा जीवञ्जीवान्विद्यारण्यं च भारतीतीर्थम् ।
भूतविवेकं नयनप्रकाशतो द्योतयामि कौमुद्याः ॥ २ ॥

अथ **श्रीमद्विद्यारण्यगुरुर्भूतविवेकाख्यं** पञ्चदश्या द्वितीयं प्रकरणमारभमाणस्तावत्प्रथितप्रमाणप्रयोजनं तत्त्वानुसंधानलक्षणं मंगलं कुर्वाणश्च प्रकृतप्रकरणे विषयप्रयोजने अपि ध्वनयन्नुक्तप्रकरणीप्रयोजनसिद्धयर्थं भूतपञ्चकप्रतियोगिकाद्वैतसन्मात्रापादानकं विवेचनं प्रतिजानीते—**सदद्वैतमिति** । श्रुतं "सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्" "सन्मूलाः सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः" इति **छांदोग्यषष्ठे**ऽखिलभेदशून्यत्वेन जगदभिन्ननिमित्तोपादानत्वेनापि समाम्नातमित्यर्थः । एतेनात्र यदि पञ्चभूतविवेचनमात्रकरणकत्वं श्रुतिसीमन्तसमाम्नातसदद्वैतचिन्तामणिविषयकप्रमितौ स्याच्चेद्घटेतापि तद्धेतुकत्वतस्तद्विवेचनप्रतिज्ञा । तत्तु नैव सम्भवति । भूतानां तेनासङ्गेनाद्वैतेन च सह संसर्गाभावात् । परस्परमप्यसंकरेणाविवेच्यत्वात्कथञ्चित्तत्संकरेऽपि तद्विवेकस्योक्तबोधे त्वप्रयोजकत्वाच्च । नहि तिलतन्डुलादिविवेचनेऽपि तपनीयकृतितत्त्वं प्रतीयत इति प्रत्युक्तम् । पञ्चभूतोपलक्षिताखिलद्वैतस्यानाद्यविद्यया तथैवाध्यस्तत्वाद्धारोरगादिवदध्यस्तस्याधिष्ठानाद्विवेचने तत्प्रमितेश्च ॥ १ ॥

शब्दस्पर्शौ रूपरसौ गन्धो भूतगुणा इमे ।
एकद्वित्रिचतुष्पञ्च गुणा व्योमादिषु क्रमात् ।। २ ।।
प्रतिध्वनिर्वियच्छब्दो वायौ बीसीतिशब्दनम् ।
अनुष्णाशीतसंस्पर्शो वह्नौ भुगुभुगुध्वनिः ।। ३ ।।

तत्र तावदाकाशादीनां पञ्चानां भूतानां गुणतो भेदज्ञापनाय तद्गुणानाह—

शब्देति । नन्वेते गुणाः किं सर्वेषामुतैकैकस्यैकैकगुण इति विमर्शयन्नोभयथाऽपि किन्तु प्रकारान्तरमस्तीत्यभिप्रायेणाऽऽह—**एकेति** ।। २ ।।

तदेव प्रकारान्तरं विशदयति—

प्रतिध्वनिरिति । आकाशे तावच्छब्द एवं गुणः स च प्रतिध्वनिरूपः । वायौ शब्दस्पर्शौ । तत्र वायुशब्दमनुकारेण दर्शयति—**बीसीतिशब्दनमिति** । एवमुत्तरत्रानुकरणशब्दनं द्रष्टव्यम् । तस्य स्पर्शमाह—**अनुष्णाशीतसंस्पर्श इति** । वह्नौ शब्दस्पर्शरूपाणीति त्रयो गुणास्ते च क्रमेणाभिधीयन्ते वह्नौ भुगुभुगुध्वनिः ।। ३ ।।

ननु विवेको हि संयोगेन सम्मिश्रितयोः क्षीरनीरयोर्हंसकर्तृको विभाग एव पंकपानीययोः कतकरजः प्रक्षेपकर्तृकश्च सः । हाटककटकयोः कार्यकारणभावेन समवायसम्बन्धात्सम्मिलितयोः शुक्तिरजतयोराध्यासिकैकतापन्नयोः पृथग्भावश्च ज्ञानात्मैकरूपः स इति प्रकृते कोऽभिमत इत्याशंकमानं प्रति चरममेव तं प्रबोधयितुमादौ विवेच्य पञ्चभूतानां भेदकानसाधारणधर्मानुद्दिशति—**शब्देति** । आकाशाद्वायुरित्यादिश्रुतेः कारणीभूतपूर्वपूर्वभूतगुणसंक्रममुत्तरोत्तरभूते क्रमादाह—**एकेति** ।। २ ।।

ननु निरुक्तगुणव्यवस्था किमपञ्चीकृतपञ्चमहाभूतानामुत पञ्चीकृतपञ्चमहाभूतानाम् । तेषां शास्त्रैकगम्यत्वेन तद्धर्माणामपि तथात्वात् । आद्य इष्टापत्तेः । द्वितीये तु कथमसावित्याशङ्क्य सर्वानुभवसाधारण्येन समाधत्ते **प्रतिध्वनिरित्यादिना गुणाः सम्यग्विवेचिता इत्यन्तेन सार्धत्रयेण** । गुहाद्यवच्छिन्ने नभोदेशे क्रियमाणाच्छब्दात्प्रतीयमानं शब्दान्तरं प्रतिध्वनिः प्रसिद्ध एव । न च तस्य **सिद्धान्तबिन्द्वादौ** शब्दप्रतिबिम्बत्वोक्ते कथं वियच्छब्दत्वमिति वाच्यम् । तस्य बिम्बीभूतशब्देतरानिमित्तकत्वेन तदेकहेतुकत्वाद्भेर्यादिशब्दस्यान्यनिमित्तकत्वेनातथात्वाच्च । बीसीत्यादि तत्तच्छब्दानामनुकरणं द्रष्टव्यम् । अनुष्णेति । वायावित्यनुषज्जते । एवं च वायौ स्पर्शः स्वाभाविको गुणः शब्दस्तु स्वोपादानीभूताकाशीय इत्याशयः । एवमन्यत्रापि बोध्यम् ।। ३ ।।

उष्णः स्पर्शः प्रभारूपं जले बुलुबुलुध्वनिः ।
शीतः स्पर्शः शुक्लरूपं रसो माधुर्यमीरितम् ॥ ४ ॥

भूमौ कडकडाशब्दः काठिन्यं स्पर्श इष्यते ।
नीलादिकं चित्ररूपं मधुराम्लादिको रसः ॥ ५ ॥

सुरभीतरगंधौ द्वौ गुणाः सम्यग्विवेचिताः ।
श्रोत्रं त्वक्चक्षुषी जिह्वा घ्राणं चेन्द्रियपञ्चकम् ॥ ६ ॥

उष्णः स्पर्शः प्रभारूपमिति । जले शब्दादयो रसान्ताश्चत्वारो गुणास्तानाह—**जले बुलुबुलुध्वनिः शीतः स्पर्शः शुक्लं रूपं रसो माधुर्यमिति** ॥ ४ ॥

भूमौ शब्दादिगन्धान्ताः पञ्च गुणास्तानुदाहरति—**भूमौ कडकडाशब्द इत्यादिना** ॥ ५ ॥

सुरभीतरगन्धौ द्वावित्यन्तेनोक्तमर्थमुपसंहरति—**गुणा इति** । एवं गुणतो भेदमभिधाय कार्यतो भेदज्ञापनाय तत्कार्याणि ज्ञानेन्द्रियाणि तावदाह—**श्रोतमिति** ॥ ६ ॥

उष्ण इति । **प्रभेति** । एवं च वह्नौ त्रैगुण्यम् । **जल इत्यादि** । तथा चेह चातुर्गुण्यम् ॥ ४ ॥

भूमाविति । **काठिन्यमिति** । तथैवानुभूतत्वात्तार्किकोक्तेस्तु परिभाषामात्रत्वाच्च ॥ ५ ॥

सुरभीति । गुणविवरणमुपसंहरति—**गुणा इति** । एवमाकाशादीनां गुणानभिधाय तत्त्वविवेकोक्तरीत्या पञ्चीकृतानां तेषां सत्त्वांशकार्याणि पञ्चज्ञानेन्द्रियाण्याह—**श्रोत्रमित्याद्यर्धेन** ॥ ६ ॥

कर्णादिगोलकस्थं तच्छब्दादिग्राहकं क्रमात् ।
सौक्ष्म्यात्कार्यानुमेयं तत्प्रायो धावेद्बहिर्मुखम् ।। ७ ।।
कदाचित्पिहिते कर्णे श्रूयते शब्द आन्तरः ।
प्राणवायौ जाठराग्नौ जलपानेऽन्नभक्षणे ।। ८ ।।
व्यज्यन्ते ह्यान्तराः स्पर्शा मीलने चाऽऽन्तरं तमः ।
उद्गारे रसगन्धौ चेत्यक्षाणामान्तरग्रहः ।। ९ ।।

तेषां स्थानानि व्यापारांश्च दर्शयति—

कर्णादीति । इन्द्रियसद्भावे किं प्रमाणमित्याकाङ्क्षायां कार्यलिङ्गकानुमानमित्याह—**सौक्ष्म्यादिति** । तच्च रूपोपलब्धिः करणजन्या क्रियात्वाच्छिदिक्रियावदित्यादि द्रष्टव्यम् । सौक्ष्म्यादपञ्चीकृतपञ्चभूतकार्यत्वेन दुर्लक्ष्यत्वादित्यर्थः । एतेषां स्वभावमाह–**प्राय इति** । "पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयम्भूः" [कठ० ४–१] इति श्रुतेरित्यर्थः ।। ७ ।।

प्रायःशब्देन सूचितं क्वचित्करणानामान्तरविषयग्राहकत्वं दर्शयति—

कदाचिदितिद्वाभ्याम् । कदाचित्कर्णस्य पिधाने कृते सति प्राणवायौ जाठराग्नौ च विद्यमान आन्तरः शब्दः श्रूयते । जलपानेऽन्नभक्षणे चाऽऽन्तरस्पर्शा अभिव्यज्यन्तेऽभिव्यक्ता भवन्ति । नेत्रनिमीलने कृत आन्तरं तम उपलभ्यते । उद्गारे जाते रसगन्धौ द्वौ गृह्येते । इत्यनेन प्रकारेणाक्षाणामान्तरग्रहः । अक्षणामिति कर्तरि षष्ठी । आन्तरस्य विषयस्य ग्रहो ग्रहणमिन्द्रियकर्तृकमान्तरविषयग्रहणं भवतीत्यर्थः ।। ८-९ ।।

तत्स्थानकार्ये आह—**कर्णादीति** । तस्य कार्यानुमेयत्वं स्वभावं चाऽऽह—**सौक्ष्म्यादिति** । प्रायो बहुधा ।। ७ ।।

ननु प्रायः प्रयोगसूचितं कदाचिदिन्द्रियाणामान्तरविषयग्राहकत्वमपि वाच्यम् । तत्त्वनुचितं "पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वम्भूः" इतिश्रुतिविरोधादित्याशङ्क्य श्रुतावेवकारविरहात्सर्वं वाक्यं सावधारणमिति न्यायस्यासति बाधके सञ्चारादान्तरत्वबाह्यत्वयोः स्थूलदेहापेक्षयैव विवक्षितत्वात्तत्रैतद्गोलकानामवस्थानात्कर्णपिधाने शरीरान्तर्गतप्राणवातसञ्जातानाहताख्यध्वनिश्रुत्यनुभूतश्च मैवमिति समाधत्ते—**कदाचिदितियुग्मेन** । कदाचित्कर्णेपिहिते सति कराङ्गुल्या निरुद्धे सति प्राणवायौ जाठराग्नौ च विद्यमान आन्तरः शब्दः श्रूयत इत्यध्याहृत्यान्वयः । एवं जलपानेऽन्नभक्षणे च ॥ ८ ॥

व्यज्यन्त इति । हिरवधारणे । आन्तरा एव स्पर्शा व्यज्यन्त इति सम्बन्धः ।

तथा मीलने नेत्रयोरिति शेषः। आच्छादने कृते सत्यान्तरमेव तमो व्यज्यन्त इत्यार्थिकी योजना। तथोद्गारे जलपानान्नभक्षणकरणकोदरपूरणतन्निष्ठवायोरुदानात्मन ऊर्ध्वागम इत्यर्थः। रसगन्धौ मधुररसकाश्मीरादिगन्धौ व्यज्येते इति प्राग्वदेव। उपसंहरति—**इतीत्यादिशेषेण**। ननु नेदं **प्राचीनाचार्य**सम्मतमिति चेन्न। "तमःप्रकाशवद्विरुद्धस्वभावयोः" इत्यध्यासभाष्यवाक्यटीकापञ्चपादिकातट्टीकाविवरणतट्टीकातत्त्वदीपनाद्याशयमाविष्कुर्वाणैर्मूलकारैरेव विवरणसार एवमेवोपपादितत्वात्। तद्यथा—ननु तमःप्रकाशदृष्टान्ते भावाभावरूपत्वमुपाधिः। आलोकाभावस्तम इति **तार्किकाः**। रूपदर्शनाभावस्तम इति **प्राभाकरा** इति चेन्मैवम्। उपचयाद्यवस्थाभेदवत्त्वेनोपलभ्यमानस्याभावत्वायोगात्। नीलरूपवत्त्वेन द्रव्यत्वात्। ननु भावत्वपक्षे बहलालोकवति देशे निमीलितनयनस्य कथं प्रतीतिः। बहलालोकेन निवृत्त्यङ्गीकारात्। सहावस्थानं तु मन्दालोकेनैव पूर्वमुक्तमिति चेन्न। गोलकान्तर्वर्तितमसः प्रतीत्युपपत्तेः। न च नेत्रस्यान्तर्वर्तिवस्तुग्राहकत्वासम्भवः। पिहितकर्णस्याऽऽन्तरशब्दग्राहकत्वदर्शनात्। न चैवं गोलकान्तरावस्थाञ्जनादेरपि निमीलितनयनेन ग्रहणाप्रसङ्गः। तमोव्यतिरिक्तरूपिण आलोकसहकृतचक्षुर्ग्राह्यत्वनियमादिति। अस्यार्थः। उपाधिवैषम्यम्। न तु साध्यव्यापकत्वे सति साधनाव्यापकत्वम्। तस्य व्याप्यत्वासिद्धिलक्षणहेत्वाभासविशेषत्वसाधकस्य हेत्वेकदोषत्वेन तादृशहेतुमात्रनिष्ठत्वात्। आदिना सङ्कोचलक्षणोपचयो ज्ञेयः। **अञ्जनादेरिति**। आदिना कर्पूरकणः। न चैवं तर्ह्यालोकसहकृतसमुन्मीलितनयनेनापि स्वनिष्ठाञ्जनादिरूपं कुतो न गृह्यत इति साम्प्रतम्। अत्यन्ताव्यवधानात्। तस्माद्युक्तमेव चक्षुषो निमीलने गोलकान्तस्तमोग्राहकत्वमिति। तमसो भावरूपत्वं तु **सिद्धान्तबिन्दावप्युक्तम्**। एवमविघात एवान्धकारोऽपि भावरूप एवावरणात्मा चाक्षुषज्ञानविरोध्यालोकनाशयश्च। झटिति विद्युदादिवदाविर्भवति तिरोभवति चेति सिद्धान्तः। संसारहेतुदेहोपादानत्वाभावाच्च न श्रुतिषु सृष्टिप्रक्रियाऽथाऽऽम्नायत इत्यविरोध इति। अत्र टीका **न्यायरत्नावली**—"नन्वेवं प्रमास्वनाश्यत्वादिविशिष्टवस्तुपूर्विका। प्रकाशत्वादालोकवदित्याद्यनुमानादालोकस्य स्वनाश्यतमःपूर्वकत्वं स्वीकृत्य विवरणादिग्रन्थाकेः कथं सङ्गतिः। तमस आलोकनाश्यभावरूपत्वे श्रुतिषु तत्सृष्ट्युक्त्यापत्तेरालोकाभावरूपत्वात्तत्राऽऽह—**एवमित्यादि**। आवरणात्मकत्वं स्फुटयति—**चाक्षुषज्ञानविरोधीति**। चाक्षुषधीप्रतिबन्धक इत्यर्थः। नन्वन्वयव्यतिरेकाभ्यामालोकस्य चाक्षुषहेतुत्वात्तमसस्तत्प्रतिबन्धकत्वे मानाभावस्तत्राऽऽह**आलोकनाश्य इति**। आलोकस्य संयोगसम्बन्धेन चाक्षुषाहेतुत्व आलोके तद्भावेन चाक्षुषं नोत्पद्येत। तस्माद्विषयतासम्बन्धेन चाक्षुषं प्रत्यवच्छेदकतासम्बन्धेन तमःप्रतिबन्धकम्। आलोकासम्बद्धद्रव्याद्यवच्छिन्नचैतन्ये तम उत्पत्त्या तत्र न चाक्षुषोत्पत्तिः। आलोकावच्छिन्नचैतन्ये तमोनुत्पत्त्या तत्र चाक्षुषोत्पत्तिः। आलोकस्य तमोनाशकत्वेन चाक्षुषोपयोगितया तदन्वयव्यतिरेकादुपक्षीणाविति भावः। ननु तर्हि तमसोऽपि सृष्टिः श्रूयेत तत्राऽऽह। **संसारेति**। देहमध्ये तमःसत्त्वे मानाभावेन तमसो न देहोपादानत्वमाकाशं त्ववकाशदानाय देहान्तरमस्त्येवेति भावः इति। नन्वेवं

पञ्चोक्त्याऽऽदानगमनविसर्गानन्दकाः क्रियाः ।
कृषिवाणिज्यसेवाद्याः पञ्चस्वन्तर्भवन्ति हि ।। १० ।।

एवं ज्ञानेन्द्रियव्यापारानभिधाय कर्मेन्द्रियसत्त्ववादिनं प्रति तत्सद्भाव-समर्थनाय तल्लिङ्गभूतांस्तद्व्यापारानाह—

पञ्चेति । उक्तिश्चाऽऽदानं च गमनं च विसर्गश्चाऽऽनन्दश्चेति द्वन्द्व-समासः । उक्त्याऽऽदानगमनविसर्गानन्दाख्याः पञ्च क्रियाः प्रसिद्धा इति शेषः । ननु कृत्यादीनां क्रियान्तराणामपि सत्त्वात्कथं पञ्चेत्युक्तमित्याशङ्क्याऽऽह— **कृषीति ।। १० ।।**

तमसो भावत्वे सावयवत्वेऽपि च निरुक्तरीत्या साक्षादेवाऽऽकाशवदविद्याकार्यत्वाद-मूर्तत्वाच्च साक्षिभास्यत्वमेव वाच्यं तच्च मीलने चाऽऽन्तरं तम इति मूले नर्मव्यति-रिक्तरूपिण आलोकसहकृतचक्षुर्ग्राह्यत्वनियमादिति च **विवरणसारे**ऽपि चाक्षुषत्वोक्त्या सह स्फुटमेव विरुद्धम् । नहि यः साक्षिविषयः स चक्षुर्विषयो भवति यश्च चक्षुर्विषयः स साक्षिविषयो भवतीति चेद्बाढम् । युक्त्योभयाविरोधसम्भवात् । तथाहि—यथा साक्षिभास्यस्याप्याकाशस्य शब्दलक्षणो गुण एव श्रोत्रग्राह्य इति तु निर्विवादमेव । अनिन्द्रियग्राह्यस्य साक्षिप्रत्यक्षस्याप्याकाशस्य जलादौ प्रतिबिम्बोपलम्भादिति **सिद्धान्तबिन्दावुक्त**त्वात् । तथा तमसोऽपि साक्षिप्रत्यक्षत्वनैयत्ये तदीयनीलरूपस्यैवोक्त-रीतिकचाक्षुषत्वे किं बाधकम् । न च त्वन्मते समवायाभावेऽपि द्रव्यगुणयोस्तादात्म्या-वश्यकत्वात्तमोरूपस्य चाक्षुषत्वे तच्चाक्षुषत्वापत्तिरिति साम्प्रतम् । आकाशगुणस्य शब्दस्य श्रावणत्वेन तत्रापि श्रावणत्वापत्तेः । यदि शब्दावच्छेदेनाऽऽकाशस्य श्रावणत्व-मिष्टमेवेति ब्रूषे तर्हि नीलरूपावच्छेदेन तमसोऽपि चाक्षुषत्वमिष्टमेव । एतदभिप्रायिकैव प्रकृतमूलाद्युक्तिरिति रहस्यम् । अथ प्रकृते शब्दरूपयोरव्याप्यवृत्तित्वव्याप्यवृत्तित्वाभ्यां वैषम्यमिति चेत्किं तेन । तादात्म्यस्य तूभयत्रापि तौल्यात् । नापि शब्दमन्तराऽप्यय-माकाश इति प्रतीतेस्तस्य साक्षिभास्यता तमसस्तु नीलरूपं विना क्वचिदप्यप्रतीते तथात्वमिति वाच्यम् । अवतमसमन्दालोकयोस्तद्दृष्टेरिति दिक् ।। ९ ।।

अथ कर्मेन्द्रियाणि वक्तुं तल्लिङ्गीभूताः क्रियाः पञ्चाऽऽह—**पञ्चेति** । ननु कृष्यादि-क्रियान्तरशतसत्त्वात्कथं पञ्चसङ्ख्यानियम इत्यत्राऽऽह—**कृषीति** ।। १० ।।

वाक्पाणिपादपायूपस्थैरक्षैस्तत्क्रियाजनिः ।
मुखादिगोलकेष्वास्ते तत्कर्मेन्द्रियपञ्चकम् ।। ११ ।।

मनो दशेन्द्रियाध्यक्षं हृत्पद्मगोलके स्थितम् ।
तच्चान्तःकरणं बाह्येष्वस्वातन्त्र्याद्विनेन्द्रियैः ।। १२ ।।

कानि तानि क्रियाजनकानीन्द्रियाणीत्यत आह—

वाक्पाणीति । वागादिभिरक्षैस्तत्क्रियाजनिस्तासां क्रियाणामुत्पत्तिर्भवतीति शेषः । अत्राप्युक्तिः करणपूर्विका क्रियात्वादित्यादिकार्यलिङ्गकमनुमानं द्रष्टव्यम् । तस्य कर्मेन्द्रियपञ्चकस्य स्थानान्याह—**मुखादीति ।** आदिशब्देन करचरणौ गुदशिश्नच्छिद्रे च गृह्येते ।। ११ ।।

इदानीमुक्तदशेन्द्रियप्रेरकत्वेन प्रस्तुतस्य मनसः कृत्यं स्थानं च दर्शयति—

मन इति । तस्यान्तरिन्द्रियत्वं सनिमित्तकमाह—**तच्चेति** ।। १२ ।।

ततो वागादीनि कर्मेन्द्रियाण्याह—**वागिति ।** ननूक्तकर्मेन्द्रियपञ्चकं क्वाऽऽस्त इत्यत आह—**मुखादीति ।** ननु जिह्वायामेव रसनेन्द्रियवद्वागिन्द्रियस्य सत्त्वमन्वयव्यतिरेकाभ्यामास्थेयं तथा च तां विहाय तत्स्थानीभूतं सामान्यतो मुखमेव किमिति वागिन्द्रियस्थानत्वेनोक्तमिति चेत्सत्यम् । जिह्वाया वैखर्याख्यायास्तद्व्यञ्जननिमित्तत्वेऽपि तदुपलक्षितान्यस्थानानामपि विवक्षाभिप्रायेण मुखेत्युक्तिसाङ्गत्यात् । तानि च स्थानान्युक्तानि **सिद्धान्तकौमुद्याम्**— अकुहविसर्जनीयानां कण्ठः । इचुयशानां तालु । ऋटुरषाणां मूर्धा । लृतुलसानां दन्ताः । उपूपध्मानीयानामोष्ठौ । ञमङणनानां नासिका च । एदैतोः कण्ठतालू । ओदौतोः कण्ठोष्ठम् । वकारस्य दन्तोष्ठम् । जिह्वामूलीयस्य जिह्वामूलम् । नासिकाऽनुस्वारस्येति ।। ११ ।।

इतः परं क्रमप्राप्तमन्तरिन्द्रियं मनस्तत्स्थानं चाऽऽह—**मन इति ।** तस्यान्तरिन्द्रियत्वे हेतुं प्रतिबोधयति –**बाह्येष्वित्यादिशेषेण** विषयेष्वित्यार्थिकम् ।। १२ ।।

अक्षेष्वर्थार्पितेष्वेतद्गुणदोषविचारकम् ।
सत्त्वं रजस्तमश्चास्य गुणा विक्रियते हि तैः ॥ १३ ॥
वैराग्यं क्षान्तिरौदार्यमित्याद्याः सत्त्वसंभवाः ।
कामक्रोधौ लोभयत्नावित्याद्या रजसोत्थिताः ।
आलस्यभ्रान्तितन्द्राद्या विकारास्तमसोत्थिताः ॥ १४ ॥

दशेन्द्रियाध्यक्षत्वमेव विशदयति—

अक्षेष्विति । अक्षेष्विन्द्रियेष्वर्थार्पितेषु विषयेषु स्थापितेषु सत्स्वेतन्मनो गुणदोषविचारकमिदं समीचीनमिदमसमीचीनमित्यादिविचारकारीत्यर्थः । अयं भावः । आत्मनः प्रमातृत्वेन सर्वज्ञानसाधारण्याच्चक्षुरादीनां रूपादिज्ञानजननमात्रे चरितार्थत्वात्तगुणदोषविचारस्योपलभ्यमानस्यान्यथानुपपत्त्या तत्कारणत्वेन मनोऽभ्युपगन्तव्यमिति । मनसो वैराग्यकामाद्यनेकविधवृत्तिमत्त्वप्रदर्शनाय सत्त्वादिगुणवत्त्वं दर्शयति—**सत्त्वमिति** । तेषां तद्गुणत्वे कारणमाह—**विक्रियत** इति । हि यतस्तैर्गुणैर्विक्रियते विकारं प्राप्नोतीत्यर्थः ॥ १३ ॥

गुणैस्तस्य विक्रियमाणत्वमेव प्रपञ्चयति—

वैराग्यमिति । स्पष्टत्वान्न व्याख्यायन्ते ॥ १४ ॥

ननु भवत्येवमस्वतन्त्रं बाह्यविषयेषु मनस्तथा हृत्पुण्डरीकं तत्स्थानमप्यथापि तस्य को व्यापार इत्यत आह—**अक्षेष्विति** । श्रोत्रादीन्द्रियेष्वित्यर्थः । **अर्थेति** । शब्दादिलक्षणेषु तैरर्थ्यमानविषयेष्वर्पितेषु तत्तद्विषयग्रहणार्थं नियोजितेषु सत्स्वित्यर्थः । एतन्मनः । **गुणेति** । भवतीत्यार्थिकम् । त्रत हेतुः—**सत्त्वमित्यादिना** । यतोऽस्य मनसः प्रधानत्वादिनोपादानीभूता गुणाः संत्यतस्तैर्विक्रियते सुखदुःखमोहात्मना परिणमत इति यावत् ॥ १३ ॥

ननु कथं तस्य सात्त्विकादिविकारा निर्णेया इत्याशङ्क्य क्रमात्तान्दिङ्मात्रेण व्युत्पादयति—**वैराग्यमित्यादित्रिभिरर्धैः** । वैराग्यं विवेकजन्यसकलदृश्यविषयकदुःखरूपत्वस्वतःसत्ताशून्यत्वप्रतिक्षणविलक्षणत्वाविनश्वरत्वादिप्रमाजन्यद्वैतात्मेतरानादरदार्ढ्यमेव ।

"अपराधिनि कोपश्चेत्कोपे कोपः कथं न ते ।
सर्वेषां पुरुषार्थानां प्रसह्य परिपन्थिनि ॥"

इति **नैष्कर्म्यसिद्धिध्वनितेन** सामर्थ्यसत्त्वेऽपि परविरचितनिरतिशयापकारजन्यकोपशामकविवेकेन तत्सहनसातत्यं क्षान्तिः । यावद्दृश्यविनश्वरत्वानुसन्धानेन स्वशक्त्य-

सात्त्विकैः पुण्यनिष्पत्तिः पापोत्पत्तिश्च राजसैः ।
तामसैर्नोभयं किं तु वृथाऽऽयुःक्षपणं भवेत् ।। १५ ।।

अत्राहंप्रत्ययी कर्तेत्येवं लोकव्यवस्थितिः ।। १६ ।।

वैराग्यादीनां कार्याणि विभज्य दर्शयति—

सात्त्विकैरिति ।। १५ ।।

एतेषां बुद्धिस्थत्वादन्तःकरणादीनां सर्वेषां स्वामिनमाह—

अत्रेति । अहमितिप्रत्ययवान्कर्ता प्रभुरित्यर्थः । लोके हि कार्यकारी प्रभुरित्येवमुपदिश्यते ।। १६ ।।

वस्तुविषयकतात्कालिकयाचकाभिलाषपरिपूरणोत्साह एवौदार्यम् । **कामेत्यादि** । यावद्दृश्यमिथ्यात्वानुसन्धानविनश्वरस्येष्टवस्त्वभिलाषः कामः । तत्प्रतिघातजन्यान्तरभिज्वलनात्मकचित्तवृत्तिः क्रोधः । कामपरिपोष एव लोभः । यथासामर्थ्यं साध्यसाधनव्यापारोऽत्र यत्नः ।

आलस्येत्यादि । सति सामर्थ्येऽपि प्रोक्तप्रयत्नवैमुख्यमालस्यम् । अतत्र तन्मतिर्भ्रान्तिः । जागरेऽपि सुप्त्यादिसंस्कारादिन्द्रियाणां यथावद्विषयाग्रहणमुद्रा तन्द्रा । त्रितयेऽप्याद्यशब्देन क्रमाच्छमदमोपरमसमाधानादिदैवप्रकृतिवृन्दं दम्भदर्पदौष्ट्याद्यासुरप्रकृतिवृन्दमप्रकाशाप्रवृत्त्यादिराक्षसप्रकृतिवृन्दं च संग्राह्यम् ।। १४ ।।

अथैतेषां फालन्य प्याह—**सात्त्विकैरित्याद्यद्वयेन** । राजसैरशास्त्रीयैरुक्तरजःसंजातचित्तवृत्तिविशेषैरित्यर्थः । तेनतुंकालिकस्वकामिनीगमनानृतकाध्यापननिवृत्तिमार्गोपयुक्तभगवन्मन्दिरादिगीतसामादिश्रवणचैत्रादिचन्द्रिकागतगंगावातादिस्पर्शनपरमेश्वरप्रतिमाद्यवलोकनतत्प्रसादादिरसास्वादनतन्निर्माल्यादिगन्धावग्रहणस्य निवृत्तिवर्त्मप्रयत्नस्य च व्युदासः ।। १५ ।।

तामसैरिति । कस्येत्यत आह—**अहमिति** । अहंवृत्तिविशिष्ट आत्मा । लोके लोक्यत इति व्युत्पत्त्याऽखिलदृश्य इत्यर्थः ।। १६ ।।

स्पष्टशब्दादियुक्तेषु भौतिकत्वमतिस्फुटम् ।
अक्षादावपि तच्छास्त्रयुक्तिभ्यामवधार्यताम् ।। १७ ।।

एवं जगतः स्थितिमभिधायेदानीं तस्य भौतिकत्वज्ञानोपायमाह—

स्पष्टेति । स्पष्टशब्दादियुक्तेषु स्पष्टैः शब्दस्पर्शादिगुणैः सहितेषु घटादिषु वस्तूषु भूतकार्यत्वं स्पष्टमेवावगम्यते । इन्द्रियादिषु कथं भूतकार्यत्वनिश्चय इत्याशङ्क्यऽऽगमानुमानाभ्यामित्याह—**अक्षादावपीति** । "अन्नमयं हि सोम्य मन आपोमयः प्राणस्तेजोमयी वाक्" [छान्दो० ६–५–४] इत्यादि शास्त्रमनुमानं च विमतानि श्रोत्रादीनि भूतकार्याणि भवितुमर्हन्ति भूतान्वयव्यतिरेकानुविधायित्वात् । यद्यदन्वयव्यतिरेकानुविधायि तत्तत्कार्यं दृष्टं यथा मृदन्वयव्यतिरेकानुविधायी घटो मृत्कार्यो दृष्टस्तथा चेमानि तस्मात्तथेति । तदन्वयव्यतिरेकानुविधायित्वं च "षोडशकलः सोम्य पुरुषः" [छान्दो० ६–७–१] इत्यादिना छान्दोग्यश्रुतौ मनसः श्रुतं तद्वदन्यत्रापि द्रष्टव्यम् ।। १७ ।।

नन्वेवमपि किमद्वैतसतः सकाशात्पञ्चभूतविवेचने प्रकृत इत्याशंक्य प्रत्यक्षाद्युपलब्धशब्दादिभूतगुणवत्सु घटादिषु भूतकार्यत्वेन स्वानुस्यूताधिष्ठानसद्वस्तुनः सकाशात्पृथक्कारलक्षणसाध्यसारल्येऽपि श्रोत्रादीन्द्रियादियावल्लिगदेहघटकवस्तुष्वपि भौतिकत्वहेतोः सिद्धिरागमानुमानाभ्यामेव बोध्येति समाधत्ते—**स्पष्टेति** । तत्राऽऽगमस्तावत् "अन्नमयं हि सोम्य मन आपोमयः प्राणस्तेजोमयी वाक्" इति **छान्दोग्यश्रुतिरेव** । प्रपञ्चितं चैतदधस्तादेव **तत्त्वविवेके** पञ्चीकरणप्रक्रियया । अनुमानं तु मनःप्राणयोरन्नोदकान्वयव्यतिरेकानुविधायित्वेन भौतिकत्वसाधकं "षोडशकलः सोम्य पुरुषः" इति प्रभृति तच्छ्रुतावेव प्रसिद्धं लोके चानुभूतं प्रसिद्धतरमेव । इन्द्रियेषु तु यथा श्रोत्रादीनि वागादीनि च क्रमादाकाशादिकार्याणि शब्दादितत्तन्मात्रगुणग्राहकत्वात्तथा शब्दादितत्तन्मात्रगुणग्राहकगोलकसमाननाडीकगोलकत्वात् । व्यतिरेकेऽव्याकृतवदिति । अत्र मूके बाधिर्यस्य करेत्वग्गोलकत्वस्यापि चरणोपचारेण लोचनस्वाध्यस्य पायूपस्थयोरसगंधपरिणामयितृत्वस्य च प्रत्यक्षत्वान्न हेतोः स्वरूपासिद्धिः । विस्तरस्त्वत्र सिद्धान्तबिन्द्वादावेवाऽऽवेद्यः ।। १७ ।।

एकादशेन्द्रियैर्युक्त्या शास्त्रेणाप्यवगम्यते ।
यावत्किंचिद्भवेदेतदिदंशब्दोदितं जगत् ।। १८ ।।
इदं सर्वं पुरा सृष्टेरेकमेवाद्वितीयकम् ।
सदेवाऽऽसीन्नामरूपे नाऽऽस्तामित्यारुणेर्वचः ।। १९ ।।
वृक्षस्य स्वगतो भेदः पत्रपुष्पफलादिभिः ।
वृक्षान्तरात्सजातीयो विजातीयः शिलादितः ।। २० ।।

एवं भूतानि भौतिकानि च विविच्य दर्शयित्वा प्रकृतां "सदेव सोम्येदमग्र आसीत्" (छान्दो० ६-२-१) इत्याद्यद्वितीयब्रह्मप्रतिपादिकां श्रुतिं व्याचक्षाणस्तद्वाक्यस्थेदम्पदस्यार्थमाह——

एकादशेति । प्रत्यक्षाभिः सर्वैः प्रमाणैरपि शब्दादर्थापत्त्यादिप्रमाणज्ञानैश्च यावत्किञ्चिज्जगदवगम्यते तत्सर्वं सदेवेत्यादिवाक्यस्थेनेदम्पदेनाभिहितमित्यर्थः ।। १८ ।।

एवमिदंशब्दस्यार्थमभिधायेदानीं तां श्रुतिं स्वयमेवार्थतः पठति—

इदमिति । अरुणस्यापत्यमारुणिरुद्दालकस्तस्य वचनमित्यर्थः ।। १९ ।।

एकमेवाद्वितीयमितिपदत्रयेण सद्वस्तुनि स्वगतादिभेदत्रयं प्रसक्तं निवारयितुं लोके स्वगतादिभेदत्रयं तावद्दर्शयति—**वृक्षस्येति** ।। २० ।।

एवं प्रतिज्ञातविवेकार्थं व्यष्टिसमष्टिस्थूलसूक्ष्मप्रपञ्चभूतभौतिकरूपं प्रतिपाद्येदानीं सदद्वैतवस्तुप्रतिपादिकां "सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्" इत्याद्यां श्रुतिं व्याचिकीर्षुस्तद्गतेदंपदार्थं कथयति—**एकादशेति** । नन्वन्तरिन्द्रियस्य श्रोत्रादिबहिरिन्द्रियद्वारा शब्दादीनां प्रत्यक्षे करणत्वसम्भवेऽपि वागादिकर्मेन्द्रियाणां क्व करणत्वमवगतमिति चेत्सत्यम् । साक्षात्करणत्वासम्भवेऽपि शब्दोच्चारादिक्रियाद्वारा तत्तद्विषयकज्ञानकारणत्वसम्भवात् । युक्तिरनुमानम् । अपिनाऽव्याकृतेतरसाक्षिप्रत्यक्षविषयोऽर्थापत्त्यनुपलब्ध्योश्च विषयो विज्ञेयः ।। १८ ।।

ननु भवत्वेवमिदम्पदविवक्षितमुक्तश्रुतावव्याकृतेतरद्वैतमथापि किं ततः प्रकृत इत्यतस्तां श्रुतिमेवार्थतः पठन्नुपदेशकथामपि प्रथयति—**इदं सर्वमिति** । मूर्तामूर्तात्मकमखिलदृश्यजालमित्यर्थः । **एकमेवेत्यादि** । स्वगतसजातीयविजातीयभेदरहितमित्येतत् । आरुणेररुणवंशोद्भवस्योद्दालकस्य महर्षेः स्वपुत्रश्वेतकेतुं प्रतीति यावत् । वचो वाक्यं ब्रह्मोपदेशकालेऽस्तीत्यध्याहृत्यान्वयः ।। १९ ।।

अथोक्तसदेव सौम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयमिति श्रुतिस्थैकादिपदकृत्यं वक्तुं सामान्यतः सोदाहरणं स्वगतादिभेदत्रयं व्युत्पादयति—**वृक्षस्येति** ।। २० ।।

तथा सद्वस्तुनो भेदत्रयं प्राप्तं निवार्यते ।
ऐक्यावधारणद्वैतप्रतिषेधैस्त्रिभिः क्रमात् ।। २१ ।।
सतो नावयवाः शङ्क्यास्तदंशस्यानिरूपणात् ।
नामरूपे न तस्यांशौ तयोरद्याप्यनुद्भवात् ।। २२ ।।

एवमनात्मनि भेदत्रयं प्रदर्श्य सद्वस्तुन्यपि प्रसक्तं तद्भेदत्रयं श्रुतिः पदत्रयेण निवारयतीत्याह—

तथेति । वस्तुत्वसामान्यादनात्मनीव सद्रूपात्मवस्तुन्यपि प्रसक्तं स्वगतादिभेदत्रयमैक्यावधारणद्वैतप्रतिषेधाभिधायकैः "एकमेवाद्वितीयम्" (छान्दो० ६-२-१) इति त्रिभिः पदैः क्रमेण निवार्यत इत्यर्थः ।। २१ ।।

सद्वस्तुनस्तावन्न स्वगतभेदः शंकितुं शक्यतेऽस्य निरवयवत्वादित्याह—

सत इति । नामरूपयोः सदवयवत्वं किं न स्यादित्याशंक्य सृष्टेः पुरा तयोरभावान्न सदंशत्वमित्याह—**नामेति** ।। २२ ।।

एवं निदर्शितं भेदत्रयं सद्रूपे ब्रह्मण्यपि वस्तुत्वात्सम्भाव्य निराकरोति—**तथेति** । नन्वयं भेदत्रयनिषेधः संश्चेद्द्वैतापत्तिरसंश्चेत्सुतरां सदसद्रूपश्चेदुभयविरोधेन व्याघातः सदसद्वैलक्षण्ये त्वनिर्वचनीयत्वेन पुनर्द्वैतापत्तिरिति चेन्न । भेदभेद्यात्मकद्वैतप्रतियोगिकनिषेधस्यारोपितप्रतियोगिकत्वेनाधिष्ठानैकरूपत्वात् । अध्यस्तप्रतियोगिकभावाभावयोः शुद्धाधिष्ठानैकसत्तानतिरिक्तसत्ताकत्वस्य शुक्तिरजतादौ दृष्टत्वान्निरुक्तद्वैतस्योक्तरूपे ब्रह्मणि निषेधान्यथानुपपत्त्यैवाऽऽरोपितत्वाच्च । नचैवमप्यग्रे इति श्रुत्या पुरा सृष्टेरितिमूलोक्त्या च कालपरिच्छेद इति साम्प्रतम् । कालस्त्वविद्यैवेति सिद्धान्तबिन्दूक्तेः "सन्मूलाः सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठा" इति श्रुत्या वक्ष्यमाणसृष्टिबीजाव्याकृतरूपायास्तस्यास्तत्तादात्म्यापन्नाया एव तत्रेष्टत्वात् ।। २१ ।।

ननु ब्रह्मण ऐक्येन स्वगतभेदशून्यत्वमित्युक्तमनुपपन्नम् । एकस्यापि सूर्यस्य चन्द्रस्य च किरणैः कलाभिश्च तद्दर्शनादित्याशंक्य सूर्यादेः सावयवत्वेन तथात्वेऽप्येकत्वसंख्याद्यखिलधर्मविधुरैकरसे ब्रह्मणि निरवयवत्वान्नैव स्वगतभेदसम्भव इति समादधंस्तन्निरवयवत्वं साधयति—**सत इति** । तत्र हेतुः तदित्यादिना । ननु "अनेन जीवेनाऽऽत्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि" इति श्रुतेः । "ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः" इति स्मृतेश्च तदंशीभूतजीवव्याकृतनामरूपयोरेवास्तु तदंशापरपर्यायतदवयवत्वमित्याशंक्य सृष्टिपूर्वकालवच्छेदेन तदसम्भवान्नैवमिति समाधत्ते—**नामेत्यादि** ।। २२ ।।

नामरूपोद्भवस्यैव सृष्टित्वात्सृष्टितः पुरा ।
न तयोरुद्भवस्तस्मान्निरंशं सद्यथा वियत् ।। २३ ।।
सदन्तरं सजातीयं न वैलक्षण्यवर्जनात् ।
नामरूपोपाधिभेदं विना नैव सतो भिदा ।। २४ ।।
विजातीयमसत्तत्तु न खल्वस्तीति गम्यते ।
नास्यातः प्रतियोगित्वं विजातीयाद्भिदा कुतः ।। २५ ।।

कुतो नामरूपयोरभाव इत्याशङ्क्याऽऽह—

नामरूपेति । फलितमाह—**तस्मादिति** । अत्रायं प्रयोगः । सद्वस्तु स्वगतभेदशून्यं भवितुमर्हति निरवयवत्वाद्गगनवदिति ।। २३ ।।

मा भूत्स्वगतभेदः सजातीयभेदः किं न स्यादित्याशंक्य तत्सजातीयं सदन्तरमिति वक्तव्यं न तन्निरूपयितुं शक्यते सतो वैलक्षण्याभावादित्याह—

सदन्तरमिति । ननु घटसत्ता पटसत्तेति सतो भेदः प्रतिभासत इत्याशंक्य घटाकाशमठाकाशवदौपाधिको भेदो न स्वतो भातीत्याह— **नामरूपोपाधिभेदमिति** । अत्रायं प्रयोगः । सद्वस्तु सजातीयभेदरहितं भवितुमर्हत्युपाधिपरामर्शमन्तरेणाविभाव्यमानभेदत्वाद्गगनवदिति ।। २४ ।।

भवतु तर्हि विजातीयाद्भेद इत्याशंक्य सतो विजातीयमसत्तस्यासत्त्वेनैव प्रतियोगित्वासंभवेन तत्प्रतियोगिकोऽपि भेदो नास्तीत्याह—

विजातीयमिति ।। २५ ।।

ननु नामरूपोद्भवस्य सृष्टेः प्रागसम्भवश्चेत्सदेवेत्यादिश्रुतिप्रसिद्धसदादिनामत्रैकालिकबाधवैधुर्यादिरूपयोः कथं सम्भवस्तदानीमप्यद्वैते ब्रह्मणीति चेद्बाढम् । उक्तश्रुतेस्तात्कालिकतत्स्वरूपकथकत्वस्य सृष्टिसमनन्तरमेव सत्त्वान्मैवमित्याह—**नामेति** । फलितमाह—**तस्मादित्यादिना** ।। २३ ।।

एवमेकरस्येन स्वगतभेदनिरासमुपपाद्यावधारणेन सजातीयभेदनिरासं पार्थ एव धनुर्धर इत्यादिवदन्ययोगव्यवच्छेदार्थकेनोपपादयति—**सदन्तरमिति** । तत्र हेतुः— **वैलक्षण्येति** । तदेवोपपादयति—**नामेति** ।। २४ ।।

एवमद्वितीयपदप्रतिपादितद्वैतप्रतिषेधेन सत्त्वं विजातीयभेदराहित्यमप्युपपादयति— **विजातीयमिति** । यतः सतो विजातीयमसत्तत्त्वस्तीति नैव गम्यते खल्वस्तीत्यनेनैव तस्य सत्त्वापत्त्याऽसत्त्वाभावादतोऽस्यासतः सन्निष्ठा विजातीयभेदविषयकं प्रतियोगित्वं नैव

एकमेवाद्वितीयं सत्सिद्धमत्र तु केचन ।
विह्वला असदेवेदं पुराऽऽसीदित्यवर्णयन् ॥ २६ ॥
मग्नस्याब्धौ यथाऽक्षाणि विह्वलानि तथाऽस्य धीः ।
अखण्डैकरसं श्रुत्वा निष्प्रचारा बिभेत्यतः ॥ २७ ॥

फलितमाह—

एकमेवेति । इदानीं स्थूणानिखननन्यायेन सदद्वैतमेव द्रढयितुं पूर्वपक्षमाह—**अत्र त्विति** ॥ २६ ॥

विह्वलत्वे दृष्टान्तमाह—

मग्नस्येति । दार्ष्टान्तिके योजयति—**तथेति** । अस्यासद्वादिनो जातावेकवचनं धीरन्तःकरणमखण्डैकरसं वस्तु श्रुत्वा निष्प्रचारा साकारवस्तुनीवाखण्डैकरसे वस्तुनि प्रचाररहिता सती अतोऽस्माद्वस्तुनो बिभेति ॥ २७ ॥

भवति ततो विजातीयाद्भिदा सती कुतः स्यादिति सम्बन्धः । एतेन "तद्धैक आहुरसदेवेदमग्र आसीत्" इत्यादिकश्रुतिशङ्कितं शून्यवादिमतं प्रत्युक्तम् । विस्तरस्तु तद्भाष्यादावेव बोध्यः ॥ २५ ॥

एवं ध्वनिमर्यादया प्रध्वस्तमपि माध्यमिकमतम् । कण्ठतोऽपि निराकर्तुं वृत्तानुवादपूर्वकं शङ्कते—**एकमेवेत्यादिना** । अत्रैवं त्रिविधपरिच्छेदशून्ये सद्वस्तुनि सिद्धे सतीत्यर्थः । तुशब्दोऽप्यर्थकः । एतेनाक्षपादाद्यनौचित्यं श्रुतियुक्त्यादिसिद्धत्वादेव द्योत्यते । केचन केचिन्माध्यमिकाभिधशून्यवादिबौद्धविशेषास्तदेकोपजीविनश्चेति यावत् । नन्वेवं श्रुत्यादिसिद्धेऽपि सद्वस्तुनि सति कथं तद्विरुद्धवर्णनमन्तर्वाणिप्रवीणभूषणनित्यतस्तान्विशिनष्टि—**विह्वला इति** । विकलधियः सन्त इत्यर्थः । अत एवेदं प्रत्यक्षादिप्रमाणासिद्धं द्वैतम् । पुरा सृष्टेः प्राक्काले । असदेव तुच्छमेवाऽऽसीदित्यवर्णयन्नित्यन्वयः । एतेन "तद्धैक आहुरसदेवेदमग्र आसीत्" इति श्रुतिरेव संग्रथितार्था भवति ॥ २६ ॥

ननु श्रुत्यादिसिद्धेऽप्यद्वैते ब्रह्मणि किं मूलमिदमुक्तवादिनो विह्वलत्वमित्याशङ्क्यानधिकारमूलकमेवेति ध्वनयंस्तत्र दृष्टान्तं स्पष्टयति - **मग्नस्येति** । अक्षाणीन्द्रियाणि दार्ष्टान्तिके योजयति—**तथेति** । अस्य शून्यवादिनः । **अखण्डेत्यादि** । सदेव सोम्येत्यादिश्रुत्युक्तमित्यर्थः । अद्वैतं ब्रह्मेत्यार्थिकम् ॥ २७ ॥

गौडाचार्या निर्विकल्पे समाधावन्ययोगिनाम् ।
साकारब्रह्मनिष्ठानामत्यन्तं भयमूचिरे ॥ २८ ॥
अस्पर्शयोगो नामैष दुर्दर्शः सर्वयोगिभिः ।
योगिनो बिभ्यति ह्यस्मादभये भयदर्शिनः ॥ २९ ॥
भगवत्पूज्यपादाश्च शुष्कतर्कपटूनमून् ।
आहुर्माध्यमिकान् भ्रांतानचिन्त्येऽस्मिन्सदात्मनि ॥ ३० ॥
अनादृत्य श्रुतिं मौर्ख्यादिमे बौद्धास्तमस्विनः ।
आपेदिरे निरात्मत्वमनुमानैकचक्षुषः ॥ ३१ ॥

उक्तार्थं आचार्यसम्मतिं दर्शयति—

गौडाचार्या इति ॥ २८ ॥

केन वाक्येनोक्तवन्त इत्याकांक्षायां तदीयं वार्तिकमेव पठति—

अस्पर्शेति । योऽयमस्पर्शयोगाख्यो निर्विकल्पः समाधिरेष सर्वयोगिभिः साकारध्याननिष्ठैर्दुर्दर्शः दुःखेन द्रष्टुं योग्यः दुष्प्राप इत्यर्थः । तत्रोपपत्तिमाह—**योगिन इति ।** हि यस्मात्कारणाद्योगिनः पूर्वोक्तद्वैतदर्शिनः अभये भयशून्ये समाधौ निर्जने देशे बाला इव भयदर्शिनो भयहेतुत्वं कल्पयन्तोऽस्मादस्पर्शयोगाद्भीतिं प्राप्नुवन्ति ॥ २९ ॥

श्रीमदाचार्यैरप्येतदभिहितमित्याह–

भगवदिति ॥ ३० ॥

तद्वार्तिकं पठति

अनादृत्येति ॥ ३१ ॥

न केवलमियं मत्कल्पनैव किन्तु साम्प्रदायिक्येवेति वदन्नादौ श्रीमद्गौडपादचार्यचरणसम्मतिमवतारयति– **गौडेति** ॥ २८ ॥

तद्वाक्यमेव माण्डूक्योपनिषत्कारिकाप्रकरणगतं पठति—**अस्पर्शेति ।** न विद्यते स्पर्शयोगो बुद्धिविषयतासम्बन्धो यस्मिन्स तथेत्यर्थः । एषोऽसम्प्रज्ञातसमाध्युपलक्षितशोधितत्वंपदार्थः प्रत्यक्चिन्मात्र आत्मेति यावत् ॥ २९ ॥

अथ वार्तिककारसम्मतिमप्यत्र साक्षादेवावतारयति—**भगवदिति** ॥ ३० ॥
तत्र तद्वार्तिकमेव पठति—**अनादृत्येति** ॥ ३१ ॥

शून्यमासीदिति ब्रूषे सद्योगं वा सदात्मताम् ।
शून्यस्य न तु तद्युक्तमुभयं व्याहतत्वतः ॥ ३२ ॥
न युक्तस्तमसा सूर्यो नापि चासौ तमोमयः ।
सच्छून्ययोर्विरोधित्वाच्छून्यमासीत्कथं वद ॥ ३३ ॥
वियदादेर्नामरूपे मायया सुविकल्पिते ।
शून्यस्य नामरूपे च तथा चेज्जीव्यतां चिरम् ॥ ३४ ॥

इदानीमसद्वादं विकल्प्य दूषयति—

शून्यमिति । शून्यमासीदित्यनेन वाक्येन शून्यस्य सत्ताजातीययोगं वा सद्रूपतां वा ब्रूषे इति विकल्पार्थः । तदुभयं सत्तासम्बन्धसद्रूपत्वलक्षणं शून्यस्य व्याहतत्वान्न युज्यत इत्यर्थः ॥ ३२ ॥

व्याहतत्वमेव दृष्टान्तपूर्वकं द्रढयति—

न युक्त इति ॥ ३३ ॥

ननु भवन्मते वियदादीनां निर्विकल्पे ब्रह्मणि सत्त्वं व्याहतमित्याशङ्क्याऽऽह—

वियदादेरिति । तर्हि शून्यस्यापि नामरूपे सद्वस्तुनि कल्पिते इति वदतो बौद्धस्यापसिद्धान्त इत्यभिप्रायेणाऽऽह—**शून्यस्येति** ॥ ३४ ॥

एवं स्थूणानिखननन्यायेन सदद्वैतविषयकबोधदार्ढ्यार्थमुपन्यस्तमसद्वादं दूषयितुमनूद्य विकल्पयति—**शून्यमासीदिति ।** रे माध्यमिक त्वं शून्यमासीदितिवाक्येन तद्धैक आहुरसदेवेदमग्र आसीदितिश्रुतिमूलकेन किं शून्यस्याऽऽसीदित्याख्यातवशादस भुवि भू सत्तायामिति च स्मरणात्सद्योगं सता साकं भूतकालावच्छेदेन कञ्चित्सम्बन्धं ब्रूषे वेत्यथवा सत्तारूपजातेः शून्यस्य चोभयोरपि निरवयवत्वान्निर्गुणत्वान्निष्क्रियत्वाच्च प्रथमपक्षासम्भवेन । सदात्मतां सद्रूपत्वं ब्रूष इति सम्बन्धः । पक्षद्वयमपि परस्परविरुद्धवस्तुद्वयसामानाधिकरण्यापातलक्षणव्याघाताख्येकेनैव हेतुना प्रतिक्षिपति—न त्वित्यादिना । तुशब्दः प्रतिवाद्युक्तपक्षव्यावृत्यर्थः । अप्यर्थो वा । व्याहतत्वतो व्याघातादुक्तलक्षणाद्धेतोस्तदुभयमपि न युक्तमित्यन्वयः ॥ ३२ ॥

तत्र दृष्टान्तं स्पष्टयति—**न युक्त इति ।** दार्ष्टान्तिके योजयति—**सच्छून्ययोरिति ॥ ३३ ॥**

ननु यथा भवन्मते वियदादेर्नामरूपे कल्पिते एव तद्वच्छून्यस्यापि ते माययेव कल्पिते भवेतामित्याशंकामिष्टापत्यांगीकरोति—**वियदादेरिति ।** तथेत्यादि । शून्यस्य नामरूपे

सतोऽपि नामरूपे द्वे कल्पिते चेत्तदा वद ।
कुत्रेति निरधिष्ठानो न भ्रमः क्वचिदीक्ष्यते ।। ३५ ।।
सदासोदिति शब्दार्थभेदे वैगुण्यमापतेत् ।
अभेदे पुनरुक्तिः स्यान्मैवं लोके तथेक्षणात् ।। ३६ ।।

ननु तर्हि शून्यस्येव सद्वस्तुनोऽपि नामरूपे कल्पिते एवाङ्गीकर्तव्ये; भवन्मते वास्तवयोर्नामरूपयोरभावादिति शङ्कते—

सतोऽपीति । विकल्पासहत्वादयं पक्ष एवानुपपन्न इत्यभिप्रायेण परिहरति—तदेति । अयमभिप्रायः । सतो नामरूपे किं सति कल्पिते, उतासत्यथवा जगति ? नाऽऽद्यः, अन्यस्य रजतादेर्नामरूपयोरन्यत्र शुक्तिकादावारोपदर्शनात्सतो नामरूपयोः सत्येव कल्पनायोगात् । न द्वितीयः; असतो निरात्मकस्य चाधिष्ठानत्वायोगात् । न तृतीयः सत उत्पन्नस्य जगतः सन्नामरूपकल्पनाधिष्ठानत्वानुपपत्तेरिति । मा भूदधिष्ठानमनयोः कल्पना किं न स्यादित्याशंक्याऽऽह—निरधिष्ठान इति ।। ३५ ।।

ननु "असदेवेदमग्र आसीत्" (छान्दो० ३-१९-१, ६-२-१) इत्यत्र या व्याघात उक्तस्तथा "सदेव सोम्येदमग्र आसीत्" (छान्दो० ६-२-१) इत्यत्रापि दोषोऽस्तीति शङ्कते-

सदासीदितीति । तथा हि—सदासीदिति शब्दभेदयोरर्थभेदोऽस्ति न वाऽस्ति चेदद्वैतहानिर्नास्ति चेत्पुनरुक्तिः स्यात् । अतः 'सदासीत्' इत्यनुपपन्नमिति द्वितोयं पक्षमादाय परिहरति—**मैवमिति** । पुनरुक्तिदोषस्य कः परिहार इत्याशङ्क्याऽऽह—**लोक इति** ।। ३६ ।।

अपि मायया परिकल्पिते एव भवतश्चेत्तर्हि चिरं तच्छून्यं जीव्यतां तिष्ठत्विति योजना । कल्पितेनाधिष्ठानादुष्टेरित्याशयः ।। ३४ ।।

ततः प्रतिवादी प्रतिबन्दीं व्युद्भावयति—**सतोऽपित्यादिना** । तां निराकर्तुं सिद्धान्ती पृच्छति—**तदेत्यादिना** । तत्र हेतुः—**निरधिष्ठान इत्यादिना** ।। ३५ ।।

नन्वयापि "सदेव सोम्येदमग्र आसोत्" इति श्रुतावाख्यातार्थस्तावदस भुवोति भू सत्तायामिति च स्मरणात्सत्तैवेति तु निर्विवादमेव । तथा च सदासीतित्यत्र पदार्थभेदे सत्ताया द्वैगुण्यापत्तिरभेदे तु पौनरुक्त्यमिति शङ्कमानं प्रति लोके तथा प्रयोगदर्शनान्मैवमिति समाधत्ते—**सदासीदितीति** ।। ३६ ।।

कर्तव्यं कुरुते वाक्यं ब्रूते धार्यस्य धारणम् ।
इत्यादिवासनाविष्टं प्रत्यासीत्सदितीरणम् ।। ३७ ।।

कालाभावे पुरेत्युक्तिः कालवासनया युतम् ।
शिष्यं प्रत्येव तेनात्र द्वितीयं न हि शङ्क्यते ।। ३८ ।।

चोद्यं वा परिहारो वा क्रियतां द्वैतभाषया ।
अद्वैतभाषया चोद्यं नास्ति नापि तदुत्तरम् ।। ३९ ।।

लोके एवंविधेषु प्रयोगेषु पुनरुक्त्यभावः कुत्र दृष्ट इत्याशङ्क्याऽऽह— **कर्तव्यमिति** । भवत्वेवं लोके श्रुतौ किमायातमित्यत आह— **इत्यादीति** ।। ३७ ।।

नन्वद्वितीये वस्तुनि भूतकालाभावात् 'अग्र आसीत्' इत्युक्तिरनुपपन्नेत्याशङ्क्याऽऽह—

कालेति । ननु जगदुत्पत्तेः पुरा जगदभावेन सद्वितीयत्वं ब्रह्मण इत्याशङ्क्य श्रुतिप्रवृत्तेर्द्वैतवासनाविष्टश्रोतृप्रतिबोधनार्थत्वान्नातिशङ्कनीयमित्याह—**तेनेति** ।। ३८ ।।

इदानीं सिद्धान्तरहस्यमाह—

चोद्यमिति । व्यवहारदशायां चोद्यादि कर्तव्यं, परमार्थतस्त्वद्वैतमेव तत्त्वमित्यर्थः ।। ३९ ।।

तानेव लौकिकप्रयोगान्दर्शयति—**कर्तव्यमिति** । एवं चोक्तसंस्काराविष्टं श्वेतकेतूपलक्षितमुमुक्षुं प्रति सदासीदित्युक्तिर्युक्तैवेत्याह—**इत्यादीति** ।। ३७ ।।

नन्वेवमप्यासीदिति प्रत्ययार्थभूतस्य भूतकालस्य तथाऽग्र इति पदप्रतिपाद्यस्यापि तस्य तत्त्वात्कथमद्वितीयत्वं तदानीं सद्वस्तुन इत्याशङ्क्योक्तन्यायं तत्राप्यतिदिशति—**कालेति** । अत्र कालाभावेऽग्र इत्युक्तिरिति पाठ एव साधुः श्रुतौ पुरा पदाभावात्पुरेत्युपपाठ एवेति भावः ।। ३८ ।।

ननु द्वितीयं न हि शङ्क्यत इति किं राज्ञामाज्ञामात्रमित्याशङ्क्याद्वैतस्य वस्तुनः कथायामप्रवेश एवेति सिद्धान्तावलम्बनेन समाधत्ते—**चोद्यं वेति** । आक्षेपजातमित्यर्थः ।। ३९ ।।

तदा स्तिमितगम्भीरं न तेजो न तमस्ततम् ।
अनाख्यमनभिव्यक्तं सत्किञ्चिदवशिष्यते ।। ४० ।।
ननु भूम्यादिकं मा भूत्परमाण्वन्तनाशतः ।
कथं ते वियतोऽसत्त्वं बुद्धिमारोहतीति चेत् ।। ४१ ।।
अत्यन्तं निर्जगद्व्योम यथा ते बुद्धिमाश्रितम् ।
तदैव सन्निराकाशं कुतो नाऽऽश्रयते मतिम् ।। ४२ ।।

परमार्थतो द्वैताभावे स्मृतिं प्रमाणयति—

तदेति । स्तिमितं निश्चलं, गम्भीरं दुरवगाहं मनसा विषयीकर्तुमशक्यम् । न तेजस्तेजस्त्वानधिकरणं, न तमस्तमसो विलक्षणमनावरणस्वभावम् । ततं व्याप्तम् । अनाख्यं व्याख्यातुमशक्यम् । अनभिव्यक्तं चक्षुरादिभिरप्यविषयीकृतम् । सच्छून्यविलक्षणं अत एव किञ्चिदिदन्तया निर्देष्टुमशक्यमवशिष्यते । द्वैतनिषेधावधित्वेनावतिष्ठत इत्यर्थः ।। ४० ।।

ननु जनिमत्त्वेनानित्यस्य भूम्यादेरसत्त्वमस्तु नित्याकाशस्यासत्त्वं कथमङ्गीक्रियत इति शङ्कते—

नन्विति ।। ४१ ।।

दृष्टान्तावष्टम्भेन परिहरति—

अत्यन्तमिति । अत्यन्तं निर्जगज्जगन्मात्ररहितमित्यर्थः ।। ४२ ।।

ननु निरुक्तश्रुतेः परिच्छेदत्रयशून्यसन्मात्रवस्तुपरत्वे किं प्रमाणमित्याशङ्क्य स्मृतिरेवेतिवदंस्ता पठति—**तदेति** । इदं हि **श्रीवसिष्ठस्य श्रीरामं** प्रति विदेहमुक्तविषयकप्रश्नसमाधानवचनं **बृहद्योगवासिष्ठादौ** प्रकटमेवेति बोध्यम् ।। ४० ।।

तत्र तार्किकः शङ्कते - **नन्विति** । तेऽद्वैतिनस्तव । बुद्धिं प्रति । वियतः प्रत्यक्षादिप्रमाणसहस्रैरप्यसम्भावितविनाशस्याऽऽकाशस्येत्यर्थः । असत्त्वं तदेत्यादिनिरुक्तस्मृतौ सदेव सोम्येदमग्र इत्याद्युक्तश्रुतौ च यथाश्रुतार्थग्राहित्वलक्षणश्रद्धाजाड्यमात्रप्रयुक्तमविद्यमानत्वमिति यावत् । आरोहति प्रागभावाप्रतियोगित्वे सति ध्वंसाप्रतियोगित्वलक्षणनित्यत्वशालिनोऽपि नभसः प्रलयकालावच्छेदेनापि विद्यमानत्ववैधुर्यं कथं बुद्ध्यधिरूढं भवतीत्याक्षेपाशयः ।। ४१ ।।

अथ सिद्धान्ती निरुक्त**तार्किकेण** नित्यतयाऽङ्गीकृतमाकाशमेव दृष्टान्तीकृत्य तदवष्टम्भेन तं प्रत्येव प्रत्याक्षिपति—**अत्यन्तमिति** ।। ४२ ।।

निर्जगद्व्योम दृष्टं चेत्प्रकाशतमसो विना ।
क्व दृष्टं किं च ते पक्षे न प्रत्यक्षं वियत्खलु ॥ ४३ ॥
सद्वस्तु शुद्धं त्वस्माभिर्निश्चितैरनुभूयते ।
तूष्णीं स्थितो न शून्यत्वं शून्यबुद्धेश्च वर्जनात् ॥ ४४ ॥
सद्बुद्धिरपि चेन्नास्ति माऽस्त्वस्य स्वप्रभत्वतः ।
निर्मनस्कत्वसाक्षित्वात्सन्मात्रं सुगमं नृणाम् ॥ ४५ ॥

"न हि दृष्टेऽनुपपन्नम्" इति न्यायमाश्रित्य चोदयति—

निर्जगदिति । दर्शनमेवासिद्धमिति परिहरति—**प्रकाशेति** । अपसिद्धान्तोऽपीत्याह—**किञ्चेति** ॥ ४३ ॥

ननु दर्शनाभावः सद्वस्तुन्यपि समान इत्याशङ्क्य सतः सर्वानुभवसिद्धत्वान्मैवमित्याह—

सद्वस्त्विति । ननु तूष्णीम्भावे शून्यमेवेतरस्य कस्यापि प्रतीत्यभावादित्याशङ्क्य शून्यस्यापि शून्यप्रतीत्यभावाच्छून्यमपि न सम्भवतीत्याह—**न शून्यत्वमिति** ॥ ४४ ॥

ननु तर्हि सद्बुद्ध्यभावात्सत्त्वमपि न घटत इति शङ्कते—

सद्बुद्धिरिति । तस्य स्वप्रकाशत्वान्न तद्बुद्ध्यभावोऽनिष्ट इति परिहरति—**मास्त्वस्येति** । स्वगोचरबुद्ध्यभावे कथं सद्वस्त्ववगन्तुं शक्यत इत्यत आह—**निर्मनस्कत्वेति** ॥ ४५ ॥

दृष्टान्तवैषम्यान्नायं प्रत्याक्षेप इत्याशङ्क्य वियतः प्रकाशादिविधुरस्य प्रत्यक्षविषयत्वं तन्मतेनैव निराचष्टे—**निर्जगदिति** ॥ ४३ ॥

ननु वियतः प्रत्यक्षत्वाभावः सद्वस्तुन्यपि समान एव तद्यथा त्वया केवलश्रुत्यादिश्रद्धाशालिनैव स्वीक्रियते तथा तर्काद्यनुगृहीतानुमित्याख्ययुक्त्या मया वियदपि नित्यतयाऽङ्गीक्रियत इत्याशङ्क्य वैषम्यान्मैवमिति समादधन्स्तत्र स्यानुभूतिमेव निर्दृष्टां स्पष्टयति—**सद्वस्त्विति** । तु शब्दो वैलक्षण्यार्थः । शुद्धं निर्द्वतम् । अनुभूतो भ्रमत्वं व्युदसितुमात्मनो विशिनष्टि—**निश्चितैरिति** । पूर्वाचार्यादिस्वगुर्वन्तब्रह्मविद्विवृतवेदान्तश्रद्धातदनुग्राहकतर्कप्रभृतिनिर्णयवद्भिरित्यर्थः ॥ ४४ ॥

ननु यदुक्तमस्माभिर्गुरुसम्प्रदायविवृतवेदान्ततदनुग्राहकवैयासकतर्कनिर्णीतदृश्यमिथ्यात्वपूर्वकब्रह्माद्वैतात्मैक्यनिर्णयवशात्तूष्णींस्थितिकालावच्छेदेन शुद्धमद्वैतं सद्वस्त्वनुभूयत एव न तु शून्यबुद्धेर्वर्जनाच्छून्यत्वमनुभूयत इत्येतदयुक्तं यथा शून्यबुद्ध्यभावान्न

मनो जृम्भणराहित्ये यथा साक्षी निराकुलः ।
मायाजृम्भणतः पूर्वं सत्तथैव निराकुलम् ।।४६।।
निस्तत्त्वा कार्यगम्याऽस्य शक्तिर्मायाऽग्निशक्तिवत् ।
न हि शक्तिः क्वचित्कैश्चिद्बुध्यते कार्यतः पुरा ।।४७।।

एवं निष्प्रपञ्चस्य साक्षिणस्तूष्णीं स्थितौ भानं प्रदर्श्य तद्दृष्टान्तबलेन सृष्टेः पुराऽपि सद्वस्तु तथाऽवगन्तुं शक्यत इत्याह—**मन इति** ।। ४६ ।।

मायायाः किं लक्षणमित्यत आह—

निस्तत्त्वेति । निस्तत्त्वा जगत्कारणभूताद्वस्तुनः पृथक्त्वरहिता, कार्यगम्या वियदादिकार्यलिङ्गगम्याऽस्य सद्वस्तुनः शक्तिर्वियदादिकार्यजनन-सामर्थ्यं मायेत्युच्यते । वस्तुस्वरूपातिरिक्तशक्तिसद्भावे दृष्टान्तमाह—**अग्नीति** । यथाऽग्न्यादिस्वरूपातिरिक्तं स्फोटादिकार्यलिङ्गगम्यं वह्न्यादिनिष्ठं सामर्थ्यमस्ति तद्वदित्यर्थः । शक्तेः कार्यलिङ्गगम्यत्वं व्यतिरेकमुखेन द्रढयति—**न हि शक्तिरिति** ।। ४७ ।।

शून्यानुभवस्तथा सद्बुद्धेरप्युक्तकालेऽनुपलब्धेस्तदनुभवेऽपि किं मानमित्याशङ्क्य स्वप्रकाशे दृश्यवस्तुनि तथात्वेऽपि स्वप्रकाशदृङ्मात्रात्मन्यद्वैते तु न प्रमाणापेक्षमानत्वगन्धोऽपीति समाधत्ते—**सद्बुद्धिरपीति** । तदेवानुभवादिरूढं विदधान्निगमयति—**निर्मनस्कत्वेति** । मनो विमर्शरूपं स्यादिति पूर्वप्रकरणोक्तेः सङ्कल्पाद्यात्मकान्तःकरणवृत्त्यभावदशा-व्युत्थानकालावच्छेदेनैतावत्कालमहं निर्विकल्प एवभूवमिति परामर्शानुमितसर्वसंकल्पा-भावविषयकसद्रूपभानादित्यर्थः ।। ४५ ।।

एवं तूष्णीं स्थितिकालावच्छेदेन—

"लीने पूर्वविकल्पे तु यावदन्यस्य नोदयः ।
निर्विकल्पकचैतन्यं स्पष्टं तावद्विभासते ।।" इति ।
अर्थादर्थान्तरं वृत्तिर्गन्तुं चलति चान्तरे ।
अनाधारा निर्विकारा यादृशी सोन्मनी स्मृता ।।"

इति च प्राचीनाचार्यचरणवचनान्निर्मनस्कत्वशब्दितनिर्विकल्पावस्थासाक्षित्वो-पलक्षिताद्वैतसन्मात्रं मुमुक्षुबुद्धावधिरोहयित्वा तदृष्टान्तेन सृष्टिप्राक्कालावच्छेदेनापि तत्तथात्वं साधयति—**मन इति** । सृष्टिपूर्वकाले सद्वस्तु त्रिविधपरिच्छेदविधुरम् । भास्य-व्यक्त्यभावात् । असम्प्रज्ञातावस्थासाक्षित्वोपलक्षितसन्मात्रवदिति प्रयोगोऽप्यूह्य इति दिक् ।। ४६ ।।

ननु "सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्" इति श्रुतौ सृष्टेः प्राक्काल-वच्छेदेन ब्रह्मातिरिक्तं तु किञ्चिदपि नोच्यते पूर्वपद्ये तु मायाजृम्भणत इत्यादिना

मनोविकासराहित्यप्रयुक्तसाक्ष्यशून्यत्वलक्षणसाक्षिनिराकुलत्वदृष्टान्तेन मायाविकास-राहित्यप्रयुक्तमेव सद्वस्तुनोऽप्यद्वैतत्वमुक्तं तत्र मायायां किं प्रमाणं किञ्च तस्याः स्वेतरव्यावर्तकं लक्षणमित्याक्षिपन्तं प्रति तत्कथेन समाधत्ते—**निस्तत्त्वेति**। एवं च कार्यलिङ्गकमनुमानमेव तत्र व्यावहारिकं प्रमाणं तथा तादृशमेव तल्लक्षणमपि संक्षिप्तं भवति। तथाहि—सदेव सोम्येत्यादि प्रकृत्य तत्तेजोऽसृजतेत्यादिश्रुत्यन्यथानुपपत्तिसिद्धं सदद्वैतब्रह्मकार्यं जगन्मायां तु प्रकृतिं विद्यादिति पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयत इति च श्रुतिसिद्धमायाख्यतदीयशक्तिमूलकम्। **कार्यत्वात्। दाहवदिति**। यथा लोके तप्तायः-पिण्डादिगतवह्नेः सकाशात्तृणादिदाहलक्षणं कार्यमुपलभ्यैव तदनुकूला तन्मात्रनिष्ठा काचिच्छक्तिस्तर्क्यते तद्वत्प्रकृतेऽपीति यावत्। एतेनास्या निस्तत्त्वशाब्दितस्वतःसत्ता-शून्यत्वलक्षणं मिथ्यात्वं ध्वन्यते। तेन कार्यमात्रगम्यत्वे सति सदनन्यसत्ताकशक्तित्वं मायात्वमिति तल्लक्षणमपि फलति। नन्वेवं यदि प्रमाणागम्या माया तर्हि कथमसाव-द्वैतब्रह्मात्मैक्यज्ञानबाध्या स्यात्। न हि प्रमितं क्वचिदपि बाध्यम्। तथा च प्रौढोवाद-मात्रमेवोक्तानुमानोपन्यसनमिति चेन्न। भावानवबोधात्। तथाहि—निस्तत्त्वेत्यादि-लक्षणवाक्येन व्यावहारिकप्रामाण्यशाल्युक्तानुमानगम्यत्वमेव विवक्षितम्। एवं च यथा व्यावहारिकप्रामाण्यशालिप्रत्यक्षादिप्रमाणगम्यस्यापि घटादेश्चरमप्रमाबाध्यत्वं तद्वन्माया-यामपि तत्स्यात्। न चैवं तर्हि **श्रीमद्वार्तिककारचरणै**रविद्याया अविद्यात्व इदमेव तु लक्षणम्। यत्प्रमाणासहिष्णुत्वमसाधारणमिष्यत इति यत्प्रमाणासहिष्णुत्वमेवाविद्या-पराभिधमायाया असाधारणं लक्षणं प्रतिपादितमस्ति तेन सह प्रकृतलक्षणादिविरोध इति वाच्यम्। तत्र प्रमाणपदेन पारमार्थिकार्थविषयकविचारितवेदान्तमहावाक्यस्यैव विवक्षितत्वात्। **अन्यथा तैरेव—**

"अस्याविद्येत्यविद्यायामेवासित्वा प्रकल्प्यते।
ब्रह्मदृष्ट्या त्वविद्येयं न कथञ्चन युज्यते॥"

इति **वार्त्तिके** प्रकल्प्यत इतिपदध्वनितकार्यलिङ्गकानुमानगम्यत्वं मायापराभिधा-विद्यायाः सूचितं बाध्येत। तस्मायुक्तमेव निरुक्ततल्लक्षणादोति दिक्। नन्वेवं कार्यैकतर्क्यतत्सम्बन्ध्यनन्यसत्ताकशक्तिर्मायेति फलिते कार्येति विशेषणं व्यर्थमित्याशङ्क्य निरुक्ततद्विषयकप्रमाणासूचकत्वेन तत्सार्थक्ये कथितेऽपि लक्षणकुक्षौ गौरवात्तन्मै-वास्त्वित्याग्रहिणं प्रति व्यतिरेकमुखेन तदावश्यकतामन्यथानुपपत्त्या प्रतिपादयति—**न होत्याद्युत्तरार्धेन** ॥ ४७ ॥

न सद्वस्तु सतः शक्तिर्न हि वह्नेः स्वशक्तिता ।
सद्विलक्षणतायां तु शक्तेः किं तत्त्वमुच्यताम् ।। ४८ ।।

शून्यत्वमिति चेच्छून्यं मायाकार्यमितीरितम् ।
न शून्यं नापि सद्यादृक्तादृक्तत्त्वमिहेष्यताम् ।। ४९ ।।

एवं शक्तेः कार्यलिङ्गगम्यत्वमुपपाद्य निस्तत्त्वरूपतामुपपादयति—

न सद्वस्त्विति । अयमभिप्रायः—सद्वस्तुनः शक्तिः किं सत्युतासती न तावत्सती; तथात्वे सतोऽभिन्नत्वेन तच्छक्तित्वायोगात् । उक्तार्थे दृष्टान्तमाह—**न हि वह्नेरिति** । द्वितीयेऽपि किं नरविषाणतुल्योत सद्विलक्षणेति विकल्पाभिप्रायेण पृच्छति—**सद्विलक्षणतायामिति** ।। ४८ ।।

तत्राऽऽद्यं पक्षमनूद्य दूषयति—

शून्यत्वमिति । "शून्यस्य नामरूपे च तथा चेज्जीव्यतां चिरचिरम्" (प्र. २।३४) इत्यत्रेत्यर्थः । तस्माद्द्वितीयः पक्षः परिशिष्यत इत्याह—**न शून्यमिति** । मायास्वरूपं सत्त्वासत्त्वाभ्यां निर्वचनानर्हमित्यभिप्रायः ।। ४९ ।।

नन्वेवं शक्तेः कार्यैकतर्क्यत्वेऽप्ययस्कान्तशक्तिवत्सिद्धे तत्पार्थक्यं त्ववश्यं वाच्यमेव सतोऽसङ्गत्वसिद्ध्यर्थं तथात्वे सदेव सोम्येत्याद्युपक्रान्तश्रुतिबाधस्तथैव सतः सद्वितीयत्वादित्याशङ्क्य किमसौ सतः पृथक्शक्तिः सती किंवा सद्विलक्षणा । नाऽऽद्य इत्याह—**नेति** । तत्र हेतुं द्योतयन्व्यतिरेकमुखेन दृष्टान्तं स्पष्टयति—**न हीति** । अयमाशयः । यदि वह्निरेव तच्छक्तिः स्याच्चेन्मण्यादिना किं प्रतिबाध्येत । प्रतिबध्यते च तद्भिन्ना तदेकाश्रिता तच्छक्तिरिति सकललोकप्रत्यक्षम् । अन्यथा खदिराङ्गाराधिरूढवैश्वानरस्यापि समणिकरेण स्पर्शे स्फोटाद्यनुपलब्धिर्बाध्येत । तस्मात्सद्वस्तुनः शक्तिः सद्रूपैवेति बालजल्पनमेवेति । विस्तरस्तु मुक्तिरमालङ्क्रियायामेव मदीयायामद्वैतरत्नरक्षणव्याख्यायामभिद्रष्टव्यः । न द्वितीयोऽनुपपत्तेरिति द्योतयति—**सदिति** । एवं च निस्तत्त्वेऽतिप्राक्प्रतिज्ञातं प्रतिपादयितुमेवायमुपन्यास इत्याशयः ॥ ४८ ॥

ननु किमत्येवमाक्षिपसि शून्यत्वमेव तत्तत्वमिति वक्तुं शक्यत्वादित्याशङ्क्य तस्य शून्यस्य नामरूपे च तथा चेज्जीव्यतां चिरमित्यादावधस्तादेव निरस्तत्वान्मैवमित्याह—**शून्यत्वमिति चेदिति** । फलितमाह—**न शून्यमिति** । एवं च तस्याः सदसद्विलक्षणत्वलक्षणमिथ्यात्वरूपमनिर्वचनीयत्वमेव त्वया रुदताऽप्यङ्गीकार्यमेवेति तात्पर्यम् ॥ ४९ ॥

नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं किं त्वभूत्तमः ।
सद्योगात्तमसः सत्त्वं न स्वतस्तन्निषेधनात् ।। ५० ।।

अत एव द्वितीयत्वं शून्यवन्न हि गण्यते ।
न लोके चैत्रतच्छक्त्योर्जीवितं लिख्यते पृथक् ।। ५१ ।।

अस्मिन्नर्थे श्रुतिं प्रमाणयति—

नासदिति । "तम आसीत्तमसा गूढमग्रे" [ऋ० सं० अष्ट० ८ अध्या० ७ वर्ग० १७ मं० १] इत्यादिश्रुतिः प्रमाणमित्यर्थः । तर्हि तम आसीदिति कथं सत्त्वमुच्यत इत्यत आह—**सद्योगादिति** । कुत इत्यत आह—**तन्निषेधनादिति** ।। ५० ।।

फलितमाह—

अत एवेति । यतः स्वतः सत्त्वं मायाया नास्त्यतः शून्यस्येव मायाया अपि द्वितीयत्वं न गण्यते हि, नैवाऽऽद्रियत इत्यर्थः । अनृतस्य द्वितीयत्वानङ्गीकारे दृष्टान्तमाह—**न लोक इति** ।। ५१ ।।

न केवलमस्मत्कल्पित एवायमर्थः किन्तु श्रुत्याऽप्येवमेवाभिहित इति द्योतयन्स्तामेवार्थतः पठति—**नासदासीदिति** । सर्वदेशकालावच्छेदेनात्यन्ताभावप्रतियोगित्वे सति सत्तादात्म्यशून्यत्वमसत्त्वम् । नन्वेवं विकल्पैकविषयस्य शून्यापरनामकस्यासतः सृष्टेः प्राक्कालावच्छेदेन भवतु निषेध इति चेद्बाढम् । यावदभावाप्रतियोगिलक्षणस्य सतस्तावदुक्तरूपत्वादेव नैवायं निषेधः किन्तु वक्ष्यमाणमूलाज्ञानकार्यस्येव सद्वियदित्यादिप्रतीतियोग्यस्य सत्तादात्म्यापन्नवियदादेरेवेति तम आसीत्तमसा गूढमग्र इति श्रुत्याशयेन सूचयति—**नो सदासीदित्यादिना** । तर्हि किमासीत्तदानीमिति तदाह—**किं त्विति** । एवं च तमःशब्दितमूलाज्ञाने सदसत्त्वानर्थिकरणत्वलक्षणं मिथ्यात्वं पर्यवस्यति । नन्वेवमप्यभूत्पदेन भू सत्तायामिति स्मृतेस्तस्यैव सत्त्वं प्रतीयते तथा च कथं निरुक्तमिथ्यात्वं तत्राऽऽह—**सद्योगादिति** । एतेन स्वतः सत्ताशून्यत्वमपि मदभिमतं मिथ्यात्वं तत्र द्योत्यते ।। ५० ।।

फलितमाह—**अत एवेति** । यथैकमेवाद्वितीयमिति श्रुतौ ब्रह्मणि द्वितीयप्रतियोगिकाभावरूपशून्येनैव शङ्कमते सद्वितीयत्वं गण्यते तथा नैवोक्तशक्त्या तदेकायत्तसत्ताकया गण्यत इत्यर्थः । तदेव व्यतिरेकनिदर्शनेनोपपादयति—**न लोक इति** ।। ५१ ।।

शक्त्याधिक्ये जीवितं चेद्वर्धते तत्र वृद्धिकृत् ।
न शक्तिः किन्तु तत्कार्यं युद्धकृष्यादिकं तथा ।। ५२ ।।

सर्वथा शक्तिमात्रस्य न पृथग्गणना क्वचित् ।
शक्तिकार्यं तु नैवास्ति द्वितीयं शङ्क्यते कथम् ।। ५३ ।।

ननु शक्त्याधिक्ये जीविताधिक्यं दृश्यतेऽतः शक्तेरपि पृथग्जीवितत्वमस्तीति शङ्कते—

शक्त्याधिक्य इति । न शक्तिर्जीवितवर्धने कारणमपि तु तत्कार्यं युद्धकृष्यादीति परिहरति—**तत्रेति** । दार्ष्टान्तिके योजयति—**तथेति** ।।५२।।

सर्वथेति । मा भूच्छक्त्या सद्वितीयत्वं सतोऽपि तु तत्कार्येण तद्भवत्येवेत्याशङ्क्य तस्य तदानीमसत्त्वात्तेनापि न सद्वितीयत्वमित्याह—**शक्तिकार्यं त्विति** ।। ५३ ।।

ननु लोके चैत्रतच्छक्त्योर्जीवितपार्थक्यलेखाभावेऽपि शक्त्याधिक्ये जीवितवृद्धिर्गजादौ दृश्यत एवेति कार्यलिङ्गकानुमानप्रोह्यमेवैतदित्याशङ्क्य चैत्रोऽधिकशक्तिमानधिकजीवितत्वाद्गजवदित्यनुमानेनैवाधिक्यधर्मधर्मीभूतशक्तिपार्थक्यसाधने हेतुसाध्ययोः कार्यकारणभावाभावाद्धेतोरप्रयोजकत्वमेवेति समाधत्ते—**शक्त्याधिक्य इत्यादिना** । किञ्च जीवितशब्देन किमायुः किंवा बलम् । नाऽऽद्यः । दीर्घायुषोऽपि काकादेरधिकशक्तिमत्त्वाभावात् । नान्त्यः । मया जीवितपदेन लिख्यत इत्याख्यातसूचितव्यक्तेरवनिर्णीतत्वादित्यभिसंधाय शक्तिशब्दितसामर्थ्याधिक्यानुमापकं जीवितपदवाच्यं व्यक्त्याधिक्यं न भवति किन्तु शक्तिशब्दितसामर्थ्यस्य युद्धकृष्यादिकार्यमेव शक्तिवृद्ध्यनुमापकं शक्तिवृद्धिसत्त्व एव तत्कार्यं युद्धादि दृश्यते न तदभाव इति तयोरेव कार्यकारणभावेन हेतुसाध्यभावोऽतो जीवितपदाभिधेयव्यक्तिवृद्धिरन्यथासिद्धैव शक्तिमहत्त्वसाधन इति योजना ॥ ५२ ॥

उपसंहरति—**सर्वथेति** । नन्वथापि तत्कार्येणैव भवतु प्रलयोत्तरं सृष्टेः प्राग्ब्रह्मणः सद्वितीयत्वं तत्राऽऽह—**शक्तीति** ॥ ५३ ॥

न कृत्स्नब्रह्मवृत्तिः सा शक्तिः किं त्वेकदेशभाक् ।
घटशक्तिर्यथा भूमौ स्निग्धमृद्येव वर्तते ।। ५४ ।।

पादोऽस्य सर्वा भूतानि त्रिपादस्ति स्वसंप्रभः ।
इत्येकदेशवृत्तित्वं मायाया वदति श्रुतिः ।। ५५ ।।

विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ।
इति कृष्णोऽर्जुनायाऽऽह जगतस्त्वेकदेशताम् ।। ५६ ।।

ननु सच्छक्तिः सति सर्वत्र वर्तते, उतैकदेशे ? नाऽऽद्यो मुक्तैः प्राप्यब्रह्माभावप्रसङ्गान्न द्वितीयो निरंशत्वेन विरोधित्वादित्याशङ्क्याऽऽद्यानङ्गीकाराद्द्वितीये परिहारो वक्ष्यत इत्यभिप्रायेणाऽऽह—

न कृत्स्नेति । एकदेशवृत्तौ दृष्टान्तमाह— **घटेति** ।। ५४ ।।

शक्तिरेकदेशवृत्तित्वे प्रमाण(छान्दो० ३-१२-६)माह—**पादोऽस्येति** ।। ५५ ।।

न केवलं श्रुतिरेव स्मृति(भ० गी० १०-४२)रप्यस्तीत्याह—**विष्टभ्येति** ।। ५६ ।।

नन्वेवं वह्न्यादिवत्किमसौ शक्तिराध्यासिकतादात्म्येन सम्पूर्णब्रह्मवृत्तिस्तदेकदेशवृत्तिर्वा । नोभयमपि । इयत्तया परिच्छिन्नत्वापत्तेरिति चेन्न । आलोकसहकृतोर्ध्वव्यापारितचक्षुः किरणावच्छिन्न एव नभसि नीलिमभ्रमाधिष्ठानत्वात्—

"भेदं च भेद्यं च भिनत्ति भेदो यथैव भेदान्तरमन्तरेण ।
मोहं च कार्यं च बिभर्ति मोहस्तथैव मोहान्तरमन्तरेण ।।"

इति संक्षेपशारीरकोक्तरीत्याऽध्यस्तोक्तशक्त्यवच्छिन्नैकदेशे एव ब्रह्मणः सेति सदृष्टान्तं स्पष्टयति—**न कृत्स्नेति** ।। ५४ ।।

तत्र प्रमाणापेक्षायां श्रुतिमाह— **पादोऽस्येति** । पादकल्पना तु चतुष्पाद्धर्मचिन्तनजातसंस्कारशिष्यबुद्ध्यभिप्रायेणैव श्रुतिसंमतेत्याकूतम् । श्रौतः पाठस्तु "पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि" इति प्रसिद्ध एव ।। ५५ ।।

ननु पादोऽस्य विश्वा भूतानीत्याद्यार्थिकोदाहृतश्रुतेः स्वार्थं एव तात्पर्यं किं मानमित्याशंक्य तदुपबृंहकस्मृतिरेवेत्याह—**विष्टभ्येति** ।। ५६ ।।

स भूमिं विश्वतो वृत्वा ह्यत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम् ।
विकारावर्ति चात्रास्ति श्रुतिसूत्रकृतोर्वचः ।। ५७ ।।

निरंशेऽप्यंशमारोप्य कृत्स्नेंऽशे वेति पृच्छतः ।
तद्भाषयोत्तरं ब्रूते श्रुतिः श्रोतृहितैषिणी ।। ५८ ।।

इदानीं निर्मायस्वरूपसद्भावे प्रमाण[ऋ० सं० ८-४-१७] माह–**स भूमिमिति** । "विकारावर्ति च तथाहि स्थितिमाह" (ब्र० सू० ४-४-१९) इति सूत्रकारवचनमित्यर्थः ।। ५७ ।।

तर्हि निरंशत्वे विरोध इत्यस्य कः परिहार इत्याशङ्क्य वास्तवनिरंशत्वाभ्युपगमान्न विरोध इत्यभिप्रायेणोदाहृतश्रुत्यभिप्रायमाह—**निरंशेऽपीति** ।। ५८ ।।

ननूदाहृतस्मृतेरप्यहं लक्ष्मीपतिरिदं प्रत्यक्षादिप्रमाणगम्यं कृत्स्नं सम्पूर्णमपि जगत्स्थावरजंगमात्मकं वस्तुजालमेकांशे च मदाज्ञारूपसत्यसंकल्पेन विष्टभ्य नियम्य स्वस्वानियुक्तव्यवहारेतरव्यवहारतो विरुद्धस्थितोऽस्मीत्यर्थसम्भवान्नैवोक्तार्थकत्वमित्याशंक्य श्रुत्यन्तरब्रह्मसूत्राभ्यां सह विरोधान्मैवमित्याह—**स इत्यादिना** । स प्रकृतः परमात्मा । विश्वतः सर्वतः । भूमिं पृथिवीमुपलक्षणमिदं यावद्द्वैतजालस्य । वृत्वाऽऽकाशमिव स्वाध्यस्तनीलिमानमखिलदृश्यजालं सबाह्याभ्यन्तरं समभिव्याप्येत्यर्थः । हिकारः पुरुषसूक्तप्रसिद्धयर्थः । दशेत्यादि । दशांगुलोपलक्षितावरितानन्तरूपं यथा स्यात्तथेति यावत् । अत्यतिष्ठदवर्ततेत्यन्वयः । **विकारेति** । "विकारावर्ति च तथाहि स्थितिमाह" **इत्युत्तरमीमांसा**चरमलक्षणचतुर्थचरणीयैकोनविंशतितमं सूत्रमिदम् । अत्र श्रीमद्भगवत्पादीयं भाष्यम् । विकारावर्त्यपि च नित्यमुक्तं पारमेश्वरं रूपं न केवलं विकारमात्रगोचरं सवितृमण्डलाद्यधिष्ठानम् । तथा ह्यस्य द्विरूपस्थितिमाहाऽऽम्नायः । तावानस्य महिमा ततो ज्यायांश्च पूरुषः । पादोऽस्य सर्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवीत्येवमादिरित्यादि ।। ५७ ।।

नन्वेवं चेत्तर्हि सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयमित्यादिश्रुत्यैव सूचितेन तथा तत्तात्पर्यज्ञश्रीमच्चित्सुखाचार्याणां सम्मतेनायं पट एतत्तंतुनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगी । अंशित्वादितरांशिवदित्यनुमितिध्वनितेन ब्रह्मणि निरंशत्वेन सह विरोध इत्याशंक्य द्वैतमिदं किं कृत्स्ने ब्रह्मण्यारोपितं किंवा तदीयेंऽश एवेति पृच्छत एकजीववादे प्रश्नं कुर्वतो मुमुक्षोर्नानाजीववादे मुमुक्षून्प्रतीति वा श्रोतृहितैषिणी स्वोपदेशश्रवणपरायणकल्याणकारिणी सती श्रुतिर्निरंशेऽपि ब्रह्मणि तद्भाषयैवांशमारोप्योत्तरं ब्रूतेऽतो नोक्तविरोधगन्धोऽपीति समाधत्ते—**निरंशेऽपीति** ।। ५८ ।।

सत्तत्त्वमाश्रिता शक्तिः कल्पयेत्सति विक्रियाः ।
वर्णा भित्तिगता भित्तौ चित्रं नानाविधं यथा ।। ५९ ।।
आद्यो विकार आकाशः सोऽवकाशस्वरूपवान् ।
आकाशोऽस्तीति सत्तत्त्वमाकाशेऽप्यनुगच्छति ।। ६० ।।
एकस्वभाव सत्तत्त्वमाकाशो द्विस्वभावकः ।
नावकाशः सति व्योम्नि स चैषोऽपि द्वयं स्थितम् ।।६१।।

यदर्थं ब्रह्मणि माया समर्थिता, तदानीमाह--

सत्तत्त्वमिति । विक्रिया विविधत्वेन क्रियन्ते इति विक्रियाः कार्य-विशेषा इत्यर्थः । तत्र दृष्टान्तमाह—**वर्णा इति** । वर्णा रक्तपीतादयो धातु-विशेषाः ।। ५९ ।।

तत्र प्रथमं कार्यविशेषं दर्शयति—

आद्य इति । तत्स्वरूपमाह—**सोऽवकाश इति** । आकाशस्य ब्रह्म-कार्यत्वे हेतुमाह—**आकाश इति** ।। ६० ।।

ततः किमित्यत आह—

एकेति । उक्तमर्थं विशदयति—**नावकाश इति** । सति सद्वस्तुन्यवकाशो नास्ति किन्तु सत्स्वभाव एक एवाऽऽकाशे तु स च सत्स्वभावश्चैषोऽप्यवकाश-स्वभावोऽपीति द्वयं स्थितं विद्यत इत्यर्थः ।। ६१ ।।

फलितमाह—**सत्तत्त्वमिति** । विक्रियाः सृष्ट्यादिविकारान् तत्र बालबुद्ध्यारोहार्थं तदिष्टं दृष्टान्तं स्पष्टयति—**वर्णा इति** । वर्णशब्देनात्र रक्तपीतादिरूपविशेषप्रयोजका हिङ्गुलादिरङ्गा एव । तेऽपि वस्तुविचारेऽधिष्ठानीभूतभित्तेर्मृन्मात्रत्ववन्मृन्मात्ररूपा एवाथापि चित्रजनकत्वेन जगज्जनकमायानिदर्शनीभूता इत्याकूतम् । बहुवचनेन "पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते" इति **श्रुतिसारस्य संग्रहः सूच्यते** ।। ५९ ।।

के तेषु सृष्ट्यादिविकारेष्वप्यवान्तरविकारा इत्याशङ्क्य पञ्चभूतविवेकत इति प्रतिज्ञानुसारेण पञ्चैवेति विवक्षुस्तत्राप्याद्यः क इति प्रतिपित्सायां 'तस्माद्वा एतस्मा-दात्मन आकाशः सम्भूत' इति श्रुतेः सत्स्वरूपं तं कथयंस्तत्राधिष्ठानीभूतसत्तानुवृत्ति सानुभूति कथयति—**आद्य इति** ।। ६० ।।

नन्ववकाशो ह्यवयवशून्यत्वमेव सावयवे हि भित्यादौ नैवावकाशो दृश्यते । तथा च पृथ्व्यादिभूतचतुष्टयपरमाण्वाख्यावरणाभाव एवाऽऽकाशपदार्थस्तथाऽस्तीत्याख्यातेन वर्तमानकालवाचिलडन्त्वेन तादृक्काल एवोकाभावाधिकरणत्वेन बोध्यत इति नैव सद्वस्तु

यद्वा प्रतिध्वनिर्व्योम्नो गुणो नासौ सतीक्ष्यते ।
व्योम्नि द्वौ सद्ध्वनी तेन सदेकं द्विगुणं वियत् ।। ६२ ।।
या शक्तिः कल्पयेद्व्योम सा सद्व्योम्नोरभिन्नताम् ।
आपद्य धर्मधर्मित्वं व्यत्ययेनावकल्पयेत् ।। ६३ ।।

सदाकाशयोरेकद्विस्वभावत्वं प्रकारान्तरेण व्युत्पादयति—

यद्वेति । प्रतिध्वनिर्व्योम्नो गुण इत्युपपादितमधस्तात् । असौ प्रतिध्वनिः सद्वस्तुनि नेक्ष्यते नोपलभ्यते । व्योम्नि तु सद्ध्वनी सच्छब्दावुभावप्युपलभ्येते तेन कारणेन सदेकस्वभावं वियत् द्विगुणं द्विस्वभावकमित्यर्थः ।। ६२ ।।

नन्वाकाशस्य सद्ब्रह्मकार्यत्वे आकाशस्य सत्तेति सत आकाशधर्मता कुतः प्रतिभातीत्याशङ्क्याऽऽह—

या शक्तिरिति । या माया सद्वस्तुन्याकाशं कल्पयति, सा प्रथमतः सद्व्योम्नोरभेदं कल्पयित्वा पश्चात्तद्धर्मधर्मिभावं वैपरीत्येन कल्पयत्यत आकाशस्य सत्तेति भानमुपपद्यत इत्यर्थः ।। ६३ ।।

ब्रह्म नापि तच्छक्तिकल्पितस्तत्राऽऽकाशाख्यः कश्चित्प्रथमविकार इत्याशंक्य वर्तमानकालादावपि सदनुवेधेनैव स्वरूपलाभादवकाशावरणाभावशब्दयोरपर्यायत्वात्प्रवृत्तिनिमित्तीभूतशक्यतावच्छेदकभेदाद्व्यवहारभेदाच्च मैवमित्याशयेन सत्तत्त्वाकाशयोः स्वभावभेदं विशदयति--**एकेति** । स कालत्रयाबाध्यत्वरूपः सद्वस्तुस्वभावः । एषोऽत्राकाशः ।।६१।।

ननु प्राक्प्रतिध्वनिर्वियच्छब्द इत्याकाशस्यासाधारणो गुणः शब्द एवोक्त इत्यत आह—**यद्वेति** । नन्वथापि किं प्रकृत आयातामित्याऽऽह—**व्योम्नीति** । ततोऽपि किमित्यतः फलितं कथयति—**तेनेत्यादिशेषेण** । एकमद्वैतस्वरूपमेवेत्यर्थः । द्विगुणं द्वितीयो गुणः शब्दाख्यासाधारणो धर्मो यत्र तत्तथा । एवं च भ्रमोपादानाज्ञानविषयीभूताधिष्ठानसत्तैव सूक्ष्मशब्दाख्यगुणभ्रमवती वियद्भवतीति यावत् ।। ६२ ।।

नन्वेवं तर्हि सञ्शब्द इत्येव प्रतीयान्न त्वाकाशस्य सत्ताशब्दस्य सत्तेति च । प्रतीयते तु प्रायस्तथेत्याशङ्क्य समाधत्ते—**येति** । व्यत्ययो वैपरीत्यम् । तथाचाविद्यकशब्दैकगुणकावकाशात्मकाकाशाख्याद्यविवर्ततादात्म्यापन्नाधिष्ठानीभूताद्वैतब्रह्मस्वरूपसत्तैवेदं रजतमिति रजतमिदमिति च वत्सन्नाकाशः सञ्शब्दश्चेति स्वयं धर्मिण्यप्याकाशादिधर्मतापन्नाऽप्याकाशस्य सत्तेत्यादिप्रतीतियोग्याऽपि भवतीति भावः ।। ६३ ।।

सतो व्योमत्वमापन्नं व्योम्नः सत्तां तु लौकिकाः ।
तार्किकाश्चावगच्छन्ति मायाया उचितं हि तत् ।। ६४ ।।

यद्यथा वर्तते तस्य तथात्वं भाति मानतः ।
अन्यथात्वं भ्रमेणेति न्यायोऽयं सार्वलौकिकः ।। ६५ ।।

मायया वैपरीत्यं कथं कृतमित्याशङ्क्याऽऽह—

सत इति । वस्तुतत्त्वविचारे क्रियमाणे मृदो घटरूपत्वमिव सतो व्योमत्वमापन्नं सद्वस्तुन आकाशरूपत्वं प्राप्तं लौकिकाः प्राणिनः शास्त्रेषु मध्ये तार्किकाश्च तद्वैपरीत्येन व्योम्नो गगनस्य धर्मिणः सत्तां सद्रूपधर्मंजातिं चावगच्छन्ति जानन्ति । नन्वन्यस्यान्यथाप्रतीतिरनुपपन्नेत्याशङ्क्याऽऽह— **मायाया इति ।** तद्विपरीतदर्शनहेतुत्वं मायाया युक्तमित्यर्थः ।। ६४ ।।

मायाया विपरीतप्रतीतिहेतुत्वं लौकिकन्यायप्रदर्शनेन स्पष्टीकरोति—

यद्यथेति । यच्छुक्त्यादि यथा येन शुक्तिकादिरूपेण वर्तते तस्य तथात्वं शुक्त्यादिरूपत्वं प्रमाणतः स्फुरत्यन्यथात्वं रजतादिरूपत्वं तद्भ्रमेण भ्रान्त्या प्रतिभातीत्ययं न्यायः सर्वलोकप्रसिद्ध इत्यर्थः ।। ६५ ।।

तदेवाधिष्ठानाध्यस्तयोः सद्व्योम्नोर्मायिकधर्मिधर्मभाववैपरीत्यकल्पनं विशदयति— **सत इति ।** यन्मायया सतो व्योमत्वमाकाशत्वमापन्नं प्राप्तं भवति तदेव तु लौकिकाः सर्वेऽप्यसंस्कृताः प्राणिनस्तथा संस्कृतेष्वपि **तार्किकास्तर्कप्रधानगौतमकणादमतोपलक्षित-**सकलभेदवादिनोऽपि व्योम्नो धर्मिणः सत्तां धर्मीभूतां परसामान्याख्यां द्रव्यादिभिन्न-वृत्तिस्तु सत्तापरतयोच्यत इति **विश्वनाथपञ्चाननवचनादुत्कट** जातिमवगच्छन्ति कल्पयन्तीत्यन्वयः । ननु कुत एवं **तैर्थिकाणामपि** भ्रमस्तत्राऽऽह—**मायाया इत्यादिशेषेण** ।। ६४ ।।

तदेव लौकिकन्यायतः स्फुटयति—**यदिति** ।। ६५ ।।

एवं श्रुतिविचारात्प्राग्यथा यद्वस्तु भासते ।
विचारेण विपर्येति ततस्तच्चिन्त्यतां वियत् ।। ६६ ।।
भिन्ने वियत्सती शब्दभेदाद्बुद्धेश्च भेदतः ।
वाय्वादिष्वनुवृत्तं सन्न तु व्योमेति भेदधीः ।। ६७ ।।

एवं भ्रान्त्या विपरीतप्रतिभानं दर्शयित्वा तन्निवृत्त्युपायमाह–

एवमिति । एवमुक्तेन प्रकारेण श्रुतिविचारात्प्राक्श्रुत्यर्थविचारात्पूर्वं यद्वस्तु यत्सद्रूपं ब्रह्म भ्रान्त्या यथा येन गगनादिरूपेण वर्तते तच्छ्रुत्यर्थपर्यालोचनेन विपर्येति गगनादिभावं परित्यज्य सद्रूपं ब्रह्मैव भवति। ततः श्रुतिविचारेण वस्तुयाथात्म्यदर्शनसम्भवात्तद्वियच्चिन्त्यतां विचार्यतामित्यर्थः ।। ६६ ।।

विचारस्वरूपमेव दर्शयति—

भिन्न इति । भिन्ने इति प्रतिज्ञार्थे । हेतुमाह—**शब्देति ।** वियत्सच्छब्दयोरपर्यायत्वादित्यर्थः । हेत्वन्तरमाह–**बुद्धेश्चेति ।** तमेव हेतुं विशदयति–**वाय्वादिष्विति ।** यद्वाय्वादिषु भूतेषु सन्वायुः सत्तेज इत्येवं प्रकारेणानुवृत्तं भासते, व्योम तु नैवं भासते इति यज्ज्ञानं स भेदधीर्भेदबुद्धिरित्यर्थः ।। ६७ ।।

उक्तन्यायमेव प्रकृते योजयन्नाकाशीयोक्तरीतिकविचारावश्यकतां विधत्ते— **एवमिति । श्रुतीत्यादि ।** यद्वस्तु द्वैतान्तःपातिपदार्थजातम् । **श्रुतीति ।** वेदान्तविचारात्प्राक् पूर्वं यथा येन प्रकारेण । भासते परिस्फुरति । विचारेण तु निरुक्तविवेकेन तु ततो निरुक्तप्रकारात् । यद्यस्माद्धेतोर्विपर्येति वैपरीत्येन प्रतीयते तत्तस्माद्धेतोः वियत्प्रकृतमाकाशं चिन्त्यतां श्रुत्यन्तानुसारेण विविच्यतामित्यध्याहृत्य सम्बन्धः ।। ६६ ।।

तत्रोक्तवियद्विचारस्वरूपं प्रदर्शयन्प्रतिजानीते **भिन्ने इति ।** वियत्सती आकाशब्रह्मणी भिन्ने व्यावहारिकभेदवती भवत इत्यर्थः । तत्र हेतुः– **शब्देत्यादिना ।** घटः कलशः इत्यादौ शब्दभेदेऽप्यर्थाभेदाद्धेतोः साध्याभाववद्वृत्तित्वलक्षणो व्यभिचार इत्यस्वारस्यादाह—**बुद्धेश्चेत्यादि ।** एवं चापर्यायशब्दजन्यबुद्धिविषयत्वभेदादित्येक एव हेतुरिति यावत् । घटपटादिवदित्यार्थिकम् । तत्र यदि वियत्सतोरभेदः स्याच्चेत्तर्हि वाय्यादिषु व्योमाननुवृत्तिवत्सतोऽप्यननुवृत्तिः स्यादिति प्रकृते तर्कमनुकूलयति— **वाय्वादिष्वित्यादिना ।** न च व्योमापि वाय्वादिषु शब्दायाऽऽत्माऽनुगतं प्रतीयत इति

सद्वस्त्वधिकवृत्तित्वाद्धर्मिव्योम्नस्तु धर्मता ।
धिया सतः पृथक्कारे ब्रूहि व्योम किमात्मकम् ।। ६८ ।।

अवकाशात्मकं तच्चेदसत्तदिति चिन्त्यताम् ।
भिन्नं सतोऽसच्च नेति वक्षि चेद्व्याहृतिस्तव ।। ६९ ।।

एवं सदाकाशयोर्भेदं प्रसाध्य व्योम्नः सत्तेति भ्रान्त्या प्रतीतस्य धर्मिधर्मभावस्य विचारेण व्यत्ययं दर्शयति—

सद्वस्त्विति । रूपरसादिष्वनुवृत्तस्य द्रव्यस्येवाऽऽकाशवाय्वादिष्वनुवृत्तस्य सतो धर्मित्वं रसादिभ्यो व्यावृत्तस्य रूपस्येव वाय्वादिभ्यो व्यावृत्तस्य नभसो धर्मत्वमित्यर्थः । ननु तर्हि घटाद्भिन्नरूपस्य यथा वास्तवत्वं, तथा सतो भिन्नस्य नभसोऽपि स्यादित्याशङ्क्य सद्व्यतिरिक्तस्य नभसो दुर्निरूपत्वान्मैवमित्याह—धियेति ।। ६८ ।।

दुर्निरूपत्वमसिद्धमिति शङ्कते—

अवकाशात्मकमिति । तर्हि सतो विलक्षणत्वादसदेव स्यादिति परिहरति—**असदिति ।** सतो विलक्षणस्यासत्त्वं नास्तीति वदतो दोषमाह—**भिन्नमिति** ।। ६९ ।।

साम्प्रतम् । आकाशस्य वायुं प्रति परिणाम्युपादानत्वेऽपि तद्गुणस्यैव शब्दस्य शुक्लतन्तोः पटे शुक्लरूपस्यैवानुवृत्तत्वं न तु तन्तु पदव्यवहार्यतन्तुत्वेनेति विशेषात् । ब्रह्म तु तत्र विवर्तोपादानमेवेति स्वसामान्यांशसद्रूपेणैवानुगतमिति तयोर्भेदः स्पष्ट एवेति भावः । निगमयति—**इतीत्यादिविशेषेण** ।। ६७ ।।

अत एव सतो धर्मित्वमित्याह—**सद्वस्त्विति** । फलितमाह—**धियेति** । तुच्छमित्याशयः ।। ६८ ।।

ननु त्वयैवाऽऽद्यो विकार आकाशः सोऽवकाशस्वरूपवानित्यादावुक्तम् । तथा भिन्ने वियत्सती इत्यादिनाऽनुपदमेव तयोर्भेदोऽपि साधितः । इदानीं तु धियेत्यादिना कथं तस्य तुच्छत्वं ध्वन्यत इत्याशयेन तच्छंकामनूद्य धिया तस्य सतः पृथक्कारादेव तुच्छत्वमिति त्वयैवानुसंध्येयमिति समाधत्ते—**अवकाशेति** । ननु सद्भेदोऽस्त्वथाप्यसत्त्वंलक्षणं वियतस्तुच्छत्वं माऽस्त्विति वदन्तं प्रति व्याघातं प्रकटयति—**भिन्नमिति** । एवं च भिन्ने वियत्सती इत्यत्र टीकायां मयैतदाशयवतैव व्यावहारिकभेदवती इत्युक्तमित्यविरोधः ।। ६९ ।।

भातीति चेद्भातु नाम भूषणं मायिकस्य तत् ।
यदसद्भासमानं तन्मिथ्या स्वप्नगजादिवत् ।। ७० ।।

जातिव्यक्ती देहिदेहौ गुणद्रव्ये यथा पृथक् ।
वियत्सतोस्तथैवास्तु पार्थक्यं कोऽत्र विस्मयः ।। ७१ ।।

बुद्धोऽपि भेदो नो चित्ते निर्रूढिं याति चेत्तदा ।
अनैकाग्र्यात्संशयाद्वा रूढ्यभावोऽस्य ते वद ।। ७२ ।।

असत्त्वे भानं न स्यादित्याशङ्क्य तुच्छविलक्षणत्वाद्भानं न विरुध्यत इत्याह—

भातीति चेदिति । अविरोधं दर्शयितुं मिथ्यावस्तुनो लक्षणं सदृष्टान्तमाह—**यदसदिति** । यद्वस्तु स्वरूपेणाविद्यमानमपि भासते तत्स्वप्नगजादिवन्मिथ्येत्यर्थः ।। ७० ।।

ननु नियमेन सहोपलभ्यमानयोर्भेदो न दृष्टचर इत्याशङ्क्याह—**जातीति** ।। ७१ ।।

भेदो यद्यपि बुध्यते तथाऽपि निश्चितो न भवतीति शङ्कते—

बुद्धोऽपीति । तस्य परिहारं वक्तुं निश्चयाभावे कारणं पृच्छति—**अनैकाग्र्यादिति** ।। ७२ ।।

नन्वेवं तुच्छं चेत्कथं नभोऽवभातीत्याशङ्क्य सदसद्विलक्षणत्वलक्षणनिर्वचनीयत्वेनेव तद्भानमविरुद्धमिति समाधत्ते—**भातीत्यादिना** ।। ७० ।।

नन्वस्तु जातिव्यक्त्यादिवद्वियत्सतोर्भेद इत्याह—**जातीति** ।। ७१ ।।

एवमपि स्वप्नवत्तन्मिथ्यात्वमेव दुःसहमित्याशंक्य येयं सतः सकाशाद्भिन्नस्य वियतस्तत्प्रतियोगिकभेदस्य च स्वप्नगजादिवन्मिथ्यात्वदार्ढ्यलक्षणनिरूढिस्त्वच्चितेन याति तत्र किमनैकाग्र्यं संशयो वा हेतुरिति विकल्पं पृच्छति—**बुद्धोऽपीति** ।। ७२ ।।

अप्रमत्तो भव ध्यानादाद्येऽन्यस्मिन्विवेचनम् ।
कुरु प्रमाणयुक्तिभ्यां ततो रूढतमो भवेत् ।। ७३ ।।

ध्यानान्मानाद्युक्तितोऽपि रूढे भेदे वियत्सतोः ।
न कदाचिद्वियत्सत्यं सद्वस्तु च्छिद्रवन्न च ।। ७४ ।।

ज्ञस्य भाति सदा व्योम निस्तत्त्वोल्लेखपूर्वकम् ।
सद्वस्त्वपि विभात्यस्य निश्छिद्रत्वपुरःसरम् ।। ७५ ।।

आद्ये परिहारमाह—

अप्रमत्त इति । आद्ये प्रथमे विकल्पे ध्यानात् "तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्" इत्युक्तलक्षणादप्रमत्तो भव, सावधानमना भवेति, यावत् । द्वितीये परिहारमाह—**अन्यस्मिन्निति** । ततः किमित्यत आह—**तत इति** ।। ७३ ।।

ततोऽपि किमित्यत आह—

ध्यानादिति । ध्यानं पूर्वोक्तलक्षणं, मानं 'भिन्ने वियत्सती शब्दभेदाद्बुद्धेश्च भेदतः' (प्र० २।६७)इत्यत्रोक्तम् । युक्तिस्तु सद्वस्त्वधिकवृत्तित्वात् इत्यादावुक्ता । एतैर्ध्यानादिभिर्वियत्सतोर्भेदे चित्ते निरूढि याते सति वियत्कदाचिन्न सत्यं किन्तु सर्वदा मिथ्यैवावभासते, सद्वस्त्वपि छिद्रवदवकाशवन्न च नैव, भवतीति शेषः ।। ७४ ।।

वियत्सत्त्वविवेचने फलमाह—**ज्ञस्येति** ।। ७५ ।।

एवं प्रश्ने कृतेऽपि तदुत्तरमनपेक्ष्यैव परमकरुणोत्कर्षात्स्वयमेवोभयत्रापि क्रमेणोपायावुपदिशति—**अप्रमत्त इति** । आद्येऽनेकाग्र्यात्मके सद्वस्तुतद्विवर्तरूपाकाशप्रतियोगिकतत्तादात्म्यविघटकभेदतन्मिथ्यात्वविषयकनिश्चयोदयप्रतिबन्धके विषय इत्यर्थः । ध्यानात्मनः साक्षित्वोपलक्षितोऽहं ब्रह्मास्मीत्येकरूपप्रत्ययप्रचयरचनादित्येतत् । अन्यस्मिन्संशयाप्त्योक्तप्रतिबन्धकविषय इति यावत् । एवं च व्युत्क्रमेण चतुर्लक्षण्यध्यायत्रयीस्वारस्यपरिशीलनं सूचितम् ।। ७३ ।।

नन्वेतावदायासस्य किं फलमित्यत आह—**ध्यानादिति** ।। ७४ ।।

ननु कस्येदं फलं कलावप्यद्यकलितमित्यत्राऽऽह—**ज्ञस्येत्यादिद्वाभ्याम्** ।। ७५ ।।

वासनायां प्रवृद्धायां वियत्सत्यत्ववादिनम् ।
सन्मात्राबोधयुक्तं च दृष्ट्वा विस्मयते बुधः ।। ७६ ।।
एवमाकाशमिथ्यात्वे सत्सत्यत्वे च वासिते ।
न्यायेनानेन वाय्वादेः सद्वस्तु प्रविविच्यताम् ।। ७७ ।।
सद्वस्तुन्येकदेशस्था माया तत्रैकदेशगम् ।
वियत्तत्राप्येकदेशगतो वायुः प्रकल्पितः ।। ७८ ।।
शोषस्पर्शौ गतिर्वेगो वायुधर्मा इमे मताः ।
त्रयः स्वभावाः सन्मायाव्योम्नां ये तेऽपि वायुगाः ।।७९।।

वियन्मिथ्यात्वं सतो वस्तुत्वं च सदा चिन्तयतः किं भवतीत्यत आह— **वासनायामिति** । बुधो वियत्सतोस्तत्त्ववेत्ता गगनस्य सत्यत्वं ब्रुवाणं निरवकाशसद्वस्त्ववबोधरहितं च दृष्ट्वा विस्मयं प्राप्नोतीत्यर्थः ।। ७६ ।।

उक्तन्यायमन्यत्राप्यतिदिशति—**एवमिति** ।। ७७ ।।

नन्वाकाशकार्यस्य वायोरकारणभूतेन सद्वस्तुना तादात्म्यप्रतीत्ययोगात्सतो विवेचनमप्रयोजकमित्याशङ्क्य साक्षात्सम्बन्धाभावेऽपि परम्परया सम्बन्धोऽस्तीत्याह—**सद्वस्तुनीति** ।। ७८ ।।

एवं सद्वाय्वोः सम्बन्धं प्रदर्श्य, तयोर्धर्मतो भेदज्ञानाय वायौ प्रतीयमानान्धर्मानाह—

शोषस्पर्शाविति । एवं प्रातिस्विकान्धर्मानभिधाय कारणतः प्राप्तांस्तानाह—**त्रय इति** । सन्मायाव्योम्नां ये त्रयः स्वभावाः शीलविशेषा धर्मास्तेऽपि वायुगाः । वायौ विद्यन्ते इत्यर्थः ।। ७९ ।।

वासनायां वियन्मिथ्यात्वाद्यनुसन्धानसंस्कारपरम्परायामित्यर्थः । बुधो ब्रह्मनिष्ठः ।। ७६ ।।

उक्तन्यायमन्यत्राप्यतिदिशति—**एवमिति** । वासिते जनितदृढसंस्कारावध्यनुसन्धिते सतीत्यर्थः ।। ७७ ।।

तत्राऽऽदौ वायुविवेचनप्रकारं स्फोरयति—**सद्वस्तुनीत्यादिभिस्त्रिभिः** ।। ७८ ।।

शोषेति । यद्यपि स्पर्श एव वायोः प्रधानो धर्म इत्यधस्तात्सिद्धान्तितमथापि 'न शोषयति मारुतः' इति स्मृतेः प्रत्यक्षतोऽपि वायुमात्रकरणकक्लिन्नवसनशुष्कीभावस्य तन्निष्ठगत्यादेश्चोपलम्भाच्च शोषगतिवेगा अप्यवान्तरास्तद्धर्माः सन्तीत्यविरोधः । न च

वायुरस्तीति सद्भावः सतो वायौ पृथक्कृते ।
निस्तत्त्वरूपता मायास्वभावो व्योमगो ध्वनिः ।। ८० ।।

सतोनुवृत्तिः सर्वत्र व्योम्नो नेति पुरेरितम् ।
व्योमानुवृत्तिरधुना कथं न व्याहतं वचः ।। ८१ ।।

छिद्रानुवृत्तिर्नेतीति पूर्वोक्तिरधुना त्वियम् ।
शब्दानुवृत्तिरेवोक्ता वचसो व्याहृतिः कुतः ।। ८२ ।।

के ते धर्मा इत्यत आह—

वायुरिति । वायुरस्तीतिव्यवहारहेतुसद्रूपत्वं सद्वस्तुनो धर्म एकः । वायौ सद्वस्तुनो विवेचिते सति यन्निस्तत्त्वरूपत्वं स मायाधर्मो द्वितीयः । शब्दो व्योम्नः सकाशादागतो धर्मस्तृतीय इत्यर्थः ।। ८० ।।

ननु व्योमविवेचनप्रस्तावे वाय्वादिष्वनुवृत्तं सन्न तु व्योमेति भेदधीः (प्र० २।६७) । इत्यत्र वाय्वादावाकाशानुवृत्तिर्निवारिता, इदानीं व्योमानुवृत्तिरभिधीयते । अतः पूर्वोत्तरविरोध इति शङ्कते—

सत इति । व्योमानुवृत्तिरधुनोच्यत इति शेषः ।। ८१ ।।

पूर्वमवकाशलक्षणस्वरूपानुवृत्तिर्निवारिता । इदानीं धर्मानुवृत्तिरेवाभिधीयते, न स्वरूपानुवृत्तिरतो न व्याहतिरिति परिहरति—**छिद्रेति** ।। ८२ ।।

धर्मिप्रत्यक्षमन्तरा धर्माणां गत्यादीनां प्रत्यक्षविषयत्वासम्भवात्सति कुड्ये चित्रमिति न्यायेन तस्यैवाऽऽदौ न्यायमतेऽनुमितिमात्रविषयत्वाच्चानुचितमेवेदं तद्गत्यादिप्रत्यक्षोपन्यसनवचनमिति वाच्यम् । यदि वायुः प्रत्यक्षो न स्याच्चेच्छीतलं वायुं स्पृशामिति सर्वजनीनोऽनुभव एव बाधितः स्यादतो बह्वनुग्रहस्य न्याय्यत्वेन स्पर्शानुमेयो वायुरिति तार्किकोक्तेरेव त्याज्यत्वात् । विस्तरस्त्वाकरत एव ज्ञेय इति दिक् ।। ७९ ।।

वायुरिति । सद्भावः सत्त्वम् ।। ८० ।।

तत्र वाय्वादिष्वनुवृत्तं सन्न तु व्योमेति पूर्वोक्तव्याघातं शङ्कते—**सत इति** ।।८१।।

विषयभेदेन वचसोः साफल्यमिति समाधत्ते—**छिद्रेति** । एवमेव मया तन्व्याख्यान एवाशङ्क्य समाहितमिति द्रष्टव्यम् ।। ८२ ।।

ननु सद्वस्तुपार्थक्यादसत्त्वं चेत्तदा कथम् ।
अव्यक्तमायावैषम्यादमायामयताऽपि नो ॥ ८३ ॥

निस्तत्त्वरूपतैवात्र मायात्वस्य प्रयोजिका ।
सा शक्तिकार्ययोस्तुल्या व्यक्ताव्यक्तत्वभेदिनोः॥ ८४ ॥

सदसत्त्वविवेकस्य प्रस्तुतत्वात्स चिन्त्यताम् ।
असतोऽवान्तरो भेद आस्तां तच्चिन्तयाऽत्र किम्॥ ८५ ॥

ननु वायोः सद्ब्रह्मविलक्षणत्वादसत्त्वलक्षणं मायामयत्वं यद्युच्यते तर्ह्यव्यक्तस्वरूपमायावैलक्षण्यादमायामयत्वमपि किं न स्यादिति चोदयति—**नन्विति** ॥ ८३ ॥

नाव्यक्तत्वं मायामयत्वे प्रयोजकं, किन्तु निस्तत्त्वरूपत्वं, तत्तु मायाया-मिव वाय्वादावप्यस्तीति न मायामयत्वहानिरिति परिहरति—**निस्तत्त्वेति** । ॥ ८४ ॥

ननु शक्तिकार्ययोरुभयोरपि निस्तत्त्वरूपतायामविशिष्टायां व्यक्ताव्यक्त-त्वलक्षणो भेदः कुत इत्याशङ्क्य तद्विचारः प्रस्तुतानुपयुक्त इति परिहरति—

सदसत्त्वेति । असतो मायातत्कार्यरूपस्यावान्तरभेदो व्यक्ताव्यक्तत्वरूप इत्यर्थः ॥ ८५ ॥

पुनः शिष्य एव शङ्कते—**नन्विति** । कथं शब्दोऽयमपि शब्दादूर्ध्वं योज्यः । तथाच यदि वायोः सद्वस्तुपार्थक्यादतत्त्वं स्याच्चेत्तर्ह्यव्यक्तमायावैषम्यादमायामयताऽपि कथं नो स्यादिति शङ्काशयः ॥ ८३ ॥

असत्त्वं हि प्रकृतेन तुच्छत्वं किन्तु निस्तत्त्वरूपत्वमेवेति समाधत्ते—**निस्तत्त्वेति** । ॥ ८४ ॥

एवं यदि शक्तिकार्ययोर्निस्तत्त्वरूपत्वं तुल्यमेव तर्हि कार्यस्य व्यक्तत्वं शक्तस्त्व-व्यक्तत्वं किं निबन्धमित्याशङ्क्य कार्यत्वादिनिबन्धन एव सभेद इत्यभिसन्धायैवम-सद्वस्त्ववान्तरभेदविचारे फलाभावे । प्रधानीभूतसफलसद्वस्त्वधारणविलम्बमम्भवेन च तत्रोपेक्षैव वरमिति समाधत्ते—**सदसत्त्वेति** ॥ ८५ ॥

सद्वस्तु ब्रह्म शिष्टोंऽशो वायुर्मिथ्या यथा वियत् ।
वासयित्वा चिरं वायोर्मिथ्यात्वं मरुतं त्यजेत् ॥ ८६॥
चिन्तयेद्वह्निमप्येवं मरुतो न्यूनवर्तिनम् ।
ब्रह्माण्डावरणेष्वेषा न्यूनाधिकविचारणा ॥ ८७ ॥
वायोर्दशांशतो न्यूनो वह्निर्वायौ प्रकल्पितः ।
पुराणोक्तं तारतम्यं दशांशैर्भूतपञ्चके ॥ ८८ ॥

फलितमाह—

सद्वस्त्विति । वायौ यः सदंशस्तद्ब्रह्मरूपं शिष्टोंऽशो निस्तत्त्वादिर्वायोः स्वरूपं स च वायुः निस्तत्त्वरूपत्वादेवाऽऽकाशवन्मिथ्या । इत्थं वायुर्मिथ्यात्वं चिरं वासयित्वा मरुतं त्यजेन्मरुत्सत्य इति बुद्धिं त्यजेदित्यर्थः ॥ ८६ ॥

वायावुक्तं विचारं तेजस्यप्यतिदिशति—

चिन्तयेदिति । ननु सद्वस्तुन्येकदेशस्था माया तत्र(पं.२-७८)इत्यादिना वियदादीनां न्यूनाधिकभाव उक्तः स लोके न क्वापि दृश्यत इत्याशङ्क्याऽऽह-- **ब्रह्माण्डेति** ॥ ८७ ॥

वायोः कियतांऽशेन न्यूनो वह्निरित्यत आह—

वायोरिति । तस्य वास्तवत्वशङ्कां वारयति—**वायाविति** । नन्वयं न्यूनाधिकभावः स्वकपोलकल्पित इत्याशङ्क्याऽऽह—**पुराणोक्तमिति** ॥८८॥

ततः प्रकृते किं सिद्धमिति तदाह— **सद्वस्त्विति** ॥ ८६ ॥

उक्तन्यायं तेजस्यप्यतिदिशति -- **चिन्तयेदिति** । ननु वह्नेर्वायुसकाशान्न्यूनवर्तित्वं कथमध्यवसेयमित्यत आह—**ब्रह्माण्डेति** ॥ ८७ ॥

कियांस्तदंशो न्यून इत्यत्राऽऽह—**वायोरिति** । वायौ वाय्ववच्छिन्नचैतन्य इत्यर्थः । प्रकल्पितमाययाऽध्यस्त इति यावत् । नन्वेवं नियमने किं मानमित्यत आह—**पुराणेति** । तदुक्तं भागवते तृतीयस्कन्धे षड्विंशेऽध्याये—

"एतदण्डं विशेषाख्यं क्रमवृद्धैर्दशोत्तरैः ॥
तोयादिभिः परिवृतं प्रधानेनाऽऽवृतं बहिः" इति ॥

अत्र पार्थिवब्रह्माण्डापेक्षया तदावरणीभूततोयस्य दशगुणाधिक्यं ततस्तदपेक्षया तेजस्ततो वायोस्तत आकाशस्येति स्फुटमेव । तेनाऽऽकाशापेक्षया दशांशतो न्यूनो वायुस्ततो दशांशतो न्यूनो वह्निरित्यादि सर्वं संगतमेतत् । प्रधानमत्र त्रिगुणा मायैव ॥८८॥

वह्निरुष्णः प्रकाशात्मा पूर्वानुगतिरत्र च ।
अस्ति वह्निः स निस्तत्त्वः शब्दवान्स्पर्शवानपि ।। ८९ ।।
सन्मायाव्योमवाय्वंशैर्युक्तस्याग्नेर्निजो गुणः ।
रूपं तत्र सत सर्वमन्यद्बुद्धया विविच्यताम् ।। ९० ।।
सतो विवेचिते वह्नौ मिथ्यात्वे सति वासिते ।
आपो दशांशतो न्यूनाः कल्पिता इति चिन्तयेत् ।। ९१ ।।
सन्त्यापोऽमूः शून्यतत्त्वाः सशब्दस्पर्शसंयुताः ।
रूपवत्योऽन्यधर्मानुवृत्त्या स्वीयो रसो गुणः ।। ९२ ।।

वह्नेः स्वरूपमाह—

वह्निरिति । अत्रापि वायाविव कारणधर्मा अनुगता इत्याह-पूर्वेति । के ते धर्मा इत्याकाङ्क्षायामाह—अस्तीति ।। ८९ ।।

एवमग्नौ कारणधर्मानुगत्यनुवादपूर्वकं स्वकीयं धर्मं दर्शयति—

सन्मायेति । इत्थं सविशेषणं वह्निस्वरूपं व्युत्पाद्येदानीं सद्वस्तुनो वह्नि विविनक्ति-तत्रेति । तत्र तेषु मध्ये सतः सद्वस्तुनोऽन्यत्सर्वं धर्मजातं मिथ्येति बुद्धया विविच्यतां पृथक्क्रियतामित्यर्थः ।। ९० ।।

एवं वह्नेर्मिथ्यात्वनिश्चयानन्तरमपां मिथ्यात्वं चिन्तयेदित्याह—सत इति ।। ९१ ।।

अस्यापि कारणधर्मान्स्वधर्मांश्च विभज्य दर्शयति—सन्त्याप इति । शब्देन सह वर्तत इति सशब्दः सशब्दश्चासौ स्पर्शश्च सशब्दस्पर्शस्तेन युक्ता इत्यर्थः ।। ९२ ।।

ननु किं वह्नेः स्वरूपमित्यत आह—वह्निरिति । अत्राप्युक्तां पूर्वानुगतिं स्पष्टयति—अस्तीति । स तु सतः पृथक्कारे निस्तत्त्वो भवतीत्यर्थः ।। ८९ ।।

एवमस्तीत्यादिसदाद्यनुवृत्तिमतोऽग्नेः को निजो गुण इत्यत आह—सदिति । तत्रापि प्राग्वदेव सतः पृथक्कारं विधत्ते—तत्रेत्यादिशेषेण ।। ९० ।।

तत्फले तन्मिथ्यात्वदार्ढ्ये सत्यपामप्येवं चिन्तनं विधत्ते—आप इति ।। ९१ ।।

अथाप्सु सदाद्यनुवृत्तिं तन्मुख्यगुणं च विवृणोति—सन्तीति । सेति । सशब्दः शब्दसहितो यः स्पर्शस्तेन संयुता इति विग्रहः स्वीय आसामिति शेषः । अस्तीत्यार्थिकम् ।। ९२ ।।

सतो विवेचितास्वप्सु तन्मिथ्यात्वे च वासिते।
भूमिर्दशांशतो न्यूना कल्पिताऽप्स्वति चिन्तयेत् ॥ ९३ ॥
अस्ति भूस्तत्त्वशून्याऽस्यां शब्दस्पर्शौ सरूपकौ।
रसश्च परतो गन्धो नैजः सत्ता विविच्यताम् ॥ ९४ ॥
पृथक्कृतायां सत्तायां भूमिर्मिथ्याऽवशिष्यते।
भूमेर्दशांशतो न्यूनं ब्रह्माण्डं भूमिमध्यगम् ॥ ९५ ॥
ब्रह्माण्डमध्ये तिष्ठन्ति भुवनानि चतुर्दश।
भुवनेषु वसन्त्येषु प्राणिदेहा यथायथम् ॥ ९६ ॥
ब्रह्माण्डलोकदेहेषु सद्वस्तुनि पृथक्कृते।
असन्तोऽण्डादयो भान्तु तद्भानेऽपीह का क्षतिः ॥ ९७ ॥

विवेकध्यानाभ्यामपां मिथ्यात्वं निश्चित्यानन्तरं भूमेर्मिथ्यात्वं चिन्तनीयमित्याह—सत इति ॥ ९३ ॥

तस्या मिथ्यात्वचिन्तनाय तद्धर्मानपि विभजते—

अस्ति भूरिति। तेभ्यः सत्तामात्रं पृथक्कर्तव्यमित्याह—सत्तेति ॥ ९४ ॥

सत्तापृथक्करणे फलमाह—

पृथगिति। इदानीं भौतिकेभ्यो ब्रह्माण्डादिभ्यः सतो विवेचनाय तदवस्थानप्रकारं दर्शयति—भूमेरिति ॥ ९५ ॥

ब्रह्माण्डेति। स्पष्टम् ॥ ९६ ॥

तेषु सद्विवेचने फलमाह—ब्रह्माण्डेति ॥९७ ॥

अत्रापि प्राग्वन्मिथ्यात्वदार्ढ्ये सति भूमिचिन्तनं विधत्ते—सत इति। शिष्टं तु प्राग्वदेव ॥ ९३ ॥

एवमत्राप्यन्यधर्मानुवृत्तिं स्वकीयं प्रधानं गुणं च वदंस्तत्रापि सत्ता विवेचनीयेत्याह—अस्ति भूरिति। तत्त्वेति। स्वतः सत्ताशून्या मिथ्येत्यर्थः ॥ ९४ ॥

फलितमाह—पृथगितिप्रभृतित्रिभिः। भूमीति। अस्तीति शेषः ॥ ९५ ॥

ब्रह्माण्डेति। यथा यथा शास्त्रव्यवस्थामनतिक्रम्येत्यर्थः ॥ ९६ ॥

ब्रह्माण्डलोकेति। अत्र देहशब्देन प्राग्वर्णितबहिरादीन्द्रियसहितप्राणवायुविशिष्टसूक्ष्मदेहान्वितस्थूलदेहा बोध्यास्तेन त्वम्पदार्थशुद्धिरपीत्याकूतम् ॥ ९७ ॥

भूतभौतिकमायानामसत्त्वेऽत्यन्तवासिते ।
सद्वस्त्वद्वैतमित्येषा धीर्विपर्येति न क्वचित् ।। ९८ ।।

तद्ध्याने का क्षतिरित्युक्तमेवार्थं स्पष्टीकरोति—

भूतेति । भूतानामाकाशादीनां भौतिकानां ब्रह्माण्डादीनां मायायाश्च तत्कारणभूताया मिथ्यात्वे विवेकध्यानाभ्यां चित्ते दृढं वासिते सति सद्वस्तुनोऽद्वैतत्वबुद्धिः कदाचिन्न विहन्यत इत्यर्थः ।। ९८ ।।

नन्वेमपि शोधिततत्पदार्थभूतसद्वस्तुनः सकाशात्पृथक्कृताः सन्तो ब्रह्माण्डलोकदेहाः सत्ताशून्यत्वेन मिथ्याभूता एव भान्तु नामेत्युक्तमयुक्तम् । तावन्मात्रेणामुक्त्यसिद्धेः । न ह्यहं ब्रह्म न जानामीत्यनुभूयमानस्याज्ञानस्य ध्वस्तिलक्षणा मुक्तिः सच्छब्दितब्रह्मभिन्नं सर्वं मिथ्येति प्रामित्या सिद्ध्यति । ज्ञानाज्ञानयोः समानाश्रयविषयकत्वेनैव विरोधादिति चेन्न । भावानवबोधात् । तथाहि लिङ्गदेहान्तःपातिनोऽहङ्कारस्यापि ब्रह्मरूपात्सद्वस्तुनः पार्थक्यान्मिथ्यात्वे सिद्धे तदवच्छिन्नचैतन्यरूपजीवाश्रितस्य ब्रह्मविषयज्ञानस्याद्वैतसद्वस्तुरूपब्रह्मात्मैक्यज्ञानेनैवावच्छेदकीभूताश्रयनाशेनापि च नष्टत्वात्सद्य एव जीवन्मुक्तिरित्यभिप्रेत्याह—**भूतभौतिकेति** । एतावदेव द्वैतमित्युक्तं सिद्धान्तबिन्दावपि । अविद्यातद्व्याप्यतत्कार्यात्मकः प्रपञ्चो दृश्यपदार्थः । तस्य चापारमार्थिकत्वेपि व्यावहारिकसत्त्वाभ्युपगमान्न स्वाप्निकपदार्थवन्निरूपणं व्यर्थम् । उपासनादावुपयोगात्सोऽपि त्रिविधः । अव्याकृतमूर्तामूर्तभेदात् । तत्र साभासाविद्या मूर्तामूर्तप्रपञ्चबीजशक्तिरूपा तदजन्यत्वेऽपि तन्निवृत्तौ निवर्तमानत्वेन तद्व्याप्यैश्चैतन्यतत्सम्बन्धजीवेशविभागचिदाभासैः सह नादित्वादव्याकृतमित्युच्यत इति । ननु मूले भूतभौतिकमायाख्यपदार्थत्रयात्मकमेव द्वैतमित्यार्थिकमुत्तरार्धान्यथानुपपत्त्योक्तम् (?) । **सिद्धान्तबिन्दौ** त्वविद्यातद्व्याप्यतत्कार्यात्मकं तदव्याकृतमूर्तामूर्ताख्यं पुनस्त्रिप्रकारकं चाप्युक्तं तत्कथमेतदेकवाक्यत्वमिति चेत्सत्यम् । मूले मायापदेनाव्याकृतस्यैवाविद्यातद्व्याप्यात्मकस्य **सिद्धान्तबिन्दुव्याख्यातरीत्या** विवक्षितत्वावश्यकत्वादन्यथा मायापदेनाविद्याग्रहेऽपि मूले तदितरानादिदृश्यचतुष्टयासंग्रहापत्तेश्च । एवं मूले भूतभौतिकपदाभ्यां मूर्तामूर्तात्मकमविद्याकार्यमेव **सिद्धान्तबिन्दुविवृतं** विवक्षितमिति सुघटैवैकमत्यता । न चैवमपि **सिद्धान्तबिन्दावविद्येत्यादिना** दृश्यपदार्थं निरूप्य पुनः सोऽपि त्रिविध इत्यादिना तदाम्रेडनं किमिति कृतमिति साम्प्रतम् । पूर्वसूत्रितस्यैवोत्तरवाक्येन विवृतत्वात् । नन्वथाप्येतावानेव दृश्यपदार्थ इति तु निर्विवादमेव । तथा च प्रातिभासिकस्य दृश्यपदार्थस्य क्वान्तर्भावः । न चाविद्याकार्य एवेति वाच्यम् । निरुक्ताविद्यादिदृश्यपदार्थस्य व्यावहारिकसत्त्वाभ्युपगमेन प्रातिभासिकस्यास्य तत्रान्तर्भावासम्भवात् । नापि विमतं मिथ्यादृश्यत्वाच्छुक्तिरजतवदित्याद्यद्वैतसिद्ध्याद्यनुमानेषु दृष्टान्तीकृतस्य तस्य मिथ्यात्वेनोभयवादिसम्मतत्वात्प्रकृतेऽनुपन्यास इति साम्प्रतम् । **प्रकृतग्रन्थस्य**—

"न जाग्रन्न मे स्वप्नको वा सुषुप्तिर्न विश्वो न वा तैजसः प्राज्ञको वा ।
अविद्यात्मकत्वात्त्रयाणां तुरीयस्तदेकोऽवशिष्टः शिवः केवलोऽहम् ॥"

इत्यष्टमश्लोकटीकां प्रकृत्य । अत्र लयक्रमेणापौर्वापर्यव्यपदेशः । तथाह्यस्मन्मते पदार्थो द्विविधः । दृग्दृश्यश्च । अन्यवादिपरिकल्पितानां पदार्थानामत्रैवान्तर्भावादित्यादिनाऽऽत्मजिज्ञासुं प्रत्येवोपन्यासात्तेन तं प्रति मूलश्लोके स्वप्नादिनिषेधस्यैव प्रातिभासिकस्यापि दृश्यपदार्थस्यावश्यावक्तव्यत्वाच्च । तस्मात्किमत्र **श्रीमन्मधुसूदनसरस्वती**-स्वारस्यमिति नैव वयं जानीमः । आकलय सावधानतया—तैरत्रैव ग्रन्थेऽस्ति सोऽपि प्रातिभासिको दृश्यपदार्थः सूक्तः निरुक्तदृश्यपदार्थं प्रकृत्य । तस्य चापारमार्थिकत्वेऽपि व्यावहारिसत्त्वाभ्युपगमान्न स्वाप्निकपदार्थवन्निरूपणं व्यर्थमित्युक्तम् । तथा च व्यर्थनिरूपणत्वेन तेषां सम्मतः स्वाप्निकादिः प्रातिभासिकोऽगि दृश्यपदार्थं प्रकृत्य । तस्य चापारमार्थिकत्वेऽपि व्यावहारिकमत्त्वाभ्युपगमान्न स्वाप्निकपदार्थवन्निरूपणं व्यर्थमित्युक्तम् । तथा च व्यर्थनिरूपणत्वेन तेषां सम्मतः स्वाप्निकादिः प्रातिभासिकोऽपि दृश्यपदार्थः सम्भवतीत्यवश्यं वक्तव्यमेव । अन्यथा ग्रन्थस्वारस्यभङ्गापत्तेतदुर्वारत्वात् । न हि तमश्चरखद्योतवद्दिवाकरः खद्योतो भगवाननमस्कार्य इति वतस्तमश्चरत्वानमस्कार्यत्वाभ्यां कश्चित्खद्योतपदशक्यश्चेतनोनभिमत इति शिशुभिरपि श्रद्धेयम् । एवं च सोऽपि त्रिविध इत्यत्र तच्छब्देनोपासनाद्युपयुक्तव्यावहारिकदृश्यपदार्थपरामर्शं विधायाव्याकृतादित्रैविध्यविधानेऽपि ततममभिव्याहृतेनापिशब्देन प्रातिभासिकोऽपि दृश्यपदार्थस्तावदव्याकृतमर्तामूर्तभेदात् त्रिविध इति वाच्यमेव । तथैवोत्तरग्रन्थस्वारस्यात् । तद्यथाऽत्रैवाग्रे जाग्रदवस्थां प्रकृत्योक्तम् । शुक्तिरजतादिज्ञानानामप्रामाणिकत्वात्तद्विषयस्याव्यावहारिकत्वेऽपीन्द्रियव्यापारकालीनत्वाज्जागरणत्वोपपत्तिरिति । तथाऽग्रेऽत्रैव जाग्रदाद्यवस्थात्रयस्यापि प्रत्येकं त्रैविध्यं प्रकृत्य स्वप्नत्रैविध्येऽप्युक्तम् । एवं स्वप्ने मन्त्रादिप्राप्तिः स्वप्नजाग्रत् । स्वप्नेऽपि स्वप्नो मया दृष्ट इति बुद्धिः स्वप्नस्वप्नः । जाग्रद्दशायां कथयितुं न शक्यते स्वप्नावस्थायां च यत्किञ्चिदनुभूयते तत्स्वप्नसुषुप्तिरिति । एवं चेयमुक्तलक्षणा स्वप्नसुषुप्तिस्तथा जागरेऽपि गाढान्धकारे मया किञ्चिदरण्ये दृष्टमथापि तत्कि श्वापदादिकं वा पिशाचादिकं वेति कथयितुं न शक्यत इत्यादिभ्रमश्चाव्याकृतः प्रातिभासिकः । तथा निरुक्तस्वप्नजाग्रच्छुक्तिरजतादिभ्रमश्च मूर्तोऽसौ । तद्वदुक्तस्वप्नस्तथा जागरेऽपि मनोराज्यं चामूर्त एव स इति समुपपन्नमेव प्रातिभासिकदृश्यत्रैविध्यमपि । अस्पष्टत्वविस्पष्टत्वेषद्विस्पष्टत्वरूपाणामव्याकृतत्वादिघटकासाधारणधर्माणां व्यावहारिकाव्याकृतादिष्विवात्राप्यदण्डवारितत्वमेवाथापि ब्रह्मप्रमेतराबाध्यत्वतद्बाध्यत्वाभ्यां व्यावहारिकत्वाद्युपपत्तिरिति सर्वमंवदातम् । ननु भवत्वेवं निर्दर्शितसिद्धान्तबिन्दुव्यवस्था तथाऽपि भूतभौतिकमायानामिति प्रकृतमूलव्यवस्था कथम् । तत्र मायापदेनाव्याकृतविवक्षायामपि भूतादिपदेन यथासम्भवं मूर्ताद्यात्मकाविद्याकार्यविवक्षायामपि सत्याव्यावहारिकद्वैतेतरप्रातिभासिकद्वैतस्य क्व संग्रहः स्यात् । न च तस्यासत्त्वलक्षणमिथ्यात्वदार्ढ्यसर्वसम्मतत्वेन पुनस्तत्कथनेऽनुवादापत्तेस्तदसंग्रहोऽभीष्ट

सदद्वैतात्पृथग्भूते द्वैते भूम्यादिरूपिणि ।
तत्तदर्थक्रिया लोके यथा दृष्टा तथैव सा ।। ९९ ।।

ननु भूम्यादीनामसत्त्वे विदुषो व्यवहारलोपः प्रसज्जेतेत्याशङ्क्य विवेकेन मिथ्यात्वनिश्चयेऽपि भूम्यादेः स्वरूपोपमर्दनाभावान्न व्यवहारो लुप्यत इत्याह—**सदद्वैतादिति** ।। ९९ ।।

एवेति वाच्यम् । स्वतःसत्ताशून्यत्वादिलक्षणमिथ्यात्वस्य स्वसम्मतस्यानिर्वचनीयख्यातीतरान्यथादिख्यातिवादिनां केषाञ्चिदपि **तैर्थिकाराणामसम्मतत्वात्** । तस्मात्तद्व्युत्पादनार्थं तत्संग्रहावश्यकत्वमेवेति चेच्छृणु । स्यान्माया शाम्बरीकृपा । दम्भो बुद्धिश्चेति **हैमात्** । माया स्याच्छाम्बरीबुद्धयोरिति **मेदिन्याश्च** । मायाशब्दस्य शाम्बर्यैन्द्रजालिकविरचितभ्रान्तिविशेषस्यापि वाचकत्वेन भूतान्याकाशादीनि च भौतिकानि तत्कार्याणि बुद्धयादीनि च माये अव्याकृतैन्द्रजालादिभ्रान्ती चेति तथा तासामिति व्युत्पत्त्या प्रकृतेऽपि प्रातिभासिकदृश्यसंग्रहः सम्भवत्येवेति सरसतरहृदयाः सदया एव विन्दांकुर्वन्त्विति संक्षेपः ।। ९८ ।।

ननु भूम्यादिसकलद्वैतस्य सद्वस्तुनः पृथक्कारे सति सद्वस्तुब्रह्माद्वैतमेवाहमस्मीत्येषा बुद्धिर्यदि क्वचिदपि देशे कालेऽहं ब्राह्मणो दृश्यं सत्यमित्यादिलक्षणविपर्ययं मैवैतु तथापि ब्रह्मविदः प्रारब्धपरिसमाप्त्यवधिप्रतीयमानद्वैतव्यवहारलोपः स्याज्ज्ञानाज्ञानयोर्यौगपद्यासंभवात्तथा सति सुखाद्यन्यतरसाक्षात्कारलक्षणं भोगं प्रारब्धकर्मापि कथं कुर्यादित्याशङ्क्य समाधत्ते—**सदिति** । भूम्यादिरूपद्वैतस्य मिथ्यात्वेऽपि तत्साध्यतत्तदर्थक्रियायाः प्राग्वदेव सत्त्वात्सुखादिवृत्तीतरकालावच्छेदेनोक्ताद्वैतात्मवृत्तिसंभवेन प्रारब्धकर्मोपभोगजीवन्मुक्तिस्वसद्युवतिसम्भोगयोरपि सम्भवाच्च न काऽप्यनुपपत्तिरित्याकूतम् । अत एवाऽऽहुः **श्रीमत्सर्वज्ञात्ममुनीश्वरचरणाः**—

"पश्यामि चित्रमिव सर्वमिदं द्वितीयं तिष्ठामि निष्कलचिदेकवपुष्यनन्ते
आत्मानमद्वयमनन्तसुखैकरूपं पश्यामि दग्धरशनामिव च प्रपञ्चम् ।
अद्वैतमप्यनुभवामि करस्थबिल्वतुल्यं शरीरमहिनिर्ल्वयनीव वीक्षे
एवं च जीवनमिव प्रतिभासनं च निःश्रेयसाधिगमनं च मम प्रसिद्धम् ।।" इति ।

अहिनिर्ल्वयनी सर्पत्वगिति साम्प्रदायिकाः । तन्मूलं तु—"तद्यथाऽहिनिर्ल्वयनी वल्मीके मृता प्रत्यस्ता शयीतैवमेवेदं शरीरं शेते" इति जीवन्मुक्तं प्रकृत्य श्रुतिरेवेति दिक् ।। ९९ ।।

सांख्यकाणादबौद्धाद्यैर्जगद्भेदो यथा यथा ।
उत्प्रेक्ष्यतेऽनेकयुक्त्या भवत्वेष तथा तथा ।। १०० ।।

अवज्ञातं सदद्वैतं निःशङ्कैरन्यवादिभिः ।
एवं का क्षतिरस्माकं तद्द्वैतमवजानताम् ।। १०१ ।।

द्वैतावज्ञा सुस्थिता चेदद्वैते धीः स्थिरा भवेत् ।
स्थैर्ये तस्याः पुमानेष जीवन्मुक्त इतीर्यते ।। १०२ ।।

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ ! नैनां प्राप्य विमुह्यति ।
स्थित्वाऽस्यामन्तकालेऽपि ब्रह्म निर्वाणमृच्छति ।।१०३।।

ननु सत्तत्त्वस्याद्वैतरूपत्वे साङ्ख्यादिभिरभिधीयमानस्य भेदस्य कुतो न निरासः क्रियते इत्याशङ्क्य व्यावहारिकभेदस्यास्माभिरभ्युपगतत्वान्न तन्निरासाय प्रयत्यत इत्याह—साङ्ख्येति ।। १०० ।।

ननु प्रमाणसिद्धस्य सत्त्वभेदस्य अवज्ञा अनुपपन्नेत्याशङ्क्याह—

अवज्ञातमिति । यथाऽन्यवादिभिः साङ्ख्यादिभिः निःशङ्कैः श्रुत्यादिसिद्धस्यापि सदद्वैतस्यावज्ञा क्रियते, श्रुतियुक्त्यनुभवावष्टम्भेनास्माभिस्तदीयद्वैतानादरणे किं हीयत इत्यर्थः ।। १०१ ।।

ननु निष्प्रयोजनेयं द्वैतावज्ञा इत्याशङ्क्य, जीवन्मुक्तिलक्षणप्रयोजनसद्भावान्मैवमित्याह—द्वैतेति ।। १०२ ।।

न केवलं जीवन्मुक्तिरेव प्रयोजनम्, अपि तु विदेहमुक्तिरपीत्यभिप्रायेण कृष्णवाक्यमप्युदाहरति—एषेति ।। १०३ ।।

नन्वेतावता प्रतिभासमानस्य द्वैतस्याऽऽकाशकार्ष्ण्यवदनादर एव भवतु पर्यवसन्नस्तथाऽपि साङ्ख्यादिशास्त्रकारैः सत्यत्वेन प्रतिपादितस्य भेदस्य खण्डनार्थं तु विदुषा यतितव्यमेव ततश्च महाविक्षेप इत्याक्षिप्य समाधत्ते—सांख्येति । व्यावहारिकभेदस्य सिद्धान्तेऽपीष्टत्वादविरोध एवेति भावः ।। १०० ।।

नन्वेवमपि द्वैतावज्ञायामेव पर्यवसानमिति चेद्भेदयादिदृष्टान्तेनैव तदिष्टमेवेति स्पष्टयति—अवज्ञातमिति ।। १०१ ।।

नन्विदं द्वैतावहेलनं प्रौढीवादमात्रं ततः फलाभावादित्यत आह—द्वैतावज्ञेति । ततः किं तत्राऽऽह—स्थैर्यं इति । एवं चाद्वैतात्मैकविषयकस्थिरधीत्वमेव जीवन्मुक्त्वमिति तल्लक्षणं फलितमिति तत्त्वम् ।। १०२ ।।

ननु किमत्र मानमिति चेद्भगवद्गीतैवेति वदंस्तद्वाक्यमेव पठति—एषेति । ब्राह्मी अद्वैतब्रह्मात्मैक्यसम्बन्धिनीत्यर्थः । स्थितिः । तद्विषयकबुद्धिस्थिरतेति यावत्।।१०३।।

सदद्वैतेऽनृतद्वैते यदन्योन्यैक्यवीक्षणम् ।
तस्यान्तकालस्तद्भेदबुद्धिरेव न चेतरः ।। १०४ ।।
यद्वाऽन्तकालः प्राणस्य वियोगोऽस्तु प्रसिद्धितः ।
तस्मिन्कालेऽपि न भ्रान्तेर्गतायाः पुनरागमः ।। १०५ ।।

'अन्तकाल'शब्देन वर्तमानदेहपातोऽभिधीयते इत्याशङ्कां वारयितुं विवक्षितमर्थमाह—

सदद्वैते इति । सद्रूपेऽद्वैतेऽनृतरूपे द्वैते च यदन्योन्याध्यासलक्षणमैक्यज्ञानमस्ति, तस्यैक्यभ्रमस्यान्तकालो नाम तयोरद्वैतद्वैतयोः सत्यानृतरूपेण भेदबुद्धिरेव, नापरो वर्तमानदेहपात इत्यर्थः ।। १०४ ।।

इदानीं लोकप्रसिद्धार्थस्वीपरिऽपि न दोष इत्यभिप्रायेणाह— **यद्वेति** ।। १०५ ।।

ननूक्तबुद्धिस्थिरतालाभादस्तु मोहाभावस्तन्मूलीभूतस्याज्ञानस्यैव नष्टत्वादथापि तत्रान्तकालावच्छेदेन स्थितिश्चेद्विदेहकैवल्यं स्यान्नान्यथेत्युत्तरार्धस्वारस्यान्त्प्रतीयते । समुचितमेवेदम्

"अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम् ।
यः प्रयाति स तद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः ॥"

इत्यादितद्वाक्यशेषादित्याशङ्क्यान्तकालपदार्थं प्रकृतसम्मतं विवृण्वन्समाधत्ते— **सदद्वैत इति ।** अवच्छेदकत्वमेव सप्तम्योरर्थः । एवं च सदद्वैतत्वावच्छेदेनानृतद्वैतत्वावच्छेदेन च यत्परस्परैक्याध्यासानुभवनं सद्द्वैतमिति द्वैते सद्वस्तुनः संसृष्टतया सद्वस्तुनि च द्वैतस्य तादात्म्येनाऽऽरोपणमिति यावत् । **तस्येति** । शिष्टं तु स्पष्टमेव ॥ १०४ ॥

ननूकान्तकालस्तु दृढतरद्वैतावज्ञापूर्वकाद्वैतविषयकधीस्थैर्यप्रयोजकब्रह्मात्म्यैक्यविषयकप्रमैव पर्यवस्यतीति कथं तत्पश्चाद्भाविन्याः प्रोक्तधीस्थिरतायास्तदवच्छेदेन स्वविषयकसाक्षित्वानुसन्धानशालिने मुक्तिदातृत्वमुचिततामेप्येत तस्या प्रागेव सिद्धत्वादित्यस्वरसादाह— **यद्वेति । तस्मिन्निति ।** एवं च पूर्वगतायां भ्रान्तेर्द्वैतावज्ञासुस्थत्वपूर्वकाद्वैतविषयकधीस्थैर्यशालिनः प्राणवियोगलक्षणान्तकालावच्छेदेनापि पुनर्मूर्छादिनाऽऽगमः प्राप्तिर्नैव भवतीत्यन्वयः । एवं चास्यामुक्तलक्षणब्राह्मस्थितौ स्थित्वा दृढतमाभ्यासं विधायान्तकाले मरणकालिकमूर्छादिसत्त्वेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छत्येवेति गीतावाक्याशयोऽपि ज्ञेयः ।। १०५ ।।

नीरोग उपविष्टो वा रुग्णो वा विलुठन्भुवि ।
मूर्च्छितो वा त्यजत्वेष प्राणान्भ्रान्तिर्न सर्वथा ।। १०६ ।।
दिने दिने स्वप्नसुप्त्योरधीते विस्मृतेऽप्ययम् ।
परेद्युर्नानधीतः स्यात्तद्वद्विद्या न नश्यति ।। १०७ ।।
प्रमाणोत्पादिता विद्या प्रमाणं प्रबलं विना ।
न नश्यति न वेदान्तात्प्रबलं मानमीक्ष्यते ।। १०८ ।।
तस्माद्वेदान्तसंसिद्धं सदद्वैतं न बाध्यते ।
अन्तकालेऽप्यतो भूतविवेकान्निर्वृतिः स्थिता ।। १०९ ।।

इति श्रीविद्याख्यमुनिविरचितायां पञ्चदश्यां महाभूतविवेकाख्यं द्वितीयं प्रकरणं समाप्तम्॥२॥

उक्तमेवार्थं प्रपञ्चयति—नीरोग इति ।। १०६ ।।

ननु प्राणवियोगकाले मूर्च्छादिना ज्ञाननाशे भ्रान्तिः स्यादेव इत्याशङ्क्य ज्ञाननाशाभावे दृष्टान्तमाह—दिने दिन इति । यथा प्रत्यहमधीते वेदे स्वप्नसुषुप्त्याद्यवस्थायां विस्मृतेऽपि परेद्युरनधीतवेदत्वं नास्ति, तथा मृतिकालेऽपि तत्त्वानुसंधानाभावेऽपि ज्ञाननाशाभाव इत्यर्थः ।। १०७ ।।

ज्ञाननाशाभावमेवोपपादयति—प्रमाणेति ।। १०८ ।।

उपपादितमर्थमुपसंहरति—तस्मादिति ।। १०९ ।।

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीभारतीतीर्थविद्यारण्यमुनिवर्यकिंकरेण श्रीरामकृष्णाख्येन विदुषा विरचिता महाभूतविवेकदीपिका समाप्ता ॥ २ ॥

ननु तस्मिन्कालेऽपीत्यादि सद्योमुक्तिपरमेवास्तु तथा च पूर्वाभ्यस्तश्रवणादिपरिपाकसहकृताष्टांगयोगविशिष्टनिर्गुणाहंग्रहोपासनावशात्प्रारब्धपरिसमाप्तिलक्षणमरणक्षण एवाद्वैतब्रह्मात्मैक्यविषयकादहं ब्रह्मास्मीत्यभ्यस्तमहावाक्यजन्यसाक्षात्कारादुद्गताया अपि दैवाद्द्वैतभ्रान्तेः पुनरागमः कालान्तरे प्राप्तिर्नैव भवतीति प्रागुक्तरीत्या नव जीवन्मुक्तिपरमिदं व्याख्येयमिति चेत्सत्यम् । इदं हि वाक्यमेषा ब्राह्मीत्यादि प्रागुदाहृतभगवद्गीतावाक्यस्यान्तकालविवरणार्थमिति तु निर्विवादमेव । तथा चैवं व्याख्याने तत्रत्यस्य "एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति" इत्यस्य जीवन्मुक्तिपरस्य बाधापत्तेः । न च पूर्वार्धमिदं जीवन्मुक्तिपरं भवतु स्थित्वेत्याद्युत्तरार्धं तु सद्योमुक्तिपरमेव स्यात्तथा च पक्षद्वयस्यापि शास्त्रसिद्धस्यानुग्रहसूचकापिशब्दोऽपि संगच्छेतेति वाच्यम् । "अर्जुन उवाच—स्थितप्रज्ञस्य का भाषा" इत्याद्युपक्रमे जीवन्मुक्तस्यैवोपन्यासेनोपसंहारेऽपि तथैव वाच्यत्वात् । तस्मादेवमेव भाष्यादिसिद्धान्त इति मूलकारः स्वाशयं विशदयति— नीरोग इति । पुनरुदियादिति शेषः ॥ १०६ ॥

ननु विस्मृत्या पुनर्भ्रान्तिः सम्भवत्येत्यत आह—दिने दिन इति ॥ १०७ ॥

विद्याफलानाशे हेत्वन्तरमप्याह—प्रमाणेति ॥ १०८ ॥

फलितं कथयन्नुपसंहरति—**तस्मादिति**। अन्तकालेऽपि न बाध्यत इति सम्बन्धः। एवं च सर्वमद्वैतशास्त्रं निर्गुण एव ब्रह्मात्मैक्यलक्षणकैवल्यरूपाद्वैतसद्वस्तुन्येव पर्यवसन्नमेतेन—

"सगुणे ब्रह्मण्यखिलं पर्यवसानं प्रयाति शास्त्रमिदम्।
इति दृढतमबुद्धिर्या प्रतिबन्धोऽयं द्वितीय ईशमितौ ॥"

इति शोधिततत्पदार्थबोधे द्वितीयः प्रतिबन्ध उक्तस्तथा—

"एवं समन्वयोक्तेर्भूतविचारेण तत्पदस्यार्थे।
तत्परता निर्णेया तस्य रसादित्यादिना द्वितीयेऽपि ॥"

इत्यनेन द्वितीयप्रकरणस्य तद्बाधकत्वं यदुक्तं तत्सङ्गतमेव। तद्यथा—सदद्वैतमित्युपक्रम्य तस्माद्वेदान्तसंसिद्धं सदद्वैतं न बाध्यत इत्युपसंहृतमिति ब्रह्मणि वेदान्तसमन्वय एकं लिङ्गम्—

"इदं सर्वं पुरा सृष्टेरेकमेवाद्वितीयकम्।
सदेवाऽऽसीन्नामरूपे नाऽऽस्तामित्यारुणेर्वचः ॥" इति ॥
"तथा सद्वस्तुनो भेदत्रयं प्राप्तं निवार्यते।" इति।

ततो नावयवा इत्यादि **चाभासः**।

"अस्पर्शयोगो नामैष दुर्दर्शः सर्वयोगिभिः" **इत्यपूर्वता** ॥
"द्वैतावज्ञा सुस्थिता चेदद्वैते धीः स्थिरा भवेत्।
स्थैर्ये तस्याः पुमानेष जीवन्मुक्त इतीर्यते" **इति फलम्** ॥
"विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ॥
इति कृष्णोऽर्जुनायाऽऽह जगतस्त्वेकदेशताम्" **इत्यर्थवादः** ॥
"सत्तत्त्वमाश्रिता शक्तिः कल्पयेत्सति विक्रियाः ॥
वर्णभित्तिगता भित्तौ चित्रं नानाविधं यथा" ॥**इत्याद्युपपत्तिरिति**

षोढा लिङ्गैरत्राद्वैतब्रह्मण्येव वेदान्तानां **छान्दोग्योपलक्षितानामखिलानामपि** तात्पर्यपर्यवसानलक्षणः समन्वयः साधितः प्राधान्येनेति सगुणे ब्रह्मण्यखिलशास्त्रपर्यवसानबुद्धिदार्ढ्यलक्षणः प्रोक्तप्रतिबन्धः श्रीगुरूपसत्तिपूर्वकमेतत्प्रकरणस्याधिकारिणा विवरणे क्रियमाणे कथं न बाध्येतेति सर्वं शिवम् ॥ १०९ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमदद्वैतसच्चिदानन्देन्द्रसरस्वतीशिष्यश्रीमत्पदवाक्यप्रमाणक्षीरार्णवविहरणश्रीमदद्वैतविद्येन्दिरारमणषष्ट्युपनामकश्रीनारायणशास्त्रिचरणसरोजराजहंसायमानमानसमोडकोपनामकाच्युतशर्मणा विद्यार्थिना विरचितायां **पूर्णानन्देन्दुकौमुद्यभिधायां पञ्चदशीटीकायां भूतविवेकप्रकाशो** द्वितीयः सम्पूर्णः ॥ २ ॥

श्रीमच्छङ्करगुरुवरचरणसरोरुहार्पणोऽस्तु सततमतितराम्।
श्रीरस्तु सर्वदा गोब्राह्मणवर्यवेदतदनुकूलशास्त्राणामतुला ॥

तृतीयं पञ्चभूतविवेकप्रकरणम्

गुहाहितं ब्रह्म यत्तत्पञ्चकोशविवेकतः ।
बोद्धुं शक्यं ततः कोशपञ्चकं प्रविविच्यते ।। १ ।।

नत्वा श्रीभारतीतीर्थविद्यारण्यमुनीश्वरौ ।
पञ्चकोशविवेकस्य कुर्वे व्याख्यां समासतः ।। १ ।।

तैत्तिरीयोपनिषत्तात्पर्यव्याख्यानरूपं पञ्चकोशविवेकाख्यं प्रकरणमारभमाण आचार्यः तत्र श्रोतृप्रवृत्तिसिद्धये सप्रयोजनमभिधेयं सूचयन् मुखतश्चिकीर्षितं ग्रन्थं प्रतिजानीते—

गुहाहितमिति । 'यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्' (तैत्ति० २।१।१) इति श्रुत्या गुहाहितत्वेनाभिहितं यत् ब्रह्म अस्ति तत् 'गुहा'शब्दवाच्यान्नमयादिकोशपञ्चकविवेकेन ज्ञातुं शक्यते, ततस्तेषां कोशानां पञ्चकं प्रकर्षेण प्रत्यगात्मनः सकाशाद्विभज्य प्रदर्श्यत इत्यर्थः ।। १ ।।

अद्वैतानन्दसच्चिद्विभुविमलपरब्रह्मकूटस्थरूपं
मोहाद्द्वैतेन्द्रजालालयमपि तिलकं स्वप्रकाशं श्रुतीनाम् ।
सर्वांश्चाऽऽचार्यवर्यान्रघुकुलतिलकं सद्गुरुं ब्रह्मनिष्ठं
श्रीमन्नारायणाख्यं स्वगुरुमपि महादेवसंज्ञं प्रणौमि ।। १ ।।
मत्वा जीवञ्जीवान्विद्यारण्यं च भारतीतीर्थम् ।
कोशविवेकं रामप्रकाशतो द्योतयामि कौमुद्याः ।। २ ।।

अथ भगवान्विद्यारण्यमुनिः कोशविवेकाख्यं प्रकरणं चिकीर्षुः सम्भावितप्रत्यूहप्रशमफलकं प्रथितप्रमाणकं च ब्रह्मात्मतत्त्वानुसन्धानात्मकं मङ्गलं कलयन्प्रेक्षावत्प्रवृत्तये विषयप्रयोजने अपि व्यञ्जयन्नेतद्वचनं प्रतिजानीते --गुहेति । तैत्तिरीयोपनिषदि— "ब्रह्मविदाप्नोति परम" इति मुमुक्षोर्ब्रह्मविषयकप्रमैककरणकमविद्याविद्यमानद्वैतबाधलक्षणं मोक्षं प्रतिज्ञाय ज्ञेयलक्षणाकाङ्क्षायां तत्सत्यं ज्ञानमित्यादिना संक्षिप्य क तदिति जिज्ञासायां यो वेद निहितं गुहायामित्यादिनाऽऽम्नायते यद्गुहाशब्दितवक्ष्यमाणं देहादिपञ्चकोशपरं परोपलक्षितानाद्यविद्यारोपितद्वैताधिष्ठानीभूतं ब्रह्मात्मवस्तु यतस्तदेकायत्तसत्ताप्रकाशोककोशादिदृश्यमात्रप्रतियोगिकतदपादानकपृथक्कारलक्षणद्वैतबाधेनैव स्वप्रकाशतया बोद्धुं शक्यमतस्तच्छ्रुतियुक्त्यनुभूतिलक्षणप्रकर्षेण विचारपूर्वकं बोध्यत इत्यर्थः ।। १ ।।

देहादभ्यन्तरः प्राणः प्राणादभ्यन्तरं मनः ।
ततः कर्ता ततो भोक्ता गुहा सेयं परम्परा ।। २ ।।
पितृभुक्तान्नजाद्वीर्याज्जातोऽन्नेनैव वर्धते ।
देहः सोऽन्नमयो नात्मा प्राक् चोर्ध्वं तदभावतः ।। ३ ।।

ननु केयं गुहा यस्यां निहितं ब्रह्म कोशपञ्चकविवेकेनावबुध्यत इत्याशङ्क्य श्रुत्या गुहाशब्देन विवक्षितमर्थमाह—

देहादिति । देहादन्नमयात्प्राणः प्राणमयः अभ्यन्तरः आन्तरः प्राणात्प्राणमयान्मनः मनोमयः अभ्यन्तरः आन्तरस्ततो मनोमयात्कर्ता विज्ञानमय आन्तर इत्यनुषज्यते ।-ततो विज्ञानमयाद्भोक्ता आनन्दमयः सोऽपि पूर्ववदान्तर इत्यर्थः । सेयं अन्नमयाद्यानन्दमयान्तानां परम्परा 'गुहा'शब्देनोच्यत इत्यर्थः ।। २ ।।

इदानीमन्नमयस्य स्वरूपं तदनात्मत्वं च दर्शयति—

पितृभुक्तेति । पितृभुक्तान्नजात् मातृ(पितृ)भुक्तात् यवव्रीह्यादिलक्षणात् अन्नाज्जायमानं यद्वीर्यमस्ति, तस्माद्वीर्यात् यो देहो जातः, यश्च जननानन्तरं क्षीराद्यन्नेनैव वर्धते, स देहोऽन्नमयोऽन्नस्य विकारः, स आत्मा न भवति । कुत इत्यत आह—**प्रागिति ।** जन्मनः प्राक् मरणादूर्ध्वं च तदभावतः, तस्य देहस्याभावादित्यर्थः । विवादाध्यासितो देह आत्मा न भवति; कार्यत्वात्, घटादिवदिति भावः ।। ३ ।।

का सा गुहेत्यत आह—**देहादिति ।** कर्ता विज्ञानमयः कोशः । भोक्ताऽऽनन्दमयः । न च कर्तृत्वभोक्तृत्वयोर्वैयधिकरण्यानौचित्यमिति वाच्यम् । तत्तत्कोशोपाधिना तत्तत्संज्ञासत्त्वेऽपि पञ्चस्वपि तादात्म्यापन्नचिदाभासैक्यात् ।। २ ।।

तत्राऽऽदौ स्थूलदेहस्य "स एव एष पुरुषोऽन्नरसमयः" इतिश्रुतेरन्नान्वयादिनाऽन्नमयो देहः । आत्मा न । प्रागभावादिति' यौगित्वाद्घटवदित्यनुभूतिघटितयुक्तेश्चानात्मत्वं साधयति—**पितृभुक्तेति ।** प्राग्वीर्यनिषेकात्पूर्वम् । ऊर्ध्वं पञ्चत्वादनन्तरमित्यर्थः ।। ३ ।।

पूर्वजन्मन्यसन्नैतज्जन्म सम्पादयेत्कथम् ।
भाविजन्मन्यसत्कर्म न भुञ्जीतेह सञ्चितम् ।। ४ ।।
पूर्णो देहे बलं यच्छन्नक्षाणां यः प्रवर्तकः ।
वायुः प्राणमयो नासावात्मा चैतन्यवर्जनात् ।। ५ ।।

हेतुरस्तु, साध्यं मा भूत्; विपक्षे बाधकाभावादप्रयोजकोऽयं हेतुरित्याशङ्क्य अकृताभ्यागमकृतविप्रणाशाख्यबाधकसद्भावान्मैवमिति-परिहरति—

पूर्वजन्मनीति । एतद्देहरूपस्याऽऽत्मनः पूर्वस्मिन् जन्मन्यसत्त्वादेतज्जन्म-हेत्वदृष्टासम्भवेऽप्यस्य जन्मनोऽप्यङ्गीक्रियमाणत्वादकृताभ्यागमः प्रसज्जेत तथा भाविजन्मन्यप्यस्य देहरूपस्याऽऽत्मनोऽसत्त्वादभावादिहानुष्ठितयोः पुण्य-पापयोः फलभोक्तुरभावेन भोगमन्तरेणापि कर्मक्षयः प्रसज्जेत, अयं कृत-विप्रणाशः । एवं कृतनाशाकृताभ्यागमरूपबाधकसद्भावादात्मनः कार्यत्वं नाङ्गीकर्तव्यमिति भावः ।। ४ ।।

एवमन्नमयकोशस्यानात्मत्वं प्रदर्श्य, प्राणमयकोशस्य स्वरूपं तद-नात्मत्वं च दर्शयति—

पूर्ण इति । यो वायुर्देहे पूर्णः पादादिमस्तकपर्यन्तं व्याप्तः सन्, बलं यच्छन्, व्यानरूपेण सामर्थ्यं प्रयच्छन्, अक्षाणां चक्षुरादीनामिन्द्रियाणां प्रवर्तकः प्रेरको वर्तते, स वायुः 'प्राणमयः' इत्युच्यते । असावप्यात्मा न भवति । तत्र हेतुमाह—**चैतन्येति** । विवादाध्यासितः प्राण आत्मा न भवति; जडत्वात्, घटादिवदिति भावः ।। ५ ।।

ननु बाधकाभावादप्रयोजकत्वं हेतोरित्याशङ्क्य बाधकाभावोऽसिद्ध इत्याह—**पूर्वेति** । स्थूलदेह एवाऽऽत्मा चेत्पूर्वजन्मन्यसावसन्निति तु निर्विवादमेव तथा चैतज्जन्म-सम्पादकक्रियाकर्त्रभावादेतज्जन्मायं देहरूप आत्मा कथं सम्पादयेन्न कथमपि साधयितुं शक्नुयादित्यन्वयः । तथा चाकृताभ्यागमः प्रसिद्ध एव दोषः स्यादित्याशयः । एवं कृत-विप्रणाशमपि तं व्यनक्ति—**भावीति** । तद्वद्भाविजन्मन्यप्यसन्नसौ देहरूप आत्मा इह स्वध्वंसतः प्राक्कालावच्छेदेन सञ्चितं कर्म न भुञ्जीत भोगमन्तराऽपि तन्नाशो भूयादिति भावः ।। ४ ।।

एवं देहात्मवादिनं चार्वाकं निरस्य हैरण्यगर्भाः प्राणात्मवादिनस्त्वेवमूचिर इति चित्रदीपवचनात्प्राणमयकोशविवेचने तान्निराकरोति—**पूर्ण इति** । यो देहे बलं

अहन्तां ममतां देहे गेहादौ च करोति यः ।
कामाद्यवस्था भ्रान्तो नासावात्मा मनोमयः ।। ६ ।।

लीना सुप्तौ वपुर्बोधे व्याप्नुयादानखाग्रगा ।
चिच्छायोपेतधीर्नात्मा विज्ञानमयशब्दभाक् ।। ७ ।।

इदानीं मनोमयस्वरूपदर्शनपूर्वकं तस्याप्यनात्मत्वमाह—

अहन्तामिति । देहेऽहन्तामहंभावं गृहादौ ममतां मदीयत्वाभिमानं च यः करोति असौ 'मनोमय' इति, स आत्मा न भवति । कुत इत्यत आह—**कामादीति** । हेतुगर्भं विशेषणम् । कामक्रोधादिवृत्तिमत्त्वेनानियतस्वभावत्वादित्यर्थः । मनोमय आत्मा न भवति; विकारित्वात्, देहवदिति भावः ।। ६ ।।

अनन्तरं 'कर्तृ'शब्दवाच्यस्य विज्ञानमयस्य स्वरूपं प्रदर्शयंस्तदनात्मत्वं दर्शयति—

लीनेति । या चिच्छायोपेता धीश्चिदाभासयुक्ता बुद्धिः सुप्तौ सुप्तिकाले लीना विलीना सती बोधे जागरणकाले आनखाग्रगा नखाग्रपर्यन्तं वर्तमाना सती वपुः शरीरं व्याप्नुयात् संव्याप्य वर्तते, सा विज्ञानमयशब्दभाक् 'विज्ञानमय'शब्देनोच्यमाना । असावप्यात्मा न भवति; विलयाद्यवस्थावत्त्वात्, घटादिवदित्यर्थः ।। ७ ।।

यच्छब्दपूर्णोऽत एवाक्षाणामिन्द्रियाणां प्रवर्तको वायुः प्राणमयोऽसावपि चैतन्यवर्जनाज्जडत्वादात्मा न भवतीति योजना । प्राग्वदेव श्रुत्यत्राप्यूह्यम् ।। ५ ।।

एवं मन आत्मवादं निराकुर्वाणो मनोमयकोशं विवेचयति—**अहन्तामिति** । भ्रान्तविकारी । एतेनानात्मत्वे हेतुः परिणामित्वं द्योतितम् ।। ६ ।।

अथ बौद्धं खण्डयन्विज्ञानमयकोशमपि विवेचयति—**लीनेति** । चिच्छायाचिदाभासः । अत्र सुप्तौ लीनत्वमनात्मत्वे हेतुः ।। ७ ।।

कर्तृत्वकरणत्वाभ्यां विक्रियेतान्तरिन्द्रियम् ।
विज्ञानमनसी अन्तर्बहिश्चैते परस्परम् ।। ८ ।।
काचिदन्तर्मुखा वृत्तिरानन्दप्रतिबिंबभाक् ।
पुण्यभोगे भोगशान्तौ निद्रारूपेण लीयते ।। ९ ।।

ननु मनोबुद्ध्योरन्तःकरणत्वाविशेषात् मनोमयविज्ञानमयरूपेण कोशद्वयकल्पनाऽनुपपन्नेत्याशङ्क्य, कर्तृत्वकरणत्वाभ्यां भेदसद्भावाद्घटत एव मनोमयत्वादिभेद इत्याह—

कर्तृत्वेति । अन्तरिन्द्रियमन्तःकरणं कर्तृत्वकरणत्वाभ्यां कर्तृरूपेण करणरूपेण च विक्रियेत, परिणमेतेत्यर्थः । एते कर्तृकरणे विज्ञानमनसी विज्ञानमनःशब्दवाच्ये भवतः । एते च परस्परं अन्तर्बहिर्भावेन वर्तेते; अतः कोशद्वयमुपपद्यत इत्यर्थः ।। ८ ।।

इदानीं भोक्तृशब्दवाच्यस्याऽऽनन्दमयस्यानात्मत्वं दर्शयितुं तस्य च स्वरूपमाह—

काचिदिति । पुण्यभोगे पुण्यकर्मफलानुभवकाले काचिद्धीवृत्तिरंतर्मुखा सत्यानन्दप्रतिबिम्बभागात्मस्वरूपस्याऽऽनन्दस्य प्रतिबिम्ब भजते सैव भोगशान्तौ पुण्यकर्मफलभोगोपरमे सति निद्रारूपेण लीयते विलीना भवति सा वृत्तिरानन्दमय इत्यभिप्रायः ।। ९ ।।

ननु मनोविज्ञानमयकोशयोः को विशेष इत्यत्राऽऽह–**कर्तृत्वेति** । अन्तरिन्द्रियमन्तःकरणम् । परस्परमन्योन्यं निरूप्यनिरूपकभावेनेत्यार्थिकम् । **कर्तृत्वेति** । एवं चान्तःकरणविकारविशेषनिष्ठकर्तृत्वनिरूपितमेवापरतद्विकारविशेषे करणत्वं तन्निष्ठकरणत्वनिरूपितमेव पूर्वनिष्ठं कर्तृत्वमिति तत्त्वम् । यदा विक्रियेत तदा विज्ञानमनसी अन्तर्बहिश्च भवत इत्यन्वयः ।। ८ ।।

एवं कोशत्रयात्मकं लिंगदेहं निरस्य कारणदेहाख्यमानन्दमयकोशं निराकर्तुं तं व्युत्पादयति—**काचिदिति** । वृत्तिर्जाग्रदादौ मनसः सुप्तावविद्यायाः ।। ९ ।।

कादाचित्कत्वतो नाऽऽत्मा स्यादानन्दमयोऽप्ययम् ।
बिम्बभूतो य आनन्द आत्माऽसौ सर्वदास्थितेः ॥ १० ॥
ननु देहमुपक्रम्य निद्रानन्दान्तवस्तुषु ।
मा भूदात्मत्वमन्यस्तु न कश्चिदनुभूयते ॥ ११ ॥
बाढं निद्रादयः सर्वेऽनुभूयन्ते न चेतरः ।
तथाऽप्येतेऽनुभूयन्ते येन तं को निवारयेत् ॥ १२ ॥

तस्यानात्मत्वमाह—

कादाचित्कत्वत इति । अयमानन्दमयोऽपि कादाचित्कत्वादात्मा न स्यात्, अभ्रादिपदार्थवदित्यर्थः । ननु विद्यमानानामानन्दमयादीनां सर्वेषामात्मत्वनिरासे नैरात्म्यं प्रसज्जेतेत्याशङ्क्याह—**बिम्बभूत इति** । बुद्ध्यादौ प्रतिबिम्बतयाऽवस्थितस्य प्रियादिशब्दवाच्यस्य आनन्दमयस्य बिम्बभूतः कारणभूतो य आनन्दः असावेव आत्मा भवति । कुत इत्यत आह—**सर्वदेति** । नित्यत्वात्, य आत्मा न भवति नासौ नित्यः, यथा देहादिः । गगनादेरुत्पत्तिमत्त्वेनानित्यत्वान्नानैकान्तिकतेति भावः ॥ १० ॥

चोदयति—

नन्विति । अन्नमयाद्यानन्दमयान्तानां कोशामुक्तैर्हेतुभिरात्मवं न घटते चेन्माघटिष्टान्यस्त्वात्मानुपलभ्यमानत्वान्नैव सम्भवतीति ॥ ११ ॥

परिहरति—

बाढमिति । अत्र 'निद्रा'शब्देन निद्रानन्दो लक्ष्यते, निद्रादयो देहान्ता उपलभ्यन्ते, 'अन्यो नानुभूयते' इति यदुक्तं, तत्सत्यम्, कथं तर्हि तदतिरिक्तस्यात्मनोऽङ्गीकार इत्यत आह—**तथाऽपीति** । अन्यस्यानुपलभ्यमानत्वेऽपि यद्बलादेतेषां आनन्दमयादीनामुपलभ्यमानता भवति, सोऽनुभवः कथं नाङ्गीक्रियत इत्यर्थः ॥ १२ ॥

तं निराकृत्याऽऽत्मानं युक्त्याऽऽह—**कादाचित्कत्वत इति** ॥ १० ॥

ननु सर्वदेति हेतुराश्रयासिद्ध एव निद्रानन्दान्तवस्तुभिन्नबिम्बोभूतानन्दस्यैवानुपलम्भादित्याशयेन शङ्कते—**नन्विति** ॥ ११ ॥

समाधत्ते—**बाढमिति** । एवं च निद्रानन्दान्तवस्तूनां तदन्यस्य चाननुभवितैव भवत्यात्मेति भावः ॥ १२ ॥

स्वयमेवानुभूतित्वाद्विद्यते नानुभाव्यता ।
ज्ञातृज्ञानान्तराभावादज्ञेयो न त्वसत्तया ।। १३ ।।

ननूक्तेभ्योऽन्य आत्मा यदि विद्यते तर्ह्युपलभ्येत, नोपलभ्यते अतो नास्तीत्याशङ्क्याह—

स्वयमिति । आनन्दमयादीनां साक्षिणोऽनुभवरूपत्वादेवानुभाव्यत्वं नास्तीति । ननु अनुभवरूपत्वेऽप्यनुभाव्यत्वं कुतो न स्यादित्याशङ्क्याह— **ज्ञात्रिति ।** ज्ञाता च ज्ञानं च ज्ञातृज्ञाने, अन्ये ज्ञातृज्ञाने ज्ञातृज्ञानान्तरे, तयोरभावः तस्मादज्ञेयो ज्ञातविषयो न भवतीति ज्ञात्राद्यभावाद्वा न ज्ञायते स्वस्यैवासत्त्वाद्वा, किमत्र निगमने कारणमित्यत आह—**न त्वसत्तयेति ।** निद्रानन्दादिसाक्षित्वेनासत्त्वस्य पूर्वमेव निराकृतत्वादिति भावः ।। १३ ।।

ननूक्तवस्त्वनुभवितुरेव यद्यात्मत्वं तर्हि तस्य सिद्धिरनुभवित्राश्रितानुभवेनैव वाच्या तथा च यथा निद्रानन्दान्ताः स्वाश्रितानुभवेनानुभवित्रा मयाऽनुभूतास्तथा स्वयमप्यहं तेनैवानुभूतोऽस्मीति प्रत्ययापत्तिस्तस्माद्वेणुसंघर्षणजन्यवह्निन्यायेन यावदनुभाव्यमेवानुभवितृसत्त्वं तदभावे तु तस्याप्यभावाच्छून्यतापत्तिरिति चेन्न। यदि निद्रानन्दान्तवस्त्वनुभवितानुभवाश्रयश्चेत्तदाघटेतापीदं चोद्यम् । तदेव तु नास्ति ।

"त्रिषु धामसु यद्भोग्यं भोक्ता भोगश्च यद्भवेत् ।
तेभ्यो विलक्षणः साक्षी चिन्मात्रोऽहं सदाशिवः" ।।

इति श्रुत्या स्वप्रकाशात्माभावे जगदान्ध्यापत्तियुक्त्या च तस्यैवानुभवरूपत्वमित्याशयेनाऽऽह—**स्वयमेवेति ।** निरुक्तनिद्रानन्दान्तवस्तुसाक्षिण इत्यार्थिकम् । एवं जगदान्ध्यापत्तिं स्वप्रकाशसाक्षिण आत्मत्वावेदनेनापनोद्य शून्यवादापत्तिमपि निराकरोति **ज्ञात्रिति ।** उक्तसाक्षिणः सकाशादन्यः कश्चिज्ज्ञाता तद्विषयज्ञानाश्रयस्तथा ज्ञानं तद्विषयकं संवेदनं तदभावादेव स्वप्रकाशसाक्ष्यात्मासावज्ञेयो न त्वसत्तयाऽज्ञेय इत्यन्वयः ।। १३ ।।

माधुर्यादिस्वभावानामन्यत्र स्वगुणार्पिणाम् ।
स्वस्मिंस्तदर्पणापेक्षा नो न चास्त्यन्यदर्पकम् ।। १४ ।।
अर्पकान्तरराहित्येऽप्यस्त्येषां तत्स्वभावता ।
मा भूत्तथानुभाव्यत्वं बोधात्मा तु न हीयते ।। १५ ।।
स्वयंज्योतिर्भवत्येष पुरोऽस्माद्भासतेऽखिलात् ।
तमेव भान्तमन्वेति तद्भासा भास्यते जगत् ।। १६ ।।

अनुभवरूपस्यात्मनोऽनुभाव्यत्वाभावे दृष्टान्तमाह—

माधुर्यादीति । 'आदि'शब्देनाम्लादयो गृह्यन्ते । माधुर्यादयः स्वभावाः सहजा धर्मविशेषा येषां ते माधुर्यादिस्वभावा गुडादयस्तेषामन्यत्र स्वसंसृष्टपदार्थेषु चणकादिषु स्वगुणार्पिणां स्वगुणान्माधुर्यादीनर्पयन्तीति स्वगुणार्पिणस्तेषां स्वस्मिन्स्वस्वरूपे गुडादिलक्षणे तदर्पणापेक्षा तेषां माधुर्यादीनां अर्पणे संपादनेऽपेक्षा आकाङ्क्षा माधुर्यादिकं केनचित्संपादनीयमित्येवंरूपा नो नैव विद्यते, किंचान्यदर्पकं नास्ति; गुडादीनां माधुर्यादिप्रदं वस्त्वन्तरं नास्तीत्यर्थः ।। १४ ।।

सदृष्टान्तं फलितमाह—

अर्पकान्तरेति । माधुर्यादिसमर्पकवस्त्वंतराभावेऽपि येषां गुडादीनां माधुर्यादिस्वभावता यथा विद्यते, एवमात्मनोऽप्यनुभवविषयत्वं मा भूत्, अनुभवरूपता तु भवत्येवेत्यर्थः ।। ।। १५ ।।

उक्तार्थे प्रमाणमाह—

स्वयमिति । 'अत्रायं पुरुषः स्वयंज्योतिर्भवति' (बृ० ४।३।९), 'अस्मात्सर्वस्मात्पुरतः सुविभातम्' (नृ० उ० ता० २), 'तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' (मुण्ड० २।२।१०, श्वे० ६।१४, कठ० ५।१४) इत्यादिश्रुतय आत्मनः स्वप्रकाशत्वं बोधयन्तीत्यर्थः ।।१६।।

तत्र दृष्टान्तं स्पष्टयति—**माधुर्यादीति सार्धेन** । आदिनाऽम्लादिः । एतादृशां खण्डशर्करादीनामित्यर्थः ।। १४ ।।

अर्पकान्तरेति । एषां खण्डादीनाम् । दार्ष्टान्तिके योजयति - **मा भूत्तथेति** ।।१५।।

नन्वेवमात्मनः स्वप्रकाशत्वे किं प्रमाणमित्यतस्ताः श्रुतीरेव सङ्ग्रथयति—**स्वयमितिप्रभृति त्रिभिः** । अत्रायं पुरुषः स्वयंज्योतिर्भवतीति **बृहदारण्यके** । पुरतो-

येनेदं जानते सर्वं तं केनान्येन जानताम् ।
विज्ञातारं केन विद्याच्छक्तं वेद्ये तु साधनम् ।। १७ ।।
स वेत्ति वेद्यं तत्सर्वं नान्यस्तस्यास्ति वेदिता ।
विदिताविदिताभ्यां तत्पृथग्बोधस्वरूपकम् ।। १८ ।।

'येनेदं सर्वं विजानाति तं केन विजानीयात्, विज्ञातारमरे केन विजानीयात्' (बृ० १।४।१४) इति वाक्यमर्थतः पठति—

येनेदमिति । येन साक्षिचैतन्यरूपेण आत्मना इदं सर्वं दृश्यजातं जानते प्राणिनः तं साक्षिणमात्मानमन्येन केन साक्ष्यभूतेन जडेन जानतामवगच्छेयुः, पुमांस इति शेषः । अस्यैव वाक्यस्य तात्पर्यमाह—**विज्ञातारमिति** । दृश्यजातस्य ज्ञातारं केन दृश्यभूतेन विद्याद्विजानीयात् ? न केनापि जानातीत्यर्थः । ननु मनसा ज्ञास्यतीत्याशङ्क्याह—**शक्तमिति** । साधनं तु ज्ञानसाधनं तु मनः वेद्ये ज्ञातव्यविषये शक्तं समर्थं, न तु ज्ञातर्यात्मनि । "नैव वाचा न मनसा' (कठ० ६।१२) इत्यादिश्रुतेः । स्वस्यापि ज्ञेयत्वे कर्मकर्तृत्वविरोधाच्चेति भावः ।। १७ ।।

आत्मनः स्वप्रकाशत्वे एव 'स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता' (श्वेता० ३।१९), 'अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि' (केन० ३) इति वाक्यद्वयमपि प्रमाणमिति मन्वानस्तद्वाक्यद्वयमर्थतः पठति—

स वेत्तीति । स आत्मा यद्यद्वेद्यं तत्तत्सर्वं वेद्यं वेत्ति । तस्यात्मनो वेदिता ज्ञाता अन्यो नास्ति, तद्बोधस्वरूपकं ब्रह्मविदिताविदिताभ्यां—विदितं ज्ञानेन विषयीकृतं, अविदितमज्ञानेनावृत्तं, ताभ्यां—पृथग्विलक्षणम्, बोधस्वरूपत्वादेवेत्यर्थः ।। १८ ।।

ऽस्मात्सर्वस्मात्सुविभातमिति **नृसिंहोत्तरतापनीये** । तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभातीति **मुण्डके च** क्रमाच्छ्रुतय एव तत्र प्रमाणमित्यर्थः ।। १६ ।।

येनेदमिति । येनेदं सर्वं विजानाति तं केन विजानीयात् । विज्ञातारमरे केन विजानीयादिति **बृहदारण्यके** । जानते जीवा विजानन्ति । जानतां जानन्तु ।। १७ ।।

स वेत्तीति । स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्तेति **मुण्डके** । अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधीति **तलवकारोपनिषदि** ।। १८ ।।

बोधेऽप्यनुभवो यस्य न कथञ्चन जायते ।
तं कथं बोधयेच्छास्त्रं लोष्टं नरसमाकृतिम् ।। १९ ।।

जिह्वा मेऽस्ति न वेत्युक्तिर्लज्जायै केवलं यथा ।
न बुध्यते मया बोधो बोद्धव्य इति तादृशी ।। २० ।।

ननु विदिताविदितातिरिक्तो बोधो नानुभूयत इत्याशङ्क्य, विदितविशेषणस्य वेदनस्यैव बोधस्वरूपत्वात्तदनुभवाभावे विदितस्याप्यनुभवाभावप्रसङ्गाद्बोधानुभवोऽवश्यमङ्गीकर्तव्य इति सोपहासमाह--

बोधेऽपीति । यस्य मन्दस्य बोधेऽपि घटादिस्फुरणरूपेऽप्यनुभवः साक्षात्कारः कथञ्चन कथमपि न जायते नोत्पद्यते, तं नरसमाकृतिं नरसमाकारं लोष्टं लोष्टवज्जडं मनुष्यं शास्त्रं कथं बोधयेत् ? न कथमपि बोधयेदित्यर्थः ।। १९ ।।

बोधो न बुध्यत इत्युक्तिरेव व्याहतेति सदृष्टान्तमाह--

जिह्वेति । 'मे जिह्वाऽस्ति न वा ?, इत्युक्तिर्भाषणं यथा लज्जायै केवलं लज्जाजननायैव भवति, न बुद्धिमत्त्वज्ञापनाय; जिह्वया विना भाषणानुपपत्तेः । एवं मया बोधो न बुध्यते, इतः परं बोद्धव्य इत्युक्तिरपि तादृशी लज्जाहेतुरेव, बोधेन विना तद्व्यवहारासिद्धेरित्यर्थः ।। २० ।।

ननु वृत्त्यात्मकज्ञानभिन्नकूटस्थबोधः स्वप्रकाशः प्रोक्तश्रुत्युक्तोऽपि मया नानुभूयत इत्याशङ्कमेवोपहसति—**बोधेऽपीति** । विषयसप्तम्येवेयम् । अनुभवः स्वप्रकाशत्वधीः ।। १९ ।।

तत्र दृष्टान्तं स्पष्टयति—**जिह्वेति** ।। २० ।।

यस्मिन्यस्मिन्नस्ति लोके बोधस्तत्तदुपेक्षणे ।
यद्बोधमात्रं तद्ब्रह्मेत्येवंधीर्ब्रह्मनिश्चयः ।। २१ ।।
पञ्चकोशपरित्यागे साक्षिबोधावशेषतः ।
स्वस्वरूपं स एव स्याच्छून्यत्वं तस्य दुर्घटम् ।। २२ ।।

भवत्येवंविधः स बोधः, तथापि प्रकृते ब्रह्मावबोधे किमायातमित्याशङ्क्याह—

यस्मिन्निति । लोके जगति यस्मिन्यस्मिन्घटादिलक्षणे विषये बोधो ज्ञानमस्ति तत्तदुपेक्षणे तस्य तस्य घटादिविषयस्योपेक्षणेऽनादरणे कृते सति यद्बोधमात्रं घटादि सर्वत्रानुस्यूतं यत् स्फुरणमस्ति तदेव ब्रह्मेत्येवंरूपा धीर्बुद्धिर्ब्रह्मनिश्चयः, ब्रह्मावगतिरित्यर्थः ।। २१ ।।

ननु घटादिविषयोपेक्षया तदर्थानुभवरूपं ब्रह्मावगम्यते चेत्तर्हि कोशपञ्चकविवेकोऽयं निष्प्रयोजनः स्यादित्याशङ्क्य, ब्रह्मणः प्रत्यग्रूपताज्ञानेन विना संसारानिवृत्तेः तथात्वावबोधोपयोगित्वान्न तस्यापि वैयर्थ्यमित्याह—

पञ्चकोशेति । पञ्चानां कोशानामन्नमयादीनां परित्यागे बुद्ध्याऽनात्मत्वनिश्चये कृते तत्साक्षिरूपस्य बोधस्यावशेषणात् स साक्षिरूपो बोध एव स्वस्वरूपं निजरूपं ब्रह्मैव स्यात् । नन्वन्नमयादीनामनुभवसिद्धानां त्यागे शून्यपरिशेषः स्यादित्याशङ्क्याह—**शून्यत्वमिति** । तस्य साक्षिबोधस्य शून्यत्वं दुर्घटम्, दुःसम्पाद्यमित्यर्थः ।। २२ ।।

इदानीं शृङ्गग्राहिकान्यायेन स्वप्रकाशबोधं घटादिबोध्यविषयकस्फुरणलक्षणं तस्यैव ब्रह्मत्वं चाऽऽह—**यस्मिन्यस्मिन्निति** । तदुक्तं **वार्तिके**—

"परागर्थप्रमेयेषु या फलत्वेन संमता ।
संवित्सैवेह मेयोऽर्थो वेदान्तोक्तिप्रमाणतः ।।" इति ।

शिष्टं तु स्पष्टमेव ॥ २१ ॥

एवं तर्हि प्रतिज्ञाविरोधः, प्रतिज्ञातं हि भवता ब्रह्म पञ्चकोशात्मकगुहापिहितत्वात्तद्विवेकलभ्यमित्यधुना तु घटाद्युपलक्षितबोधरूपत्वेनैव तत्प्रदर्श्यत इति चेत्सत्यम् । शोधिततत्पदार्थरूपस्य तस्य निरुक्तघटाद्युपलक्षितबोधरूपत्वेऽपि पञ्चकोशोपलक्षितप्रत्यग्रूपसाक्षिचिन्मात्रात्माभेदप्रमां विनाऽपरोक्षद्वैतभ्रमकारणीभूतात्माश्रिततद्विषयकानादिभावरूपमूलाज्ञानानिवृत्तेः । तदर्थं पञ्चकोशविवेकस्य साफल्यमेवेत्याशयेन समाधत्ते—**पञ्चेति** । "ज्ञातृज्ञानान्तराभावादज्ञेयो न त्वसत्तया" इत्यत्र निरस्तमपि माध्यमिकमतं

अस्ति तावत्स्वयं नाम विवादाविषयत्वतः ।
स्वस्मिन्नपि विवादश्चेत्प्रतिवाद्यत्र को भवेत् ।। २३ ।।

स्वासत्त्वं नु न कस्मैचिद्रोचते विभ्रमं विना ।
अत एव श्रुतिर्बाधं ब्रूते चासत्त्ववादिनः ।। २४ ।।

दुर्घटत्वमेवोपपादयति—

अस्तीति । 'स्वयं'शब्दवाच्यं स्वस्वरूपं लौकिकानां वैदिकानां च मते तावदस्त्येव । कुत इत्यत आह—**विवादेति** । स्वस्वरूपस्य विप्रतिपत्तिविषयत्वाभावादित्यर्थः । विपक्षे बाधकमाह—**स्वस्मिन्निति** । स्वात्मन्यपि विप्रतिपत्तौ सत्यां अत्रास्यां विप्रतिपत्तौ कः प्रतिवादी स्यात् ? न कोऽपीत्यर्थः ।। २३ ।।

ननु स्वासत्त्ववाद्येव प्रतिवादी भविष्यतीत्याशङ्क्य, तथाविधः कोऽपि नास्तीत्याह—

स्वासत्त्वमिति । भ्रान्तिमेकां विहायाऽन्यस्यां दशायां स्वस्याभावः केनापि नाङ्गीक्रियत इत्यर्थः । कुत एवं निश्चीयत इत्याशङ्क्याह—**अत इति** । यतः कस्मैचिन्न रोचते अत एव श्रुतिरपि असत्त्ववादिनो बाधं ब्रूते ।। २४ ।।

विस्मृतिसम्भावनया पुनः प्रत्याचष्टे—**शून्यत्वमिति** चरमचरणेन । शून्यसत्ताप्रकाशयोरपि तदेकायत्तत्वात्तस्य शून्यत्वं दुर्घटमेवेत्यध्याहृत्य सम्बन्धः ।। २२ ।।

तदेवोपपादयति—**अस्तीति** । स्वयं स्वयंशब्दशक्यः स्वप्रकाश आत्मेत्यर्थः । तत्र हेतुः—**विवादेति** । हेत्वसिद्धिमुद्धरति—**स्वस्मिन्नपीति** । विवादे विशिष्टो जल्पादिघटितो वाद इत्यर्थः । तल्लक्षणाद्युक्तं हि **सर्वदर्शनसंग्रहे** न्यायमतं प्रकृत्य मूलकारैरेव । तत्त्वनिर्णयफलः कथाविशेषो वादः । उभयसाधनवती विजिगीषुकथा जल्पः । स्वपक्षस्थापनहीनः कथाविशेषो वितण्डा । कथा नाम वादिप्रतिवादिनोः पक्षप्रतिपक्षपरिग्रह इति । एवं च स्वत्वं हि वादिप्रतिवादिनोरुभयोरपि कथाप्रवृत्त्यन्यथानुपपत्त्यानिर्विचिकित्समेव वाच्यम् । तदेव यदि विवादास्पदं तदा प्रतिवाद्यभावः समापादितः सुघट एवेति भावः ।। २३ ।।

अत एव—**स्वेति** । तुशब्दोऽप्यर्थेऽपि । कस्मैचिदपीत्यर्थः । तदिदं श्रुतिसम्मतमपीत्याह— **अत एवेति** ।। २४ ।।

असद्ब्रह्मेति चेद्वेद स्वयमेव भवेदसत् ।
अतोऽस्य मा भूद्वेद्यत्वं स्वसत्त्वं त्वभ्युपेयताम् ।। २५ ।।

कीदृक्तर्हीति चेत्पृच्छेदीदृक्ता नास्ति तत्र हि ।
यदनीदृगतादृक् च तत्स्वरूपं विनिश्चिनु ।। २६ ।।

केयं श्रुतिरित्याकाङ्क्षायां 'असन्नेव' (तै० २।६।१) इत्यादिकां तां श्रुतिमर्थतः पठति—

असदिति । यदि ब्रह्मासदिति जानीयात्तर्हि स्वयमेव ब्रह्मणोऽसत्त्वज्ञानी असद्भवेत्, स्वस्यैव ब्रह्मरूपत्वादित्यर्थः । फलितमाह—**अत इति** ।। २५ ।।

इदानीमात्मनः स्वप्रकाशत्वं वक्तुकामस्तस्य वेद्यत्वाभावे कीदृक्स्वरूपमिति प्रश्नमुत्थापयति—

कीदृगिति । अयमभिप्रायः—आत्मन ईदृक्त्वादिना केनचिद्रूपेण वैशिष्ट्याङ्गीकारे तेनैव रूपेण वेद्यत्वं स्यात्, तदनङ्गीकारे शून्यत्वमिति । सत्यम् । ईदृक्ताद्यङ्गीकारे तथैव वेद्यत्वं, तत्तु नाङ्गीक्रियत इत्याह—**ईदृगिति ।** उपलक्षणमेतत्तादृक्त्वस्यापि । उभयाभावमेवाह—**यदनीदृगिति** ।। २६ ।।

तामेव श्रुतिमर्थतः पठति—**असदिति ।** तथा च तैत्तिरीयाः समामनन्ति—"असन्नेव स भवति । असद्ब्रह्मेति वेद चेत्" इति । फलितमाह—**अत इति ।** अस्य पञ्चकोशबाधावधिभूतस्य चिन्मात्रात्मन इत्यर्थः ॥ २५ ॥

नन्वेवं यद्यवेद्योऽप्यात्मा संश्चेत्किमपराद्धं वन्ध्याकुमारेणेति गूढाभिसंधिस्तत्स्वरूपप्रकारं पृच्छति—**कीदृगिति ।** एवं सिद्धान्त्येव तत्प्रश्नं रे शिष्य वादिन्वा त्वं तद्ब्रह्माऽऽत्मस्वरूपमवेद्यमपि सत्त्वेन सम्मतं कीदृक्किंप्रकारकं तद्ब्रूहीति पृच्छेः प्रश्नविषयीकुर्याश्चेदित्यनूद्य तर्हि तत्र कोऽपि प्रकारो नैवेति समाधत्ते—**ईदृक्तेति ।** अतः फलितमाह—**यदिति ।** रे शिष्य वादिन्वा त्वं यद्वस्त्वनीदृगपरोक्षसदृक्षं न भवति तथाऽदृक्परोक्षसदृक्षमपि न भवति तदेव स्वरूपमात्मतत्त्वमिति विनिश्चिनु श्रुत्याद्यनुग्रहपूर्वकत्वलक्षणेन विशेषेण निश्चयविषयीकुर्वित्यन्वयः ॥ २६ ॥

अक्षाणां विषयस्त्वीदृक् परोक्षस्तादृगुच्यते ।
विषयी नाक्षविषयः स्वत्वान्नास्य परोक्षता ।। २७ ।।
अवेद्योऽप्यपरोक्षोऽतः स्वप्रकाशो भवत्ययम् ।
सत्यं ज्ञानमनन्तं चेत्यस्तीह ब्रह्मलक्षणम् ।। २८ ।।

न हि प्रतिज्ञामात्रेणार्थसिद्धिरित्याशङ्क्येदृक्तादृक्शब्दयोरर्थमभिदधानस्तदवाच्यत्वमुपपादयति—

अक्षाणामिति । प्रत्यक्षस्यैव घटादेरीदृक्शब्दवाच्यत्वं दृष्टं परोक्षस्यैव धर्मादेस्तादृक्शब्दवाच्यत्वं द्रष्टुरात्मनस्त्विन्द्रियजन्यज्ञानविषयत्वाभावान्नेदृक्त्वं स्वत्वेनैव परोक्षत्वाभावान्न तादृक्त्वमित्यर्थः ।। २७ ।।

तर्हि शून्यमिति द्वितीयं पक्षं फलदर्शनव्याजेन परिहरति—

अवेद्य इति । इन्द्रियजन्यज्ञानविषयत्वाभावेऽप्यपरोक्षात्वात्स्वप्रकाश इत्यर्थः । अत्रायं प्रयोगः—आत्मा स्वप्रकाशः; संवित्कर्मतामन्तरेणापरोक्षत्वात्, संवेदनवदिति । न च विशेषणासिद्धो हेतुः; आत्मनः संवित्कर्मत्वे कर्मकर्तृभावविरोधप्रसङ्गात् । स्वस्वरूपेण कर्तृत्वं विशिष्टरूपेण कर्मत्वमित्यविरोध इति चेत् गमनक्रियायामपि एकस्यैव स्वरूपेण कर्तृत्वं विशिष्टरूपेण कर्मत्वमित्यतिप्रसङ्गात् । न च साधनविकलो दृष्टान्तः; संवेदनस्य संवेदनान्तरापेक्षायामनवस्थानादिति तर्कमते घटो घटज्ञानेन भासते घटज्ञानमनुव्यवसायेनेति संवेदनवत्स्वप्रकाशे दृष्टान्तः साधनविकल इति चेन्न, ज्ञानस्य ज्ञानान्तरेण भासनाभावात्साधनविकलः ।। नन्वात्मनः स्वप्रकाशत्वेन सिद्धत्वेऽपि ब्रह्मलक्षणाभावात् न ब्रह्मत्वसिद्धिरित्याशङ्क्य तल्लक्षणं तत्र योजयति—**सत्यमिति** । 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तैत्ति० २।१।१) श्रुत्या यद्ब्रह्मणो लक्षणमुक्तं तदात्मनि विद्यत इत्यर्थः ।। २८ ।।

तत्र हेतुं द्योतयन्नीदृगादिपदार्थं कथयति—**अक्षाणामिति** । तत्राऽऽद्याभावं सहेतुकमाह—**विषयीति** । यतो विषयी प्रकाशैकरूपोऽतोऽक्षविषयो नैवेति योजना । एवमन्त्यमपि प्रत्याह—**स्वत्वादिति** ।। २७ ।।

एवं तर्हि परोक्षाद्यविषयत्व आत्मनो वन्ध्यापुत्रवच्छून्यत्वमेवेति पूर्ववादिगूढाभिसन्धिमालक्ष्य सिद्धान्ती सलक्षणं स्वप्रकाशत्वमुपपादयन्नसत्त्वं प्रतिक्षिपति—**अवेद्योऽपीति** । अपिना घटादिवैलक्षण्यं द्योत्यते । एतेन वेद्यत्वे सत्यपरोक्षत्वं स्वप्रकाशत्व-

सत्यत्वं बाधराहित्यं जगद्बाधैकसाक्षिणः ।
बाधः किंसाक्षिको ब्रूहि न त्वसाक्षिक इष्यते ।। २९ ।।

अपनीतेषु मूर्तेषु ह्यमूर्तं शिष्यते वियत् ।
शक्येषु बाधितेष्वन्ते शिष्यते यत्तदेव तत् ।। ३० ।।

आत्मनः सत्यत्वोपपादनाय तावत्सत्यत्वस्य लक्षणमाह—

सत्यत्वमिति । बाधशून्यत्वं सत्यत्वम्; 'सत्यमबाध्यं, बाध्यं मिथ्येति तद्विवेकः' इति पूर्वाचार्यैरुक्तत्वात् । अस्तु, प्रकृते किमायातमित्यत आह— **जगदिति ।** जगतः स्थूलसूक्ष्मशरीरादिलक्षणस्य योऽयं बाधः सुप्तिमूर्च्छा-समाधिषु अविद्यमानता तत्साक्षित्वेनैव वर्तमानस्यात्मनो बाधः किंसाक्षिकः-कः साक्षी अस्य बाधस्यासौ किंसाक्षिकः ? न कोऽपि साक्षी विद्यत इत्यर्थः । असाक्षिकोऽप्यात्मबाधः किं न स्यादित्याशङ्क्याह—न त्विति । साक्षिरहितो बाधो नाभ्युपगन्तव्यः; अन्यथाऽतिप्रसङ्गादिति भावः ।। २९ ।।

उक्तमर्थं दृष्टान्तेन स्पष्टयति—

अपनीतेष्विति । मूर्तेषु गृहादिगतेषु घटादिष्वपनीतेषु गृहादिभ्यो निःसारितेषु सत्सु यथाऽपनेतुमशक्यं नभ एवावशिष्यते, एवं स्वव्यतिरिक्तेषु मूर्तामूर्तेषु देहेन्द्रियादिषु निराकर्तुं शक्येषु 'नेति नेति' (बृ० २।३।६) इति श्रुत्या निराकृतेषु सत्सु अन्तेऽवसाने सर्वनिराकरणसाक्षित्वेन यो बोधोऽवशिष्यते स एव बाधरहित आत्मेत्यर्थः ।। ३० ।।

मिति तल्लक्षणं फलितम् । एवं च प्राङ्मदुक्तमनधीनभानत्वमेवेदं पर्यवस्यति । नन्वथाप्यस्य ब्रह्माभेदः कथमित्यत आह—**सत्यमिति** ।। २८ ।।

तत्र सत्यत्वमुपपादयति—**सत्यत्वमिति** । अपरं सरलमेव ।। २९ ।।

तत्र दृष्टान्तं स्पष्टयति—**अपनीतेष्विति ।** दार्ष्टान्तिके योजयति—**शक्येष्विति ।** दृश्यत्वेन बाधितुमिति शेषः यद्बाधभासकत्वेन बाधितुमशक्यं दृङ्मात्रं शिष्यतेऽवशिष्टं भवति तदेव तत्कालत्रयाबाध्यं सद्ब्रह्मेति सम्बन्धः ।। ३० ।।

सर्वबाधे न किञ्चिच्चेद्यन्न किञ्चित्तदेव तत् ।
भाषा एवात्र भिद्यन्ते निर्बाधं तावदस्ति हि ।। ३१ ।।
अत एव श्रुतिर्बाध्य बाधित्वा शेषयत्यदः ।
स एष नेति नेत्यात्मेत्यतद्व्यावृत्तिरूपतः ।। ३२ ।।

ननु प्रतीयमानस्य सर्वस्यापि निषेधे किञ्चिन्नावशिष्यते, अतः कथं 'शिष्यते यत्तदेव तत्' (प्र० ३।३०) इत्यवशिष्टस्यात्मत्वमुच्यत इति शङ्कते—

सर्वबाध इति । 'न किञ्चिदवशिष्यते' इति वदता तथापि प्रयोगसिद्धये सर्वाभावविषयं ज्ञानमवश्यमभ्युपेतव्यम्, अतस्तदेवास्मदभिमतात्मस्वरूपमित्यभिप्रायेण परिहरति—**यन्नेति ।** 'न किञ्चित्' इति शब्देन यच्चैतन्यमुच्यते, तदेव तद्ब्रह्मेत्यर्थः । ननु 'न किञ्चित्' इत्यभाववाचकेन 'न किञ्चित्' शब्देन कथं चैतन्यमुच्यत इत्याशङ्क्य, बाधसाक्षिणोऽवश्यमभ्युपेयत्वादभिधायकशब्देष्वेव विप्रतिपत्तिर्नाभिधेये इति परिहरति—**भाषा इति ।** अत्र बाधसाक्षिणि प्रत्यगात्मनि भाषा एव न किञ्चित्साक्षीत्यादिशब्दा एव भिद्यन्ते । निर्बाधं बाधरहितं साक्षिचैतन्यं तु विद्यत एवेत्यर्थः ।। ३१ ।।

उक्तमर्थं श्रुत्यारूढं करोति—

अत एवेति । यतः साक्षिचैतन्यमबाध्यम्, अत एव 'स एष नेति नेत्यात्मा' (बृ० ३।९।२९) इति श्रुतिरतद्व्यावृत्तिरूपतोऽनात्मपदार्थनिराकरणद्वारेण बाध्यं निराकरणयोग्यं सर्वमनात्मकवस्तुजातं बाधित्वा निराकृत्य अदो निराकर्तुमशक्यं प्रत्यक्स्वस्वरूपं शेषयत्यवशेषयति ।। ३२ ।।

उक्तमेवार्थं स्थूणानिखननन्यायेन दृढीकर्तुं साशङ्कं प्रकाशयति—**सर्वेति ।** यन्न किञ्चिदिति सर्वाभावावभासकं चैतन्यं तदेव तद्ब्रह्मेत्यर्थः । तथा चाविवेकिना त्वया न किञ्चिदिति स्वाभिप्रायेण सर्वदृश्यप्रतियोगिकाभाववाचकः शब्दः प्रयुज्यते परं त्वसौ विचारे क्रियमाणेऽभावस्यापि दृश्यत्वाविशेषान्नैव तदभिधायकः किन्तु बाधसाक्षिभूतचैतन्याभिधायक इति रुदताऽप्यङ्गीकार्यम् । मया तु सर्वदृश्यबाधे तद्भासकं चैतन्यमेवावशिष्यत इति साक्षात्तद्वाचक एव शब्दः प्रयुज्यत इत्यावयोर्भाषा एवात्र भिद्यन्त इत्यन्वयः । फलितमाह—**निर्बाधमिति ।** तावत्साकल्येनैवास्तीति योजना ।। ३१ ।।

उक्तेऽर्थे श्रुतिमनुकूलयति—**अत एवेति ।** 'स एष नेति नेत्यात्मा' इति श्रुतिर्बाध्यं

इदंरूपं तु यद्यावत्तत्त्यक्तुं शक्यतेऽखिलम् ।
अशक्यो ह्यनिदंरूपः स आत्मा बाधवर्जितः ।। ३३ ।।
सिद्धं ब्रह्मणि सत्यत्वं ज्ञानत्वं तु पुरेरितम् ।
स्वयमेवानुभूतित्वादित्यादिवचनैः स्फुटम् ।। ३४ ।।

'नेति नेति' (बृ० २।३।६) इति श्रुतिर्बाधयोग्यं बाधित्वा, बाधितुमशक्यमवशेषयतीत्युक्तम्, तत्र कीदृशं बाधितुं शक्यं, कीदृशमशक्यमिति विवक्षायां तदुभयं विभज्य दर्शयति—

इदंरूपमिति । इदंरूपमित्येवं रूपं दृश्यत्वेनानुभूयमानं रूपं स्वरूपं यस्य देहादेस्तदिदंरूपम् । 'तु' शब्दोऽवधारणे । 'यद्यावत्' इति पदद्वयं सर्वदृश्योपसंग्रहार्थम् । एवं च सति यद्दृश्यं तदखिलं त्यक्तुं शक्यत एवेत्यर्थः संपद्यते । अनिदंरूपः प्रत्यक्त्वेनेदंतयावगन्तुं अयोग्यः साक्षी अशक्यस्त्यक्तुमित्यर्थः । 'हि' इति निपातेन प्रसिद्धिद्योतकेन त्यक्तुः स्वस्वरूपत्वेन त्यागायोग्यतां सूचयति । फलितमाह—**आत्मेति ।** यो बाधरहितः साक्षी स एवात्मा, नाहङ्कारादिर्दृश्य इत्यर्थः ।। ३३ ।।

भवत्वात्मनोऽबाध्यत्वम्, प्रकृते किमायातमित्यत आह—

सिद्धमिति । ब्रह्मणि ब्रह्मलक्षणे यत्सत्यत्वमभिहितं तदात्मनि सिद्धम् । भवतु सत्यत्वं, ज्ञानत्वं कथमित्याकाङ्क्षायां तत्पूर्वमेवोपपादितमित्याह—**ज्ञानत्वमिति ।** 'स्वयमेवानुभूतित्वाद्विद्यते नानुभाव्यता' (प्र० ३।१३) इत्यादिभिर्वचनैर्ज्ञानरूपत्वं पूर्वमेव सम्यगभिहितमित्यर्थः ।। ३४ ।।

कार्यकारणात्मकं द्वैतं बाधित्वा । **अतदिति ।** दृश्याभिन्नरूपत्वेनेत्यर्थः । अतः प्रागुक्तं प्रत्यगभिन्नमद्वैतब्रह्मचैतन्यमेव शेषयतीति सम्बन्धः ।। ३२ ।।

तत्र हेतून्युत्पादयति—**इदं रूपं** त्वित्याद्यर्धाभ्याम् ।। ३३ ।।

अथ ज्ञानत्वमुपपादयितुं वृत्तानुवादपूर्वकं प्रागेवोपपादितं तत्स्मारयति—**सिद्धमिति ।** अत्र पञ्चकोशबाधावधिभूतसाक्षिचिन्मात्रात्मानमुद्दिश्य तत्रैव ब्रह्माभेदार्थं तल्लक्षणसमन्वयोपपादनस्य प्रकृतत्वात्सिद्धमात्मनीति वक्तव्येऽपि ब्रह्मणीत्युक्तिस्तु तदत्यन्ताभेदाभिप्रायेणेवेति भावः ।। ३४ ।।

न व्यापित्वाद्देशतोऽन्तो नित्यत्वान्नापि कालतः ।
न वस्तुतोऽपि सार्वात्म्यादानन्त्यं ब्रह्मणि त्रिधा ।। ३५ ।।
देशकालान्यवस्तूनां कल्पितत्वाच्च मायया ।
न देशादिकृतोऽन्तोऽस्ति ब्रह्मानन्त्यं स्फुटं ततः ।। ३६ ।।

ननु सत्यत्वज्ञानत्वयोरात्मनि सिद्धत्वेऽप्यानन्त्यं न घटते; ब्रह्मण्यपि तस्यासिद्धेरित्याशङ्कया ब्रह्मणि तावत्तत्साधयति—

न व्यापित्वादिति । 'नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं' (मुण्ड० १।१।६) 'आकाशवत्सर्वगतश्च नित्यः', 'नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानां' (कठ० ५।१३, श्वे० ६।१३) 'इदं सर्वं यदयमात्मा', (बृ० ४।५।७) 'सर्वं ह्येतद्ब्रह्म', (माण्डू० ३) 'ब्रह्मैवेदं सर्वं' (नृ० उ० ता० ७) इत्यादिश्रुतिषु व्यापित्वनित्यत्वसर्वात्मत्वप्रतिपादनाद्ब्रह्मणस्त्रिविधमप्यानन्त्यं देशकालवस्तुकृतपरिच्छेदराहित्यमभ्युपेतव्यमित्यर्थः ।। ३५ ।।

न केवलं श्रुतितः, किंतु युक्तितोऽपीत्याह—

देशकालेति । परिच्छेदहेतूनां देशकालान्यवस्तूनां मायया कल्पितत्वाच्च गन्धर्वनगरादिभिर्गगनस्येव न देशादिभिः कृतः पारमार्थिकः परिच्छेदो ब्रह्मणि संभवति, यतोऽतो ब्रह्मण्यानन्त्यं तावद्व्यक्तमेव 'तदेतत्सत्यमात्मा ब्रह्मैव' (नृ० उ० ता० ९) 'ब्रह्मात्मैवात्र ह्येवं न विचिकित्स्यमित्योंं सत्यमात्मैव नृसिंहो देवो ब्रह्म भवति' (नृ० उ० ता० ५-९) 'अयमात्मा ब्रह्म' (माण्डू० २) इत्यादिभिः श्रुतिभिरात्मनो ब्रह्माभेदप्रतिपादनात्तस्याप्यानन्त्यं सिद्धमिति तात्पर्यम् ।। ३६ ।।

एवमेवेह देशकालवस्तुपरिच्छेदराहित्यलक्षणमानन्त्यमप्यत्रोपपादयति—**न व्यापित्वादिति ।** 'आकाशवत्सर्वगतश्च नित्यः' इति 'इदं सर्वं यदयमात्मा' इति 'सर्वं ह्येतद्ब्रह्म' इत्यादिश्रुतिभ्योऽपीत्यर्थः ।। ३५ ।।

तदेव युक्त्याऽप्युपपादयति—**देशेति ।** एवं च यथा गन्धर्वनगरादिभिः कल्पितत्वाद्गगनस्य देशादिपरिच्छेदत्रयं तद्वदेव मायाकल्पितैर्देशादिभिर्नैव ब्रह्मात्मवस्तुनो देशादिकृतोऽन्तोऽस्तीत्यर्थः । फलितमाह—**ब्रह्मेति ।** तथाचाऽऽमनन्त्याथर्वणिका ब्रह्मात्मैक्यं नृसिंहोत्तरतापिन्याम्—'तदेतत्सत्यमात्मा ब्रह्मैव ब्रह्मात्मैवात्र ह्येवं न विचिकित्स्यमित्योंं सत्यमात्मैव नृसिंहो देवो ब्रह्म भवति" इति ।। ३६ ।।

सत्यं ज्ञानमनन्तं यद्ब्रह्म तद्वस्तु तस्य तत् ।
ईश्वरत्वं च जीवत्वमुपाधिद्वयकल्पितम् ॥ ३७ ॥
शक्तिरस्त्यैश्वरी काचित्सर्ववस्तुनियामिका ।
आनन्दमयमारभ्य गूढा सर्वेषु वस्तुषु ॥ ३८ ॥

ननु जडस्य जगतो ब्रह्मण्यारोपितत्वेन ब्रह्मणः परिच्छेदकत्वाभावेऽपि चेतनयोर्जीवेश्वरयोस्तदसंभवात्तत्कृतपरिच्छेदवत्त्वेन आनन्त्यं ब्रह्मणो न संगच्छेत इत्याशङ्क्य, तयोरप्यौपाधिकरूपत्वेन पारमार्थिकत्वाभावान्न तयोरपि वास्तवपरिच्छेदहेतुत्वमित्यभिप्रायेणाह—

सत्यमिति । यत्सत्यादिरूपं ब्रह्म तद्वस्तु तदेव पारमार्थिकं तस्य ब्रह्मणो यल्लोकप्रसिद्धमीश्वरत्वं जीवत्वं च तद्वक्ष्यमाणोपाधिद्वयेन कल्पितम्, अतः कल्पितत्वादेव जडवज्जीवेश्वरयोरपि तत्परिच्छेदकत्वाभाव इति भावः ॥ ३७ ॥

किं तदुपाधिद्वयमित्याकाङ्क्षायां तदुभयं क्रमेण दिदर्शयिषुरादावीश्वरोपाधिभूतां शक्तिं निरूपयति—

शक्तिरिति । ऐश्वरी ईश्वरोपाधितया ईश्वरसम्बन्धिनी काचित्सदसत्त्वादिभी रूपैर्निर्वक्तुमशक्या सर्ववस्तुनियामिका सर्वेषामन्तर्यामिब्राह्मणोक्तानां (बृ० ३।७) पृथिव्यादीनां नियम्यवस्तूनां नियमनकर्त्री शक्तिरस्ति । सा कुत्र तिष्ठति, कुतो वा नोपलभ्यत इत्याशङ्क्याह—**आनन्देति ।** आनन्दमयादिषु ब्रह्माण्डेन्तेषु सर्वेषु वस्तुषु गूढा वर्तते, अतो नोपलभ्यत इत्यर्थः ॥ ३८ ॥

ननु जडानां देशादीनां मायया ब्रह्मणि कल्पितत्वापरिच्छेदकत्वाभावेऽपि चेतनानां जीवानामीश्वरस्य च कथं न ब्रह्मणि वस्तुपरिच्छेदकत्वं तथात्वे ब्रह्मानन्त्यं दुर्भणमित्याशंक्य जीवेश्वरयोरपि वक्ष्यमाणोपाधिद्वयकल्पितत्वान्नैवमित्याह— **सत्यमिति** ॥३७॥

उक्तोपाधिद्वयमेव प्रकाशयितुं पूर्वप्रकरणद्वयप्रपञ्चितां स्वसम्मतां जीवेश्वरादिप्रक्रियां संक्षेपेणेह प्रदर्शयिष्यन् "पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते" इत्यादिश्रुतिप्रसिद्धां शुद्धब्रह्मण्येवानादिभावत्वेनास्मदादिदृष्ट्याऽध्यस्तां तच्छक्तिं व्युत्पादयति—**शक्तिरिति ।** ननु भवत्वेवं तस्याः शुद्धब्रह्मण्येवाधिष्ठानीभूते कल्पितत्वमथापि किमसौ स्वप्रतिबिम्बितचैतन्यरूपेश्वरपक्षपातिनी किंवा स्वविशेषप्रतिबिम्बितचिद्रूपजीवपक्षपातिनी किमु वा

वस्वधर्मा नियम्येरञ्शक्त्या नैव यदा तदा ।
अन्योन्यधर्मसाङ्कर्याद्विप्लवेत जगत्खलु ।। ३९ ।।
चिच्छायावेशतः शक्तिश्चेतनेव विभाति सा ।
तच्छक्त्युपाधिसंयोगाद्ब्रह्मैवेश्वरतां व्रजेत् ।। ४० ।।

नियमेनानुपलभ्यमानायास्तस्या असत्त्वमेव किं न स्यादित्याशङ्क्य, जगन्नियमनान्यथानुपपत्त्या साऽवश्यमभ्युपेयेत्याह—

वस्तुधर्मा इति । वस्तूनां पृथिव्यादीनां काठिन्यद्रवत्वादयो धर्मा यदा शक्त्या न व्यवस्थाप्यन्ते तदा तेषां धर्माणां साङ्कर्याद्विमिश्रणेनैकत्रावस्थानात् जगद्विप्लवेत, अनियतव्यवहारविषयतां प्राप्नुयादित्यर्थः । 'खलु' इति प्रसिद्धिं द्योतयति ।। ३९ ।।

ननु जडाया अस्या जगन्नियामकत्वं न युज्यते इत्याशङ्क्याह—

चिच्छायेति । सा शक्तिश्चिच्छायावेशतश्चिदाभासप्रवेशाच्चेतना इव चेतनत्वमापन्ना इव विभाति प्रतीयते, अतोऽस्या नियामकत्वं घटत इत्यर्थः । अस्तु, प्रस्तुते किमायातमित्यत आह—**तच्छक्तिरिति ।** सा चासौ शक्तिश्चेति कर्मधारयः । सैवोपाधिस्तेन संयोगः संबन्धस्तस्माद्ब्रह्मैव सत्यादिलक्षणमीश्वरतां सर्वज्ञत्वादिधर्मयोगितां व्रजेत्प्राप्नुयात् ।। ४० ।।

शुद्धचिन्मात्रपक्षपातिनी । नान्त्यः। उपाधेर्बिम्बापक्षपातित्वात् । न मध्यः । तस्य सर्वज्ञत्वसर्वकारणत्वाद्यभावेन तत्र वक्ष्यमाणसर्ववस्तुनियामकत्वासम्भवात् । नाप्याद्यः । सर्ववस्त्वन्तःपात्यज्ञत्वप्रतियोगिकनियामकत्वस्यापि तस्यां वाच्यत्वेन तत्सार्वज्ञ्यविरोधापत्तेरिति चेन्न । सर्ववस्तुनियामकत्वेनैव तस्यां सार्वज्ञ्यघटकतयाऽऽद्यपक्षस्यैवेष्टत्वात्सर्ववस्त्वन्तःपात्यज्ञत्वं त्वीश्वरसार्वज्ञ्यविरुद्धत्वेन जाड्यादिवज्जीवनिष्ठत्वेनैव सा नियमयतीत्यवश्यवाच्यत्वाच्चेत्याशयेन तां विशिनष्टि—**ऐश्वरीति ।** सेश्वरसाङ्ख्यसम्मतप्रधानाद्व्यावर्तयति—**काचिदिति ।** सत्त्वादिना निर्वक्तुमशक्यतयाऽनिर्वचनीयेत्यर्थः । कुतः साऽङ्गीकार्येत्यत आह—**सर्वेति ।** किमिति नोपलभ्यत इत्यत्राऽऽह—**आनन्देति** ।। ३८ ।।

माऽस्तु सर्ववस्तुनियमनमित्यत आह—**वस्तुधर्मा इति** ।। ३९ ।।

ननु सर्ववस्तुनियमनं तु यः सर्वत्र तिष्ठन्नित्याद्यन्तर्यामिब्राह्मणोक्तमीश्वर एव न तु जडायां तच्छक्तावित्यत्राऽऽह—**चिच्छायेति ।** चिदाभासस्य स्वकीयस्य सम्पर्कादिति यावत् । ननु तर्हीश्वरः क इत्यत आह—**तदिति ।** तादृशी स्वचिदाभासविशिष्टा या शक्तिरनाद्यविद्या सैवोपाधिस्तत्संयोगात्तत्तादात्म्याध्यासादित्यर्थः । एतेनाभासवाद एवैतेषां मतेऽपि पर्यवस्यतीति द्योत्यते ।। ४० ।।

कोशोपाधिविवक्षायां याति ब्रह्मैव जीवताम् ।
पिता पितामहश्चैकः पुत्रपौत्रौ यथा प्रति ।। ४१ ।।
पुत्रादेरविवक्षायां न पिता न पितामहः ।
तद्वन्नेशो नापि जीवः शक्तिकोशाविवक्षणे ।। ४२ ।।
य एवं ब्रह्म वेदैष ब्रह्मैव भवति स्वयम् ।
ब्रह्मणो नास्ति जन्मातः पुनरेष न जायते ।। ४३ ।।

इति श्रीविद्यारण्यमुनिविरचितायां पञ्चदश्यां पञ्चकोशविवेकः ।। ३ ।।

जीवत्वोपाधिभूतानां कोशानां प्रागेवाभिहितत्वात्तन्निमित्तकं जीवत्वमिदानीमाह—

कोशोपाधीति । कोशा एव उपाधिः कोशोपाधिः, तद्विवक्षायां पर्यालोचनायां क्रियमाणायां ब्रह्मैव सत्यादिलक्षणमेव जीवतां जीवव्यवहारविषयतां गच्छति । नन्वेकस्यैव विरुद्धधर्मद्वययोगित्वं युगपन्न क्वापि दृष्टचरमित्याशङ्क्याह—**पितेति** । यथैक एव देवदत्त एकदैव पुत्रं प्रति पिता भवति, पौत्रं प्रति तु पितामहः, एवं ब्रह्मापि कोशोपाधिविवक्षायां जीवो भवति, शक्त्युपाधिविवक्षायां ईश्वरश्च भवतीत्यर्थः ।। ४१ ।।

वस्तुतस्तु जीवत्वमीश्वरत्वं वा ब्रह्मणो नास्तीत्येतत्सदृष्टान्तमाह—

पुत्रादेरिति ।। ४२ ।।

इदानीमुक्तज्ञानस्य फलमाह—

य एवमिति । यः साधनचतुष्टसम्पन्न एवमुक्तेन प्रकारेण पञ्चकोशविवेकपुरःसरं ब्रह्म प्रत्यगभिन्नं सत्यादिलक्षणं वेद साक्षात्करोति एष स्वयं ब्रह्मैव भवति । 'स यो ह वै तत्परम्' (मुण्ड० ३।२।९) 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' (मुण्ड० ३।२।९) 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' (तैत्ति० २।१) इत्यादिश्रुतिभ्यः । ततोऽपि किमित्यत आह—**ब्रह्मण इति** । 'न जायते म्रियते वा विपश्चित्' (कठ० २।१८) इत्यादिश्रुतेः ब्रह्मणस्तावज्जन्म नास्ति, अत एव विद्वानपि स्वात्मनस्तद्रूपत्वावगमान्नैव जायते 'न स पुनरावर्तते' (कालाग्निरुद्रो०) इति श्रुतेरिति ।। ४३ ।।

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीभारतीतीर्थविद्यारण्यमुनिवर्यकिङ्करेण श्रीरामकृष्णाख्येन विदुषा विरचिता पञ्चकोशविवेकदीपिका समाप्ता ।। ३ ।।

एवमीशोपाधिं तत्स्वरूपं चाभिधाय जीवोपाध्यादिकमप्यधुनाऽभिधत्ते—**कोशेति**। उभयत्रापि दृष्टान्तं स्पष्टयति—**पितेति**। एतदुपलक्षणं जगतोऽपीति ॥ ४१ ॥

एवमध्यारोपमभिधायेदानीं सदृष्टान्तं तदपवादं स्पष्टयति—**पुत्रादेरिति**। एवं जीवेश्वराभावे तत्कल्पितयोर्द्वैतयोरपि जगत्पदवाच्ययोरभावः कल्पकाभावनान्तरीयकतयैव सिध्यतीत्याकूतम् ॥ ४२ ॥

नन्वादावुक्तेश्वरोपाधेः शक्तेर्जीवोपाधिभूतकोशपञ्चकस्य च विना बाधबुद्धिमविवक्षणमेव कथं स्यात्ततत्कल्पितयोराकाशादिलक्षणाहन्ताममतादिलक्षणयोर्द्वैतयोरभावस्तु दूरतोऽपास्त एवेति चेन्न। शक्तेस्तत्कार्यीभूतकोशपङ्क्तेस्तदुपहितजीवेश्वरतत्कल्पितद्वैतविततेश्चाऽऽत्मस्वरूपाद्वैतप्रमैकबाध्यत्वात्तदुपायस्य चोक्तकोशविवेचनादिलक्षणस्याधस्तादेवावेदितत्वाच्चेति सूचयन्फलकथनेनोपसंहरति—**य इति**। **तथा च श्रुतिः**—ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवतीति। गुहाग्रन्थिभ्यो विमुक्तोऽमृतो भवतीति ब्रह्मविदाप्नोति परमित्यादिश्च। न स भूयोऽभिजायत इत्यादिस्मृतिरपि विज्ञेया। एतेन यदुक्तमुपोद्घाते—

"निर्गुण आत्मा जगतः कर्ता भर्ता कथं नु संहर्ता
सम्भवति वा नियन्ता प्रतिबन्धोऽयं तृतीय ईशमितौ"

इति तत्पदार्थे तृतीयप्रतिबन्धकथनम् ॥

तथा—"प्रत्यक्षाद्यविरोधं वक्तुं कोशान्विवेचयद्ब्रह्म ॥
सम्भावयति तृतीये तदर्थभूतं गुहा" इत्यादि

इति कोशविवेकाख्यस्यास्य तृतीयप्रकरणस्य तद्बाधकत्वं च तद्युक्तमेव। तद्यथा-तत्र निर्गुणस्याप्यात्मनो जगदभिन्ननिमित्तोपादानत्वे गुहाहितं ब्रह्मेत्युपक्रमस्तथा य एवं ब्रह्म वेदैष इत्युपसंहारश्चेत्युभयैक्यमेकं लिंगं जगत्कारणत्वोपलक्षितब्रह्मण एव जीवस्वरूपत्वेन ज्ञानान्मोक्षदत्वात्। "बिम्बभूतो य आनन्द आत्माऽसौ सर्वदा स्थितः" इति।

"यस्मिन्यस्मिन्नास्ति लोके बोधस्तत्तदुपेक्षणे।
यद्बोधमात्रं तद्ब्रह्मेत्येवंधीर्ब्रह्मनिश्चयः"।

इत्यादिश्चाभ्यासः। "यदनीदृगतादृक्त्वं तत्स्वरूपं विनिश्चिनु" **इत्यपूर्वता**। "ब्रह्मणो नास्ति जन्मातः पुनरेव न जायते" इति **फलम्**। 'गुहा सेयं परम्परा' **इत्यर्थवादः**। 'माधुर्यादिस्वभावानाम्' इत्यादिः 'पिता पितामहश्चैकः पुत्रपौत्रौ यथा प्रति' इत्यादिश्चोपपत्तिः। एवं षोढा लिङ्गैर्निर्गुणमपि ब्रह्म जगत्कारणत्वोपलक्षितं स्वशक्त्या तद्बाधे जीवस्वरूपमद्वैतसच्चिदानन्दात्मकैवल्यरूपं सम्भवत्येवेति नात्र प्रमेयासम्भावनागन्धोऽपीति दिक् ॥ ४३ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमदद्वैतसच्चिदानन्देन्द्रसरस्वतीशिष्यश्रीमत्पदवाक्यप्रमाणक्षीरार्णवविहरणश्रीमदद्वैतविद्येन्दिरारमणषष्ट्युपनामकश्रीनारायणशास्त्रिचरणसरोजराजहंसायमानमानसमोडकोपनामकाच्युतशर्मणा विद्यार्थिना विरचितायां पूर्णानन्देन्दुकौमुद्यभिधायां पञ्चदशीटीकायां पञ्चकोशविवेकप्रकाशस्तृतीयःसम्पूर्णः ॥३॥

चतुर्थं द्वैतविवेकप्रकरणम्

ईश्वरेणापि जीवेन सृष्टं द्वैतं विविच्यते ।
विवेके सति जीवेन हेयो बन्धः स्फुटीभवेत् ॥ १ ॥

नत्वा श्रीभारतीतीर्थविद्यारण्यमुनीश्वरौ ।
मया द्वैतविवेकस्य क्रियते पदयोजना ॥ १ ॥

चिकीर्षितस्य ग्रन्थस्य निष्प्रत्यूहपरिपूरणाय अभिलषितदेवतातत्त्वानुस्मरणलक्षणं मङ्गलमाचरन् अस्य वेदान्तप्रकरणत्वाच्छास्त्रीयमेवानुबन्धचतुष्टयं सिद्धवत्कृत्य ग्रन्थारम्भं प्रतिजानीते—

ईश्वरेणेति । ईश्वरेण कारणोपाधिकेनान्तर्यामिणा जीवेनापि कार्योपाधिकेनाहंप्रत्ययिना च सृष्टमुत्पादितं द्वैतं जगद्विविच्यते विभज्य प्रदर्श्यते । अस्य द्वैतविवेचनस्य काकदन्तपरीक्षावन्निष्प्रयोजनत्वं वारयति—**विवेक इति ।** विवेके सति जीवेश्वरसृष्टयोर्द्वैतयोर्विवेचने कृते सति जीवेन पूर्वोक्तेन हेयः परित्याज्यो बन्धो बन्धहेतुर्द्वैतं स्फुटीभवेत् स्पष्टतां गच्छेत्, एतावज्जीवेन हेयमिति निश्चीयते इत्यर्थः ॥ १ ॥

अद्वैतानन्दसच्चिद्विभुविमलपरब्रह्मकूटस्थरूपं
मोहाद्द्वैतेन्द्रजालालयमपि तिलकं स्वप्रकाशं श्रुतीनाम् ।
सर्वानाचार्यवर्यान् रघुकुलतिलकं सद्गुरुं ब्रह्मनिष्ठं
श्रीमन्नारायणाख्यं स्वगुरुमपि महादेवसंज्ञं प्रणौमि ॥ १ ॥
मत्वा जीवंजीवान्विद्यारण्यं च भारतीतीर्थम् ॥
द्वैतविवेकं तुर्यप्रकाशतो द्योतयामि कौमुद्याः ॥ २ ॥

अथ भगवान्विद्यारण्याचार्यः पञ्चदश्याश्चतुर्थं प्रकरणं द्वैतविवेकाख्यं चिकीर्षुस्तद्विषयप्रयोजने कण्ठत एव प्रेक्षावत्प्रवृत्त्यर्थं कथयंस्तेन वास्तविकशास्त्रीये अपि ते ध्वनयन्नीश्वरस्मरणलक्षणं प्रसिद्धप्रमाणप्रयोजनं मंगलमप्याचरति– **ईश्वरेणेति ।** अयं भावः । अत्रेश्वरजीवाभ्यां सृष्टद्वैतविवेचननान्तरीयकतया तद्धर्मीभूतयोस्तयोस्तदनुकूले रूपे तथा वास्तवरूपे वक्तव्यं शुद्धतदैक्यलक्षणः शास्त्रस्य चतुर्लक्षण्याख्यस्य विषयस्तद्विषयकाविद्याध्वस्तिरूपमुक्त्यात्मकं प्रयोजनमपि वास्तवं स्यादिति ॥ १ ॥

मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम् ।
स मायी सृजतीत्याहुः श्वेताश्वतरशाखिनः ।। २ ।।

आत्मा वा इदमग्रेऽभूत्स ईक्षत सृजा इति ।
संकल्पेनासृजल्लोकान्स एतानिति बह्वृचाः ।। ३ ।।

नन्वदृष्टद्वारा जीवानामेव जगद्धेतुत्वं वादिनो वर्णयन्ति, अतः कथमीश्वरसृष्टत्वमुच्यते जगतः ? इत्याशङ्क्य, बहुश्रुतिविरोधान्नेदं चोद्यमुत्थापयितुमर्हति इत्यभिप्रेत्य, श्वेताश्वतरवाक्यं तावदर्थतः पठति—

मायां त्विति । मायोपाधिकमीश्वरं प्रस्तुत्य 'अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत्' (श्वे० ४।९) इति तस्यैवेश्वरस्य जगत्स्रष्टृत्वं श्वेताश्वतरशाखिनो वर्णयन्तीत्यर्थः ।। २ ।।

ऐतरेयोपनिषद्वाक्यमर्थतोऽनुसंक्रामति—

आत्मेति । 'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीन्नान्यत्किञ्चन मिषत्स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति स इमाँल्लोकानसृजत' (ऐत० १।१) इत्यनेन वाक्येनाद्वितीयस्य परमात्मन एव जगत्स्रष्टृत्वं बह्वृचा ऋक्शाखाध्यायिन आहुरित्यर्थः ।। ३ ।।

तत्रेश्वरसृष्टद्वैते चतुर्वेदशाखानामपि श्रुतीरीश्वरानङ्गीकर्तृस्तदङ्गीकारेऽपि जीवस्यैव कर्मद्वारा सर्जकत्वमङ्गीकर्तृन्प्रकारान्तरेण तस्य सर्जकत्वाङ्गीकर्तृन्माध्यमिककापिलादीन्बौद्धरामानुजादीनार्हततार्किकादींश्चार्थान्निराकरिष्यन्नर्थतः संग्रथयति —**मायां त्वित्याद्यष्टभिः** । एवं मायोपहितचैतन्यं प्रकृत्यं "अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत्" इति श्वेताश्वतरशाखिनो मानुषा आहुरित्यन्वयः ॥ २ ॥

आत्मेति । "आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीन्नान्यत्किञ्चनमिषत्स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति । स इमाँल्लोकानसृजत्" इत्यैतरेयोपनिषद्याम्नायते ॥ ३ ॥

खं वाय्वग्निजलोर्व्योषध्यन्नदेहाः क्रमादमी ।
संभूता ब्रह्मणस्तस्मादेतस्मादात्मनोऽखिलः ॥ ४ ॥
बहु स्यामहमेवातः प्रजायेयेति कामतः ।
तपस्तप्त्वाऽसृजत्सर्वं जगदित्याह तित्तिरिः ॥ ५ ॥
इदमग्रे सदेवासीद्बहुत्वाय तदैक्षत ।
तेजोऽबन्नाण्डजादीनि ससर्जेति च सामगाः ॥ ६ ॥

ईश्वरस्य जगत्कारणत्वे तैत्तिरीयश्रुतिरपि प्रमाणमित्यभिप्रेत्य तद्वाक्यमर्थतः पठति द्वाभ्याम्—

खमिति । 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तैत्ति० २।१।१) इत्युपक्रम्य, 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः' (तैत्ति० २।१।१) इत्यादिना 'अन्नात्पुरुषः' (तैत्ति० २।१।१) इत्यन्तेन वाक्येन गुहाहितत्वेन प्रत्यगभिन्नाद्ब्रह्मण आकाशादिदेहपर्यन्तं जगदुत्पन्नमित्यभिधायोपरिष्टादपि 'सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेयेति । स तपोऽतप्यत । स तपस्तप्त्वा इदं सर्वमसृजत यदिदं किञ्च' (तैत्ति० २।६) इति वाक्येन तस्यैव ब्रह्मणो जगत्सर्जनेच्छापूर्वकपर्यालोचनेन जगत्स्रष्टृत्वं तित्तिरिराहेत्यर्थः ॥ ४–५ ॥

छान्दोग्येऽपि ब्रह्मण एव जगत्स्रष्टृत्वं श्रुतमित्याह—

इदमिति । 'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' (छा० ६।२।१) इति सद्रूपमद्वितीयं ब्रह्मोपक्रम्य 'तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति । तत्तेजोऽसृजत' (छा० ६।२।३) इत्यादिना तस्यैवेक्षणपूर्वकं तेजोऽबन्नस्रष्टृत्वमभिधाय 'तेषां खल्वेषां भूतानां त्रीण्येव बीजानि भवन्त्यण्डजं जीवजमुद्भिज्जम्' (छा० २।३।१) इत्यादिना अण्डजादिशरीरनिर्मातृत्वं च सामगा वर्णयन्तीत्यर्थः ॥ ६ ॥

खेति । "तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः" इत्यादि ॥ ४ ॥

बहु स्यामिति । "सोऽकामयत । बहु स्यां प्रजायेयेति । स तपो तप्यत । स तपस्तप्त्वा । इदं सर्वमसृजत । यदिदं किञ्च" इति तैत्तिरीयोपनिषद्यप्याम्नायत इत्यर्थः । तपोऽत्र सृज्यमानजगद्विषयकं जीवकर्माद्यालोचनमेव । यस्य ज्ञानमयं तप इति श्रुत्यन्तरादित्याशयः ॥ ५ ॥

इदमग्र इति । "सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्" इत्युपक्रम्य "तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति तत्तेजोऽसृजत" इत्यादिना तेजोबन्नाण्डजादीनि ससर्जेति छान्दोग्य आम्नायत इत्यर्थः ॥ ६ ॥

विस्फुलिङ्गा यथा वह्नेर्जायन्तेऽक्षरतस्तथा ।
विविधाश्चिज्जडा भावा इत्याथर्वणिका श्रुतिः ।। ७ ।।
जगदव्याकृतं पूर्वमासीद्व्याक्रियताऽधुना ।
दृश्याभ्यां नामरूपाभ्यां विराडादिषु ते स्फुटे ।। ८ ।।
विराण्मनुर्नरा गावः खराश्वाजावयस्तथा ।
पिपीलिकावधिद्वन्द्वमिति वाजसनेयिनः ।। ९ ।।

मुण्डकोपनिषद्यपि 'तदेतत्सत्यं यथा सुदीप्तात्पावकाद्विस्फुलिङ्गाः सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः । तथाऽक्षराद्विविधाः सोम्य भावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापियन्ति' (मुण्ड० २।१।१) इति 'अक्षर'शब्दवाच्याद्ब्रह्मणो जगदुत्पत्तिः श्रूयत इत्याह–

विस्फुलिङ्गा इति ।। ७ ।।

एवं बृहदारण्यकेऽप्यव्याकृतशब्दवाच्याद्ब्रह्मणो नामरूपात्मकं जगदुत्पन्नमिति श्रुतमित्याह द्वाभ्याम्—

जगदिति । 'तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत्तन्नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियतासौनामायमिदंरूपः' (बृ० १।४।७) इति वाक्येन सृष्टेः पुरा स्पष्टनामरूपत्वेनाव्याकृतशब्दवाच्यान्मायोपाधिकाद्ब्रह्मणो नामरूपस्पष्टीकरणलक्षणा सृष्टिरुक्ता, तयोर्नामरूपयोर्विराडादिषु स्थूलकार्येषु स्पष्टता च 'तदिदमप्येतर्हि नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियतेऽसौनामायमिदंरूप' (बृ० १।४।७) इति वाक्येनाभिहिता, ते च विराडादयः 'आत्मैवेदमग्र आसीत्पुरुषविधः' (बृ० १।४।१) इत्यादिना 'एवमेव यदिदं किञ्च मिथुनमापिपीलिकाभ्यस्तत्सर्वमसृजत' (बृ० १।४।४) इत्यनेन दर्शिता इत्यर्थः ।। ८–९ ।।

विस्फुलिङ्गा इति । "यथा सुदीप्तात्पावकाद्विस्फुलिङ्गाः सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः । तथाऽक्षराद्विविधाः सोम्य भावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापियन्ति" **इत्यथर्वणमुण्डकोपनिषदि** श्रूयते ॥ ७ ॥

जगदिति । "तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत्तन्नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियतासौनामाऽयमिदं रूपः" इति **बृहदारण्यके पठ्यते** ॥ ८ ॥

विराडिति । "आत्मैवेदमग्र आसीत्पुरुषविधः" इत्यादिना "एवमेव यदिदं किञ्च मिथुनमा पिपीलिकाभ्यस्तत्सर्वमसृजत" **इत्यन्तेन तत्रैव दर्शितमिति यावत्** ॥ ९ ॥

कृत्वा रूपान्तरं जैवं देहे प्राविशदीश्वरः ।
इति ताः श्रुतयः प्राहुर्जीवत्वं प्राणधारणात् ।। १० ।।

चैतन्यं यदधिष्ठानं लिङ्गदेहश्च यः पुनः ।
चिच्छाया लिङ्गदेहस्था तत्सङ्घो जीव उच्यते ।। ११ ।।

उदाहृताभिः श्रुतिभिः द्वैतसृष्टयभिधानानन्तरं ब्रह्मणो जीवरूपेण तत्र प्रवेशोऽप्यभिहित इत्याह--

कृत्वेति । श्रुतयः जैवं जीवसम्बन्धिरूपान्तरं अविक्रियब्रह्मणो विलक्षणं विकारिरूपमित्यर्थः । देहे देहजाते जीवत्वं कुत इत्यत आह—**जीवत्वमिति** । प्राणादीनां स्वामित्वेन प्रेरकत्वं प्राणधारणं तस्माज्जैवं रूपं कृत्वा प्राविशदित्युक्तम् ।। १० ।।

किं तदित्यपेक्षायामाह—

चैतन्यमिति । यदधिष्ठानं लिङ्गदेहकल्पनाधारभूतं यच्चैतन्यमस्ति, यश्च तत्र कल्पितो लिङ्गदेहः, यश्च तस्मिन् लिङ्गदेहे वर्तमानश्चिदाभासस्तत्सङ्घः, तेषां त्रयाणां समूहो 'जीव'शब्देनोच्यत इत्यर्थः ।। ११ ।।

एवं "स एतमेव सीमानं विदार्यैतया द्वारा प्रापद्यतेति" "तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्" इति । "अनेनैव जीवेनाऽऽत्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरोत्" इति च क्रमात्प्रसिद्धैर्गादिश्रुतिभिर्जीवसम्बन्धितापन्ननिजरूपेण निरुक्तविराडादिदेहे प्रवेशोऽप्युक्त इत्याह—**कृत्वेति** । नन्वीशस्यापि जीवत्वं कुत इत्यत्राऽऽह—**जीवत्वमिति** । प्राणोपलक्षितलिङ्गशरीरतादात्म्याध्यासादित्यर्थः । एवं च "जीव प्राणधारण" इति धातुरपि संगच्छते ।।१०।।

तदेव विवृणोति—**चैतन्यमिति** । छाया प्रतिबिम्बः ।। ११ ।।

माहेश्वरी तु माया या तस्या निर्माणशक्तिवत् ।
विद्यते मोहशक्तिश्च तं जीवं मोहयत्यसौ ॥ १२ ॥
मोहादनीशतां प्राप्य मग्नो वपुषि शोचति ।
ईशसृष्टमिदं द्वैतं सर्वमुक्तं समासतः ॥ १३ ॥
सप्तान्नब्राह्मणे द्वैतं जीवसृष्टं प्रपञ्चितम् ।
अन्नानि सप्त ज्ञानेन कर्मणाऽजनयत्पिता ॥ १४ ॥

नन्वीश्वरस्यैव जीवरूपेण प्रविष्टत्वे तस्याज्ञत्वदुःखित्वादिविरुद्धधर्मवत्त्वं कुत इत्याशङ्क्याह—

माहेश्वरी त्विति । माहेश्वरी 'मायिनं तु महेश्वरम्' (श्वे० ४।१०) इति श्रुत्युक्ता महेश्वरसंबन्धिनी या मायाऽस्ति, तस्या निर्माणशक्तिवज्जगत्सर्जनसामर्थ्यवन्मोहशक्तिश्च मोहनसामर्थ्यमप्यस्ति; 'तदेतज्जडं मोहात्मकम्' (नृ० उ० ता० ९) इति श्रुतेः। ततः किमित्यत आह—**तं जीवमिति** । असौ मोहनशक्तिस्तं पूर्वोक्तं जीवं मोहयति चिदानन्दादिस्वरूपज्ञानरहितं करोति ॥ १२ ॥

ततोऽपि किमित्यत आह—

मोहादिति । मोहात्पूर्वोक्तादनीशतामिष्टानिष्टप्राप्तिपरिहारयोरसामर्थ्यं प्राप्य वपुषि निमग्नः शरीरे तादात्म्याभिमानं गतः शोचति दुःखित्वाद्यभिमानं करोति । 'समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः' (श्वे० ७, मुं० ३।१।२) इति श्रुतेरित्यर्थः । वक्ष्यमाणसाङ्कर्यपरिहाराय वृत्तं निगमयति—**ईशेति** । समासतः, संक्षेपेणेत्यर्थः ॥ १३ ॥

ननु जीवस्य द्वैतस्रष्टृत्वे किं मानमित्याशङ्क्याह—

सप्तान्नेति । कथं तत्र प्रपञ्चितमित्याशङ्क्य 'सप्तान्न'शब्दवाच्यद्वैतसृष्टिप्रतिपादकं 'यत्सप्तान्नानि मेधया तपसाऽजनयत्पिता' (बृ० १।५।१) इति वाक्यमर्थतः संगृह्णाति—**अन्नानीति** । पिता स्वादृष्टद्वारा जगदुत्पादनेन सर्वलोकपालको जीव इत्यर्थः ॥ १४ ॥

नन्वथाप्यस्याज्ञत्वं कुत इत्यत आह—**माहेश्वरी त्विति** ॥ १२ ॥
अत एव **मोहादिति** । मग्नस्तादात्म्यवान् । उपसंहरति—**ईशेति** ॥ १३ ॥
एवमीश्वरसृष्टद्वैतं प्रतिज्ञाततद्विवेकार्थमुपपाद्यावसरप्राप्तं जीवद्वैतं वक्तुं तन्नि-

मर्त्यान्नमेकं देवान्ने द्वे पश्वन्नं चतुर्थकम् ।
अन्यत्त्रितयमात्मार्थमन्नानां विनियोजनम् ।। १५ ।।

व्रीह्यादिकं दर्शपूर्णमासौ क्षीरं तथा मनः ।
वाक् प्राणश्चेति सप्तत्वमन्नानामवगम्यताम् ।। १६ ।।

नन्वन्नसप्तकसर्जनं किमर्थमित्याशङ्क्य, तद्विनियोगोऽपि 'एकमस्य साधारणं द्वे देवानभाजयत् त्रीण्यात्मनेऽकुरुत पशुभ्य एकं प्रायच्छन्' (बृ० १।५।१) इति वाक्येनोक्त इत्याह—

मर्त्यान्नमिति । विनियोजनमुक्तमिति शेषः ।। १५ ।।

तानि च सप्तान्नानि 'एकमस्य साधारणमितीदमेवास्य तत्साधारणमन्नं यदिदमद्यते' (बृ० १।५।२) इत्यादिना 'अयमात्मा वाङ्मयो मनोमयः प्राणमयः' (बृ० १।५।३) इत्यन्तेन वाक्यसंदर्भेणेषदूनकण्डिकाद्वयरूपेण दर्शितानीत्याह

व्रीह्यादिकमिति ।। १६ ।।

मूलत्वशङ्कां शमयति—**सप्तान्नेति** । बार्हदारण्यक इत्यर्थः । तत्प्रकारं कथयंस्तद्वाक्यमेवार्थतः संग्रथयति—**अन्नानीति** । तथा च **बृहदारण्यक** आम्नायते "यत्सप्तान्नानि मेधया तपसाऽजनयत्पिता" इति । पिता स्वादृष्टद्वारा वक्ष्यमाणान्नसप्तकोत्पादकः समष्टिजीव इत्यर्थः ।। १४ ।।

अथ तत्प्रयोजनं तद्विभागं चाऽऽह—**मर्त्यान्नमिति** । काण्वाः समामनन्ति "एकमस्य साधारणं द्वे देवानभाजयत्त्रीण्यात्मनेऽकुरुत पशुभ्य एकं प्रायच्छत्" इति ।। १५ ।।

किंरूपाणि तानीत्यपेक्षायामेकमस्य साधारणमित्यारभ्य मनोमयः प्राणमय इति तृतीयकण्डिकान्तेन **बृहदारण्यक** एव तृतीये प्रपाठके पञ्चमब्राह्मणे प्रपञ्चितं तद्रूपं संक्षिपति—**व्रीह्यादिकमिति** । एवं च व्रीह्यादिकं मर्त्यानां दर्शपूर्णमासौ देवानां क्षीरं पशूनां वाङ्मनःप्राणा जीवस्य चेत्यन्नसप्तकविभागः सिद्धः ।। १६ ।।

ईशेन यद्यप्येतानि निर्मितानि स्वरूपतः ।
तथापि ज्ञानकर्मभ्यां जीवोऽकार्षीत्तदन्नताम् ।। १७ ।।
ईशकार्यं जीवभोग्यं जगद्द्वाभ्यां समन्वितम् ।
पितृजन्या भर्तृयोग्या यथा योषित्तथेष्यताम् ।। १८ ।।
मायावृत्त्यात्मको ह्यीशसंकल्पः साधनं जनौ ।
मनोवृत्त्यात्मको जीवसंकल्पो भोगसाधनम् ।। १९ ।।

ननूक्तसप्तान्नानां जगदन्तःपातित्वेन ईश्वरनिर्मितत्वात् जीवनिर्मितत्वाभिधानमयुक्तमित्याशङ्क्य, तत्स्वरूपस्येश्वरनिर्मितत्वेऽपि भोग्यत्वाकारस्य जीवनिर्मितत्वान्नैवमित्याह—

ईशेनेति । ज्ञानकर्मभ्यां ज्ञानं विहितं प्रतिषिद्धं च देवतापरयोषिदादिविषयध्यानं कर्म च विहितं यज्ञादिरूपं, प्रतिषिद्धं हिंसादिरूपं ताभ्यामित्यर्थः । तदन्नतां तेषां व्रीह्यादिप्राणान्तानां स्वभोगोपकरणत्वमित्यर्थः ।। १७ ।।

किमुक्तं भवतीति तत्राह—

ईशकार्यमिति । जगत्सप्तान्नत्वेन उक्तं व्रीह्यादिरूपं ईशकार्यत्वेन जीवभोग्यत्वेन च द्वाभ्यां संबद्धमित्यर्थः । एकस्योभयसंबन्धे दृष्टान्तमाह—**पितृजन्येति** ।। १८ ।।

ईशजीवयोर्जगत्सर्जने किं साधनमित्यत आह—

मायेति ।। १९ ।।

ननु सप्तानामप्येतेषां जगदन्तःपातित्वेन प्रागुक्तश्रुतिरीत्येशसृष्टत्वमेवेष्टव्यमिति चेत्सत्यम् । तथापि "तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते पूर्वप्रज्ञा चे"ति श्रुतेर्ज्ञानकर्मभ्यां जीवेनापि तेषामात्मभोगार्थं सृष्टत्वमस्त्येव तदुपभोक्तृत्वादित्याह— **ईशेनेति** ।। १७ ।।

नन्वेकेन वस्तु निर्मातव्यमपरेण तद्भोक्तव्यमित्ययुक्तमित्याशङ्क्य तथैव सम्भवान्नैवमित्याह— **ईशेनेति** । ईशस्य जीवीयकर्मादिफलदातृत्वेन जगन्निर्मातृत्वेऽपि पूर्णकामत्वादभोक्तृत्वं जीवस्य तु कर्मादिना तत्सम्पादकत्वात्तद्भोक्तृत्वं युक्तमेवेति भावः । तत्र निदर्शनम् । **पित्रिति** ।। १८ ।।

नन्वीशजीवयोः क्रमात्कर्मफलदानार्थं स्वोपभोगार्थं च जगत्सृजतोस्तत्र किं साधनमित्यपेक्षायां तदाह—**मायेति** ।। १९ ।।

ईशनिर्मितमण्यादौ वस्तुन्येकविधे स्थिते ।
भोक्तृधीवृत्तिनानात्वात्तद्भोगो बहुधेष्यते ।। २० ।।
हृष्यत्येको मणिं लब्ध्वा क्रुध्यत्यन्यो ह्यलाभतः ।
पश्यत्येव विरक्तोऽत्र न हृष्यति न कुप्यति ।। २१ ।।
प्रियोऽप्रिय उपेक्ष्यश्चेत्याकारा मणिगास्त्रयः ।
सृष्टा जीवैरीशसृष्टं रूपं साधारणं त्रिषु ।। २२ ।।

नन्वीशसृष्टवस्तुस्वरूपातिरिक्तो भोग्यत्वाकार एव नास्ति, को जीवेन सृज्यते इत्याशङ्क्याह—

ईशनिर्मितेति । एकस्मिन्नेव विषये बहुविधोपभोग उपलभ्यमानस्तत्प्रयोजकं भोग्याकारभेदं गमयतीत्यर्थः ।। २० ।।

ननु सति भोगभेदे भोग्यभेदः कल्प्येत, स एव नास्तीत्याशङ्क्य, दृश्यमानत्वान्मैवमित्याह—

हृष्यतीति । एको मण्यर्थी तं लब्ध्वा हृष्यति, अन्यस्तथाविधस्तदलाभात् क्रुध्यति । अत्र मणौ विषये विरक्तस्तु तं मणिं पश्यत्येव, लाभालाभनिमित्तौ हर्षक्रोधौ न प्राप्नोतीत्यर्थः ।। २१ ।।

के ते भोगभेदोपरक्ता जीवसृष्टा आकारभेदा इत्यत आह—

प्रिय इति । मणिनिष्ठाः प्रियत्वाप्रियत्वोपेक्ष्यत्वलक्षणा आकारभेदा जीवैः सृष्टाः, त्रिष्वपि साधारणमनुस्यूतं यन्मणिरूपं तदीश्वरनिर्मितमित्यर्थः २२ ।।

ननु यदि जीवसृष्टः कश्चिदीश्वरसृष्टवस्तुस्वरूपातिरिक्तः स्याच्चेद्भोग्य आकारस्तदा घटेतापि तत्र जीवस्रष्टृत्वकल्पना तमेव तु न पश्याम इत्याशङ्क्य तं प्रदर्शयति—**ईशेति** ॥ २० ॥

कथं भोगबहुत्वमित्यत आह—**हृष्यतीति** । एतेन रजस्तमःसत्त्वात्मकान्यासुरराक्षसदेवप्रकृतिकार्याणि द्योत्यन्ते ॥ २१ ॥

ननु भवतु लाभादिजन्यो हर्षादिकार्यभेदस्तथाऽपि वस्तुभेदस्तु नैवेति चेददृष्टत्वान्मैवमित्याह—**प्रिय इति** ॥ २२ ॥

भार्या स्नुषा ननान्दा च याता मातेत्यनेकधा ।
प्रतियोगिधिया योषिद्भिद्यते न स्वरूपतः ।। २३ ।।

ननु ज्ञानानि भिद्यन्तामाकारस्तु न भिद्यते ।
योषिद्वपुष्यतिशयो न दृष्टो जीवनिर्मितः ।। २४ ।।

मैवं मांसमयी योषित् काचिदन्या मनोमयी ।
मांसमय्या अभेदेऽपि भिद्यते हि मनोमयी ।। २५ ।।

भ्रान्तिस्वप्नमनोराज्यस्मृतिष्वस्तु मनोमयम् ।
जाग्रन्मानेन मेयस्य न मनोमयतेति चेत् ।। २६ ।।

उक्तं जीवसृष्टाकारभेदमुदाहरणान्तरेण स्पष्टयति—

भार्येति । ननान्दा भर्तृभगिनी, याता देवरपत्नी, प्रतियोगिधिया भर्तृश्वशुरादिलक्षणप्रतियोगिगोचरया बुद्ध्या, तत्तदपेक्षयेत्यर्थः ।। २३ ।।

ननु योषिद्विषयाणि भार्यास्नुषेत्यादिज्ञानान्येव भिन्नान्युपलभ्यन्ते, न तु तद्विषयभूताया योषितः स्वरूपे भेदो दृश्यते, अतः 'प्रतियोगिधिया योषिद्भिद्यते' (प्र० ४।२३) इत्युक्तमयुक्तमिति शङ्कते—

नन्विति ।। २४ ।।

ज्ञानवैलक्षण्यस्य ज्ञेयवैलक्षण्याविनाभूतत्वात् ज्ञेयाकारभेदोऽङ्गीकर्तव्य एवेत्याशयेन परिहरति—

मैवमिति ।। २५ ।।

ननु भ्रान्त्यादिस्थले बाह्यविषयाभावात् तत्रत्यं वस्तु मनोमयमस्तु, प्रमितिस्थले तु तदनुपपन्नं; बाह्यवस्तुनः सत्त्वादिति शङ्कते—

भ्रान्तीति । मानेन प्रत्यक्षादिप्रमाणेन, मेयस्य प्रमेयस्येत्यर्थः ।। २६ ।।

तद्दार्ढ्यार्थमुदाहरणान्तरमाह—**भार्येति** । ननान्दा भर्तृभगिनी । याता देवरपत्नी ।। २३ ।।

पुनः शङ्कते—**नन्विति** ।। २४ ।।

समाधत्ते—**मैवमिति** । तत्र हेतुः—**मांसेत्यादिना** । काचिदन्येति मनोमयीत्यत्रापि काकाक्षिगोलकन्यायेन सम्बध्यते । ततः किं तत्राऽऽह—**मांसेति** । **हिर्हेतौ** । अन्यथा भार्यादिशब्दज्ञानव्यवहाराणां भेदो नैव स्यात्तदेवं तत्तज्जीवदृष्टिकल्पिताऽन्या मनोमयी योषिद्भिन्नैव बहुविधात्ववश्यमेवोररीकार्येति तात्पर्यम् ।। २५ ।।

पुनरपि शङ्कते—**भ्रान्तीति** । **जाग्रदिति** । जाग्रत्कालिकव्यावहारिकप्रत्यक्षादिप्रमाणेनेत्यर्थः ।। २६ ।।

बाढं माने तु मेयेन योगात्स्याद्विषयाकृतिः ।
भाष्यवार्तिककाराभ्यामयमर्थं उदीरितः ॥ २७ ॥

मूषासिक्तं यथा ताम्रं तन्निभं जायते तथा ।
रूपादीन्व्याप्नुवच्चित्तं तन्निभं दृश्यते ध्रुवम् ॥ २८ ॥

प्रमितिस्थले बाह्यं विषयसत्त्वमङ्गीकरोति—

बाढमिति । कथं तर्हि तद्विषयस्य मनोमयत्वमुच्यत इत्यत आह—**माने त्विति** । माने विषयाकृतिस्तु तस्य मेयेन योगात्संबन्धात्स्यात् । नन्विदं स्वकपोलकल्पितमित्याशङ्क्याह—**भाष्येति** ॥ २७ ॥

तत्र तावद्भाष्यकारवचनमुदाहरति—

मूषेति । यथा द्रुतं ताम्रं मूषायां सिक्तं सत् तन्निभं जायते तत्समानाकारवद्भवति, तथा रूपादीन्विषयान् व्याप्नुवद्विषयीकुर्वंच्चित्तं ध्रुवमवश्यं तन्निभं दृश्यते, उपलभ्यत इत्यर्थः ॥ २८ ॥

व्यावहारिकप्रमाणप्रमेयेऽपि मनोमयमन्यद्वस्तु प्रमित्याख्यं वर्तत एव अन्यथाऽन्तःकरणवृत्त्यवच्छिन्नचैतन्यस्याऽऽलोकानुगृहीतचक्षुर्द्वारा घटपर्यन्तमागतत्वेन प्रमाणपदवाच्यस्य प्रमेयपदवाच्या ज्ञातघटावच्छिन्नचैतन्याकारतारूपप्रमितिमन्तरा तद्विषयकारणरूपमज्ञानमेव देहव्याप्यन्तःकरणभागावच्छिन्नप्रमा आश्रितं नैव नश्येदित्याशयेन समाधत्ते—**बाढमिति** । बुद्धिरिति शेषः । ननु भ्रान्त्यादिषु बाह्यविषयाभावादस्तु मनोमयो विषयः प्रमाणसिद्धबाह्यविषयसत्त्वेऽपि पुनर्मनोमयविषयाङ्गीकरणं प्रौढीवादमात्रत्वेनासाम्प्रदायिकमेवेत्याशङ्कां शमयति—**भाष्येति** ॥ २७ ॥

तत्रादावुपदेशसाहस्रीस्थं श्रीमद्भाष्यकारवाक्यद्वयमुदाहरति—**मूषेत्यादिना** । मूषा हि धातुमूर्त्यादिरचनार्थं कृतमधूच्छिष्टाकारोपरिसंलेपितमृत्तिकानिर्मितयन्त्रविशेषः प्रसिद्ध एव तत्र सिक्तं निषेचितमेतादृशं ताम्रम् । उपलक्षणमिदं सुवर्णादेः । तद्धि परमप्रज्वलत्पावकसम्पर्काद्द्रवीभूतं सदुक्तमूषाख्यकठिनद्रव्यसंयोगाद्यथा तन्निभं ध्रुवं तदाकारमेव जायते तथा चित्तमपि रूपादीन्विषयान्व्याप्नुवत्सत्तन्निभं ध्रुवं तदाकारमेव दृश्यत इत्यन्वयः ॥ २८ ॥

व्यञ्जको वा यथाऽऽलोको व्यङ्ग्यस्याकारतामियात् ।
सर्वार्थव्यञ्जकत्वाद्धीरर्थाकारा प्रदृश्यते ॥ २९ ॥
मातुर्मानाभिनिष्पत्तिर्निष्पन्नं मेयमेति तत् ।
मेयाभिसङ्गतं तच्च मेयाभत्वं प्रपद्यते ॥ ३० ॥

ननु ताम्रादेरग्निसम्पर्काद्द्रुतस्य मूषानिषिक्तस्य कठिनमूषाभिघातेन शैत्यापत्तौ मूषाकारापत्तावपि बुद्धेरमूर्तायास्ताम्रादिविलक्षणाया विषयव्याप्तावपि कुतस्तदाकारापत्तिरित्याशङ्क्य, दृष्टान्तान्तरमाह—

व्यञ्जक इति । यथा वा व्यञ्जकः प्रकाशक आलोक आतपादिव्यंङ्ग्यस्य प्रकाश्यस्य घटादेराकारतामाकारवत्तामियात्प्राप्नुयात्, एवं धीरपि सर्वार्थस्य व्यञ्जकत्वात् सकलपदार्थप्रकाशकत्वात् अर्थाकारा अर्थस्याकार इव आकारो यस्याः सा तथा प्रदृश्यते, प्रकर्षेणोपलभ्यत इत्यर्थः ॥ २९ ॥

इदानीं **वार्तिककारवचनमाह—**

मातुरिति । मातुः साधिष्ठानबुद्धिस्थचिदाभासरूपात्प्रमातुः मानाभिनिष्पत्तिः मानस्य साभासान्तःकरणवृत्तिरूपस्य अभिनिष्पत्तिरुत्पत्तिः भवतीति शेषः । निष्पन्नमुत्पन्नं तन्माने मेयं घटादिरूपमेति प्राप्नोति । किञ्च, तन्मानं मेयाभिसंगतं प्रमेयेण संबद्धं सन्मेयाभत्वं मेयस्याभेवाभा यस्य तन्मेयाभं तस्य भावस्तत्त्वं मेयसमानाकारतां प्रपद्यते, प्राप्नोतीत्यर्थः ॥३०॥

ननु मूर्तस्य ताम्रादेर्मूषाकारत्वसम्भवेऽप्यमूर्तस्य चित्तस्य तदनुचितमेवेत्यस्वरसाद्दृष्टान्तरं स्पष्टयति—**व्यञ्जको वेति ।** व्यञ्जको द्योतकः । आलोक इति च्छेदः व्यङ्ग्यस्य द्योत्यस्य ॥ २९ ॥

एवं वार्तिकमप्युदाहरति—**मातुरिति ।** प्रमातुः सकाशादित्यर्थः । **मानेति ।** प्रागुक्तप्रमाणोत्पत्तिर्भवतीति सम्बन्धः । ततः किं तत्राऽऽह—**निष्पन्नमित्यादिना ।** तदुक्तलक्षणं प्रमेयं प्रत्येत्यागच्छतीत्यर्थः । ततोऽपि किं तदाह—**मेयेत्यादि** ॥ ३० ॥

सत्येवं विषयौ द्वौ स्तो घटौ मृन्मयधीमयौ ।
मृन्मयो मानमेयः स्यात् साक्षिभास्यस्तु धीमयः ।। ३१ ।।
अन्वयव्यतिरेकाभ्यां धीमयो जीवबन्धकृत् ।
सत्यस्मिन् सुखदुःखे स्तस्तस्मिन्नसति न द्वयम् ।। ३२ ।।

भवत्वेवं, प्रकृते किमायातमित्यत आह—

सत्येवमिति । ननु मृन्मयघटस्येव मनोमयघटस्य तेनैव मनसा ग्रहीतुमशक्यत्वात् ग्राहकान्तराभावाच्चासिद्धिरेव इत्याशङ्क्य, ग्राहकान्तराभावोऽसिद्ध इत्याह—**मृन्मय इति** । यथा मृन्मयो मानमेयः, तथा धीमयः साक्षिभास्य इत्यर्थः ।। ३१ ।।

भवत्वेवं द्विविधं द्वैतम्, अत्र कस्य हेयत्वं, कस्य वा नेति न ज्ञायते इत्याशङ्क्य, जीवसृष्टस्यैव हेयत्वमित्यभिप्रेत्य तस्य बन्धहेतुत्वं दर्शयति—

अन्वयेति । अन्वयव्यतिरेकावेव दर्शयति—**सत्यस्मिन्निति** । अस्मिञ्जीवसृष्टे मानसप्रपञ्चे सति विद्यमाने सुखदुःखे स्तो भवतः, असति तु तस्मिन्न द्वयम्, सुखं दुःखं च नास्तीत्यर्थः ।। ३२ ।।

फलितमाह—**सत्येवमिति**। अपरं तु ऋज्वेव ।। ३१ ।।

ननु भवत्वेवं धीमयविषयस्य भ्रान्त्यादिवन्मनोमयत्वात्साक्षिभास्यत्वमथापि प्रकृत इत्यत आह—**अन्वयेति**। धीमयविषयसत्त्वे जाग्रत्स्वप्नयोर्बन्धसत्त्वं तदभावे समाधिसुप्त्योर्बन्धाभाव इति प्रसिद्धावेव ताविति भावः। न"न्वविद्यास्तमयो मोक्षः सा च बन्ध उदाहृत" इति श्रीमद्वार्तिकाचार्यचरणवचनात्सुप्त्यादावपि मूलाविद्यासत्त्वे बन्धसत्त्वमेवैतदभावे तु जाग्रदादावपि बन्धाभाव एवेत्युक्तान्वयव्यतिरेकावयुक्तावेवेति चेत्सत्यम्। वास्तविकतथात्वेऽपि मूलाविद्याध्वंसोत्तरमपि सुखदुःखप्रदमनोमयविषयविलयस्यैव बन्धाभावत्वेन विवक्षितत्वात्। जीवन्मुक्तेः परा काष्ठा जीवद्वैतविवर्जनादित्यन्ते तथैव वक्ष्यमाणत्वात्तदभावे त्वविद्याध्वंसोत्तरमपि जीवन्मुक्त्यभावाच्चेत्याशयेनाऽऽह—**सत्यस्मिन्निति** ।। ३२ ।।

असत्यपि च बाह्यार्थे स्वप्नादौ बध्यते नरः ।
समाधिसुप्तिमूर्च्छासु सत्यप्यस्मिन्न बध्यते ।। ३३ ।।
दूरदेशं गते पुत्रे जीवत्येवात्र तत्पिता ।
विप्रलम्भकवाक्येन मृतं मत्वा प्ररोदिति ।। ३४ ।।
मृतेऽपि तस्मिन्वार्तायामश्रुतायां न रोदिति ।
अतः सर्वस्य जीवस्य बन्धकृन्मानसं जगत् ।। ३५ ।।

ननूक्तावन्वयव्यतिरेकौ बाह्यार्थविषयौ किं न स्यातामित्यत आह—

असतीति । नरो मनुष्यः, एतदुपलक्षणमन्येषामपि । स्वप्नादौ स्वप्नस्मृत्यादिकाले बाह्यार्थेऽनुकूले योषिदादौ, प्रतिकूले व्याघ्रादौ च पारमार्थिके विषयेऽसत्यापि अविद्यमानेऽपि बध्यते सुखदुःखाभ्यां युज्यते, समाध्यादिषु तु अस्मिन्बाह्यार्थे सत्यपि न बध्यते, न सुखदुःखादिभाग् भवति; अतस्तद्विषयावन्वयव्यतिरेकौ न स्त इत्यर्थः ।। ३३ ।।

मनोमयप्रपञ्चस्य बन्धकत्वेनान्वयव्यतिरेकावुदाहरणेन स्पष्टयति—

दूरदेशमिति । देशान्तरं प्राप्ते पुत्रे तत्र जीवत्येव सति अत्र स्वगृहे स्थितः तस्य पिता विप्रलम्भकस्य मिथ्यावचनैः परवञ्चकस्य 'त्वत्पुत्रो मृतः' इत्येवंरूपेण वाक्येन स्वपुत्रं मृतं कल्पयित्वा प्रकर्षेण रोदनं करोति ।। ३४ ।।

तस्मिन्नेव पुत्रे तत्रैव मृतेऽपि तन्मृतिवार्तायामश्रुतायां सत्यां न रोदनं करोति । फलितमाह—**अत इति** ।। ३५ ।।

नन्वेवमपि भवतु बाह्यार्थस्यैव भवतः सुखादिप्रदत्वं किमन्तरेण धीमयेन तेनेत्यत आह—**असत्यपि चेति** । बध्यते सुखादि मनुत इत्यर्थः ।। ३३ ।।

तदेवान्वयव्यतिरेकाभ्यामनुभावयति—**दूरदेशमित्यादिद्वाभ्याम्** । विप्रलम्भको वञ्चकः ।। ३४ ।।

मृतेऽपीति । फलितमाह—**अत इति** ।। ३५ ।।

विज्ञानवादो बाह्यार्थवैयर्थ्यात्स्यादिहेति चेत् ।
न ह्याकारमाधातुं बाह्यस्यापेक्षितत्वतः ।। ३६ ।।
वैयर्थ्यमस्तु वा बाह्यं न वारयितुमीश्महे ।
प्रयोजनमपेक्षन्ते न मानानीति हि स्थितिः ।। ३७ ।।
बन्धश्चेन्मानसद्वैतं तन्निरोधेन शाम्यति ।
अभ्यसेद्योगमेवातो ब्रह्मज्ञानेन किं वद ।। ३८ ।।

धीमयस्यैव जगतो बन्धहेतुत्वाङ्गीकारे बाह्यार्थापलापादपसिद्धान्तापातः स्यादिति शङ्कते—

विज्ञानेति । परिहरति—नेति । यद्यपि मानसप्रपञ्चस्यैव बन्धहेतुत्व, तथापि तद्धेतुत्वेन बाह्यार्थस्यापि स्वीकारान्न विज्ञानवादप्रसङ्ग इति भावः ।। ३६ ।।

ननु न ह्याकारसमर्पणाय बाह्यपदार्थोऽपेक्षणीयः; पूर्वपूर्वमानसप्रपञ्चसंस्कारस्यैवोत्तरोत्तरमानसप्रपञ्चहेतुत्वोपपत्तेरित्याशङ्क्य, प्रौढवादेन तदङ्गीकरोति—

वैयर्थ्यमिति । तर्हि विज्ञानवादात्को भेद इत्यत आह—**बाह्यमिति** । विज्ञानवादिनो बाह्यार्थमेवापलपन्ति, वयं न तथेत्ययमेव भेद इत्यर्थः । प्रयोजनशून्यत्वादभ्युपगमोऽप्ययुक्त एवेत्याशङ्क्याह—**प्रयोजनमिति** । मानाधीना वस्तुसिद्धिः, न प्रयोजनाधीना; मानसिद्धस्य प्रयोजनशून्यत्वमात्रेणासत्त्वस्य लौकिकैर्वादिभिर्वाऽनभ्युपगमादिति भावः ।। ३७ ।।

मानसद्वैतस्यैव बन्धहेतुत्वे तस्य मनोनिरोधात्मकयोगेनैव निवृत्तिसम्भवाद्ब्रह्मज्ञानस्य बन्धनिवर्तकत्वाभ्युपगमो विरुध्येतेति शङ्कते—

बन्धश्चेदिति ।। ३८ ।।

तत्रापि शङ्कते—**विज्ञानेति** । समाधत्ते—**नेति** । हृदे चित्ते ।। ३६ ।।

पूर्वसंस्कारादिनेव मनसो विषयाकारपरिणामः स्यादतः किं बाह्यार्थेनेत्यस्वरसात्प्रकारान्तरेण तं बाह्यार्थं समर्थयति—**वैयर्थ्यमिति** । प्रयोजनं विनाऽपि तृणादिज्ञप्तेः प्रमाणानां न प्रयोजनापेक्षेति भावः ।। ३७ ।।

पुनः शङ्कते—**बन्धश्चेति** ।। ३८ ।।

तात्कालिकद्वैतशान्तावप्यागामिजनिक्षयः ।
ब्रह्मज्ञानं विना न स्यादिति वेदान्तडिण्डिमः ।। ३९ ।।

अनिवृत्तेऽपीशसृष्टे द्वैते तस्य मृषात्मताम् ।
बुद्ध्वा ब्रह्माद्वयं बोद्धुं शक्यं वस्त्वैक्यवादिनः ।। ४० ।।

योगेन किं द्वैतोपशमस्तात्कालिक उच्यते, आत्यन्तिको वा ? इति विकल्प्याद्यमङ्गीकृत्य, द्वितीयं दूषयति—

तात्कालिकेति । 'ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः' (श्वे० १।८, २।१।१२, ५।१३) 'ज्ञात्वा शिवं शान्तिमत्यन्तमेति' (श्वे० ४।१४) 'यदा चर्मवदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवाः । तदा देवमविज्ञाय दुःखस्यान्तो भविष्यति' । (श्वे० ६।२०) इत्यादिश्रुतिष्वन्वयव्यतिरेकाभ्यां ब्रह्मज्ञानादेव बन्धनिवृत्तिरभिधीयत इति भावः ।। ३९ ।।

ननु बाह्यद्वैतनिवारणमन्तरेणाद्वितीयब्रह्मज्ञानमेव नोदीयादित्याशङ्क्य, तन्निवारणाभावेऽपि तस्य मिथ्यात्वज्ञानादेव पारमार्थिकमद्वैतं बोद्धुं शक्यत इत्याह—

अनिवृत्तेऽपीति ।। ४० ।।

समाधत्ते—**तात्कालिकेत्यर्धाङ्गीकारेण** ।। ३९ ।।

ननु बाह्यद्वैतं निवृत्तिमन्तरा त्वद्वैतब्रह्मज्ञानमेवाशक्यं तस्य तद्बोधकत्वादित्याशङ्क्य तस्य मिथ्यात्वबोधेन तद्बोधकत्वासम्भवादादर्शगृहनिविष्टदेवदत्तादौ तथैव दृष्टत्वाच्च मैवमिति समाधत्ते—**अनिवृत्तेऽपीति** ।। ४० ।।

प्रलये तन्निवृत्तौ तु गुरुशास्त्राद्यभावतः ।
विरोधिद्वैताभावेऽपि न शक्यं बोद्धुमद्वयम् ।। ४१ ।।
अबाधकं साधकं च द्वैतमीश्वरनिर्मितम् ।
अपनेतुमशक्यं चेत्यास्तां तद्द्विष्यते कुतः ।। ४२ ।।
जीवद्वैतं तु शास्त्रीयमशास्त्रीयमिति द्विधा ।
उपाददीत शास्त्रीयमाऽऽतत्त्वस्यावबोधनात् ।। ४३ ।।

न द्वैतमृषात्वज्ञानमद्वैतज्ञानप्रयोजकम्, अपि तु तन्निवारणमेवेत्यभिनिवेशमानं प्रत्याह—

प्रलय इति । प्रलये प्रलयावस्थायां तन्निवृत्तौ तु तस्य द्वैतस्य निवृत्तौ सत्यां तु विरोधिद्वैताभावेऽप्यद्वैतज्ञानविरोधित्वेन भवदभिमतस्य द्वैतस्यानिवारणे सत्यपि गुरुशास्त्राद्यभावतः गुरुशास्त्रादिरूपस्य ज्ञानसाधनस्याभावाद्धेतोरद्वयं वस्तु बोद्धुं शक्यं न भवति, अतस्तन्निवारणमप्रयोजकमिति भावः ।। ४१ ।।

तथापि सति द्वैते कथमद्वैतज्ञानमित्याशङ्क्याह—

अबाधकमिति । ईश्वरनिर्मितं द्वैतमबाधकं तन्मृषात्वज्ञानेनैवाद्वैतज्ञानोत्पत्तेरुक्तत्वात्साधकं च गुरुशास्त्रादिरूपस्य तस्य ज्ञानसाधनत्वादाकाशादिरूपद्वैतमस्माभिरपनेतुमशक्यं चेति हेतोस्तद्द्वैतमास्तां, कुतः कारणाद् द्विष्यते इत्यर्थः ।। ४२ ।।

इदानीं जीवसृष्टद्वैतं विभजते—

जीवेति । किं तद्द्विविधमपि सदा हेयमेव ? नेत्याह—**उपाददीतेति** । आ तत्त्वस्य अवबोधनात्, तत्त्वस्यावबोधनपर्यन्तमित्यर्थः ।। ४३ ।।

द्वैतध्वंस एवात्यभिनिविष्टं प्रति व्यभिचारमुदाहरति—**प्रलय इति** । उपलक्षणमिदं सुप्तादीनामपीति भावः ।। ४१ ।।

फमितमाह—**अबाधकमिति** । स्वमिथ्यात्वबोधेनाद्वैतब्रह्मबोधाप्रतिरोधकत्वात्तत्राबाधकत्वं गुरुशास्त्रादिरूपेण तज्जनकत्वात्साधकत्वमपीति तत्त्वम् । किं चैवं तस्येश्वरनिर्मितत्वात्तेनैवापनेतुं शक्यं न जीवेनेत्यतस्तद्द्वेषोऽनुचित एवेत्याह—**अपनेतुमिति** ।। ४२ ।।

ननु यथेश्वरनिर्मितद्वैतस्य गुरुशास्त्रादिरूपिणो ब्रह्मज्ञानोपयोगित्वं तथा जीवनिर्मितद्वैतस्यापि कस्यचित्तदस्ति न वेति संशयप्रशमनाय तद्विभजते—**जीवद्वैतं त्विति** । पूर्ववैलक्षण्यार्थस्तुशब्दः । ततः किं तदाह—**उपाददीतेति** ।। ४३ ।।

आत्मब्रह्मविचाराख्यं शास्त्रीयं मानसं जगत् ।
बुद्धे तत्त्वे तच्च हेयमिति श्रुत्यनुशासनम् ॥ ४४ ॥
शास्त्राण्यधीत्य मेधावी अभ्यस्य च पुनः पुनः ।
परमं ब्रह्म विज्ञाय उल्कावत्तान्यथोत्सृजेत् ॥ ४५ ॥
ग्रन्थमभ्यस्य मेधावी ज्ञानविज्ञानतत्परः ।
पलालमिव धान्यार्थी त्यजेद्ग्रन्थमशेषतः ॥ ४६ ॥
तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः ।
नानुध्यायाद्बहूञ्छब्दान्वाचो विग्लापनं हि तत् ॥ ४७ ॥

किं तच्छास्त्रीयं द्वैतमित्याकाङ्क्षायामाह—

आत्मेति । प्रत्यग्रूपस्य ब्रह्मणो विचाराख्यं यच्छ्रवणादिकं तच्छास्त्रीयं मानसं जगदित्यर्थः । ननु 'आतत्त्वस्यावबोधनात्' इत्युक्तमनुपपन्नं; 'आ सुप्तेरा मृते कालं नयेद्वेदान्तचिन्तया' इत्युक्तत्वादित्याशङ्क्याह—बुद्धे इति । तत्त्वे ब्रह्मात्मैक्यलक्षणे बुद्धे, साक्षात्कृते सतीत्यर्थः । तर्हि 'आसुप्तेः' इति वाक्यस्य का गतिरिति चेत् 'दद्यान्नावसरं किञ्चित्कामादीनां मनागपि' इति पूर्वार्धे कामाद्यवसरप्रदानस्य निषिद्धत्वात्तत्परतैवेति वदामः; अतो न काप्यनुपपत्तिरिति भावः ॥ ४४ ॥

तत्त्वबोधोत्तरकालं तद्धेयत्वप्रतिपादनपराः श्रुतीरुदाहरति—

शास्त्राणीत्यारभ्य ॥ ४५–४७ ॥

ननु भवत्वेवं जीवद्वैतस्य शास्त्रीयादिभेदेन द्वैविध्येऽपि शास्त्रीयस्य तस्याऽऽतत्त्वसाक्षात्कारमुपादेयत्वमथापि किं तत्स्वरूपमेवेत्यपेक्षायां तदाह - **आत्मेति** । एतेन त्वम्पदार्थस्तत्पदार्थश्च क्रमादुक्तौ स्तस्तयोर्यो विचारः प्रागुक्तलक्षणश्रवणादित्रयात्मकमनोव्यापारस्तदाख्यमित्यर्थः । ननु साक्षात्कारोत्तरमपि तदस्तु । "दद्यान्नावसरं किञ्चित्कामादीनां मनागपि । आसुप्तेरा मृतेः कालं नयेद्वेदान्तचिन्तये"ति चेन्न । वक्ष्यमाणश्रुतिविरोधादुक्तवाक्यस्य कामाद्यवसरादान एव तात्पर्याच्चेत्याह—**बुद्ध इति** । तत्त्वे दृश्यमिथ्यात्वपूर्वकं ब्रह्मात्मैक्य इत्यर्थः । बुद्धेऽप्रतिबद्धमपरोक्षीकृते सतीति यावत् ॥ ४४ ॥

काः श्रुतय एवमाहुरित्यपेक्षायां क्रमाद्द्विविधामृतबिन्दुबृहदारण्यकोपनिषद्गास्ता एव पठन्ति—**शास्त्राण्यधीत्येत्यादि** । उल्कावज्ज्वलत्काष्ठादिवदित्यर्थः ॥ ४५ ॥

ग्रन्थमिति । पलालं तुषम् ॥ ४६ ॥

तमेवेति । अद्वैतात्मानमेव ॥ ४७ ॥

तमेवैकं विजानीथ ह्यन्या वाचो विमुञ्चथ ।
यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञ इत्याद्याः श्रुतयः स्फुटाः ।। ४८ ।।
अशास्त्रीयमपि द्वैतं तीव्रं मन्दमिति द्विधा ।
कामक्रोधादिकं तीव्रं मनोराज्यं तथेतरत् ।। ४९ ।।
उभयं तत्त्वबोधात्प्राङ्निवार्यं बोधसिद्धये ।
शमः समाहितत्वं च साधनेषु श्रुतं यतः ।। ५० ।।

'तमेवैकं विजानीथ' इत्यनेन 'तमेवैकं जानथ आत्मानमन्या वाचो विमुञ्चथ' (मुण्ड० २।२।५) 'अमृतस्यैष सेतुः' (मुण्ड० २।२।५) इति श्रुतिरर्थतः पठितेति ।। ४८ ।।

अशास्त्रीयस्यापि द्वैतस्यावान्तरभेदमाह—

अशास्त्रीयमिति । द्विधा द्विविधमपि क्रमेणोदाहरति—**कामेति ।** इतरत् मन्दमित्यर्थः ।। ४९ ।।

किमनयोः शास्त्रीयद्वैतस्येव तत्त्वबोधोत्तरकालमेव हेयत्वम् ? नेत्याह—

उभयमिति । प्राङ्निवारणं किमर्थमित्यत आह—**बोधसिद्धये इति ।** तत्र लिङ्गमाह—**शम इति ।** यतस्तत्त्वबोधात्प्राक् तयोर्हेयत्वं तत एव नित्यानित्यवस्तुविवेकादिब्रह्मज्ञानसाधनेषु मध्ये 'शान्तः समाहित' इति पदाभ्यां शान्तिसमाधी श्रूयेते इत्यर्थः ।। ५० ।।

एवं तमेवैकं जानथ आत्मानमन्या वाचो विमुञ्चथेति **मुण्डकश्रुतिमप्युक्तेऽर्थे** सम्मतित्वेन संग्रथयति—**तमेवैकमिति ।** एवं च सर्वदाऽप्यद्वैतात्मानुसन्धानमेव विधेयं न त्वितरव्यापारजातं किञ्चिदपीत्याकूतम् । **तद्वत्कठवल्लीवाक्यमपि** पठति—**यच्छेद्वागिति ।** यच्छेन्निरोधयेदित्यर्थः । उपसंहरति—**इत्याद्या इति ।** आद्यपदेनैतमेव विदित्वा मुनिर्भवतीति ज्ञानोत्तरं विद्वत्संन्यासपूर्वकं ब्रह्मात्मैक्यानुसन्धानैकविधायकं वाक्यं **बार्हदारण्यकमेव** ग्राह्यम् ।। ४८ ।।

एवमशास्त्रीयं तु जीवनकल्पितं द्वैतं तीव्रादिभेदेन द्विविधमस्तीत्याह—**अशास्त्रीयमपीति ।** तत्किलक्षणमित्यत आह—**कामेति** ।। ४९ ।।

ततः किं तत्राऽऽह—**उभयमिति ।** किमत्र मानमित्यपेक्षायां तदाह—**शम इति ।** शान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वाऽऽत्मानं पश्येदिति **काण्वश्रुतिप्रसिद्धमेवैतदित्यभिप्रायः** ।। ५० ।।

बोधादूर्ध्वं च तद्धेयं जीवन्मुक्तिप्रसिद्धये ।
कामादिक्लेशबन्धेन युक्तस्य नहि मुक्तता ।। ५१ ।।
जीवन्मुक्तिरियं मा भूज्जन्माभावे त्वहं कृती ।
तर्हि जन्मापि तेऽस्त्वेव स्वर्गमात्रात्कृतो भवान् ।। ५२ ।।

ननु 'तत्त्वबोधात्प्राङ्निवार्यम् (प्र० ४।५०) इत्यभिधानादुत्तरकालमस्य स्वीकार्यता स्यादित्याशङ्क्याह—

बोधादिति । उक्तमर्थं व्यतिरेकमुखेन द्रढयति—**कामादीति** । कामादिरूपो यः क्लेशः स एव बन्धः तेन मुक्तस्य बद्धस्य मुक्तता जीवन्मुक्तत्वं नहि, नास्त्येवेत्यर्थः ।। ५१ ।।

ननु जन्मादिसंसारादुद्विग्नस्यात्यन्तिकपुरुषार्थरूपया विदेहमुक्त्यैवालम्, किमनया आपातिकया जीवन्मुक्त्येति शङ्कते—

जीवन्मुक्तिरिति । ऐहिकभोगनिवृत्तिभयाज्जीवन्मुक्तित्यागे आमुष्मिकभोगनिवृत्तिभयात् विदेहमुक्तिरपि त्याज्या स्यादिति प्रतिबन्द्या परिहरति—**तर्हीति** ।। ५२ ।।

ननु भवत्वेवं कामादेर्जीवकल्पितस्य तीव्राद्यशास्त्रीयद्वैतस्य तत्त्वबोधात्प्रागेव शमादिसाधनसम्पद्धेयत्वमथापि तत्त्वबोधोत्तरं तु तत्सत्त्वेऽपि किं बाधकमित्याशङ्क्य निवारितस्य तस्य तत्त्वबोधादूर्ध्वं समूलबाधितत्वेन संस्कारात्मनैवानुवृत्तिर्वाच्या साऽपि जीवन्मुक्तिप्रतिबन्धकत्वाद्बोधोत्तरमपि प्रध्वंस्यैवेति समाधत्ते—**बोधादिति** । तत्र हेतुः—**कामादीति** । कामादिना यः क्लेशः श्रमः स एव बन्धस्तेनेत्यर्थः ।। ५१ ।।

ननु जीवन्मुक्तिसत्त्वे सर्वमिदं घटेतापि सति कुड्ये चित्रमिति न्यायेन परंत्वादौ तत्रैव न प्रमाणं पश्यामः । न च तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ सम्पत्स्ये इत्यादिशास्त्रमेव तत्र प्रमाणमिति साम्प्रतम् । **श्रीमत्सर्वज्ञात्ममुनीश्वरचरणैस्तस्यार्थवाद**त्वोक्तेः । तदुक्तं **संक्षेपशारीरकचतुर्थाध्याये**—

"जीवन्मुक्तिप्रत्ययं शास्त्रजातं जीवन्मुक्ते कल्पिते योजनीयम् ।
तावन्मात्रेणार्थवत्त्वोपपत्तेः सद्योमुक्तिः सम्यगेतस्य हेतोः" इति ।

व्याख्यातं चेदं पद्यं **श्रीमधुसूदनसरस्वतीभिः**—ननु तत्त्वविदः सद्योविदेहकैवल्योपगमे "तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ सम्पत्स्ये"

"प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान् ।
आत्मन्येवाऽऽत्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते"

इत्यादिजीवन्मुक्तिप्रतिपादकशास्त्रं निर्विषयं स्यादित्याशङ्क्य तस्यार्थवादतया शुकवामदेवादिमुक्तिशास्त्रवत्प्रकृष्टप्राज्ञकल्पितजीवन्मुक्त्यनुवादेन ब्रह्मविद्यास्तुतिपरत्वान्न तद्विरोध इत्यभिप्रेत्याऽऽह—**जीवन्मुक्तीति**। जीवन्मुक्तेः प्रत्ययो येन तत्तथोक्तम्। अर्थवत्त्वोपपत्तेः। स्तुतिरूपप्रयोजनवत्त्वोपपत्तेः। एतस्य हेतोरेतस्माद्धेतोः। जीवन्मुक्तिशास्त्रस्यान्यविषयत्वाद्धेतोरिरिति यावदिति। एवमेव **सिद्धान्तलेशसूक्तिमञ्जर्या**मप्येतन्मतमुक्तं चतुर्थपरिच्छेद एव।

विरोधिन्युदिते शेषासम्भवादर्थवादताम्।
सर्वज्ञात्मगुरुः प्राह जीवन्मुक्तश्रुतेः स्फुटम्" इति॥

एतदपि निवृत्तं तदीयायामेव **तट्टीकायाम्**—विरोधिज्ञानोदयेऽज्ञानस्य लेशतोऽपि शेषायोगाल्लेशनाशाय ज्ञानान्तरकल्पने तस्येव लाघवादविद्यानाशकत्वौचित्यात्तस्य तावदेव चिरमित्यादिश्रुतेरात्मज्ञानप्रशंसार्थत्वेन जीवन्मुक्तौ तात्पर्याभावादर्थवादमात्रत्वमिति मतान्तरमाह—**विरोधिनीति**। तस्मान्मैव मेऽस्तु सेति शङ्कते—**जीवन्मुक्तिरिति**। तत्पूर्वोत्तरतात्पर्यानभिज्ञानमूलकमेवेदं चोद्यमिति मनसि निधाय जीवन्मुक्तिस्वीकारे तत्सिद्ध्यर्थं कामादित्यागेनैहिकभोगहानिरिति यदि जीवन्मुक्तिमेव नाङ्गीकरोषि तर्हि पारत्रिकभोगनिवृत्तिभीत्या ते विदेहमुक्तिरप्यनादरणीया स्यादिति प्रतिबन्दीमेव प्रकटयति—**तर्हीत्युत्तरार्धेन**। तत्र हि—

"सम्यग्ज्ञानविभावसुः सकलमेवाज्ञानतत्सम्भवं
सद्यो वस्तुबलप्रवर्तनमरुद्व्यापारसन्दीपितः।
निर्लेपे नहि दन्दहीति न मनागप्यस्य रूपान्तरं
संसारस्य शिनष्टि तेन विदुषः सद्यो विमुक्तिर्ध्रुवा"

इति **पूर्वपद्ये** सद्योमुक्तिपक्षः प्रतिपादित इत्युत्तरपद्यमिदं तत्परमेव। तथा त्वत्रापि कण्ठत एवोक्तम्—सद्योमुक्तिः सम्यगेतस्य हेतोरिरिति। यद्वा विद्वद्गोचरमित्यादितदुत्तरश्लोकैर्जीवन्मुक्तिपक्षमेवोपन्यस्य—

"जीवन्मुक्तिस्तावदस्ति प्रतीतेर्द्वैतच्छाया तत्र चास्ति प्रतीतेः।
द्वैतच्छायारक्षणायास्ति लेशस्तस्मिन्नर्थे स्वानुभूतिः प्रमाणम्"

इत्यन्तग्रन्थेन तमुपपाद्य।

"पश्यामि चित्रमिव सर्वमिदं द्वितीयं तिष्ठामि निष्कलचिदेकवपुष्यनन्ते।
आत्मानमद्वयमनन्तसुखैकरूपं पश्यामि दग्धरशनामिव च प्रपञ्चम्॥
अद्वैतमप्यनुभवामि करस्थबिल्वतुल्यं शरीरमहिनिर्ल्वयनीव वीक्षे।
एवं च जीवनमिव प्रतिभासनं निःश्रेयसोऽधिगमनं च मम प्रसिद्धम्॥"

इति स्वानुभूतिरपि प्रादर्शीति नैव सा तदसम्मतेति दिक्॥ ५२॥

क्षयातिशयदोषेण स्वर्गो हेयो यदा तदा ।
स्वयं दोषतमात्मायं कामादिः किं न हीयते ।। ५३ ।।
तत्त्वं बुद्ध्वापि कामादीन्निःशेषं न जहासि चेत् ।
यथेष्टाचरणं ते स्यात्कर्मशास्त्रातिलङ्घिनः ।। ५४ ।।
बुद्धाद्वैतस्वतत्त्वस्य यथेष्टाचरणं यदि ।
शुनां तत्त्वदृशां चैव को भेदोऽशुचिभक्षणे ।। ५५ ।।

प्रतिबन्दी मोचनं शङ्कते—

क्षयेति । दोषयुक्तत्वेन स्वर्गादेस्त्याज्यत्वे सकलपुरुषार्थविघातकत्वेनातीव दोषरूपस्य कामादेः सुतरां त्याज्यत्वमित्याह—**तदेति** ।। ५३ ।।

ननु वैराग्यादिसंपादनेनात्यन्तानर्थहेतोः कामादेस्त्यक्तत्वादैहिकभोगमात्रोपयोगिकामाद्यभ्युपगमे को दोष इत्याशङ्क्याह—

तत्त्वमिति । तत्त्ववित्त्वाभिमानेन विधिनिषेधशास्त्रमतिक्रम्य कामाद्यधीनतया वर्तमानस्य तव यथेष्टाचरणं स्यादित्यर्थः ।। ५४ ।।

अस्तु, को दोष इत्याशङ्क्य, तदनिष्टत्वप्रतिपादनपरं **सुरेश्वराचार्य**वचनमुदाहरति—

बुद्धाद्वैतेति । बुद्धमद्वैतस्वतत्त्वमद्वैतस्वरूपं ब्रह्म येन स बुद्धाद्वैतस्वतत्त्वः तत्त्ववित्, तस्य यथेष्टाचरणं यदि स्यात् तर्हि अशुचिभक्षणादिकमपि स्यात्; तथा सति शुनां तत्त्वदृशां चैव न कोऽपि विशेषः स्यादित्यर्थः ।। ५५ ।।

निरुक्तप्रतिबन्दीमोचनमाशङ्क्य सिद्धान्त्येव पुनस्तां तदाधिक्यादेव द्रढयति—**क्षयेति** । न हीयते किं हीनशब्दितपरमत्यागयोग्यो न भवति किमपि भवत्येवेत्यन्वयः ।। ५३ ।।

ननु—"ज्ञानामृतेन तृप्तस्य कृतकृत्यस्य योगिनः ।
नैवास्ति किंचित्कर्तव्यमस्ति चेन्न स तत्त्ववित्"

इति **वचनान्मम** कामादित्यागोऽपि क कार्यतयाऽवशिष्ट इत्याशङ्कामनर्थापत्त्या प्रतिक्षिपति—**तत्त्वमिति** । अत्र निःशेषपदेन तत्संस्कारलेशोऽपि जीवन्मुक्तिसुखविनाशक एवेति सूचितम् । यथेष्टाचरणे हेतुः । **कर्मेति** ।। ५४ ।।

तत्रेष्टापत्तिमाशङ्क्येदं सम्प्रदायेनाद्वैतात्मतत्त्वं दृश्यमिथ्यात्वपूर्वकमनुभवतो

बोधात्पुरा मनोदोषमात्रात्क्लिश्नास्यथाधुना ।
अशेषलोकनिन्दा चेत्यहो ते बोधवैभवम् ।। ५६ ।।

विड्वराहादितुल्यत्वं मा काङ्क्षीस्तत्त्वविद्भवान् ।
सर्वधीदोषसंत्यागाल्लोकैः पूज्यस्व देववत् ।। ५७ ।।

एतावता किमनिष्टमापादितमित्याशङ्क्य, सोपहासमुत्तरमाह—

बोधादिति । तत्त्वज्ञानोदयात्प्राक् कामक्रोधादिचित्तदोषैस्तव क्लेशोऽभूत्, इदानीं तु सर्वलोकनिन्दामपि सहस्व इति क्लेशद्वैगुण्यमिति भावः ।। ५६ ।।

तर्हि किं कर्तव्यमित्यत आह—

विड्वराहेति । सर्वोत्कर्षहेतुज्ञानवान् त्वं कामादित्यागाशक्तत्वेन सर्वाधमविड्वराहादिसाम्यं मा काङ्क्षीः, किंतु कामादिलक्षणसकलमनोदोषहानेन सर्वजनैर्देववत् पूज्यस्व, पूज्यो भवेत्यर्थः ।। ५७ ।।

नैवेष्टापत्तिवचनं किंतु जनवञ्चकचक्रवर्तिनः किंचिच्छास्त्रसंस्कारशालिनः सम्प्रदायसूर्यघूकस्य कामुकस्यैव कस्यचिदिति सूचयन्यथेष्टचेष्टादौष्ट्यपरं नैष्कर्म्यसिद्धिवचसैव शमयति—**बुद्धेति** । बुद्धमपरोक्षीकृतमद्वैतं ब्रह्मात्मैक्यं सतत्त्वं द्वैतमिथ्यात्वपूर्वकत्वलक्षणेन तत्त्वेन सह येन स तथा तस्येत्यर्थः । यदि यथेष्टाचरणं स्याच्चेत्तर्हि शुनां तत्त्वदृशां चाशुचिभक्षणे को भेदः स्यादिति सम्बन्धः । तस्माद्वास्तविकब्रह्मविदां नैव यथेष्टाचरणं भवतीति भावः । एवमेवोक्तं मूलकारैरप्यनुभूतिप्रकाशे—

"किंच पुण्यरतः पूर्वं ज्ञानमाप्नोति नान्यथा ।
पश्चाच्च तद्वासनया पुण्यमेव करोत्यसौ" इति ।। ५५ ।।

तत्राप्यत्यभिनिविष्टं निरुक्तवञ्चकमेव सन्मार्गे प्रवर्तयितुं करुणयैवोपहसति—**बोधादिति** । तत्र क्लिश्यसीति वार्तमानिकप्रयोगेणाद्यापि तव बोधो नैवेति ध्वन्यते ।। ५६ ।।

एवमपि कृपया तस्य तत्त्ववित्त्वमेवाहार्यं लोके प्रख्यापयन्नुपदिशति—**विड्वराहेत्याद्विाभ्याम्** । स्वोपदेशाङ्गीकारार्थमेवैतदाहार्यतत्त्ववित्त्वकथनमित्याकूतम् ।। ५७ ।।

काम्यादिदोषदृष्टयाद्याः कामादित्यागहेतवः ।
प्रसिद्धा मोक्षशास्त्रेषु तानन्विष्य सुखी भव ॥ ५८ ॥
त्यज्यतामेष कामादिर्मनोराज्ये तु का क्षतिः ।
अशेषदोषबीजत्वात्क्षतिर्भगवतेरिता ॥ ५९ ॥
ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते ।
सङ्गात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥ ६० ॥

तत्त्यागोपायमाह—

काम्येति । काम्याः कामनाविषयाः स्रगादय आदयो येषां द्वेष्यादीनां ते काम्यादयस्तेषां ये दोषा अनित्यत्वसातिशयत्वादयस्तेषां दृष्टिः अवलोकनमाद्यं येषां कामस्वरूपविचारादनां ते तथोक्तास्तेषाम् । कामादित्यागहेतुत्वे प्रमाणमाह—**प्रसिद्धा इति** । भवतु, ततः किमायातमित्यत आह—**तानन्विष्येति** ॥ ५८ ॥

ननु कामादीनामनर्थहेतुत्वात्त्याज्यत्वमस्तु, मनोराज्यस्य तु अतथात्वात्तत्त्यागो नापेक्षित इति शङ्कते—

त्यज्यतामिति । साक्षादनर्थहेतुत्वाभावेऽपि परम्परया तद्धेतुत्वात्त्याज्यत्वमेवेत्यभिप्रेत्य परिहरति—**अशेषेति** ॥ ५९ ॥

परम्परयाऽनर्थहेतुत्वप्रदर्शनपरं भगवद्वाक्यं (गी० २।६२) उदाहरति—**ध्यायत इति** ॥ ६० ॥

काम्यादीति । आदिना कामकामुकौ । आद्यपदेन तत्त्रयस्वरूपविचारः । **मोक्षेति** । बृहद्वासिष्ठमोक्षधर्मसूतसंहितादिमोक्षप्रतिपादकार्षग्रन्थेष्वित्यर्थः । तथा चोक्तं **बृहद्योगवासिष्ठे**—

"केशकज्जलधारिण्यो दुःस्पर्शा लोचनप्रियाः ।
दुष्कृताग्निशिखा नार्यो दहन्ति तृणवन्नरम्" इत्यादि ।
चिन्तानिचयचक्राणि नाऽऽनन्दाय धनानि मे ।
सम्प्रसूतकलत्राणि गृहाण्युग्रापदामिव"

इत्यादि च । एवमन्यत्रापि द्रष्टव्यम् ॥ ५८ ॥

ननु भवत्वेवं कामादेः साक्षादनर्थहेतुत्वात्त्याज्यत्वमथापि मनोराज्यं तु न तथेति शङ्कते—**त्यज्यतामिति** । साक्षादतथात्वेऽपि परम्परया तथात्वान्मैवमित्याह—**अशेषेति** ॥ ५९ ॥

तदेव **भगवद्वाक्यं** किञ्चित्पठति—**ध्यायत इति** । सङ्गः स्वहितसाधनत्वाध्यासः ।

शक्यं जेतुं मनोराज्यं निर्विकल्पसमाधितः ।
सुसंपादः क्रमात्सोऽपि सविकल्पसमाधिना ।। ६१ ।।

बुद्धतत्त्वेन धीदोषशून्येनैकान्तवासिना ।
दीर्घं प्रणवमुच्चार्य मनोराज्यं विजीयते ।। ६२ ।।

जिते तस्मिन्वृत्तिशून्यं मनस्तिष्ठति मूकवत् ।
एतत्पदं वसिष्ठेन रामाय बहुधेरितम् ।। ६३ ।।

तर्ह्यस्य मनोराज्यस्य कः परिहारोपाय इत्यत आह—**शक्यमिति** । सोऽपि कुतः सिध्यतीत्याह **सुसंपाद इति** ।। ६१ ।।

नन्वष्टाङ्गयोगयुक्तस्य तथाऽस्तु, तद्रहितस्य का गतिरित्यत आह—**बुद्धतत्त्वेनेति** । बुद्धमवगतं तत्त्वं ब्रह्मात्मैक्यलक्षणं येन स बुद्धतत्त्वः, तेन कामक्रोधादिबुद्धिदोषरहितेन एकान्तवासिना विजनदेशनिवासशीलेन पुरुषेण दीर्घं षड्द्वादशादिमात्रोपेतं प्रणवमोङ्कारमुच्चार्य मनोराज्यं विजीयते, विनिवार्यत इत्यर्थः ।। ६२ ।।

मनोराज्यविजये किं भवतीत्यत आह—**जिते तस्मिन्निति** । यथा मूकः सकलवाग्व्यवहाररहितस्तिष्ठत्येव मनोऽपि सर्वव्यापाररहितमवतिष्ठत इत्यर्थः । अवृत्तिकमनोवस्थानस्य पुरुषार्थत्वे प्रमाणमाह—**एतत्पदमिति** । एतत्पदमियं दशेत्यर्थः ।। ६३ ।।

कामस्तत्प्राप्त्यादीच्छा । क्रोधस्तत्प्रतिहतिजन्यः समभिज्वलनलक्षणो मनःपरिणामः । ।। ६० ।।

नन्वेवमपि तद्दुष्परिहारमेवेत्यत आह—**शक्यं जेतुमिति** । स एव दुर्लभस्तत्राऽऽह—**सुसम्पाद इति** । क्रमाद्यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानीति पतञ्जल्युक्तानुक्रमेणेत्यर्थः ।। ६१ ।।

ननु नायं सुलभ उपाय इति तमाह—**बुद्धेति** । धीदोषाः कामादयः ।। ६२ ।।

ततः किं तत्राऽऽह—**जित इति** । पदं साधकप्राप्यं मनसो निःसङ्कल्पावस्थानमित्यर्थः ।। ६३ ।।

दृश्यं नास्तीति बोधेन मनसो दृश्यमार्जनम् ।
सम्पन्नं चेत्तदुत्पन्ना परा निर्वाणनिर्वृतिः ।। ६४ ।।

विचारितमलं शास्त्रं चिरमुद्ग्राहितं मिथः ।
सन्त्यक्तवासनान्मौनादृते नास्त्युत्तमं पदम् ।। ६५ ।।

वसिष्ठश्लोकद्वयवाक्यमुदाहरति—

दृश्यमिति । 'नेह नानास्ति किंचन' (बृ० ४।३।१९, कठ० ४।११) इत्यादिश्रुत्याऽद्वितीयब्रह्मातिरिक्तजगदभावज्ञानेन मनसः सकाशात् दृश्यनिवारणं संपन्नं यदि तर्हि निरतिशयं मोक्षसुखं निष्पन्नमिति जानीयादित्यर्थः ।। ६४ ।।

किञ्च, अद्वैतशास्त्रमत्यर्थं विचारितं, तथा परस्परं गुरुशिष्यादिसंवाद· द्वारा चिरकालं प्रत्यायितं च । एवं कृत्वा किं निश्चितमित्यत आह— **संत्यक्तेति** । सम्यक्परित्यक्तकामादिवासनान्मनसस्तूष्णींभावादृतेऽधिकः पुरुषार्थो नास्तीति निश्चितमित्यर्थः ।। ६५ ।।

कथं भगवता वसिष्ठेनोक्तं मनोनिःसङ्कल्पत्वावस्थानमित्यपेक्षायां स्थालीपुलाकन्यायेन रसास्वादार्थं बृहद्योगवासिष्ठगतं श्लोकद्वयमुदाहरति—**दृश्यमिति** । **दृश्येति** । मनसः सकाशाद्दृश्याध्यासनिरसनमित्यर्थः । सम्पन्नं चेत्तर्हि तदेव नेह नानाऽस्ति किञ्चनेति श्रुतिबोधितयावद्द्वैतबाधनमेव परोत्कटानिर्वाणनिर्वृतिरात्माभिन्नमोक्षलक्षणस्वप्रकाशसुखाभिव्यक्तिः सञ्जातेति सम्बन्धः । एवं च तत्कालावच्छेदेन मनसः सङ्कल्पशून्यतेव भवतीति भावः ।। ६४ ।।

विचारितमिति । शास्त्रमद्वैतग्रन्थजातम् । यद्यपि मयाऽलं गुरूपसत्तिपूर्वकं विचारितं विवेचितम् । तथा चिरं दीर्घकालम् । मिथः परस्परं सतीर्थ्याञ्शिष्यांश्च प्रत्युद्ग्राहितं प्रत्यायितमप्यस्ति । तथाऽपि—**सन्त्यक्तेति** । निःशेषनिर्मूलितकामादिसंस्कारादित्यर्थः । एतादृशान्मौनादमौनं च मौनं च निर्विद्याथ ब्राह्मण इतिश्रुतेर्मननशीलो मुनिस्तस्य कर्म मौनमिति व्युत्पत्तेश्च निदिध्यासनसमकक्षापरोक्षज्ञानपूर्वकद्वैतबाधचित्तविरोधान्यतरजन्यसङ्कल्पशून्यमनोवस्थानादिति यावत् । ऋते विना उत्तमं पदं स्थानं नास्तीति योजना ।। ६५ ।।

विक्षिप्यते कदाचिद्धीः कर्मणा भोगदायिना ।
पुनः समाहिता सा स्यात्तदैवाभ्यासपाटवात् ॥ ६६ ॥

विक्षेपो यस्य नास्त्यस्य ब्रह्मवित्त्वं न मन्यते ।
ब्रह्मैवायमिति प्राहुर्मुनयः पारदर्शिनः ॥ ६७ ॥

दर्शनादर्शने हित्वा स्वयं केवलरूपतः ।
यस्तिष्ठति स तु ब्रह्मन् ब्रह्म न ब्रह्मवित्स्वयम् ॥ ६८ ॥

एवं निर्वृत्तिकस्य चित्तस्य प्रारब्धकर्मणा विक्षेपे सति तत्प्रतीकारोपायः क इत्यपेक्षायामाह—

विक्षिप्यत इति । भोगप्रदेन प्रारब्धकर्मणा बुद्धिः कदाचिद्विक्षिप्यते चेत्तर्हि सा बुद्धिरभ्यासदाढर्यात्तदैव पुनरपि समाहिता स्यादित्यर्थः ॥ ६६ ॥

सदा चित्तविक्षेपरहितस्य ब्रह्मवित्त्वमप्यौपचारिकमित्याह—

विक्षेप इति । पारदर्शिनो वेदान्तपारगा इत्यर्थः ॥ ६७ ॥

अत्रापि वसिष्ठवाक्यमुदाहरति—

दर्शनादर्शने इति । यो 'ब्रह्म जानामि, न जानामि' इति व्यवहारद्वयं परित्यज्य स्वयमद्वितीयचैतन्यमात्ररूपेणावतिष्ठते स स्वयं ब्रह्मैव, न ब्रह्मविदित्यर्थः ॥ ६८ ॥

ननु निरुक्तावस्थातोऽपि प्रारब्धभोगार्थं चित्तविक्षेपे क उपाय इत्यत आह— **विक्षिप्यत इति ।** तस्मादभ्यासदार्ढ्यमेव विधेयमिति तत्त्वम् ॥ ६६ ॥

अत एव—**विक्षेप इति ।** तथा चोक्तं **श्रीभगवत्पूज्यपादपादारविन्दैर्मनीषापञ्चके—**

"यत्सौख्याम्बुधिलेशलेशत इमे शक्रादयो निर्वृता
तच्चित्ते नितरां प्रशान्तकलने लब्ध्वा मुनिर्निर्वृतः ॥
तस्मिन्नित्यसुखाम्बुधौ गलितधीर्ब्रह्मैव न ब्रह्मवि-
द्यः कश्चित्स सुरेन्द्रवन्दितपदो नूनं मनीषा मम". इति ॥ ६७ ॥

उक्तेऽर्थे **वासिष्ठवाक्यमेवोदाहरति दर्शनेति ।** अयि **ब्रह्मन्निति** तत्कथाप्रसङ्गागतब्राह्मणशिरोमणिं प्रत्येव सम्बोधनम् । **दर्शनेति ।** ज्ञानाज्ञाने इत्यर्थः । हित्वा ज्ञोऽहमज्ञोऽहमित्युभयत्रापि तादात्म्याध्यासं बाधित्वेत्यर्थः । अपरं तु सरलमेव ॥ ६८ ॥

जीवन्मुक्तेः परा काष्ठा जीवद्वैतविवर्जनात् ।
लभ्यतेऽसावतोऽत्रेदमीशद्वैताद्विवेचितम् ॥ ६९ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीभारतीतीर्थविद्यारण्यमुनिवर्यकृत-
पञ्चदश्यां द्वैतविवेकः समाप्तः ॥ ४ ॥

सकलद्वैतविवेचनमुपसंहरति—

जीवन्मुक्तेरिति । असावुक्तप्रकारा जीवन्मुक्तेः परा काष्ठा निरतिशयपर्यवसानभूमिर्जीवद्वैतस्य मनोमयप्रपञ्चस्य विवर्जनात्परित्यागाल्लभ्यते प्राप्यते । अतः कारणादिदं जीवद्वैतमीशद्वैतादीश्वरसृष्टद्वैताद्विवेचितम्, विविच्य प्रदर्शितमित्यर्थः ॥ ६९ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीभारतीतीर्थविद्यारण्य-
मुनिवर्यकिङ्करेण श्रीरामकृष्णाख्यविदुषा विरचिता
द्वैतविवेकपदयोजना समाप्ता ॥ ४ ॥

अथ फलितं कथयन्नेव प्रकरणमुपसंहरति—**जीवन्मुक्तेरिति ।** एवं चात्र यदुक्तमुपोद्घाते प्राक्—

"ईशोपदिष्टबोधादेव विमुक्तिर्न तु कचिद्गुरुजात् ।
इति या निर्णीतमतिः प्रतिबन्धोऽयं चतुर्थ ईशमितौ"

इति तत्पदार्थबोधविषयकसाधनविपरीतभावनाख्यश्चतुर्थः प्रतिबन्धः ।

तथा—"ईश्वरमुख्यक्लृप्तद्वैतविचारेण गुरुमृते प्रलये ।
बोधाभावोक्त्या तन्मुख्यत्वं स्याच्चतुर्थेऽपि ॥"

इति चतुर्थप्रकरणस्यास्य द्वैतविवेकाख्यस्य तद्बाधकत्वमप्येतत्सर्वमुपक्रमादिलिङ्गैः सङ्गतमेव । तद्यथाऽत्र—

"ईश्वरेणापि जीवेन सृष्टं द्वैतं विविच्यते ।
विवेके सति जीवेन हेयो बन्धः स्फुटोभवेत् ॥"

इत्युपक्रमः ।

तथा— "जीवन्मुक्तेः पराकाष्ठा जीवद्वैतविवर्जनात् ।
लभ्यतेऽसावतोऽत्रेदृगीशद्वैताद्विवेचितम् ॥"

इत्युपसंहारश्चेति जीवहेयबन्धस्य गुरूपदिष्टजीवेश्वरसृष्टद्वैतविवेकद्वारैव स्फुटीभवनपूर्वकं तदुपदिष्टोपायैरेव जीवद्वैतविवर्जनजन्यजीवमुक्तिपरकाष्ठालाभोक्तेर्गुरूपदिष्टबोध एव तात्पर्यंप्रथममिदमुपक्रमाद्यैक्यक्षणं लिङ्गम् । यद्यपीश्वरोऽपि हरिहरचतुराननादिलीलाविग्रहेणार्जुनादिजिज्ञासूनद्वैतात्मत्वमबोधयदितिस्मृत्यादौ प्रसिद्धमेवाथापि शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नमिति तत्प्रसिद्धार्जुननिष्ठशिष्यत्वप्रयुक्तस्तत्र गुरुत्वमेवेत्यन्ततस्तत्रैव तत्पक्षेऽपि पर्यवसानमिति रहस्यम् ।

--

"अनिवृत्तेऽपीशसृष्टे द्वैते तस्य मृषात्मताम् ।
बुद्ध्वा ब्रह्माद्वयं बोद्धुं शक्यं वस्त्वैक्यवादिनः ।।
प्रलये तन्निवृत्तौ तु गुरुशास्त्राद्यभावतः ।
विरोधिद्वैताभानेऽपि न शक्यं बोद्धुमद्वयम् ।।" इत्याद्यभ्यासश्च।
"मैवं मांसमयी काचिद्भिद्यतेऽन्या मनोमयी"

इत्यादिरपूर्वता । प्रत्यक्षाद्युपलब्धमांसमययोषिद्भिन्नमनोमययोषितो गुरुणैवोपदिष्टत्वात् । "भाष्यवार्तिककाराभ्यामयमर्थ उदीरितः" इति गुरोर्महत्त्वे सम्प्रदायादरः फलम् । एतत्पदं वशिष्ठेन रामायणे वहुधेरितमिति तत्रैवार्थवादः । "प्रलये तन्निवृत्ती तु गुरुशास्त्राद्यभावतः" इत्यादिनोपपत्तिरिति सर्वेषामपि षड्विधलिङ्गानां गुरुमहत्त्वमेव प्राधान्यमिति सर्वं सुमङ्गलम् ।। ६९ ।।

इति श्रीमदच्युतरायमोडकविरचितपूर्णानन्देन्दुकौमुद्यां चतुर्थः द्वैतविवेकप्रकाशः सम्पूर्णः ।। ४ ।।

पञ्चमं महावाक्यविवेकप्रकरणम्

येनेक्षते शृणोतीदं जिघ्रति व्याकरोति च।
स्वाद्वस्वादू विजानाति तत्प्रज्ञानमुदीरितम् ॥ १ ॥

नत्वा श्रीभारतीतीर्थविद्यारण्यमुनीश्वरौ ।
महावाक्यविवेकस्य कुर्वे व्याख्यां समासतः ॥ १ ॥

मुमुक्षोर्मोक्षसाधनब्रह्मात्मैकत्वावगतिसिद्धये प्रसिद्धानां चतुर्णां महावाक्यानामर्थं क्रमेण निरूपयन् परमकृपालुराचार्य आदौ तावत् **ऐतरेयारण्यक**गते 'प्रज्ञानं ब्रह्म' (ऐत० ५।२, आत्मबोधोप० १) इति महावाक्ये 'प्रज्ञान' शब्दस्यार्थमाह—

येनेक्षत इति । येन चक्षुर्द्वारा निर्गतान्तःकरणवृत्त्युपहितचैतन्येन इदं दर्शनयोग्यं रूपादिकमीक्षते पश्यति पुरुषः, तथा श्रोत्रद्वारा निर्गतान्तःकरणवृत्त्युपाधिकेन येन शब्दजातं शृणोति, तथैव घ्राणद्वारा निर्गतान्तःकरणवृत्त्युपाधिकेन येन गन्धजातं जिघ्रति, येन वागिन्द्रियावच्छिन्नेन व्याकरोति शब्दजातं व्याहरति, येन रसनेन्द्रियद्वारानिर्गतान्तःकरणवृत्त्युपाधिकेन स्वाद्वस्वादू रसौ विजानाति, अनुक्तसमुच्चयार्थश्चशब्दः, तथा चोक्तानुक्तैः सकलेन्द्रियैः अन्तःकरणवृत्तिभेदैश्चोपलक्षितं यच्चैतन्यमस्ति तदेवात्र 'प्रज्ञानम्' इत्युच्यत इत्यर्थः । अनेन 'येन वा पश्यति' (ऐ० ५।१) इत्यादेः 'सर्वाण्येवैतानि प्रज्ञानस्य नामधेयानि' (ऐ० ५।२) इत्यन्तस्यावान्तरवाक्यसंदर्भस्यार्थः संक्षिप्य दर्शितः ॥ १ ॥

अद्वैतानन्दसच्चिद्विभुविमलपरब्रह्मकूटस्थरूपं
मोहादद्वैतेन्द्रजालालयमपि तिलकं स्वप्रकाशं श्रुतीनाम् ।
सर्वांश्चाचार्यवर्यान्रघुकुलतिलकं मद्गुरुं ब्रह्मनिष्ठं
श्रीमन्नारायणाख्यं स्वगुरुमपि महादेवसंज्ञं प्रणौमि ॥ १ ॥

मत्वा जीवञ्जीवान्विद्यारण्यं च भारतीतीर्थम् ॥
वाक्यविवेकं विषयप्रकाशतो द्योतयामि कौमुद्याः ॥ २ ॥

चतुर्मुखेन्द्रदेवेषु मनुष्याश्वगवादिषु ।
चैतन्यमेकं ब्रह्मातः प्रज्ञानं ब्रह्म मय्यपि ।। २ ।।
परिपूर्णः परात्माऽस्मिन्देहे विद्याधिकारिणि ।
बुद्धेः साक्षितया स्थित्वा स्फुरन्नहमितीर्यते ।। ३ ।।

एवं प्रज्ञानशब्दस्यार्थमभिधाय 'ब्रह्म' शब्दस्यार्थमाह—

चतुर्मुखेति । उत्तमेषु देवादिषु, मध्यमेषु मनुष्येषु, अधमेषु अश्वगवादिषु देहधारिषु आकाशादिभूतेषु च, जगज्जन्मादिहेतुभूतं यदेकं चैतन्यमस्ति तद्ब्रह्मेत्यर्थः । अनेन च 'एष ब्रह्मैष इन्द्रः' (ऐ० ५।३) इत्यादेः 'प्रज्ञा प्रतिष्ठा' (ऐ० ५।३, आत्मबो० १) इत्यन्तस्यावान्तरवाक्यस्यार्थः संक्षिप्य दर्शितः । इत्थं पदार्थमभिधाय वाक्यार्थमाह—**अत इति ।** यतः सर्वत्रावस्थितं प्रज्ञानं ब्रह्म, अतो मय्यपि स्थितं प्रज्ञानं ब्रह्मैव, प्रज्ञानत्वाविशेषादित्यर्थः ।। २ ।।

एवं ऋक्शाखागतं महावाक्यार्थं निरूप्य, यजुःशाखासु मध्ये **बृहदारण्यको**पनिषद्गतस्य 'अहं ब्रह्मास्मि' (बृ० १।४।१०) इति महावाक्यस्यार्थाविष्करणाय 'अहं'शब्दस्यार्थमाह—

परिपूर्ण इति । परिपूर्णः स्वभावतो देशकालवस्तुभिरपरिच्छिन्नः

अथ भगवान्विद्यारण्यगुरुः पञ्चदश्यां महावाक्यविवेकाख्यं पञ्चमप्रकरणं चिकीर्षुः सुप्रसिद्धप्रमाणाद्यद्वैतात्मानुसन्धानलक्षणं मङ्गलं कलयन्विषयाद्यपि सूचयन्क्रमेण वर्गादिवेदशाखास्थलचतुराणि चत्वारि महावाक्यानि तीव्रतमजिज्ञासुं प्रति संक्षेपेण विवृणोति—**येनेत्यादिचतुर्भिर्युग्मैः ।** ऐतरेयोपनिषद्गतं हि प्रज्ञानं ब्रह्मेति महावाक्यं तत्र प्रज्ञानपदार्थः शुद्धं जीवचैतन्यमेव येन पश्यति येन वा शृणोतीत्याद्युद्देशादित्याह—**येनेक्षत इति ।** एतेन सर्वबहिरन्तःकरणामाभासवृत्तिसाक्षित्वोपलक्षितचैतन्यमेव प्रज्ञानस्य नामधेयानीत्यन्तश्रुत्याशयेन दर्शितम् ।। १ ।।

अथ ब्रह्मपदार्थमाह—**चतुर्मुखेति ।** एष ब्रह्मेत्यादिप्रज्ञाप्रतिष्ठेत्यन्तश्रुतेरिति शेषः । अत एकत्वाद्धेतोः । मय्यप्यस्मच्छब्दवाच्यदेहादिसङ्घातावच्छिन्नत्वोपलक्षितं चैतन्यं ब्रह्माद्वैतमेवास्तीत्यन्वयः ॥ २ ॥

एवं **बृहदारण्यकस्थमहं** ब्रह्मास्मीति महावाक्यं विवृणोति—**परिपूर्ण इति ।** देशकालादिपरिच्छेदत्रयशून्यत्वेन चतुर्विधाभावाप्रतियोगीत्यर्थः । एवं च देशपरिच्छेदराहित्येनात्यन्ताभावस्य कालपरिच्छेदराहित्येन प्रागभावप्रध्वंसाभावयोर्वस्तुपरिच्छेदराहित्येनान्योन्याभावस्य चाऽऽत्मन्यप्रतियोगित्वं ध्वन्यते । अत एव परेति ।

स्वतःपूर्णः परात्माऽत्र ब्रह्मशब्देन वर्णितः ।
अस्मीत्यैक्यपरामर्शस्तेन ब्रह्म भवाम्यहम् ।। ४ ।।
एकमेवाद्वितीयं सन्नामरूपविवर्जितम् ।
सृष्टेः पुराऽधुनाप्यस्य तादृक्त्वं तदितीर्यते ।। ५ ।।

परमात्मा अस्मिन्मायाकल्पिते जगति विद्याधिकारिणि शमादिसाधनसंपन्नत्वेन विद्यासंपादनयोग्येऽस्मिञ्छ्रवणाद्यनुष्ठानवति देहे मनुष्यादिशरीरे बुद्धेर्बुद्ध्युपलक्षितस्य सूक्ष्मशरीरस्य साक्षितयाऽविकारित्वेनावभासकतया स्थित्वाऽवस्थाय स्फुरन् प्रकाशमानोऽहमितीर्यते, लक्षणया 'अहं'पदेनोच्यत इत्यर्थः ।। ३ ।।

'ब्रह्म'शब्दार्थमाह—

स्वत इति । स्वतः परिपूर्णः स्वभावतो देशकालाद्यनवच्छिन्नः पूर्वोक्तः परमात्माऽत्रास्मिन्महावाक्ये 'ब्रह्म'शब्देन ब्रह्मेत्यनेन पदेन वर्णितः, लक्षणयोक्त इत्यर्थः । एतद्वाक्यगतेन'अस्मि' इति पदेन पदद्वयसामानाधिकरण्यलभ्यं जीवब्रह्मणोरैक्यं परामृश्यत इत्याह—**अस्मीति** । फलितमाह—**तेनेति** ।। ४।।

इदानीं छान्दोग्यश्रुतिगतस्य 'तत्त्वमसि' (छा० ६।८।७) इति वाक्यस्यार्थप्रकाशनाय 'तत्'पदलक्ष्यार्थमाह—

एकमेवेति । 'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' (छा० (६।२।१) इति वाक्येन सृष्टेः पुरा स्वगतादिभेदशून्यं नामरूपरहितं यत्स-

"यच्चाप्नोति यदादत्ते यच्चात्ति विषयानिह ।
यच्चास्य सन्ततो भावस्तस्मादात्मेति भण्यते"

इत्यभियुक्तोक्तेः परश्चासावात्मेति व्युत्पत्तेश्च प्रत्यक्प्रकाशपरमानन्द इत्येतत् । एतेन निरतिशयपुमर्थत्वं तत्र द्योत्यते । सोऽप्यस्मिन्विद्याधिकारिणि देहे नित्यानित्यविवेकादिनिदिध्यासनान्तसाधनसम्पन्नशरीर इति यावत् । बुद्धेः साक्षितया स्थित्वा स्फुरन्सन्नित्यर्थः । वस्तुतश्चिन्मात्रभूम्नि तस्मिन्नेव स्फूर्तिक्रियाश्रयत्वमित्याशयः । अहमितीर्यते लक्ष्यत इत्यर्थः ॥ ३ ॥

स्वत इति । एवं च ब्रह्मपदस्याप्यव्यावृत्तेत्यादिवार्त्तिकादुक्त एवार्थ इत्यतः फलितमाह—**अस्मीति** । एतेन तैत्तिरीयाणां ब्रह्माहमस्मीत्यपि तद्व्याख्यातम् ॥ ४ ॥

तद्द्राणायन्याख्यसामवेदशाखीयछान्दोग्योपनिषद्गतं तत्त्वमसीति महावाक्यं

श्रोतुर्देहेन्द्रियातीतं वस्त्वत्र त्वंपदेरितम् ।
एकता ग्राह्यतेऽसीति तदैक्यमनुभूयताम् ॥ ६ ॥
स्वप्रकाशापरोक्षत्वमयमित्युक्तितो मतम् ।
अहंकारादिदेहान्तात्प्रत्यगात्मेति गीयते ॥ ७ ॥

द्वस्तु' प्रतिपादितमस्ति अस्य सद्वस्तुनोऽधुनापि सृष्ट्युत्तरकालेऽपि तादृक्त्वं विचारदृष्ट्या तथात्वं तदितिपदेनेर्यते, लक्ष्यत इत्यर्थः ॥ ५ ॥

'त्वं'पदलक्ष्यार्थमाह—

श्रोतुरिति । श्रोतुः श्रवणाद्यनुष्ठानेन महावाक्यार्थप्रतिपत्तुर्देहेन्द्रियातीतं देहेन्द्रियोपलक्षितस्थूलादिशरीरत्रयसाक्षितया तद्विलक्षणं वस्तु सद्वस्त्वेव 'त्वं'पदेरितम्, वाक्यगतेन त्वमिति पदेन लक्षितमित्यर्थः । एतद्वाक्यस्थेन 'असि' इति पदेन 'तत्त्वं'पदसामानाधिकरण्यलब्धं पदार्थद्वयैक्यं शिष्यं प्रति प्रत्याय्यत इत्याह—**एकतेति** । सिद्धमर्थमाह—**तदैक्यमिति** । तयोस्तत्त्वंपदार्थयोरैक्यं प्रमाणसिद्धमेकत्वमनुभूयतां मुमुक्षुभिरित्यर्थः ॥ ६ ॥

क्रमप्राप्तस्याथर्वणवेदगतस्य 'अयमात्मा ब्रह्म' (माण्डू० २) इति वाक्यस्यार्थं व्याचिकीर्षुरादौ 'अयमात्मा' इति पदद्वयेन विवक्षितमर्थं क्रमेण दर्शयति—

स्वप्रकाशेति । अयमित्युक्तितः 'अयम्' इति शब्देन स्वप्रकाशापरोक्षत्वं स्वप्रकाशेनापरोक्षत्वं मतमभिमतम् । अदृष्टादिवन्नित्यपरोक्षत्वं घटादिवत् दृश्यत्वं च व्यावर्तयितुं विशेषणद्वयमिति बोद्धव्यम् । देहादिष्वप्यात्मशब्दप्रयोगदर्शनादत्रात्मशब्देन किं विवक्षितमित्याकाङ्क्षायामाह—**अहंकारेति** । अहंकार आदिर्यस्य प्राणमनइन्द्रियदेहसंघातस्य सोऽहंकारादिस्तथा

व्याचष्टे—**एकमेवेति** । स्वगतादिभेदत्रयवियुक्तम् । तथा कालत्रयाबाध्यं नामरूपहीनं च यदद्वैतं कल्पितद्वैतसृष्टेः प्रागद्यापि वर्तते तद्वस्तु तत्पदलक्ष्यमस्तीत्यर्थः ॥ ५ ॥

श्रोतुरिति । श्रवणादिसाधनकर्तुः शिष्यस्येत्यर्थः । **देहेति** । उपलक्षणमिदमन्तःकरणादेरपि । एवं त्वम्पदलक्ष्यं मनःसाक्षित्वोपलक्षितं चिन्मात्रमुपपाद्यासिपदार्थं तदुभयैक्यमाह—**एकतेति** । पुनः परमकरुणयाऽऽचार्यः शिष्याननुशास्ते—**तदैक्यमिति** ॥ ६ ॥

इत्यमेवाथर्वणवेदगतमाण्डूक्यशाखोपनिषद्गतमयमात्मा ब्रह्मेति महावाक्यं विशदयति—**स्वप्रकाशेति** । अनधीनभानात्मत्वमित्यर्थः । **अहंकारेति** । सूक्ष्मादिदेहद्वय-

दृश्यमानस्य सर्वस्य जगतस्तत्त्वमीर्यते ।
ब्रह्मशब्देन तद्ब्रह्म स्वप्रकाशात्मरूपकम् ॥ ८ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यविद्यारण्यमुनिवर्यकृतपञ्चदश्यां
महावाक्यविवेकः समाप्तः ॥ ५ ॥

देहे अन्तो यस्योक्तसंघातस्य स देहान्तः, अहंकारादिश्चासौ देहान्तश्चेति तथा तस्मात्प्रत्यगधिष्ठानतया साक्षितया चान्तर आत्मेति गीयते, अस्मिन्वाक्य इत्यर्थः ॥ ७ ॥

ब्राह्मणादिष्वपि 'ब्रह्म'शब्दस्य प्रयोगदर्शनात्तद्व्यावर्तनायात्र विवक्षितमर्थमाह—

दृश्यमानस्येति । दृश्यत्वेन मिथ्याभूतस्य सर्वस्याकाशादेर्जगतस्तत्त्वमधिष्ठानतया तद्बाधावधित्वेन च पारमार्थिकं सच्चिदानन्दलक्षणं यद्रूपमस्ति तद्ब्रह्मशब्देनेर्यते, कथ्यत इत्यर्थः । वाक्यार्थमाह—**तद्ब्रह्मेति** । यदुक्तलक्षणं ब्रह्म स्वप्रकाशात्मरूपं स्वरूपं यस्य तत्स्वप्रकाशात्मरूपकं स एवेत्यर्थः ॥ ८ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीभारतीतीर्थविद्यारण्य-
मुनिवर्यकिङ्करेण श्रीरामकृष्णाख्यविदुषा विरचिता
महावाक्यविवेकदीपिका समाप्ता ॥ ५ ॥

सङ्घातादित्यर्थः । प्रत्यक्प्रातिकूल्येन प्रकाशमान इति यावत् । आत्मेति गीयत आत्मपदेन लक्ष्यत इत्येतत् ॥ ७ ॥

अथ ब्रह्मपदार्थमाह—**दृश्येति** । द्वैतस्य मिथ्यात्वेन तद्बाधावधिभूतं वस्त्वित्यर्थः । फलितमाह—**तदित्यादिशेषेण** । एवं चेह यदुपोद्घाते पुरा प्रतिपादितम्—

"मुक्तस्य सर्वभानं सर्वात्मत्वेन भवति सर्वत्र ।
सर्वनियन्तृत्वाद्यपि प्रतिबन्धः पञ्चमोऽयमीशमितौ"

इतितत्पदार्थभूतेश्वरस्वरूपज्ञानविषयकफलविपरीतभावनालक्षणपञ्चप्रतिबन्धमुक्त्वा

"ब्रह्मैकमेव मुक्तिर्यत्र द्वैतं न विद्यते किमपि ।
इति तत्प्रधानताऽपि स्पष्टतरा पञ्चमे ज्ञेया"

इति पञ्चमप्रकरणस्य पञ्चदश्यां **महावाक्यविवेकाख्यस्यास्य** निरुक्तप्रतिबन्धबाधकत्वं ब्रह्माद्वैतात्मैक्यलक्षणामोक्षमात्रपरत्वेन तत्सङ्गतमेव । ऋगादिवेदचतुष्टयमहावाक्यानामप्यद्वैतस्वप्रकाशात्मानन्दरूपब्रह्ममात्रपरत्वान्निरतिशयसुखं च दुःखजातव्युपरमणं च वदन्ति मोक्षतत्त्वमिति **संक्षेपशारीरकोक्त्या** मोक्षस्य तदेकरूपत्वादुक्तमहा-

वाक्यार्थविरुद्धतदर्थप्रतिपादकयावद्भेदवादिनां तु पूर्वाचार्यैः सर्वैरप्यनेकाकरप्रकरण-ग्रन्थेषु खण्डितत्वाच्च। तस्माद्विवेकपञ्चकमिदं निरुक्तेशमितिविषयकविषयवासना-प्रमाणासम्भावनाप्रमेयासम्भावनासाधनविपरीतभावनाफलविपरीतभावनाख्यक्रामिक-प्रतिबन्धपञ्चकबाधकत्वेन शोधिततत्पदार्थाख्यविशुद्धेश्वरे महातात्पर्येणैव पर्यवसानमिति शिवम् ॥ ८ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमदद्वैतसच्चिदानन्देन्द्रसरस्वतीशिष्यश्रीमत्पदवाक्यप्रमाण-क्षीरार्णवविहरणश्रीमदद्वैतविद्येन्दिरारमणषष्ठ्युपनामकश्रीनारायणशास्त्रिचरणसरोजराज-हंसायमानमानसमोडकोपनामकाच्युतशर्मणा विद्यार्थिना विरचितायां पूर्णानन्देन्दुकौमुद्यभिधायां पञ्चदशीटीकायां महावाक्यविवेकप्रकाशः पञ्चमः सम्पूर्णः ॥ ५ ॥

षष्ठं चित्रदीपप्रकरणम्

यथा चित्रपटे दृष्टमवस्थानां चतुष्टयम् ।
परमात्मनि विज्ञेयं तथाऽवस्थाचतुष्टयम् ।। १ ।।

शुक्लाम्बरधरं विष्णुं शशिवर्णं चतुर्भुजम् ।
प्रसन्नवदनं ध्यायेत्सर्वविघ्नोपशान्तये ।। १ ।।
यस्य स्मरणमात्रेण विघ्ना दूरं प्रयान्ति हि ।
वन्देऽहं दन्तिवक्त्रं तं वाञ्छितार्थप्रदायकम् ।। २ ।।
नत्वा श्रीभारतीतीर्थविद्यारण्यमुनीश्वरौ ।
क्रियते चित्रदीपस्य व्याख्या तात्पर्यबोधिनी ।। ३ ।।

चिकीर्षितस्य ग्रन्थस्य निष्प्रत्यूहपरिपूरणाय परमात्मनीति पदेनेष्टदेवतातत्त्वानुसंधानलक्षणं मङ्गलमाचरन्नस्य ग्रन्थस्य वेदान्तप्रकरणत्वात्तदीयैरेव विषयादिभिस्तद्वत्तासिद्धिं मनसि निधाय 'अध्यारोपापवादाभ्यां निष्प्रपञ्चं प्रपञ्च्यते' इति न्यायमनुसृत्य परमात्मन्यारोपितस्य जगतः स्थितिप्रकारं सदृष्टान्तं प्रतिजानीते—

यथेति । चित्रपटे यथा वक्ष्यमाणानां अवस्थानां चतुष्टयं तथैव परमात्मन्यपि वक्ष्यमाणमवस्थाचतुष्टयं ज्ञेयमिति ।। १ ।।

अद्वैतानन्दसच्चिद्विभुविमलपरब्रह्मकूटस्थरूपं
मोहाद्द्वैतेन्द्रजालालयमपि तिलकं स्वप्रकाशं श्रुतीनाम् ।
सर्वांश्चाऽऽचार्यवर्यान्रघुकुलतिलकं सद्गुरुं ब्रह्मनिष्ठं
श्रीमन्नारायणाख्यं स्वगुरुमपि महादेवसंज्ञं प्रणौमि ।। १ ।।
मत्वा जीवज्जीवान्विद्यारण्यं च भारतीतीर्थम् ।
स्फुटयामि चित्रदीपं कौमुद्याः किल रसप्रकाशेन ।। २ ।।

अथ भगवान्विद्यारण्याचार्यश्चित्रदीपाख्यं पञ्चदश्याः षष्ठं प्रकरणं कुर्वाणोऽन्तेवासिप्रवीणप्रवृत्तयेऽस्याद्वैतशास्त्रीये एव विषयप्रयोजने अपि प्रतिपादयन्प्रथितप्रमाणप्रयोजनकमात्मतत्त्वानुसन्धानलक्षणं मङ्गलमपि 'चित्रमिव मिथ्यामनोरमम्' इति **मैत्रायणीयश्रुतेः** 'अकृत्रिममरङ्गं च गगने चित्रमुत्थितम्' इति **बृहद्योगवासिष्ठाख्यस्मृतेश्च** प्रसिद्धचित्रपटदृष्टान्तेनैव व्यनक्ति—**यथेति** ।। १ ।।

यथा धौतो घट्टितश्च लाञ्छितो रञ्जितः पटः ।
चिदन्तर्यामी सूत्रात्मा विराट् चात्मा तथेर्यते ।। २ ।।
स्वतः शुभ्रोऽत्र धौतः स्याद्घट्टितोऽन्नविलेपनात् ।
मष्याकारैर्लाञ्छितः स्याद्रञ्जितो वर्णपूरणात् ।। ३ ।।
स्वतश्चिदन्तर्यामी तु मायावी सूक्ष्मसृष्टितः ।
सूत्रात्मा स्थूलसृष्ट्यैव विराडित्युच्यते परः ।। ४ ।।

किं तदित्याकाङ्क्षायां दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोरुभयोरप्यवस्थाचतुष्टयं क्रमेणोद्दिशति—

यथेति । धौतः, घट्टितः, लाञ्छितः, रञ्जित इत्येवंप्रकाराश्चतस्रोऽवस्था यथा चित्रपटे उपलभ्यन्ते, तथा परमात्मन्यपि चित्, अन्तर्यामी, सूत्रात्मा, विराट् चेत्यवस्थाचतुष्टयं बोद्धव्यमित्यर्थः ।। २ ।।

दृष्टान्तस्थितानामवस्थानां स्वरूपं क्रमेण व्युत्पादयति—

स्वत इति । अत्र आस्ववस्थासु मध्ये स्वतो द्रव्यान्तरसंबन्धं विना शुभ्रो 'धौतः' इत्युच्यते, अन्नेन लिप्तो 'घट्टितः', मषीमयैराकारैर्युक्तो 'लाञ्छितः', यथायोग्यं वर्णैः पूरितो 'रञ्जितः' स्यात् ।। ३ ।।

दार्ष्टान्तिके ताः व्युत्पादयति—

स्वत इति । परः परमात्मा मायातत्कार्यरहितः 'चित्' इत्युच्यते, मायायोगात् 'अन्तर्यामी', अपञ्चीकृतभूतकार्यसमष्टिसूक्ष्मशरीरयोगात् 'सूत्रात्मा', पञ्चीकृतभूतकार्यसमष्टिस्थूलशरीरोपाधियोगात् 'विराट्' इति ।। ४ ।।

कथं तदवस्थाचतुष्टयं दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोरुभयोरपीत्यपेक्षायां तत्स्पष्टयति—**यथेति** ।। २ ।।

धौतादित्वमेव विशदयति—**स्वत इति** ।। ३ ।।

दार्ष्टान्तिकेऽप्येतद्योजयति—**स्वतश्चिदिति** । ननु तन्तुवायनिर्मिते पटे रजककृतधावनलक्षणसंस्कारविशेष एव धौतत्वं तथाऽत्र चितिनैव संस्कारः कोऽप्युक्त इति वैषम्यमिति चेन्न । तत्र धौतशब्देन वास्तविककार्पासतन्तुनिष्ठशुभ्ररूपवत्त्वस्यैव विवक्षितत्वान्निरुक्तरजकव्यापारस्य तु तत्राऽऽगन्तुकतन्तुवायकृतसंस्कारनिरासार्थमुपयोगाच्च । एतदाशयेनैवोभयत्रापि शुद्धत्वसाधर्म्यघटकस्वतःपदप्रयोग इति । सूक्ष्मेत्यादि सूत्रेत्युत्तरान्वयि ।। ४ ।।

ब्रह्माद्याः स्तम्बपर्यन्ताः प्राणिनोऽत्र जडा अपि ।
उत्तमाधमभावेन वर्तन्ते पटचित्रवत् ॥ ५ ॥

चित्रार्पितमनुष्याणां वस्त्राभासाः पृथक् पृथक् ।
चित्राधारेण वस्त्रेण सदृशा इव कल्पिताः ॥ ६ ॥

ननु परमात्मनः चित्रपटस्थानीयत्वे तदाश्रितानि चित्राणि वक्तव्यानीत्यत आह---

ब्रह्माद्या इति । अत्र परमात्मनि उत्तमाधमभावेन वर्तमानं ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तं चेतनात्मकं गिरिनद्यादि जडजातं च चित्रस्थानीयमित्यर्थः ॥ ५ ॥

ब्रह्मादिजगतश्चेतनस्थानीयत्वे कारणं वक्तुं दृष्टान्तमाह---

चित्रेति । यथा चित्रे लिखितानां मनुष्यादिशरीराणामेव नानावर्णोपेता वस्त्रविशेषा लिख्यन्ते, ते च शीताद्यनिवारकत्वाद्वस्त्राभासा एव ॥ ६ ॥

ननु भवत्वयं परशब्दितः परमात्मैव स्थूलसृष्ट्याख्योपाधिविशेषेण विराडथापि सूक्ष्मसृष्टिलक्षणापञ्चीकृतपञ्चमहाभूततत्कार्यप्रपञ्चरूपोपाध्यवच्छिन्नसूत्रात्मपदवाच्य - समष्टिजीवव्याप्या व्यष्टिजीवाः क्व कल्पिता इत्याशङ्क्यात्रैवेति सदृष्टान्तं समाधत्ते- **ब्रह्माद्या इति ।** ब्रह्मा चतुरानन आद्यः प्रथमो येषां ते तथेत्यर्थः । अत्र लम्बकर्णमानयेत्यादिवत्तद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीहिपक्षे ।

"स वै शरीरी प्रथमः स वै पुरुष उच्यते ।
आदिकर्ता स भूतानां ब्रह्माऽग्रे समवर्तत"

इतिस्मृतेश्चतुरास्योऽपि जीवविशेष एव । चित्रगुमानयेत्यादिवदतद्गुणसंविज्ञानपक्षे तु "अथ यो ह खलु वावास्य राजसोंऽशोऽसौ स ब्रह्मचारिणो योऽयं ब्रह्म" इति । मैत्रायणीयश्रुतेस्तस्य मायीश्वरराजसलीलाविग्रहविशेषत्वेनेश्वरत्वात्तद्व्युदास एव विवक्षित इति भावः । नन्वथापि कोऽत्र पक्षः श्रेयानिति विचिकित्सां कः शमयेदिति चेत्सत्यम् । "ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्तदात्मानमेवावेदहं ब्रह्मास्मीति तस्मात्तत्सर्वमभवत्" इति श्रुत्येकवाक्यतया स्मार्तं ब्रह्मपदमेव समष्टिजीवपरमित्याद्यपक्ष एव श्रेयान् । अन्यथा स्तम्बेत्यादौ वैरूप्यापत्तेरिति तत्त्वम् । **प्राणिन इत्यादि ।** प्राणिनस्तथा जडाः पर्वतादयोऽपि । **उत्तमेति । पटेति ।** अत्र वर्तत इत्यन्वयः ॥ ५ ॥

एवं चेह जीवानां किं स्वरूपमित्यपेक्षायां वक्ष्यमाणाभासवादमेव प्रपञ्चयितुं सदृष्टान्तं तदाह---**चित्रेति** प्रभृतिद्वाभ्याम् । चित्रकारेणेत्यार्थिकम् ॥ ६ ॥

पृथक् पृथक्चिदाभासाश्चैतन्याध्यस्तदेहिनाम् ।
कल्प्यन्ते जीवनामानो बहुधा संसरन्त्यमी ।। ७ ।।

वस्त्राभासस्थितान् वर्णान् यद्वदाधारवस्त्रगान् ।
वदन्त्यज्ञास्तथा जीवसंसारं चिद्गतं विदुः ।। ८ ।।

चित्रस्थपर्वतादीनां वस्त्राभासो न लिख्यते ।
सृष्टिस्थमृत्तिकादीनां चिदाभासस्तथा नहि ।। ९ ।।

दार्ष्टान्तिकमाह—

पृथगिति । एवं परमात्मन्यारोपितानां देवादीनां शरीराणामेव जीवनामानश्चिदाभासाः प्रत्येकं कल्प्यन्ते, न पर्वतादीनाम् । तेषां तत्कल्पने कारणमाह—**बहुधेति** । अमी जीवाः देवतिर्यङ्मनुष्यादिशरीरप्राप्त्या बहुधा संसरन्ति, न परमात्मा; तस्य निर्विकारित्वादित्यभिप्रायः ।। ७ ।।

ननु सर्वे वादिनो वैदिका लौकिकाश्चात्मन एव संसार इति वदन्ति, तत्र किं कारणमित्याशङ्क्य अज्ञानमेव कारणमिति सदृष्टान्तमाह—

वस्त्राभासेति ।। ८ ।।

गिरिनद्यादीनां तु चिदाभासकल्पनाभावं दृष्टान्तपुरःसरमाह—

चित्रस्थेति । प्रयोजनाभावादिति भावः ।। ९ ।।

पृथक्पृथगिति । चैतन्येति । अधिष्ठानीभूतब्रह्मचैतन्ये आरोपितोक्तशरीरिणामित्यर्थः । कल्प्यन्ते माययेति शेषः ।। ७ ।।

ततः किं तदाह—**वस्त्राभासेति** । यथा चित्रपटलिखितदेवमनुष्यादीनां विलिखितपरिहितवस्त्राभासनिष्ठनीलपीतादिवर्णानज्ञा मूढा आधारवस्त्रगान्वदन्ति तथैव जीवसंसारं चिदाभासनिष्ठकर्तृत्वादिकं मूर्खा एव चिद्गतं विदुरिति ।। ८ ।।

ननु भवत्वेवमथाप्युक्तचिदाभासरूपा जीवाः किं मृत्पाषाणादीनां जडानां सन्ति न वेति शङ्कां सनिदर्शनं शमयति—**चित्रस्थेति** । न चैवं तर्हि चित्रस्थवृक्षादीनामपि वस्त्राभासा लेखनात्तेषामपि मृत्तिकादिवन्निर्जीवत्वापत्तिरिति साम्प्रतम् । यत्र शास्त्रादिना सजीवत्वं न सिध्यति तावन्मात्रस्यैव मृत्तिकादीनामित्यादिपदेन विवक्षितत्वाद्वृक्षादीनां तु सजीवत्वस्य "तस्माज्जिघ्रन्ति पादपाः" इत्यादिमोक्षधर्मादिशास्त्रसिद्धत्वाच्चेति दिक् ।। ९ ।।

संसारः परमार्थोऽयं संलग्नः स्वात्मवस्तुनि ।
इति भ्रान्तिरविद्या स्याद्विद्ययैषा निवर्तते ॥ १० ॥

आत्माभासस्य जीवस्य संसारो नात्मवस्तुनः ।
इति बोधो भवेद्विद्या लभ्यतेऽसौ विचारणात् ॥ ११ ॥

सदा विचारयेत्तस्माज्जगज्जीवपरात्मनः ।
जीवभावजगद्भावबाधे स्वात्मैव शिष्यते ॥ १२ ॥

एवमात्मन्यारोपितस्य संसारस्य ज्ञाननिवर्त्यत्वसिद्धये तन्मूलभूताम-विद्यामाह—

संसार इति ॥ १० ॥

केयं विद्या, तल्लाभोपायश्च क इत्याकाङ्क्षायां विद्यास्वरूपं तल्ला-भोपायं च दर्शयति—

आत्माभासस्येति । चिदाभासस्येत्यर्थः ॥ ११ ॥

विचाराल्लभ्यते विद्येत्युक्तं, कस्य विचाराल्लभ्यते विद्येत्याशङ्क्याह—

सदेति । ननु परात्मा विचार्यतां मोक्षावस्थायां फलरूपेणावस्था-नाज्जीवजगतोर्विचारः क्वोपयुज्यत इत्याशङ्क्य तयोरपवादेन परमात्माव-शेषणे उपयुज्यत इत्याह—**जीवभावेति** ॥ १२ ॥

ननु प्रपूर्वपद्ये चिदाभासगतमेव संसारं शुद्धब्रह्मरूपात्मगतमज्ञा एव वदन्तीत्युक्तं तत्कीदृशमज्ञानमिति तत्स्वरूपाकाङ्क्षायां तदाह **संसार इति** ॥ १० ॥

कीदृशी सा विद्येत्यत आह—**आत्मेति**। संसारः सत्यत्वेन द्वैतप्रतिभासः । सा विद्या कथं लभ्येतेत्यत्राऽऽह—**लभ्यत इति** ॥ ११ ॥

ननु किंविषयकविचारणेनोक्तरूपविद्यालाभ इत्याशङ्क्य तानाह—**सदेति** । यथाऽयं सर्प इति भ्रमे भासमानसर्पेदम्पदार्थतत्संसर्गा एव विचारणीयास्तत्र दीपालोकेन मन्दान्धकारध्वंसद्वारा सर्पतत्संसर्गयोर्ध्वंसे सतीदम्पदार्थीभूतहार एवावशिष्यते तद्वद्विचारेणोक्ताविद्याध्वंसद्वारा जीवभावजगद्भावयोर्बाधे सति स्वात्मैव शिष्यत इत्युचित-मेवेति भावः ॥ १२ ॥

नाप्रतीतिस्तयोर्बाधः किंतु मिथ्यात्वनिश्चयः ।
नो चेत्सुषुप्तिमूर्च्छादौ मुच्येतायत्नतो जनः ।। १३ ।।
परमात्मावशेषोऽपि तत्सत्यत्वविनिश्चयः ।
न जगद्विस्मृतिर्नो चेज्जीवन्मुक्तिर्न संभवेत् ।। १४ ।।
परोक्षा चापरोक्षेति विद्या द्वेधा विचारजा ।
तत्रापरोक्षविद्याप्तौ विचारोऽयं समाप्यते ।। १५ ।।

ननु विचारेण जीवभावजगद्भावबाधे स्वात्मैव शिष्यते, इत्युक्तविचारेण जीवजगतोर्बाधे तदप्रतीत्या व्यवहारलोपः प्रसज्जेतेत्याशङ्क्य 'बाध' शब्दस्य विवक्षितमर्थं विपक्षे दण्डे चाह—

नाप्रतीतिरिति । सुषुप्तिमूर्च्छादौ स्वत एव द्वैतप्रतीत्यभावात्तत्त्वज्ञानं विनापि मुक्तिः स्यादित्यर्थः ।। १३ ।।

'स्वात्मैव शिष्यते' इत्यनेनापि परमात्मनः सत्यत्वज्ञानमेव विवक्ष्यते, न तदतिरिक्तजगद्विस्मृतिर्जीवन्मुक्त्यभावप्रसङ्गादित्याह—

परमात्मेति ।। १४ ।।

'सदा विचारयेत्' इत्युक्त्या देहपातपर्यन्तं विचारप्रसक्तौ सत्यां तस्यावधिमाह—

परोक्षेति ।। १५ ।।

ननु कोऽत्र बाधपदार्थ इत्यतस्तमाह—**नाप्रतीतिरिति** । न चेदं शुक्तिरजतरज्जुसर्पादिभ्रमेष्वव्याप्तमिति साम्प्रतम् । तत्र निरुपाधिभ्रमत्वेनाप्रतीतिसत्त्वेऽपि मिथ्यात्वनिश्चयानपायादित्याशयः । विपक्षे बाधकमाह—**नो चेदिति** । आदिना मरणाद्यपि ।१३।

नन्वेवं चेत्तर्हि स्वात्मैव शिष्यत इति स्ववचसैव पूर्वपद्येऽवधारणध्वनितद्वैताप्रतीत्या सह विरोध इति चेत्सत्यम् । तत्राप्येवमेव पारिभाषिकार्थस्य विवक्षितत्वादित्याह—**परमात्मेति** । तत्रापि विपक्षे बाधकमाह—**नो चेदित्यादिना** ।। १४ ।।

ननु भवत्वेवं 'जीव प्राणधारणे' इति स्मरणाज्जीवतीति जीवस्तस्य मुक्तिरिति व्युत्पत्तेश्च सिद्धाया बाधोत्तरमपि मृगजलादिवत्सोपाधिकभ्रमत्वेन यावदुपाधिमिथ्यात्वेन भासमानमूलाविद्येतरप्रारब्धभोगोपयुक्ताखिलदृश्यपूर्वकाद्वैतात्मानुसंधानलक्षणाया जीवन्मुक्तेरन्यथासिद्ध्यनापत्त्या चिन्मात्रसत्यत्वविनिश्चय एव परमात्मावशेषस्तथाऽपि सदा विचारयेदित्यादि प्रपूर्वपद्ये सर्वदा जगदादिविचारो विहितः स तु—

"आत्मब्रह्मविचाराख्यं शास्त्रीयं मानसं जगत् ।
बुद्धे तत्त्वे तच्च हेयमिति श्रुत्यनुशासनम्"

अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद परोक्षज्ञानमेव तत् ।
अहं ब्रह्मेति चेद्वेद साक्षात्कारः स उच्यते ।। १६ ।।
तत्साक्षात्कारसिद्ध्यर्थमात्मतत्त्वं विविच्यते ।
येनायं सर्वसंसारात् सद्य एव विमुच्यते ।। १७ ।।
कूटस्थो ब्रह्म जीवेशावित्येवं चिच्चतुर्विधा ।
घटाकाशमहाकाशौ जलाकाशाभ्रखे यथा ।। १८ ।।

विचारजन्या विद्या परोक्षत्वापरोक्षत्वभेदेन द्वेधेत्युक्तं, तयोरुभयोः स्वरूपं क्रमेण दर्शयति—

अस्ति ब्रह्मेति ।। १६ ।।

एवंविधात्मसाक्षात्कारासाधारणकारणमात्मतत्त्वविवेचनं प्रतिजानीते—

तत्साक्षात्कारेति । येन साक्षात्कारेण पुमान् सद्य एव विमुच्यते तत्साक्षात्कारसिद्धयर्थंमिति पूर्वेणान्वयः ।। १७ ।।

चिदात्मनः पारमार्थिकमेकत्वं निश्चेतुं व्यवहारदशायां प्रतीयमानं चैतन्यभेदमुद्दिशति—

कूटस्थ इति । एकस्याश्चितेश्चातुर्विध्ये दृष्टान्तमाह—**घटाकाशेति ।। १८ ।।**

इति **द्वैतविवेकोक्तिविरुद्ध** एवेत्याशङ्क्यां समाधातुं प्रावसामान्यतो लक्षितविद्याया द्वैविध्यं विधत्ते—**परोक्षा चेति ।** ततः किं तत्राऽऽह—**तत्रापरोक्षेति ।। १५ ।।**

ते अपि विद्ये लक्षयति—**अस्तीति ।** तथा चाऽऽम्नायते क्रमाद्ब्रह्मवल्लीबृहदा**रण्यकयोः**—'अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद । संतमेनं ततो विदुः' इति । 'तदाऽऽत्मानमेवावेदहं ब्रह्मास्मीति तस्मात्तत्सर्वमभवत्' इति च ।। १६ ।।

ननूक्तसाक्षात्कारः कथं स्यादित्याशङ्क्याऽऽत्मतत्त्वविवेचनादेवेति सूचयंस्तत्प्रतिजानीते – **तत्साक्षात्कारेति ।** अयं मुमुक्षुः । येन साक्षात्कारेण । **सर्वेति ।** यावद्द्वैताध्यासादित्यर्थः । सद्य एव शुद्धं ब्रह्मेति विषयीकुर्वाणा वृत्तिः स्वस्वेतरोपाधिनिवृत्तिरुदयत इति **कल्पतरूक्तेः** साक्षात्काराख्यसद्गुरुसमुपदिष्टस्वशाखीयसुविचारितवेदान्तमहावाक्यजन्यचरमचित्तवृत्तितुल्यकालमेवेति यावत् । विमुच्यते जीवन्मुक्तः प्रागुक्तरीत्या भवति । **तदिति ।** तादृशसाक्षात्कारसिद्धयर्थंमित्यर्थः । **आत्मेति ।** आत्मनः कालत्रयाबाध्यं स्वरूपमित्येतत् । विविच्यते तदध्यस्तद्वैतात्पृथक्कारेण तन्मिथ्यात्वपूर्वकं ज्ञाप्यत इत्यन्वयः । नयेत्यध्याहारेणामानित्वस्वाभाव्यं द्योत्यते ।। १७ ।।

तत्रास्मिञ्शास्त्रे जीवेश्वरस्वरूपैक्यबोधकं वाक्यं हि महावाक्यमित्युच्यते ।

शाखस्य तन्मात्रविषयकत्वात्। तस्य तु जीवेश्वरवाचकपदयोर्जहदजहत्स्वार्थलक्षणा-वृत्त्यङ्गीकारं विना परस्परविरुद्धविशिष्टचिल्लक्षणयोः स्वार्थयोरैक्यायोगात्तल्लक्ष्यौ वाच्यौ च पदार्थौ क्रमादुद्दिशति—**कूटस्थ इति**। एवं चात्र मूलकारस्याऽऽचार्यस्य **पूर्वाश्रमे माधवाख्यस्य—**

"**भारद्वाजः कुलं यस्य शाखा यस्य च याजुषी।**
सूत्रं बोधायनं यस्य स सर्वज्ञो हि माधवः"।

इति तदीयग्रन्थगततत्प्रशस्तिवचनाद्बोधायनसूत्रत्वेन तैत्तिरीयाख्यमुख्ययाजुष-शाखीयोपनिषद्गतमेव 'स यश्चासावादित्ये स एकः'। इत्येव **महावाक्यं** विवेचनीयत्वेन विवक्षितम्। जीववाचकपदस्य प्रथमं तत्रैव समुपलब्धत्वात् 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्यादि-शाखान्तरमहावाक्यस्य तथात्वेऽपि।

"स्वाध्यायधर्मपठितं निजवेदशाखावेदान्तभूमिगतमादरपालितं च।
संन्यासिना परदृशा गुरुणोपदिष्टं साक्षान्महावचनमेव विमुक्तिहेतुः"

इति **सर्वज्ञात्म**मुनीश्वरणवचनेन स्वशाखस्थस्यैव तस्य विमुक्तिसाधकत्वात्प्रकृत-श्लोके जीवाद्यनुक्रमस्यैवोपलम्भाच्च। नन्वेकैवासंगस्वप्रकाशभूमचित्कथंचतुर्धेत्याशङ्क्य दृष्टान्तेन तत्स्पष्टयति—**घटाकाशेति**। जलाकाशादिस्वरूपं त्वग्रेऽनुपदमेव विवरिष्यत्या-चार्यः। ननु **तत्त्वविवेके**। प्रागेतैरेव जीवेश्वरयोः स्वरूपमेवं प्रतिपादितमस्ति—

"चिदानन्दमयब्रह्मप्रतिबिम्बसमन्विता।
तमोरजःसत्त्वगुणा प्रकृतिर्द्विविधा च सा।
सत्त्वशुद्ध्यविशुद्धिभ्यां मायाविद्ये च ते मते।
मायाबिम्बो वशीकृत्य तां स्यात्सर्वज्ञ ईश्वरः।
अविद्यावशगस्त्वन्यस्तद्वैचित्र्यादनेकधा" इति।

एवं चात्र पर्यवसितोऽर्थस्तु मयोक्तो बोधैक्यसिद्धावेवैतन्मतं प्रकृत्य—
"रजस्तमोभ्यामभिभूतसत्त्वा भवेदविद्या न तथा तु माया।
जीवेश्वरौ तत्प्रतिबिम्बरूपौ ब्रह्मात्मनः शुद्धचितेः क्रमेण"॥

तदिति। तत्राविद्यादौ प्रतिबिम्बरूपावित्यर्थः। ब्रह्मेत्यादि शुद्धचिद्विशेषणमेव। **अत्र पुनर्ग्रन्थारम्भे—**

"यथा धौतो घट्टितश्च लांछितो रंजितः पटः।
चिदन्तर्यामी सूत्रात्मा विराडात्मा तथेयंते"
इत्युपक्रम्य—स्वतश्चिदन्तर्यामी तु मायावी सूक्ष्मसृष्टितः।
सूत्रात्मा स्थूलसृष्ट्यैष विराडित्युच्यते परः" इत्युक्तम्।

अत्र पुनरिदानीं कूटस्थ इत्याद्युच्यते। तत्कथं न परस्परविरुद्धमिदं प्रक्रियात्रय-मेकाचार्यस्यापीति चेदुच्यते। तत्त्वविवेके तावद्यत्स्वसंमतत्वेन जीवेश्वरस्वरूपमवर्णि श्रीमद्**विद्यारण्याचार्य**चरणैस्तदेव मया **बोधैक्यसिद्धौ** पूर्वाचार्यसम्प्रदायसरण्या रजस्तमो-

भिभूतसत्त्वाख्यमूलाविद्यापरनामकप्रकृतिप्रतिबिम्बं ब्रह्म चैतन्यं जीवस्तदनभिभूतसत्त्वाख्यतद्भागप्रतिबिम्बितं तदीश्वर इति तत्तथैव। अस्मिन्प्रकरणे परं हरिहरचतुराननावतारीभूतभगवद्बादरायणश्रीशङ्करभगवत्पादश्रीमत्सुरेश्वराचार्यचरणाभिध - सूत्रभाष्यवार्तिककारप्रणीतत्वेन त्रिमुनिव्याकरणवत् त्रीश्वरेऽस्मिन्नद्वैतशास्त्रे 'यथोत्तरं मुनीनां प्रामाण्यम्' इति न्यायेन स्वोक्तजीवेश्वरस्वरूपसिद्धान्तस्य **श्रीमच्चरममुन्याख्यवार्तिककृत्**संमतभासवादेन सहैकमत्यव्यञ्जनार्थं तद्वादस्य चित्रपटघटाकाशादिदृष्टान्तैर्द्विविधसरण्यैव वुभुत्सुवुद्ध्यधिरोहसौकर्यार्थमतुलकरुणयैवोपन्यासः कृतः। तत्र श्रीमद्वार्तिककारसम्मत आभासवादस्तूक्तः **सिद्धान्तबिन्दौ**। अज्ञानोपहित आत्माऽज्ञानतादात्म्यापन्नस्वचिदाभासाविवेकादन्तर्यामी साक्षी जगत्कारणमिति च कथ्यते। वुद्ध्युपहितश्च तत्तादात्म्यापन्नस्वचिदाभासाविवेकाज्जीवः कर्ता भोक्ता प्रमातेति च कथ्यते। इति वार्तिककारपादा इत्यादिनाऽयमेव पक्ष आभासवाद इति गीयत इत्यन्तेन। आभासलक्षणं तूक्तं मया बोधैक्यसिद्धावेव प्रतिबिम्बेशवादारम्भ एव प्रकटार्थकृन्मतं प्रकृत्य। जीवेशौ रचयति या स्वगविभासादित्यादिश्रुतिवचसोऽपि युक्तमेतत्। आभासत्वमपि च बिम्बनिघ्नसत्त्वे सत्येतत्समपरिभासमाम्नतैवेति। 'अधीनो निघ्न आयतः' इत्यमराद्विम्बाधीनसत्ताकत्वे सतीत्यर्थः। एवं बिम्बत्वोपाधित्वे अपि तत्रैव लक्षिते। यदीयप्रमास्वप्रयुक्तं भ्रमं न प्रबाधेत तद्विम्बमारादुपावेः। स्वधर्मोद्यदारोपकत्वं हि तत्त्वं मुखादौ तु तद्दृश्यते दर्पणादेरिति। तत्त्वमुपाधित्वमिति यावत्। एवं च **वार्तिककारमते** जीवोपाधित्वेन वुद्धिरेव सम्मतेति तु निर्विवादमेव। सा च तत्त्वविवेके शुद्धमलिनसत्त्वप्रधानात्मकमूलाविद्यापरनामकमायाविद्याख्यप्रकृतिभागयुगभिन्ना सत्त्वप्रधानतामस्याख्यतत्तृतीयभागपरिणताकाशादिशब्दाद्यात्मकापञ्चीकृतसूक्ष्मपञ्चमहाभूतसत्त्वांशपञ्चकजन्येत्यभिहितम्।

तथा च—"अविद्यावशगस्त्वन्यस्तद्वैचित्र्यादनेकधा ।
सा कारणशरीरं स्यात्प्राज्ञस्तत्राभिमानवान्"

इति पूर्वार्धे जीवस्वरूपं यदुक्तं तत्समष्टयव्याकृताभिधव्यष्टिसुषुप्तसंज्ञकविलयकालिकमेवेत्यवश्यं वाच्यम्। उत्तरार्धे सेत्यादिना तथैव प्रतीतेस्तदुत्तरमेव।

"तमःप्रधानप्रकृतेस्तद्भोगायेश्वराज्ञया ।
वियत्पवनतेजोम्बुभुवो भूतानि जज्ञिरे"॥

इत्यादिना निरुक्तसृष्टयुक्तेश्च। तेनाव्याकृतदशायां त्रयाणामप्युक्तमूलाविद्याख्यप्रकृतिभागानामेकीभूतत्वेनैव स्थितत्वाज्जीवस्य त्वजन्यत्वाच्च तदानीमपि विद्यमानावश्यकत्वात्सृष्टिदशायामुक्तरीत्या वुद्धिरूपेण यत्परिणतं यत्सत्त्वं तदपि निरुक्ततमःप्रधानप्रकृतिकार्यत्वेन सृष्टिदशापन्नत्वेन च रजस्तमोभ्यामभिभूतमेवेति निरुक्तव्यक्तदशापन्नबुद्धावपि तादृशाविद्यात्वं तादृशाविद्यायामप्यव्याकृतदशापन्नायां जीवानादित्वान्यथानुपपत्तिसिद्धसूक्ष्मतमसंस्कारात्मकवुद्धिरूपत्वमपि युक्तमेवेति वार्तिकमततत्त्वविवेकमतयोर्जीवोपाध्योरैकरूप्यं सिद्धम्। एवं वार्तिकमतेऽपि **सिद्धान्तबिन्दौ** जहल्लक्षणाभास-

वादत्वेनोक्त्वाऽग्रे जहदजहल्लक्षणाया अपि सर्वसम्मताया उक्तत्वेन तत्त्वविवेकसंमत-प्रतिबिम्बवादस्याप्युक्ताभासवादे पर्यवसानं तदुपाध्यंशमिथ्यात्वेन प्रतिबिम्बवादेऽप्य-भासवादपर्यवसानमित्युपधेयजीवस्वरूपैक्यमप्युक्तमतयोर्युक्तमेव। तद्वत्तत्त्वविवेक ईश्वरोपाधिर्माययैवोक्ता वार्तिकमते त्वविद्योक्तेति यद्यपि भेद इव भाति तथाऽपि विचारे क्रियमाणे माया च तमोरूपेतिश्रुतेः।

"तरत्यविद्यां विततां हृदि यस्मिन्निवेशिते।
योगी मायाममेयाय तस्मै ज्ञानात्मने नमः"

इति स्मृतेश्च मायायां ज्ञाननिरस्यत्वेनाविद्यात्वस्याविद्यायां चेश्वरोपाधित्वेन शुद्धसत्त्वप्रधानत्वेन मायात्वस्यापि पर्यवसानान्मतद्वयेऽपीश्वरोपाध्यैकरूप्येण तदुपहितस्य साक्षिण ईश्वरस्याप्यैक्यमेवेति क्व नाम तत्त्वविवेकचित्रदीपयोर्विरोधगन्धोऽपि। एवं **कोशविवेके—**

"चिच्छायावेशतः शक्तिश्चेतनेव विभाति सा।
तच्छक्त्युपाधिसंयोगाद्ब्रह्मैवेश्वरतां व्रजेत्॥
कोशोपाधिविवक्षायां याति ब्रह्मैव जीवताम्।
पिता पितामहश्चैकः पुत्रपौत्रौ यथा प्रति" इति॥

द्वैतविवेकेऽपि—

"चैतन्यं यदधिष्ठानं लिङ्गदेहश्च यः पुनः।
चिच्छाया लिङ्गदेहस्था तत्सङ्घो जीव उच्यते॥
माहेश्वरी तु या शक्तिस्तस्या निर्माणशक्तिवत्।
विद्यते मोहशक्तिश्च तं जीवं मोहयत्यसौ॥"

इति च जीवादिस्वरूपप्रतिपादकवाक्यानि तात्पर्येणोक्ताभासवादपर्यवसितान्येव बोध्यानि। चिच्छायापदप्रयोगस्वारस्यादिति रहस्यम्। यच्चात्र चित्रपटघटाकाशादि-दृष्टान्तैराभासवादविशदीकारे पद्धतिद्वयमुपन्यस्तं तदप्यविरुद्धमेव। तथा हि। तत्र तावच्छुद्धब्रह्मस्थानीयो धौतपटो महाकाशश्च युक्त एव। परन्त्वीश्वरस्थानीयो घट्टितपटो जलाकाशश्च कथमिति शङ्का तु मूल एवाग्रेऽपाक्रियते साक्षेपमपि।

"तमःप्रधानः क्षेत्राणां चित्प्रधानश्चिदात्मनाम्।
परः कारणतामेति भावनाज्ञानकर्मभिः॥
इति वार्तिककारेण जडचेतनहेतुना।
परमात्मन एवोक्ता नेश्वरस्येति चेन्न तत्॥
अन्योन्याध्यासमत्रापि जीवकूटस्थयोरिव।
ईश्वरब्रह्मणोः सिद्धं कृत्वा ब्रूते सुरेश्वरः॥
सत्यं ज्ञानमनन्तं यद्ब्रह्म तस्मात्समुत्थिताः।
खवाय्वग्निजलोर्व्योषध्यन्नदेहा इति श्रुतिः॥

आपातदृष्टितस्तत्र ब्रह्मणो भाति हेतुता।
हेतोश्च सत्यता तस्मादन्योन्याध्यास इष्यते॥
अन्योन्याध्यासरूपोऽसावन्नलिप्तपटो यथा।
घट्टितेनैकतामेति तद्वद्भ्रान्त्यैकतां गतः॥
मेघाकाशमहाकाशौ विविच्येते न पामरैः।
तद्ब्रह्मेशयोरैक्यं पश्यन्त्यापातदर्शिनः॥ इति।

एवमीश्वरदृष्टान्तस्पष्टीकारवज्जीवजगद्दृष्टान्तस्पष्टीकरणमपि—

"सर्वतो लाञ्छितो मष्या यथा स्याद्घट्टितः पटः।
सूक्ष्माकारैस्तथेशस्य वपुः सर्वत्र लाञ्छितम्॥
सस्यं वा शाकजातं वा सर्वतोऽङ्कुरितं यथा।
कोमलं तद्वदेवैष पेलवो जगदङ्कुरः॥
आतपाभातलोको वा पटो वा वर्णपूरितः।
सस्यं वा फलितं यद्वत्तथा स्पष्टवपुर्विराट्॥" इति।

सूक्ष्माकारैरिति। सूक्ष्मलिङ्गशरीरैरित्यर्थः।

एतेन समष्टिलिङ्गशरीराभिमानिसूत्रात्माध्यासः सूचितः। एवं च पटाभाससमो सुभृदिति।

"जलव्योम्ना घटाकाशो यथा सर्वस्तिरोहितः।
तथा जीवेन कूटस्थः सोऽन्योन्याध्यास उच्यते॥"

इति च व्यष्टिजीवाध्यासस्तथा जगदध्यासश्च सर्वोऽपि द्योतित इति ध्येयम्।

प्रपञ्चितं चैतच्चित्रदीपप्रक्रियाद्वयविरोधबाधने बोधैक्यसिद्धौ मया सप्रश्नमपि—

"अन्तर्यामी किमीशो भवति यदि न वा नाऽऽद्य आत्मत्वहाना-
न्नान्त्याऽतत्त्वानुभूतेरिति विकलधियं शिक्षितुं चित्रदीपे।
विद्यारण्या वदेयुः श्रुतिसमभिमतं वार्तिकाचार्यजुष्टं
चिद्वातुर्विध्ययुक्तं द्विविधसरणितः स्पष्टमाभासवादम्॥
आदौ चित्रपटीनिदर्शनमिषादग्रे घटाकाश-
तद्वारिस्थप्रतिबिम्बखाभ्रगततच्छायादिदृष्टान्ततः।
चैतन्यस्य चतुर्विधत्वमुदितं कूटस्थजीवेश-
चिच्छुद्धब्रह्मभिदामृषात्वमनयोर्जीवेशयोः सर्वथा॥
पटो धौतो ब्रह्म स्फुटितमथ संघट्टित इह
क्षणादन्तर्यामी पुनरपि ससूत्रं स लिखितः।
विराड्वर्णैः पूर्णस्तदुपरि पटाभाससदृशो
सतो जीवस्तस्माद्भवति न तु चित्पञ्चविधता॥"

आकर्णयैक्यमनयोः शुभयोः सरण्योर्यल्लाञ्छितत्वमुदितं यत चित्रशाय्या।

सूत्रे निदर्शनमतः ऋव पटावभासो भूयात्पृथक्समरसस्तदिहैव जीवः ।

पटाभासो रेखारचनमिति नैवात्र विमति-
स्तथा जीवः सूत्रात्त्व तु किल समष्टेरपि परः ।
अथो वर्णैः पूर्णः पट इव विराड्वो निगदितो
जगत्स्थानीयोऽसौ तदपि च विचार्यं यत इह ॥

भवत्वेवं जीवे जगति च समाधानमुचितं
तथाऽपीशे किं स्यादिति न यदसावप्यति समः ।
विशेषस्त्वेतावान्प्रथमकथितादीशवपुषो
द्वितीये तद्रूपं परमिव विभात्यज्ञमनसः ॥

योऽयं घट्टितवस्त्रवन्निगदितो मायी पुराऽस्त्यादराद-
न्तर्याम्यभिधो महेश इह धीसंस्कारसंबिम्बितः ।
उक्तोऽसौ घनविम्बिताम्बरसमस्तत्रापि चेच्चिन्त्यते
नो भेदोस्त्यनयोर्लवादपि परं भङ्ग्येव भिन्ना खलु ॥

रेखा एव धियो मताः किल ततः संस्कारसंघाः पटे ।
ये जाताः परिघट्टिते स तु न ते किं तैः परिच्छिद्यते ॥
एवं तेऽपि समष्टिधीप्रकृतिमन्मायैकगास्तेन त-
द्भेदः कः प्रतिबिम्बिताद्वद परिच्छिन्ने निरुक्ते भवेत् ॥

अवच्छिन्नो जीवो ननु निगदितो भामतिकृता
प्रतिच्छायात्माऽसौ विवरणकृदाद्यैरपि ततः ।
कथं नो भेदः स्यादिति न हृदयानाकलनतो
द्वयोरप्यादृत्यै गुरुभिरियमुक्ताऽत्र सरणिः ॥

कूटस्थस्तदपि कथं पुरा सरण्यां संसिध्येद्घटखसमो न चेति वाच्यम् ।
यो रेखाद्यभिलिखितः पटावभासस्तन्मात्रः शुचिरपि किं पटो न यस्मात् ॥

चोरोऽयं स्थाणुरेवेत्यभिवदति गुरौ चोरधीः स्थाणुबुद्ध्या
बाध्या दृष्टेह तद्वत्किल समभिमतं तत्त्वमस्यादिवाक्ये ।
बाधायामेव सत्यां सममधिकरणं स्याद्द्वयोस्तत्त्वमेवं
शुद्धस्याऽऽभासयोगाद्ध्रुवकलनमतो बद्धमुक्तव्यवस्था" इति ॥

विस्तरस्त्वत्र **मदीयायामेवैतट्टीकायामद्वैतात्मप्रबोधाभिधायामवबोध्य** इति दिक् । एवं चाऽऽत्र कूटस्थः साक्षित्वोपलक्षितश्चिदात्मा शोधितस्त्वंपदार्थस्तच्चिदाभासस्तत्र मूलाविद्याकल्पितबुद्धौ तत्प्रतिबिम्ब एव जीवस्त्वंपदवाच्यार्थः सर्वथा मिथ्यैव । कूटस्थे दृष्टान्तीकृतो घटाकाशः पटाभासावच्छिन्नः शुद्धपटश्च । जीवे त्वसौ घटाकाशपूरितजलप्रतिबिम्बितमहाकाश एव तथा पटाभासश्च । तद्वद्ब्रह्म तु शुद्धाद्वैतचिन्मात्रमेव शोधितस्तत्पदार्थः । तत्र दृष्टान्तो महाकाशो धौतपटश्च । ईश्वरस्तु तदारोपितमूला-

घटावच्छिन्नखे नीरं यत्तत्र प्रतिबिम्बितः ।
साभ्रनक्षत्र आकाशो जलाकाश उदीर्यते ।। १९ ।।
महाकाशस्य मध्ये यन्मेघमण्डलमीक्ष्यते ।
प्रतिबिम्बतया तत्र मेघाकाशो जले स्थितः ।। २० ।।
मेघांशरूपमुदकं तुषाराकारसंस्थितम् ।
तत्र खप्रतिबिम्बोऽयं नीरत्वादनुमीयते ।। २१ ।।

घटावच्छिन्नस्य घटाकाशस्य तदनवच्छिन्नस्य च महाकाशस्य प्रसिद्धत्वात्तौ विहायाप्रसिद्धं जलाकाशं व्युत्पादयति–

घटावच्छिन्नेति । घटावच्छिन्ने आकाशे यदुदकमस्ति, तत्र जले प्रतिबिम्बितोऽभ्रनक्षत्रसहित आकाशो 'जलाकाशः' इत्युच्यते ।। १९ ।।

अभ्राकाशं व्युत्पादयति–

महाकाशस्येति । तत्र मेघमण्डले यज्जलं तस्मिन्नित्यर्थः ।। २० ।।

ननु मेघजलस्याप्रतीयमानत्वान्नभसस्तत्र कथं प्रतिबिम्बितत्वज्ञानमित्याशङ्क्याह–

मेघांशेति । मेघस्थजलस्य प्रत्यक्षेणानुपलम्भेऽपि वृष्टिलक्षणकार्येण मेघे तदुपादानमुदकं सूक्ष्मावयवरूपमस्तीत्यनुमीयते, उदकत्वेनैव लिङ्गेन प्रतिबिम्बवत्त्वमपि । विमतं जलं आकाशबिम्बवद्भवितुमर्हति; जलत्वात्, घटगतजलवत्, इत्यनुमानेन मेघांशरूपे जलेऽप्याकाशप्रतिबिम्बसद्भावोऽवगम्यत इत्यर्थः ।। २१ ।।

विद्यायां प्रतिबिम्बितस्तच्चिदाभास एव सर्वथाऽपि मिथ्यैव तत्पदवाच्यार्थः । तत्र दृष्टान्तो मेघावच्छिन्नजले प्रतिबिम्बितो महाकाशो घट्टितपटश्च । सूत्रात्मा समष्टिजीवो विराट् च जगत्स्थूलादि तत्र दृष्टान्तो लाञ्छितो रञ्जितश्च पट एव। यश्चोरः स स्थाणुरित्यादौ चोरो नास्त्येव स्थाणुरेवास्तीत्यादिवद्बाधायां जीवादेः सत्यामेव ब्रह्मसामानाधिकरण्यम् । आनन्दमयकोश एव मायाद्यभिध ईश्वरोपाधिः पक्षान्तरे भागत्यागलक्षणाऽपि प्रागुक्तैव । अवच्छिन्नप्रतिबिम्बवादयोरत्रैवान्तर्भावश्चेति संक्षेपः ।। १८ ।।

ननु जीवेश्वरदृष्टान्तीकृतौ जलाकाशाभ्राकाशौ कावित्यतस्तौ स्वसंमतौ व्युत्पादयति—**घटावच्छिन्नेत्यादिद्वाभ्याम्** ।। १९ ।।

महाकाशस्येत्यादि । तत्र जले प्रतिबिम्बतया स्थित इति सम्बन्धः ।। २० ।।

ननु किमत्र मानमित्यतस्तदाह—**मेघांशेति** । यद्यन्नीरं तत्खप्रतिबिम्बवन्नीरत्वादितिव्याप्तेर्जलाकाशे दृष्टत्वादित्यभिप्रायः ।। २१ ।।

अधिष्ठानतया देहद्वयावच्छिन्नचेतनः ।
कूटवन्निर्विकारेण स्थितः कूटस्थ उच्यते ।। २२ ।।
कूटस्थे कल्पिता बुद्धिस्तत्र चित्प्रतिबिम्बकः ।
प्राणानां धारणाज्जीवः संसारेण स युज्यते ।। २३ ।।
जलव्योम्ना घटाकाशो यथा सर्वैस्तिरोहितः ।
तथा जीवेन कूटस्थः सोऽन्योन्याध्यास उच्यते ।। २४ ।।

एवं दृष्टान्तभूतमाकाशचतुष्टयं व्युत्पाद्य, दार्ष्टान्तिके प्रथमोद्दिष्टं कूटस्थं व्युत्पादयति—

अधिष्ठानेति । पञ्चीकृताऽपञ्चीकृतभूतकार्यत्वेन स्थूलसूक्ष्मरूपस्य देहद्वयस्याविद्याकल्पितस्याधारतया वर्तमानत्वेन ताभ्यामवच्छिन्न आत्मा कूटस्थ इत्युच्यते, तत्र कूटस्थशब्दप्रवृत्तौ निमित्तमाह—**कूटवदिति** ।। २२ ।।

एवं कूटस्थं व्युपाद्य, जीवस्य कूटस्थे कल्पितबुद्धिप्रतिबिम्बकत्वेन तत्पक्षपातित्वात्तं व्युत्पादयति—

कूटस्थ इति । तस्य जीवशब्दाभिधेयत्वे निमित्तमाह—**प्राणानामिति ।** कूटस्थातिरिक्तजीवकल्पनमप्रयोजकमित्याशङ्क्य, अविकारिणः कूटस्थस्य संसारासंभवान्निर्वाहार्थं सोऽङ्गीकर्तव्य इत्याह—**संसारेणेति** ।।२३।।

ननु जीवातिरिक्तः कूटस्थोऽस्ति चेद् किमिति न प्रतिभासत इत्याशङ्क्य जीवेन तिरोहितत्वादिति सदृष्टान्तमाह—

जलेति । नन्वेतत्तिरोधानं न क्वापि शास्त्रे प्रतिपादितमित्याशङ्क्य, तस्यान्योन्याध्यासशब्देनाभिधानान्मैवमित्याह—**सोऽन्योन्याध्यास इति ।** उच्यते भाष्यादिष्विति शेषः ।। २४ ।।

नन्वेवमपि दार्ष्टातिके प्रथमोद्दिष्टः कूटस्थपदार्थोऽप्यलौकिक एवेत्यतस्तमपि स्वाभिमतं व्युत्पादयति—**अधिष्ठानेति । कूटेति ।** "अयोघंने शैलश्रृंगे सीराङ्गे कूटमस्त्रियाम्" इत्यमरात्कनकादि ताड्यवस्तु ताडनशतेऽपि कृते निर्विकारलोहघनवदित्यर्थः ॥ २२ ॥

अथ स्वाभिमतं जीवमपि व्युत्पादयति—**कूटेति । चिदिति ।** चितः कुत्सितः सर्वथा मिथ्याभूतः प्रतिबिम्ब इत्यर्थः । **प्राणानामिति ।** जीव प्राणधारण इति हि स्मरणम् ॥ २३ ॥

तत्र हेतुमन्योन्याध्यासं प्रतिबोधयति—**जलेति ।** निरुक्तजलाकाशमित्यर्थः ॥२४॥

अयं जीवो न कूटस्थं विविनक्ति कदाचन ।
अनादिरविवेकोऽयं मूलाविद्येति गम्यताम् ।। २५ ।।
विक्षेपावृतिरूपाभ्यां द्विधाऽविद्या व्यवस्थिता ।
न भाति नास्ति कूटस्थ इत्यापादनमावृतिः ।। २६ ।।
अज्ञानी विदुषा पृष्टः कूटस्थं न प्रबुध्यते ।
न भाति नास्ति कूटस्थ इति बुद्ध्वा वदत्यपि ।। २७ ।।

नन्वयमेवाध्यासश्चेदस्य कारणरूपाविद्या वक्तव्येत्याशङ्क्य, जीवकूटस्थयोः संसारदशायां भेदाप्रतीतिरेवाऽविद्येत्याह—**अयमिति** ।। २५ ।।

पूर्वोक्तस्य जीवस्य अविद्याकल्पितत्वस्य स्पष्टीकरणाय विद्यां विभजते—**विक्षेपेति** । विक्षेपहेतुत्वेनाभ्यर्हितत्वादावृतिं प्रथमं लक्षयति—**न भातीति** । कूटस्थो न भाति न प्रकाशते, नास्ति चेति व्यवहारहेतुरावरणमित्यर्थः ।। २६ ।।

नन्वविद्यायास्तत्कृतावरणस्य च सद्भावे किं प्रमाणमित्याशङ्क्य, लोकानुभव एवेत्याह—

अज्ञानीति । विदुषा 'कूटस्थं किं जानासि ?' इति पृष्टोऽज्ञानी तं 'न जानामि' इत्यज्ञानमनुभूय वक्ति,—अयं 'अविद्यानुभवः' । न केवलमज्ञानानुभवमेव वक्ति, अपि तु 'नास्ति, न भाति कूटस्थः' इति कूटस्थाऽभावाऽभाने चानुभूय वदति,—अयं 'आवरणानुभवः' । अत उभयत्रानुभवः प्रमाणमिति भावः ।। २७ ।।

तत्र हेतुः—**अयमिति** । मूलाविद्यैवायमनादिरविवेक इति गम्यतामित्यन्वयः । एतेन सांख्यादयः प्रत्याख्याता इति तत्त्वम् ॥ २५ ॥

नन्वन्योन्याध्यासस्तु सर्वत्राधिष्ठानीय आरोपे संसर्गस्तस्य च तत्र तादात्म्यमिति प्रसिद्ध एव स कथमविद्या स्यादित्यत्राऽऽह—**विक्षेपेति** । एवं चोक्ताध्यासस्तु विक्षेपात्मैव सेत्यर्थः । आवृत्तिमाह—**नेति** ॥ २६ ॥

ननु क्वेदमापादनं दृष्टमित्याशङ्क्य लोकानुभव एवेति समादधंस्तत्स्पष्टयति—**अज्ञानीति** । रे देवदत्त त्वं कूटस्थं वेत्सीति विदुषा पृष्टो ह्यज्ञानी नेत्युत्तरं ददानोऽसौ कूटस्थं न प्रबुध्यते नैव जानातीति योजना । अत एव कूटस्थो नास्ति न भातीति च तं स्वप्रकाशत्वेन सामान्यतो बुद्ध्वाऽपि तद्विषयकमसदादिभेदेन द्विविधमप्यावरणं वदतीत्यन्वयः ॥ २७ ॥

स्वप्रकाशे कुतोऽविद्या तां विना कथमावृतिः ।
इत्यादितर्कजालानि स्वानुभूतिर्ग्रसत्यसौ ॥ २८ ॥
स्वानुभूतावविश्वासे तर्कस्याप्यनवस्थितेः ।
कथं वा तार्किकंमन्यस्तत्त्वनिश्चयमाप्नुयात् ॥ २९ ॥
बुद्ध्यारोहाय तर्कश्चेदपेक्षेत तथा सति ।
स्वानुभूत्यनुसारेण तर्क्यतां मा कुतर्क्यताम् ॥ ३० ॥

ननु भवन्मते आत्मनः स्वप्रकाशत्वात्तस्मिन्नविद्या नोपपद्यते; तेजस्तिमिरयोरिव विरुद्धस्वभावत्वेन तयोः संबन्धानुपपत्तेः, अविद्याभावे च तत्कृतमावरणं दुर्निरूप्यं स्यात्, तदभावे च तन्मूलकस्य विक्षेपस्यासम्भवः, विक्षेपाभावे च ज्ञाननिवर्त्यस्याभावात् ज्ञानवैयर्थ्यं; ततस्तत्प्रतिपादकं शास्त्रमप्रमाणं स्यादित्याशङ्क्यैतत्सर्वं पूर्वोक्तानुभवबाधितमित्याह—

स्वप्रकाश इति । 'नहि दृष्टेऽनुपपन्नं नाम' इति न्यायादिति भावः ॥ २८ ॥

नन्वनुभवस्योक्ततर्कविरोधेनाभासत्वान्न तेन तत्त्वनिश्चय इत्याशङ्क्य, अनुभवप्रामाण्यानभ्युपगमे केवलतर्कस्यानिश्चायकत्वस्य स्वेनैवाभ्युपगतत्वान्न तार्किकस्य तत्त्वनिश्चयः क्वापि स्यादित्याह—

स्वानुभूताविति ॥ २९ ॥

नन्वनुभवः तत्त्वनिश्चायक एव, तथाप्यनुभूयमानस्यार्थस्य संभावितत्त्वज्ञानाय तर्कोऽप्यभ्युपेतव्य इत्याशङ्कामनूद्य, तर्ह्यनुभवानुसारेणैव तर्को वर्णनीयः, न तद्विरोधेनेत्याह—

बुद्ध्यारोहायेति ॥ ३० ॥

नन्विदं स्वसिद्धान्तविरुद्धमित्याक्षिपति—**स्वेति** । अनुभवविरोधान्नेदं चोद्यमुदेतीति समाधत्ते—**इत्यादीति** । असौ प्रागुदाहृतेत्यर्थः ॥ २८ ॥

नन्वनुभवस्य स्वप्नादिवद्भ्रमत्वसंभवान्न प्रमाणानुग्राहकतर्कबाधकतेत्याशङ्क्य "**तर्काप्रतिष्ठानात्**" इति सूत्रात्तत्रापि तर्ह्यबाधितानुभवाद्बाधकता समानैवेति प्रतिवन्द्या समाधत्ते—**स्वानुभूताविति** । तस्मात्तार्किकपक्षेऽपि तत्त्वानिश्चयस्तदवस्थ एवेति भावः ॥ २९ ॥

अथ प्रतिबन्दीं मोचयति—**बुद्धीति** । सिद्धान्ती तदङ्गीकारेण तं समुपदिशति—**तथेति** ॥ ३० ॥

स्वानुभूतिरविद्यायामावृतौ च प्रदर्शिता ।
अतः कूटस्थचैतन्यमविरोधीति तर्क्यताम् ।। ३१ ।।

तच्चेद्विरोधि केनेयमावृतिर्ह्यनुभूयताम् ।
विवेकस्तु विरोध्यस्यास्तत्त्वज्ञानिनि दृश्यताम् ।। ३२ ।।

अविद्यावृतकूटस्थे देहद्वययुता चितिः ।
शुक्तौ रूप्यवदध्यस्था विक्षेपाध्यास एव हि ।। ३३ ।।

कोऽसावनुभवो यदनुसारेण तर्को वर्णनीय इत्याकाङ्क्षायां पूर्वोक्तमविद्यादिगोचरमनुभवं स्मारयति—

स्वानुभूतिरिति । फलितमाह—**अत इति** ।। ३१ ।।

तमेव तर्कमभिनीय दर्शयति—

तच्चेदिति । अविद्यावरणसाधकचैतन्यस्यैव तद्विरोधित्वेऽविद्याप्रतीतिरेव न स्यादिति भावः । तर्ह्यविद्यायाः को विरोधीत्यत आह—**विवेक इति** । विवेकः उपनिषद्विचारजन्यं ज्ञानम् विवेकस्य अविद्याविरोधित्वं क्व दृष्टमित्यत आह—**तत्त्वज्ञानिनीति** ।। ३२ ।।

एवमविद्यावरणे दर्शयित्वा विक्षेपाध्यासमाह—

अविद्येति । पूर्वोक्ताविद्यावरणवति कूटस्थे प्रत्यगात्मन्यारोपितस्थूलसूक्ष्मशरीरसहितश्चिदाभासो विक्षेपाध्यास इत्यर्थः ।। ३३ ।।

एवं तर्हि काऽत्र स्वानुभूतिरित्यत्राह—**स्वेति** । फलितमाह—**अत इति** ।। ३१ ।।

कूटस्थचैतन्यस्याविद्याऽविरोधितायामन्यथानुपपत्तिमाह **तच्चेदिति** । तर्हि किमेतद्विरोधीत्यत आह— **विवेकस्त्विति** ।। ३२ ।।

एवमनादिरविवेकोऽयं मूलाविद्येत्यनेनोपक्रान्ताया मूलाविद्याया विक्षेपावृतिरूपाभ्यां द्विधा विद्या व्यवस्थितेत्यनेनोद्दिष्टतदवस्थानद्वैरूप्यमध्ये विक्षेपस्यावरणपूर्वकत्वात्प्रथमं तदुपपाद्येदानीं विक्षेपं निरूपयति—**अविद्येति** । "**कूटस्थब्रह्मणोर्भेदो नाममात्रादृते नहि**" इति वक्ष्यमाणत्वादत्राविद्यातदावरणतत्कृतविक्षेपे चाधिष्ठानं कूटस्थब्रह्मैव बोध्यम् । चितिर्बुद्धिप्रतिबिम्बितश्चिदाभासः । हीति प्रसिद्धं शास्त्रं इत्यर्थः ।। ३३ ।।

इदमंशश्च सत्यत्वं शुक्तिगं रूप्य ईक्ष्यते ।
स्वयन्त्वं वस्तुता चैवं विक्षेपे वीक्ष्यतेऽन्यगम् ।। ३४ ।।
नीलपृष्ठत्रिकोणत्वं यथा शुक्तौ तिरोहितम् ।
असङ्गानन्दताद्येवं कूटस्थेऽपि तिरोहितम् ।। ३५ ।।
आरोपितस्य दृष्टान्ते रूप्यनाम यथा तथा ।
कूटस्थाध्यस्तविक्षेपनामाहमिति निश्चयः ।। ३६ ।।
इदमंशं स्वतः पश्यन् रूप्यमित्यभिमन्यते
तथा स्वं च स्वतः पश्यन्नहमित्यभिमन्यते ।। ३७ ।।

अस्य विक्षेपस्याध्यासत्वसिद्धये शुक्तिरजताध्याससाम्यं दर्शयति—

इदमंशश्चेति । शुक्तिकायां स्थितं पुरोदेशादिसंबन्धित्वमबाध्यत्वं च यथाऽऽरोपिते रजतेऽवभासते, एवं स्वयंत्वं वस्तुत्वं च कूटस्थनिष्ठमारोपिते चिदाभासेऽवभासत इत्यर्थः ।। ३४ ।।

एवं सामान्यांशप्रतीतिमुभयत्र प्रदर्श्य, विशेषांशप्रतीतिसाम्यं दर्शयति—**नीलेति** ।। ३५ ।।

साम्यान्तरं दर्शयति—

आरोपितस्येति । दृष्टान्ते शुक्तिस्थले आरोपितपदार्थस्य रूप्यनाम रूप्यमिति नाम यथा, एवं कूटस्थे कल्पितस्य चिदाभासरूपविक्षेपस्य पूर्वोक्तस्याहमिति नामेत्यर्थः ।। ३६ ।।

ननु दृष्टान्ते पुरोवर्तिनि शुक्तिशकले इन्द्रियसंनिकर्षे जाते सति रूप्यमिदमिति तदतिरिक्तरजताभिमान उपपद्यते, नैवं दार्ष्टान्तिके आत्मातिरिक्तवस्त्वभिमान इत्याशङ्क्य, अत्रापि स्वप्रकाशतया चिदात्मन्यवभासमाने तदतिरिक्तोऽहमित्यभिमान उपलभ्यते, अतो न वैषम्यमित्यभिप्रायेणाह—

इदमंशमिति ।। ३७ ।।

ननु कथमस्याध्यासत्वमित्याशङ्क्य दृष्टान्ते तत्सामग्रीं विविच्य दार्ष्टान्तिकेऽपि तां प्रकटयति—**इदमंशश्चेति** । अन्यगं कूटस्थनिष्ठम् ।। ३४ ।।

तत्साम्यसामग्र्यन्तरमप्याह—**नीलेति** द्वाभ्याम् । आदिना ब्रह्मत्वम् ।। ३५ ।।

आरोपितस्येति । उभयत्रापि नामपदं संज्ञापरमेव । निश्चयो निर्णय एवेत्यर्थः ।।३६।।

नन्वहंकारेतरकूटस्थसत्त्वे तस्य शुक्तिरूप्यसाम्यं स्यात्तत्रैव किं मानमित्यत

इदंत्वरूप्यते भिन्ने स्वत्वाहन्ते तथेष्यताम् ।
सामान्यं च विशेषश्च ह्युभयत्रापि गम्यते ।। ३८ ।।

देवदत्तः स्वयं गच्छेत्त्वं वीक्षस्व स्वयं तथा ।
अहं स्वयं न शक्नोमीत्येवं लोके प्रयुज्यते ।। ३९ ।।

इदं रूप्यमिदं वस्त्रमिति यद्वदिदं तथा ।
असौ त्वमहमित्येषु स्वयमित्यभिमन्यते ।। ४० ।।

अहन्त्वाद्भिद्यतां स्वत्वं कूटस्थे तेन किं तव ।
स्वयंशब्दार्थ एवैष कूटस्थ इति मे भवेत् ।। ४१ ।।

ननु 'स्वयमहं'शब्दयोरेकार्थत्वात्कथं दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोः साम्यमित्याशङ्क्य, 'इदंरूप्य'शब्दार्थयोः 'स्वयमहं'शब्दार्थयोश्च सामान्यविशेषरूपत्वस्योभयत्र साम्यान्मैवमित्याह—**इदमिति** ।। ३८ ।।

'स्वयं'शब्दार्थस्य सामान्यरूपत्वं स्पष्टीकर्तुं लौकिकं प्रयोगं तावद्दर्शयति—**देवदत्त इति** ।। ३९ ।।

भवत्वेवं लोके प्रयोगः, कथमेतावता 'स्वयं'शब्दार्थस्य सामान्यरूपत्वमित्याशङ्क्य, 'इदं'शब्दार्थवदित्याह—

इदं रूप्यमिति । यथा रूप्यवस्त्रादौ सर्वत्रेदंशब्दस्य प्रयुज्यमानत्वात्तदर्थस्य सामान्यरूपत्वं, तथा 'असौ' त्वम् अहम् इत्यादौ सर्वत्र स्वयंशब्दप्रयोगात्तदर्थस्यापि सामान्यरूपत्वमवगम्यत इत्यर्थः ।। ४० ।।

भवतु 'स्वयमहं'शब्दयोर्लोके भेदः, एतावता कूटस्थात्मनि किमायातमिति पृच्छति—

अहन्त्वादिति । सामान्यरूपः स्वयंशब्दार्थ एव कूटस्थ इतीदमायातमित्याह—**स्वयंशब्दार्थ इति** ।। ४१ ।।

आह—**इदमंशमिति** । स्वतः साक्षिणा । पश्यंश्चक्षुर्गृहीता लोकावच्छेदेनापरोक्षीकुर्वन्नित्यर्थः । स्वयमेतत्पदवाच्यं कूटस्थम् । स्वतः स्वप्रकाशत्वेनैव । पश्यन्वृत्तिमन्तरेवानुभवन्निति यावत् ।। ३७ ।।

अत एव—**इदंत्वेति** । तत्र हेतुः—**सामान्यं चेति** ।। ३८ ।।

तदेवानुभावयति—**देवदत्त** इत्यादिद्वाभ्याम् ।। ३९ ।।

इदं रूप्यमिति । अभिमानः संसर्गः ।। ४० ।।

एवं स्वत्वाहंत्वयोर्भेदे साधिते तमङ्गीकृत्यापि शङ्कते—**अहंत्वादिति** । सिद्धान्ती समाधत्ते—**स्वयंशब्देति** ।। ४१ ।।

अन्यत्ववारकं स्वत्वमिति चेदन्यवारणम् ।
कूटस्थस्यात्मतां वक्तुरिष्टमेव हि तद्भवेत् ।। ४२ ।।

स्वयमात्मेति पर्यायौ तेन लोके तयोः सह ।
प्रयोगो नास्त्यतः स्वत्वमात्मत्वं चान्यवारकम् ।। ४३ ।।

घटः स्वयं न जानातीत्येवं स्वत्वं घटादिषु ।
अचेतनेषु दृष्टं चेद्दृश्यतामात्मसत्त्वतः ।। ४४ ।।

ननु स्वत्वरूपो धर्मोऽन्यत्वं निवारयति, न कूटस्थत्वं बोधयतीति शङ्कते—

अन्यत्ववारकमिति । 'स्वयं'शब्दार्थस्य कूटस्थस्यैवात्मत्वात्स्वत्वेनान्यवारणमिष्टमेवेति परिहरति—**अन्यवारणं कूटस्थस्येति** ।। ४२ ।।

ननु 'स्वयमात्म'शब्दयोर्भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तयोः गवाश्वादिशब्दयोरिवैकार्थत्वाभावात्कथं 'स्वयं'शब्दार्थस्य कूटस्थस्यात्मत्वमित्याशङ्क्य, हस्तकरादिशब्दवदेकार्थत्वोपपत्तेर्मैवमिति परिहरति—

स्वयमात्मेतीति । पर्यायत्वे सहप्रयोगाभावं हेतुमाह—**तेन लोक इति** । फलितमाह—**अतः स्वत्वमिति** ।। ४३ ।।

ननु घटादिष्वचेतनेष्वपि 'स्वयं'शब्दस्य प्रयोगदर्शनात्स्वयन्त्वात्मत्वयोरेकत्वं न घटत इति शङ्कते—

घट इति । घटादिष्वपि स्फुरणरूपेणात्मचैतन्यस्य सत्त्वात्तेष्वपि स्वयंशब्दप्रयोगो न विरुध्यते इत्याह—**दृश्यतामिति** ।। ४४ ।।

नन्वेवं स्वशब्दपर्यायस्य स्वयंशब्दस्यान्यवारणमेवार्थः स्यान्नतु कूटस्थ इति पुनराक्षिपति—**अन्यत्वेति** । इष्टापत्त्या प्रत्याऽऽह—**अन्यवारणमित्यादिना** । कूटस्थस्यैव सिद्धान्ते ह्यद्वैतब्रह्मत्वादित्याकूतम् ।। ४२ ।।

ननु घटपटशब्दार्थवत्स्वयमात्मशब्दार्थयोरपि भेद इत्याशङ्क्य समाधत्ते—**स्वयमित्यादिना** । फलितमाह—**अत इत्यादिशेषेण** ।। ४३ ।।

निरुक्तपर्यायत्वेऽतिप्रसङ्गं शङ्कते—**घटः स्वयमिति** । तदपीष्टापत्त्या निराकरोति—**दृश्यतामित्यादिशेषेण** ।। ४४ ।।

चेतनाचेतनभिदा कूटस्थात्मकृता न हि ।
किंतु बुद्धिकृताऽऽभासकृतैवेत्यवगम्यताम् ।। ४५ ।।

यथा चेतन आभासः कूटस्थे भ्रान्तिकल्पितः ।
अचेतनो घटादिश्च तथा तत्रैव कल्पितः ।। ४६ ।।

तत्तेदन्ते अपि स्वत्वमिति त्वमहमादिषु ।
सर्वत्रानुगते तेन तयोरप्यात्मतेति चेत् ।। ४७ ।।

ननु घटादिष्वप्यात्मचैतन्यस्य सत्त्वे चेतनाचेतनविभागो निर्निमित्तकः स्यादित्याशङ्क्य, चेतनाचेतनविभागस्य चिदाभाससत्त्वासत्त्वलक्षणकारकसद्भावान्मैवमिति परिहरति—

चेतनेति ।। ४५ ।।

ननु चेतनाचेतनविभागस्य चिदाभाससत्त्वासत्त्वप्रयुक्तत्वाभ्युपगमे अचेतनेष्वात्मसत्त्वाभ्युपगमो निष्प्रयोजनः स्यादित्याशङ्क्य, चेतनाचेतनविभागहेतुत्वेन कूटस्थस्यानभ्युपगम्यत्वेऽप्यचेतनकल्पनाधिष्ठानत्वेन कूटस्थोऽभ्युपगन्तव्य इत्यभिप्रायेण घटादेस्तत्र कल्पितत्वं सदृष्टान्तमाह—

यथा चेतन इति ।। ४६ ।।

स्वत्वात्मत्वयोरेकत्वेऽतिप्रसङ्गं शङ्कते—

तत्तेदन्ते अपीति । त्वमहमादिषु सर्वत्रानुगतस्य स्वत्वस्येव सर्वत्रानुगतयोस्तत्तेदन्तयोरप्यात्मस्वरूपता किं न स्यादिति भावः ।। ४७ ।।

ननु घटादिष्वप्यात्मत्वे चेतनाचेतनभिदा किंमूलेत्याशङ्क्य बुद्धिप्रतिबिम्बितचिदाभाससदसद्भावमूलैवेत्याह—**चेतनेति** ।। ४५ ।।

एवं तर्हि घटादिष्वात्मत्वे किं मूलं तदाह—**यथेति** । कूटस्थे ब्रह्मात्मवस्तुनीत्यर्थः । भ्रान्तिरनाद्यविद्यैव ।। ४६ ।।

तत्राप्यतिप्रसङ्गं शङ्कते—**तत्तेदन्ते अपीति** । स्वत्वमिव स्वत्ववदित्यर्थः ।।४७।।

ते आत्मत्वेऽप्यनुगते तत्तेदन्ते ततस्तयोः ।
आत्मत्वं नैव संभाव्यं सम्यक्त्वादेर्यथा तथा ॥ ४८ ॥
तत्तेदन्ते स्वतान्यत्वे त्वन्ताहन्ते परस्परम् ।
प्रतिद्वन्द्वितया लोके प्रसिद्धे नास्ति संशयः ॥ ४९ ॥
अन्यतायाः प्रतिद्वन्द्वी स्वयं कूटस्थ इष्यताम् ।
त्वन्तायाः प्रतियोग्येषोऽहमित्यात्मनि कल्पितः ॥ ५० ॥

तत्तेदन्तयोरात्मत्वाधिकवृत्तित्वादात्मत्वं न संभवतीत्याह—

ते आत्मत्वेऽपीति । तत्तेदन्ते स्वत्वमिव यद्यपि त्वमहमादिषु अनुगते तथापि तेष्वनुवर्तमाने आत्मत्वेऽप्यनुगते तदात्मत्वमिदमात्मत्वमित्यादि-व्यवहारसंभवादतस्तयोरात्मत्वाधिकवृत्तित्वादात्मस्वरूपता न संभाव्यते । तत्र दृष्टान्तः—**सम्यक्त्वादेरिति** । 'आत्मत्वं सम्यक्, आत्मत्वमसम्यक्' इति व्यवहारवशादात्मत्वेऽप्यनुवर्तमानयोः सम्यक्त्वासम्यक्त्वयोरि-वेत्यर्थः ॥ ४८ ॥

एवं प्रासङ्गिकं परिसमाप्य, फलितदर्शनाय लोकव्यवहारसिद्धमर्थ-मनुवदति—

तत्तेदन्ते इति । तत्ताप्रतियोगित्वमिदन्तायास्तदिदमिति स्वत्वप्रति-योगित्वमन्यत्वस्य स्वयमन्य इति त्वन्ताप्रतियोगित्वमहन्तायास्त्वमहमिति लोके प्रतिद्वन्द्वित्वेन प्रयोगदर्शनात्प्रसिद्धमिति भावः ॥ ४९ ॥

भवत्वेवं लोके, प्रकृते किमायातमित्यत आह—

अन्यताया इति । अन्यत्वप्रतियोगी 'स्वयं'शब्दार्थः त्वन्ताप्रतियोग्यहं-शब्दार्थश्चिदाभासः कूटस्थे कल्पित इत्यर्थः ॥ ५० ॥

पूर्ववादिसंमतं तदात्मत्वं सिद्धान्तिसम्मतमिदमात्मत्वमित्यादिव्यवहारात्ते तत्ते-दंते आत्मत्वेऽप्यनुगते भवतस्तेन तयोरात्मसम्यक्त्वादिधर्मवन्नैव संभाव्यमिति समा-धत्ते—**ते आत्मत्वेऽपीति** ॥ ४८ ॥

भवत्वेवमथापि किं प्रकृत इत्याङ्क्य स्वयंत्वं ह्यन्यत्वं ह्यन्यत्वस्यैव प्रतिद्वन्द्वि तच्च कूटस्थ एवेति प्रदर्शयितुं सामान्यतः प्रतिद्वन्द्विधर्मयुग्मान्युदाहरति—**तत्तेदन्ते इति** ॥ ४९ ॥

फलितमाह—**अन्यताया इति** । ततोऽपि किं तत्राऽऽह—**त्वंताया इति** ॥ ५० ॥

अहन्तास्वत्वयोर्भेदे रूप्यतेदन्तयोरिव ।
स्पष्टेऽपि मोहमापन्ना एकत्वं प्रतिपेदिरे ।। ५१ ।।
तादात्म्याध्यास एवात्र पूर्वोक्ताविद्यया कृतः ।
अविद्यायां निवृत्तायां तत्कार्यं विनिवर्तते ।। ५२ ।।
अविद्यावृतितादात्म्ये विद्ययैव विनश्यतः ।
विक्षेपस्य स्वरूपं तु प्रारब्धक्षयमीक्षते ।। ५३ ।।

ननूक्तप्रकारेण जीवकूटस्थयोर्भेदे सत्यपि सर्वे इत्थं किमिति न जानन्तीत्याशङ्क्याह—

अहन्तेति । बुद्धिसाक्षिणः कूटस्थस्य बुद्धया प्रत्यक्षीकर्तुमशक्यत्वादहमिति प्रतिभासमानयोः जीवकूटस्थयोर्भ्रान्त्यैकत्वं प्रतिपन्ना इत्यर्थः ।।५१।।

नन्वस्य जीवकूटस्थयोरेकत्वभ्रमस्य किं कारणमित्यपेक्षायामाह—

तादात्म्येति । अत्रास्मिन् ग्रन्थे 'अनादिरविवेकोऽयम्' (प्र० ६।२५) इत्यत्रोक्तयाऽविद्ययेत्यर्थः । यतोऽविद्याकार्यत्वमस्यातोऽविद्यानिवर्तकज्ञानेनैव तन्निवृत्तिरित्याह—**अविद्यायामिति** ।। ५२ ।।

नन्वध्यासस्याविद्याकार्यत्वात्तन्निवृत्त्या निवृत्तिरित्येतदनुपपन्नं, ब्रह्मात्मैकत्वविद्यायामुत्पन्नायामप्यविद्याकार्यस्य देहादेरुपलभ्यमानत्वादित्यत आह—

अविद्यावृतीति । अविद्यैककारणयोरावृतितादात्म्ययोर्विद्ययैव विनिवृत्तिः, कर्मसहिताविद्याजन्यस्य तु विक्षेपस्वरूपस्य कर्मावसानपर्यन्तमवस्थानमित्यविरोध इति भावः ।। ५३ ।।

एवं चाहंत्वस्वत्वयोर्भेदसिद्धौ सत्यामपि मोहात्तयोः परम्पराध्यासः सिध्यतीत्याह—**अहंत्वेति** ।। ५१ ।।

नन्वस्त्वयमहंकाराध्यासः कूटस्थात्मनि तथाऽपि किमसौ तादात्म्यरूपः संसर्गरूपो वेति विषयं प्रशमयति—**तादात्म्येति** । तत्र हेतुः—**पूर्वेति** । ततः किं तत्राऽऽह—**अविद्यायामिति** । कार्यमेकत्वमेव प्राथमिकम् । विनिवर्तत उपादानाभावाद्विनश्यतीत्यर्थः ।। ५२ ।।

नन्वेवं चेज्जीवन्मुक्तिर्न स्यादित्यत आह—**अविद्येति** । अविद्यामात्रजन्यत्वादित्यर्थः । देहेन्द्रियविषयादिविक्षेपस्तु प्रारब्धकर्मजन्यत्वात्तन्नाश एव नश्यतीत्याह—**विक्षेपस्येति** ।। ५३ ।।

उपादाने विनष्टेऽपि क्षणं कार्यं प्रतीक्षते ।
इत्याहुस्तार्किकास्तद्वदस्माकं किं न संभवेत् ।। ५४ ।।
तन्तूनां दिनसंख्यानां तैस्तादृक् क्षण ईरितः ।
भ्रमस्यासंख्यकल्पस्य योग्यः क्षण इहेष्यताम् ।। ५५ ।।
विना क्षोदक्षमं मानं तैर्वृथा परिकल्प्यते ।
श्रुतियुक्त्यनुभूतिभ्यो वदतां किं नु दुःशकम् ।। ५६ ।।

ननु प्रारब्धकर्मणो निमित्तमात्रत्वात्तत्सद्भावमात्रेणोपादाने विनष्टेऽपि कथं कार्यानुवृत्तिरित्याशङ्क्य, शास्त्रान्तरसिद्धदृष्टान्तेन तदनुवृत्तिं संभावयति—

उपादान इति ।। ५४ ।।

ननु तार्किकैः कार्यस्य क्षणमात्रमवस्थानमङ्गीकृतं, न चिरकालमित्याशङ्क्याह—

तन्तूनामिति । संसारस्यानादिकालमारभ्यानुवृत्तत्वात्तत्संस्कारवशेन कुलालचक्रभ्रमवच्चिरकालानुवृत्तिर्न विरुध्यत इति भावः ।। ५५ ।।

ननु तार्किकैर्यथाऽयुक्तमभिहितं तद्वद्भवतापीत्याशङ्क्य, स्वोक्तौ ततो वैषम्यं दर्शयति—

विनेति । क्षोदक्षमं विचारसहं मानं विना, प्रमाणमन्तरेणेत्यर्थः । 'तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ सम्पत्स्ये' (छा० ६।१४।२) इति श्रुतिः, चक्रभ्रमादिदृष्टान्तो युक्तिः, अनुभूतिर्विद्वदनुभवः, एतेभ्यः प्रमाणेभ्यः किं वक्तुमशक्यमित्यभिप्रायः ।। ५६ ।।

ननु प्रारब्धस्यापि बीजाङ्कुरवदनादिकामसंस्कारद्वारा ह्यविद्योपादानेकत्वात्तन्नाशे कथमवस्थानमित्यत आह—**उपादान इति** । नष्ट पट इति प्रतीतेरित्यार्थिकम् ।। ५४ ।।

ननु तत्कल्पितक्षणेन सह प्रारब्धभोगपर्याप्तकालस्य कथं तौल्यमित्यत्राऽऽह—**तन्तूनामिति** । पटोपादानसूत्राणामित्यर्थः । **विनेति** । उत्पत्तिमारभ्य नाशावधिकतिचिद्दिनमात्रप्रख्यातानाम् ।। ५५ ।।

वस्तुतस्त्वारम्भवादिनां तार्किकाणामेवोपादानध्वंसोत्तरं क्षणमात्रं कार्यावस्थित्यनौचित्यमेव तत्र दृढतरप्रमाणाभावात् । विवर्तवादिनामद्वैतिनामस्माकं तु **'तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्ये अथ संपत्स्ये'** इति श्रुतेर्मृगजले जलबुद्ध्या प्राशनाद्यर्थं समुपागतस्य तदधिष्ठानीभूतमध्याह्नकालिकसौरालोकावच्छिन्नोषरधरणीसाक्षात्कारेण बाधेऽपि यावद्कालोकादिसंयोगं तदग्रदेशावच्छेदेन तत्प्रतीत्यादियुक्तेः ।

आस्तां दुस्तार्किकैः साकं विवादः प्रकृतं ब्रुवे ।
स्वाहमोः सिद्धमेकत्वं कूटस्थपरिणामिनोः ।। ५७ ।।

भ्राम्यन्ते पण्डितम्मन्याः सर्वे लौकिकतैर्थिकाः ।
अनादृत्य श्रुतिं मौर्ख्यात्केवलां युक्तिमाश्रिताः ।। ५८ ।।

पूर्वापरपरामर्शविकलास्तत्र केचन ।
वाक्याभासान्स्वस्वपक्षे योजयन्त्यप्यलज्जया ।। ५९ ।।

प्रकृतमनुसरति—

आस्तामिति । 'स्वयमहं'शब्दार्थयोः कूटस्थपरिणामिनोरेकत्वं भ्रान्त्या सिद्धम् ।। ५७ ।।

ननु कूटस्थजीवयोरेकत्वं भ्रान्तिसिद्धं चेदिदं भ्रान्तमिति केऽपि कुतो न जानन्तीत्याशङ्क्य, श्रुतितात्पर्यपर्यालोचनशून्यत्वादित्याह—

भ्राम्यन्ते इति ।। ५८ ।।

ननु श्रुत्यर्थप्रवक्तारोऽपि केचिदित्थं कुतो न जानन्तीत्याशङ्क्य, तेषां साकल्ये श्रुत्यर्थपर्यालोचनाभावादित्याह—

पूर्वापरेति ।। ५९ ।।

"जीवन्मुक्तिस्तावदस्ति प्रतीतेर्द्वैतच्छाया तत्र चास्ति प्रतीतेः ।
द्वैतच्छायारक्षणायास्ति लेशस्तस्मिन्नर्थे स्वानुभूतिः प्रमाणम् ॥"

इति संक्षेपशारीरप्रकटितस्वानुभूतेश्च वदतामुपादानध्वंसोत्तरमपि किंचित्कालं कार्यावस्थितौ न किमपि बाधकमित्याह—**विनेति** ॥ ५६ ॥

अतस्तानुपेक्ष्य प्रकृतमनुसराम इत्याह—**आस्तामिति** । तत्कथयति—**स्वेति** । अध्यासादिति शेषः । तत्र हेतुः—**कूटस्थेति** ॥ ५७ ॥

ननु कुतस्तैर्थिकाणामुपेक्षेत्याशङ्क्य कैमुतिकन्यायेन समाधत्ते—**भ्राम्यन्त इति** ॥ ५८ ॥

ननु तैर्थिकाणामपि श्रुत्यनादरे को हेतुरित्यत्राऽऽह—**पूर्वापरेति** ॥ ५९ ॥

कूटस्थादिशरीरान्तसंघातस्यात्मतां जगुः ।
लोकायताः पामराश्च प्रत्यक्षाभासमाश्रिताः ॥ ६० ॥

श्रौतीकर्तुं स्वपक्षं ते कोशमन्नमयं तथा ।
विरोचनस्य सिद्धान्तं प्रमाणं प्रतिजज्ञिरे ॥ ६१ ॥

जीवात्मनिर्गमे देहमरणस्यात्र दर्शनात् ।
देहातिरिक्त एवात्मेत्याहुर्लोकायताः परे ॥ ६२ ॥

तत्र तावत्प्रत्यक्षैकप्रमाणाभ्युपगमेनातिस्थूलत्वाल्लोकायतादिपक्षं प्रथमतोऽनुभाषते—

कूटस्थादीति । प्रत्यक्षसिद्धत्वेन देहादेरात्मत्वं पारमार्थिकं स्यादित्याशङ्क्योक्तं—**प्रत्यक्षाभासमिति** ॥ ६० ॥

ते प्रत्यक्षैकप्रमाणवादिनोऽपि परव्यामोहनाय स्वमतं श्रुतिसिद्धमिति दर्शयितुं वाक्यमप्युदाहरन्तीत्याह—

श्रौतीकर्तुमिति । कोशमन्नमयमिति शब्देन अन्नमयकोशप्रतिपादकं 'स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः' (तैत्ति० २।१।१) इत्यादिवाक्यं लक्ष्यते । विरोचनस्य सिद्धान्तमिति तत्सिद्धान्तप्रतिपादकं 'आत्मैव देहमयः' इत्यादि वाक्यं लक्ष्यते । एतद्वाक्यद्वयं प्रमाणत्वेन प्रतिजानन्त एव, न तूपपादयितुं क्षमाः, प्रकरणविरोधादिति भावः ॥ ६१ ॥

अस्मिन्मते दोषदर्शनपुरःसरं मतान्तरमुत्थापयति—

जीवात्मेति ॥ ६२ ॥

तानेव सर्वानपि भेदवादिनः खण्डयितुं प्रथममतिस्थूलं लोकायतमतमनुवदति—**कूटस्थादीति** । पामराः सर्वे लौकिकाः अपीत्यर्थः । आभासपदात्तत्रापरीक्षितत्वं द्योत्यते ॥ ६० ॥

प्रत्यक्षैकप्रमाणवादिनस्ते वञ्चका अपीत्याह—**श्रौतीकर्तुमिति** ॥ ६१ ॥

अथ प्रोक्तमतं दूषयन्नेव लोकायतान्तरमतमाह—**जीवेति** ॥ ६२ ॥

प्रत्यक्षत्वेनाभिमताहंधीर्देहातिरेकिणम् ।
गमयेदिन्द्रियात्मानं वच्मीत्यादिप्रयोगतः ।। ६३ ।।
वागादीनामिन्द्रियाणां कलहः श्रुतिषु श्रुतः ।
तेन चैतन्यमेतेषामात्मत्वं तत एव हि ।।६४ ।।
हैरण्यगर्भाः प्राणात्मवादिनस्त्वेवमूचिरे ।
चक्षुराद्यक्षलोपेऽपि प्राणसत्त्वे तु जीवति ।। ६५ ।।
प्राणो जागर्ति सुप्तेऽपि प्राणश्रैष्ठ्यादिकं श्रुतम् ।
कोशः प्राणमयः सम्यग्विस्तरेण प्रपञ्चितः ।। ६६ ।।

कीदृशो देहातिरिक्त आत्मा, केन वा प्रमाणेनावगम्यत इत्याशङ्कायामाह—

प्रत्यक्षत्वेनेति । 'अहं वच्मि, अहं पश्यामि' इत्यादि प्रयोगदर्शनात् देहातिरिक्ताहम्बुद्धिगम्यानीन्द्रियाण्यात्मेत्यर्थः ।। ६३ ।।

नन्विन्द्रियाणामचेतनानां कथमात्मत्वमित्याशङ्क्य, श्रुतिष्विन्द्रियसंवादश्रवणादचेतनत्वमसिद्धमित्याह—

वागादीनामिति । चेतनत्वस्यैवात्मलक्षणत्वात् चेतनानामिन्द्रियाणां आत्मत्वमुचितमित्याह—**आत्मत्वमिति** ।। ६४ ।।

मतान्तरमुत्थापयितुं—**हैरण्यगर्भा इति** ।। ६५ ।।

प्राणस्यात्मत्वे श्रौतलिङ्गानीति दर्शयति—

प्राण इति । 'प्राणादय एवैतस्मिन् पुरे जाग्रति' (प्रश्नो० ४।३) इत्यादिना प्राणजागरणं श्रूयते 'तत्प्राणे प्रपन्न उदतिष्ठत्तदुक्थमभवत्तदेत-

ननु भवत्वेवं मयाऽप्यनुमानं तु तत्र नास्माकं मते प्रमाणमेवातः कथं तत्सिद्धिः किं वा तद्रूपमित्याशङ्क्य तव प्रत्यक्षत्वेन संमताऽहमिति धीरेवाहदेहे इत्यनुल्लेखाद्देहातिरिक्तं तं विषयीकरोत्यथाहं वच्मीत्यादि प्रयोगादिन्द्रियरूप एव स इति समाधत्ते—**प्रत्यक्षत्वेनेति** ।। ६३ ।।

नन्विन्द्रियाणां जडत्वात्कथमात्मत्वम आह—**वागादीनामिति** । तथा च काण्वैराम्नायते—"ते ह वाचमूचुस्त्वं न उद्गायेति तेभ्यो वागुदगायत्" इत्यादि ।। ६४ ।।

अथ प्राणात्मवादिमतमाह—**हैरण्यगर्भा इति युग्मेन** ।। ६५ ।।

प्राण इति । सुप्तेऽपि **देवदत्त** इत्यार्थिकम् । तथा च सुषुप्तिं प्रकृत्य श्रुतिः

मन आत्मेति मन्यन्त उपासनपरा जनाः ।
प्राणस्याभोक्तृता स्पष्टा भोक्तृत्वं मनसस्ततः ।। ६७ ।।

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः ।
श्रुतो मनोमयः कोशस्तेनात्मेतीरितं मनः ।। ६८ ।।

विज्ञानमात्मेति पर आहुः क्षणिकवादिनः ।
यतो विज्ञानमूलत्वं मनसो गम्यते स्फुटम् ।। ६९ ।।

दुक्थम्' इति प्राणस्य श्रैष्ठ्यादिकं श्रूयते । 'अन्योऽन्तर आत्मा प्राणमयः' (तैत्ति० २।२) इत्यादिना प्राणमयः । कोशः प्रपञ्चितः । 'आदि'शब्देन प्राणसंवादप्रवेशादिकं ग्राह्यम् ।। ६६ ।।

प्राणादप्यान्तरस्य मनसः आत्मत्ववादिनो मतं दर्शयति—

मन आत्मेतीति । प्राणस्यानामत्वे युक्तिमाह—**प्राणस्येति** ।। ६७ ।।

मनस आत्मत्वे युक्तिप्रतिपादिकां श्रुतिमाह—

मन एवेति । 'तस्माद्वा एतस्मात्प्राणमयादन्योऽन्तर आत्मा मनोमयः' (तैत्ति० २।२) इति श्रुत्यन्तरं दर्शयति—**श्रुत इति** । फलितमाह—**तेनेति** ।। ६८ ।।

मनसोऽप्यान्तरस्य विज्ञानस्य आत्मत्ववादिनो बौद्धस्य मतं दर्शयति—

विज्ञानमिति । विज्ञानस्यान्तरत्वे युक्तिमाह—**यत इति** ।। ६९ ।।

"प्राणाग्नय एवैतस्मिन्पुरे जाग्रति" इति । "प्राणस्येदं वशे सर्वम्" इत्यपि प्रश्नोपनिषद्येव ।। ६६ ।।

इदानीमुपासकमतमाह—**मन इति** । प्राणात्मवादं दूषयति—**प्राणस्येति** । सुखाद्यनाश्रयत्वादिति शेषः ।। ६७ ।।

तत्र श्रुतिमपि स्वमते प्रमाणयति—**मन एवेति** ।। ६८ ।।

अथ बौद्धमतमुपपादयति—**विज्ञानमित्यादिपञ्चभिः** । तत्र हेतुः—**यत इति** । आन्तरत्वाद्बुद्धेरिति शेषः ।। ६९ ।।

अहंवृत्तिरिदंवृत्तिरित्यन्तःकरणं द्विधा ।
विज्ञानं स्यादहंवृत्तिरिदंवृत्तिर्मनो भवेत् ।। ७० ।।
अहंप्रत्ययबीजत्वमिदंवृत्तेरिति स्फुटम् ।
अविदित्वा स्वमात्मानं बाह्यं वेत्ति न तु क्वचित् ।। ७१ ।।
क्षणे क्षणे जन्मनाशावहंवृत्तेर्मितो यतः ।
विज्ञानं क्षणिकं तेन स्वप्रकाशं स्वतो मितेः ।। ७२ ।।
विज्ञानमयकोशोऽयं जीव इत्यागमा जगुः ।
सर्वसंसार एतस्य जन्मनाशसुखादिकः ।। ७३ ।।

'विज्ञानमनः'—शब्दवाच्यस्यान्तःकरणस्यैकत्वात् कथं मनोविज्ञानयोः कार्यकारणभाव इत्याशङ्क्य, तमुपपादयितुं तयोर्भेदं तावद्दर्शयति—

अहंवृत्तिरिति ।। ७० ।।

तयोः कार्यकारणभावमाह—

अहंप्रत्ययबीजत्वमिति । तदेवोपपादयति—**अविदित्वेति** । अहं-वृत्त्युदयाभावे इदंवृत्त्यनुदयादनयोः कार्यकारणभाव इत्यर्थः ।। ७१ ।।

तस्य विज्ञानस्य क्षणिकत्वेऽनुभवं प्रमाणयति—

क्षण इति । क्षणिकत्वमुपपाद्य, स्वप्रकाशत्वमुपपादयति—**स्वप्रकाश-मिति** । स्वेनैव प्रमितत्वादित्यर्थः ।। ७२ ।।

विज्ञानस्यात्मत्वे आगमः प्रमाणमित्याह—

विज्ञानमयेति । 'तस्माद्वा एतस्मान्मनोमयादन्योऽन्तर आत्मा विज्ञानमयः' (तैत्ति० २।२), 'विज्ञानं यज्ञं तनुते' (तैत्ति० २।५।१) इत्यादिवाक्यं विज्ञानस्यात्मत्वप्रतिपादकमिति भावः ।। ७३ ।।

आंतरत्वमेव मनोपेक्षया बुद्धेरुपपादयितुं तयोः स्वरूपं संक्षिपति—**अहं-वृत्तिरिति** ।। ७० ।।

ततः किं तदाह—**अहंप्रत्ययेति** । तत्र हेतुः—**अविदित्वेति** ।। ७१ ।।

तस्य क्षणिकत्वमाह—**क्षणे क्षण इति** । तस्य स्वप्रकाशत्वमप्याह—**स्वेति** चरमचरणेन ।। ७२ ।।

तत्र श्रुतिमपि तैत्तिरीयाणां प्रमाणयति—**विज्ञानमयेति** ।। ७३ ।।

विज्ञानं क्षणिकं नात्मा विद्युदभ्रनिमेषवत् ।
अन्यस्यानुपलब्धत्वाच्छून्यं माध्यमिका जगुः ।। ७४ ।।

असदेवेदमित्यादाविदमेव श्रुतं ततः ।
ज्ञानज्ञेयात्मकं सर्वं जगद्भ्रान्तिप्रकल्पितम् ।। ७५ ।।

निरधिष्ठानविभ्रान्तेरभावादात्मनोऽस्तिता ।
शून्यस्यापि ससाक्षित्वादन्यथा नोक्तिरस्य ते ।। ७६ ।।

बौद्धावान्तरभेदस्य शून्यवादिनो मतं दर्शयति—

विज्ञानमिति ।। ७४ ।।

तत्र श्रुतिमाह—

असदेवेदमितीति । शून्यस्यैव तद्रूपत्वे प्रतीयमानस्य जगतः का गतिरित्यत आह—**ज्ञानेति** ।। ७५ ।।

तदेतन्मतं दूषयति—

निरधिष्ठानेति । निःस्वरूपस्य शून्यस्याधिष्ठानत्वायोगान्निरधिष्ठानस्य भ्रमस्यानुपपत्तेर्जगत्कल्पनाधिष्ठानस्यात्मनः सत्ताऽभ्युपगन्तव्या । किञ्च शून्यवादिनोऽपि शून्यसाक्षित्वेनावश्यमात्माऽभ्युपगन्तव्यः । अन्यथा तस्यानभ्युपगमे अस्य शून्यस्योक्तिः शून्यमित्यभिधानं ते बौद्धस्य तव मते न सिध्येदिति भावः ।। ७६ ।।

अथ विज्ञानवादं खण्डयन्योगाचारमतमाह—**विज्ञानमित्यादिद्वाभ्याम्** ।। ७४ ।।

असदेवेति । "तद्धैक आहुरसदेवेदमग्र आसीत्" इत्यादि छान्दोग्यश्रुताविर्त्यार्थिकम् ।। ७५ ।।

एतन्मतं खण्डयति—**निरधिष्ठानेति** । सकलदेशकालावच्छिन्नसत्त्वात्यन्ताभावप्रतियोगिनः । शून्यशब्दितासतः शशविषाणादेरधिष्ठानत्वासम्भवात्सद्रूपस्यैव सर्वभ्रमाधिष्ठानतेत्याकूतम् । तत्र हेतुं ददंस्तस्याधिष्ठानीभूतसद्रूपस्याऽऽत्मनश्चिद्रूपतामप्याह—**शून्यस्यापीति** । इदमात्मनोऽस्तितेत्यत्रान्वेति । तत्रान्यथानुपपत्तिं प्रमाणयति—**अन्यथेति** । ते माध्यमिकस्यास्य शून्यस्य विषयिण्युक्तिस्तद्विषयकानुभवमन्तरा शून्यमस्तीत्यादिशब्दप्रयुक्तिरेव न भवेदिति सम्बन्धः ।। ७६ ।।

अन्यो विज्ञानमयत आनन्दमय आन्तरः ।
अस्तीत्येवोपलब्धव्य इति वैदिकदर्शनम् ।। ७७ ।।
अणुर्महान् मध्यमो वेत्येवं तत्रापि वादिनः ।
बहुधा विवदन्ते हि श्रुतियुक्तिसमाश्रयात् ।। ७८ ।।
अणुं वदन्त्यान्तरालाः सूक्ष्मनाडीप्रचारतः ।
रोम्णः सहस्रभागेन तुल्यासु प्रचरत्ययम् ।। ७९ ।।

कस्तर्ह्यात्मेत्यत आह—

अन्य इति । 'तस्माद्वा एतस्माद्विज्ञानमयादन्योऽन्तर आत्माऽऽनन्दमयः' (तैत्ति० २।५) 'अस्तीत्येवोपलब्धव्यस्तत्त्वभावेन' (कठ० ६।१०) इति च श्रुतिसद्भावात् 'आनन्दमय आत्माऽभ्युपगन्तव्यः' इति वैदिकदर्शनं वैदिकसिद्धान्तः ।। ७७ ।।

एवमात्मस्वरूपे विप्रतिपत्तिं प्रदर्श्य, तत्परिमाणविशेषेऽपि वादिविप्रतिपत्तिं दर्शयति—**अणुरिति** ।। ७८ ।।

तत्राणुत्ववादिनस्तावद्दर्शयति—

अणुमिति । अणुत्वाभिधाने हेतुमाह—**सूक्ष्मेति** । तदुपपादयति—**रोम्ण इति** । नाडीष्विति शेषः । सूक्ष्मासु नाडीषु संचारोऽणुत्वमन्तरेण न घटत इत्यभिप्रायः ।। ७९ ।।

एवं चेत्कस्तर्हि तवाऽऽत्मेत्यत्राह—**अन्य इति** । **"तस्माद्वा एतस्माद्विज्ञानमयादन्योऽन्तर आत्माऽऽनन्दमयः"** इति अस्तीत्येवोपलब्धव्यस्तत्त्वभावेन चेति च श्रुतिरूपं तत्र **वैदिकदर्शनमस्तीत्यन्वयः** ।। ७७ ।।

एवं तद्रूपं निर्णीय तत्परिमाणे विवादमाह—**अणुरिति** ।। ७८ ।।

एवं प्रथमोद्दिष्टत्वादणुवादिनस्तावदाह—**अणुमिति** । आन्तराला अन्तः शरीरमध्ये भवतीत्यान्तरः सूक्ष्मतमनाडीप्रचारस्तमेवाणुवादहेतुत्वेन लान्ति स्वकुर्वंतीति तथा **रामानुजा माध्वाश्चेत्यर्थः** । तदुक्तं **मूलकारैरेव सर्वदर्शनसंग्रहे** माध्वमतारम्भे—तदेतद्रामानुजमतं जीवाणुत्वदासत्ववेदापौरुषेयत्वसिद्धार्थबोधकत्वस्वतःप्रमाणत्वप्रमाणत्रित्वपाञ्चरात्रोपजीव्यत्वप्रपञ्चभेदसत्यत्वादिसाम्येऽपि परस्परविरुद्धभेदादिपक्षत्रयकक्षीकारेण क्षपणकपक्षनिक्षिप्तमित्युपेक्षमाणः स आत्मा तत्त्वमसीत्यादेर्वेदान्तवाक्यजातस्य भङ्ग्यन्तरेणार्थान्तरपरत्वमुपपाद्य ब्रह्ममीमांसाविवरणव्याजेनाऽऽनन्दतीर्थःप्रस्थानान्तरमास्थिषतेति ।। ७९ ।।

अणोरणीयानेषोऽणुः सूक्ष्मात्सूक्ष्मतरं त्विति ।
अणुत्वमाहुः श्रुतयः शतशोऽथ सहस्रशः ।। ८० ।।
बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च ।
भागो जीवः स विज्ञेय इति चाहाऽपरा श्रुतिः ।। ८१ ।।
दिगम्बरा मध्यमत्वमाहुरापादमस्तकम् ।
चैतन्यव्याप्तिसंदृष्टेरानखाग्रश्रुतेरपि ।। ८२ ।।
सूक्ष्मनाडीप्रचारस्तु सूक्ष्मैरवयवैर्भवेत् ।
स्थूलदेहस्य हस्ताभ्यां कञ्चुकप्रतिमोकवत् ।। ८३ ।।

अणुत्वे किं प्रमाणमित्यत आह—

अणोरिति । 'अणोरणीयान्महतो महीयान्' (श्वे० ३।२०), 'एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यः' (मुण्ड० ३।१।९), 'सूक्ष्मात्सूक्ष्मतरं नित्यम्' इत्यादि श्रुतय इत्यर्थः ।। ८० ।।

श्रुत्यन्तरमुदाहरति—**बालाग्रेति** ।। ८१ ।।

मध्यमपरिमाणवादिनो मतं दर्शयति—

दिगम्बरा इति । तत्रोपपत्तिमाह—**आपादेति** । 'स एष इह प्रविष्ट आनखाग्रेभ्यः' (बृ० १।४।७) इति श्रुतिरप्यत्र प्रमाणमित्याह—**आनखाग्रेति** ।। ८२ ।।

ननु मध्यपरिमाणत्वे श्रुतिसिद्धो नाडीप्रचारो न घटते इत्याशङ्क्याह—

सूक्ष्मनाडीति । यथा देहावयवयोर्हस्तयोः कञ्चुकप्रवेशेन देहस्य कञ्चुकप्रवेशस्तद्वदात्मावयवानां सूक्ष्माणां नाडीषु प्रचारेणात्मनोऽपि प्रचार उपचर्यत इत्यर्थः ।। ८३ ।।

तत्र श्रुतीरपि प्रमाणयति—**अणोरित्यादिद्वाभ्याम्** ।। ८० ।।

बालेति । कल्पितस्य तर्कितस्येत्यर्थः ।। ८१ ।।

अथोद्देशेन्त्यमप्यार्हतमतं खण्डनीयत्वसाम्यादेवाणुवादोत्तरमाह—**दिगम्बरा इत्यादित्रिभिः** । **आनखाग्रेति** । स एष इह प्रविष्ट आनखाग्रेभ्यः इति ।। ८२ ।।

सूक्ष्मेति । **कञ्चुकेति** । "कञ्चुको वारबाणोऽस्त्री" इत्यमरात्कवचपरिधानवदित्यर्थः ।। ८३ ।।

न्यूनाधिकशरीरेषु प्रवेशोऽपि गमागमैः ।
आत्मांशानां भवेत्तेन मध्यमत्वं विनिश्चितम् ॥ ८४ ॥
सांशस्य घटवन्नाशो भवत्येव तथा सति ।
कृतनाशाऽकृताभ्यागमयोः को वारको भवेत् ॥ ८५ ॥
तस्मादात्मा महानेव नैवाणुर्नापि मध्यमः ।
आकाशवत्सर्वगतो निरंशः श्रुतिसंमतः ॥ ८६ ॥

नन्वात्मनो नियतमध्यमपरिमाणत्वे कर्मवशान्न्यूनाधिकशरीरप्रवेशो न घटत इत्याशङ्क्यावयवागमापायाभ्यामात्मनो नियतमध्यमपरिमाणत्वाद्देहवदुभयं न विरुध्यत इत्याह—

न्यूनाधिकेति । फलितमाह—**तेनेति** ॥ ८४ ॥

आत्मनः सावयवत्वे घटादिवदनित्यत्वप्रसङ्गेनैतद्दूषयति—

सांशस्येति । भवतु, को दोषस्तत्राह—**तथा सतीति** । कृतयोः पुण्यपापयोर्भोगमन्तरेण नाशः कृतनाशः, अकृतयोरकस्मात्फलदातृत्वमकृताभ्यागमः, एतद्दोषद्वयमात्मनोऽनित्यत्वाभ्युपगमे भवेदिति भावः ॥८५॥

अतः परिशेषादात्मनो विभुत्वं सिद्धमित्याह—

तस्मादिति । तत्र प्रमाणमाह—**आकाशवदिति** । 'आकाशवत्सर्वगतश्च नित्यः' (गौड० ३।३)[१] 'निष्कलं निष्क्रियं' (श्वे० ६।१९) इत्याद्यागमः प्रमाणमित्यर्थः ॥ ८६ ॥

न्यूनेति । गमागमैर्विनाशोत्पादैः ॥ ८४ ॥

अण्वादिवादद्वयमपि खण्डयन्नादावार्हतमतमेव खण्डयति—**सांशस्येति** । उपलक्षणमिदं मिथ्यात्वस्यापि ॥ ८५ ॥

अथोभयत्रापि दूषणपुरःसरं सिद्धान्तयति—**तस्मादिति** । तत्र हेतुः—**आकाशवदिति** । "**आकाशवत्सर्वगतश्च नित्यः**" इति "**निष्कलं निष्क्रियं शान्तम्**" इति च श्रुतेरण्वानखाग्रश्रुत्योः सूक्ष्मतमत्वप्रयुक्तेन्द्रियागम्यत्वबुद्ध्युपहितत्वाद्यभिप्रायकत्वाच्चेत्यर्थः ॥ ८६ ॥

१. 'आकाशवत्सर्वगतं सुसूक्ष्म'मिति शाण्डिल्योपनिषदि (२।१।३) ।

इत्युक्त्वा तद्विशेषे तु बहुधा कलहं ययुः ।
अचिद्रूपोऽथ चिद्रूपश्चिदचिद्रूप इत्यपि ॥ ८७ ॥
प्राभाकरास्तार्किकाश्च प्राहुरस्याचिदात्मताम् ।
आकाशवद्द्रव्यमात्मा शब्दवत्तद्गुणश्चितिः ॥ ८८ ॥
इच्छाद्वेषप्रयत्नाश्च धर्माधर्मौ सुखासुखे ।
तत्संस्काराश्च तस्यैते गुणाश्चितिवदीरिताः ॥ ८९ ॥
आत्मनो मनसा योगे स्वादृष्टवशतो गुणाः ।
जायन्तेऽथ प्रलीयन्ते सुषुप्तेऽदृष्टसंक्षयात् ॥ ९० ॥

एवमात्मनो विभुत्वं प्रसाध्य, तस्य चिद्रूपं निश्चेतुं तावद्वादिविप्रतिपत्तिं दर्शयति—**इत्युक्त्वेति** ॥ ८७ ॥

अचिद्रूपत्ववादिनो मतं दर्शयति—

प्राभाकरा इति । तत्प्रक्रियामनुभाषते—**आकाशवद्द्रव्यमिति** । आत्मा द्रव्यं भवितुमर्हति; गुणवत्त्वात्, आकाशवत्, इति अनुमानं सूचितम् । आत्मनः पृथिव्यादिभ्यो भेदसाधकं विशेषगुणं दर्शयति—**शब्दवदिति** । आत्मा पृथिव्यादिभ्यो भिद्यते; ज्ञानगुणत्वात्, यत्पृथिव्यादिभ्यो न भिद्यते तत् ज्ञानगुणकमपि न भवति, यथा पृथिव्यादीत्यनुमानं द्रष्टव्यम् ॥ ८८ ॥

तस्यैव विशेषगुणान्तराण्याह—

इच्छेति । तत्संस्काराः भावनाः ॥ ८९ ॥

एषां गुणानामुत्पत्तिविनाशकारणमाह—

आत्मन इति । स्वादृष्टवशत आत्मनो मनसा योगे इत्यन्वयः ॥ ९० ॥

एवमात्मनो विभुत्वं सामान्यतो निर्णीय तद्विशेषनिर्णयार्थमुपक्रमते—**इत्युक्त्वेति** । वादिन इत्यार्थिकम् । इति निरुक्तप्रकारेणोक्त्वा स्वस्वमतयुक्त्याद्युपन्यस्येत्यर्थः । तद्विशेष इत्यादि सरलमेव । तत्प्रकारमेव सूत्रयति—**अचिदिति** ॥ ८७ ॥

तत्रोद्दिष्टाचिद्रूपवादिनः प्रथममाह—**प्राभाकरा इति** । तत्र तत्सम्मतां युक्तिमाह—**आकाशवदिति** ॥ ८८ ॥

किं चितिलक्षण एक एवाऽऽत्मगुण इत्याशङ्कायामन्यानपि तद्गुणानाह—**इच्छेति** । एवमेते ज्ञानेन सह नवसंख्यादिपञ्चकं चेति चतुर्दशगुणवाञ्जीव इति तन्मतमिति तत्त्वम् ॥ ८९ ॥

अथोक्तगुणोत्पत्त्यादिप्रकारमाह—**आत्मन इति** ॥ ९० ॥

चितिमत्त्वाच्चेतनोऽयमिच्छाद्वेषप्रयत्नवान् ।
स्याद्धर्माधर्मयोः कर्ता भोक्ता दुःखादिमत्त्वतः ॥ ९१ ॥
यथाऽत्र कर्मवशतः कादाचित्कं सुखादिकम् ।
तथा लोकान्तरे देहे कर्मणेच्छादि जन्यते ॥ ९२ ॥
एवं च सर्वगस्यापि सम्भवेतां गमागमौ ।
कर्मकाण्डः समग्रोऽत्र प्रमाणमिति तेऽवदन् ॥ ९३ ॥

आत्मनोऽचिद्रूपत्वे कथं चेतनत्वाभ्युपगम इत्याशङ्क्य, चितिमत्त्वादित्याह—

चितिमत्त्वादिति । आत्मनश्चेतनत्वे हेत्वन्तरमाह—**इच्छेति ।** तस्येश्वराद्वैलक्षण्यमाह——**स्यादिति ॥ ९१ ॥**

नन्वात्मनो विभुत्वे लोकान्तरगमनादिकं कथं घटेतेत्याशङ्क्यास्मिन् देहे कर्मवशादिच्छाद्युत्पत्तौ सत्यामत्रात्मनोऽवस्थानादिव्यवहार इव कर्मवशाल्लोकान्तरे देहान्तरोत्पत्तौ तदवच्छिन्नात्मप्रदेशे सुखाद्युत्पत्तिवशात्तत्रात्मनो गमनादिकव्यवहार इत्यौपचारिकमात्मनो गमनादिकमित्यभिप्रेत्याह—

यथाऽत्र कर्मवशत इति ॥ ९२ ॥

एवमिति । आत्मनः कर्तृत्वादिधर्मवत्त्वे किं प्रमाणमित्यत आह—

कर्मकाण्ड इति ॥ ९३ ॥

एवमचिद्रूपस्याप्यात्मनश्चेतनत्वे हेतुं वदंस्तत एव कर्तृत्वाद्यपीत्याह—**चितिमत्त्वादिति ॥ ९१ ॥**

ननु विभोर्लोकान्तरगमनादिकं कथमित्यत आह—**यथेति ।** दार्ष्टान्तिके योजयति—**तथेति ।** लोकान्तरे कर्मणा देहे जाते सति कर्मणैवेच्छादि जन्यत इति योजना ॥ ९२ ॥

ततः किं तदाह **एवं चेति ।** अत्र किं प्रमाणमित्यपेक्षायां तदाह— **कर्मकाण्ड इति ।** उक्तवादिद्वयमतमुपसंहरति—**इतीति ।** ते प्राभाकरास्तार्किकाश्चावदन्ब्रूयुरित्यन्वयः ॥ ९३ ॥

आनन्दमयकोशो यः सुषुप्तौ परिशिष्यते ।
अस्पष्टचित्स आत्मैषां पूर्वकोशोऽस्य ते गुणाः ।। ९४ ।।
गूढं चैतन्यमुत्प्रेक्ष्य जडबोधस्वरूपताम् ।
आत्मनो ब्रुवते भाट्टाश्चिदुत्प्रेक्षोत्थितस्मृतेः ।। ९५ ।।
जडो भूत्वा तदाऽस्वाप्समिति जाड्यस्मृतिस्तदा ।
विना जाड्यानुभूतिं न कथञ्चिदुपपद्यते ।। ९६ ।।

ननु 'अन्यो विज्ञानमयात् आनन्दमय आन्तरः'(तै० ब्रह्म० ५) इत्यत्रानन्दमयस्यात्मत्वमुक्तम्, इदानीमिच्छादिमानन्यः प्रतिपाद्यतेऽतः पूर्वोत्तरविरोध इत्याशङ्क्याह—

आनन्दमयेति । सुषुप्तावस्पष्टचिद्य आनन्दमयकोशः परिशिष्यते स पूर्वकोशः, श्रौतेषु पञ्चकोशेषु प्रथम एषां प्राभाकरादीनामात्मा । अस्यात्मनस्ते पूर्वोक्ता ज्ञानानन्दादयो गुणा इत्यर्थः ।। ९४ ।।

अस्यैवात्मनश्चिदचिद्रूपत्वं भाट्टा वर्णयन्तीत्याह—

गूढमिति । भाट्टा आत्मनो गूढमस्पष्टं चैतन्यमुत्प्रेक्ष्य ऊहित्वा चिज्जडोभयात्मकतां वर्णयन्ति । चैतन्योत्प्रेक्षायां कारणमाह—**चिदुत्प्रेक्षेति** । उत्थितस्मृतेश्चिदुत्प्रेक्षा भवतीति योजना । सुप्तेरुत्थितस्य जायमानात्स्मरणात्सौषुप्तचैतन्यस्योत्प्रेक्षा भवतीत्यर्थः ।। ९५ ।।

चिदुत्प्रेक्षाप्रकारमेव स्पष्टयति—

जडो भूत्वेति । तदा सुषुप्तिकाले जडो भूत्वाऽस्वाप्समित्येवंरूपा जाड्यस्मृतिरुत्थितस्य पुरुषस्य जायमाना सुषुप्तिकालीनजाड्यानुभवमन्तरेण अनुपपद्यमानं तदानीन्तनजाड्यानुभवं कल्पयतीति भावः ।। ९६ ।।

ननु स्वसम्मतात्मन एतेषां को विशेष इत्यतस्तमाह—**आनन्दमय इति** । एषां प्राभाकरादीनाम् । पूर्वकोशः विज्ञानमयकोशः । अस्य एतत्सम्मतात्मनोऽस्पष्टचितः । ते पूर्वोक्ता बुद्ध्यादयः ।। ९४ ।।

अथोक्तात्मविषयकमेव भाट्टमतमाह—**गूढमिति** । चिदुत्प्रेक्षायां हेतुः—**उत्थितेति** । सुषुप्तेरुत्थितस्य देवदत्तस्य या स्मृतिः सुखमहमस्वाप्सं न किंचिदवेदिषमित्यादिरूपा इत्यर्थः ।। ९५ ।।

तामेवानूद्य तल्लिङ्गसाध्यमात्मनो जडबोधरूपत्वमुपपादयति—**जडो भूत्वेति** ।

द्रष्टुर्दृष्टेरलोपश्च श्रुतः सुप्तौ ततस्त्वयम् ।
अप्रकाशप्रकाशाभ्यामात्मा खद्योतवद्यतः ॥ ९७ ॥
निरंशस्योभयात्मत्वं न कथञ्चिद्घटिष्यते ।
तेन चिद्रूप एवात्मेत्याहुः साङ्ख्यविवेकिनः ॥ ९८ ॥
जाड्यांशः प्रकृते रूपं विकारि त्रिगुणं च तत् ।
चितो भोगापवर्गार्थं प्रकृतिः सा प्रवर्तते ॥ ९९ ॥

सुषुप्तौ चैतन्यलोपाभावे प्रमाणमाह—

द्रष्टुरिति । 'नहि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वात्' (बृ० ४।४।२३) इति श्रुतौ द्रष्टुरात्मनः स्वरूपभूताया दृष्टेर्लोपो न विद्यते; विनाशरहितस्वभावत्वात् । अन्यथा लोपवादिनोऽपि निःसाक्षिकस्य वक्तुमशक्यत्वात्सुषुप्तौ चैतन्यलोपाभावः श्रूयते । ततोऽपि कारणादयमात्मा खद्योतवदस्फुरणस्फुरणाभ्यां युक्तो भवतीत्यर्थः ॥ ९७ ॥

अस्मिन् भाट्टमते दूषणाभिधानपुरःसरं साङ्ख्यमतमुत्थापयति—

निरंशस्येति ॥ ९८ ॥

जाड्यस्मृतेस्तर्हि का गतिरित्याशङ्क्याह—

जाड्यांश इति । तत् प्रकृतिरूपं सत्त्वरजस्तमोगुणात्मकम् । प्रकृतिकल्पनायां प्रयोजनमाह—**चित इति** । चितः पुरुषस्येति यावत् ॥ ९९ ॥

अहं तदा सुषुप्तिकाले । जडो भूत्वाऽस्वाप्समितीत्याकारा । तदा सुप्तेरुत्थानकाले । **जाड्येति** । विनेत्यादि योज्यम् ॥ ९६ ॥

अत्र श्रुतिमपि प्रमाणयति—**द्रष्टुरिति** । न हि द्रष्टुरिति । न हि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वान्न तु तद्द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यत्पश्येदिति सुषुप्तिं प्रकृत्य **बृहदारण्यक** एवाऽऽम्नायत इत्यर्थः । युतो युक्तः ॥ ९७ ॥

अथैतत्खण्डनपूर्वकं सांख्यमतमाह—**निरंशस्येति** ॥ ९८ ॥

एवं तर्हि निरुक्तस्मृत्यनुमितजाड्यांशस्य का गतिरित्यत आह—**जाड्यांश इति** । तत्प्रकृते रूपम् । ननूक्तप्रकृतिः किमिति कल्प्येत्यत आह—**चित इति** । चिद्रूपस्याऽऽत्मन इत्यर्थः ॥ ९९ ॥

असङ्गायाश्चितेर्बन्धमोक्षौ भेदाग्रहान्मतौ ।
बन्धमुक्तिव्यवस्थार्थं पूर्वेषामिव चिद्भिदा ।। १०० ।।
महतः परमव्यक्तमिति प्रकृतिरुच्यते ।
श्रुतावसङ्गता तद्वदसङ्गो हीत्यतः स्फुटा ।। १०१ ।।
चित्संनिधौ प्रवृत्तायाः प्रकृतेर्हि नियामकम् ।
ईश्वरं ब्रुवते योगाः स जीवेभ्यः परः श्रुतः ।। १०२ ।।

ननु चितोऽसङ्गत्वेन प्रकृतिपुरुषयोरत्यन्तविविक्तत्वात् प्रकृतिप्रवृत्त्या कथं पुरुषस्य भोगापवर्गावित्याशङ्क्य, तयोर्विवेकस्याग्रहणात्पुरुषे भोगापवर्गौ व्यवह्रियेते इत्याह—

असङ्गाया इति । तार्किकादिभिरिव सांख्यैरात्माभेदोऽङ्गीक्रियत इत्याह—**बन्धमुक्तीति** ।। १०० ।।

प्रकृतिसद्भावे पुरुषस्यासङ्गत्वे च श्रुतिमुदाहरति—

महत इति ।। १०१ ।।

एवं जीवविषयां वादिविप्रतिपत्तिं प्रदर्श्येश्वरविषयां तां प्रदर्शयितुं ईश्वररूपं तावत्स्थापयति—

चित्संनिधाविति । ननु प्रकृतिपुरुषातिरिक्तेश्वरकल्पनमप्रमाणमित्याशङ्क्याह—**स जीवेभ्य इति** ।। १०२ ।।

ननु त्वन्मते त्वसङ्गस्याऽऽत्मनः कथं बन्धादीत्यत आह—**असङ्गाया इति**। प्रकृतितत्कार्याभ्यां सकाशादात्मनोऽनादिसिद्धादित्यार्थिकम् । एतादृशात् । **भेदेति**। पूर्वेषां भाट्टादीनां प्रागुक्तवादिनामिवेत्यर्थः। **चिदिति**। नानात्मत्वमस्तीति सम्बन्धः ।। १०० ।।

तत्र श्रुती प्रमाणयति—**महत इति**। **असङ्गो ह्ययं पुरुष** इति श्रूयत इत्यर्थः ।। १०१ ।।

एवं त्वंपदवाच्यजीवे वादिविप्रतिपत्तीः समुपन्यस्य तद्वत्तत्पदवाच्य ईश्वरेऽपि ताः सम्प्रदर्शयन्नथ **पातञ्जलमतमाह—चित्सन्निधाविति**। नियामकं नियन्तारम्। एतेन जडायाः प्रकृतेः स्वातन्त्र्यानौचित्यं प्राच्यमते दोषः सूचितः ।। १०२ ।।

प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेश इति हि श्रुतिः ।
आरण्यकेऽसंभ्रमेण ह्यन्तर्याम्युपपादितः ॥ १०३ ॥
अत्रापि कलहायन्ते वादिनः स्वस्वयुक्तिभिः ।
वाक्यान्यपि यथाप्रज्ञं दार्ढ्यायोदाहरन्ति हि ॥ १०४ ॥
क्लेशकर्मविपाकैस्तदाशयैरप्यसंयुतः ।
पुंविशेषो भवेदीशो जीववत्सोऽप्यसङ्गचित् ॥ १०५ ॥

तामेवेश्वरसद्भावप्रतिपादिकां (श्वे० ६।४।१०) श्रुतिं पठति—

प्रधानेति । प्रधानं गुणसाम्यावस्थारूपं, क्षेत्रज्ञा जीवास्तेषां पतिः, गुणाः सत्त्वादयस्तेषामीशो नियामक इत्यर्थः । न केवलमियमेव श्रुतिरीश्वरप्रतिपादिका, अन्तर्यामिब्राह्मणमपीत्याह—**आरण्यक इति** ॥ १०३ ॥

तामेव वादिविप्रतिपत्तिं प्रतिजानीते—

अत्रापीति । प्रज्ञामनतिक्रम्य यथाप्रज्ञम् ॥ १०४ ॥

इदानीं पतञ्जलिनोक्तमीश्वरप्रतिपादकं 'क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः' (यो० सू० १।२४) इत्येतत्सूत्रमर्थतः पठति—

क्लेशेति । क्लेशा अविद्यादयः पञ्च, कर्माणि 'कर्माशुक्लाकृष्णं योगिनस्त्रिविधमितरेषाम्' (यो० सू० ४।७) इति सूत्रितानि, सति मूले तद्विपाका जात्यायुर्भोगा इत्युक्ताः कर्मविपाकाः फलविशेषास्तदाशयास्तेषां संस्कारास्तैः क्लेशादिभिरसंस्पृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरो भवति, सोऽपि जीववदसङ्गश्चिद्रूपश्चेत्यर्थः ॥ १०५ ॥

अत्रापि श्रुती प्रमाणयति—**प्रधानेति** । प्रधानं गुणसाम्यावस्थापन्ना प्रकृतिः क्षेत्रज्ञा जीवास्तेषां पतिरित्यर्थः । गुणाः सत्त्वादयस्तेषामीशो नियामक इति यावत् । न केवलमियं श्वेताश्वतरश्रुतिरेवात्र मानं किंतु बृहदारण्यकस्थमन्तर्यामिब्राह्मणमपीत्याह—**आरण्यक इति** ॥ १०३ ॥

तत्रापि वादिविप्रतिपत्तीः प्रतिजानीते—**अत्रापीति** ॥ १०४ ॥

तत्राऽऽदौ **पातञ्जलमत** एवेशं प्रदर्शयति—**क्लेशेति** । **क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः** पुरुषविशेष ईश्वर इति हि **पातञ्जलं सूत्रम्** । एवं क्लेशादिसूत्राण्यपि । **अविद्याऽस्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः** पञ्च क्लेशाः । **कर्माशुक्लकृष्णं** योगिनस्त्रिविधमितरेषाम् । **सति** मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः । आशायास्त्वेतेषां त्रयाणां संस्कारा इत्यर्थः ॥ १०५ ॥

तथापि पुंविशेषत्वाद्घटतेऽस्य नियन्तृता ।
अव्यवस्थौ बन्धमोक्षावापतेतामिहान्यथा ।। १०६ ।।
भीषाऽस्मादित्येवमादावसङ्गस्य परात्मनः ।
श्रुतं तद्युक्तमप्यस्य क्लेशकर्माद्यसङ्गमात् ।। १०७ ।।
जीवानामप्यसङ्गत्वात्क्लेशादिर्न ह्यर्था । च ।
विवेकाग्रहतः क्लेशकर्मादि प्रागुदीरितम् ।। १०८ ।।
नित्यज्ञानप्रयत्नेच्छा गुणानीशस्य मन्वते ।
असङ्गस्य नियन्तृत्वमयुक्तमिति तार्किकाः ।। १०९ ।।

नन्वसङ्गचिद्रूपत्वे कथं नियन्तृत्वमित्यत आह—

तथापीति । ईश्वरस्य नियन्तृत्वानभ्युपगमे दोषमाह—**अव्यवस्थाविति** ।। १०६ ।।

असङ्गस्येश्वरस्य नियन्तृत्वं निष्प्रमाणकमित्याशङ्क्याह—

भीषेति । तन्नियन्तृत्वं श्रुतम् । ननु श्रुतमप्ययुक्तं कथमङ्गीक्रियत इत्यत आह—**युक्तमपीति** । जीवधर्मस्य क्लेशादेरभावादुपपन्नं चेत्यर्थः ।। १०७ ।।

ननु जीवा अप्यसङ्गचिद्रूपाः क्लेशादिरहिता एव, तथा चेश्वरे को विशेष इत्याशङ्क्य, जीवानां स्वतः क्लेशादिरहितत्वेऽपि बुद्ध्या सह विवेकाग्रहात् क्लेशादिरस्तीति पूर्वोक्तं स्मारयति—

जीवानामिति ।। १०८ ।।

तार्किकास्त्वसङ्गस्य नियामकत्वमसहमाना जीवविलक्षणत्वाय ज्ञानादिगुणत्रयं नित्यमङ्गीकुर्वत इत्याह—

नित्येति ।। १०९ ।।

नन्वसङ्गचिद्रूपस्यास्य कथं नियन्तृत्वमित्यत आह—**तथापीति** ।। १०६ ।।

अत एव **"भीषाऽस्माद्वातः पवते"** इत्यादावसङ्गस्य वातादिभयजनकत्वम् यदुक्तं तदपि युक्तमेवेत्याह—**भीषाऽस्मादिति** ।। १०७ ।।

वस्तुतस्तु जीवानामपि क्लेशाद्यभाव एवाथापि तद्विवेकाग्रहनिबन्धनमेवेत्याह—**जीवानामपीति** ।। १०८ ।।

अथैतत्खण्डनपूर्वकं तार्किकमतमाह—**नित्यज्ञानेति** ।। १०९ ।।

पुंविशेषत्वमप्यस्य गुणैरेव न चान्यथा ।
सत्यकामः सत्यसंकल्प इत्यादिश्रुतिर्जगौ ।। ११० ।।
नित्यज्ञानादिमत्त्वेऽस्य सृष्टिरेव सदा भवेत् ।
हिरण्यगर्भ ईशोऽतो लिङ्गदेहेन संयुतः ।। १११ ।।
उद्गीथब्राह्मणे तस्य माहात्म्यमतिविस्तृतम् ।
लिङ्गसत्त्वेऽपि जीवत्वं नास्य कर्माद्यभावतः ।। ११२ ।।
स्थूलदेहं विना लिङ्गदेहो न क्वापि दृश्यते ।
वैराजो देह ईशोऽतः सर्वतो मस्तकादिमान् ।। ११३ ।।

नन्विच्छादिगुणकस्य तस्य कथं जीवाद्वैलक्षण्यमित्याशङ्क्य, गुणानां नित्यत्वादेवेति परिहरति—

पुंविशेषत्वमिति । गुणानां नित्यत्वे प्रमाणमाह—**सत्येति** ।। ११० ।।

तत्रापि दोषसद्भावात्पक्षान्तरमाह—

नित्येति । अस्य हिरण्यगर्भस्य । किं रूपमित्यत आह—**लिङ्गदेहेनेति** । मायोपाधिकः परमात्मा लिङ्गशरीरसमष्ट्यभिमानेन 'हिरण्यगर्भ' इत्युच्यते इत्यर्थः ।। १११ ।।

हिरण्यगर्भस्येश्वरत्वे किं प्रमाणमित्यत आह—

उद्गीथेति । ननु लिङ्गशरीरयोगे जीवः स्यादित्याशङ्क्य, अविद्याकामकर्माभावान्न जीव इत्याह—**लिङ्गसत्त्वेऽपीति** ।। ११२ ।।

केवलं लिङ्गशरीरस्य स्थूलदेहं विहायानुपलभ्यमानत्वात्स्थूलशरीरसमष्ट्यभिमानी विराडेवेश्वर इत्याह—

स्थूलदेहं विनेति ।। ११३ ।।

एवं पुंविशेषत्वमपीशस्य नित्यज्ञानादिगुणैरेव **'सत्यकामः सत्यसङ्कल्पः'** इत्यादिश्रुत्योक्तमुपपद्यत एवेत्याह—**पुंविशेषत्वमपीति** ।। ११० ।।

अथैतन्मतमपि दूषयन्हैरण्यगर्भाः प्राणात्मवादिनस्त्वेवमूचिर इति प्रागुक्तहैरण्यगर्भमतं जीवात्मवदीश्वरनिर्णयेऽप्युपन्यस्यति—**नित्येति** । **लिङ्गेति** । समष्टिलिङ्गशरीरेणेत्यर्थः ।। १११ ।।

तत्र मानमाह—**उद्गीथेति** ।। ११२ ।।

अत्रापि दूषणपूर्वकं विश्वरूपोपासकमतमाह—**स्थूलेति** ।। ११३ ।।

सहस्रशीर्षेत्येवं च विश्वतश्चक्षुरित्यपि ।
श्रुतमित्याहुरनिशं विश्वरूपस्य चिन्तकाः ।। ११४ ।।
सर्वतः पाणिपादत्वे कृम्यादेरपि चेशता ।
ततश्चतुर्मुखो देव एवेशो नेतरः पुमान् ।। ११५ ।।
पुत्रार्थं तमुपासीना एवमाहुः प्रजापतिः ।
प्रजा असृजतेत्यादिश्रुतिं चोदाहरन्त्यमी ।। ११६ ।।
विष्णोर्नाभेः समुद्भूतो वेधाः कमलजस्ततः ।
विष्णुरेवेश इत्याहुर्लोके भागवता जनाः ।। ११७ ।।
शिवस्य पादावन्वेष्टुं शार्ङ्ग्यशक्तस्ततः शिवः ।
ईशो न विष्णुरित्याहुः शैवा आगममानिनः ।। ११८ ।।

तत्सद्भावे प्रमाणमाह—

सहस्रशीर्षेतीति । श्रुतं वाक्यमिति शेषः । विश्वरूपस्य चिन्तकाः विराडुपासकाः ।। ११४ ।।

अत्रापि दोषदृष्ट्या देवतान्तरमालम्बत इत्याह—सर्वत इति ।।११५।।

एवं कैरुच्यत इत्यत आह—

पुत्रार्थमिति । 'प्रजापतिः प्रजा असृजत' इत्यादिवाक्यं तत्र प्रमाणमाहुरित्याह—प्रजापतिरिति ।। ११६ ।।

भागवतमतमाह—विष्णोरिति ।। ११७ ।।

शैवानां मतमाह—शिवस्येति ।। ११८ ।।

तत्र मानमाह-सहस्रेति । "विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखः" इत्यादिरपि तैत्तिरीयश्रुतिरेव ।। ११४ ।।

अत्रापि दोषापत्तेश्चतुरास्योपासकमतमाह—सर्वत । इत्यादिद्वाभ्याम् ।। ११५ ।।

पुत्रार्थमिति । तत्रापि मानमाह—प्रजापतिरिति । इयमपि श्रुतिस्तैत्तिरीयशाखास्थैव ।। ११६ ।।

इदानीं वैष्णवपक्षं संक्षिपति—विष्णोरिति ।। ११७ ।।

अथ पाञ्चरात्रप्रधानभागवताख्यमाध्वरामानुजादिसाहचर्यात्तान्त्रिकशैवमतमप्युपक्षिपति—शिवस्येति । अत एव आगममानिनस्तान्त्रिका इत्यर्थः ।। ११८ ।।

पुरत्रयं सादयितुं विघ्नेशं सोऽप्यपूजयत् ।
विनायकं प्राहुरीशं गाणपत्यमते रताः ॥ ११९ ॥
एवमन्ये स्वस्वपक्षाभिमानेनान्यथान्यथा ।
मन्त्रार्थवादकल्पादीनाश्रित्य प्रतिपेदिरे ॥ १२० ॥
अन्तर्यामिणमारभ्य स्थावरान्तेशवादिनः ।
सन्त्यश्वत्थार्कवंशादेः कुलदैवतदर्शनात् ॥ १२१ ॥
तत्त्वनिश्चयकामेन न्यायागमविचारिणाम् ।
एकैव प्रतिपत्तिः स्यात्साप्यत्र स्फुटमुच्यते ॥ १२२ ॥

गाणपत्यमतमाह—**पुरत्रयमिति** ॥ ११९ ॥

उक्तन्यायमन्यत्राप्यतिदिशति—

एवमिति । अन्ये भैरवमैरालाद्युपासकाः । अन्यथान्यथावर्णने कारणमाह—**स्वस्वेति** । तत्र तत्र प्रमाणानि सन्तीति दर्शयति—**मन्त्रेति**॥१२०॥

एवं कति मतानीत्याशङ्क्य, असंख्यानीत्याह—

अन्तर्यामिणमिति । स्थावरेशवादो न क्वापि दृष्टचर इत्याशङ्क्याह—**अश्वत्थार्केति** ॥ १२१ ॥

नन्वेवं मतभेदे कस्योपादेयत्वं, कस्य वा हेयत्वमित्याकाङ्क्षायामाह—

तत्त्वनिश्चयेति । तत्त्वनिश्चयकामेन तत्त्वनिश्चयेच्छया न्यायागमयोर्विचारणशीलानां पुरुषाणां प्रतिपत्तिरेकैव स्यात् । सा कीदृशीत्यत आह—**साप्यत्रेति** ॥ १२२ ॥

तेनापि त्रिपुरासुरपराजयसिध्यर्थं गणपतिपूजनानुष्ठानकृतत्वस्य पुराणादौ सुप्रसिद्धत्वात्स एवेश्वर इति गाणपतानां मतमाह—**पुरेति** ॥ ११९ ॥

अथोपलक्षणविधया सौरादीनामपि मतानि स्वयमेवोह्यानीति सूचयन्नुक्तेश्वरवादवादिविप्रतिपत्तीरुपसंहरति—**एवमिति** । **मन्त्रेति** ' लिङ्लोट्तव्यान्यतमघटितवाक्यत्वलक्षणविधिस्तावकार्थवादादिभिन्नमन्त्रपदव्यवहार्यप्रमाणवाक्यत्वं मन्त्रत्वमित्यर्थः। इतिकर्तव्यताघटकार्थवाक्यत्वमेव कल्पत्वमित्यर्थः । आदिनास्मृतिपुराणादिः । आश्रित्य । स्वस्वपक्षाभिमानेन । अन्यथाऽन्यथा ईश्वरं प्रतिपेदिर इति सम्बन्धः ॥ १२० ॥

नन्वथापि प्रकृतेश्वरवादे कति मतानि सन्तीत्यत आह—**अन्तर्यामिणमिति** । असंख्याः सन्तीति शेषं सम्पूर्य सम्बन्धः । तत्र हेतुः—**अश्वत्थेत्यादिना** ॥ १२१ ॥

नन्वेवं तर्हि सर्वत्रानाश्वासप्रसंग एवेत्यत्राऽऽह—**तत्त्वेति** । अबाधितार्थविषयक-

मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम् ।
अस्यावयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत् ॥ १२३ ॥
इति श्रुत्यनुसारेण न्याय्यो निर्णय ईश्वरे ।
तथा सत्यविरोधः स्यात्स्थावरान्तेशवादिनाम् ॥ १२४ ॥
माया चेयं तमोरूपा तापनीये तदीरणात् ।
अनुभूतिं तत्र मानं प्रतिजज्ञे श्रुतिः स्वयम् ॥ १२५ ॥

तामेव प्रतिपत्तिं दर्शयितुं तदनुकूलां श्रुतिं पठति—

मायां त्विति । मायामेव प्रकृतिं जगदुपादानकारणं विद्यात् जानीयात् । मायिनं तु मायोपाधिकमन्तर्यामिणमेव महेश्वरं मायाधिष्ठातारं निमित्तकारणं जानीयात् । अस्य मायिनो महेश्वरस्याऽवयवभूतैरंशरूपैश्चरात्मकैर्जीवैः कृत्स्नमिदं जगद्व्याप्तमित्यस्याः श्रुतेरर्थः ॥ १२३ ॥

एतच्छ्रुत्यनुसारेणेश्वरविषयो निर्णयो युक्त इत्याह—

इतीति । कुतो युक्त इत्याशङ्क्य, सर्वत्राविरुद्धत्वादित्याह—**तथेति** । सर्वस्यापीश्वरत्वाभ्युपगमान्न केनापि विरोध इति भावः ॥ १२४ ॥

ननु जगत्प्रकृतिभूताया मायायाः किं रूपमित्यत आह—

माया चेयमिति । कुत इत्यत आह—**तापनीय इति** । माया च तमोरूपेति तापनीयोपनिषदि तमोरूपत्वस्याभिधानादित्यर्थः । मायायास्तमोरूपत्वे किं प्रमाणमित्याकाङ्क्षायां 'अनुभूतेः' (नृ० उ० ता० ९) इति श्रुतेरेवात्रानुभवः प्रमाणमिति प्रतिजानीत इत्याह—**अनुभूतिमिति** ॥ १२५ ॥

निर्णयाभिलाषेणेत्यर्थः । युक्तिमूलकं शास्त्रं न्यायः । अज्ञानमूलकं तु तदागमः । अत्रैव वेदादिकाव्यान्तयावच्छब्दब्रह्मान्तर्भाव इति बोध्यम् ॥ १२२ ॥

तामेवैकरूपप्रतिपत्तिशब्दितप्रमितिं जनयितुमुपोद्धातत्वेनाऽऽदौ श्रुतिं पठति—**मायां त्विति** ॥ १२३ ॥

ततः किं तत्राऽऽह **इतीति** । तत्रोपपत्तिमाह—**तथा सतीति** ॥ १२४ ॥

ननु मायापदार्थ एव क इत्याशङ्क्य नृसिंहोत्तरतापनीयप्रसिद्धां मायां च तमोरूपानुभूतेस्तदेतज्जडं मोहात्मकमनन्तं तुच्छमिदं रूपमिति श्रुतिमेवार्थतः संग्रथयन्समाधत्ते—**माया चेत्याविद्वाभ्याम्** ॥ १२५ ॥

जडं मोहात्मकं तच्चेत्यनुभावयति श्रुतिः ।
आबालगोपं स्पष्टत्वादानन्त्यं तस्य साऽब्रवीत् ।। १२६ ।।

अचिदात्मघटादीनां यत्स्वरूपं जडं हि तत् ।
तत्र कुण्ठीभवेद्बुद्धिः स मोह इति लौकिकाः ।। १२७ ।।

इत्थं लौकिकदृष्टयैतत्सर्वैरप्यनुभूयते ।
युक्तिदृष्टया त्वनिर्वाच्यं नासदासीदिति श्रुतेः ।। १२८ ।।

तत्र मायायास्तमोरूपत्वे कोऽसावनुभव इत्याकाङ्क्षायां तदेतज्जडं मोहात्मकमिति श्रुतिरेवात्रानुभवं स्पष्टयतीत्याह—

जडमिति । 'अनन्तरम्' (तै० ब्रह्म० १) इति श्रुत्या सर्वानुभवसिद्धत्वमुच्यत इत्याह—**आबालेति** । जडं मोहं च प्रकृतेः कार्यमिति आबालगोपालादीनां सर्वेषामनुभव इत्यर्थः ।। १२६ ।।

'जड' शब्दस्यार्थमाह—

अचिदात्मेति । 'मोह' शब्दार्थमाह—**यत्रेति** ।। १२७ ।।

उक्तप्रकारेण सर्वानुभवसिद्धत्वलक्षणमानन्त्यं सिद्धमित्याह—

इत्थमिति । एतत् जाड्यमोहलक्षणतमोरूपत्वम् । नन्वेवं मायायाः सर्वानुभवसिद्धत्वे घटादिवत् ज्ञानेनानिवर्त्यत्वं स्यादित्याशङ्क्याह—**युक्तीति** । 'तु'शब्दः शङ्काव्यावृत्त्यर्थः । अनिर्वाच्यं सत्त्वेनासत्त्वेन वा निर्वक्तुमशक्यम् । तत्र किं प्रमाणमित्यत आह—**नासदिति** ।। १२८ ।।

जडमिति । आबालेति । बालं गोपं मर्यादीकृत्येत्यर्थः । एवं च सर्वचेतनप्रसिद्धत्वादेवाज्ञानस्याऽनन्त्यं न त्वविनाश्यित्वादित्याशयः ।। १२६ ।।

एवमपि तत्र जाड्यं कथं तदाह—**अचिदिति** । एवं मोहरूपमपि व्युत्पादयति—**यत्रेति** । मुह् वैचित्त्य इति स्मृतिरपि ।। १२७ ।।

एतद्रूपं तु तस्य पामरसाधारणमेवेत्याह—**इत्थमिति** । तर्हि विद्वद्दृष्टया कथं तदाह—**युक्तीति** । तत्रापि तर्काप्रतिष्ठानादिति न्यायेनास्वरसाच्छ्रुतिमेव प्रमाणयति—**नेति** ।। १२८ ।।

नासदासीद्विभातत्वान्नो सदासीच्च बाधनात् ।
विद्यादृष्ट्या श्रुतं तुच्छं तस्य नित्यनिवृत्तितः ।। १२९ ।।
तुच्छाऽनिर्वचनीया च वास्तवी चेत्यसौ त्रिधा ।
ज्ञेया माया त्रिभिर्बोधैः श्रौतयौक्तिकलौकिकैः ।। १३० ।।
अस्य सत्त्वमसत्त्वं च जगतो दर्शयत्यसौ ।
प्रसारणाच्च सङ्कोचाद्यथा चित्रपटस्तथा ।। १३१ ।।

अस्याः श्रुतेरभिप्रायमाह—

नासदासीदिति । बाधनात् 'नेह नानास्ति किंचन' (बृ० ४।४।१९) इति श्रुत्या निषेधादित्यर्थः । सदसद्रूपत्वं तु विरुद्धत्वादयुक्तम्' इति श्रुत्योपेक्षितम् । एवं युक्तिदृष्ट्याऽनिर्वचनीयत्वं प्रदर्श्य 'तुच्छमिदं रूपमस्य' (नृ० उ० ता० ९) इति श्रुतिर्विद्वदनुभवेन तस्यास्तुच्छत्वं दर्शयतीत्याह— **विद्येति** । तुच्छत्वे हेतुमाह--**तस्येति** ।। १२९ ।।

उपपादितमर्थमुपसंहरति—

तुच्छेति । श्रौतबोधेन तुच्छा कालत्रयेऽप्यसती, यौक्तिकबोधेनाऽनिर्वचनीया, लौकिकबोधेन वास्तवी चेत्येवं त्रिधा माया ज्ञेयेत्यर्थः ।।१३०।।

'अस्य सत्त्वमसत्त्वं च दर्शयति' (नृ० उ० ता० ९) इति श्रुतेरर्थं अस्याः कृत्यमाह—

अस्येति । एकस्या एव मायाया जगत्सत्त्वासत्त्वप्रदर्शकत्वे दृष्टान्तमाह—**प्रसारणादिति** ।। १३१ ।।

तामेव श्रुतिमर्थतः संक्षिपति—**नासदिति** । ज्ञानदृष्ट्या । तर्हि कथं तदाह— **विद्येति** । श्रुतं तुच्छमिदं रूपमित्याम्नातमित्यर्थः । तदुक्तं **वार्तिके**--"**ब्रह्मदृष्ट्या**त्वविद्येयं न कथंचन युज्यते" इति ।। १२९ ।।

एवं च फलितं तद्विषयकं दृष्टित्रयं कथयति—**तुच्छेति** ।। १३० ।।

ननु भवत्वेवंविधा माया तथाऽप्यसौ किं करोतीत्याशङ्क्य अस्य सत्त्वमसत्त्वं च दर्शयतीत्यपि तापनीयश्रुतेरर्थं कथयन्समाधत्ते—**अस्येति** । तत्र दृष्टान्तं प्रकृतप्रकरणस्थमेवोपस्थापयति—**प्रसारणाच्चेति** । यथा चित्रपटः प्रसारणाच्चित्रनिचयस्य सत्त्वं संकोचादसत्त्वं च दर्शयति तथाऽसौ मायाऽस्य जगतः सत्त्वमुत्पत्तिस्थितिभ्यामसत्त्वं प्रलयेन च दर्शयतीत्यर्थः ।। १३१ ।।

अस्वतन्त्रा हि माया स्यादप्रतीतेर्विना चितिम् ।
स्वतन्त्राऽपि तथैव स्यादसङ्गस्यान्यथाकृतेः ॥ १३२ ॥

कूटस्थासङ्गमात्मानं जगत्त्वेन करोति सा ।
चिदाभासस्वरूपेण जीवेशावपि निर्ममे ॥ १३३ ॥

कूटस्थमनुपद्रुत्य करोति जगदादिकम् ।
दुर्घटैकविधायिन्यां मायायां का चमत्कृतिः ॥ १३४ ॥

द्रवत्वमुदके वह्नावौष्ण्यं काठिन्यमश्मनि ।
मायाया दुर्घटत्वं च स्वतः सिध्यति नान्यतः ॥ १३५ ॥

'स्वतन्त्रास्वतन्त्रत्वेन' (नृ० उ० ता० ९) इति श्रुत्या मायायाः स्वातन्त्र्यास्वातन्त्र्ये दर्शिते, तत्रोभयत्रोपपत्तिमाह—

अस्वतन्त्रेति । स्वभासकचैतन्यं विहाय न प्रकाशते इति अस्वतन्त्रा, असङ्गस्यात्मनोऽन्यथाकरणात् स्वतन्त्राऽपीत्यर्थः ॥ १३२ ॥

अन्यथाकरणमेव स्पष्टयति—

कूटस्थासङ्गमिति । 'जीवेशावाभासेन करोति' (नृ० उ० ८) इति श्रुत्युक्तं जीवेश्वरविभागं च करोतीत्याह—**चिदाभासेति** ॥ १३३ ॥

नन्वात्मनोऽन्यथाकरणे कूटस्थत्वहानिः स्यादित्याशङ्क्याह—

कूटस्थमिति । ननु कूटस्थत्वाविघातेन जगदादिस्वरूपत्वापादनं दुर्घटमित्याशङ्क्य, मायायां दुर्घटैकविधायित्वान्नेदमाश्चर्यकारणमित्याह—**दुर्घटेति** । अन्यथा मायात्वमेव भज्येतेति भावः ॥ १३४ ॥

मायाया दुर्घटकारित्वस्वभावत्वे दृष्टान्तमाह—

द्रवत्वमिति । उदकादीनां द्रवत्वादि यथा स्वाभाविकं तद्वन्मायाया दुर्घटकारित्वमित्यर्थः ॥ १३५ ॥

एवं स्वतन्त्रास्वतन्त्रत्वे नेति **चोत्तरतापनीयश्रुत्युक्तमेव** मायास्वातन्त्र्यशालित्वमपि प्रकटयति—**अस्वतन्त्रा होति** । **अन्यथेति** । ससङ्गत्वापादनादित्यर्थः ॥ १३२ ॥

तदेव स्पष्टयति—**कूटस्थेति** । एवं जीवेशावाभासेन करोतीति श्रुतेश्चिदाभासात्मना जीवेश्वरावपि प्रकटयतीत्याह—**चिदाभासेति** ॥ १३३ ॥

नन्वात्माऽन्यथाकृतो कूटस्थत्वहानिरित्यत आह—**कूटस्थमिति** । ननु कथमिदमुपपद्यत इत्यत्राऽऽह— **दुर्घटेकेति** ॥ १३४ ॥

ननु दुर्घटकारित्वं कथमित्याशङ्क्य नैसर्गिकमेवेत्याह—**द्रवत्वमिति** ॥ १३५ ॥

न वेत्ति लोको यावत्तां साक्षात्तावच्चमत्कृतिम् ।
धत्ते मनसि पश्चात्तु मायैषेत्युपशाम्यति ।। १३६ ।।

प्रसरन्ति हि चोद्यानि जगद्वस्तुत्ववादिषु ।
न चोदनीयं मायायां तस्याश्चोद्यैकरूपतः ।। १३७ ।।

चोद्येऽपि यदि चोद्यं स्यात्त्वच्चोद्ये चोद्यते मया ।
परिहार्यं ततश्चोद्यं न पुनः प्रतिचोद्यताम् ।। १३८ ।।

ननु मायाया दुर्घटकारित्वमाश्चर्यकारणं न भवतीत्युक्तमनुपपन्नं, लोके मायायाश्चमत्कारहेतुत्वदर्शनादित्याशङ्क्य, मायायाः प्रयोक्तृत्वसाक्षात्कार-पर्यन्तमेवास्या आश्चर्यकारणत्वं नोपरिष्टादित्याह––

न वेत्तीति ।। १३६ ।।

किञ्च, जगत्सत्यत्ववादिनो नैयायिकादीन्प्रत्येवंविधानि चोद्यानि कर्तव्यानि, न मायावादिनं प्रतीत्याह––

प्रसरन्तीति ।। १३७ ।।

मायावादिनं प्रति चोद्यकरणेऽतिप्रसङ्गमाह––

चोद्येऽपीति । तर्हि किं कर्तव्यमित्यत आह––**परिहार्यमिति ।। १३८ ।।**

नन्वाश्चर्यमिदं माया दुर्घटकारित्वमित्यत्राऽऽह––**न वेत्तीति ।** तं मायानियन्तारम-द्वैतात्मानमित्यर्थः ।। १३६ ।।

ननु कूटस्थात्मत्वमनुपमृद्य कथं माया जगत्त्वादिना दर्शयतीत्याशङ्क्याऽऽरम्भ-परिणामादिवादशालिषु तार्किकादिष्वेव कार्यकारणभावप्रश्नप्रसरः स्यान्न तु विवर्तवादि-नीत्याह––**प्रसरन्ति हीति ।** चोदनीयमाक्षेप्तव्यम् । तत्र हेतुः––**तस्या** इत्यादिना । आक्षेप-मूलीभूताज्ञानमात्ररूपत्वादित्यर्थः ।। १३७ ।।

तत्राप्याक्षेपाग्रहे त्वदाक्षेपलक्षणे कार्येऽपि किञ्चित्कारणं कार्यत्वादेव वक्तव्यम् । तत्र कारणत्वं हि कार्यनियतपूर्ववृत्तित्वमेवेति कार्यसापेक्षमित्यन्योन्याश्रय इत्याद्यस्माकं त्वदुपर्येवाक्षेपः स्यात्तत्परिहारः सुदुर्लभ एवातः पुनरनन्तरं विवर्तवादिनं प्रत्याक्षेपो नैव कर्तव्यस्त्वया भेदवादिनेत्याह––**चोद्येऽपीति ।। १३८ ।।**

विस्मयैकशरीराया मायायाश्चोद्यरूपतः ।
अन्वेष्यः परिहारोऽस्या बुद्धिमद्भिः प्रयत्नतः ।। १३९ ।।
मायात्वमेव निश्चेयमिति चेत्तर्हि निश्चिनु ।
लोकप्रसिद्धमायाया लक्षणं यत्तदोक्ष्यताम् ।। १४० ।।
न निरूपयितुं शक्या विस्पष्टं भासते च या ।
सा मायेतीन्द्रजालादौ लोकः सम्प्रतिपेदिरे ।। १४१ ।।

उक्तमेवार्थं प्रपञ्चयति—**विस्मयेति** ।। १३९ ।।

मायात्वनिश्चये तत्परिहारान्वेषणमुचितम्, स एव नेदानीं सिद्ध इति शङ्कते—

मायात्वमिति । मायालक्षणसद्भावान्मायात्वं निश्चीयतामित्यभिप्रायेणाह—**तर्हीति** । किं लक्षणमित्यत आह—**लोकेति** ।। १४० ।।

तस्या अपि किं लक्षणमित्यत आह—

न निरूपयितुमिति ।। १४१ ।।

ननु भवत्वेवं प्रतिपादिनं प्रति खण्डनयुक्त्या समाधानमथापि जिज्ञासोर्मम समाधानं कथमित्यत्राऽऽह—**विस्मयैकेति** । अघटितघटनपाटवेनाद्भुतमात्रदेहाया इत्यर्थः । एतादृश्या मायायाश्चोद्यरूपतश्चोद्यस्याऽऽक्षेपस्यस्य संशयविषयीभूतार्थस्य रूपं येनाज्ञानेन तस्मादज्ञाने सत्येवार्थे संदिग्धत्वं भासते । अयं स्थाणुर्न वेति । एवं चाज्ञानमात्ररूपत्वादिति यावत् । अत एव । अन्वेष्य इत्यादिबुद्धिमद्भिः "एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान्स्यादिति" स्मृतेः परोक्षज्ञानवद्भिरित्यर्थः । यद्वा स्मृतौ कृतकृत्यश्चेति वाक्यशेषादपरोक्षज्ञानमेवात्र बुद्धिमत्त्वप्रयोजकमित्यस्वरसाच्चतुरचक्रवर्तिमुमुक्षुभिरिति यावत् । तत्रापि प्रयत्नतः प्राणान्तोद्यमेनेत्येतत् । एतेनात्र सर्वथोपेक्षानर्हत्वं ध्वन्यते ।। १३९ ।।

एवं चेत्तत्र—

"न वेत्ति लोको यावत्तां साक्षात्तावच्चमत्कृतिम्"
"धत्ते मनसि पश्चात्तु मायैषेत्युपशाम्यति" ।।

इति श्रीमद्भिरेव प्रागुपदिष्टं विद्वदनुभवनमेव शरणीकरणीयमिति वदन्तमन्तेवासिनं प्रति सानुवादमनुमोदते—**मायात्वमेवेति** । तदुपायमाह—**लोकेति** । त्वयाऽत्रेति शेषः ।। १४० ।।

किं लोकप्रसिद्धमायालक्षणमित्यत आह—**नेति** । एवं च निरूपणानर्हत्वे सति स्पष्टतरभासमानत्वं मायात्वमिति तदीयसामान्यलक्षणं फलितम् । ब्रह्मतुच्छयोरतिव्याप्तिव्यावृत्तये क्रमाद्दलयुगलम् ।। १४१ ।।

स्पष्टं भाति जगच्चेदमशक्यं तन्निरूपणम् ।
मायामयं जगत्तस्मादीक्षस्वापक्षपाततः ।। १४२ ।।
निरूपयितुमारब्धे निखिलैरपि पण्डितैः ।
अज्ञानं पुरतस्तेषां भाति कक्षासु कासुचित् ।। १४३ ।।
देहेन्द्रियादयो भावा वीर्येणोत्पादिताः कथम् ।
कथं वा तत्र चैतन्यमित्युक्ते ते किमुत्तरम् ।। १४४ ।।
वीर्यस्यैष स्वभावश्चेत्कथं तद्विदितं त्वया ।
अन्वयव्यतिरेकौ यौ भग्नौ तौ वन्ध्यवीर्यतः ।। १४५ ।।

दृष्टान्ते सिद्धं लक्षणं दार्ष्टान्तिके योजयति—

स्पष्टमिति ।। १४२ ।।

जगतोऽशक्यनिरूपणत्वं कथमित्याशङ्क्य, तद्दर्शयति—

निरूपयितुमिति ।। १४३ ।।

अशक्यनिरूपणत्वमेवोदाहरणेन स्पष्टयति—

देहेन्द्रियादय इति ।। १४४ ।।

स्वभाववादी शङ्कते—

वीर्यस्येति । सिद्धान्ती पृच्छति—**कथं तदिति** । अन्वयव्यतिरेकाभ्यां जानामीत्याशङ्क्य, व्याप्त्यभावान्नैवमित्याह—**अन्वयेति** । वन्ध्यवीर्यतः वन्ध्यायां च तत्र वीर्यस्य व्यर्थत्वात् व्याप्तिर्न घटते, यत्र यत्र वीर्यं तत्र तत्र देहादिकमिति नान्वयोऽपि ।। १४५ ।।

लक्ष्ये तद्योजयति—**स्पष्टमिति** ।। १४२ ।।

ननु नव्यतार्किकादिभिर्जगन्निरूप्यतेवेत्यत आह—**निरूपयितुमिति** ।। १४३ ।।

ता एव कक्षाः प्रकटयति-**देहेति** । आदिना प्राणान्तःकरणादयः । आत्मनश्चैतन्यरूपस्य देहादिना कः सम्बन्ध इति तृतीयकक्षाऽपि कक्षोपक्रमे बहुवचनाद्बोध्या ।। १४४ ।।

तत्र स्वभाववादमाशङ्क्य दूषयति—**वीर्यस्येति** । ननु किमिति वीर्यस्वभावोऽधिक्षिप्यतेऽन्वयव्यतिरेकाभ्यामेव तन्निर्णयसम्भवादिति चेन्न । व्यभिचारादित्याह—**अन्वयेति** ।। १४५ ।।

न जानामि किमप्येतदित्यन्ते शरणं तव ।
अत एव महान्तोऽस्य प्रवदन्तीन्द्रजालताम् ।। १४६ ॥

एतस्मात्किमिवेन्द्रजालमपरं यद्गर्भवासस्थितं
रेतश्चेतति हस्तमस्तकपदप्रोद्भूतनानाङ्कुरम् ।
पर्यायेण शिशुत्वयौवनजरावेषैरनेकैर्वृतं
पश्यत्यत्ति शृणोति जिघ्रति तथा गच्छत्यथागच्छति ।। १४७ ।।

देहवद्वटधानादौ सुविचार्य विलोक्यताम् ।
क्व धानाः कुत्र वा वृक्षस्तस्मान्मायेति निश्चिनु ।। १४८ ।।

एवं पुनः पुनः पृष्टे सति 'किमपि न जानामि' इत्येवोत्तरं देयमिति फलितमाह—

न जानामीति ।। १४६ ।।

उक्तानिर्वचनीयत्वे वृद्धसंमतिं दर्शयति—

एतस्मादिति ।। १४७ ।।

न केवलं देहस्यैव दुर्निरूपत्वं, किन्तु वटवृक्षादेरपीत्याह—

देहवदिति ।। १४८ ।।

अतो मूलाज्ञान एव पर्यवसानमित्याह—**न जानामीति** । तव भेदवादिनस्तार्किकादेः । फलितमाह—**अत एवेति** ।। १४६ ।।

कथं वदन्त्यस्य द्वैतस्येन्द्रजालतां महान्त इत्यतस्तद्वाक्यमेवोदाहरति—**एतस्मादिति** । मयाऽप्युक्तमकल्पितचिदम्बर्याम्—

"क्षणं शिरसि वल्लभा क्षणमिहैव कल्लोलिनी
क्षणं युवतिरङ्गगा क्षणमसौ स्वदेहार्धभाक् ।
क्षणं मदनसुन्दरो विकटपञ्चवक्त्रः क्षणं
चिदात्मनि किमीक्ष्यतामपरमिन्द्रजालं पुनः" इति ।। १४७ ।।

उक्तेऽर्थे श्रुतिमपि सत्वादित्वेन सूचयंस्तदुक्तं वटधानादृष्टान्तं स्पष्टयति—**देहवदिति** । तथा च छान्दोग्यषष्ठे द्वादशखण्डे न्यग्रोधफलमत आहरेतीत्यादिना प्रपञ्चितमेव । फलितमाह—**तस्मादिति** । निश्चिनु निखिलमपि द्वैतमिन्द्रजालवन्मायामात्ररूपत्वेन मिथ्यैवेति निर्णयविषयीकुर्वित्यर्थः ।। १४८ ।।

निरुक्तावभिमानं ये दधते तार्किकादयः ।
हर्षमिश्रादिभिस्ते तु खण्डनादौ सुशिक्षिताः ।। १४९ ।।
अचिन्त्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केषु योजयेत् ।
अचिन्त्यरचनारूपं मनसापि जगत्खलु ।। १५० ।।
अचिन्त्यरचनाशक्तिबीजं मायेति निश्चिनु ।
मायाबीजं तदेवैकं सुषुप्तावनुभूयते ।। १५१ ।।
जाग्रत्स्वप्नजगत्तत्र लीनं बीज इव द्रुमः ।
तस्मादशेषजगतो वासनास्तत्र संस्थिताः ।। १५२ ।।

नन्वस्माभिर्निर्वक्तुमशक्यत्वेऽपि उदयनादिभिराचार्यैर्निरुच्यत इत्याशङ्क्याह—

निरुक्ताविति ।। १४९ ।।

उक्तार्थे साम्प्रदायिकानां वाक्यं संवादयति—

अचिन्त्या इति ।। १५० ।।

ननु भवत्वेवं जगतोऽचिन्त्यरचनात्वं, मायायां किमायातमित्यत आह—

अचिन्त्यरचनेति । अचिन्त्यरचनाशक्तिमत् यद्बीजं कारणं सैव मायेत्यर्थः । नन्वेवंविधं कारणं क्व दृष्टमित्यत आह—**मायेति** ।। १५१ ।।

कथं तस्य जगद्बीजत्वमित्यत आह—

जाग्रदिति । ततः किमित्यत आह—**तस्मादिति** । यतो जगत्कारणं माया अतोऽशेषजगद्वासनास्तत्र मायायां तिष्ठन्तीत्यर्थः ।। १५२ ।।

ननु यद्यप्यस्माकं जगन्निरुक्तौ नैव सामर्थ्यमथापि प्राचीनैस्तार्किकादिभिः स्वस्वग्रन्थेषु कार्यकारणभावादिजगन्निरुक्तिः कृतैवेत्यत्राऽऽह—**निरुक्ताविति** । **हर्षेति** । श्रीहर्षमिश्राख्यैर्भगवद्भिः खण्डनकारैः । आदिनाऽन्येऽपि भेदवादिविदलनप्रवीणाः पूर्वविद्वान्सो ग्राह्याः ।। १४९ ।।

साम्प्रदायिकवाक्यमप्येवमेवेत्याह— **अचिन्त्याः खलु ये भावा इति** । प्रकृते किं तदाह—**अचिन्त्येति** ।। १५० ।।

नन्वस्तु जगतो ह्यचिन्त्यरचनात्मकत्वमथापि प्रकृते मायायां किमागतमित्यत आह—**अचिन्त्येति** । अचिन्त्यरचनाशक्तिशालीत्यर्थः । एतादृशं बीजं "हेतुर्ना कारणं बीजं" इत्यमरात्कारणमिति यावत् । तत्क्वास्तीत्यत्राऽऽह—**मायेति** । मायारूपं बीजं तदेवैकमस्ति यत्सुषुप्तावनुभूयत इत्यन्वयः । सर्वजीवैरिति शेषः ।। १५१ ।।

तत्र हेतुमाह—**जाग्रदिति** । तत्र—

या बुद्धिवासनास्तासु चैतन्यं प्रतिबिम्बति ।
मेघाकाशवदस्पष्टचिदाभासोऽनुमीयताम् ॥ १५३ ॥
साभासमेव तद्बीजं धीरूपेण प्ररोहति ।
अतो बुद्धौ चिदाभासो विस्पष्टं प्रतिभासते ॥ १५४ ॥

ततोऽपि किं तत्राह—

या बुद्धीति । ननु तासु प्रतिबिम्बोऽस्ति चेत्कुतो नानुभूयत इत्याशङ्क्याऽस्पष्टत्वादित्याह—**मेघेति** । तर्हि कुतस्तत्सिद्धिरित्यत आह—**अनुमीयतामिति** ॥ १५३ ॥

ननु मेघांशोदकस्यास्पष्टाकाशप्रतिबिम्बवत्त्वेऽपि तज्जातीयस्य घटोदकस्य स्पष्टाकाशप्रतिबिम्बवतः सद्भावान्मेघाकाशानुमानं घटते, इह तथाविधदृष्टान्ताभावात्कथमनुमानोदय इत्याशङ्क्याऽत्रापि तथाविधदृष्टान्तसम्पादनायाह—

साभासमिति । चिदाभासविशिष्टं तदेवाज्ञानं बुद्धिरूपेण परिणममानं विस्पष्टचिदाभासवद्भवतीति भावः । एवं चेदनुमानमत्र सूचितं भवति—विमता बुद्धिवासनाश्चित्प्रतिबिम्बवत्यो भवितुमर्हन्ति; बुद्ध्यवस्थाविशेषत्वात्, बुद्धिवृत्तिवदिति ॥ १५४ ॥

"**देहवद्वटधानादौ** सुविचार्य विलोक्यताम् ।
क्व धानाः कुत्र वा वृक्षस्तस्मान्मायेति निश्चिनु ॥"

इत्यधस्ताच्छान्दोग्योक्तवटधानादिदृष्टान्तमूलकप्रतिपादितदृष्टान्तमेव **स्पष्टयति—बीज इत्यादिना** । बीजे द्रुम इव तत्र सुषुप्तावनुभूयमाने मायारूपे जाग्रत्स्वप्नरूपजगतः कारणलक्षणे बीजे मायात्मके । जाग्रत्स्वप्नजगज्जाग्रदादिकालिकं विश्वं लीनं यस्माद्भवति तस्मादशेषजगतो वासनास्तत्र संस्थिताः सन्तीति सम्बन्धः । एतेन तत्त्वविवेकादौ द्योतितदृष्टिसृष्टिपक्षस्याप्यत्रैवान्तर्भावो व्यज्यते ॥ १५२ ॥

नन्वथापि किं तत्राऽऽह—**या बुद्धिवासना इति** । तत्रोक्तप्रतिबिम्बाख्यचिदाभास ईश्वरत्वसाधकं प्रागुपन्यस्तं मेघाकाशदृष्टान्तं संस्मार्यते न तदनुमानं सूचयति—**मेघेति** ॥ १५३ ॥

एवं निरुक्तरीत्या सुषुप्तिकालिकाज्ञानगतसकलबुद्धिसंस्कारप्रतिबिम्बितसूक्ष्मचिदाभासरूपमीश्वरं निरूप्य जीवमपि निरूपयति—**साभासमेवेति** । तन्निरुक्तसुप्तिकालिकाज्ञानाख्यं साभासमेवोक्तेश्वराख्यचिदाभासविशिष्टमेवेत्यर्थः । धीत्यादि सरलमेव ।

मायाभासेन जीवेशौ करोतीति श्रुतौ श्रुतम् ।
मेघाकाशजलाकाशाविव तौ सुव्यवस्थितौ ।। १५५ ।।
मेघवद्वर्तते माया मेघस्थिततुषारवत् ।
धीवासनाश्चिदाभासस्तुषारस्थखवत् स्थितः ।। १५६ ।।
मायाधीनाश्चिदाभासः श्रुतौ मायी महेश्वरः ।
अन्तर्यामी च सर्वज्ञो जगद्योनिः स एव हि ।। १५७ ।।

एवं जीवेश्वरयोर्मायिकत्वं श्रुत्युक्तमुपपादितमुपसंहरति—

मायाभासेनेति । ननु जीवेशयोर्मायिकत्वे समाने कथमवान्तरभेदसिद्धिरित्याशङ्क्यास्पष्टस्पष्टोपाधिमत्त्वेन मेघाकाशजलाकाशयोरिव तत्सिद्धिरित्याह—**मेघाकाशेति** ।। १५५ ।।

ईशस्य मेघाकाशसाम्यं स्फुटीकरोति—

मेघवदिति ।। १५६ ।।

मायाप्रतिबिम्बस्येश्वरत्वे किं प्रमाणमित्याशङ्क्य, श्रुतिरेवेत्याह—

मायाधीन इति । न केवलमीश्वरत्वमस्य श्रुतं, अपि त्वन्तर्यामित्वादिकमपि धर्मजातं श्रुतमस्तीत्याह—**अन्तर्यामीति** ।। १५७ ।।

अज्ञानापेक्षया सत्कार्यीभूतधियः स्थूलत्वमेव तच्चिदाभासाख्यजीवस्य विस्पष्टप्रतिभाने हेतुरित्याकूतम् ॥ १५४ ॥

एवं ससंमतिकं जीवेश्वरस्वरूपनिरूपणं सदृष्टान्तमुपसंहरति—**मायेति** । श्रुतौ श्रुतमिति तु प्रामादिकमेव । श्रुतौ श्रुती श्रावणविषयीकृतौ यौ जीवेशौ तौ मेघाकाशजलाकाशाविव सुव्यवस्थितौ भवत इत्येव योजनायाः सरसत्वात् ॥ १५५ ॥

तत्र मेघाकाशदृष्टान्तं दार्ष्टान्तिके स्पष्टयति—**मेघवदिति** । चिदाभासो निरुक्तवासनासु चितः प्रतिबिम्ब ईश्वर इत्यर्थः ॥ १५६ ॥

ननु "मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्" इति ॥ श्रुतौ मायी महेश्वरस्तथा "यः पृथिव्यां तिष्ठन्नि"त्यादिना "एष त आत्मान्तर्याम्यमृतः" इति श्रुतोऽन्तर्यामी तथा "यः सर्वज्ञः स सर्ववित्" इति श्रुतः सर्वज्ञः 'यस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत्" इति श्रुतौ जगद्योनिश्च क इत्यत्राऽऽह—**मायेति** ॥ १५७ ॥

सौषुप्तमानन्दमयं प्रक्रम्यैवं श्रुतिर्जगौ ।
एष सर्वेश्वर इति सोऽयं वेदोक्त ईश्वरः ॥ १५८ ॥

सर्वज्ञत्वादिके तस्य नैव विप्रतिपद्यताम् ।
श्रौतार्थस्यावितर्क्यत्वान्मायायां सर्वसम्भवात् ॥ १५९ ॥

अयं यत्सृजते विश्वं तदन्यथयितुं पुमान् ।
न कोऽपि शक्तस्तेनायं सर्वेश्वर इतीरितः ॥ १६० ॥

ननु धीवासनाप्रतिबिम्बस्येश्वरत्वादिकं कथं श्रुतिसिद्धमित्याशङ्क्य, तदुपपादिकां (नृ० उ० ता० १।१) श्रुतिं दर्शयति—

सौषुप्तमिति । 'सुषुप्तस्थान एकीभूतः प्रज्ञानघन एव' (नृ० पू० ता० ४।१) इत्यादिका श्रुतिः धीवासनाप्रतिबिम्बरूपस्यानन्दमयस्येश्वरत्वादिकं प्रतिपादयतीत्यर्थः ॥ १५८ ॥

नन्वानन्दमयस्य सर्वज्ञत्वादिकमनुभवविरुद्धमित्याशङ्क्याह—

सर्वज्ञत्वादिक इति । कुत इत्यत आह—**श्रौतेति** । इतोऽपि न विप्रतिपत्तिः कार्येत्याह—**मायायामिति** ॥ १५९ ॥

नन्वनुकूलयुक्त्यभावे श्रुतिरपि ग्रावप्लववाक्यवदर्थवादः स्यादित्याशङ्क्य, श्रुतिप्रामाण्यसिद्धये सर्वेश्वरत्वादिकमुपपादयति—

अयमिति । अयमानन्दमयो यज्जाग्रदादि विश्वं सृजति, तन्न केनाप्यन्यथाकर्तुं शक्यते, अतोऽयं 'सर्वेश्वर' इत्यर्थः ॥ १६० ॥

ननूक्तसुषुप्ति(?)ज्ञाननिष्ठबुद्धिसंस्कारप्रतिबिम्बितचिदाभासस्येश्वरत्वे किं प्रमाणमित्यत्राऽऽह—**सौषुप्तमिति** "तस्य **प्रियमेव** शिरः" "**मोदो** दक्षिणः पक्षः" "**प्रमोद** उत्तरः पक्षः" इत्यादिश्रुतेर्जाग्रदादिकालिकेष्टदर्शनादिजन्यमनोवृत्त्यात्मकानन्दमयकोशांशव्युदासायेदं विशेषणम् । श्रुतिर्माण्डूक्यगेति शेषः ॥ १५८ ॥

नन्वेवमपि कथमस्य सर्वज्ञत्वादिकमित्यत आह—**सर्वेति** । तत्र हेतुः—**श्रौतेति** । एवं तर्हि 'ग्रावाणः प्लवन्त' इत्यादेर्गुणवादत्वं न स्यादित्यस्वरसादाह—मायायामित्यादिशेषेण ॥ १५९ ॥

एवं चेत्तर्हीश्वरस्यापि जीवत्वं जगत्त्वं च तयोरपीश्वरत्वं च माया सम्पादयेदित्यत आह—**अयमिति** ॥ १६०॥

अशेषप्राणिबुद्धीनां वासनास्तत्र संस्थिताः ।
ताभिः क्रोडीकृतं सर्वं तेन सर्वज्ञ ईरितः ।। १६१ ।।

वासनानां परोक्षत्वात्सर्वज्ञत्वं न हीक्ष्यते ।
सर्वबुद्धिषु तद्दृष्ट्वा वासनास्वनुमीयताम् ।। १६२ ।।

विज्ञानमयमुख्येषु कोशेष्वन्यत्र चैव हि ।
अन्तस्तिष्ठन्यमयति तेनान्तर्यामितां व्रजेत् ।। १६३ ।।

इदानीं सर्वज्ञत्वमुपपादयति—

अशेषेति । तत्र सौषुप्तेऽज्ञाने कारणभूते कार्यभूतानां सर्वप्राणिबुद्धीनां वासना निवसन्ति, ताभिश्च वासनाभिः सर्वं जगत् क्रोडीकृतं विषयीकृतं, तेन सर्वबुद्धिवासनावदज्ञानोपाधिकत्वेन 'सर्वज्ञ' उच्यत इत्यर्थः ।। १६१ ।।

ननु यदि सर्वज्ञत्वमस्ति तर्हि तत् कुतो नानुभूयत इत्याशङ्क्य, तदुपाधीनां वासनानां परोक्षत्वान्नानुभव इत्याह—

वासनानामिति । कथं तर्हि तदवगम इत्याशङ्क्याह—**सर्वबुद्धिष्विति ।** सर्वबुद्धिनिष्ठं सर्वज्ञत्वं स्वकारणभूतवासनागतसर्वज्ञत्वपुरःसरं भवितुमर्हति; कार्यनिष्ठधर्मविशेषत्वात्पटगतरूपादित्यर्थः ।। १६२ ।।

सर्वज्ञत्वमुपपाद्य 'एषोऽन्तर्यामी' (छा० ३।६; नृ० उ० १।१) इति श्रुत्युक्तमन्तर्यामित्वमुपपादयति—

विज्ञानेति । अन्यत्र पृथिव्यादौ तिष्ठन् यमयति यतस्तेनेत्यन्वयः ।। १६३ ।।

एवं सार्वज्ञ्यमपि तदीयमुपपादयति—**अशेषेति ।** क्रोडीकृतं विषयीकृतमित्यर्थः । ।। १६१ ।।

एवं तर्हि सुषुप्तौ सर्वेषां सर्वविषयकप्रत्यक्षापत्तिरित्यत आह— **वासनानामिति ।** धर्मादिवन्नित्यपारोक्ष्यादित्यर्थः । साक्षिणस्तद्भानं त्वज्ञातत्वेनैव । अत एव ज्ञातत्वाज्ञातत्वाभ्यां सर्वं साक्षिभास्यमिति विवरणनिर्णयः ।। १६२ ।।

एवमस्यान्तर्यामित्वमप्युपपादयति—**विज्ञानमयेत्यादिद्वाभ्याम् ।** अन्यत्र पथ्व्यादौ ।। १६३ ।।

बुद्धौ तिष्ठन्नान्तरोऽस्या धियानीक्ष्यश्च धीवपुः ।
धियमन्तर्यमयतीत्येवं वेदेन घोषितम् ।। १६४ ।।
तन्तुः पटे स्थितो यद्वदुपादानतया तथा ।
सर्वोपादानरूपत्वात्सर्वत्रायमवस्थितः ।। १६५ ।।
पटादप्यान्तरस्तन्तुस्तन्तोरप्यंशुरान्तरः ।
आन्तरत्वस्य विश्रान्तिर्यत्रासावनुमीयताम् ।। १६६ ।।

अस्मिन्नर्थेऽन्तर्यामिब्राह्मणं कृत्स्नं प्रमाणमिति दर्शयितुं तदेकदेशभूतं 'यो विज्ञाने तिष्ठन्' (छा० ३।७।२२) इत्यादिवाक्यमर्थतोऽनुक्रामति—

बुद्धाविति ।। १६४ ।।

इदानीमन्तर्यामिब्राह्मणस्य प्रतिपर्यायव्याख्याने ग्रन्थबाहुल्यभयाद्व्याख्यानस्य सर्वपर्यायसंचारित्वसिद्धये 'यः सर्वेषु भूतेषु' इति पर्यायं व्याचक्षाणो 'यः सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्' (बृ० ३।७।२२) इत्यस्यार्थं दृष्टान्तेनाह—

तन्तुरिति ।। १६५ ।।

ननूपादानतया सर्वत्रायमवस्थितश्चेत् किमिति सर्वत्र नोपलभ्येतेत्याशङ्क्य, सर्वान्तरत्वादित्याह—

पटादपीति । अत्रेदमनुमानम्—आन्तरत्वतारतम्यं क्वचिद्विश्रान्तं तारतम्यत्वात्, अणुत्वतारतम्यवदिति ।। १६६ ।।

तत्र **यो विज्ञाने** तिष्ठन्निति श्रुतिमर्थतः संग्रथयति—**बुद्धाविति** ।। १६४ ।।

तत्रोपपत्तिमपि सदृष्टान्तं प्रकटयति—**तन्तुरिति** ।। १६५ ।।

नन्वन्तर्यामिणः सर्वोपादानरूपत्वे घटादिषु मृदादिवत्सर्वत्र प्रत्यक्षत्वापत्तिरिति चेत्सत्यम् । किमुपादानत्वेन प्रत्यक्षत्वमापाद्यतेऽधिष्ठानसामान्यांशेन वा । नाऽऽद्यः । घट्टितपटवत्सौषुप्तविद्यागतधीवासनाप्रतिबिम्बितचिदाभासरूपेश्वरस्यास्योपाधिपारोक्ष्यस्य वासनानां परोक्षत्वादित्यादिनाऽधुनैवोक्ततया तदुपधेयस्यापि तथात्वात् । नाप्यन्त्यः । एतस्याधिष्ठानत्वाभावात् । धौतपटवच्छुद्धस्यैव सर्वदृश्यभ्रमाधिष्ठानत्वेन तत्सामान्यांशस्य सत्तात्मकप्रकाशस्य स्वप्रकाशत्वेन सर्वत्र नामरूपभ्रमस्वरूपलाभार्थमेव प्रत्यक्षताया इष्टत्वाच्च । तस्मादयमनुमानागमाभ्यामेवावगम्य इत्याह—**पटादपीति** ।। १६६ ।।

द्वित्र्यान्तरत्वकक्षाणां दर्शनेऽप्ययमान्तरः ।
न वीक्ष्यते ततो युक्तिश्रुतिभ्यामेव निर्णयः ॥ १६७ ॥
पटरूपेण संस्थानात्पटस्तन्तोर्वपुर्यथा ।
सर्वरूपेण संस्थानात्सर्वमस्य वपुस्तथा ॥ १६८ ॥
तन्तोः संकोचविस्तारचलनादौ पटो यथा ।
अवश्यमेव भवति न स्वातन्त्र्यं पटे मनाक् ॥ १६९ ॥
तथाऽन्तर्याम्ययं यत्र यया वासनया यथा ।
विक्रियेत तथाऽवश्यं भवत्येव न संशयः ॥ १७० ॥

नन्वान्तरत्वेऽप्यश्वादिवदन्तर्यामिणो दर्शनं किं न स्यादित्याशङ्क्य, तेषामिव बाह्यत्वाभावान्न दृश्यत इत्यभिप्रायेणाह—

द्वित्र्यान्तरत्वेति । कुतस्तर्हि तन्निर्णय इत्यत आह—तत इति । अचेतनस्य चेतनाधिष्ठानमन्तरेण प्रवृत्त्यनुपपत्तिर्युक्तिः । श्रुतिस्तूदाहृतैव ॥ १६७ ॥

'यस्य सर्वाणि भूतानि शरीरम्' (बृ० ३।७।१६) इत्यस्यार्थमाह—

पटरूपेणेति । पटरूपेणावस्थितस्य तन्तोः पटः शरीरं यथा, एवं सर्वरूपेणावस्थितस्य सर्वशरीरमित्यर्थः ॥ १६८ ॥

'यः सर्वाणि भूतान्यान्तरो यमयति' (बृ० ३।७।१५) इति वाक्यस्य तात्पर्यं सदृष्टान्तमाह श्लोकद्वयेन—

तन्तोरिति ॥ १६९ ॥

तथेति । तन्तुसङ्कोचादिना पटसंकोचादिर्यथा भवति, एवं पृथिव्यादिषूपादानत्वेन स्थितोऽन्तर्यामी यथा यया वासनया यथा घटादिकार्यरूपेण विक्रियेत तथा तत्कार्यजातमवश्यं भवतीति भावः ॥ १७० ॥

ननु पटादप्यान्तरान्तराणां तन्त्वादीनां प्रत्यक्षवदन्तर्यामिण उपादानीभूतस्याप्यज्ञानाद्युपहितत्वान्नैवेक्ष्येति ततस्तत्सत्त्वे किं मानमित्याशङ्क्य समाधत्ते—द्वित्र्यान्तरत्वेति । द्वे वा तिस्रो वाऽऽन्तरत्वकक्षा अन्तरवस्थानभूमयस्तासामित्यर्थः ॥ १६७ ॥

अथाप्यस्य यः सर्वत्र तिष्ठन्नित्यादिश्रुत्युक्तं सर्वशरीरत्वं कथमित्यत आह—पटरूपेणेति ॥ ६८ ॥

अत एवायमेव स्वतन्त्र इत्याह – तन्तोरितिप्रभृतिद्वाभ्याम् ॥ १६९ ॥

तथेति । यावद्दृश्यमिति शेषः ॥ १७० ॥

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन ! तिष्ठति ।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥ १७१ ॥
सर्वभूतानि विज्ञानमयास्ते हृदये स्थिताः ।
तदुपादानभूतेशस्तत्र विक्रियते खलु ॥ १७२ ॥
देहादिपञ्जरं यन्त्रं तदारोहोऽभिमानिता ।
विहितप्रतिषिद्धेषु प्रवृत्तिर्भ्रमणं भवेत् ॥ १७३ ॥
विज्ञानमयरूपेण तत्प्रवृत्तिस्वरूपतः ।
स्वशक्त्येशो विक्रियते मायया भ्रामणं हि तत् ॥ १७४ ॥

एवमन्तर्यामिप्रतिपादिकां श्रुतिमुपन्यस्य, स्मृतिमप्युपन्यस्यति—**ईश्वर इति ॥ १७१ ॥**

'सर्वभूतानाम्' इति पदस्यार्थमाह—

सर्वभूतानीति । ते च हृदयपुण्डरीके स्थिताः । ननु तेषां कुतो हृद्यवस्थानमित्याशङ्क्य, हृद्यन्तर्यामिणो विज्ञानमयाकारेण परिणामादित्याह—**तदुपादानेति ॥ १७२ ॥**

'यन्त्रारूढानि' इत्यत्र 'यन्त्रारोह'शब्दयोरर्थमाह—

देहादीति । 'भ्रामयन्' इति पदे प्रकृत्यर्थमाह—**विहितेति ॥१७३॥**

इदानीं णिच्प्रत्ययमायापदयोरर्थमाह—

विज्ञानमयेति ॥ १७४ ॥

तत्र स्मृतिं प्रमाणतयोदाहरति—**ईश्वर इति ॥ १७१ ॥**

उदाहृतवाक्यं व्याचष्टे—**सर्वभूतानीत्यादित्रिभिः** । हृदये समष्ट्यन्तःकरणे । विक्रियते तत्तत्कर्मफलदानार्थं तथा तथा विकारं वासनाद्युपहितत्वेन प्राप्नोतीत्यर्थः । जीवेषु तत्तत्कामादिव्यापारात्मकान्तःकरणपरिणामा भवन्तीति भावः ॥ १७२ ॥

अथ यन्त्रारोहपदार्थौ कथयति—**देहादीति** । एवं भ्रामयन्नित्यत्र धात्वर्थं कथयति—**विहितेति** । भ्रमु अनवस्थान इति हि धातुसूत्रम् । एवं च प्रवृत्तौ तदस्त्येव ॥ १७३ ॥

अथ प्रत्ययमायापदयोरर्थौ कथयति—**विज्ञानमयेति । तदिति** । तत्र प्रवृत्तिर्विहितादिविषये देहेन्द्रियमनःसञ्चारपरम्परेत्यर्थः । स्वशक्त्या सौषुप्तिकाज्ञानगतसंस्कारसंहत्येति यावत् । विक्रियते निरुक्तजीवेभ्यस्तत्तत्कर्मफलप्रदानार्थं तत्तदन्तःकरणेष्विच्छादि जन्मानुकूलो भवतीत्यर्थः ॥ १७४ ॥

अन्तर्यमयतोत्युक्त्याऽयमेवार्थः श्रुतौ श्रुतः ।
पृथिव्यादिषु सर्वत्र न्यायोऽयं योज्यतां धिया ।। १७५ ।।

ज्ञानामि धर्मं न च मे प्रवृत्ति-
र्जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्तिः ।
केनापि देवेन हृदि स्थितेन
यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि ।। १७६ ।।

नार्थः पुरुषकारेणेत्येवं मा शङ्क्यतां यतः ।
ईशः पुरुषकारस्य रूपेणापि विवर्तते ।। १७७ ।।

ईदृग्बोधेनेश्वरस्य प्रवृत्तिर्मैव वार्यताम् ।
तथापीशस्य बोधेन स्वात्मासङ्गत्वधीजनिः ।। १७८ ।।

श्रौतस्य 'यमयति' इति पदस्याप्ययमेवार्थ इत्याह—

अन्तर्यमयतीति । उक्तव्याख्यानं पर्यायान्तरेष्वतिदिशति—पृथिव्यादिष्विति ।। १७५ ।।

प्रवृत्तिजातस्य सर्वेश्वराधीनत्वे वचनान्तरमुदाहरति—

जानामि धर्ममिति ।। १७६ ।।

ननु प्रवृत्तेरीश्वराधीनत्वे पुरुषप्रयत्नो व्यर्थः स्यादित्याशङ्क्य, पुरुषप्रयत्नस्यापीश्वररूपत्वान्मैवमिति परिहरति—

नार्थ इति । अर्थः प्रयोजनम् । पुरुषकारः पुरुषप्रयत्नः ।। १७७ ।।

ननु पुरुषप्रयत्नस्यापीश्वररूपत्वे यमयति भ्रामयतीति प्रतिपादितमन्तर्यामिप्रेरणं वृथा स्यादित्याशङ्क्य, तद्बोधेन स्वात्मासङ्गत्वज्ञानलक्षणफलस्य सत्त्वान्मैवमिति परिहरति—

ईदृगिति । ईदृग्बोधेनेशस्य पुरुषकारादिरूपेणाप्यवस्थानज्ञानेन प्रवृत्तिः अन्तर्यामिरूपेण प्रेरणा ।। १७८ ।।

निरुक्तस्मृतिमूलीभूताया अन्तर्यामिब्राह्मणश्रुतेरप्ययमेवार्थ इत्याह—अन्तर्यमयतीति । पृथिव्यादिपर्यायान्तरेष्वप्युक्तमर्थमतिदिशति—पृथिव्यादिष्विति ।। १७५ ।।

उक्तेऽर्थे वचनान्तरमप्युदाहरति—जानामीति ।। १७६ ।।

नन्वेवं चेत्तर्हि सर्वत्र पुंप्रयत्नवैफल्यमेव तथा च तद्विषयकविधिनिषेधशास्त्रमखिलमपि व्यर्थमेवेत्याशङ्क्य समाधत्ते—नार्थ इति ।। १७७ ।।

ननु पुरुषप्रयत्नोऽपीश्वररूप एवेति ज्ञाने सत्यपीश्वरस्य कर्मफलप्रदानार्थमस्म-

तावता मुक्तिरित्याहुः श्रुतयः स्मृतयस्तथा ।
श्रुतिस्मृती ममैवाज्ञे इत्यपीश्वरभाषितम् ।। १७९ ।।
आज्ञाया भीतिहेतुत्वं भीषाऽस्मादिति हि श्रुतम् ।
सर्वेश्वरत्वमेतत्स्यादन्तर्यामित्वतः पृथक् ।।१८०।।
एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासन इति श्रुतिः ।
अन्तःप्रविष्टः शास्ताऽयं जनानामिति च श्रुतिः ।।१८१।।

आत्मनोऽसङ्गत्वज्ञानेनापि किं प्रयोजनमित्यत आह—

तावतेति । श्रुतिस्मृत्युदितस्यानतिलङ्घनीयत्वे स्मृतिं दर्शयति—**श्रुतिस्मृती इति** ।। १७९ ।।

श्रुत्यापीश्वरस्य भीतिहेतुत्वमुक्तमित्याह—

आज्ञाया इति । ईश्वरस्य भीतिहेतुत्वं किमर्थमुक्तमित्याशङ्क्य सर्वेश्वरत्वस्यान्तर्यामित्वतः पार्थक्यसिद्धय इति मत्वाह—**सर्वेश्वरत्वमिति** । ।। १८० ।।

बहिरन्तश्चेश्वर एव नियामक इत्यत्र (बृ० ३।८।९) श्रुतिद्वयमाह—

एतस्येति ।। १८१ ।।

दाद्यन्तर्यमनप्रवृत्तिस्तु नैव निवर्तेत तथा च किं फलमुक्तबोधस्येत्यत आह–**ईदृगिति** । इयं पुण्यासादने मत्प्रवृत्तिरीश्वरस्वरूपैव तथा चाहमसङ्ग एवेति बोधोदयः फलमित्याशयः ।। १७८ ।।

ततः किं तत्राऽऽह—**तावतेति** । तयोरपीश्वराज्ञात्वमेवेत्यत्रापि स्मृतिमाह—**श्रुतिस्मृती इति** ।। १७९ ।।

तदनुल्लङ्घनीयत्वे श्रुतिमुदाहरति—**आज्ञाया इति** । एवं च **एष सर्वेश्वर इति** प्रागुपन्यस्तश्रुत्युक्तसर्वेश्वरत्वमिदं प्रपञ्चितादन्तर्यामित्वलक्षणसर्वप्रेरकत्वात्तन्निष्ठमायिकधर्मात्सर्वशास्तृत्वलक्षणं तादृशं धर्मान्तरमेव भवतीति भावः ।। १८० ।।

अत्रैव श्रुत्यन्तरद्वयमपि **काण्वं तैत्तिरीयकं** च क्रमात्समुदाहरति—**एतस्य वा इति** ।। १८१ ।।

जगद्योनिर्भवेदेष प्रभवाप्ययकृत्त्वतः ।
आविर्भावतिरोभावावुत्पत्तिप्रलयौ मतौ ।। १८२ ।।
आविर्भावयति स्वस्मिन्विलीनं सकलं जगत् ।
प्राणिकर्मवशादेष पटो यद्वत्प्रसारितः ।। १८३ ।।
पुनस्तिरोभावयति स्वात्मन्येवाखिलं जगत् ।
प्राणिकर्मक्षयवशात्सङ्कोचितपटो यथा ।। १८४ ।।
रात्रिघस्रौ सुप्तिबोधावुन्मीलननिमीलने ।
तूष्णीम्भावमनोराज्ये इव सृष्टिलयाविमौ ।। १८५ ।।

क्रमप्राप्तस्यैष योनिरित्यर्थमाह––

जगद्योनिरिति । प्रतिज्ञातार्थे 'प्रभवाप्ययौ हि भूतानाम्' (नृ० पू० ता० ३।१) इति वाक्यं हेतुत्वेन योजयति––**प्रभवेति** । प्रभवाप्ययावुत्पत्तिप्रलयौ तत्कर्तृत्वाज्जगद्योनिरित्यर्थः । 'उत्पत्तिप्रलय'शब्दयोर्विवक्षितमर्थमाह––**आविर्भावेति** । उत्पत्तिप्रलयावाविर्भावतिरोभावौ मताविति योजना ।। १८२ ।।

आविर्भावकारित्वं सदृष्टान्तमुपपादयति––

आविर्भावयतीति । यथा सङ्कुचितश्चित्रपटः स्वस्य प्रसारणेन स्वनिष्ठानि चित्राण्याविर्भावयति एवमीशोऽपीत्यर्थः ।। १८३ ।।

तस्यैव प्रलयकारणत्वं दर्शयति––

पुनरिति । स एव पटः सङ्कुचितः चित्राणि यथा तिरोभावयति तद्वदित्यर्थः ।। १८४ ।।

आविर्भावतिरोभावयोर्दृष्टान्तान्तराणि दर्शयति––

रात्रिघस्राविति । घस्रोऽह्नः ।। १८५ ।।

एवं प्राक्प्रतिज्ञातमुक्तरूपस्येश्वरस्य विश्वकारणत्वमप्युपपादयति––**जगदिति** । तत्र हेतुः––**प्रभवेति** । स्वसम्मतो तो व्युत्पादयति–**आविर्भावेति** ।। १८२ ।।

ननु कथमयं जगदाविर्भावयतीत्यत्राऽऽह–– **आविर्भावयतीति** । तत्र दृष्टान्तं स्पष्टयति––**पटो यद्वदिति** ।। १८३ ।।

एवमेव तिरोभावप्रकारकमप्याह––**पुनरिति** ।। १८४ ।।

तत्रापि दार्ढ्यार्थं दृष्टान्तान्तराण्याह––**रात्रिघस्राविति** ।। १८५ ।।

आविर्भावतिरोभावशक्तिमत्त्वेन हेतुना ।
आरम्भपरिणामादिचोद्यानां नात्र सम्भवः ।। १८६ ।।
अचेतनानां हेतुः स्याज्जाड्यांशेनेश्वरस्तथा ।
चिदाभासांशतस्त्वेष जीवानां कारणं भवेत् ।। १८७ ।।
तमःप्रधानः क्षेत्राणां चित्प्रधानश्चिदात्मनाम् ।
परः कारणतामेति भावनाज्ञानकर्मभिः ।। १८८ ।।
इति वार्तिककारेण जडचेतनहेतुता ।
परमात्मन एवोक्ता नेश्वरस्येति चेच्छृणु ।। १८९ ।।

नन्वीश्वरस्य जगद्योनित्वं किं आरम्भकत्वेन, किं वा तदाकारपरिणामित्वेन ? नाद्यः; अद्वितीयस्यारम्भकत्वायोगात् । न द्वितीयः; निरवयवस्य परिणामासम्भवादित्याशङ्क्य, विवर्तवादाश्रयणान्नायं दोष इति परिहरति–

आविर्भावेति ।। १८६ ।।

नन्वेक एवेश्वरः कथं चेतनाचेतनजगदुपादानं भविष्यतीत्याशङ्क्य, उपाधिप्राधान्येनाचेतनोपादानं चित्प्राधान्येन चेतनोपादानं च भविष्यतीत्याह–

अचेतनानामिति ।। १८७ ।।

ननु मायाविन ईश्वरस्य जगत्कारणत्वप्रतिपादनमनुपपन्नं; **सुरेश्वराचार्यैः** परमात्मन एव तदभिधानादिति शङ्कते द्वाभ्याम्––

तमःप्रधान इति । तमःप्रधानः तमोगुणप्रधानमायोपाधिकः क्षेत्राणां

सिद्धान्ते विवर्तवादिनामस्माकमाविर्भावाद्यखिलकार्यं मायावित्वादेवोपपद्यत इति नात्राऽऽरम्भादिवादान्तरशङ्कावकाश इत्याह—**आविर्भावतिरोभावेति** ।। १८६ ।।

नन्वेवं भवतूक्तेश्वरः कारणं जडस्याकाशादिजगतस्तथाऽपि—

"जीव ईशो विशुद्धा चित्तथा जीवेशयोर्भिदा ।
अविद्या तच्चितोर्योगः षडस्माकमनादयः" ।।

इति **प्राचीनाचार्य**वचनादनादिजीवानां तु नैवायं हेतुस्तथा च प्रतिज्ञातं जगद्योनित्वं संकोच्येतैवेत्यत आह—**अचेतनानामिति** । यथा सूर्यः स्वकिरणांशेन मृगजलाविर्भावहेतुः स्वनिष्ठकल्पिततद्धेतुत्वरूपबिम्बित्वांशेन तच्चाकचक्यरूपप्रतिबिम्बानामप्याविर्भावे हेतुस्तद्वदित्याकूतम् । एवं च नात्र विरोधगन्धोऽपीति दिक् ।। १८७ ।।

तत्रापि वार्तिकमतेनैव सह विरोधमाशङ्क्य समाधातुं तद्वचः पठनपूर्वकं प्रतिजानीते—**तमःप्रधान** इत्यादिद्वाभ्याम् ।। १८८ ।।

इतीति । परमात्मनः शुद्धब्रह्मण एव । वस्तुतस्त्वियं शङ्कैव कस्यचित्पूर्वापर-

अन्योन्याध्यासमत्रापि जीवकूटस्थयोरिव ।
ईश्वरब्रह्मणोः सिद्धं कृत्वा ब्रूते सुरेश्वरः ।। १९० ।।
सत्यं ज्ञानमनन्तं यद्ब्रह्म तस्मात्समुत्थिताः ।
खवाय्वग्निजलोर्व्योषध्यन्नदेहा इति श्रुतिः ।। १९१ ।।
आपातदृष्टितस्तत्र ब्रह्मणो भाति हेतुता ।
हेतोश्च सत्यता तस्मादन्योन्याध्यास इष्यते ।। १९२ ।।

शरीरादीनां भावनाज्ञानकर्मभिः भावना संस्कारः, ज्ञानं देवताध्यानादि, कर्म पुण्यापुण्यलक्षणं तैर्निमित्तभूतैरित्यर्थः ।। १८८-१८९ ।।

'त्वं'पदार्थ इव 'तत्'पदार्थेऽप्यधिष्ठानारोपयोरन्योन्याध्यासस्य विवक्षितत्वान्मैवमिति परिहरति—

अन्योन्याध्यासमिति ।। १९० ।।

ननु **सुरेश्वराचार्यै**रीश्वरब्रह्मणोरन्योन्याध्यासः सिद्धवत्कृत्य व्यवहृत इति कुतोऽवगम्यत इत्याशङ्क्य, श्रुत्यर्थपर्यालोचनवशादिति दर्शयितुं (तै० २।१।१) श्रुतिमर्थतः पठति—

सत्यमिति ।। १९१ ।।

भवत्वेषा श्रुतिः, अनया कथमन्योन्याध्यासावगतिरित्यत आह—

आपातेति । तत्र तस्यां श्रुतौ सत्यादिलक्षणस्य निर्गुणब्रह्मणो जगत्कारणत्वं जगत्कारणस्य मायाधीनचिदाभासस्य च सत्यत्वमापाततः प्रतीयमानमन्योन्याध्यासमन्तरेण न घटत इति भावः ।। १९२ ।।

स्वारस्यानभिज्ञस्य मादृशाव्युत्पन्नमतिवैशद्यायैवाचार्यैरत्रानूद्य दूषितेति तत्त्वम् । परपदेन शुद्धग्रहे तमःप्राधान्यादेरेवासम्भवात् ।। १८९ ।।

प्रतिज्ञाते हेतुं द्योतयति—**अन्योन्येति** ।। १९० ।।

ननु कथमत्र ब्रह्मेश्वरयोरन्योन्याध्यासः **श्रीमत्सुरेश्वराचार्यचरणानां** सम्मत इत्याशङ्क्य तमुपपादयितुं प्रतिवाद्यभिमतोक्तवार्तिकवचने शुद्धब्रह्मकारणत्ववादमूलीभूतां श्रुतिमेवार्थतः संग्रथयति—**सत्यमिति** ।। १९१ ।।

एवं समुदाहृतश्रुतिरहस्यादेवोक्तान्योन्याध्यासं साधयति—**आपातेति** । पातमज्ञानध्वंसं मर्यादीकृत्येत्यापातं तस्मादर्वाग्या दृष्टिः संशयाद्यात्मिका चित्तवृत्तिस्तस्या इत्यर्थः । ब्रह्मणः सत्यादिलक्षणस्य निर्गुणस्य ब्रह्मणः । हेतुता जगत्कारणता भाति प्रतीयते न तु प्रमीयत इत्यर्थः । तत्र हेतुः—**हेतोरिति** । हेतोर्यतः सत्यता प्रतीयतेऽतो-

अन्योन्याध्यासरूपोऽसावन्नलिप्तपटो यथा ।
घट्टितेनैकतामेति तद्वद्भ्रान्त्यैकतां गतः ॥ १९३ ॥
मेघाकाशमहाकाशौ विविच्येते न पामरैः ।
तद्वद्ब्रह्मेशयोरैक्यं पश्यन्त्यापातदर्शिनः ॥ १९४ ॥
उपक्रमादिभिर्लिङ्गैस्तात्पर्यस्य विचारणात् ।
असङ्गं ब्रह्म मायावी सृजत्येष महेश्वरः ॥ १९५ ॥
सत्यं ज्ञानमनन्तं चेत्युपक्रम्योपसंहृतम् ।
यतो वाचो निवर्तन्त इत्यसङ्गत्वनिर्णयः ॥ १९६ ॥

एवमन्योन्याध्याससिद्धमीश्वरब्रह्मणोरेकत्वं पूर्वत्रोदाहृतं घट्टितपटदृष्टान्तस्मरणेन द्रढयति—अन्योन्येति ॥ १९३ ॥

भ्रान्त्यैकत्वापत्तौ दृष्टान्तमभिधाय आपातदर्शिनां भेदाप्रतीतौ पूर्वोक्तमेव दृष्टान्तान्तरं दर्शयति—

मेघाकाशेति । तद्वत् ब्रह्मेशयोरैक्यं पश्यन्ति, न भेदमित्यर्थः ॥१९४॥

कुतस्तर्हि ब्रह्मेशयोर्भेदावगतिरित्यत आह —

उपक्रमेति । 'उपक्रमोपसंहारावभ्यासोऽपूर्वता फलम् । अर्थवादोपपत्ती च लिङ्गं तात्पर्यनिर्णये ॥' इत्युक्तैः षड्विधैर्लिङ्गैः श्रुतितात्पर्यावधारणे सति ब्रह्मासङ्गं मायावी स्रष्टेत्यवगम्यत इति शेषः ॥ १९५ ॥

श्रुतावुपक्रमोपसंहारैकरूपप्रदर्शनेनोक्तं ब्रह्मणोऽसङ्गत्वं स्पष्टयति—

सत्यमिति । अतोऽसङ्गत्वनिर्णयो भवतीति शेषः ॥ १९६ ॥

ऽन्योन्याध्यास इत्यत इत्यन्वयः । "वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्" इत्यादिश्रुत्यन्तराद्धेतुता हि सत्यत्वधर्मवत एव न तु निर्धर्मकस्य ब्रह्मणस्तस्मात्सत्यत्वादिधर्मावच्छिन्नेश्वरस्य तदुपलक्षितनिर्धर्मकब्रह्मणा सहावश्यमन्योन्याध्यासोऽङ्गीकार्य इति तात्पर्यम् । एवं च कारणोपाधिरीश्वर इति "अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत्" इति च श्रुत्यन्तरमप्येवमनुगृहीतम् ॥ १९२ ॥

एवं परम्पराध्याससिद्धमीश्वरस्य स्वरूपं प्रागुक्तदृष्टान्तं स्मारयन्नेव निरूपयति—अन्योन्याध्यासेति ॥ १९३ ॥

एवमीश्वरब्रह्मणोरैक्याध्यासे दृष्टान्तमभिधाय भेदाभानेऽपि तमाह—मेघेति ॥१९४॥

फलितमाह—उपक्रमादिभिरिति ॥ १९५ ॥

तत्र ब्रह्मासंगत्वे लिङ्गमाह—सत्यमिति ॥ १९६ ॥

मायी सृजति विश्वं सन्निरुद्धस्तत्र मायया ।
अन्य इत्यपरा ब्रूते श्रुतिस्तेनेश्वरः सृजेत् ।। १९७ ।।
आनन्दमय ईशोऽयं बहु स्यामित्यवैक्षत ।
हिरण्यगर्भरूपोऽभूत्सुप्तिः स्वप्नो यथा भवेत् ।। १९८ ।।
क्रमेण युगपद्वैषा सृष्टिर्ज्ञेया यथाश्रुति ।
द्विविधश्रुतिसद्भावाद् द्विविधस्वप्नदर्शनात् ।। १९९ ।।

मायाविन ईश्वरस्य स्रष्टृत्वप्रतिपादिकां श्रुतिमर्थतो दर्शयति—

मायीति । 'अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत्तस्मिंश्चान्यो मायया सन्निरुद्धः' (श्वे० ४।१०) इति श्रुतिरीश्वरस्य स्रष्टृत्वं जीवस्य तत्र जगति बद्धत्वं च दर्शयतीति भावः ।। १९७ ।।

एवमानन्दमयस्येश्वरस्य जगत्कारणत्वं प्रतिपाद्य, तस्माज्जगदुत्पत्ति-प्रकारमाह—

आनन्दमय इति । ईक्षित्वा च हिरण्यगर्भरूपोऽभूदित्यन्वयः । तत्र दृष्टान्तमाह—**सुप्तिरिति** ।। १९८ ।।

'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः' (तै० २।१) इत्यादौ क्रमेण सृष्टिश्रवणात् 'इदं सर्वमसृजत' (तै० २।६) इति युगपच्छ्रवणाच्च कस्योपादेयत्वं, कस्य वा हेयत्वमित्यकाङ्क्षायां श्रुतियुक्त्युपेतत्वादुभयं ग्राह्य-मित्याह—

क्रमेणेति । एषा जगत्सृष्टिर्द्विविधश्रुतिसद्भावात् क्रमेण युगपद्वा यथा-श्रुति ज्ञेयेति योजना । तत्रोपपत्तिः—**द्विविधस्वप्नदर्शनादिति** । लोके क्रमयुक्तस्य चाक्रमयुक्तस्य च स्वप्नपदार्थजातस्य दर्शनादिति भावः ।।१९९।।

मायिनः स्रष्टृत्वे श्रुतिमेवाऽऽह—**मायीति** । **"अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत्तस्मिंश्चान्यो मायया सन्निरुद्धः"** इति श्वेताश्वतरश्रुतिः ।। १ ७ ।।

एवमीश्वरं समष्ट्यानन्दमयकोशावच्छिन्नचैतन्यं निर्णीय तस्य सृष्टिव्यापारं स्पष्टयति—**आनन्दमय इति** । यदाऽवैक्षत तदा हिरण्यगर्भरूपोऽभूदिति सम्बन्धः । तत्र दृष्टान्तस्तु स्पष्ट एव ।। १९८ ।।

ननु किं सृष्टिः क्रमिकयन्यथा वेत्यत्राऽऽह—**क्रमेणेति** । "तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः" इति क्रमश्रवणम् । **"इद—सर्वमसृजतेति"** युगपच्छ्रवणम् ।। १९९ ।।

सूत्रात्मा सूक्ष्मदेहाख्यः सर्वजीवघनात्मकः ।
सर्वाहम्मानधारित्वात्क्रियाज्ञानादिशक्तिमान् ।। २०० ।।

प्रत्यूषे वा प्रदोषे वा मग्नो मन्दे तमस्ययम् ।
लोको भाति यथा तद्वदस्पष्टं जगदीक्ष्यते ।। २०१ ।।

सर्वतो लाञ्छितो मष्या यथा स्याद्घट्टितः पटः ।
सूक्ष्माकारैस्तथेशस्य वपुः सर्वत्र लाञ्छितम् ।। २०२ ।।

सस्यं वा शाकजातं वा सर्वतोऽङ्कुरितं यथा ।
कोमलं तद्वदेवैष पेलवो जगदङ्कुरः ।। २०३ ।।

हिरण्यगर्भस्य स्वरूपं निरूपयति—

सूत्रात्मेति । सूत्रात्मा पटे सूत्रमिव जगत्यनुस्यूत आत्मा स्वरूपं यस्य स सूक्ष्मदेह इत्याख्या यस्य स तथाविधः सर्वजीवघनात्मकः सर्वेषां जीवानां लिङ्गशरीरोपाधिकानां घनात्मकः समष्टिस्वरूपः । तत्र हेतुः— **सर्वाहमानेति ।** सर्वेषु व्यष्टिलिङ्गशरीरेषु अहंमानवत्त्वादिति भावः । इच्छाज्ञानक्रियाशक्तिमांश्च ।। २०० ।।

हिरण्यगर्भावस्थायां जगत्प्रतीतौ दृष्टान्तमाह—

प्रत्यूष इति । प्रत्यूष उषःकालः ।। २०१ ।।

एवं लोकप्रसिद्धदृष्टान्तमभिधाय, 'यथा धौतः' (प्र० ६।२) इति पूर्वोक्तश्लोकेऽभिहितं लाञ्छितं पटं दृष्टान्तयति—

सर्वत इति । यथा घट्टितः पटो मषीमयैराकारविशेषैर्लाञ्छितो भवति, तथा मायिन ईश्वरस्य वपुः अपञ्चीकृतभूतकार्यैर्लिङ्गशरीरैर्लाञ्छितमित्यर्थः ।। २०२ ।।

बुद्ध्यारोहाय वैभवात् दृष्टान्तान्तरमाह—**सस्यं वेति** ।। २०३ ।।

ननु भवत्वीश एव किञ्चिदुपाध्याधिक्याद्धिरण्यगर्भस्तथापि किं तद्रूपं तत्राऽऽह—**सूत्रेति** ।। २०० ।।

तेन तदानीं जगत्कथमीक्ष्यते सांकल्पिकमित्यपेक्षायां तत्सदृष्टान्तं स्पष्टयति—**प्रत्यूषे वेति** ।। २०१ ।।

अथ प्राक्तनदृष्टान्तमपि तत्र योजयति – **सर्वत इति ।** यथा घट्टितः पटो मष्या सूक्ष्माकारैः सर्वतो लाञ्छितो भवति तथेशस्य वपुः सूक्ष्माकारैः सर्वत्र लाञ्छितं स्यादिति योजना ।। २०२ ।।

पुनरपि दार्ढ्यार्थं दृष्टान्तान्तरं प्रकटयति—**सस्यं वेति ।** "पेलवं मृदुलं तनु" इत्यमरः ।। २०३ ।।

आतपाभातलोको वा पटो वा वर्णपूरितः ।
सस्यं वा फलितं यद्वत्तथा स्पष्टवपुर्विराट् ।। २०४ ।।
विश्वरूपाध्याय एष उक्तः सूक्तेऽपि पौरुषे ।
धात्रादिस्तम्बपर्यन्तानेतस्यावयवान्विदुः ।। २०५ ।।
ईशसूत्रविराड्वेधोविष्णुरुद्रेन्द्रवह्नयः ।
विघ्नभैरवमैरालमारिकायक्षराक्षसाः ।। २०६ ।।
विप्रक्षत्रियविट्शूद्रा गवाश्वमृगपक्षिणः ।
अश्वत्थवटचूताद्या यवव्रीहितृणादयः ।। २०७ ।।
जलपाषाणमृत्काष्ठवास्याकुद्दालकादयः ।
ईश्वराः सर्व एवैते पूजिताः फलदायिनः ।। २०८ ।।

एवं सूत्रात्मस्वरूपं विशदीकृत्य, तस्यैवावस्थाभेदं पञ्चीकृतभूतकार्योपाधिकं विराजं दृष्टान्तत्रयेण विशदयति—

आतपेति । सूर्योदयानन्तरमातपेन प्रकाशितो लोक आतपाभातलोकः ।। २०४ ।।

तत्सद्भावे प्रमाणमाह—

विश्वरूपेति । विश्वरूपाध्यायादौ कीदृग्रूपमुदितमित्याकाङ्क्षायां ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तजगद्रूपमुदितमित्याह—धात्रादीति ।। २०५ ।।

एतावता प्रकृते किमायातमित्याशङ्क्याऽन्तर्यामिप्रभृतिकुद्दालकादिपर्यन्तं वस्तुजातं प्रत्येकमीश्वरत्वेन पूज्यतामित्याह—

ईशेत्यादिना श्लोकत्रयेण ।। २०६--२०८ ।।

एवं हिरण्यगर्भस्वरूपं तत्कार्यं तदवस्थापन्नजगत्स्वरूपं च प्रपञ्च्याथ तस्य किञ्चिदधिकोपाधिविशेषस्य विराट्त्वं प्रकटयति—आतपेत्यादिदृष्टान्तत्रयेण ।। २०४ ।।

सप्रमाणं तं प्रतिपादयति विश्वरूपेति । स्तम्बः सूक्ष्मतमः कीटविशेषः । श्रुत्यादय इति शेषं प्रपूर्य विदुरित्याख्यातान्वयः कार्यः ।। २०५ ।।

ततः किं प्रकृत इत्यत आह—ईशेत्यादित्रयेण ।। २०६ ।।

विप्रेति । आम्रश्चूत इत्यमरः ।। २०७ ।।

जलेति । वास्यपदेन तक्ष्णः करणं काष्ठछिदायाः प्रसिद्धं वांकस इति महाराष्ट्रभाषायाम् ।। २०८ ।।

यथा यथोपासते तं फलमीयुस्तथा तथा ।
फलोत्कर्षापकर्षौ तु पूज्यपूजानुसारतः ।। २०९ ।।
मुक्तिस्तु ब्रह्मतत्त्वस्य ज्ञानादेव न चान्यथा ।
स्वप्रबोधं विना नैव स्वस्वप्नो हीयते यथा ।। २१० ।।
अद्वितीयब्रह्मत्वे स्वप्नोऽयमखिलं जगत् ।
ईशजीवादिरूपेण चेतनाचेतनात्मकम् ।। २११ ।।

'ते यथा यथोपासते तदेव भवति' इति श्रुतिः तत्तत्पूजातस्तत्फलसद्भावे प्रमाणमित्याह—

यथा यथेति । ननु सर्वेषामीश्वरत्वे फलवैषम्यं कुत इत्याशङ्क्य, पूज्यानामधिष्ठानानां पूजनानामर्चादीनां च सात्त्विकादिभेदेन वैषम्यमित्याह-- **फलोत्कर्षेति** ।। २०९ ।।

सांसारिकफलसिद्धिरेवं भवतु, मुक्तिः कस्योपासनाद्भवतीत्याशङ्क्य, ज्ञानव्यतिरेकेण केनापि न भवतीत्याह—

मुक्तिरिति । तत्र दृष्टान्तमाह—**स्वप्रबोधमिति** । स्वजागरणमन्तरेण स्वनिद्राकल्पितस्वप्नो यथा न निवर्तते तथा ब्रह्मतत्त्वज्ञानमन्तरेण तदज्ञानकल्पितः स्वसंसारो न निवर्तत इति भावः ।। २१० ।।

ननु द्वैतनिवृत्तिलक्षणाया मुक्तेः स्वप्नदृष्टान्तेन तत्त्वबोधसाध्यत्वाभिधानमनुपपन्नम्; निवर्त्यस्य द्वैतस्य स्वप्नतुल्यत्वाभावादित्याशङ्क्यान्यथाग्रहणरूपत्वेन स्वप्नतुल्यत्वमात्मैव; 'त्रयमप्येतत्सुषुप्तं स्वप्नं मायामात्रम्' (नृ० उ० १) इति श्रुत्याऽभिहितत्वान्मैवमित्याह—

अद्वितीयेति । ईशजीवादिरूपेण वर्तमानं चेतनाचेतनात्मकं यदखिलं जगदस्त्ययमद्वितीयब्रह्मतत्त्वे स्वप्न इति योजना ।। २११ ।।

तत्र मानमर्थयतः । "तं यथा यथोपासते तदेव भवती"ति श्रुतिमेवार्थतः संग्रथयति --**यथा यथेति** । एवं तर्हि कथं फलतारतम्यं तत्राऽऽह—**फलेति** ।। २०९ ।।

भवत्वेवमथापि मोक्ष कस्य समुपासनाद्भवतीत्यत्राऽऽह—**मुक्तिस्त्विति** । अत एवाऽऽहुः **श्रीमद्वार्तिककारचरणाः**—

"भावनाजं फलं यत्स्याद्यच्च स्यात्कर्मणः फलम् ।
न तत्स्थास्न्विति विज्ञेयं पण्यस्त्रीसङ्गतं यथा" इति ।

तत्र दृष्टान्तं स्पष्टयति—**स्वेति** । ततः प्रेक्षावता मोक्षदज्ञानायैव यतितव्यमिति ।। २१० ।।

ननु निवर्त्यस्य बन्धस्य स्वप्नदृष्टान्तोऽनुचित एव तस्य प्रातिभासिकत्वेन सति

आनन्दमयविज्ञानमयावीश्वरजीवकौ ।
मायया कल्पितावेतौ ताभ्यां सर्वं प्रकल्पितम् ।। २१२ ।।
ईक्षणादिप्रवेशान्ता सृष्टिरीशेन कल्पिता ।
जाग्रदादिविमोक्षान्तः संसारो जीवकल्पितः ।। २१३ ।।
अद्वितीयं ब्रह्मतत्त्वमसङ्गं तन्न जानते ।
जीवेशयोर्मायिकयोर्वृथैव कलहं ययुः ।। २१४ ।।

नन्वीशजीवयोर्ब्रह्माभिन्नयोः कथं जगदन्तःपातित्वमित्याशङ्क्य, तयोर्मायाकल्पितत्वेन जगदन्तःपातित्वमित्याह—**आनन्दमयेति** ।। २१२ ।।

'ताभ्यां सर्वं प्रकल्पितम्' इत्युक्तं, तत्र केन कियत् कल्पितमित्याकाङ्क्षायामाह—

ईक्षणादीति । 'स ईक्षत लोकान्नु सृजा' (ऐ० ४।१।२) इत्यादिकया 'एतया द्वारा प्रापद्यत' (ऐ० ४।३।१२) इत्यन्तया श्रुत्या प्रतिपादिता सृष्टिरीश्वरकर्तृका । 'तस्य त्रय आवसथाः' (ऐ० ४।३।१२) इत्यादिकया 'स एतमेव पुरुषं ब्रह्म ततममपश्यत्' (ऐ० ४।३।१३) इत्यन्तया श्रुत्या प्रतिप्रतिपादितः संसारो जीवकर्तृक इत्यर्थः ।। २१३ ।।

ननु ब्रह्मण एव पारमार्थिकत्वे वादिनां जीवेश्वरतत्त्वविषया विप्रतिपत्तिः कुत इत्याशङ्क्य, श्रुतिसिद्धतत्त्वज्ञानशून्यत्वादित्याह—

अद्वितीयमिति ।। २१४ ।।

प्रमातरि बाध्यमानत्वाद्बन्धस्य तु जीवेश्वरादिद्वैतात्मकस्य सति प्रमातर्यबाध्यमानत्वेन व्यावहारिकसत्त्वाभ्युपगमादित्याशङ्क्य **'तस्य त्रय** आवसथास्त्रयः स्वप्ना' इति 'त्रयमेतत्सुषुप्तं स्वप्नं मायामात्रम्' इति च श्रुतेः, 'अन्यथा गृह्णतः स्वप्न' इति **माण्डूक्यकारिका**वचनाच्च जाग्रदादेरखिलद्वैतस्यापि सामान्यतोऽन्यथाग्रहणत्वेन प्रातिभासिकत्वाद्यवान्तरविशेषेऽपि स्वप्नत्वानपायादिति समाधत्ते—**अद्वितीयेति** ।। २११ ।।

ननु कोऽस्य स्वप्नस्य दृश्यरूपस्य कल्पक इत्याशङ्क्य स्वप्नस्य निद्रेवास्यानादिमायैवाऽऽनन्दमयं विज्ञानमयकोशाख्येश्वरजीवौ साक्षिद्रष्टारौ प्रकल्प्य तद्द्वारा सर्वं जगत्कल्पयतीत्याह—**आनन्दमयेति** ।। २१२ ।।

नन्वेवमपि कियद्द्वैतमीश्वरेण कल्पितं कियज्जीवेनेत्यत आह—**ईक्षणादीति** ।। २१३ ।।

नन्वेवं यदि जीवेश्वरयोरुभयोरपि कल्पितत्वं तर्हि तत्स्वरूपविषय एव सर्ववादिनां किमिति कलह इत्यत्राऽऽह—**अद्वितीयमिति** ।। २१४ ।।

ज्ञात्वा सदा तत्त्वनिष्ठाननुमोदामहे वयम् ।
अनुशोचाम एवान्यान्न भ्रान्तैर्विवदामहे ।। २१५ ।।
तृणार्चकादियोगान्ता ईश्वरे भ्रान्तिमाश्रिताः ।
लोकायतादिसांख्यान्ता जीवे विभ्रान्तिमाश्रिताः ।। २१६ ।।
अद्वितीयब्रह्मतत्त्वं न जानन्ति यदा तदा ।
भ्रान्ता एवाखिलास्तेषां क्व मुक्तिः क्वेह वा सुखम् ।। २१७ ।।
उत्तमाधमभावश्चेत्तेषां स्यादस्तु तेन किम् ।
स्वप्नस्थराज्यभिक्षाभ्यां न बुद्धः स्पृश्यते खलु ।। २१८ ।।

जीवेश्वरविषयाया वादिविप्रतिपत्तेः अज्ञानमूलत्वे तथाविधतत्त्वेन ते बोधनीया इत्याशङ्क्य, वृथाश्रमत्वान्नेत्याह—

ज्ञात्वेति ।। २१५ ।।

ईश्वरे जीवे च भ्रान्त्या विप्रतिपन्नान् वादिनो विभज्य दर्शयति—

तृणेति ।। २१६ ।।

कुतो भ्रान्तत्वं तेषामित्यत आह—

अद्वितीयेति । ततः किं तत्राह—**तेषामिति** । परिगृहीतपक्षप्रतिपादनाभिनिवेशेन चित्तविश्रान्त्यभावान्नैहिकमपि सुखं तेषामित्याह—**क्वेह वेति** ।। २१७ ।।

ननु तेषां ब्रह्मविद्याभावेऽपि इतरविद्याप्रयुक्त उत्तमाधमभावो दृश्यते, उत्तमत्वप्रयुक्तं सुखं केषाञ्चित्स्यादित्याशङ्क्य, तस्य मुमुक्षुभिरनादरणीयत्वं दृष्टान्तेनाह—

उत्तमाधमेति ।। २१८ ।।

नन्वेवं चेत्ते सर्वेऽपि भेदवादिनः सिद्धान्तिना त्वया शिक्षणीया इत्यत आह—**ज्ञात्वेति** । सदेतिपदं देहलीदीपवदनुमोदेऽप्यन्वेति । अन्यान्शास्त्रसंस्कारशून्यान् ।।२१५।।

ननु के ते भ्रान्ता इत्यत्राऽऽह—**तृणेति** । एते सर्वेऽप्यधस्तादुपन्यस्ता एवेति भावः ।। २१६ ।।

ननु कुतः सांख्ययोगयोरपि भ्रान्तत्वं तत्राऽऽह—**अद्वितीयं ब्रह्मेति** ।। २१७ ।।

ननु तत्राप्यन्तरङ्गत्वादितारतम्यमस्त्येवेत्यत आह—**उत्तमेति** । तत्रार्थान्तरन्यासतः समर्थनं कथयति—**स्वप्नेति** ।। २१८ ।।

तस्मान्मुमुक्षुभिर्नैव मतिर्जीवेशवादयोः ।
कार्या किन्तु ब्रह्मतत्त्वं विचार्य बुध्यतां च तत् ।। २१९ ।।
पूर्वपक्षतया तौ चेत्तत्त्वनिश्चयहेतुताम् ।
प्राप्नुतोऽस्तु निमज्जस्व तयोर्नैतावताऽवशः ।। २२० ।।
असङ्गचिद्विभुर्जीवः सांख्योक्तस्तादृगीश्वरः ।
योगोक्तस्तत्त्वमोरर्थौ शुद्धौ ताविति चेच्छृणु ।। २२१ ।।

जीवेश्वरवादयोर्मुक्तिहेतुत्वाभावान्न मुमुक्षुभिस्तत्र मतिर्निवेशनीयेत्युपसंहरति—

तस्मादिति । तर्हि किं कर्तव्यमित्याशङ्क्य, श्रुतिविचारेण ब्रह्मबोध एव कर्तव्य इत्याह—**किंत्विति** ।। २१९ ।।

ननु ब्रह्मतत्त्वनिश्चयाय तयोः स्वरूपं हेयत्वेन ज्ञातव्यमित्याशङ्क्य, तथात्वे जीवेशवादयोरेव बुद्धिर्न परिसमापनीयेत्याह—

पूर्वपक्षतयेति । एतावता पूर्वपक्षतया तत्त्वनिर्णयहेतुत्वसम्भवेन तयोर्जीवेशवादयोरेवावशो विवेकज्ञानशून्यो न निमज्जस्वेति योजना ।।२२०।।

ननु साङ्ख्ययोगशास्त्रोक्तयोर्जीवेशयोः शुद्धचिद्रूपत्वेन भवद्भिरप्युपादेयत्वान्न तयोः पूर्वपक्षत्वमिति शङ्कते—

असङ्गचिदिति । साङ्ख्ययोगशास्त्रोक्तयोर्जीवेशयोः शुद्धचिद्रूपत्वेऽपि तयोर्वास्तवभेदस्य तैरङ्गीकारान्नायमस्मत्सिद्धान्त इत्याह—**शृण्विति**।।२२१।।

फलितमाह—**तस्मादिति** । न केवलं विचार एव कालक्षेपः कार्यः किन्तु तत्फलीभूतबोधे स्वस्य कः प्रतिबन्ध इति परीक्ष्य शास्त्रोक्तोपायैस्तन्निरासमासाद्य सद्यः स्वाद्वैततत्त्वबोधोऽपि साध्य एवेत्याह—**बुध्यतां चेति** शेषेण ।। २१९ ।।

ननूक्तजीवेश्वरावन्यवादिसम्मतावपि पूर्वपक्षत्वेन तत्त्वनिर्णयोपयोगिनावेव ततः कथं तदुपेक्षोचितेत्यत आह—**पूर्वपक्षतयेति** । तौ सांख्यादिजीवेश्वरवादौ । **पूर्वेति** । **तत्त्वेति** । यदि प्राप्नुतस्तर्हि तथाऽस्तु तथाप्येतावतारे मुमुक्षो त्वमवशोऽस्वाधिनः संस्तयोरुक्तवादयोर्न निमज्जस्वेति सम्बन्धः । एतेन तयोः समुद्रवदपारत्वमनर्थहेतुत्वं च सूचितम् ।। २२० ।।

अत्र सांख्याद्युक्तौ जीवेशावनूद्य शङ्कते—**असङ्गेति** । तत्र समाधातुं प्रतिजानीते—**शृण्विति** ।। २२१ ।।

न तत्त्वमोरुभावर्थावस्मत्सिद्धान्ततां गतौ ।
अद्वैतबोधनायैव सा कक्षा काचिदिष्यते ॥ २२२ ॥
अनादिमायया भ्रान्ता जीवेशौ सुविलक्षणौ ।
मन्यन्ते तद्व्युदासाय केवलं शोधनं तयोः ॥ २२३ ॥
अत एवात्र दृष्टान्तो योग्यः प्राक् सम्यगीरितः ।
घटाकाशमहाकाशजलाकाशाभ्रखात्मकः ॥ २२४ ॥
जलाभ्रोपाध्यधीने ते जलाकाशाभ्रखे तयोः ।
आधारौ तु घटाकाशमहाकाशौ सुनिर्मलौ ॥ २२५ ॥

न तत्त्वमोरिति । तत्त्वंपदयोरुभावर्थावस्मत्सिद्धान्तत्वं न गताविति योजना । ननु 'कूटस्थ-ब्रह्म'शब्दाभ्यां शुद्धौ तत्त्वंपदार्थौ भवद्भिरपि भिन्नौ निरूपितावित्याशङ्क्याह—**अद्वैतबोधनायैवेति** । लोकप्रसिद्धभेदनिरासद्वारा तदैक्यप्रतिपादनायैव तौ भेदेनानूदितौ, नतु तयोर्भेदः प्रतिपाद्यत इति भावः ॥ २२२ ॥

तर्हि पदार्थशोधनं किमर्थमित्यत आह—

अनादीति । अत्र 'माया'शब्देन स्वाश्रयव्यामोहिका अविद्या लक्ष्यते । तया विपरीतज्ञानं प्राप्ताः कर्तृत्वादिमत्त्वं जीवस्य, सर्वज्ञत्वादिगुणयोगित्वं चेश्वरस्य पारमार्थिकं मन्यन्ते, अतस्तन्निवृत्त्यर्थमेव शोधनं क्रियत इत्यर्थः ॥ २२३ ॥

पदार्थशोधनप्रकारमेव दिदर्शयिषुस्तदुपायत्वेन पूर्वोक्तदृष्टान्तं स्मारयति—

अत एवेति । यतः पदार्थशोधनं कर्तव्यमत एवेत्यर्थः ॥ २२४ ॥

पदार्थशोधनप्रकारमाह—

जलाभ्रेति । ये जलाकाशाभ्रखे ते जलाभ्रोपाध्यधीनत्वादपारमार्थिके, तयोराधारभूतौ घटाकाशमहाकाशौ सुनिर्मलौ । जलाद्युपाधिनिरपेक्षाकाशमात्ररूपावित्यर्थः ॥ २२५ ॥

तदाह—**नेति** । **कक्षा** युक्तिः ॥ २२२ ॥

तत्र हेतुमाह—**अनादीति** । अस्मादिष्टमित्यार्थिकम् ॥ २२३ ॥

कुत एवमित्यत्राऽऽह—**अत एवेति** ॥ २२४ ॥

तमेव विशदयति—**जलेति** । **जलाकाशेति** । पूर्णकुम्भजलप्रतिबिम्बितो महाकाशो

एवमानन्दविज्ञानमयौ मायाधियोर्वशौ ।
तदधिष्ठानकूटस्थब्रह्मणी तु सुनिर्मले ॥ २२६ ॥
एतत्कक्षोपयोगेन सांख्ययोगौ मतौ यदि ।
देहोऽन्नमयकक्षत्वादात्मत्वेनाभ्युपेयताम् ॥ २२७ ॥
आत्मभेदो जगत् सत्यमीशोऽन्य इति चेत्त्रयम् ।
त्यज्यते तैस्तदा सांख्ययोगवेदान्तसंमतिः ॥ २२८ ॥

दार्ष्टान्तिकमाह—

एवमिति ॥ २२६ ॥

ननु पदार्थद्वयशोधनकक्षोपयोगित्वेनापि सांख्ययोगमतद्वयमङ्गीकार्यमिति चेदल्पमिदमुच्यते, इतरेषामपि शास्त्राणां तत्तत्कक्षोपयोगित्वेनास्माभिरभ्युपेयत्वादित्याह—

एतदिति ॥ २२७ ॥

कुतस्तर्हि सांख्ययोगयोर्वेदान्तविरोधित्वमित्याशङ्क्य, जीवभेद-जगत्सत्यत्वेश्वरताटस्थ्यलक्षणेंऽशे इत्याह—

आत्मभेद इति ॥ २२८ ॥

जलाकाशः । मेघोदरगततुषारात्मकजलप्रतिबिम्बितमहाकाश एवाभ्राकाश इति प्राङ्मूल एव व्युत्पादितमेवेति भावः ॥ २२५ ॥

दार्ष्टान्तिके योजयति—एवमिति । ननु विषमोऽयं दृष्टान्तः । जलाकाशोऽभ्राकाशश्चोक्तरीत्या महाकाशस्यैव प्रतिबिम्बाविति हि निर्विवादमेव । जीवस्तु भवतां बुद्धौ कूटस्थस्यैव तदधिष्ठानस्य प्रतिबिम्बत्वेन सम्मतो न तु मायायां ब्रह्मणः प्रतिबिम्ब ईश्वर इव ब्रह्मप्रतिबिम्बत्वेन । महाकाशस्थानीयं तु ब्रह्मैवेति ब्रह्मप्रतिबिम्बत्वेनैव यदि विवक्षितः स्याच्चेत्तदा दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोः साम्यं स्यादिति चेत्सत्यम् । कूटस्थस्य ब्रह्माभेदविवक्षयैव तथोक्तत्वात् । एवमेवाग्रे वक्ष्यन्ति **मूलकारा** एव—

"कूटस्थब्रह्मणोर्भेदो नाममात्रादृते न हि ।
घटाकाशमहाकाशौ वियुज्येते न हि क्वचित्" इति ॥ २२६ ॥

ननु तर्हि शोधितजीवादिसिद्ध्यर्थमेवास्तु सांख्याद्युपयोग इत्याशङ्कां प्रतिबन्द्या प्रत्याह—एतदिति ॥ २२७ ॥

नन्वेवं चेत्तर्हि किमंशे साङ्ख्ययोगयोर्वेदान्तविरोधित्वं तत्राऽऽह—आत्मेति ॥ २२८ ॥

जीवोऽसङ्गत्वमात्रेण कृतार्थ इति चेत्तदा ।
स्रक्चन्दनादिनित्यत्वमात्रेणापि कृतार्थता ।। २२९ ।।
यथा स्रगादिनित्यत्वं दुःसंपाद्यं तथात्मनः ।
असङ्गत्वं न संभाव्यं जीवतोर्जगदीशयोः ।। २३० ।।
अवश्यं प्रकृतिः सङ्गं पुरेवापादयेत्तथा ।
नियच्छेत्येतमीशोऽपि कोऽस्य मोक्षस्तथा सति ।। २३१ ।।
अविवेककृतः सङ्गो नियमश्चेति चेत्तदा ।
बलादापतितो मायावादः सांख्यस्य दुर्मतेः ।। २३२ ।।

ननु जीवस्यासङ्गत्वज्ञानादेव मुक्तिसिद्धेः किमद्वैतबोधेनेत्याशङ्क्य, अद्वैतज्ञानमन्तरेणासङ्गत्वादिकं न संभाव्यत इत्यभिसंधि हृदि निधायोत्तरमाह—**जीव इति** ।। २२९ ।।

अभिसन्धिमाविष्करोति–

यथेति । जीवितोर्विशेष्यविशेषणाकारेण भासमानयोः ।। २३० ।।

असम्भवमेव स्पष्टयति–

अवश्यमिति । फलितमाह—**कोऽस्येति** ।। २३१ ।।

सङ्गनियमनयोरविवेककार्यत्वात् विवेकज्ञानेन चाविवेकनिवृत्तौ कुतः पुनः सङ्गादुत्पत्तिरिति शङ्कते—

अविवेकेति । एवं सति अपसिद्धान्तापात इति परिहरति–**बलादिति** । अयं भावः–अविवेको नाम किं विवेकाभावः, किं वा तदन्यः, उत तद्विरोधः ? नाद्यः; अभावमात्रस्य भावकार्यजनकत्वायोगात् । न द्वितीयः; विवेकादन्यस्य घटादेः सङ्गहेतुत्वादर्शनात् । तृतीये तु तस्य भावरूपाज्ञानत्वमेवेति मायावादप्रसङ्ग इति ।। २३२ ।।

ननु जीवस्तदुक्तासङ्गत्वबोधमात्रात्कृतार्थः स्यादित्याशङ्क्यां प्रतिबन्द्या परिहरति–**जीव इति** ।। २२९ ।।

ननु स्रगादिनित्यत्वं दुःसम्पादमिति चेत्तर्हि साङ्ख्यादिमत आत्मासङ्गत्वमपि तथैवेत्याह—**यथेति** । जीवतोः सत्ययोः सतोरित्यर्थः ।। २३० ।।

तदेवोपपादयति—**अवश्यमिति** । पुरेव प्राग्वत् । अमुं जीवम् ।। २३१ ।।

इदं प्रकृतिसङ्गादिकमविवेकमूलकमित्याशङ्क्य मायावादापत्तेर्मैवमित्याऽऽह—

बन्धमोक्षव्यवस्थार्थमात्मनानात्वमिष्यताम् ।
इति चेन्न यतो माया व्यवस्थापयितुं क्षमा ।। २३३ ।।
दुर्घटं घटयामीति विरुद्धं किं न पश्यसि ।
वास्तवौ बन्धमोक्षौ तु श्रुतिर्न सहतेतराम् ।। २३४ ।।
न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः ।
न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता ।। २३५ ।।

अद्वैताभ्युपगमे बन्धमोक्षव्यवस्थोपपत्तेरात्मभेदोऽङ्गीकर्तव्य इति चोदयति ·

बन्धमोक्षेति । एकस्याप्यात्मनो मायया बन्धमोक्षव्यवस्थोपपत्तेर्नैवमिति परिहरति --**न यत इति** ।। २३३ ।।

मायापि कथं व्यवस्थापयेदित्याशङ्क्य, तस्या दूर्घटकारित्वस्वाभाव्यादित्याह ---

दुर्घटमिति । बन्धस्याविद्यकत्वेऽपि मोक्षो वास्तवोऽभ्युपेतव्य इत्याशङ्क्य, श्रुतिविरोधान्नैवमित्याह –**वास्तवावित** । न सहतेतराम्, अतितरां नैव सहत इत्यर्थः । बन्धमिव मोक्षमपि वास्तवं न सहत इति भावः ।।२३४।।

मोक्षादेर्वास्तवत्वप्रतिषेधिकां श्रुतिं पठति—

न निरोध इति । निरोधो नाशः, उत्पत्तिर्देहसम्बन्धः, बद्धः सुखदुःखादिधर्मवान्, साधकः श्रवणाद्यनुष्ठाता, मुमुक्षुः साधनचतुष्टयसम्पन्नः, मुक्तः निवृत्ताविद्यः, इत्येतत्सर्वं वस्तुनो नास्तीत्यर्थः ।। २३५ ।।

अविवेकेति । अविवेको हि विवेकाभावस्तस्मात्सङ्गादिभावकार्यं कथं स्यादित्यन्ततो गत्वाऽविवेकशब्देन रुदताऽपि सांख्येन भावरूपमेवानाद्यज्ञानमुररीकरणीयमिति स्यादित्याशयः ॥ २३२ ॥

ननु तर्हि तव मत आत्मनानात्वमन्तरा बन्धादिव्यवस्था न स्यादतः सांख्यमतमेष्टव्यमित्याशङ्क्य मायैव सर्वां व्यवस्थां संस्थापयिष्यतीति समाधत्ते— **बन्धेति** ॥ २३३ ॥

ननु साऽपि कथमिदं कुर्यादित्याशङ्क्याहं दुर्घटमपि घटयिष्यामीति प्रतिज्ञाया ऐन्द्रजालिकादौ मायाबलादेव दृष्टत्वान्नैवमित्याह—**दुर्घटमिति** । इदं कल्पितमिति चेत्तत्राऽऽह--**वास्तवाविति** ॥ २३४ ॥

तामेवामृतबिन्दुश्रुतिं पठति—॥ २३५ ॥

मायाख्यायाः कामधेनोर्वत्सौ जीवेश्वरावुभौ ।
यथेच्छं पिबतां द्वैतं तत्त्वं त्वद्वैतमेव हि ॥ २३६ ॥

कूटस्थब्रह्मणोर्भेदो नाममात्रादृते नहि ।
घटाकाशमहाकाशौ वियुज्येते नहि क्वचित् ॥ २३७ ॥

यदद्वैतं श्रुतं सृष्टेः प्राक् तदेवाद्य चोपरि ।
मुक्तावपि वृथा माया भ्रामयत्यखिलाञ्जनान् ॥ २३८ ॥

एवं जीवेश्वरादिभेदस्य मायामयत्वमुपपादितमुपसंहरति—
मायाख्याया इति ॥ २३६ ॥

ननु जीवेश्वरयोर्मायिकत्वेन तद्भेदस्य मिथ्यात्वेऽपि कूटस्थब्रह्मणोः पारमार्थिकत्वेन तद्भेदोऽपि पारमार्थिकः स्यात् इत्याशङ्क्य, भेदप्रयोजकस्य स्वरूपवैलक्षण्यस्याभावान्मैवमिति परिहरति—

कूटस्थेति । नाममात्राद्भेदप्रतीतावपि वस्तुतो 'भेदाभावे दृष्टान्तं पूर्वोक्तं स्मारयति—**घटाकाशेति** ॥ २३७ ॥

एवं भेदस्य मिथ्यात्वसमर्थनेन किं फलमित्याह—

यदद्वैतमिति । 'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' (छा० ६।२।१) इति श्रुतौ यदद्वितीयं ब्रह्म प्रतिपादितं, तदेव कालत्रयेऽप्यबाध्यत्वेन वास्तवं, न भेद इति भावः । कुतस्तर्हि सर्वैर्भेदाभिनिवेशः क्रियत इत्यत आह—**वृथा मायेति** । तत्त्वज्ञानरहितत्वादभिनिवेशं कुर्वन्तीति भावः ॥ २३८ ॥

एवं जीवेश्वरादिभेदस्य मायिकत्वेनेन्द्रजालवदुपपादितं मिथ्यात्वं रूपकेणोपसंहरति—**मायेति** ॥ २३६ ॥

नन्वेवमपि कूटस्थब्रह्मणोर्भेदस्तु तदवस्थ एवेति कथमद्वैतकैवल्यसिद्धिरित्यत आह—**कूटस्थेति** ॥ २३७ ॥

एवं च त्रैकालिकत्वोपलक्षिताद्वैतात्मलाभ एव संपद्यत इत्याह **यदद्वैतमिति** । "सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्" इति छांदोग्य इत्यार्थिकम् । नन्वेवं तर्हि कस्य संसार इत्यात्राऽऽह—**वृथेत्यादि**विशेषेण । वृथा स्वतः सत्ताशून्यत्वेन मिथ्याभूता एतादृशी या माया मूलाविद्या साऽखिलं सम्पूर्णं जगज्जीवनिकुरम्बं वृथा व्यर्थमेव भ्रामयत्यद्वैतात्मन्यपि द्वैतसत्यत्वबुद्ध्या स्वर्गनरकादिषु पर्यावर्तयतीत्यपि वृथेवेति वृथापदा-

ये वदन्तीत्थमेतेऽपि भ्राम्यन्तेऽविद्ययाऽत्र किम् ।
न यथापूर्वमेतेषामत्र भ्रान्तेरदर्शनात् ।। २३९ ।।
ऐहिकामुष्मिकः सर्वः संसारो वास्तवस्ततः ।
न भाति नास्ति चाद्वैतमित्यज्ञानिविनिश्चयः ।। २४० ।।
ज्ञानिनो विपरीतोऽस्मान्निश्चयः सम्यगीक्ष्यते ।
स्वस्वनिश्चयतो बद्धो मुक्तोऽहं चेति मन्यते ।। २४१ ।।

ननु प्रपञ्चस्य मायामयत्वं तत्त्वस्याद्वितीयत्वं च ये वर्णयन्ति तेऽपि संसारवन्तो दृश्यन्ते, अतस्तत्त्वज्ञानेन किं प्रयोजनमिति शङ्कते—

ये वदन्तीति । कर्मवशात्केषाञ्चितद्व्यवहारे सत्यपि पूर्ववदभिनिवेशाभावान्नैवमिति परिहरति—**न यथेति** ।। २३९ ।।

ज्ञानिनां भ्रान्त्यभावं दर्शयितुं अज्ञानिनां निश्चयं तावदाह—

ऐहिकेति । इह लोके भव ऐहिकः पुत्रकलत्रादिपोषणरूपः, अमुष्मिन्परलोके भव आमुष्मिकः स्वर्गसुखाद्यनुभवरूपः ।। २४० ।।

तत्त्वविनिश्चयस्य ततो वैलक्षण्यं दर्शयति—

ज्ञानिनामिति । अद्वैतं पारमार्थिकं भाति च संसारस्त्वपारमार्थिक इति निश्चय इत्यर्थः । ततः किमित्याशङ्क्य, स्वस्वनिश्चयानुसारेण फलं भवतीत्याह—**स्वस्वेति** ।। २४१ ।।

वृत्त्या योजनीयम् । तेन प्रतिज्ञाताद्वैतेन शङ्कावकाशलेशोऽपीति दिक् । अन्यथा मायायां तत्कर्तृकभ्रमणे जगति चामिथ्यात्वापत्तेः ।। २३८ ।।

एवं सिद्धान्तवादिनोऽपि मायया भ्राम्यन्त एवातः किं ब्रह्मविद्ययेत्याशङ्क्य समाधत्ते—**य इति** । तत्र हेतुः—**यथापूर्वमित्यादिशेषेण** । अत्र दृश्यमिथ्यात्वे अद्वैतात्मत्वे च ।। २३९ ।।

अथोक्तं ज्ञानिभ्रान्त्यदर्शनं विशदयितुमज्ञभ्रान्तिमनुवदति—**ऐहिकेति** ।। २४० ।।

ज्ञानिनां निश्चयस्तु प्रमारूपत्वादुक्तनिश्चयाद्विपरीत एवेत्याह—**ज्ञानिनामिति** । द्वैतरूपः सर्वोऽपि संसारो मृगजलवन्मृषैव । अद्वैतसच्चिदानन्दं ब्रह्मैवाहमित्याकार इत्यर्थः । ततः किं तदाह— **स्व स्वेति** ।। २४१ ।।

नाद्वैतमपरोक्षं चेन्न चिद्रूपेण भासनात् ।
अशेषेण न भातं चेद्द्वैतं किं भासतेऽखिलम् ।। २४२ ।।
दिङ्मात्रेण विभानं तु द्वयोरपि समं खलु ।
द्वैतसिद्धिवदद्वैतसिद्धिस्ते तावता न किम् ।। २४३ ।।
द्वैतेन हीनमद्वैतं द्वैतज्ञाने कथं त्विदम् ।
चिद्भानं त्वविरोध्यस्य द्वैतस्यातोऽसमे उभे ।। २४४ ।।

अद्वैतं भातीत्युक्तिः शास्त्रत एव, नानुभवतः; अतो न तन्निश्चय इति शङ्कते—

नाद्वैतमिति । अनुभवागोचरत्वमसिद्धमिति परिहरति—**न चिद्रूपेणेति** । 'घटः स्फुरति, पटः स्फुरति' इति घटादिष्वनुस्यूतस्फुरणरूपेण भानादित्यर्थः । ननु चिद्रूपत्वस्य भानेऽपि तत्कात्स्न्र्येन न प्रतीयत इति शङ्कते—**अशेषेणेति** । साकल्येन भानाभावो द्वैतेऽपि समान इत्याह—**द्वैतं किमिति** ।। २४२ ।।

एवं दोषसाम्यमभिधाय परिहारसाम्यमाह—

दिङ्मात्रेणेति । दिङ्मात्रेणैकदेशेन, द्वयोर्द्वैताद्वैतयोरित्यर्थः । एतावता कथं परिहारसाम्यमित्याशङ्क्याह—**द्वैतसिद्धिवदिति** । ते तव पक्षे तावता एकदेशप्रतीतिसद्भावेन द्वैतसिद्धिवत् द्वैतनिश्चय इव अद्वैतसिद्धिरद्वैतनिश्चयोऽपि किं न भवति ? किंतु भवत्येवेत्यर्थः ।। २४३ ।।

पूर्ववादी प्रकारान्तरेणाद्वैतासिद्धिं शङ्कते—

द्वैतेनेति । अद्वैतं द्वैतरहितं तयोः परस्परविरोधात्तथा सति द्वैतप्रतीतावद्वैतं न सम्भवतीत्यर्थः । ननु तर्हि द्वैतस्याप्यद्वैतविरोधित्वादद्वैते प्रतिभा-

ननु शाब्दज्ञानसत्त्वेऽपि तेषामपरोक्षज्ञानाभावान्न मोक्षः सम्भवतीत्यत्राह—नेति । तत्राप्यांशिकत्वमाशङ्क्य प्रतिबन्द्या समाधत्ते—**अशेषेणेति** ।। २४२ ।।

अथ गूढाभिसन्धिरेव सिद्धान्ती दोषसाम्यवत्समाधानसाम्यमप्यभिधत्ते—**दिङ्मात्रेणेति** ।। २४३ ।।

पुनरपि पूर्ववादी भङ्ग्यन्तरेण शङ्कते—**द्वैतेनेति** । तव ज्ञानिनोऽद्वैतं ब्रह्म तु द्वैतेन हीनमिति निर्विवादमेव । अतोऽस्मदादिप्रतिवाद्यादिरूपद्वैतविषयकज्ञाने सतीदमुक्तलक्षणमद्वैतं ब्रह्म कथं सिध्येन्न कथमपीत्यन्वयः । एवं तर्हि द्वैतमपि चिद्भानरूपमद्वैतं

एवं तर्हि शृणु द्वैतमसन्मायामयत्वतः ।
तेन वास्तवमद्वैतं परिशेषाद्विभासते ।। २४५ ।।

अचिन्त्यरचनारूपं मायैव सकलं जगत् ।
इति निश्चित्य वस्तुत्वमद्वैते परिशेष्यताम् ।। २४६ ।।

पुनर्द्वैतस्य वस्तुत्वं भाति चेत्त्वं तथा पुनः ।
परिशीलय को वात्र प्रयासस्तेन ते वद ।। २४७ ।।

समाने द्वैतस्यासिद्धिरिति चोद्यं समानमित्याशङ्क्याह पूर्ववादी–**चिद्भानं त्विति** । भवन्मते चिद्रूपप्रतीतेरेवाद्वैतप्रतीतित्वात्तस्याश्च द्वैतविरोधित्वाभावान्नोभयोः साम्यमिति भावः ।। २४४ ।।

प्रतीयमानस्यापि द्वैतस्य वास्तवत्वाभावान्न वास्तवाद्वैतविघातित्वमिति परिहरति सिद्धान्ती—

एवमिति । प्रसक्तप्रतिषेधेऽन्यत्राप्रसङ्गाच्छिष्यमाणे सम्प्रत्ययः परिशेषः ।। २४५ ।।

परिशेषप्रकारमेव दर्शयति—

अचिन्त्येति । न चिन्त्या अचिन्त्या, अचिन्त्या रचना रूपं यस्य तत्तथाविधं सकलं जगत् मायैव मिथ्यैवेत्यनेन प्रकारेणानिर्वचनीयत्वान्मिथ्यात्वं द्वैतस्य निश्चित्य वास्तवमद्वैतं परिशेष्यतामित्यर्थः ।। २४६ ।।

नन्वेवमद्वैतनिश्चये कृतेऽपि पुनःपुनर्द्वैतसत्यत्वं पूर्ववासनया भातीत्याशङ्क्य, तन्निवृत्तये पुनः पुनर्मिथ्यात्वं विचारयेदित्याह—

पुनर्द्वैतस्येति । 'आवृत्तिरसकृदुपदेशात्' (ब्र० सू० ४।१।१) इति चतुर्थाध्याये आत्मनः श्रवणाद्यावर्तनस्य विहितत्वाद्व्यासेनेति भावः ।।२४७।।

विहाय कथं, भानादित्याशङ्क्य तस्य द्वैताविरोधित्वान्नैवमित्याह—**चिद्भानं त्विति** । अत उभे द्वैताद्वैतभाने असमे नैव तुल्ये इत्यर्थः ।। २४४ ।।

अथ सिद्धान्ती स्वगूढाभिसन्धिमुद्बोधयन्त्समाधत्ते–**एवं तर्हीति** । परिशेषादसतो मिथ्याभूतस्य द्वैतस्य मायामयत्वेन बाधे सत्यवधिभूताधिष्ठानत्वोपलक्षितत्वेनावशेषादित्यर्थः ।। २४५ ।।

तत्प्रकारमेव प्रकटयति—**अचिन्त्येति** ।। २४६ ।।

एवं मुमुक्षुं शिष्यं प्रति द्वैतबाधाद्वैतपरिशेषप्रकारे समुपदिष्टेऽपि पुनरपि प्राक्तनसंस्काराद्द्वैतवस्तुत्वं परिस्फुरति चेत्तथैव पुनरपि बाधाद्यनुसंधाने का तव क्षतिरित्याह–**पुनरिति** ।। २४७ ।।

कियन्तं कालमिति चेत्खेदोऽयं द्वैत इष्यताम् ।
अद्वैते तु न युक्तोऽयं सर्वानर्थनिवारणात् ॥ २४८ ॥
क्षुत्पिपासादयो दृष्टा यथापूर्वं मयीति चेत् ।
मच्छब्दवाच्येऽहङ्कारे दृश्यन्तां नेति को वदेत् ॥ २४९ ॥
चिद्रूपेऽपि प्रसज्येरंस्तादात्म्याध्यासतो यदि ।
माऽध्यासं कुरु किन्तु त्वं विवेकं कुरु सर्वदा ॥ २५० ॥
झटित्यध्यास आयाति दृढवासनयेति चेत् ।
आवर्तयेद्विवेकं च दृढं वासयितुं सदा ॥ २५१ ॥

कियन्तं कालमित्थं विचारणीयमित्याशङ्क्य, 'तत्रापरोक्षविद्याप्तौ विचारोऽयं समाप्यते' (प्र० ६।१५) इति विचारकालावधेरुक्तत्वान्नाद्वैत-विचारेऽयं खेदो युक्तः, किन्तु द्वैतप्रतिभास एव युक्त इत्याह—

कियन्तमिति ॥ २४८ ॥

नन्वेवमद्वैतात्मतत्त्वापरोक्षज्ञानवत्यपि मयि क्षुत्पिपासानर्थस्य परिदृश्य-मानत्वादनर्थनिवारकत्वमात्मज्ञानस्यासिद्धमिति शङ्कते—

क्षुत्पिपासादय इति । किं मच्छब्दवाच्येऽहङ्कारे दृश्यन्ते, उत मच्छब्दो-पलक्षिते चिदात्मनि ? इति विकल्प्य, आद्यमङ्गीकरोति—**मच्छब्दवाच्य इति** । न द्वितीयः; तस्यासङ्गत्वादविषयत्वाच्चेति बहिरेव द्रष्टव्यम् ॥२४९॥

वस्तुतस्तत्प्रतीत्यभावेऽपि भ्रान्त्या तत्प्रसक्तिः स्यादिति शङ्कते—

चिद्रूपेऽपीति । एवं तर्ह्यनर्थहेतोरध्यासस्य निवृत्तये सदा विवेकः क्रियतामित्याह—**माऽध्यासमिति** ॥ २५० ॥

अनादिवासनावशात्पुनरध्यासागमने तन्निवृत्तये विवेक एवावर्तनीयः, नोपायान्तरमित्याह—

झटितीति ॥ २५१ ॥

एवं कियत्कालमनुसंधानावर्तनं कर्तव्यमित्यत्राऽऽह—**कियन्तमिति** ॥ २४८ ॥
पुनरप्यनुभवविरोधं शङ्कते—**क्षुदिति** । विषयविभेदेन समाधत्ते—**यच्छब्देति** ॥ २४९ ॥
नन्वथापि तेऽध्यासवशादात्मन्यपि भान्तीत्यत आह—**चिद्रूपेऽपीति** ॥ २५० ॥
संस्कारदार्ढ्याच्छीघ्रमध्यासागममाशङ्क्याऽऽह—**झटितीति** ॥ २५१ ॥

विवेके द्वैतमिथ्यात्वं युक्त्यैवेति न भण्यताम् ।
अचिन्त्यरचनात्वस्यानुभूतिर्हि स्वसाक्षिकी ।। २५२ ।।
चिदप्यचिन्त्यरचना यदि तर्ह्यस्तु नो वयम् ।
चितिं सुचिन्त्यरचनां ब्रूमो नित्यत्वकारणात् ।। २५३ ।।
प्रागभावो नानुभूतश्चितेर्नित्या ततश्चितिः ।
द्वैतस्य प्रागभावस्तु चैतन्येनानुभूयते ।। २५४ ।।

ननु विचारेण द्वैतस्य मायामयत्वं युक्त्यैव सिध्यति, नानुभवत इत्याशङ्क्य, अचिन्त्यरचनात्वलक्षणमिथ्यात्वानुभवस्य स्वसाक्षिकत्वान्मैवमिति परिहरति—

विवेक इति ।। २५२ ।।

नन्वचिन्त्यरचनात्वं मिथ्यात्वपदार्थलक्षणमुक्तं चिदात्मन्यतिव्याप्तमिति शङ्कते—

चिदपीति । प्रागभावयुक्तत्वे सति अचिन्त्यरचनात्वं मिथ्यात्वलक्षणमिति विवक्षुरचिन्त्यरचनात्वमात्मनोऽङ्गीकरोति—**तर्ह्यस्त्विति** । एवमङ्गीकारेऽपसिद्धान्त इत्याशङ्क्य, परिहरति—**नो वयमिति** । तत्र हेतुमाह—वयं चितिं सुचिन्त्यरचनां नो ब्रूम इति योजना ।। २५३ ।।

चितेर्नित्यत्वं कुत इत्याशङ्क्य, प्रागभावानुभवाभावादित्याह—

प्रागभाव इति । यतश्चितेः प्रागभावो नानुभूतस्ततो नित्येति योजना । इदमत्राकूतम् । चितेः प्रागभावोऽस्तीति वदन् प्रष्टव्यः—चित्प्रागभावः किं चिताऽनुभूयते, उतान्येन ? नान्येन; तदन्यस्य जडत्वेनानुभवितृत्वानुपपत्तेः । चिताऽनुभूयत इत्यपि पक्षे,—किं चिदन्तरेण, उत स्वेनैव ? नाद्यः; अद्वैतवादे चिदन्तरस्यैवाभावात्, तत्स्वीकारेऽपि चित्प्रतियोगिकस्य अभावस्य

तत्राप्यनुभावमाशङ्क्य प्रत्याचष्टे– **विवेक इति** ।। २५२ ।।

तत्रापि प्रतिवादी पुनः प्रतिबन्द्या शङ्कते–**चिदपीति** । **गूढाभिसन्धिः** । सिद्धान्ती तामङ्गीकरोति—**तर्हीत्यादिना** । तमेवाभिसन्धिं प्रबोधयन्नङ्गीकारे हेतुं प्रकटयति—**नित्यत्वेति** । नित्यत्वरूपाद्धेतोरित्यर्थः ।। २५३ ।।

एवं तर्ह्यस्त्वचिन्त्यरचनात्वादेव द्वैतमपि नित्यमित्यत आह—**प्रागिति** । **द्वैते**

प्रागभावयुतं द्वैतं रच्यते हि घटादिवत् ।
तथापि रचनाऽचिन्त्या मिथ्या तेनेन्द्रजालवत् ॥ २५५ ॥
चित्प्रत्यक्षा ततोऽन्यस्य मिथ्यात्वं चानुभूयते ।
नाद्वैतमपरोक्षं चेत्येतन्न व्याहतं कथम् ॥ २५६ ॥

चिद्ग्रहणमन्तरेण ग्रहीतुमशक्यत्वात्, तस्या अपि गृह्यमाणत्वे घटादिवदचित्त्वापत्तेः। नापि द्वितीयः; स्वाभावस्य स्वेन ग्रहीतुमशक्यत्वादिति । ननु द्वैतस्य प्रमात्रादिभेदरूपत्वात् तदभावस्य च तेनैवानुभवितुमशक्यत्वात् तदनुभवित्रन्तराभावाच्च चैतन्यवदेव द्वैतस्यापि नित्यत्वापत्तिरित्याशङ्क्य, अनुभवित्रन्तराभावोऽसिद्ध इति परिहरति—**द्वैतस्येति** । जाग्रदादिद्वैताभावस्य सुषुप्तौ साक्षिणानुभूयमानत्वात् 'तमसः साक्षी सर्वस्य साक्षी' (नृ० उ० २) इति श्रुतेश्चेति भावः ॥ २५४ ॥

एवं च प्रागभावयुतत्वे सत्यचिन्त्यरचनात्वस्य मिथ्यात्वलक्षणस्य सद्भावाद्द्वैतमिथ्यात्वं सिद्धमित्याह—

प्रागभावेति । प्रागभावयुतमिति हेतुगर्भितं विशेषणम् । द्वैतं प्रागभावयुतत्वात् घटादिवद्रच्यते हि तथापि रच्यमानत्वेऽपि तस्य द्वैतस्य रचनाऽचिन्त्या । तेन रच्यमानत्वे सति अचिन्त्यरचनात्वेन ऐन्द्रजालिकप्रासादवन्मिथ्येत्यर्थः ॥ २५५ ॥

चितिस्तावत्स्वप्रकाशत्वेन नित्याऽपरोक्षा च भासते, चिद्व्यतिरिक्तस्य च मिथ्यात्वं तयैव चितानुभूयत इति दर्शितं, एवं च सति अद्वैतस्यापरोक्षत्वं नास्तीति वदतो व्याघातश्च स्यादित्याह—

चित्प्रत्यक्षेति । चिद्रूपेण भासनादित्यभिहितयुक्तिसमुच्चयार्थश्चशब्दः । अद्वैतमपरोक्षं नेत्येतत्कथं न व्याहतं? किं तु व्याहतमेव चेति योजना।२५६।

हेत्वसिद्धिमाह— **द्वैतस्येति** । अनादिभिन्नद्वैतस्येत्यर्थः । यद्वा द्वैताविर्भावस्येति यावत् । तेनानादौ नाव्याप्तिरिति रहस्यम् ॥ २५४ ॥

फलितमाह—**प्रागभावेति** ॥ २५५ ॥

नन्वेवं द्वैतस्य मिथ्यात्वं तावद्विमतं मिथ्याऽचिन्त्यरचनात्वादिन्द्रजालवदिति युक्त्यैव सिध्यति नानुभूत्येत्यत्राऽऽह—**चिदिति**। ततश्चितः सकाशादन्यस्य भिन्नस्य नामरूपात्मकस्य निखिलद्वैतजालस्येत्यर्थः । मिथ्यात्वधिया पृथक्कारे सत्ताप्रकाशराहित्येन स्वरूपोपमर्दात्स्वतःसत्ताशून्यत्वं चानुभूयते स्वप्रकाशचितैव विषयीक्रियत इत्यर्थः । ततः

इत्थं ज्ञात्वाऽप्यसन्तुष्टाः केचित्कुत इतीर्यताम् ।
चार्वाकादेः प्रबुद्धस्याप्यात्मा देहः कुतो वद ।। २५७ ।।

सम्यग्विचारो नास्त्यस्य धीदोषादिति चेत्तथा ।
असंतुष्टास्तु शास्त्रार्थं न त्वैक्षन्त विशेषतः ।। २५८ ।।

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः ।
इति श्रौतं फलं दृष्टं नेति चेद्दृष्टमेव तत् ।। २५९ ।।

एवं वेदान्तार्थं जानतामपि पुरुषाणां केषाञ्चिदत्र विश्वासः कुतो न जायत इति पृच्छति—

इत्थमिति । सम्यग्विचारशून्यत्वादिति विवक्षुः प्रतिबन्दीं गृह्णाति— चार्वाकादेरिति । 'आदि'शब्देन पामरा गृह्यन्ते । प्रबुद्धस्य ऊहापोह-कुशलस्य ।। २५७ ।।

प्रतिबन्दीमोचनं शङ्कते—

सम्यगिति । साम्येन समाधत्ते—तथेति । धीदोषादित्यनुषज्यते । 'तु'शब्द एवशब्दार्थः ।। २५८ ।।

इत्थं तत्त्वं विचार्य, तज्जन्यतत्त्वाज्ञानफलं विचारयितुं तत्प्रतिपादिकां श्रुतिं (मुण्ड० २।२) पठति

यदेति । 'अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते' (बृ० ४।४।७) इति अस्य मन्त्रस्योत्तरार्धम् । अस्य मुमुक्षोर्हृदि श्रिता ये कामास्तादात्म्या-ध्यासमूला इच्छादयः सन्ति, ते सर्वे यदा यस्मिन्काले प्रमुच्यन्ते तत्त्वज्ञाने-नाध्यासनिवृत्तौ निवर्तन्ते, अथ तदानीमेव मर्त्यः पूर्वदेहतादात्म्याध्यासेन मरणशीलः पुरुषः अमृतः अध्यासाभावेन तद्रहितो भवति । तत्र हेतुमाह— अत्र ब्रह्म समश्नुते इति । अत्रास्मिन्नेव देहे ब्रह्म सत्यादिलक्षणं समश्नुते सम्यगाप्नोतीत्यस्याः श्रुतेरर्थः । ननु श्रुत्या प्रतिपादितं फलं कामनिवृत्त्यादि-

कि तदाह—नाद्वैतमिति । एवं च यदुच्यते भेदवादिभिरद्वैतमपरोक्षं न भवतीति तत्कथं न खण्डितं स्यादिति सम्बन्धः ।। २५६ ।।

नन्वेवं परोक्षतः शास्त्रार्थज्ञा अप्यत्र केचित्कथमसंतुष्टा इत्याशङ्क्य समाधत्ते— इत्थमिति । तथा चात्र दूरदृष्टप्रतिबन्ध एव हेतुरित्याकूतम् ।। २५७ ।।

प्रतिबन्दीमोचनं प्रकटयति—सम्यगिति । प्रकृतेऽपि तत्तौल्यमेवेत्याह—असंतुष्टास्त्विति ।। २५८ ।।

यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते हृदयग्रन्थयस्त्विति ।
कामा ग्रन्थिस्वरूपेण व्याख्याता वाक्यशेषतः ।। २६० ।।
अहंकारचिदात्मानावेकीकृत्याविवेकतः ।
इदं मे स्यादिदं मे स्यादितीच्छाः कामशब्दिताः ।। २६१ ।।
अप्रवेश्य चिदात्मानं पृथक्पश्यन्नहंकृतिम् ।
इच्छंस्तु कोटिवस्तूनि न बाधो ग्रन्थिभेदतः ।। २६२ ।।

लक्षणं नानुभवसिद्धं, किन्तु शाब्दमेवेति शङ्क्यते—इति श्रौतमिति । समनन्तरश्रुतिवाक्यतात्पर्यालोचनया तस्य दृष्टत्वं सिध्यतीत्यभिप्रायेण परिहरति—**दृष्टमेव तदिति** ।। २५९ ।।

तस्य दृष्टत्वस्पष्टीकरणाय तद्वाक्यशेषमुदाहृत्य तस्यार्थमाह—

यदा सर्व इति । अनेन वाक्यशेषेण कामप्रमोकस्य ग्रन्थिभेदत्वेन व्याख्यातत्वात् ग्रन्थिभेदस्य अहंकारचिदात्मनोस्तादात्म्याध्यासनिवृत्तिलक्षणस्यानुभवसिद्धत्वान्नाप्रत्यक्षतेति भावः । 'वाक्यशेषतः' इत्यनेन वाक्येनेत्यर्थः ।। २६० ।।

ननु लोके कामशब्देनेच्छाभेद एवोच्यते । अतः कथं तस्य ग्रन्थित्वेन व्याख्यानमित्याशङ्क्य, अध्यासमूलस्यैव इच्छाविशेषस्य 'काम'शब्दवाच्यत्वं, नेच्छामात्रस्येत्याह—

अहंकारेति ।। २६१ ।।

नन्वध्यासमूलस्यैव कामस्य त्याज्यत्वे सति इतरोऽभ्युपेतव्यः स्यादित्याशङ्क्य, बाधकत्वाभावादभ्युपेयत एवेत्याह—

अप्रवेश्येति । अहंकारे चिदात्मानमप्रवेश्य, तादात्म्याध्यासेनानन्तर्भाव्येत्यर्थः ।। २६२ ।।

नन्वेवमपि तत्त्वज्ञानफलं श्रुत्युक्तं तत्त्वविदि न दृश्यत इत्याशङ्क्य समाधत्ते—**यदेति** ।। २५९ ।।

तदुपपादयति—**यदा सर्वं इति** ।। २६० ।।

नन्वेवमपि किं ग्रन्थेरेवाऽऽदौ स्वरूपमित्यत आह—**अहंकारेति** । चिदाभासकूटस्थावित्यर्थः । अविवेकतः परस्पराध्यासात् । एवं ग्रन्थिमुक्त्वा तन्मूलकं कामपदार्थमाह—**इदं मे स्यादिति** ।। २६१ ।।

ततः किं तत्राऽऽह— **अप्रवेश्येति** । अहङ्कारं तदवच्छिन्नचिदाभासम् । चिदात्मानं

ग्रन्थिभेदेऽपि सम्भाव्या इच्छाः प्रारब्धदोषतः ।
बुद्ध्वापि पापबाहुल्यादसंतोषो यथा तव ।। २६३ ।।
अहंकारगतेच्छाद्यैर्देहव्याध्यादिभिस्तथा ।
वृक्षादिजन्मनाशैर्वा चिद्रूपात्मनि किं भवेत् ।। २६४ ।।
ग्रन्थिभेदात्पुराप्येवमिति चेत्तन्न विस्मर ।
अयमेव ग्रन्थिभेदस्तव तेन कृती भवान् ।। २६५ ।।

नन्वध्यासाभावे कामानामनुदय एव स्यादित्याशङ्क्य, आरब्धकर्मवशात्तेषामुत्पत्तिः संभविष्यतीत्याह—

ग्रन्थिभेदेऽपीति । अत्र दृष्टान्तमाह **बुद्ध्वापीति** ।। २६३ ।।

अध्यासाभावेऽहंकारगतेच्छादेरबाधकत्वं दृष्टान्तद्वयप्रदर्शनेन विशदयति—**अहंकारेति** । यथा देहगतव्याध्यादिभिः अहंकारसाक्षिणो बाधो नास्ति; देहसंबन्धरहितत्वात्, यथा वृक्षादिगतजन्मादिभिः एवमध्यासनिवृत्तावहङ्कारगतेच्छादिभिरपीति भावः ।। २६४ ।।

चिदात्मनोऽसङ्गत्वस्यैकरूपत्वात् पूर्वमपि कामादिबाधो नास्तीति शङ्कते—

ग्रन्थिभेदादिति । एवंविधबोधस्यैव ग्रन्थिभेदत्वेन अस्माभिरभिधीयमानत्वादिदं चोद्यमस्मदनुकूलमित्याह—**तन्न विस्मरेति** ।। २६५ ।।

कूटस्थं प्रत्यप्रवेश्य मूलाज्ञानप्रयुक्ततादात्म्यादन्योन्याध्यासेनानैकीकृत्येत्यर्थः । अत एव । पृथक्कूटस्थात्सकाशाद्भिन्नं पश्यन्सत्तादिशून्यत्वेन मिथ्याभूतमनुसंदधानः सन्तु पुनः कोटिवस्तूनि तदभिलषणीयत्वेन संस्कारादिच्छन्नपि यस्तत्त्वज्ञो भवति तस्य निरुक्तग्रन्थिभेदतः कोऽपि बाधो नास्तीति सम्बन्धः ।। २६२ ।।

नन्वेवं चेत्काम एव न स्यादित्याशङ्क्याह—**ग्रन्थिभेदेऽपीति** । तत्र तमेव प्रतिवादिनं दृष्टान्तं करोति । **बुद्ध्वापीति** ।। २६३ ।।

नन्वेवमप्यहङ्कारप्रतिबिम्बितचिदाभासगतेच्छाद्यैः कूटस्थस्याऽऽत्मनः साक्षित्वं तु स्यादेवेत्याशङ्क्य नैतावता कश्चिद्बाध इति सदृष्टान्तद्वयं स्पष्टयति—**अहङ्कारेति** ।। २६४ ।।

इदं तु ग्रन्थिभेदतः प्रागपीति चेदयमेवग्रन्थिभेद इति सन्तोषयति—**ग्रन्थीति** ।। २६५ ।।

नैवं जानन्ति मूढाश्चेत्सोऽयं ग्रन्थिर्न चापरः ।
ग्रन्थितद्भेदमात्रेण वैषम्यं मूढबुद्धयोः ॥ २६६ ॥
प्रवृत्तौ वा निवृत्तौ वा देहेन्द्रियमनोधियाम् ।
न किञ्चिदपि वैषम्यमस्त्यज्ञानिविबुद्धयोः ॥ २६७ ॥
व्रात्यश्रोत्रिययोर्वेदपाठापाठकृता भिदा ।
नाहारादावस्ति भेदः सोऽयं न्यायोऽत्र योज्यताम् ॥२६८॥
न द्वेष्टि सम्प्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति ।
उदासीनवदासीन इति ग्रन्थिभिदोच्यते ॥ २६९ ॥

एवंविधज्ञानाभाव एव ग्रन्थिरित्याह—

नैवमिति । ननु ज्ञानिनोऽपीच्छाभ्युपगमे ज्ञान्यज्ञानिनोः कुतो वैलक्षण्यमित्याशङ्क्य, ग्रन्थिभेदाभेदातिरेकेण न कुतोऽपीत्याह—**ग्रन्थितद्भेदेति** ॥ २६६ ॥

कारणान्तराभावमेव विशदयति—

प्रवृत्ताविति ॥ २६७ ॥

उक्तार्थे दृष्टान्तमाह—

व्रात्येति ॥ २६८ ॥

ज्ञानिनो ग्रन्थिशून्यत्वे गीतावाक्यं (अ० १८।१०) प्रमाणयति—

न द्वेष्टीति । संप्रवृत्तानि प्राप्तानि दुःखानि न द्वेष्टि । निवृत्तानि सुखानि न काङ्क्षति, उदासीनवद्वर्तत इत्यर्थः । ग्रन्थिभिदा ग्रन्थिभेदः ॥ २६९ ॥

इच्छादिकमखिलं चिदाभासनिष्ठमेव न तु तत्साक्षित्वोपलक्षितकूटस्थात्मनिष्ठमिति मूढा नैव किमपि जानन्ति चित्रमेतदिति शिष्यः श्रीगुरुं प्रति प्रोत्साहादाह—**नैवमिति** । ततः श्रीगुरुः पुनर्बोधदृढीकारार्थं ग्रन्थित्वं तत्रैवोक्ताविवेके विधत्ते-सोऽयमिति । फलितमाह—**ग्रन्थितद्भेदेति** ॥ २६६ ॥

ननु मात्रचा धर्मान्तरव्युदासः कृतः स कथमुपपद्यते लोकादौ प्रवृत्तनिवृत्तयोर्धर्मभेदादित्यत्राऽऽह—**प्रवृत्तौ वेति** ॥ २६७ ॥

तत्र दृष्टान्तं स्पष्टयति—**व्रात्येति** ॥ २६८ ॥

ननु किमत्र मानमित्यत आह—**न द्वेष्टीति** । इति निरुक्तभगवद्वाक्येनैव ॥ २६९ ॥

औदासीन्यं विधेये चेद्वच्छब्दव्यर्थता तदा ।
न शक्ता अस्य देहाद्या इति चेद्रोग एव सः ।। २७० ।।

तत्त्वबोधं क्षयं व्याधिं मन्यन्ते ये महाधियः ।
तेषां प्रज्ञाऽतिविशदा किं तेषां दुःशकं वद ।। २७१ ।।

भरतादेरप्रवृत्तिः पुराणोक्तेति चेत्तदा ।।
जक्षन्क्रीडन्रतिं विन्दन्नित्यश्रौषीर्न किं श्रुतिम् ।। २७२ ।।

इदं वाक्यमौदासीन्यविधिपरं, नतु ग्रन्थिभेदे प्रमाणमिति शङ्कते—**औदासिन्यमिति** । विधिपरत्वे वच्छब्दो व्यर्थः स्यादिति परिहरति—**वच्छब्देति** । ज्ञानिदेहादेरकार्यक्षमत्वादप्रवृत्तिः, नतु ग्रन्थिभेदादित्याशङ्क्योपहसति—**न शक्ता इति** ।। २७० ।।

भवतु, को दोषस्तत्राह—
तत्त्वबोधमिति । दुःशकमसाध्यमित्यर्थः ।। २७१ ।।

नन्वस्थाने परिहासोऽयं, ज्ञानिनां प्रवृत्त्यभावस्य पुराणसिद्धत्वादिति शङ्कते—

भरतादेरिति । श्रुतिमजानानश्चोदयसीति परिहरति—**जक्षन्निति** । 'जक्षन् क्रीडन् रममाणः स्त्रीभिर्वा यानैर्वा ज्ञातिभिर्वा वयस्यैर्वा नोपजनं स्मरन्निदं शरीरम्' (छा० ८।१२।३) इति श्रौतं वाक्यं नाश्रौषीरित्यर्थः । जक्षन् भक्षन् । 'जक्ष भक्ष हसनयोः' इति धातुः । क्रीडन् स्वेच्छया विहरन्, रममाणः स्त्र्यादिभिर्नोपजनं स्मरन्निदं शरीरमित्युपजनं जनानां समीपे वर्तमानमिदं स्वशरीरं न स्मरन्नानुसंदधान इत्यर्थः । श्लोके रतिं विन्दन्निति श्रौतस्य 'रममाण' इति पदस्य व्याख्यानम् ।। २७२ ।।

नन्वथापि सर्वदौदासीन्यं त्वद्वैतात्मबोधोत्तरमपि कर्तव्यमेवेत्याशङ्क्य समाधत्ते—**औदासीन्यमिति** । सर्वदृश्येऽपि मिथ्यात्वबोधाच्चित्रचञ्चलविलोचनालिङ्गनादौ देहादेः प्रवृत्त्यभाव इवाद्वैतब्रह्मविदां देहादिस्तब्धीभाव एव भूयादित्याशङ्क्य सोपहासं समाधत्ते—**न शक्ता** इत्यादिसार्धेन । यदिदं चित्रचन्द्राननालिङ्गनप्रवृत्त्यभावनिदर्शनं प्रतिपादितं तत्रास्ति कश्चिद्विशेषः । चित्रे लिखिताकारातिरिक्तस्थूलाकाराभावादेव प्रवृत्त्यभावो न तु मिथ्यात्वबोधात् । अन्यथा सानुरागं भूयस्तदीक्षणप्रवृत्तिरपि न स्यात् । सा तु तत्सजातीयसमनुभूतकान्तास्मारकत्वेन मृषात्मकेऽपि तत्रास्त्येवेति रहस्यम् ।। २७० ।।

तत्त्वेति । क्षयमिति व्याधिविशेषणम् ।। २७१ ।।

ननु तत्त्वज्ञानिनां जडभरतादीनां प्रवृत्त्यभावस्य पुराणादौ सुप्रसिद्धत्वात्कथ-

मुक्तोपहासः समुचित इति शङ्कसे चेत्तन्न। तत्तात्पर्यस्य त्वयैवाज्ञातत्वादिति गूढाभिसन्धिः प्रतिबन्दीमाह—भरतादेरिति। आदिनर्षभदेवादिः। जक्षदिति। तथा छांदोग्येऽष्टमाध्याये प्रजापतिविद्यायां समाम्नायते—जक्षन् क्रीडन् रमाणः स्त्रीभिर्वा यानैर्वा ज्ञातिभिर्वा नोपजनं स्मरन्निदं शरीरमिति। अस्या अर्थस्तु मूलकृद्भिरेवाभिहितोऽनुभूतिप्रकाशे—

"इन्द्रराजादिदेहेषु नाना स्वाद्यादि भक्षयन्।
बालैः साकं हसन्स्त्रीभिः कदाचिद्रमते सह॥
यानैः क्वापि ज्ञातिभिश्च सहितो मोदते खलु।
न कदाचित्स्मरत्येतद्वपुर्जनसमीपगम्॥
एतद्देहेन तादात्म्यभ्रान्त्या दुःखमभूत्पुरा॥
विवेकेन भ्रमेऽपेते तद्दुःखं नाद्य वीक्ष्यते॥
इन्द्रराजादिदेहेषु न तादात्म्यं पुराऽपि च।
अतो न तद्देहदुःखशङ्काऽप्यस्य तु विद्यते॥
सुखानि तद्देहगानि साक्षी सर्वाण्यवेक्षते।
साक्ष्यात्मत्वाभिमानी सञ्ज्ञानी तान्यभिमन्यते॥
दुःखान्यपीक्षते साक्षी तथाऽप्येतेषु तत्त्ववित्।
नाभिमानमुपादत्ते दुःखानां मायिकत्वतः॥
ब्रह्मानन्दस्य लेशाः स्युरानन्दा विषयोत्थिताः।
अतस्तत्त्वविदः पक्षपातो ह्येतेषु विद्यते॥
पुण्यमेवामुमाप्नोति न देवान्पापमाप्नुयात्।
इति श्रुत्यन्तरं ब्रूते सुखं सर्वात्मदर्शिनः॥
प्रजाः शोचन्ति यत्किञ्चित्तासामेव भवेदिदम्।
न सर्वात्मदृशोऽस्तीति प्राहैतदपि सा श्रुतिः॥
सर्वात्मत्वेऽपि देहादिदोषलेपो न मेऽस्ति हि।
अदृष्टा सूर्यता यद्वच्चण्डालादिस्पृगप्यसौ॥
ब्रह्माद्याः स्थावरान्ता ये प्राणिनो मम पूः स्मृताः।
कामक्रोधादयो दोषा जायेरन्मे कुतोऽन्यतः॥
इत्याचार्या ब्रह्मबोधकुशला अब्रुवन्पुरा।
सुखमात्रग्राहिणोऽज्ञ दृष्टान्ताः सन्त्यनेकशः॥
वृक्षे मधुकरः पुष्परसं गृह्णाति नेतरद्।
यतिर्भिक्षामुपादत्ते नाशौचं कस्यचिद्गृहे॥
मूर्खस्यापि सुखे पक्षपातोऽस्तीत्युच्यते यदि।
तर्हि तस्य प्रसिद्ध्यर्थं तत्त्वं सोऽप्यवगच्छतु॥

नह्याहारादि संत्यज्य भरताद्याः स्थिता क्वचित् ।
काष्ठपाषाणवत्किंतु सङ्गभीता उदासते ।। २७३ ।।
सङ्गी हि बाध्यते लोके निःसङ्गः सुखमश्नुते ।
तेन सङ्गः परित्याज्यः सर्वदा सुखमिच्छता ।। २७४ ।।
अज्ञात्वा शास्त्रहृदयं मूढो वक्त्यन्यथाऽन्यथा ।
मूर्खाणां निर्णयस्त्वास्तामस्मत्सिद्धान्त उच्यते ।। २७५ ।।

ननु तर्हि पुराणस्य का गतिरित्याशङ्क्य, पुराणमप्यौदासीन्यबोधनपरं न प्रवृत्त्यभावपरमित्यभिप्रेत्याह—

न ह्याहारादीति ।। २७३ ।।

सङ्गोऽपि कुतस्त्यजत इत्यत आह—

सङ्गी हीति ।। २७४ ।।

ननु तर्हि मानससङ्गस्यैव त्याज्यत्वेऽन्तःसङ्गशून्यानां बहिर्व्यवहरतामज्ञत्वादिकं जनैः कथमुच्यत इत्याशङ्क्य शास्त्रतात्पर्यज्ञानशून्यत्वादित्याह—

अज्ञात्वेति । अतो मूढव्यवहारो नात्र विचारणीय इत्याह—**मूर्खाणामिति** । तर्हि किमनुसन्धेयमित्याकाङ्क्षायां शास्त्रहृदयमित्याह—

अस्मत्सिद्धान्त इति ।। २७५ ।।

तत्त्वे बुद्धे स्वदेहेन तादात्म्यं न स्मरत्यसौ ।
तेन दुःखे विनष्टेऽथ सुखमेव सदेक्षते ।।" इति ।

न च नैतावताऽपि तत्त्वविदः प्रवृत्तिसाधनसिद्धिरिति वाच्यम् । सर्वसुखाभिमानप्रवृत्तेरेव सिद्धत्वात् । तस्मादुदासीनतौल्यं युक्तमेवेति ।। २७२ ।।

तदेवाऽऽह—**न हीति** ।। २७३ ।।

तत्र हेतुमाह—**संगी हीति** । बाध्यते पीड्यत इत्यर्थः । सुखं सार्वात्म्यानुसन्धानजन्यजीवन्मुक्तिसुखमित्यर्थः ।। २७४ ।।

नन्वत्र सङ्गपदेन देहाद्यध्यास एव स च मानस एव तथा चान्तस्तत्त्यागे सति बहिर्यथेच्छविहारेऽपि का क्षतिः । तथा चोक्तं **वासिष्ठसारे**—"अन्तस्त्यागी बहिः सङ्गी लोके विहर राघव" इति चेन्न । यथेष्टाचरणस्य द्वैतविवेक एव खण्डितत्वात् । उक्तवाक्ये बहिःसङ्गीपदेन बहिर्लोकसङ्ग्रहार्थं स्वस्ववर्णाश्रमाचारस्यैव तत्र राघवविहारोपदेशान्यथानुपपत्तिसिद्धत्वाच्चेत्याशयेनाऽऽह—**अज्ञात्वेति** ।। २७५ ।।

वैराग्यबोधोपरमाः सहायास्ते परस्परम् ।
प्रायेण सह वर्तन्ते वियुज्यन्ते क्वचित्क्वचित् ।। २७६ ।।
हेतुस्वरूपकार्याणि भिन्नान्येषामसङ्करः ।।
यथावदवगन्तव्यः शास्त्रार्थं प्रविविच्यता ।। २७७ ।।
दोषदृष्टिर्जिहासा च पुनर्भोगेष्वदीनता ।
असाधारणहेत्वाद्या वैराग्यस्य त्रयोऽप्यमी ।। २७८ ।।
श्रवणादित्रयं तद्वत्तत्त्वमिथ्याविवेचनम् ।
पुनर्ग्रन्थेरनुदयो बोधस्यैते त्रयो मताः ।। २७९ ।।

कोऽसावित्यत आह—**वैराग्येति** ।। २७६ ।।

वैराग्यादीनामन्योन्यपरिहारेणावस्थानदर्शनादभेदशङ्कायां तद्धेत्वादीनां भेदाद्भेदोऽवगन्तव्य इत्याह—

हेतुस्वरूपेति ।। २७७ ।।

तत्र वैराग्यस्य हेत्वादित्रयं दर्शति—**दोषदृष्टिरिति** ।। २७८ ।।

इदानीं तत्त्वबोधस्य कारणादीनि दर्शयति—

श्रवणादीति । 'आदि'शब्देन मनननिदिध्यासने गृह्येते । आत्मा वारे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' (बृ० २।४।५) इत्यात्मदर्शनसाधनत्वेन श्रवणादिविधानाच्छ्रवणादेर्ज्ञानहेतुत्वं तत्त्वमिथ्याविवेचनं कूटस्थाहङ्कारादेश्च भेदज्ञानं ग्रन्थेरनुदयोऽन्योन्याध्यासानुत्पत्तिः ।। २७९ ।।

ननु कोऽसौ भवतां सिद्धान्त इत्यपेक्षायां तमाह—**वैराग्येति** । क्वचिद्देशे काले च क्वचित्तत्त्वज्ञविशेषे च । तदुक्तं **बृहदारण्यके—गोकामा** एव वयं स्म इति जनकसभायां गोसहस्रग्रहणप्रयुक्ततद्गतमुन्याक्षेपकाले याज्ञवल्क्यस्य तान्प्रत्युक्तिः ।। २७६ ।।

ततः किं तत्राऽऽह—**हेत्विति** । यतो हेतोरेषां वैराग्यादीनाम् । हेत्विति भिन्नानि पृथक्पृथगेव सन्त्यत एषामसङ्करो भवतीत्यन्वयः । स तु शास्त्रार्थम् । ब्रह्माद्वैतशास्त्ररहस्यम् । प्रविचिन्वता प्रकर्षेणोपक्रमादिलिङ्गानुग्रहरूपोत्कर्षेण ब्रह्मविदनुभवसम्प्रदायलक्षणाधिक्येन चिनोति शोधयति संगृह्णातीति वा तथा तेनेदृशेन मुमुक्षुणेत्यर्थः । प्रविविच्यतेत्यपपाठः । एवं प्रतिचिन्वतेति साधुरप्युक्तार्थपरिपोषाभावादुपेक्ष्य एव यथावदवगन्तव्य इति सम्बन्धः ।। २७७ ।।

तान्येव तेषां प्रत्येकं क्रमेणाऽऽह—**दोषेत्यादित्रिभिः** ।। २७८ ।।

श्रवणादीति । ग्रन्थेश्चिदचिदध्यासस्य । अनुदयोऽप्रतिभासः ।। २७९ ।।

यमादिर्धीनिरोधश्च व्यवहारस्य संक्षयः ।
स्युर्हेत्वाद्या उपरतेरित्यसङ्कर ईरितः ॥ २८० ॥
तत्त्वबोधः प्रधानं स्यात्साक्षान्मोक्षप्रदत्वतः ।
बोधोपकारिणावेतौ वैराग्योपरमावुभौ ॥ २८१ ॥
त्रयोऽप्यत्यन्तपक्वाश्चेन्महतस्तपसः फलम् ।
दुरितेन क्वचित्किंचित्कदाचित्प्रतिबध्यते ॥ २८२ ॥

उपरतेस्तानि दर्शयति—

यमादिरिति । 'आदि' पदेन नियमादयो गृह्यन्ते । धीनिरोधश्चित्तवृत्तिनिरोधलक्षणो योगः ॥ २८० ॥

किमेतेषां समं प्राधान्यमुत नेत्याशङ्क्याह—

तत्त्वबोध इति । 'तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' (श्वे० ६।१५, ३।८) इति श्रुतेरित्यर्थः । इतरयोस्तूपकारित्वं 'ब्राह्मणो निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन । तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्' (मु० १।२।१२), 'शान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वात्मन्येवात्मानं पश्येत्' (बृ० ४।४२३) इति श्रुतिभ्यामवगम्यते ॥ २८१ ॥

'प्रायेण सह वर्तन्ते वियुज्यन्ते क्वचित्क्वचित्' (प्र० ६।७६) इत्युक्तं, तत्र कारणमाह—

त्रयोऽपीति । अनेकजन्मार्जितपुण्यपुञ्जपरिपाके त्रयाणां सहभावो

यमादिरिति । संक्षयः सम्यङ्नाशः सुप्तिवद्विस्मृतिः सीमा भवेदुपरमस्य हीति वक्ष्यमाणत्वादात्यन्तिकध्वंस इत्यर्थः । न चैवं निर्विकल्पापराभिधासम्प्रज्ञातसमाधिनिष्ठस्य जीवन्मुक्तस्य संस्कारतः कश्चिद्व्यवहारोऽपि देवहूत्याः परपोष्यशरीरायाः परपायितपयोगिलनादेस्तथर्षभदेवस्य संचारादिव्यवहारस्य च श्रीमद्भागवते वर्णितत्वेनाऽऽत्यन्तिकतद्व्यवहारविरहवर्णनमनुचितमेवेति वाच्यम् । श्रीमद्बृहद्योगवासिष्ठप्रसिद्धोद्दालकमुनेरसंप्रज्ञातसमाधिनोपविष्टस्याप्रारब्धपरिसमाप्तिलोकदृशाऽपि लेशतोऽपि व्यवहारानुक्तेस्तदभिप्रायेणेवेह संक्षयस्योक्तत्वाद्देवहूत्यास्तु ततः किञ्चिन्न्यूनत्वेनर्षभस्य तु तस्या अपि किञ्चिन्न्यूनत्वेन गौणत्वस्यैवागत्या वाच्यत्वाच्च । विस्तरतस्त्वेतज्जीवन्मुक्तिविवेकप्रकरणविवरणात्मकेतदीयषोडशप्रकाशे वक्ष्याम इति संक्षेपः ॥ २८० ॥

नन्वथापि किमेतेषु मध्ये प्रधानमित्यत्राऽऽह—**तत्त्वेति** । एवं तर्हि वैराग्यादिव्यर्थमेवेति चेत्तत्राऽऽह—**बोधेति** ॥ २८१ ॥

ननु त्रयाणामप्येतेषां कथं पूर्णत्वमिति चेन्महातपसेवेत्याह—**त्रयोऽपीति** । ननु

वैराग्योपरती पूर्णे बोधस्तु प्रतिबध्यते ।
यस्य तस्य न मोक्षोऽस्ति पुण्यलोकस्तपोबलात् ।। २८३ ।।
पूर्णे बोधे तदन्यौ द्वौ प्रतिबद्धौ यदा तदा ।
मोक्षो विनिश्चितः किन्तु दृष्टदुःखं न नश्यति ।। २८४ ।।
ब्रह्मलोकतृणीकारो वैराग्यस्यावधिर्मतः ।
देहात्मवत् परात्मत्वदार्ढ्ये बोधः समाप्यते ।। २८५ ।।
सुप्तिवद्विस्मृतिः सीमा भवेदुपरमस्य हि ।
दिशाऽनया विनिश्चेयं तारतम्यमवान्तरम् ।। २८६ ।।

भवति, अन्यथा तु प्रतिबन्धकपापानुसारेण पुरुषविशेषे कालविशेषेण कस्यचित्प्रतिबन्धो भवतीति भावः ।। २८२ ।।

तत्रापि तत्त्वज्ञानप्रतिबन्धे मोक्षो नास्तीत्याह—

वैराग्ये । तर्हि वैराग्यादिसंपादनं निष्फलमित्याशङ्क्य, 'प्राप्य पुण्यकृतांल्लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः । शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते' ।। (गी० ६।४१) इति भगवद्वचनात्पुण्यलोकप्राप्तिर्भवतीत्याह— **पुण्यलोकस्तपोबलादिति** ।। २८३ ।।

वैराग्योपरत्योस्तु प्रतिबन्धे जीवन्मुक्तिसुखं न सिध्यतीत्याह—

पूर्णे बोध इति ।। २८४ ।।

इदानीं वैराग्यादीनामवधिं दर्शयति—**ब्रह्मलोकेति** ।। २८५ ।।

सुप्तिवदिति । अवान्तरतारतम्यं स्वस्वबुद्ध्या निश्चेयमित्याह—

दिशेति ।। २८६ ।।

न्यूनत्वमप्येतेषां किं निरुक्तपोऽभावमात्रेणैवेति कारणान्तरादपीति शङ्कायामन्त्यमंगीकरोति । **दुरितेनेति** । क्वचिज्जनकसभादेश एव । किञ्चिद्विषयविशेषीभूतगवादिवस्त्वंशत एव । कदाचिदुक्तसदस्याक्षेपकाल एवेति भावः । न तु सर्वदेशाद्यवच्छेदेनेति यावत् ।। २८२ ।।

तत्र कस्य प्रतिबन्धे किं भवतीत्यत आह—**वैराग्येति** प्रभृतिद्वाभ्याम् ।। २८३ ।।

पूर्ण इति । **दृष्टेति** । प्रारब्धफलीभूतं दुःखमित्यर्थः ।। २८४ ।।

तत्र त्रयाणामपि काष्ठां कथयति—**ब्रह्मेति**प्रभृतिसार्धेन ।। २८५ ।।

सुप्तिवदिति । उपलक्षणमिदं मध्यमवैराग्यादेरपि बोध्यमित्याह—**दिशेति** ।।२८६।।

आरब्धकर्मनानात्वाद्‌बुद्धानामन्यथाऽन्यथा ।
वर्तनं तेन शास्त्रार्थे भ्रमितव्यं न पण्डितैः ।। २८७ ।।
स्वस्वकर्मानुसारेण वर्तन्तां ते यथा तथा ।
अविशिष्टः सर्वबोधः समा मुक्तिरिति स्थितिः ।। २८८ ।।
जगच्चित्रं स्वचैतन्ये पटे चित्रमिवार्पितम् ।
मायया तदुपेक्ष्यैव चैतन्यं परिशेष्यताम् ।। २८९ ।।

ननु तत्त्वबोधवतामपि रागादिमत्त्वेन वैषम्योपलम्भात् ज्ञानस्यापि मुक्तिहेतुत्वं निश्चेतुं न शक्यमित्याशङ्क्य, रागादेः व्याध्यादिवदारब्धकर्मफलत्वात् मुक्तिप्रतिबन्धकत्वमसिद्धं, अतो न शास्त्रार्थे विप्रतिपत्तव्यमित्याह—

आरब्धकर्मनानात्वादिति ।। २८७ ।।

किं तर्हि प्रतिपत्तव्यमित्यत आह—

स्वस्वेति । सर्वेषां 'ब्रह्माहमस्मि' इति ज्ञानमेकाकारं निरवद्यब्रह्मरूपेणास्थानं च समानमिति भावः ।। २८८ ।।

प्रकरणस्यास्य तात्पर्यं संक्षिप्य दर्शयति—

जगदिति ।। २८९ ।।

ननु प्रधानीभूताद्वैततत्त्वबोधवन्तोऽपि—

"केऽपि वर्णाश्रमाचारनिष्ठापरा मुग्धबालप्रमत्तोपमाश्चापरे ।
रागिणो भोगिनो योगिनश्चेतरे ज्ञानिनां लक्ष्यते नैकरूपा स्थितिः ।।"

इति स्वाराज्यसिद्धिवचनान्नानाविधशीला एवातो ज्ञानस्यापि रागाद्यासुरसंपत्सत्त्वे किं ज्ञानाभासत्वं वास्तवत्वं वा तथाऽन्त्येऽपि निरुक्तरागादिना वह्न्यादेर्मण्यादिना प्रतिबद्धत्वं स्वदाह्यदहन इवाविद्याध्वस्तिरूपमुक्तिव्यक्तीकारे किं वा नेति कथं निश्चेयमित्याशङ्क्य समाधत्ते— **आरब्धेति** ।। २८७ ।।

नन्वथापि किं प्रकृत इत्यत आह—**स्वस्वेति** ।। २८८ ।।

अथ प्रकरणार्थमुपक्रान्तदृष्टान्तेनैव संक्षिपति—**जगदिति** । परिशेष्यतामधिष्ठानीभूतचिन्मात्र एव बाधावधिभूते पर्यवसानं क्रियतामित्यर्थः । न हि रजतादेः शुक्तिशकलं विहायान्यत्र बाधपर्यवसानं भवति । आरोपितभावाभावयोरधिष्ठानैकसत्तायत्तत्त्वस्य नियतत्वादिति तत्त्वम् ।। २८९ ।।

चित्रदीपमिमं नित्यं येऽनुसंदधते बुधाः ।
पश्यन्तोऽपि जगच्चित्रं ते मुह्यन्ति न पूर्ववत् ।। २९० ।।

इति विद्यारण्यविरचितायां श्रीपञ्चदश्यां चित्रदीपः समाप्तः

चित्रदीपमिति ।। २९० ।।

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीभारतीतीर्थविद्यारण्य-
श्रीचरणशिष्येण रामकृष्णाख्यविदुषा विरचितं तात्पर्य-
बोधिनीनामकं चित्रदीपव्याख्यानं समाप्तम् ।

प्रकरणाभ्यासफलमाह—**चित्रदीपमिति** । अनुसन्दधते न तु केवलं पठन्त्येव । एतेनैतद्ग्रन्थतात्पर्यानुसन्धानस्यैव प्राग्वन्मोहाभावः फलं न तु केवलधीषणादेरिति द्योत्यते—ननु यदुक्तं प्रागुपोद्घाते त्वया—

"सूत्रात्मानं दान्तानानन्दानेव भोक्तुमतिवाञ्छा ।
रूपादि धन्यता च प्रतिबन्धः प्रथम एव इह जीवे" ।।

इति जीवशब्देष्टशुद्धत्वंपदार्थबोधविषयकं विषयवासनाख्यं प्रथमप्रतिबन्धमुक्त्वा चित्रपटादिनिदर्शनवशेन वैराग्यमात्मशब्देन । जीवस्वरूपमिति तत्प्राधान्यं भवति षष्ठेऽपि । इति प्रकृतचित्रदीपाख्यस्यास्य षष्ठप्रकरणस्य वैराग्यप्राधान्यपूर्वकजीव-स्वरूपनिर्णयप्रधानत्वेनोक्तप्रतिबन्धबाधकत्वं तत्कथमिति चेदुच्यते—

तथाहि—"यथा चित्रपटे दृष्टमवस्थानां चतुष्टयम् ।
परमात्मनि विज्ञेयं तथाऽवस्थाचतुष्टयम्" ।।

इत्युपक्रमः ।

"जगच्चित्रं स्वचैतन्ये पटे चित्रमिवार्पितम् ।
मायया तदुपेक्ष्यैव चैतन्ये परिशेष्यताम्" ।।

इत्युसंहारः—चित्रपटदृष्टान्तेन यावद्दृश्यसुखविषयकवैरस्ये तथा कूटस्थात्माख्य-जीवस्य शुद्धस्वरूपे च स्पष्टमेव प्रथमलिङ्गे तात्पर्यग्राहकम् ।

"ब्रह्माद्याः स्तम्बपर्यंताः प्राणिनोऽत्र जडा अपि ।
उत्तमाधमभावेन वर्तन्ते पटचित्रवत्" ।। इति ।
"न द्वेष्टि सप्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति ।
उदासीनवदासीन इति ग्रन्थिभिदोच्यते" ।। इत्यादिरभ्यासः ।
"भरतादेरप्रवृत्तिः पुराणोक्तेति चेत्तदा ।
जक्षन्क्रीडन्रतिं विन्दन्नित्यश्रोषीर्न किं श्रुतिम्" ।।

इत्यपूर्वताफलमर्थवादश्च ।

"सङ्गी हि बाध्यते लोकैर्निःसंगः सुखमश्नुते ।
तस्मात्संगः परित्याज्यः सर्वदा सुखमिच्छता" ।।

इत्युपपत्तिश्च । तस्मान्निरुक्तषोढालिङ्गैरस्य प्रकरणस्य विवेकवैराग्याद्यखिल-साधनसम्पत्साक्षित्वोपलक्षितकूटस्थाख्यशोधितजीवस्वरूपैकपरत्वप्राधान्यादुक्तप्रतिबन्ध - बाधकत्वं निर्बाधमेवेति दिक् ॥ २९० ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य—श्रीमदद्वैतसच्चिदानन्देन्द्रसरस्वती-
शिष्येण श्रीमत्पदवाक्यप्रमाणक्षीरार्णवविहरणश्रीमदद्वैतविद्येन्दिरा-
रमणषष्ठ्युपनामकश्रीमन्नारायणशास्त्रिचरणसरोजराजहं-
सायमानमानसेन मोडकोपाह्वयेनाच्युत-शर्मणा
विद्यार्थिना विरचितः पूर्णानन्देन्दुकौमुद्या-
ख्यायाः पञ्चदशीव्याख्यायाश्चित्रदीप-
प्रकाशः षष्ठः सम्पूर्णः ॥ ६ ॥

सप्तमं तृप्तिदीपप्रकरणम्

आत्मानं चेद्विजानीयादयमस्मीति पूरुषः ।
किमिच्छन् कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरेत् ।। १ ।।

अखण्डानन्दरूपाय शिवाय गुरवे नमः ।
शिष्याज्ञानतमोध्वंसपट्वर्केन्द्वग्निमूर्तये ।। १ ।।
वेदार्थस्य प्रकाशेन तमो हार्दं निवारयन् ।
पुमर्थांश्चतुरो देयाद्विद्यातीर्थमहेश्वरः ।। २ ।।
नत्वा श्रीभारतीतीर्थविद्यारण्यमुनीश्वरौ ।
क्रियते तृप्तिदीपस्य व्याख्यानं गुर्वनुग्रहात् ।। ३ ।।

तृप्तिदीपाख्यं प्रकरणमारभमाणः श्रीभारतीतीर्थगुरुस्तस्यश्रुतिव्याख्यानरूपत्वात् तद्व्याख्येयां श्रुतिमादौ पठति—आत्मानं चेदिति ।। १ ।।

अद्वैतं ब्रह्मसच्चिद्विभुविमलपरानन्दकूटस्थरूपं
मोहाद्द्वैतेन्द्रजालालयमपि तिलकं स्वप्रकाशं श्रुतीनाम् ।
सर्वांश्चाऽऽचार्यवर्यान्रघुकुलतिलकं सद्गुरुं ब्रह्मनिष्ठं
श्रीमन्नारायणाख्यं स्वगुरुमपि महादेवसंज्ञं प्रणौमि ।। १ ।।
भक्त्यैकाश्रयतः प्रवृत्तिरिति मे प्राचां वचोव्याकृतौ
विद्यारण्यगवीं सुदुर्लभरसां संदुह्य यावन्मति ।
कुर्वे तद्गुरुवर्यविश्वविदितश्रीभारतीतीर्थवा-
ग्रूपां पञ्चदशीं नवप्रकरणीं व्याख्यानतो मण्डिताम् ।। २ ।।
मत्वा जीवंजीवान्विद्यारण्यं च भारतीतीर्थम् ।
स्फुटयामि तृप्तिदीपं कौमुद्याः खलु मुनिप्रकाशेन ।। ३ ।।

अथ भगवान्भारतीतीर्थमुनिवरः सर्वदा वक्ष्यमाणवैचारिकयौगिकान्यतराद्वैतात्मतत्त्वनिष्ठैकपरायणः परमकरुणया श्रीमद्विद्यारण्याचार्याख्यपूर्वाश्रमप्रख्यातसर्वज्ञमाधवाचार्याभिधस्वशिष्यसमारब्धाद्वैतशास्त्रीयतीव्रतरमुमुक्षुवरैकोपकारकपरमसरलपञ्चदशप्रकरणीगतचित्रदीपान्तषट्प्रकरणीं सम्पूर्णां समवलोक्य सन्तुष्टस्तदन्त्यश्लोकविशिष्टचरमचरणार्थमनुसन्धाय लीलयैवावशिष्टनवप्रकरणीं स्वयमेव समारभमाणस्तत्रादावुक्ततृप्तिमात्रजन्यत्वात्तृप्तिदीपाख्यमिदं सप्तमप्रकरणमेव वक्ष्यमाणवैचारिकसप्तमभूम्येकनिविष्टत्वेन कुर्वाणस्तद्विषयाद्यप्याविष्कुर्वाणः प्रथितप्रमाणादिमङ्गलमप्याकलयन् काण्वोपनिषन्मन्त्रमेव पठति—आत्मानं चेदिति ।। १ ।।

अस्याः श्रुतेरभिप्रायः सम्यगत्र विचार्यते ।
जीवन्मुक्तस्य या तृप्तिः सा तेन विशदायते ।। २ ।।
मायाभासेन जीवेशौ करोतीति श्रुतत्वतः ।
कल्पितावेव जीवेशौ ताभ्यां सर्वं प्रकल्पितम् ।। ३ ।।

इदानीं चिकीर्षितविचारं तत्फलं च दर्शयति—

अस्या इति । अत्र तृप्तिदीपाख्ये ग्रन्थेऽस्या 'आत्मानं चेत्' (बृ० ४।४।१२) इत्यादिकायाः श्रुतेरभिप्रायः तात्पर्यं सम्यक् विचार्यते । तेनाभिप्रायविचारेण जीवन्मुक्तस्य श्रुतिप्रसिद्धा या तृप्तिः सा विशदायते स्पष्टीभवति ।। २ ।।

'पदच्छेदः पदार्थोक्तिर्विग्रहो वाक्ययोजना । आक्षेपस्य समाधानं व्याख्यानं पञ्चलक्षणम् ।।' (पराशरपु० अ० १८) इति व्याख्यानलक्षणस्योक्तत्वात् 'पुरुष' इति पदस्यार्थमभिधातुं तदुपोद्घातत्वेन सृष्टिं संक्षिप्य दर्शयति—

मायाभासेनेति । प्रतिपाद्यमर्थं बुद्धौ संगृह्य तदर्थमर्थान्तरवर्णनमुपोद्घातः । अत्र 'माया'शब्देन चिदानन्दमयब्रह्मप्रतिबिम्बसमन्विता सत्त्वरजस्तमोगुणात्मिका जगदुपादानभूता प्रकृतिरुच्यते । सा च सत्त्वगुणस्य शुद्ध्यविशुद्धिभ्यां द्विधा भिद्यमाना क्रमेण माया चाविद्या च भवति ।

अथोक्तश्रुतेर्भाष्यवार्तिककारादिनिखिलपूर्वाचार्यानुसारेण चिकीर्षितप्रकृतप्रकरणे तात्पर्यवर्णनं पठितश्रुतिध्वनितनिखिलाद्वैतशास्त्रीयाकरप्रकरणसाधारणपञ्चकोशसाक्षित्वोपलक्षितचिन्मात्ररूपत्वं पदलक्ष्ययावद्दृश्याधिष्ठानत्वोपलक्षितचिन्मात्रलक्षणतत्पदलक्ष्यार्थैक्यरूपविषयनदेकाश्रयो विषयकोक्तप्रमैकनिरस्यानादिभावरूपमूलाविद्याध्वस्तिरूपमुक्त्याख्यप्रयोजनेतरासाधारणविषयप्रयोजने प्रेक्षावन्मुक्तमुमुक्षुप्रवृत्तये क्रमात्पूर्वोत्तरार्धाभ्यां कथयन्प्रतिजानीते—**अस्या इति ।** तेन निरुक्तश्रुत्यभिप्रायवर्णनेन विशदायते स्वयमेव प्रकटीभवतीत्यर्थः ॥ २ ॥

एवमस्याभिनवविषयप्रयोजने प्रतिज्ञाय तत्प्रतिपादनोत्साहत्वरया विचारप्रतिज्ञायास्तद्व्याख्यानं विना सिद्ध्यसम्भवात्तस्य च—

"पदच्छेदः पदार्थोक्तिर्विग्रहो वाक्ययोजना ।
आक्षेपस्य समाधानं व्याख्यानं पञ्चलक्षणम् ।।"

ईक्षणादिप्रवेशान्ता सृष्टिरीशेन कल्पिता ।
जाग्रदादिविमोक्षान्तः संसारो जीवकल्पितः ।। ४ ।।

तयोः मायाविद्ययोः प्रतिबिम्बितं ब्रह्मचैतन्यमेव ईश्वरो जीवश्चेत्युच्यते । तदिदं तत्त्वविवेकाख्ये ग्रन्थे श्रीमद्विद्यारण्यगुरुभिर्निरूपितं (प्र० १।१५-१७) 'चिदानन्दमयब्रह्मप्रतिबिम्बसमन्विता । तमोरजःसत्त्वगुणा प्रकृतिर्द्विविधा च सा ।। सत्त्वशुद्ध्यविशुद्धिभ्यां मायाविद्ये च ते मते । मायाबिम्बो वशीकृत्य तां स्यात्सर्वज्ञ ईश्वरः ।। अविद्यावशगस्त्वन्यस्तद्वैचित्र्यादनेकधा । सा कारणशरीरं स्यात्प्राज्ञस्तत्राभिमानवान् ।।' इति । इमेवार्थं मनसि निधाय 'जोवेशावाभासेन करोति माया चाविद्या च स्वयमेव भवति' (नृ० उ० ता० ९) इति श्रुतिरपि प्रवृत्ता । अतो जीवेश्वरयोर्मायाकल्पितत्वं अन्यत्कृत्स्नं जगत्ताभ्यामेव कल्पितम् ।। ३ ।।

तत्र केन कियत्कल्पितमित्यत आह—

ईक्षणादीति । 'तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय' (छा० ६।२।३) इति श्रुतमीक्षणामादिर्यस्याः सा ईक्षणादिः । 'अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य' (छा० ६।३।२) इति श्रुतः प्रवेशोऽन्तो यस्याः सा प्रवेशान्ता । ईक्षणादिश्चासौ प्रवेशान्ता चेति पश्चात्कर्मधारयः । सेयं सृष्टिरीश्वरेण कल्पिता । जाग्रदादिः यस्य संसारस्य असौ जाग्रदादिः । विमोक्षो मुक्तिरन्तो यस्य सः विमोक्षान्तः संसारो जीवेन कल्पितः । तदभिमानित्वात् जीवस्येत्यर्थः । ते च जाग्रदादय

इति पाराशरपुराणोक्तलक्षणस्य पदार्थकथनादिघटितत्वात्तद्गतपूरुषपदार्थकथनार्थमुपोद्घातत्वेन सृष्टिं संक्षिप्योपदेष्टुं 'मायाभासेन जीवेशौ करोतीति, ताभ्यां सर्वं प्रकल्पित'मिति च चित्रदीपस्थकारिकयोरेव

"मायाभासेन जीवेशौ करोतीति श्रुतौ श्रुतम्" इति ।
"आनन्दमयविज्ञानमयावीश्वरजीवकौ ।
मायया कल्पितावेतौ ताभ्यां सर्वं प्रकल्पितम्" ॥

इति चैतयोरंशौ गृहीत्वा, श्रुतत्वतः कल्पितावेव जीवेशाविति स्वविवक्षितांशं प्रपूर्य प्रथमकारिकां, तथा ईक्षणादीत्यादि तत्रत्यामेव द्वितीयकारिकां कियती सृष्टिः केन कल्पितेति विभागकथनार्थं च लिखति स्म—**मायेति** ॥ ३ ॥

ईक्षणेति । 'स ईक्षत' 'तत्तेजोऽसृजत' 'अनेन जीवेनाऽऽत्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे

भ्रमाधिष्ठानभूतात्मा कूटस्थासङ्गचिद्वपुः ।
अन्योन्याध्यासतोऽसङ्गधीस्थजीवोऽत्र पूरुषः ।। ५ ।।

इत्थं श्रूयन्ते (कैवल्योप० १४)—'स एष मायापरिमोहितात्मा शरीरमास्थाय करोति सर्वम् । स्त्रियन्नपानादिविचित्रभोगैः स एव जाग्रत्परितृप्तिमेति ।। स्वप्नेऽपि जीवः सुखदुःखभोक्ता स्वमायया कल्पितविश्वलोके । सुषुप्तिकाले सकले विलीने तमोऽभिभूतः सुखरूपमेति ।। पुनश्च जन्मान्तरकर्मयोगात्स एव जीवः स्वपिति प्रबुद्धः । पुरत्रये क्रीडति यश्च जीवस्ततस्तु जातं सकलं विचित्रम् ।। जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्यादिप्रपञ्चं यत्प्रकाशते । तद्ब्रह्माहमिति ज्ञात्वा सर्वबन्धैः प्रमुच्यते ।।' इति ।। ४ ।।

एवं पुरुषशब्दार्थावबोधोपयोगिनीं सृष्टिमभिधायेदानीं 'पुरुष'शब्दार्थमाह—

भ्रमाधिष्ठानेति । यः कूटस्थासङ्गचिद्वपुरविकार्यसङ्गचित्स्वरूपः भ्रमाधिष्ठानभूतात्मा भ्रमस्य देहेन्द्रियाद्यध्यासस्य अधिष्ठानभूतो अधिष्ठानत्वेन वर्तमानः परमात्मास्ति सोऽसङ्ग एव अन्योन्याध्यासतः अन्योन्यस्मिन् अन्योन्यात्मकतामन्योन्यधर्मांश्चाध्यस्य सर्वव्यवहारभाग्भवतीत्याचार्यैर्निरूपितेन तादात्म्याध्यासेन असङ्गधीस्थजीवः स्वेन पारमार्थिकसम्बन्धशून्यायां बुद्धौ वर्तमानो जीवः सन् अत्रास्यां श्रूतौ पुरुष इत्युच्यते 'स

व्याकरवाणी'ति च छान्दोग्यश्रुतिप्रसिद्धेत्यर्थः । **विमोक्षेति ।** 'न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थते'ति श्रुतेरविद्याध्वस्तिरूपमुक्तेरपि कल्पितप्रतियोगिकत्वेन तथात्वमेवेति ।। ४ ।।

एवं सृष्टिसंसारावीश्वरजीवकल्पितावुपोद्घातीभूतावभिधायेदानीं पुरुषशब्दार्थं कथयति—**भ्रमेति ।** एवं चात्र चित्रदीपोक्तभगवद्वार्तिककारचरणसम्मता सिद्धान्तीश्वरीभूताभासवादप्रक्रियाया एवेष्टत्वं स्पष्टमेव । अक्षरार्थस्तु भ्रमस्य—

"कूटस्थे कल्पिताबुद्धिस्तत्र चित्प्रतिबिम्बकः ।
प्राणानां धारणाज्जीवः संसारेण स युज्यते" ।

इति चित्रदीपोक्तेरविद्यया स्वस्मिन्नध्यस्तसाभासबुद्धिरूपोपस्याधिष्ठानभूतः संसिद्धा सविलासमोहविषये वस्तुन्यधिष्ठानगी'रिति **सन्क्षेपशारीरकोक्तेः**, सकार्याविद्याविषय एतादृशो य आत्मा प्रत्यगित्यर्थः । **कूटस्थेति ।** निर्विकारासङ्गचिदेकस्वरूप इत्यर्थः । एतादृशोऽपि । **असङ्गेति ।** स्वासम्बद्धबुद्धिप्रतिफलितचिदाभासश्चेत्यर्थः ।

साधिष्ठानो विमोक्षादौ जीवोऽधिक्रियते न तु ।
केवलो निरधिष्ठानविभ्रान्तेः क्वाप्यसिद्धितः ।। ६ ।।
अधिष्ठानांशसंयुक्तं भ्रमांशमवलम्बते ।
यदा तदाहं संसारीत्येवं जीवोऽभिमन्यते ।। ७ ।।

वा अयं पुरुषः सर्वासु पूर्षु पुरिशयः' (बृ० २।५।१८) इति श्रुत्या 'पुरुष'-शब्दस्य व्युत्पादितत्वात्पुरुषस्यैव च पुरुष एव पूरुषः बुद्ध्यादिकल्पनाधिष्ठानं कूटस्थचैतन्यमेव बुद्धौ प्रतिबिम्बितत्वेन प्राप्तजीवभावं सत्पुरुषशब्देनोच्यत इत्यभिप्रायः ।। ५ ।।

नन्वत्र 'पुरुष'शब्देन केवलचिदाभासरूपो जीव एव उच्यतां, किमनेन कूटस्थचैतन्येन अधिष्ठानभूतेनेत्याशङ्क्य, तस्य मोक्षाद्यन्वयितृत्वसिद्धये तदपि स्वीकर्तव्यमित्याह—

साधिष्ठान इति । साधिष्ठानोऽधिष्ठानेन कूटस्थचैतन्येन सहितो जीवः विमोक्षादौ मोक्षमार्गादिसाधनानुष्ठाने अधिक्रियते अधिकारी भवति न केवलचिदाभासः । कुत इत्यत आह—**निरधिष्ठानेति ।** अधिष्ठानरहितस्यारोप्यस्य लोकेऽदृष्टत्वादिति भावः ।। ६ ।।

इदानीं साधिष्ठानस्यैव तस्य संसाराद्यन्वयितृत्वं श्लोकद्वयेन विभज्य दर्शयति—

अधिष्ठानांशेति । जीवो यदा अधिष्ठानांशसंयुक्तं कूटस्थसहितं

उभाविमौ । **अन्योन्येति ।** अन्योन्यस्मिन्नन्योन्यात्मकतामन्योन्यधर्मांश्चाध्यस्येत्याद्यध्यासभाष्योक्ते संसर्गतादात्म्यलक्षणपरस्पराध्यासादिति यावत् । अत्र प्रकृतश्रुतौ । 'पूरुषः स वा अयं पुरुषः सर्वासु पूर्षु पुरिशय इति' श्रुतेः । पुरुष एव पूरुषः 'पुरत्रये क्रीडति यस्तु जीवः' इति च श्रुतेः साधिष्ठानपञ्चकोशावच्छिन्नचिदाभासोऽस्तीति सम्बन्धः ।। ५ ।।

ननु जाग्रदादिविमोक्षान्त इत्यादिप्रपूर्वपद्योक्तेरसङ्गत्वेनाधिष्ठानीभूतकूटस्थात्मनः किमिति पूरुषपदार्थप्रवेश इत्यत्राऽऽह—**साधिष्ठान इति ।** तत्र हेतुः—**निरधिष्ठानेति ।** तथा चाऽऽहुः **श्रीमद्वार्तिककारचरणाः**—अयमेव हि नोऽनर्थो यत्संसार्यात्मदर्शनमिति ।। ६ ।।

ननु भवत्वेवमथाप्यस्य पूरुषस्य जीवपदवाच्यस्य जाग्रदादिविमोक्षान्त इत्यत्र

भ्रमांशस्य तिरस्कारादधिष्ठानप्रधानता ।
यदा तदा चिदात्माहमसङ्गोऽस्मीति बुध्यते ।। ८ ।।
नासङ्गेऽहंकृतिर्युक्ता कथमस्मीति चेच्छृणु ।
एको मुख्यो द्वावमुख्यावित्यर्थस्त्रिविधोऽहमः ।। ९ ।।

भ्रमांशं चिदाभासोपेतं शरीरद्वयमवलम्बते स्वस्वरूपत्वेन स्वीकरोति तदाहं संसारीत्येवमभिमन्यते ।। ७ ।।

यदा पुनर्भ्रमांशस्य देहद्वयसहितस्य चिदाभासस्य तिरस्कारान्मिथ्यात्व-ज्ञानेन अनादरणात् अधिष्ठानप्रधानता अधिष्ठानभूतस्यैव कूटस्थस्य स्वरूपत्वं जीवेन स्वीक्रियते, तदा अहं 'चिदात्माऽसङ्गश्चास्मी'ति बुध्यते जानाति ।।८।।

नन्वधिष्ठानचैतन्स्य जीवस्वरूपत्वस्वीकारे चिदात्माहमसङ्गोऽस्मीति बुध्यते इति यदुक्तं तदनुपपन्नं स्यात्, असङ्गचिद्रूपस्य कूटस्थस्य अहंप्रत्यय-विषयत्वाभावादिति शङ्कते—

नासङ्ग इति । असङ्गे चिदात्मनि विषये अहंप्रत्ययो न युज्यते यतः अतः कथमहमस्मीति जानीयात् ? न कथमपीत्यर्थः । मुख्यया वृत्त्या अहंप्रत्ययविषयत्वाभावेऽपि लक्षणया तदस्तीति विवक्षुः 'अहं'-शब्दार्थं तावद्विभजते—**शृण्विति** । अहमोऽहंशब्दस्येत्यर्थः ।। ९ ।।

विमोक्षस्य संसाराद्वैलक्षण्यार्थमवश्यं चित्रग्वादिवदतद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीह्यङ्गीकारात्क्र-मात्संसारित्वानुभवस्तथा मुक्तत्वानुभवश्च कदा कथं भवतीत्यपेक्षायां तावाह—**अधिष्ठानांशेत्यादिद्वाभ्याम्** ।। ७ ।।

भ्रमांशस्येति । यदाऽस्य श्रवणाद्यभ्यासपरिपाटवश्रीगुरुचरणारविन्दप्रसादाभ्यां विचरिततत्त्वमस्यादिमहावाक्यजन्याद्वैतात्मैक्यविषयकद्वैतमिथ्यात्वपूर्वकब्रह्मसाक्षात्कारा-ख्यचरमप्रमोदयाद्भवति तदेतिसम्बन्धः ।। ८ ।।

तत्राऽऽशङ्कते—**नेति ।** अस्मीत्यहंकृतिः कथमित्यहंकृतिपदमनुकृष्यात्रापि योज्यम् । असङ्गे शक्तिवृत्त्याऽहंपदप्रवृत्तितज्जन्यदेहादिविशिष्टचिद्विषयकचित्तवृत्त्य-भावेऽपि 'ब्रह्माहमस्मीति' तैत्तिरीयश्रुते'रहं ब्रह्मास्मी'ति काण्वश्रुतेश्च लक्षणावृत्त्या विशिष्टांशं विहाय चिन्मात्रांशग्रहेण तन्मात्राकारोकचरमप्रमारूपवृत्त्यात्मिकाऽसौ सम्भवत्येवेति समाधातुं शिष्यमभिमुखीकरोति—**शृण्विति ।**

"आकाशादौ सत्यता तावदेका प्रत्यङ्मात्रे सत्यता काचिदन्या ।
तत्सम्पर्कात्सत्यता तत्र चान्या व्युत्पन्नोऽयं सत्यशब्दस्तु तत्र" ।।

अन्योन्याध्यासरूपेण कूटस्थाभासयोर्वपुः ।
एकीभूय भवेन्मुख्यस्तत्र मूढैः प्रयुज्यते ।। १० ।।
पृथगाभासकूटस्थावमुख्यौ तत्र तत्त्ववित् ।
पर्यायेण प्रयुङ्क्तेऽहंशब्दं लोके च वैदिके ।। ११ ।।

कीदृशो मुख्योऽर्थं इत्याकाङ्क्षायां तं दर्शयति—

अन्योन्येति । कूटस्थचिदाभासयोः स्वरूपमन्योन्याध्यासेनैक्यं प्राप्तं 'अहं'शब्दस्य वाच्यत्वेन मुख्योऽर्थो भवति । अस्य कुतो मुख्यत्वमित्यत आह—**तत्र मूढैरिति ।** 'यतः' इत्यध्याहारः । तत्र तस्मिन्नविविक्त-कूटस्थचिदाभासयोः स्वरूपे यतो विवेकज्ञानशून्यैः सर्वैरप्यहंशब्दः प्रयुज्यते, अतोऽस्य मुख्यत्वमित्यर्थः ।। १० ।।

इदानीममुख्यौ द्वौ दर्शयति—

पृथगिति । आभासकूटस्थौ प्रत्येकमहंशब्दार्थत्वेन यदा विवक्षितौ तदा अमुख्यार्थौ भवतः । अनयोरमुख्यत्वे कारणमाह—**तत्र तत्त्वविदिति ।** अत्रापि 'यतः' इत्यध्याहारः । तत्त्वविद्यतस्तत्र तयोः कूटस्थचिदाभासयोर-हंशब्दं लोके लौकिके वैदिके वैदिकव्यवहारे च पर्यायेण प्रयुङ्क्ते इति योजना । अयं भावः—चिदाभासकूटस्थयोरविविक्तरूपस्य सार्वजनीन-व्यवहारविषयत्वात् मुख्यार्थत्वं, विविक्तरूपस्य तु कतिपयजनैः कदाचिदेव व्यवह्रियमाणत्वादमुख्यार्थत्वमिति ।। ११ ।।

इति सर्वज्ञात्ममुनीश्वर चरणेऽस्ति रीत्या जहदजहत्स्वार्थाख्यलक्षाणाप्रकारमेव प्रकाश-यन्नहंपदार्थमेव त्रिधा विभजते—**एक इति ।** मुख्यः शक्यः । अमुख्यौ लक्ष्यौ ।। ९ ।।

तत्र को मुख्य इत्यपेक्षायां तमाह—**अन्योन्येति ।** प्राग्व्युत्पादितपरम्पराध्या-सात्मनेत्यर्थः । **कूटस्थेति ।** साक्षित्वोपलक्षितनिर्विकारचैतन्यबुद्धिप्रतिबिम्बितचिदा-भासयोरिति यावत् । वपुः स्वरूपम् । एकीभूयैकमिव भूत्वा । मुख्योऽहमर्थो भवेदित्य-न्वयः । ननु क्वेदं दृष्टमित्यतस्तदुदाहरणमाह—**तत्रेति ।** तादृशे शक्यार्थ एव । मूढाः सर्वेऽप्यज्ञानिनः । प्रयुञ्जतेऽहं ब्राह्मणोऽस्मीत्यहं पदमिति शेषः ।। १० ।।

अथामुख्यौ तावाह—**पृथगिति ।** विभिन्नावेवाहंशब्दार्थत्वेन विवक्षितौ चेद-मुख्यौ लक्ष्यावेवास्मदर्थौ भवत इत्यर्थः । तयोरप्युदाहरणे प्राग्वद्विशदयति—**तत्रेति ।** तत्त्वविद्ब्रह्मनिष्ठः । तत्र तयोराभासकूटस्थयोः पर्यायेण क्रमेण । लोके अहमद्य स्नातुं गङ्गां प्रति गच्छामीत्यादिलौकिकव्यवहार इत्यर्थः । तथा वैदिके 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्यादि-

लौकिकव्यवहारेऽहं गच्छामीत्यादिके बुधः ।
विविच्यैव चिदाभासं कूटस्थात्तं विवक्षति ।। १२ ।।
असङ्गोऽहं चिदात्माऽहमिति शास्त्रीयदृष्टितः ।
अहंशब्दं प्रयुङ्क्तेऽयं कूटस्थे केवले बुधः ।। १३ ।।
ज्ञानिताज्ञानिते त्वात्माभासस्यैव न चात्मनः ।
तथा च कथमाभासः कूटस्थोऽस्मीति बुध्यताम् ।। १४ ।।

'पर्यायेण प्रयुङ्क्ते' इत्युक्तमेवार्थं प्रपञ्चयति प्रतिपत्तिसौकर्याय श्लोकद्वयेन—

लौकिकेति । बुधो विद्वान् 'अहं गच्छामी'त्यादिलौकिकव्यवहारे कूटस्थाच्चिदाभासं विविच्य, तमेवाहंशब्देन विवक्षति वक्तुमिच्छति ।। १२ ।।

असङ्ग इति । अयमेव बुधः शास्त्रीयदृष्टितः वेदान्तश्रवणजनितज्ञानेन केवले चिदाभासाद्विविक्ते कूटस्थे 'असङ्गोऽहं चिदात्माहम्' इति लक्षणया 'अहं'शब्दं प्रयुङ्क्ते । अतो लक्षणया अहंशब्दार्थत्वेन अहंप्रत्ययविषयत्वसम्भवात् 'असङ्गोऽहमस्मी'ति ज्ञानमुपपद्यत इत्यभिप्रायः ।। १३ ।।

ननु पृथगाभासकूटस्थौ 'अहं'शब्दस्य अमुख्यार्थावित्युक्तं, तयोर्मध्ये कूटस्थः किमज्ञाननिवृत्तयेऽसङ्गोऽस्मीति जानाति, किं वा चिदाभासः ? न तावत्कूटस्थः, तस्यासङ्गचिद्रूपत्वेन ज्ञानित्वाज्ञानित्वयोरनुपपत्तेः, अतश्चिदाभासस्य ज्ञानित्वादिकं वक्तव्यम् । तथा च सति कूटस्थादन्यश्चिदाभासोऽहं कूटस्थोऽस्मीति न ज्ञातुमर्हतीति शङ्कते—**ज्ञानिताज्ञानिते इति** ।। १४ ।।

सम्प्रज्ञातसमाधिकाले साधारण्येन यथेच्छं तत्त्वानुसन्धानकाले चेत्यर्थः अहंशब्दं प्रयुङ्क्त इति योजना ॥ ११ ॥

उक्तव्यवहारौ स्वयमेव विवृणोति—**लौकिकेत्यादिक्रमेण द्वाभ्याम्** ॥ १२ ॥

असङ्गोऽहमिति । अयं बुध इति सम्बन्धः । अयं प्रकृतः । बुधस्तत्त्वनिष्ठ इत्यर्थः । एवं च लक्षणावृत्तिवृत्तिव्याप्तिभ्यामसङ्गेऽप्यहंकृतिर्युक्तेवेति भावः ॥ १३ ॥

तत्र शङ्कते—**ज्ञानितेति ।** ज्ञानाज्ञानयोः समानाश्रयविषयकत्वेनेव निवर्त्यनिवर्तकभावस्य व्युत्क्रमेण सर्वत्र दृष्टत्वादिति हेतुरार्थिक एवेति भावः । ततः किं तत्राऽऽह—**तथा चेति ।** एवं चासङ्ग इत्याद्युक्तसिद्धान्तोऽनुचित एवेत्याकूतम् ॥ १४ ॥

नायं दोषश्चिदाभासः कूटस्थैकस्वभाववान् ।
आभासत्वस्य मिथ्यात्वात्कूटस्थत्वाविशेषणात् ॥ १५ ॥
कूटस्थोऽस्मीति बोधोऽपि मिथ्या चेन्नेति को वदेत् ।
नहि सत्यतयाभीष्टं रज्जुसर्पविसर्पणम् ॥ १६ ॥
तादृशेनापि बोधेन संसारो हि निवर्तते ।
यक्षानुरूपो हि बलिरित्याहुर्लौकिका जनाः ॥ १७ ॥

तस्य कूटस्थान्यत्वमेवासिद्धमिति परिहरति—

नायमिति । तत्रोपपत्तिमाह—**आभासत्वस्येति** । यथा दर्पणे प्रतीयमानस्य मुखाभासस्य ग्रीवास्थं मुखमेव तत्त्वं तद्वदिति भावः ॥ १५ ॥

ननु चिदाभासस्य मिथ्यात्वे तदाश्रितं 'कूटस्थोऽस्मी'ति ज्ञानमपि मिथ्या स्यादिति शङ्कते—

कूटस्थ इति । कूटस्थस्वरूपातिरिक्तस्य कृत्स्नस्यापि मिथ्यात्वाभ्युपगमात् तन्मिथ्यात्वमस्माकमिष्टमेवेति परिहरति—**नेति को वदेदिति** । उक्तमर्थं दृष्टान्तेन स्पष्टयति—**नहीति** । रज्ज्वां कल्पितस्य सर्पस्य गत्यादिकमपि प्रतीयमानं वास्तवं नाङ्गीक्रियते यथा तद्वदिति भावः ॥ १६ ॥

ज्ञानस्य मिथ्यात्वे तेन संसारनिवृत्तिर्न स्यादित्याशङ्क्य, निवर्त्यस्य संसारस्यापि तथात्वात्तन्निवृत्तिरुपपद्यते स्वप्नव्याघ्रदर्शनेन निद्रानिवृत्तिवदित्यभिप्रायेणाह—

तादृशेनेति । तत्र 'यादृशो यक्षस्तादृशो बलिः' इति लौकिकगाथां संवादयति—**यक्षेति** ॥ १७ ॥

तत्र समाधातुं प्रतिजानीते—**नायमिति** । तत्र हेतुः—**चिदाभास इत्यादिना** । कूटस्थमात्रायत्तसत्तादिमानित्यर्थः । तदपि कुत इत्यत्राऽऽह—**आभासस्येत्युत्तरार्धेन** । एवं च यथा कौन्तेयैकसत्तादिमात्राधेयः कौन्तेयोऽस्मीति मातृवचसा पूर्वं बोद्धुमर्होऽभूत्तथाऽऽभासोऽपि श्रुतिवचसाऽस्मीति बोद्धुमर्हत्येवेति तत्त्वम् ॥ १५ ॥

नन्वेवमपि मिथ्याभूताभासनिष्ठज्ञानिताख्यधर्मस्यापि तथात्वमेवेति शङ्कते—**कूटस्थोऽस्मीतीति** । इष्टापत्त्या परिहरति—**नेतीति** । एष भावः । रज्जुसर्पोऽपगत इति व्यवहारः सन्दृष्टोऽपि यथा न तथ्यस्तथेत्यर्थः ॥ १६ ॥

ननु यदि तत्त्वावबोधोऽपि मिथ्या चेत्ततः कथं संसारो विनिवर्ततेति चेन्निवर्त्यस्य संसारस्यापि तादृशत्वाद्यथा यक्षस्तथाबलिरिति न्यायात्स्वाप्नाप्तोपदेशेन

तस्मादाभासपुरुषः स कूटस्थो विविच्य तम् ।
कूटस्थोऽस्मीति विज्ञातुमर्हतीत्यभ्यधाच्छ्रुतिः ।। १८ ।।
असंदिग्धाविपर्यस्तबोधो देहात्मनीक्ष्यते ।
तद्वदत्रेति निर्णेतुमयमित्यभिधीयते ।। १९ ।।

उपपादितमर्थमुपसंहरति—

तस्मादिति । यस्मात् कूटस्थ एव चिदाभासस्य निजं स्वरूपं तस्मात् 'पुरुष'शब्दवाच्यः कूटस्थेन सहितश्चिदाभासः तं कूटस्थं मिथ्याभूतात्स्वस्मात् विविच्य, लक्षणया 'कूटस्थोऽहमस्मी'त्यवगन्तुं शक्नोतीत्यभिप्रायेण श्रुतिरस्मीत्युक्तवतीत्यर्थः ।। १८ ।।

एवं 'पुरुषोऽस्मी'ति पदद्वयप्रयोगाभिप्रायमभिधाय, 'अयम्' इति पदप्रयोगाभिप्रायमाह—

असंदिग्धेति । लौकिकानां प्रसिद्धे देहरूपे आत्मनि संशयविपर्ययरहितोऽयमस्मीति बोधो यद्वदुपलभ्यते, अत्र प्रत्यगात्मनि विषये तद्वत्तथाविधं ज्ञानं मुक्तिसिद्धये संपाद्यमिति निर्णेतुं 'अयम्' इत्यभिधीयते, श्रुत्येति शेषः ।। १९ ।।

स्वाप्नदृष्टव्याघ्रविषयकमिथ्यात्वबोधैककरणकतन्निवृत्तिदर्शनाच्च तादृशबोधेनापि निखिलद्वैतात्मकः संसारो निवर्तत एवेत्याह—**तादृशेनापीति** ।। १७ ।।

उपसंहरति—**तस्मादिति** । यस्माच्चिदाभासस्य वास्तवं रूपं कूटस्थ एव तस्मात् । स कूटस्थः कूटस्थविशिष्टः । **आभासेति** । आभास एव पुरुषः प्रकृतश्रुतौ पुरुषपदवाच्यो जीव इत्यर्थः । तं कूटस्थं विविच्य स्वेन सहानाद्यविद्याकृतादैक्याध्यासात्पृथक्कृत्याहं कूटस्थोऽस्मीति विज्ञातुमवबोद्धुमर्हतीत्यात्मानं चेदित्यादिश्रुतिरभ्यधादकथयदित्यन्वयः ।। १८ ।।

एवं प्रागभिहितपूरुषपदार्थेन सहास्मीत्याख्यातस्यान्वयेन विवक्षितार्थमभिवर्ण्य श्रौतस्यायमिति पदप्रयोगस्याशयं सूचयति—**असन्दिग्धेति** । समानाश्रयविषयकभावाभावोभयकोटिकमव्यवहितं ज्ञानद्वयं संशयापरपर्यायः सन्देहो यथाऽयं घटो न वेति । अतस्मिंस्तद्बुद्धिर्विपर्ययः । यथेदं रजतमिति । तदुभयानास्कन्दितो बोधोऽहं गौरो ब्राह्मण इति यथा देहलक्षणात्मनि सदाऽनुभूयते तद्वदत्र नित्यापरोक्षात्मनि कूटस्थेऽपि विषये बोधोऽपेक्षित इत्यभिप्रायः ।। १९ ।।

देहात्मज्ञानवज्ज्ञानं देहात्मज्ञानबाधकम् ।
आत्मन्येव भवेद्यस्य स नेच्छन्नपि मुच्यते ।। २० ।।
अयमित्यपरोक्षत्वमुच्यते चेत्तदुच्यताम् ।
स्वयंप्रकाशचैतन्यमपरोक्षं सदा यतः ।। २१ ।।
परोक्षमपरोक्षं च ज्ञानमज्ञानमित्यदः ।
नित्यापरोक्षरूपेऽपि द्वयं स्याद्दशमे यथा ।। २२ ।।

ईदृशस्यैव बोधस्य मोक्षसाधनत्वे च आचार्यवाक्यं संवादयति—

देहात्मेति । 'अहं मनुष्यः' इति देहात्मविषयो दृढप्रत्ययो यथा, एवं प्रत्यगात्मन्येव 'देह एव आत्मा' इत्येवं देहात्मत्वज्ञानापबाधनेन 'ब्रह्माहमस्मी'ति ज्ञानं यस्य जायते स विद्वान्नेच्छन्नपि मोक्षेच्छारहितोऽपि मुच्यते, संसारहेतोरज्ञानस्य ज्ञानेनापबाधितत्वादिति भावः ।। २० ।।

'अयम्' इति पदप्रयोगस्याभिप्रायान्तरं शङ्कते—

अयमिति । यथा 'अयं घटः' इत्यादिप्रयोगेष्विदमा निर्दिष्टस्य वस्तुन आपरोक्ष्यं दृष्टं, तथाऽयमस्मीत्यत्रापीति भावः । तदप्यस्माकमिष्टमेवेत्याह— **तदुच्यतामिति** । कुत इत्यत आह—**स्वयमिति** । साधनान्तरनिरपेक्षतयाऽवभासमानं चैतन्यं व्यवधायकाभावात् नित्यमपरोक्षमित्यस्माभिः अभ्युपेतत्वादित्यर्थः ।। २१ ।।

नन्वात्मनः स्वप्रकाशचिद्रूपत्वेन नित्यापरोक्षत्वाभ्युपगमे 'अयम्' इति पदप्रयोगस्य अभिप्रायवर्णनाङ्गीकारबलादागतं आत्मनः परोक्षविषयत्वं

तत्र श्रीमद्भाष्यकारवाक्यमुपदेशसाहस्रीस्थं प्रमाणयति—**देहेति** । देहात्मज्ञानबाधकमित्युपलक्षणम् । तेनाखिलदृश्यबाधकमित्यर्थः । एवकारेण ब्रह्मात्मैक्येतरविषयव्यावृत्तिः ।। २० ।।

'इदमस्तु सन्निकृष्टं समीपतरवर्तिचैतदो रूपम्' इत्यादि वचनादपरोक्षप्रकृतायं पदार्थं इत्याशङ्क्य स्वप्रकाशचिन्मात्रत्वादात्मनस्तामिष्टापत्त्याऽङ्गीकरोति— **अयमितीति** । स्वयंप्रकाशलक्षणं त्वनधीनज्ञानत्वमेव । विस्तरस्तु मदीयबोधैक्यसिद्धावद्वैतात्मप्रबोधाभिधतट्टीकायां च द्रष्टव्य इति संक्षेपः ।। २१ ।।

नन्वयमित्यपरोक्षत्वमित्यनेन नित्यस्वयंप्रकाशतयाऽऽत्मनोऽपरोक्षत्वं त्रैकालिकमेवाङ्गीक्रियते असन्दिग्धेत्यनेन तद्विषयकमपरोक्षज्ञानमपि स्वीक्रियते तेनार्थात्तद्विषयकं परोक्षज्ञानं तथाऽनाद्यज्ञानमपि च सिद्ध्यति । तदेतत्परोक्षादिज्ञानद्वयमज्ञानं च

नवसंख्याहृतज्ञानो दशमो विभ्रमात्तदा ।
न वेत्ति दशमोऽस्मीति वीक्षमाणोऽपि तान्नव ।। २३ ।।
न भाति नास्ति दशम इति स्वं दशमं तदा ।
मत्वा वक्ति तदज्ञानकृतमावरणं विदुः ।। २४ ।।

अपरोक्षविषयत्वं पूर्वोक्तं ज्ञानाज्ञानाश्रयविषयत्वं वा अनुपपन्नं स्यादित्याशङ्क्य, दशमे इव सर्वमुपपत्स्यत इत्याह—

परोक्षमिति । परोक्षमपरोक्षं चेत्येकं युगलं, ज्ञानमज्ञानमित्यपरं, इदं द्वयं नित्यापरोक्षरूपेऽप्यात्मनि दशमे इव स्यादित्यर्थः ।। २२ ।।

दृष्टान्तं व्युत्पादयति—

नवसंख्येति । परिगणनीयपुरुषनिष्ठया नवसंख्यया अपहृतविवेकज्ञानो दशमस्तदा तान् परिगणनीयान्नवसंख्याकान्वीक्षमाणोऽपि सम्यक् पश्यन्नपि भ्रान्त्या गणनाकर्तारं स्वात्मानं 'दशमोऽहमस्मी'ति न वेत्तीत्यर्थः ।। २३ ।।

एवं दशमेऽज्ञानं प्रदर्श्य, तत्कार्यमावरणं दर्शयति—

न भातीति । तदा दशमः स्वं दशमं सन्तं 'दशमो न भाति नास्ती'ति मत्वा वक्ति । अस्य व्यवहारस्य यत्कारणं तदज्ञानकृतं अज्ञानकार्यमावरणं विदुः, बुधा इति शेषः ।। २४ ।।

स्वप्रकाशत्वेन नित्यापरोक्षरूपे त्वद्वैतात्मनि विरुद्धमेवेति चेन्न । लोके तथादृष्टत्वात् । तथाहि । विमते ज्ञानद्वयानाद्यज्ञाने नित्यापरोक्षात्ममात्रविषयाश्रये । आरोपितत्वे सति सविषयकत्वात् । दशमनिष्ठज्ञानद्वयविस्मृतिजन्याज्ञानवदित्याशयेन समाधत्ते—**परोक्षमिति** ॥ २२ ॥

निरुक्तदृष्टान्तमेव स्पष्टयति—**नवेत्यादिपद्भिः** । केचित्पृथ्वीप्रदक्षिणोद्देशेन भरतवर्षाखिलतीर्थानि विनिषेवितुं प्रस्थिताः सन्तो दश ब्राह्मणाः क्वचित्सायं विपुलजलां काञ्चिन्नदीमुत्तीर्य निशि पारमाजग्मुस्तत्रैकः कश्चिदुदकदेशकालसम्भावितान्यतमनदीमरणः स्वयं सर्वान्गणयितुं प्रवृत्तः सङ्गणनीयानाम् । नवेति । नवसंख्यया हृतमपहृतं ज्ञानमहं दशम इत्याकारकं बोधजातं यस्य स तथैतादृशोऽत एव विभ्रमाद्धेतोस्तदा स्वयं दशमोऽपि तान्गणितान्नव ब्राह्मणान्वीक्षमाणोऽप्यहं दशमोऽस्मीति न वेत्ति नैव जानातीत्यन्वयः । एवं च स्वयमपरोक्षत्वेन भासमानेऽपि स्वस्मिन्गणनीयस्वेतरपुरुषनवसंख्योद्दीपितस्वविषयकदशमस्मृतेरभावसंस्कारेण प्रदीपापसरणे सति तमं इव पल्लवाज्ञानमुपसृतमासीदित्याशयः ॥ २३ ॥

एवं दृष्टान्तीकृते दशमे ह्यज्ञानानुभवं नित्यापरोक्षत्वेन भासमानेऽप्युपदर्श्य

नद्यां ममार दशम इति शोचन्प्ररोदिति ।
अज्ञानकृतविक्षेपं रोदनादिं विदुर्बुधाः ॥ २५ ॥
न मृतो दशमोऽस्तीति श्रुत्वाऽऽप्तवचनं तदा ।
परोक्षत्वेन दशमं वेत्ति स्वर्गादिलोकवत् ॥ २६ ॥

अज्ञानस्यैव कार्यविशेषविक्षेपं दर्शयति—

नद्यामिति ॥ २५ ॥

दशमस्यासत्त्वांशनिवर्तकं परोक्षज्ञानमाह—

न मृत इति ॥ २६ ॥

वक्ष्यमाणपरोक्षापरोक्षज्ञाननाश्ये तत्कृते द्वे आवरणे अपि सामान्येनैकीकृत्याऽऽह—**न भातीति** । दशमो न भाति नवानां युष्माकं गणनायां कृतायामपि न प्रकाशत इत्यर्थः । इदं ह्यभानावरणमपरोक्षप्रमैकप्रध्वंस्यमित्याकूतम् । अत एव नास्ति नैव विद्यत इत्यर्थः । इदं ह्यसदावरणं परोक्षप्रमैकप्रबाध्यमिति बोध्यम् । इति निरुक्तप्रकारेण । तदा स्वेतरनवपुरुषपरिगणनवेलायां स्वमात्मानं दशमं दश मिमीतेऽसौ दशमः प्रागुक्तरीत्या दश संख्यापरिगणनार्थं प्रवृत्तोऽहमेतादृशस्तम् । निरुक्तदशगणनप्रवृत्तमिति यावत् । एतादृशं मत्वाऽपि स्वनित्यापरोक्षत्वेन ज्ञात्वाऽपीत्यर्थः । वक्ति प्रब्रूते । यत्तदज्ञानकृतमावरणं विदुः परिजानीयुरिति सम्बन्धः । पण्डिता इति शेषः । प्राञ्चस्तु—**न भातीति** । तदा दशमः स्वं दशमं सन्तं दशमो न भाति नास्तीति मत्वा वक्ति । अस्य व्यवहारस्य यत्कारणं तदज्ञाकृतमज्ञानकार्यमावरणं विदुर्बुधा इति शेष इति व्याचख्युः । तत्र मत्वेति क्त्वाप्रत्ययान्ततं पदं किं दशमो न भाति नास्तीत्यनेनैव सहान्वेति किंवा स्वं दशमं सन्तं मत्वा दशमो न भाति नास्तीति मत्वेति यथा लिखितप्रतिभासमानोभयविशेषणभावेनान्वेति । नाऽऽद्यः स्वं दशमं सन्तमिति द्वितीयान्तत्रयस्यानन्वितत्वापत्तेः । न द्वितीयः । दशमत्वेन मनने स्वस्याऽऽभातत्वादिमननासम्भवात् । न तृतीयोऽपि । स्वं दशमं सन्तं दशमो न भाति नास्तीत्यावरणद्वयविषयं मत्वेत्यन्वयसम्भवेऽपि वक्तीति क्रियायाः कर्मसापेक्षत्वापत्तेर्दशमो न भाति नास्तीति वक्तीत्यार्थिकान्वये यथाकथञ्चिद्वक्तव्ये शाब्दी ह्याकाङ्क्षा शब्देनैव पूर्यत इति नियमभङ्गापत्तेरावृत्त्या योजने गौरवागौरवापत्तेश्च । तस्मान्मद्योजनं वा साधीयः प्राचां वेति सहृदयधुरीणा एव विन्दन्त्विति ॥ २४ ॥

एवं दशमविषयकमावरणमुक्त्वा विक्षेपमाह—**नद्यामिति** ॥ २५ ॥

अथैतद्विषयकं परोक्षं ज्ञानमाह—**न मृत इति** । **आप्तेति** । तदानीमुक्तरोदनध्वनिश्रवणजन्यकरुणोत्कर्षादकस्मात्काकतालीयन्यायेन तत्राऽऽगतस्य कस्यचित्पूर्वपरिचितस्य समनुभूतभूरितरप्रामाणिकत्वस्यावञ्चकस्य वाक्यमित्यर्थः ॥ २६ ॥

त्वमेव दशमोऽसीति गणयित्वा प्रदर्शितः ।
अपरोक्षतया ज्ञात्वा हृष्यत्येव न रोदिति ॥ २७ ॥
अज्ञानावृतिविक्षेपद्विविधज्ञानतृप्तयः ।
शोकापगम इत्येते योजनीयाश्चिदात्मनि ॥ २८ ॥
संसारासक्तचित्तः संश्चिदाभासः कदाचन ।
स्वयंप्रकाशकूटस्थं स्वतत्त्वं नैव वेत्त्ययम् ॥ २९ ॥

तस्यैवाभानांशनिवर्तकमपरोक्षज्ञानं दर्शयति—

त्वमेवेति । स्वेन परिगणितैर्नवभिः सह स्वात्मानं गणयित्वा 'त्वमेव दशमोऽसी'ति प्रदर्शितः 'अहं दशमोऽस्मी'ति अपरोक्षतया ज्ञात्वा हर्षं प्राप्नोति रोदनं त्यजति ॥ २७ ॥

एवं दृष्टान्तभूते दशमे प्रदर्शितमवस्थासप्तकमनूद्य, दार्ष्टान्तिके आत्मन्यपि तद्योजनीयमित्याह—

अज्ञानेति । अज्ञानं चावृतिश्च विक्षेपश्च द्विविधं ज्ञानं च तृप्तिश्चेति द्वन्द्वः समासः ॥ २८ ॥

तत्रात्मन्यज्ञानादिकं क्रमेण दर्शयति—

संसारासक्तेत्यादिना चतुर्भिः । अयं चिदाभासो विषयसम्पादनादिध्यानासक्तचित्तः सन् कदाचन श्रुतिविचारात्पूर्वं कदापि स्वतत्त्वं स्वस्य निजं रूपं स्वप्रकाशचिद्रूपं कूटस्थं प्रत्यगात्मानं नैव वेत्ति न जानाति यत्तदज्ञानम् ॥ २९ ॥

अथ क्वास्ति दशम इति तेन पृष्टे यद्वृत्तं तदाह-**त्वमेवेति** ॥ २७ ॥

एवं भवतु नाम दशमदृष्टान्ते निरुक्ताज्ञानाद्यवस्थासप्तकमथापि प्रकृते द्राष्टान्तिकेऽद्वैतात्मनि किमागतमित्यपेक्षायां तत्राप्येतदवस्थासप्तकं योज्यमित्याह—**अज्ञानेति** । तृप्तय इत्यत्र हृष्टय इति क्वचित्पाठः । एतेऽध्यस्ता अवस्थाविशेषा इत्यर्थः ॥ २८ ॥

तमेवोक्तावस्थासप्तकयोजनप्रकारं प्रदर्शयन्प्रथममज्ञानावस्थां विशदयति—**संसारेति** । सम्यक्सारोऽस्मिन्निति प्रवृत्तव्युत्पत्त्या 'सर्वेषामानन्दानामुपस्थ एकायनम्' इति श्रुत्या च मैथुनजन्यक्षणिकसुखमात्रसाराभासवति द्वैतप्रपञ्च आसक्तमानस इत्यर्थः ॥ २९ ॥

न भाति नास्ति कूटस्थ इति वक्ति प्रसङ्गतः ।
कर्ता भोक्ताऽहमस्मीति विक्षेपं प्रतिपद्यते ।। ३० ।।
अस्ति कूटस्थ इत्यादौ परोक्षं वेत्ति वार्तया ।
पश्चात् कूटस्थ एवास्मीत्येवं वेत्ति विचारतः ।। ३१ ।।
कर्ता भोक्तेत्येवमादि शोकजातं प्रमुञ्चति ।
कृतं कृत्यं प्रापणीयं प्राप्तमित्येव तुष्यति ।। ३२ ।।
अज्ञानमावृतिस्तद्वद्द्विविक्षेपश्च परोक्षधीः ।
अपरोक्षमतिः शोकमोक्षस्तृप्तिर्निरङ्कुशा ।। ३३ ।।

न भातीति । चिदात्मविषये प्रसङ्गे जाते 'कूटस्थो नास्ति न भाती'ति मत्वा ब्रूते इदमज्ञानकार्यमावरणं कूटस्थांसत्त्वाभानाभिधानवत्कर्तृत्वादिकमात्मन्यारोपयति । अस्यारोपस्य हेतुर्देहद्वययुतश्चिदाभासो विक्षेपः ।। ३० ।।

अस्ति कूटस्थ इति । परेण बोधितः 'कूटस्थोऽस्ती'ति जानाति इदं परोक्षज्ञानम् । श्रवणादिपरिपाकवशात् 'कूटस्थोऽहमेवास्मी'ति जानाति इदमपरोक्षज्ञानम् ।। ३१ ।।

कर्तेति । कूटस्थासङ्गात्मज्ञानानन्तरं कर्तृत्वादिशोकजातं त्यजतीति यदयं शोकापगमः । कृत्यं कर्तव्यजातं कृतं निष्पादितं, प्रापणीयं फलजातं प्राप्तं लब्धमिति तुष्यति, इयं तृप्तिरित्यर्थः ।। ३२ ।।

दार्ष्टान्तिकेऽप्युक्तमवस्थासप्तकमनुवदति—
अज्ञानमिति ।। ३३ ।।

अथावरणद्वयं क्रमेणाऽऽभानलक्षणमसत्त्वलक्षणं च प्रकाशयति—**न भातीत्यादिपूर्वार्धेन** । ततो विक्षेपमप्याह—**कर्तेत्याद्युत्तरार्धेन** ।। ३० ।।

अथास्य परोक्षज्ञानं प्रदर्शयति—**अस्तीत्यादिपूर्वार्धेन** । 'अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद संतमेनं ततो विदुरि'ति तैत्तिरीयकश्रुतेरर्थश्रवणेनेत्यर्थः । ततोऽधिकारतः श्रवणादिपरिपाके विचारितमहावाक्यतोऽपरोक्षज्ञानमप्याह—**पश्चादित्याद्युत्तरार्धेन** ।। ३१ ।।

अथ क्रमाच्छोकमोक्षनिरंकुशतृप्ती अप्याह— **कर्तेत्याद्यर्धद्वयेन** ।। ३२ ।।

दशमदृष्टान्ते प्रागुक्तमज्ञानाद्यवस्थासप्तकं दार्ष्टान्तिके प्रदर्शितमेव तत्र विशेषान्तरविधानार्थमनुवदति—**अज्ञानमिति** ।। ३३ ।।

सप्तावस्था इमाः सन्ति चिदाभासस्य तास्विमौ ।
बन्धमोक्षौ स्थितौ तत्र तिस्रो बन्धकृतः स्मृताः ।। ३४ ।।
न जानामीत्युदासीनव्यवहारस्य कारणम् ।
विचारप्रागभावेन युक्तमज्ञानमीरितम् ।। ३५ ।।

ननूक्तावस्थासप्तकस्य आत्मधर्मत्वाङ्गीकारे तस्य कूटस्थत्वं व्याहन्येतेत्याशङ्क्य, एताः सप्तावस्थाः चिदाभासस्यैव, न कूटस्थस्येत्याह—

सप्तावस्था इति । 'सर्वं वाक्यं सावधारणम्' इति न्यायेन चिदाभासस्यैवेत्यवगम्यते, न कूटस्थस्य; सप्तावस्थानामासामत्रोपन्यासो वृथेत्याशङ्क्य, न वृथात्वं बन्धमोक्षकारित्वद्योतनफलत्वादुपन्यासस्येत्यभिप्रायेणाह— **तास्विमाविति ।** किमासां सप्तानामप्यविशेषेण बन्धमोक्षकारित्वं ? नेत्याह— **तत्रेति ।** अज्ञानावरणविक्षेपरूपास्तिस्र इत्यर्थः ।। ३४ ।।

आसां बन्धकारित्वदर्शनाय तिसृणामपि स्वरूपं प्रत्येकं कार्यप्रदर्शनेन स्पष्टीचिकीर्षुः अज्ञानस्य स्वरूपं तावद्दर्शयति—

न जानामीति । आत्मतत्त्वविचारप्रागभावसहितं उदासीनव्यवहारस्य कारणं 'न जानामि' इत्यनुभूयमानं अज्ञानमीरितमित्यर्थः ।। ३५ ।।

तत्र तमेव विशेषं विदधानस्तासां चिदाभासैकधर्मत्वमपि विधत्ते—**सप्तेत्यादि ।** एतेन कूटस्थस्याऽऽत्मनो निधर्मकत्वं ध्वन्यते । तासु कति बन्धविधायिन्य इत्यत आह— **तत्रेति** चरमचरणान्तम् । तिस्रोऽज्ञानावृतिविक्षेपलक्षणा इत्यर्थः ।। ३४ ।।

ननु किमादावज्ञानस्यैव लक्षणमित्यपेक्षायां तत्संक्षिपति— **न जानामीति ।** एवं च पञ्चकोशा अपि देहादयो यस्य 'मम देहो मम प्राणो मम चित्तं च धीर्मम । सुखं ममेति यो वेत्ति स कस्त्वमिह नोत्तरम्' । इतिमत्कृतकारिकारीत्या ममत्वेन भास्यतयाप्रत्यक्षाः स कोऽहमिति न जानामि । तद्वज्जन्यजगज्जन्माद्यभिन्ननिमित्तोपादानतया 'यतो वे'त्यादि श्रुत्यादिभिः परोक्षतया प्रतिपादितमपि ब्रह्माहमपरोक्षतया न जानामीत्याद्युदासीनव्यवहारलक्षणकार्यलिङ्गकानुमानगम्यं विचारासहानादिभावरूपं वस्त्वेवाज्ञानमिति पर्यवस्यति । एतेन स्वप्रकाशानन्तसन्मात्रैकाश्रयविषयकत्वे सति तादृगप्रतिबद्धापरोक्षबोधमात्राबाध्यानादिभावत्वज्ञानत्वामिति । तल्लक्षणं फलितम् । अत्र बाध्यभावत्वमित्येतावन्मात्रोक्तौ शुक्तिरजतादावज्ञानकार्येऽतिव्याप्तिव्यावृत्तये सत्यन्तम् । सुषुप्त्याद्यवस्थाऽज्ञानघटादिविषयकपल्लवाज्ञानव्युदसनायानादीति । तत्रापि बाध्यपदस्थाने ध्वंस्येति निवेशे जीवन्मुक्तिपक्षे शुकाद्यज्ञानेऽप्यव्याप्तिरतो बाध्येति । एवं भावपदाभावेऽप्युक्तबोधप्रागभावेऽप्यतिव्याप्तिरिति तत् । एतेन ज्ञानप्रागभाव एवाज्ञानमिति वदन्तस्तार्किकादयः

अमार्गेण विचार्याथ नास्ति नो भाति चेत्यसौ ।
विपरीतव्यवहृतिरावृतेः कार्यमिष्यते ।। ३६ ।।
देहद्वयचिदाभासरूपो विक्षेप ईरितः ।
कर्तृत्वाद्यखिलः शोकः संसाराख्योऽस्य बन्धकः ।। ३७ ।।

आवृतिस्वरूपं तत्कार्यं च दर्शयति—

अमार्गेणेति । शास्त्रोक्तं प्रकारमतिलङ्घ्य, केवलं तर्केण विचार्य, अनन्तरं, 'कूटस्थो नास्ति न भाती'त्येवंरूपो विपरीतव्यवहार आवरणकार्यमित्यर्थः ।। ३६ ।।

विक्षेपस्य स्वरूपं तत्कार्यं च दर्शयति—

देहद्वयेति । स्थूलसूक्ष्माख्यशरीरद्वयसहितश्चिदाभास एव विक्षेपः बन्धको बन्धहेतुः संसाराख्यः कर्तृत्वाद्यखिलः शोकः अस्य चिदाभासस्य कार्यमिति शेषः । कर्तृत्वादीत्यत्र 'आदि'शब्देन प्रमातृत्वादयो गृह्यन्ते ।।३७।।

प्रत्यस्ताः । तद्वन्मात्रचा योगभक्तिकर्मोपासनान्यतमसमुच्चयवादा अपि प्रत्युक्ताः । तथा परोक्षबोधबाध्यासदावरणवारणायापरोक्षेति । एवं भूतभाविवर्तमानाद्यन्यतमप्रतिबन्धवदज्ञानेऽप्यव्याप्तिरिति तद्व्युदासायाप्रतिबद्धेति । घटादिप्रमापनोद्यपल्लवाज्ञानेऽतिप्रसङ्गभङ्गाय तादृगिति । एवं पूर्वदलेऽपि तत्पदलक्ष्यब्रह्मणः पारोक्ष्यनिरासाय **स्वप्रकाशेति** । त्वंपदलक्ष्यस्याऽऽत्मनः सद्वयत्वव्यावृत्तयेऽनन्तेति । बौद्धप्राभाकरसम्मतसम्विद्विनिवारणाय सदिति । अनन्तपदे वस्तुपरिच्छेदाख्यान्योन्याभावरूपभेदाभावस्यापि विवक्षार्थमेकेति । निर्गुणत्वसूचनाय मात्रेति । तत्त्वंपदलक्ष्याभेदायाश्रयेत्यादीति दिक् ।। ३५ ।।

एवमज्ञानं निरूप्याथ क्रमप्राप्तामावृतिमपि विषयात्मनिष्ठत्वेन क्रमादज्ञानासत्त्वापादनरूपत्वाद्विविधामभिधत्ते—**अमार्गेणेत्यर्धेन** । 'तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामी'ति 'नावेदविन्मनुते तं बृहन्तमि'ति चान्वयव्यतिरेकश्रुतिविहितोपनिषद्विचारेतरभेदवादिशङ्काविचारलक्षणामार्गेणेत्यर्थः । ननु भवत्वेवममार्गेण विचारे कृतेऽपि यदा भेदवादिना पण्डितानामपि ब्रह्मात्मैक्यविषयकसत्ताभानाभावानुभवलक्षणावरणरूपा ह्यावृतिस्तदेतरजीवानामसौ कैमुत्यसिद्धेवाथापि प्रागज्ञानलक्षणोपपादनावसरे यथोदासीनव्यवहार एवाहं ब्रह्मापरोक्षत्वेनाऽऽत्मानमप्यद्वैतत्वेन नैव जानामीत्येवंरूपस्तत्कार्यमुक्तस्तद्वदुक्तलक्षणावृतेरपि कार्यं कथनीयमेवेत्यत्राऽऽह—**विपरीतेतिशेषेण** । पूर्वार्धमत्राप्यावृत्त्याऽनुषज्यते । अङ्गमार्गेण भेदवादिशास्त्रादिना विचार्याथानन्तरम् ब्रह्मात्मैक्यं नास्ति तथा नो भाति चेत्यसौ विपरीतव्यवहृतिरेव सन्मात्रस्वप्रकाशाद्वैतात्मविषयकस्फुरणाभिवदनादिरीतिरेवावृतेरुक्तलक्षणावरणावस्थायाः कार्यमिष्यत इत्यन्वयः ।। ३६ ।।

अथोद्देशक्रमप्राप्तं विक्षेपं लक्षयति—**देहद्वयेति** । स्थूलदेहोऽन्नमयः प्रत्यक्ष एव ।

अज्ञानमावृतिश्चैते विक्षेपात्प्रावप्रसिद्ध्यतः ।
यद्यप्यथाप्यवस्थे ते विक्षेपस्यैव नात्मनः ।। ३८ ।।
विक्षेपोत्पत्तितः पूर्वमपि विक्षेपसंस्कृतिः ।
अस्त्येव तदवस्थात्वमविरुद्धं ततस्तयोः ।। ३९ ।।

ननु 'सप्तावस्थाः चिदाभासस्य' इत्युक्तमनुपपन्नम्; अज्ञानावरणयोर्विक्षेपोत्पत्तेः पुरा स्थितत्वात् चिदाभासस्य च विक्षेपान्तःपातित्वात्तदवस्थात्वानुपपत्तेरित्याशङ्क्याह—

अज्ञानमिति । अनयोरज्ञानावरणयोर्विक्षेपात्पुरा स्थितत्वेऽपि नात्मावस्थात्वं तस्यासङ्गत्वेन अवस्थावत्त्वानुपपत्तेः । अतः परिशेषाच्चिदाभासावस्थात्वमेव तयोर्वक्तव्यमिति भावः ।। ३८ ।।

ननु अवस्थावतो विक्षेपस्य तदानीमभावात्तदवस्थात्वाभिधानमनुपपन्नमित्याशङ्क्य, विक्षेपाभावेऽपि तत्संस्कारस्य तदानीं सत्त्वाद्विक्षेपावस्थात्वाभिधानं न विरुध्यत इत्याह—**विक्षेपेति** । ततः कारणात्तयोस्तदवस्थात्ववर्णनमविरुद्धमिति योजना ।। ३९ ।।

श्रोत्रादिज्ञानेन्द्रियपञ्चकम् वागादिकर्मेन्द्रियपञ्चकं प्राणादिपञ्चकं मनोबुद्धिश्चेति सप्तदशकलात्मकः सूक्ष्मो देहश्च तदुभयविशिष्टो यश्चिदाभासो बुद्धौ प्रतिबिम्बितात्मचैतन्यावभास इत्यर्थः । एवमस्यापि कार्यमाह—**कर्तृत्वादिति** । संसाराख्योऽखिलः सम्पूर्णः शोकोऽस्योक्तविक्षेपलक्षणचिदाभासस्य जीवस्य कार्यमपि कोशकारकृमिवद्बन्धकोऽपि कर्तृत्वादि यथा स्यात्तथाऽस्तीत्यध्याहृत्य सम्बन्धः ।। ३७ ।।

ननु चिदाभासस्याज्ञानावच्छिन्नात्मचैतन्यजन्याकाशाद्यपञ्चीकृतपञ्चमहाभूतसत्त्वांशकार्यबुद्धिप्रतिबिम्बत्वेनाज्ञानावरणयोः कथं तदवस्थात्वं 'सप्तावस्था इमाः सन्ति चिदाभासस्ये'त्युक्तमित्याशङ्क्य समाधत्ते—**अज्ञानमिति** ।। ३८ ।।

ननु विक्षेपो ह्यनुपदोक्तरीत्या तावदज्ञानावरणयोः कार्यमेव तथा च तत्पूर्वभाविनी ते कथं तदवस्थे स्यातामित्याशङ्क्य समाधत्ते—**विक्षेपेति** । एतेन 'कार्योपाधिरयं जीव' इति 'अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते' इति श्रुत्योर्जीवस्य जन्यत्वाजन्यत्ववादिन्योर्विरोधः प्रत्युक्तः । जीवोपाधिभूताया बुद्धेः कार्यत्वाभिप्रायिका हि प्रथमश्रुतिस्तत्संस्कृतेरतिसूक्ष्माया मूलाविद्यानिष्ठाया बीजाङ्कुरन्यायेन प्रवाहानादित्वाभिप्राया तु द्वितीयश्रुतिरिति तयोर्विभिन्नविषयत्वादिति रहस्यम् । एवमेव स्मृतीतिहासपुराणवृद्धवासिष्ठरामायणादिनिष्ठजीवजन्यत्ववादिवाक्यानि व्याख्येयानीति दिक् ।। ३९ ।।

ब्रह्मण्यारोपितत्वेन ब्रह्मावस्थे इमे इति ।
न शङ्कनीयं सर्वासां ब्रह्मण्येवाधिरोपणात् ।। ४० ।।
संसार्यहं विबुद्धोऽहं निःशोकस्तुष्ट इत्यपि ।
जीवगा उत्तरावस्था भान्ति न ब्रह्मगा यदि ।। ४१ ।।
तर्ह्यज्ञोऽहं ब्रह्मसत्त्वभाने मद्दृष्टितो न हि ।
इति पूर्वे अवस्थे च भासेते जीवगे खलु ।। ४२ ।।

नन्वप्रसिद्धसंस्काराभ्युपगमद्वारा विक्षेपावस्थात्ववर्णनात् वरमधिष्ठानतया प्रसिद्धब्रह्मावस्थात्ववर्णनमित्याशङ्क्य, अतिप्रसङ्गान्मैवमिति परिहरति—**ब्रह्मणीति** ।। ४० ।।

ननु ब्रह्मण्यारोपितत्वाविशेषेऽपि विक्षेपोत्पत्त्युत्तरकालभाविनीनां संसारित्वाद्यवस्थानां जीवाश्रितत्वेनानुभूयमानत्वान्न ब्रह्मावस्थात्वमिति शङ्कते—**संसारीति** । संसारी कर्तृत्वादिधर्मवान् विबुद्धः तत्त्वसाक्षात्कारवान् निःशोकः शोकरहितः । तुष्टो वक्ष्यमाणकृतकृत्यत्वादिजनितसन्तोषवान् 'अहमस्मी'-त्युत्तरावस्था जीवगा जीवाश्रिता भान्ति, न ब्रह्माश्रिता इत्यर्थः ।। ४१ ।।

एवं तर्ह्यज्ञानावरणयोरपि जीवाश्रितत्वेन अनुभूयमानत्वाज्जीवावस्था-त्वमेवेति परिहरति—**तर्ह्यज्ञोऽहमिति** । मद्दृष्टितो ममानुभवेनेत्यर्थः ।।४२।।

ननु किमनया संस्कारानादित्वकल्पनेनाज्ञानावृत्त्योर्जीवावस्थात्वकल्पनं कुदृष्ट्या तयोर्ब्रह्मण्यारोपितत्वेन तदवस्थात्वमेव सुव्यवस्थमित्याशङ्क्य समाधत्ते—**ब्रह्मणीति** । विक्षेपाद्यग्रिमावस्थापञ्चकस्यापि मूलाविद्योपहितब्रह्मण्येवाऽऽरोपात् काऽपि जीवावस्था नैव स्यादित्यतिप्रसङ्गापत्तिरित्याकूतम् ।। ४० ।।

तत्रानुभवविरोधान्नायमतिप्रसङ्ग इति प्रतिवाद्याशङ्कां सिद्धान्त्यनुवदति—**संसार्यहमिति** ।। ४१ ।।

तां दूषयति—**तर्हीति** । यथा त्वयाऽनुभवावष्टम्भेनैव मदुक्तातिप्रसङ्गस्य भङ्गः साधितस्तथा मयाऽपि तेनैव पुनरज्ञानावृत्त्यवस्थयोर्जीवगत्वमप्युच्यप्रबुद्धः परोक्षापरोक्ष-ज्ञानवान् । मानमङ्गीकार्यमेवेति तात्पर्यम् । **ब्रह्मेति** । एतेनैकस्या अप्यावृत्त्यवस्थाया असदावरणाभानावरणाभिप्रायेण परोक्षापरोक्षद्विविधज्ञाननाश्यत्वाद्द्वैविध्यं न त्वन्यथा । तत्त्वे त्वज्ञानमावृतिरिति पूर्वग्रन्थ इति पूर्वे अवस्थे चेत्युत्तरत्र च तदैक्योक्ति-विरोधादित्याशयः । न चैवं तर्हि परोक्षादिज्ञानद्वयेऽप्येकावस्थात्वमेवास्तु लाघवादिति वाच्यम् । परोक्षज्ञानस्य सकलकर्मकाण्डानुष्ठानोपयोगित्वादवस्थान्तरत्वमावश्यकमेवेति भावः ।। ४२ ।।

अज्ञानस्याश्रयो ब्रह्मेत्यधिष्ठानतया जगुः ।
जीवावस्थात्वमज्ञानाभिमानित्वादवादिषम् ॥ ४३ ॥

ज्ञानद्वयेन नष्टेऽस्मिन्नज्ञाने तत्कृतावृतिः ।
न भाति नास्ति चेत्येषा द्विविधापि विनश्यति ॥ ४४ ॥

ननु तर्ह्यज्ञानाश्रयत्वं ब्रह्मणः पूर्वाचार्यैः कथमुक्तमित्याशङ्क्य, तद्-विवक्षां दर्शयति—**अज्ञानस्येति**। ब्रह्मणोऽज्ञानाधिष्ठानत्वविवक्षया तदाश्रय-त्वमुक्तमित्यर्थः। भवद्भिस्तर्हि किं विवक्षया जीवावस्थात्वमुक्तमित्याशङ्क्य, स्वविवक्षां दर्शयति—**जीवावस्थात्वमिति** ॥ ४३ ॥

एवं बन्धहेतुभूतमवस्थात्रयं प्रदर्श्य, अवशिष्टास्ववस्थासु मध्ये पूर्वोक्ता-ज्ञानावरणनिवृत्तिद्वारा मुक्तिहेतुमवस्थाद्वयं दर्शयति—**ज्ञानद्वयेनेति**। परो-क्षत्वापरोक्षत्वलक्षणेन ज्ञानद्वयेन आवरणकारणे अज्ञाने नष्टे सति तत्कृता-वृतिः तेनाज्ञानेनोत्पादितं 'न भाति नास्ति' इति व्यवहारकारणं द्विविध-मप्यावरणं कारणाभावान्नश्यतीति ॥ ४४ ॥

नन्वेवं यद्यज्ञानमहमज्ञ इत्याद्यनुभवाज्जीवाश्रितमेव चेत्तर्हि श्रीमत्सर्वज्ञात्म-मुनीश्वरचरणैः'राश्रयत्वविषयत्वभागिनी निर्विभागचितिरेव केवले'ति तस्य ब्रह्ममात्राश्रय-विषयकत्वं कथमुक्तमित्याशङ्क्याज्ञानात्मकानादिभावभ्रमाधिष्ठानत्वैकविवक्षया संक्षेप-शारीरकोक्तिः प्रकृताऽस्त्यस्मदीया, तर्ह्यज्ञोऽहं ब्रह्मसत्त्वभाने मद्दृष्टितो न हीत्याद्युक्तिस्तु जीवे निरुक्तरीत्या तदभिमानित्वात्तत्र तदवस्थात्वाभिप्रायिकैवेति विषयविभेदान्नात्र विरोधगन्धोऽपीत्याह—**अज्ञानस्येति**। जगुः प्रोक्तसंक्षेपशारीरकाचार्यादयः प्रोचुरि-त्यर्थः ॥ ४३ ॥

ननु भवत्वेवमज्ञानमेकमप्यधिष्ठेयत्वावच्छेदेन ब्रह्माश्रितमभिमेयत्वावच्छेदेन जीवावस्थात्वापन्नमथापि कथमेतस्य सकार्यस्य विनाशः स्यादित्यत्राऽऽह—**ज्ञानद्वयेनेति**। **तत्कृतेति**। आवृतिरिति च्छेदः। एतेनासदावरणाभानावरणयोरज्ञानकार्यत्वमेवेति द्योत्यन्ते। न चैवं चेत्तर्हि तत्र प्रागभावप्रतियोगित्वलक्षणं जन्यत्वेन तत्प्राक्कालावच्छेदेना-वरणाभावापत्तिस्तथात्वे त्वनावरणज्ञानोपलब्ध्यापत्तिश्चेति वाच्यम्। प्रकृते कार्यत्वस्य तद्बाधबाध्यत्वाख्यस्य तदितरदृश्यसाधारणस्यैव विवक्षितत्वात्। तच्च तत्सहचरे द्विविधावरणे मन्दान्धकारे नीलरूपवत्तद्व्याप्ये जीवेश्वराद्यनादिदृश्यचतुष्टयेऽवतमसे सर्पसंदर्शनशक्तिवन्निरुक्ततिमिरकार्ये विषधरत्वादिवदुक्ताज्ञानजन्ये नभः प्रभृति-प्रपञ्चेऽपि वर्तत एवेत्युचितमेवास्य साधारण्यम्। एवं च न जीव ईश इत्याद्यनादिषट्-संख्याप्रत्याख्यानमपीति दिक् ॥ ४४ ॥

परोक्षज्ञानतो नश्येदसत्त्वावृतिहेतुता ।
अपरोक्षज्ञाननाश्या ह्यभानावृतिहेतुता ।। ४५ ।।

अभानावरणे नष्टे जीवत्वारोपसंक्षयात् ।
कर्तृत्वाद्यखिलः शोकः संसाराख्यो निवर्तते ।। ४६ ।।

निवृत्ते सर्वसंसारे नित्यमुक्तत्वभासनात् ।
निरङ्कुशा भवेत्तृप्तिः पुनः शोकासमुद्भवात् ।। ४७ ।।

कस्यांशस्य केन निवृत्तिरित्यपेक्षायां उभयं विभज्य दर्शयति—**परोक्षज्ञानत इति**। 'कूटस्थोऽस्ति' इत्येवंरूपात्परोक्षज्ञानात् अज्ञानस्यासत्त्वावरणकारणत्वं निवर्तते। 'कूटस्थोऽस्मि' इत्यपरोक्षज्ञानेन तु 'कूटस्थो न भाति' इत्येवंरूपावरणकारणत्वं निवर्तते ।। ४५ ।।

इदानीं ज्ञानस्य फलरूपावस्थाद्वये प्रथमावस्थामाह—**अभानावरण इति**। अभानावरणे निवृत्ते भ्रान्त्या प्रतीयमानस्य जीवत्वस्यापि निवृत्तत्वात्तन्निमित्तकः कर्तृत्वादिलक्षणः संसाराख्यः शोकः सर्वोऽपि निवर्तत इत्यर्थः ।। ४६ ।।

एवं शोकापगमरूपामवस्थां प्रदर्श्य निरङ्कुशतृप्तिलक्षणां द्वितीयां दर्शयति—**निवृत्ते सर्वसंसार इति** ।। ४७ ।।

तत्र तन्नाशनविभागमाह—**परोक्षेति । असत्त्वेति ।** मूलाज्ञाननिष्ठासदावरणोपादानतेत्यर्थः ।। ४५ ।।

एवमज्ञानमावृतिस्तद्वदित्यादिना प्राक्प्रतिज्ञातजीवावस्थासप्तकमध्ये विक्षेपान्तावस्थात्रयस्यैव तिस्रो बन्धकृतः स्मृता इत्यनेन बन्धकत्वमुक्त्वा ज्ञानस्य तन्निवारकस्य स्वरूपभूतमवस्थाद्वयं कथितमिदानीं तत्फलीभूतं शोकमोक्षाद्यवस्थाद्वयं क्रमात्पूर्वोत्तरहेतुहेतुमद्भावेनावबोधयति—**अभानेत्यादिद्वाभ्याम्** । कर्तृत्वादीत्यत्रादिना भोक्तृत्वमंतृत्वादिग्रहः ।। ४६ ।।

निवृत्त इति । नित्येति । स्वप्रकाशपद्मरागादिरत्नारोपितवह्न्यध्यासबाधे तद्भानवन्निखिलद्वैतबाधे सति सद्य एव निजाधिष्ठानीभूताद्वैतब्रह्मात्मनिष्ठनित्यमुक्तत्वानुभवनादित्यर्थः ।। ४७ ।।

अपरोक्षज्ञानशोकनिवृत्त्याख्ये उभे इमे ।
अवस्थे जीवगे ब्रूत आत्मानं चेदिति श्रुतिः ।। ४८ ।।

अयमित्यपरोक्षत्वमुक्तं तद्द्विविधं भवेत् ।
विषयस्वप्रकाशत्वाद्धियाप्येवं तदीक्षणात् ।। ४९ ।।

ननु 'आत्मानं चेद्विजानीयात्' (बृ० ४।४।१२) इति मन्त्रव्याख्याने प्रवृत्तत्वात्तद्विहाय मध्येऽज्ञानाद्यवस्थासप्तकनिरूपणं प्रकृतासङ्गतमित्याशङ्क्य, 'आत्मानं चेद्विजानीयात्' (बृ० ४।४।१२) इत्यस्याः श्रुतेस्तात्पर्यनिरूपणशेषत्वेन अभिहितत्वान्न प्रकृतासङ्गतमित्यभिप्रेत्य, श्रुतितात्पर्यमाह—

अपरोक्षज्ञानेति । चिदाभासनिष्ठं यदवस्थासप्तकमस्ति तत्रापरोक्षज्ञानशोकनिवृत्तिलक्षणमवस्थाद्वयं प्रतिपादयितुमयं मन्त्रः प्रवृत्त इत्यभिप्रायः ।४८।

'अयमित्यपरोक्षत्वम्' इत्यत्र 'अयम्' इति पदेनात्मनोऽपरोक्षत्वमुच्यत इत्युक्तं, तथा सति अपरोक्षज्ञानविषयत्वमेव स्यान्न परोक्षज्ञानविषयत्वमित्याशङ्क्य, तदुपपादनाय अपरोक्षज्ञानं विभजते—

अयमितीति । द्वैविध्ये कारणमाह—**विषयेति** । विषयस्य चिद्रूपस्यात्मनः स्वप्रकाशत्वात्स्वव्यवहारसाधनान्तरनिरपेक्षत्वात्, धिया बुद्ध्या एवं स्वप्रकाशत्वेन तदीक्षणात्तस्य विषयस्य आत्मनोऽवलोकनाच्चेत्यर्थ ।।४९।।

एवमुपपादितं शास्त्रार्थं प्राक्प्रतिज्ञातमन्त्रविवरणेन सह संयोजयति—**अपरोक्षेति** । एवं चाऽऽत्मानं चेदित्यादिमन्त्रस्तावच्चिदाभासाख्यजीवनिष्ठोक्ताज्ञानाद्यवस्थासप्तकमध्ये ह्यपरोक्षज्ञानशोकनिवृत्त्यात्मकावस्थाद्वयमेव पञ्चमषष्ठसङ्ख्यं प्रतिपादितुं इत्याशयः ॥ ४८ ॥

ननु यत्साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्मेति श्रुतेर्ब्रह्मस्वरूपस्य नैसर्गिकमनधीनभानलक्षणं स्वप्रकाशत्वरूपमपरोक्षत्वं स्वतः सिद्धमेव तथा च तस्य कथमसङ्गकूटस्थचिद्रूपस्याजन्यत्वादवस्थारूपत्वं मन्त्रः प्रतिपादयेदित्याशङ्क्य निरुक्तश्रुतिवत् 'तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' इत्यादीनां श्रुतिशतानां सत्त्वात्तत्त्वमस्यादिविचारजन्यचरमवृत्त्याख्यापरोक्षप्रमावृत्तिविषयत्वमेवोक्तमन्त्रेऽवस्थाज्ञानत्वेन विवक्षितमिति समाधातुं सानुवादमुक्तमन्त्रोक्तापरोक्षत्वं द्वेधा विभजते—**अयमितीत्यादिना** । तत्र क्रमाद्धेतू अप्याह—**विषयेत्यादिना** ॥ ४९ ॥

परोक्षज्ञानकालेऽपि विषयस्वप्रकाशता ।
समा ब्रह्म स्वप्रकाशमस्तीत्येवं विबोधनात् ॥ ५० ॥
अहं ब्रह्मेत्यनुल्लिख्य ब्रह्मास्तीत्येवमुल्लिखेत् ।
परोक्षज्ञानमेतन्न भ्रान्तं बाधानिरूपणात् ॥ ५१ ॥
ब्रह्म नास्तीति मानं चेत्स्याद्बाध्येत तदा ध्रुवम् ।
न चैवं प्रबलं मानं पश्यामोऽतो न बाध्यते ॥ ५२ ॥

भवतु द्वैविध्यं, एतावता परोक्षज्ञानविषयत्वे किमायातमित्याशङ्क्य, विषयस्वप्रकाशत्वं परोक्षज्ञानविषयत्वविरोधि न भवतीत्याह—**परोक्षज्ञानेति** । अपरोक्षज्ञानकाल इव परोक्षज्ञानकालेऽपि विषयस्य ब्रह्मणः स्वप्रकाशताऽस्त्येव । अत्रोपपत्तिमाह—**ब्रह्म स्वप्रकाशमिति** ॥५०॥

प्रत्यगभिन्नब्रह्मगोचरस्य ज्ञानस्य कुतः परोक्षत्वमित्याशङ्क्य, प्रत्यगंशाग्रहणादित्याह—**अहं ब्रह्मेति** । नन्विदं भ्रान्तमित्याशङ्क्य, अस्य भ्रान्तत्वं किं बाध्यत्वात्, उत व्यक्त्यनुल्लेखात्, अथ वा आपरोक्ष्येण ग्रहणयोग्यस्य पारोक्ष्येण ग्रहणात्, यद्वा अंशाग्रहणात् ? इति चतुर्धा विकल्प्य, प्रथमं प्रत्याह—**एतदिति** ॥ ५१ ॥

हेतुं विवृणोति—**ब्रह्म नास्तीति** ॥ ५२ ॥

नन्वेवं यद्यपरोक्षत्वं ब्रह्मणः स्वरूपत्वप्रमावृत्ति कृतैक्यविषयत्वाभ्यां द्विविधं चेद्ब्रह्मविषयकं परोक्षज्ञानमेव न स्यात्तस्य स्वप्रकाशत्वेन नित्यापरोक्षत्वादित्याशङ्क्य समाधत्ते—**परोक्षेत्यादिना** ॥ ५० ॥

ननु भवत्वेवं 'अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद सन्तमेनं ततो विदुरिति' इति श्रुतेर्ब्रह्म स्वप्रकाशमस्तीति बोधसम्भवेन ब्रह्मणः परोक्षज्ञाने स्वप्रकाशत्वं माऽस्तु विरुद्धमथाप्युक्तपरोक्षज्ञानं यथार्थानुभवो मानमनपेक्षतयेष्यत इत्यभियुक्तोक्तेरयथावद्ग्राहकत्वेन प्रमाणमेव कथं स्यादिति चेत्सत्यम् । किं ज्ञानस्याप्रामाण्यं बाधितत्वेनेष्टमुत स्वविषयीभूतवस्तुगतयत्किञ्चिदंशाग्रहणेनापि । नाऽऽद्यः । ब्रह्म नास्तीति मानं चेदित्यादिनाऽग्रेऽनुपदमेव प्रकृते तस्या निरसिष्यमाणत्वात् । एवं नान्त्योऽपि । तदग्र एव तस्य व्यक्त्यनुल्लेखमात्रेणेत्यादिना समाधास्यत्वादित्यभिसन्धायाऽऽदौ परोक्षज्ञानमेव सप्रतियोग्युल्लेखमभिनीय तस्याभ्रान्तत्वं प्रतिजानीते—**अहमित्यादिना न भ्रान्तमित्यन्तेन** । तत्र हेतुं प्रतिबोधयति—**बाधेति** ॥ ५१ ॥

तमेव प्रतिपादयन्नुक्ताभिसन्धिं समुद्घाटयति—**ब्रह्म नास्तीत्यादिना** ॥ ५२ ॥

व्यक्त्यनुल्लेखमात्रेण भ्रमत्वे स्वर्गधीरपि ।
भ्रान्तिः स्याद्व्यक्त्यनुल्लेखात्सामान्योल्लेखदर्शनात् ॥५३॥
अपरोक्षत्वयोग्यस्य न परोक्षमतिर्भ्रमः ।
परोक्षमित्यनुल्लेखादर्थात्पारोक्ष्यसम्भवात् ॥ ५४ ॥
अंशागृहीतेर्भ्रान्तिश्चेद्घटज्ञानं भ्रमो भवेत् ।
निरंशस्यापि सांशत्वं व्यावर्त्यांशविभेदतः ॥ ५५ ॥

द्वितीयमतिप्रसङ्गेन दूषयति—**व्यक्तीति** । 'अयं स्वर्ग' इत्येवमाकारेण ग्रहणाभावात् किन्तु 'स्वर्गोऽस्ति' इत्येवं सामान्यकारेण प्रतीतेः स्वर्गबुद्धेरपि भ्रमत्वप्रसङ्ग इत्यर्थः॥ ५३ ॥

तृतीयं निराकरोति—**अपरोक्षत्वेति** । अपरोक्षत्वेन ग्रहणयोग्यस्य प्रत्यगभिन्नब्रह्मविषयस्य परोक्षज्ञानस्य भ्रमत्वं न सम्भवति । कुत इत्यत आह—**परोक्षमिति** । ब्रह्म परोक्षमित्येवमाकारेण ग्रहणाभावात् । कुतस्तर्हि तस्य परोक्षत्वमित्याशङ्क्याह—**अर्थादिति** । 'इदं ब्रह्म'इत्येवं व्यक्त्युल्लेखाभावसामर्थ्यात्परोक्षत्वसिद्धिरिति भावः ॥ ५४ ॥

चरममाशङ्कते—**अंशेति** । ब्रह्मांशग्रहणेऽपि प्रत्यगंशाग्रहणाद्भ्रमत्वमित्यर्थः । एवं तर्हि घटादिज्ञानस्यापि भ्रमत्वप्रसङ्ग इति परिहरति—**घटज्ञानमिति** । आन्तरावयवानामग्रहणादिति भावः । ननु घटस्य सावयवत्यादंशग्रहणेऽपि अंशाग्रहणं सम्भवति, ब्रह्मणस्तु निरंशत्वात्कथमंशग्रहणसम्भव इत्याशङ्क्य, व्यावर्त्यांशोपाधिनिमित्तकं सांशत्वं तस्य भविष्यतीत्याह—**निरंशस्येति** ॥ ५५ ॥

द्वितीयदोषमपि प्रतिबन्द्या प्रत्याह—**व्यक्तीति** ॥ ५३ ॥

ननूक्तप्रतिबन्द्ययुक्तैव । स्वर्गस्य दृश्यत्वेन जातिव्यक्तिघटितस्य स्वर्गत्वजातिविषयिण्याः स्वर्गधियो व्यक्त्यनुल्लेखेन परोक्षाया अपि प्रमात्वसम्भवादद्वैतब्रह्मणस्तु दृङ्मात्रत्वेनातथात्वान्नित्यापरोक्षयोग्यस्य परोक्षज्ञानं भ्रान्तिरेवेत्याशङ्क्य मैवमित्याह—**अपरोक्षत्वेति** । तत्र हेतुं द्योतयति - **परोक्षमितीत्याद्युत्तरार्धेन** ॥ ५४ ॥

ननु ब्रह्मैवेदमग्र आसीत्तदात्मानमेवावेदहं ब्रह्मास्मीति तस्मात्तत्सर्वमभवदिति श्रुतेरपरोक्षज्ञाने ब्रह्मात्मसदंशाः प्रतीयन्ते । अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद इत्यादिश्रुतौ परोक्षज्ञानप्रतिपादिकाया त्वात्मांशं विना ब्रह्मसदंशावेव प्रतीतिगोचरावतोंऽशाग्रहणात्

असत्त्वांशो निवर्तेत परोक्षज्ञानतस्तथा ।
अभानांशनिवृत्तिः स्यादपरोक्षधिया कृता ॥ ५६ ॥

कौ तौ व्यावर्त्यौ अंशौ ? इत्याकाङ्क्षायामाह—**असत्त्वांश इति** ॥ ५६ ॥

परोक्षप्रमितिर्भ्रांतिरेवेत्याशङ्क्य पुनः प्रतिबन्द्यैव प्रत्याचष्टे—**अंशेत्याद्यर्धेन**। घटज्ञाने हि यदवयवावच्छेदेन सालोकलोचनसन्निकर्षः स एव प्रतिभातीति तत्राप्यंशाग्रहाद्भ्रान्तित्वापत्तिरित्याशयः। न चैवमप्यंशाङ्गीकृतिरनुचितैवेति वाच्यम्। 'अनृतजडविरोधिरूपमन्तत्रयमलबन्धनदुःखताविरुद्धमि'त्यारंभ एव संक्षेपशारीरके यथा प्राचीनाचार्यचरणैर्निर्णीतं तथैवेहापीष्टत्वादित्याशयं विशदयति—**निरंशस्यापीत्याद्यर्धेनैव** ॥ ५५ ॥

ननु **संक्षेपशारीरके** तु व्यावर्त्याः सकलदृश्ये प्रसिद्धा अनृतादयोंऽशाः कण्ठत एवोक्तास्तथेह परोक्षापरोक्षज्ञानक्षपणीयौ द्वैते सुप्रसिद्धावद्वैते ब्रह्मणि निराकरणीयौ कावंशावित्याशङ्क्य क्रमात्तौ व्युत्पादयति—असत्त्वेत्यादि सप्रपञ्चम्। समेधितमेवेदं मयैतन्मतप्रस्तावे **बोधैक्यसिद्धौ** प्रथमपरिच्छेद एव प्रतिकर्मव्यवस्थादिप्रकरणे—

"आस्तामेवंविषयनिलयो मोह एतावता किं,
नष्टं तत्रानुपदमतवच्चेत्परोक्षव्यवस्था।
भायात्तर्हि स्व इव विषयस्तेन साक्षात्स्वरादिः
शाब्दादावित्यमुदमवदन्भारतीतीर्थपादाः" ॥

इति **भारतीतीर्थमतं** परोक्षादिव्यवस्थामुपक्रम्य—

"असदावरणं भवेद्यथावदभानावरणं च गोचरे।
प्रथमक्षपणं परोक्षतश्चरमस्यापि बतापरोक्षतः ॥

विषये तु विषयाभिधसम्बन्धेनैव तत्स्थितिं याति।
आश्रयतयैव चाऽऽत्मन्यक्षिणि काचादिवत्सततम् ॥

सिद्धान्तलेशे तु न दीक्षितैरिदं प्रपञ्चितं प्रागुपलक्षणत्वतः।
मयैव तेनाद्य तु तृप्तिदीपमवेक्ष्य सध्र्यक्कृते निरूपितम् ॥

अद्वैतसिद्ध्यादिषु तस्य विस्तरः स्पष्टस्ततो नेदमसाम्प्रदायिकम्।
सद्भानयोस्तत्प्रतियोगिताऽपि विशिष्टयोरेव न तद्विरोधः ॥

सत्तास्फुरत्तापरमात्मनो या नाऽऽच्छाद्यते सा ह्युपजीव्यभावात्।
आनन्दमाच्छादयतीव मायेत्यादर्शवाचाऽपि सहेति मङ्गलम् ॥" इति।

अधिकं त्वद्वैतात्मप्रबोधाभिधायां मदीयैतट्टीकायामेव द्रष्टव्यमिति दिक् ॥ ५६ ॥

[1]दशमोऽस्तीति विभ्रान्तं परोक्षज्ञानमीक्ष्यते ।
ब्रह्मास्तीत्यपि तद्वत्स्यादज्ञानावरणं समम् ।। ५७ ।।
आत्मा ब्रह्मेति वाक्यार्थे निःशेषेण विचारिते ।
व्यक्तिरुल्लिख्यते यद्वद्दशमस्त्वमसीत्यतः ।। ५८ ।।
दशमः क इति प्रश्ने त्वमेवेति निराकृते ।
गणयित्वा स्वेन सह स्वमेव दशमं स्मरेत् ।। ५९ ।।

अपरोक्षत्वेन ग्रहणयोग्यविषयं परोक्षज्ञानं भ्रमो न भवतीत्येतद्दृष्टान्तप्रदर्शनेनापि द्रढयति—दशम इति । 'दशमोऽस्ति' इत्याप्तवाक्यजन्यं परोक्षज्ञानमभ्रान्तं यथा 'ब्रह्मास्ती'ति वाक्यजन्यज्ञानमपि तद्वदभ्रान्तं स्यात् । अज्ञानकृतस्य असत्त्वावरणांशस्य समत्वादिति भावः ।। ५७ ।।

ननु वाक्यात्परोक्षज्ञानमुत्पद्यते चेत् अपरोक्षज्ञानं कुतो जायत इत्याशङ्क्य, विचारसहिताद्वाक्यादेवेत्याह—आत्मेति । 'अयमात्मा ब्रह्म' (बृ० २।५।१९) इति महावाक्यार्थे सम्यग्विचार्यमाणे पूर्वमस्तीति परोक्षतयाऽवगतस्य ब्रह्मणः प्रत्यगभिन्नत्वं साक्षात्क्रियते । तत्र दृष्टान्तः—यद्वदिति । 'दशमस्त्वमसि' इत्यतो वाक्यात्स्वात्मनि दशमत्वं यथा साक्षात्क्रियते तद्वदित्यर्थः ।। ५८ ।।

विचारसहकृतेन वाक्येन अपरोक्षज्ञानोत्पत्तिप्रकारं सदृष्टान्तमाह—
दशम इति । 'त्वयाऽस्तीति निरूपितो दशमः कः ?' इति प्रश्ने कृते, तस्य 'त्वमेव' इति परिहारेऽभिहिते स्वात्मना सह इतरान्नव गणयित्वा 'अहं दशमोऽस्मि' इति स्वमेव दशमं स्मरेदित्यर्थः ।। ५९ ।।

नन्वात्मत्वेनाहं ब्रह्मास्मीत्युत्तमपुरुषाख्यातभानार्हब्रह्माद्वैतात्मवस्तुन्यस्ति ब्रह्मेति प्रथमपुरुषाख्यातभानघटितपरोक्षज्ञानं कथं प्रमेत्याशङ्कां दशमदृष्टान्तेन निराचष्टे—दशमोऽस्तीत्यविभ्रान्तमिति ।। ५७ ।।

नन्वाप्तवाक्याद्दशमोऽस्तीति परोक्षज्ञानवद्भवतु वेदवाक्याद्ब्रह्मणोऽपि परोक्षज्ञानं प्रमारूपमेव तथाऽप्यपरोक्षं तु दशमस्थले गौरादिरूपवच्चेतनचाक्षुषं सम्भवदप्यद्वैतब्रह्मणि निर्गुणे तत्कथमित्याक्षेपं सदृष्टान्तं निराचष्टे—आत्मेति ।। ५८ ।।

ननु यदि दशमापरोक्षमपि शाब्दं नैव स्यात्किन्तु गौरादिरूपवच्चेतनचाक्षुषमेव

---

१. दशमोस्तीत्यविभ्रान्तमिति मोडकपाठः ।

दशमोऽस्मीति वाक्योत्था न धीरस्य विहन्यते ।
आदिमध्यावसानेषु न नवत्वस्य संशयः ।। ६० ।।
सदेवेत्यादिवाक्येन ब्रह्मसत्त्वं परोक्षतः ।
गृहीत्वा तत्त्वमस्यादिवाक्याद्व्यक्तिं समुल्लिखेत् ।। ६१ ।।

अस्य 'दशमोऽस्मि' इति ज्ञानस्य विचारसहितवाक्यजनित्वात् न विपर्ययादिरूपतेत्याह—**दशम इति ।** अस्य दशमस्य 'त्वमेव दशमोऽसि' इति वाक्यात्परिगणनादिलक्षणविचारसहितादुत्पन्नः 'अहं दशमोऽस्मि' इति बुद्धिर्न विहन्यते न केनापि ज्ञानेन बाध्यते । परिगणनक्रियायां च नवानामादिमध्यावसानेषु परिगणनेऽपि 'अहं दशमो न वा ?' इति संशयश्च न भवेत्, अतः सा दृढापरोक्षरूपेत्यर्थः ।। ६० ।।

एतत्सर्वं दार्ष्टान्तिके योजयति—**सदेवेत्यादीति ।** 'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' (छा० ६।२।१) इत्यादिवाक्येन ब्रह्मसद्भावं प्रथमं निश्चित्य, तस्य जीवरूपेण प्रवेशादियुक्तिपर्यालोचनया प्रत्यग्रूपत्वं सम्भाव्य, 'तत्त्वमसि' (छा० ६।८।२) इत्यादिवाक्येन अद्वितीयब्रह्मरूपमात्मानं 'अहं ब्रह्मास्मी'ति साक्षात्कुर्यात् ।। ६१ ।।

स्याच्चेत्तर्हि स्यादपि दार्ष्टान्तिके निर्गुणे ब्रह्मणि तद्वैषम्यशङ्कावकाशस्तदेवाऽऽदौ न पश्याम इति दशमापरोक्षप्रकारविवरणेन व्यनक्ति—**दशम इत्यादिना** ॥ ५९ ॥

पूर्वं स्वगणना भ्रमान्न कृतेति नद्यां ममार दशम इत्यादिविक्षेपः संपन्नोऽभूदिदानीं केनचित्कारुणिकेनास्ति दशमस्त्वं शोकं मा कुर्विति प्रतिज्ञाय तेन क्वासौ को वेत्यादिपृष्टे त्वमेव दशमोऽसीति समुपदिष्टे स्वेन सह तान्नव गणयित्वा स्वमेव दशमं दशमस्त्वमसीति वाक्यकरणकान्निरुक्तरीतिकगणनविनिरस्तप्रतिबन्धत्वेन विशुद्धाद्बोधादनुसंदधतोऽस्य दशमोऽस्मीति धीर्दशमस्त्वमसीति वाक्योत्था धीः प्रमानिरुक्तरीतिकनवादिगणनारंभमध्यसमाप्तिष्वपि नैव विहन्यते तथा स्वस्मिन्नवत्वस्य संशयोऽपि न भवतीति फलितमाह—**दशमोऽस्मीति वाक्योत्थेति** ॥ ६० ॥

उक्तमर्थं दार्ष्टांतिके स्पष्टयति—**सदेवेत्यादीति** । 'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' इत्युद्दालकाख्यपित्रा छान्दोग्यषष्ठे श्वेतकेत्वाख्यं स्वपुत्रं प्रति समुपदिष्टेनेत्यर्थः । तत्रासौ तेन परोक्षतो ब्रह्मसत्त्वं गृहीत्वाऽनेन जीवेनाऽऽत्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणीत्यादिश्रुत्युक्तयुक्तिप्रयुक्तासम्भावनादिप्रतिबन्धे सति यथा विचारितात्तत्त्वमस्यादिवाक्यात्सञ्जातसम्बोधेन द्वैतमिथ्यात्वपूर्वकाद्वैतब्रह्मात्मैक्यव्यक्त्युल्लेखं यथा प्राक्सम्पादितवांस्तथाऽऽधुनिकोऽप्याधिकारी निरुक्तरूपां व्यक्तिं समुल्लिखेदिति सम्बन्धः ॥ ६१ ॥

आदिमध्यावसानेषु स्वस्य ब्रह्मत्वधीरियम् ।
नैव व्यभिचरेत्तस्मादापरोक्ष्यं प्रतिष्ठितम् ॥ ६२ ॥

जन्मादिकारणत्वाख्यलक्षणेन भृगुः पुरा ।
पारोक्ष्येण गृहीत्वाथ विचाराद्व्यक्तिमैक्षत ॥ ६३ ॥

आदिमध्येति । अत इयमात्मनो ब्रह्मत्वबुद्धिः पञ्चानां कोशानामादिमध्यावसानेष्वात्मनो व्यवहारेऽपि नैवान्यथा भवति, अतोऽस्या बुद्धेरपरोक्षज्ञानत्वं सुस्थितमित्यर्थः ॥ ६२ ॥

नन्वेवं प्रथमतः केवलं वाक्यात्परोक्षज्ञानमुत्पद्यते, पश्चात् विचारसहितादपरोक्षज्ञानमित्येतत्कुतोऽवगम्यत इत्याशङ्क्य, तैत्तिरीयकादिश्रुत्यर्थपर्यालोचनयेत्याह—जन्मादीति । भृगुनामकः कश्चिदृषिः पुरा 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते । येन जातानि जीवन्ति । यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति । तद्विजिज्ञास्व । तद्ब्रह्मेति' (तै० ३।१) इति वाक्यश्रुतेन जगज्जन्मादिकारणत्वाख्यलक्षणेन जगत्कारणं ब्रह्म परोक्षतयाऽवगत्य, अन्नमयादिपञ्चकोशविचाराद्व्यक्तिं प्रत्यगात्मरूपं ब्रह्म दृष्टवानित्यर्थः ॥ ६३ ॥

अथ फलितं कथयन्नुक्तशब्दापरोक्षवादसिद्धान्तमुपसंहरति—आदिमध्येति । 'सन्मूलाः सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः' इति तच्छ्रुतेः सृष्टिस्थितिलयकालेष्वपीत्येतत् । अपरोक्ष्यं शब्दापरोक्षत्वमित्यर्थः ॥ ६२ ॥

न केवलं छांन्दोग्योपनिषद्येव विचारप्रवृत्तिप्रयोजकं ब्रह्मसत्त्वमात्रोपपादकाद्वाक्यात्प्रथमं तस्य परोक्षज्ञानं ततो विचारप्रवृत्तौ सत्यां तत्प्रसादाद्ब्रह्मात्मैक्यप्रतिपादकादुपनिषद्वाक्यादेवापरोक्षज्ञानमपीति नियतं किन्तु तैत्तिरीयाद्युपनिषत्स्वपीति प्रकटयति—जन्मादीति । एवं हि तैत्तिरीयैर्भृगुवल्ल्युपनिषत्समाम्नायते—'भृगुर्वै वारुणिः । वरुणं पितरमुपससार । अधीहि भगवो ब्रह्मेति । तस्मा एतत्प्रोवाच । अन्नं प्राणं चक्षुः श्रोत्रं मनो वाचमिति । तँ होवाच । यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते । येन जातानि जीवन्ति । यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति । तद्विजिज्ञासस्व । तद्ब्रह्मेति' इत्यादि । तत्र वरुणपुत्रो भृगुनामा प्रसिद्धो महर्षिर्ब्रह्मजिज्ञासुः स्वपितरमुपसन्नः संस्तेनोक्तयतो वेत्यादिवाक्यज्ञापितेन जन्यजगज्जन्माद्यभिन्ननिमित्तोपादानकारणत्वाख्येन ब्रह्मणस्तटस्थलक्षणेन पूर्वं ब्रह्म परोक्षेण । वह्निभ्रमाधिष्ठानं स्वप्रकाशं रत्नं भवितुमर्हति । तदभिन्ननिमित्तोपादानकारणत्वात् । यो यद्भ्रमाभिन्ननिमित्तोपादानं स तदधिष्ठानम् यथाविषधरभ्रमाभिन्ननिमित्तोपादानं हारस्तदधिष्ठानमित्यादिवदनुमित्यात्मपरोक्षज्ञानेनेत्यर्थः । गृहीत्वा तद्विषयकासत्त्वापादकावरणनिवृत्तिं संपाद्येति यावत् । अथानन्तरं

यद्यपि त्वमसीत्यत्र वाक्यं नोचे भृगोः पिता ।
तथाप्यन्नं प्राणमिति विचार्य स्थलमुक्तवान् ॥ ६४ ॥
अन्नप्राणादिकोशेषु सुविचार्य पुनः पुनः ।
आनन्दव्यक्तिमीक्षित्वा ब्रह्मलक्ष्माप्ययूयुजत् ॥ ६५ ॥
सत्यं ज्ञानमनन्तं चेत्येवं ब्रह्मस्वलक्षणम् ।
उक्त्वा गुहाहितत्वेन कोशेष्वेतत्प्रदर्शितम् ॥ ६६ ॥

नन्वस्मिन्प्रकरणे 'त्वं ब्रह्मासी'त्येवमाद्युपदेशवाक्याभावात्कथं भृगोरात्मसाक्षात्कार इत्याशङ्क्य, आत्मसाक्षात्कारहेतुविचारयोग्यस्थलप्रदर्शनादित्याह—**यद्यपीति** ॥ ६४ ॥

नन्वन्नमयादिकोशेषु विचारितेषु प्रतीचः साक्षात्कारो भवतु, ब्रह्मणस्तु कथमित्याशङ्क्य, प्रतीच एव ब्रह्मत्वात्पञ्चकोशविचारेण आनन्दात्मव्यक्ति साक्षात्कृत्य 'आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते । आनन्देन जातानि जीवन्ति । आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्ति' (तै० ३।६) इत्येवं ब्रह्मलक्षणमपि प्रतीच्येव योजितवानित्याह—**अन्नप्राणादीति** ॥ ६५ ॥

ननु ब्रह्मलक्षणस्य आनन्दात्मरूपेण प्रतीचि योजनं न घटेत, ब्रह्मणस्तटस्थत्वेन प्रतीचो भिन्नत्वादित्याशङ्क्य, न भेदः सत्यादिलक्षणस्य ब्रह्मणः प्रत्यग्रूपेण अवस्थानश्रवणादित्याह—

सत्यमिति । 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तै० २।१।१) इत्येवं ब्रह्मस्वलक्षणं ब्रह्मणः स्वरूपलक्षणमभिधाय, 'यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्'

विचारात् । अन्नं प्राणमित्यादिना पित्रुक्तपञ्चकोशाख्यतदुपलब्धिस्थलविवेचनाद्धेतोरित्येतत् । व्यक्तिं ब्रह्मात्मैक्यस्थितिम् । ऐक्षतापरोक्षीचकारेत्यन्वयः ॥ ६३ ॥

ननु त्वं ब्रह्मासीति वरुणेन भृगुं प्रत्यपरोक्षताधायकं वाक्यं तु नैव प्रयुक्तं तथा च कथं तदुदय इत्याशङ्क्य समाधत्ते— **यद्यपीति** । अत्र भृगुवल्ल्याम् ॥ ६४ ॥

ननूक्तविचार्यस्थले कथं भृगुर्विचारं विधाय ततः शुद्धाद्वैतब्रह्मात्मैक्यविषयकापरोक्षप्रमां सम्पादितवानित्यत आह—**अन्नप्राणादीति** । आदिना मनोमयविज्ञानमयानन्दमयाः । विचारे सौष्ठवपौनःपुन्ये तु जन्यजगज्जन्माद्याभिन्ननिमित्तोपादानत्वरूपब्रह्मलक्षणयोजनतदनुग्राहकनानाविधलौकिकादितर्कोपन्यासाभ्यासपौष्कल्य एवेत्यर्थः ॥ ६५ ॥

नन्वन्नमयादिकोशचतुष्टयवदानन्दमयकोशस्यापि दृश्यत्वाविशेषात्तत्र दृङ्मात्रपर्यवसन्ननिरुक्तब्रह्मलक्षणस्य कथं योजनसम्भव इत्याशङ्क्य समाधत्ते— **सत्यमिति** ।

पारोक्ष्येण विबुध्येन्द्रो य आत्मेत्यादिलक्षणात् ।
अपरोक्षीकर्तुमिच्छंश्चतुर्वारं गुरुं ययौ ।। ६७ ।।

(तै० २।१) इत्यनेन वाक्येन पञ्चकोशगुहान्तःस्थितत्वेन तस्यैव प्रत्यग्रूपत्वमभिहितमित्यर्थः ।। ६६ ।।

एवं तैत्तिरीयश्रुतिपर्यालोचनया भृगोः परोक्षज्ञानपूर्वकविचारजन्यत्वं साक्षात्कारस्य दर्शयित्वा, छान्दोग्यश्रुतिपर्यालोचनेनापि तद्दर्शयति—पारोक्ष्येणेति । इन्द्रः 'य आत्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोकः' (छा० ८।७।१) इत्यादिवाक्यप्रतिपादितेन लक्षणेनात्मानं परोक्षतयाऽवगत्य विचाराच्छरीरत्रयनिराकरणेन तत्साक्षात्करणाय गुरुं ब्रह्माणं चतुर्वारमुपसन्न इति छान्दोग्योपनिषदि अष्टमाध्याये श्रूयते ।। ६७ ।।

ब्रह्मवल्ल्यां हि ब्रह्मविदाप्नोति परमिति प्रथमसूत्रवाक्येनाद्वैतविषयकज्ञानलक्षणं साधनं तत्साध्यं च तन्मात्राश्रयविषयकाज्ञानमात्रध्वस्तिरूपकैवल्यमप्युपन्यस्य किं लक्षणं तद्ब्रह्मवस्तु यद्विषयकज्ञानेनोक्तलक्षणमुक्तिरित्यपेक्षायां सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मेति वाक्येन तदीयं स्वरूपभूतं लक्षणं संक्षिप्याथ कस्तज्ज्ञानोपाय इत्याकांक्षायां 'यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्' इत्यादिना गुहाशब्दविवक्षितान्नमयाद्यानन्दमयान्तपञ्चकोशाधिष्ठानत्वोपलक्षितमेतदबाधितनित्यापरोक्षचैतन्यमेव 'यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ती'ति श्रुतिसिद्धमनन्तशब्दितदेशकालादित्रिविधपरिच्छेदविधुरं पञ्चकोशोपलक्षिताखिलद्वैतभ्रमाधिष्ठानीभूतं निर्विकल्पप्रत्यगानन्दरूपं वस्त्वेव प्रदर्शितमस्ति निरुक्तश्रुत्येत्यध्याहृत्य सम्बन्धः । तस्मात्प्रमोदाख्येष्टवस्तुसंभोगजन्यमनोवृत्तिविशेषलक्षणस्याऽऽनन्दस्य दृश्यत्वेऽपि तत्साक्षित्वोपलक्षितप्रत्यगभिन्नब्रह्मात्मानन्दस्य दृङ्मात्रत्वं समुचितमेवेति भावः ।। ६६ ।।

एवं श्वेतकेतुभृग्वोरुभयोरपि पूर्वं विचारप्रवर्तकं वाक्यैककरणकं परोक्षज्ञानं ततस्तद्विचारपरिपाके तत्प्रसादादेवापरोक्षज्ञानमपि दर्शयित्वा सम्प्रदायबाहुल्येन श्रोतॄणामाधुनिकमुमुक्षूणां श्रद्धासमृद्ध्यर्थमिन्द्रस्यापि तथात्वं छान्दोग्याष्टमाध्यायप्रसिद्धमेव समुदाहरति—परोक्षेणेति । य आत्मेत्यादीति । 'य आत्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोकः' इत्यादिलक्षणात्प्रजापतिप्रोक्ताद्वाक्यादित्यर्थः । परोक्षेणासत्त्वापादकावरणमात्रनिवर्तकान्तःकरणवृत्तिविशेषलक्षणज्ञानेनेति यावत् । विबुद्ध्याद्वैतं ब्रह्मेति शेषः । तद्विषयकोक्तावरणमेव विनिवर्त्येत्येतत् । शिष्टं तु तत्रैव स्पष्टमेव ।। ६७ ।।

आत्मा वा इदमित्यादौ परोक्षं ब्रह्म लक्षितम् ।
अध्यारोपापवादाभ्यां प्रज्ञानं ब्रह्म दर्शितम् ।। ६८ ।।
अवान्तरेण वाक्येन परोक्षा ब्रह्मधीर्भवेत् ।
सर्वत्रैव महावाक्यविचारादपरोक्षधीः ।। ६९ ।।
ब्रह्मापरोक्ष्यसिद्धयर्थं महावाक्यमितीरितम् ।
वाक्यवृत्तावतो ब्रह्मापरोक्ष्ये विमतिर्नहि ।। ७० ।।

इदानीमैतरेयश्रुतावपि तद्दर्शयति—**आत्मा वा** इति । 'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीन्नान्यत्किञ्चन मिषत्' (ऐ० १।१।१) इत्यनेन वाक्येन ब्रह्मणो लक्षणमभिधाय, 'स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति' (ऐ० ४।१।२) इत्युपक्रम्य 'तस्य त्रय आवसथास्त्रयः स्वप्ना अयमावसथोऽयमावसथोऽयमावसथः' (ऐ० ४।३।१२) इत्यनेन परमात्मनि जगदध्यारोपणप्रकारमभिधाय 'स जातो भूतान्यभिव्यैक्षत किमिहान्यं वावदिषत्' (ऐ० ४।३।१२) इति तस्यारोपितस्य अपवादमभिधाय, 'स एतमेव पुरुषं ब्रह्म ततममपश्यदिदमदर्शमिति' (ऐ० ४।३।१२) इति प्रत्यगात्मनो ब्रह्मस्वरूपत्वमभिहितम् । पुनश्च 'पुरुषे ह वा' (ऐ० ५।४।१) इत्यादिना ज्ञानसाधनवैराग्यजननाय गर्भवासादिदुःखं प्रदर्श्य, 'कोऽयमात्मेति वयमुपास्महे' (ऐ० ६।५।१) इत्यादिना विचारेण 'तत्त्वं'पदार्थपरिशोधनपुरःसरं 'प्रज्ञानं ब्रह्म' (ऐ० ६।५।३) इति प्रज्ञानरूपस्यात्मनो ब्रह्मत्वं दर्शितमित्यर्थः ।। ६८ ।।

उक्तन्यायमितरासु श्रुतिष्वप्यतिदिशति—**अवान्तरणेति** । सर्वत्र सर्वासु श्रुतिष्वित्यर्थः ।। ६९ ।।

ननु महावाक्यविचारस्य अपरोक्षज्ञानजनकत्वं स्वकपोलकल्पितमित्याशङ्क्य, वाक्यवृत्तौ आचार्यैस्तथा प्रतिपादितत्वान्मैवमित्याह—

एवमैतरेयकश्रुतावपि प्रथममवान्तरवाक्यात्परोक्षज्ञानं ततो विचारितान्महावाक्यादेवापरोक्षज्ञानमपि दर्शितमस्तीत्याह—**आत्मा वा इति** । तत्र ह्येवमाम्नायते—'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीन्नान्यत्किंचनमिषत्' इत्यादि । एवमनेन स्वरूपलक्षणवाक्येनाऽऽत्मनः स्वरूपलक्षणमभिधाय तेन परोक्षज्ञाने संजाते सति ततः 'स ईक्षत लोकान्नु सृजा' इत्यादिना तत्र जगदध्यारोपप्रकारं प्रपंच्यान्ते प्रज्ञानं ब्रह्मेति महावाक्येन तदपवादपूर्वकमपरोक्षज्ञानमपि तस्य स्फुटीकृतमस्तीत्यर्थः ॥ ६८ ॥

अयं नियमस्तूपनिषदन्तरेऽपि द्रष्टव्य इति स्पष्टयति—**अवान्तरेणेति** ॥ ६९ ॥

आलम्बनतया भाति योऽस्मत्प्रत्ययशब्दयोः ।
अन्तःकरणसंभिन्नबोधः स त्वंपदाभिधः ॥ ७१ ॥
मायोपाधिर्जगद्योनिः सर्वज्ञत्वादिलक्षणः ।
पारोक्ष्यशबलः सत्याद्यात्मकस्तत्पदाभिधः ॥ ७२ ॥

ब्रह्मापरोक्ष्ये इति । अतो वाक्याद् ब्रह्मापरोक्षज्ञाने विप्रतिपत्तिर्नास्तीत्यर्थः ॥ ७० ॥

वाक्यवृत्तौ उपपादनप्रकारं दर्शयति—

आलम्बनतयेति । योऽन्तःकरणसंभिन्नबोधः अन्तःकरणोपाधिकश्चिदात्मा अस्मत्प्रत्ययशब्दयोः अहमिति ज्ञानस्य अहमिति शब्दस्य चालम्बनतया विषयत्वेन भाति, स तथाविधो बोधः, त्वंपदाभिधः 'त्वम्' इति पदमभिधा वाचकं यस्य स त्वंपदाभिधः, त्वंपदवाच्य इत्यर्थः ॥ ७१ ॥

एवं 'त्वं'पदवाच्यार्थमभिधाय, 'तत्'पदवाच्यार्थमाह—

मायोपाधिरिति । पारोक्ष्यशबलः परोक्षत्वधर्मविशिष्ट इत्यर्थः । एवं तटस्थलक्षणमभिधाय, स्वरूपलक्षणमाह—**सत्याद्यात्मक इति** । सत्यमादिर्येषां ज्ञानादीनां ते सत्यादयः आत्मा स्वरूपं यस्य स तथाविधः, 'तत्'पदमभिधा वाचकं यस्य सः तत्पदाभिधः, तत्पदवाच्य इत्यर्थः ॥ ७२ ॥

ननु सिद्धान्तलेशसिद्धान्तसूक्तिमञ्जरीकारैः श्रवणविधिविचारे विवरणमतमुपन्यस्य—

"तथा तदीयाः शब्दस्तुपरोक्षज्ञानकृत्पुरा । मननादियुतोऽध्यक्षं कुर्याद्विधुरचित्तवत्" ॥

इत्युक्तत्वादिदमसांप्रदायिकमित्याशङ्क्य भगवद्भिर्भाष्यकारैरेव बृहद्वाक्यवृत्तौ कण्ठत एवेतदुपपादनान्मैवमित्याह—**ब्रह्मेति** । ब्रह्मापरोक्ष्ये तत्त्वमस्यादिलक्षणाद्विचारितमहावाक्यादिति शेषः ॥ ७० ॥

अथ तत्प्रतिपादकं तत्रत्यमेव श्लोकाष्टकं लिखति—**आलम्बनतयेत्यादिना** । त्वंपदाभिधस्तत्त्वमसीति वाक्यगतत्वं पदवाच्यार्थं इत्यर्थः ॥ ७१ ॥

एवं मोक्षफलभाक्त्वेनाभ्यर्हितत्वात्प्रथमं त्वंपदवाच्यार्थमभिधायावसरप्राप्तत्वात्तत्पदवाच्यार्थमपि कथयति—**मायेति** । माया शुद्धसत्त्वप्रधानाऽनाद्यविद्योपाधिः स्वधर्मारोपकत्वमुपाधित्वमित्युपाधिलक्षणाद्रक्तः स्फटिक इति विभ्रमे तत्सन्निकृष्टकुंकुमवदखिलद्वैतविभ्रमे सामग्री यस्य स तथेत्यर्थः । **अत एव** । **जगदिति** । जन्यजगज्जन्माद्यभिन्ननिमित्तोपादानमित्येतत् । **अत एव** । **सर्वज्ञत्वादिति** । आदिना सर्व-

प्रत्यक्परोक्षतैकस्य सद्वितीयत्वपूर्णता ।
विरुध्यते यतस्तस्माल्लक्षणा संप्रवर्तते ॥ ७३ ॥
तत्त्वमस्यादिवाक्येषु लक्षणा भागलक्षणा ।
सोऽयमित्यादिवाक्यस्थपदयोरिव नापरा ॥ ७४ ॥

एवं पदार्थावभिधाय, वाक्यार्थबोधनाय लक्षणावृत्तिराश्रयणीयेत्याह—

प्रत्यक्परोक्षतेति । प्रत्यक्परोक्षत्वे सद्वितीयत्वेन सहिता पूर्णतेति मध्यमपदलोपी समासः । सद्वितीयत्वपूर्णत्वे चैकस्य वस्तुनो यतो विरुध्येते, अतो लक्षणावृत्तिराश्रयणीयेत्यर्थः ॥ ७३ ॥

सा च कीदृशी इत्यत आह—

तत्त्वमस्यादीति । भागलक्षणा, भागत्यागलक्षणेत्यर्थः । तत्र दृष्टान्तः—**सोऽयमिति ।** 'सोऽयं देवदत्त' इति वाक्यस्थयोः 'सोऽयम्' इति पदयोर्यथा जहदजहल्लक्षणावृत्तिराश्रिता नापरा, न जहल्लक्षणा, नाप्यजहल्लक्षणा तद्वदत्रापीत्यर्थः ॥ ७४ ॥

शक्तित्वादि । अत एव । **पारोक्ष्येति ।** पारोक्ष्येण नित्यापरोक्षस्वप्रकाशप्रत्यग्भिन्नत्वेन शबलः संकरशालीति यावत् । एवं तटस्थलक्षणं तत्पदार्थीयं संक्षिप्य स्वरूपलक्षणमपि सूचयति–**सत्यादिति ।** आदिना ज्ञानानन्तानन्दादिग्रहः । एतादृशः । **तत्पदेति ।** तत्पदस्य तत्त्वमसीति महावाक्यस्य सम्बन्धि यत्तदिति सुबन्तं तस्याभिधा शक्तिवृत्तिर्यस्मिन्स तथेत्यर्थः ॥ ७२ ॥

ननु भवत्वेवं त्वं पदादिवाच्यार्थकथनमथापि किं प्रकृत इत्याशङ्क्य यतोऽसिपदबोधितस्यैकस्याद्वितीयस्याऽऽत्मनः प्रत्यक्परोक्षते नित्यापरोक्षत्वविप्रकृष्टत्वे तथा सद्वितीयत्वपूर्णते दृश्यवैशिष्ट्याखण्डैकरसते विरुध्येते अनुपपन्ने भवतस्तत्राविरोधेन स्वारसिकवाक्यार्थसिद्धचर्थं लक्षणाऽभिधेयाविनाभूतप्रवृत्तिर्लक्षणोच्यत इत्यभियुक्तोक्तलक्षणा जघन्यैव शब्दवृत्तिः सम्प्रवर्तते मुमुक्षुभिरवश्याङ्गीकरणार्थं प्रवृत्ता भवतीति समाधत्ते—**प्रत्यगिति ।** एवं चात्र प्रत्यगादिपदैरन्वयानुपपत्तिस्तथैकपदेन 'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' इत्याद्युपक्रमादिश्रुतीनां तात्पर्यानुपपत्तिरपि लक्षणाबीजं व्यज्यते ॥ ७३ ॥

नन्वेवमपि किमसावपि गङ्गायां घोष इत्यादिवज्जहत्स्वार्था किं वा श्वेतो धावतीत्यादिवदजहत्स्वार्था यद्वा सोऽयं देवदत्त इत्यादिवज्जहदजहत्स्वार्थेत्याक्षेपेऽन्य एवेत्याह-**तत्त्वमस्यादीति । भागेति ।** जहदजहत्स्वार्थाख्या भागत्यागलक्षणेत्यर्थः ॥७४॥

संसर्गो वा विशिष्टो वा वाक्यार्थो नात्र संमतः ।
अखण्डैकरसत्वेन वाक्यार्थो विदुषां मतः ॥ ७५ ॥
प्रत्यग्बोधो य आभाति सोऽद्वयानन्दलक्षणः ।
अद्वयानन्दरूपश्च प्रत्यग्बोधैकलक्षणः ॥ ७६ ॥

ननु 'गामानय'इत्यादिवाक्येषु लक्षणावृत्त्या विनापि वाक्यार्थबोधो दृश्यते, तद्वदत्रापि किं न स्यादित्याशङ्क्याह—**संसर्ग** इति । लोके 'गामानय' इत्यादौ पदैः स्मारितानां आकाङ्क्षादिमतां गवादिपदार्थानामन्वयो वाक्यार्थत्वेनाङ्गीकृतः, यथा 'नीलं महत्सुगन्ध्युत्पलम्' इत्यादौ नीलत्वादिविशिष्टस्योत्पलस्य वाक्यार्थत्वं स्वीकृतम्, नैवमत्र महावाक्येषु संसर्गविशिष्टयोरन्यतरस्य वाक्यार्थत्वमभ्युपगम्यते, किन्तु अखण्डैकरसत्वेन स्वगतादिभेदशून्यवस्तुमात्ररूपेण वाक्यार्थो विद्वद्भिरभ्युपेयते, अतो लक्षणा आश्रयणीयेत्यर्थः ॥ ७५ ॥

अखण्डैकरसं वाक्यार्थं दर्शयति—**प्रत्यग्बोध** इति । यः प्रत्यग्बोधः सर्वान्तरश्चिदात्मा आभाति बुद्ध्यादिसाक्षित्वेन स्फुरति सोऽद्वयानन्दलक्षणः अद्वितीय आनन्दरूपः परमात्मेत्यर्थः । अद्वयानन्दरूपश्च तथाविधः परमात्मा प्रत्यग्बोधैकलक्षणश्चिदेकरसः प्रत्यगात्मैवेत्यर्थः ॥ ७६ ॥

ननु गामानयेत्यादिवाक्येषु गवादिपदैः प्राग्गृहीतशक्तिकैराकाङ्क्षायोग्यताऽऽसत्तिवशात्स्मारितानां धेन्वादिपदार्थानां संसर्गपरनामासम्बन्धलक्षणो वाक्यार्थो लक्षणां विनैव दृष्टस्तथा नीलं महत्सुगंध्युत्पलमित्यादिवाक्येषु तु नीलरूपादिविशिष्ट एव सशक्तिवृत्त्यैव यथा दृष्टस्तद्वत्प्रकृतेऽप्यस्त्विति चेन्न । सर्ववेदार्थज्ञभगवद्बादरायणादिप्राचीनाचार्यासम्प्रतिपत्तेरित्याह—**संसर्गो वे**ति । कस्तर्हि तत्संमतोऽत्र तत्त्वमस्यादिमहावाक्येषु वाक्यार्थं इत्यत्राऽऽह—**अखण्डैके**ति । स्वगतादिभेदत्रयविधुरप्रत्यगभिन्नब्रह्मत्वेनेत्यर्थः । तथा च पारमर्षे सूत्रे—'तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः' इति 'तत्तु समन्वयात्' इति च । अत्र विस्तरस्त्वेतद्भाष्यादावेव द्रष्टव्य इति दिक् ॥ ७५ ॥

ननु कीदृशोऽसौ तेऽस्त्यखण्डैकरसो वाक्यार्थं इत्यपेक्षायां तं संक्षिपति—**प्रत्यगि**ति । द्वैतस्य प्रातिकूल्येनाञ्चति प्रकाशत इति प्रत्यगद्वैतत्वेन भासमान इत्यर्थः ॥ एतादृशो यो बोधः सुषुप्त्यादिसाक्षित्वेनोपलक्षितश्चिन्मात्र आत्मा शोधितस्त्वंपदार्थ इति यावत् । आभाति पञ्चकोशप्रकाशकत्वेन परिस्फुरति सः । **अद्वये**ति । 'तदेतत्प्रेयः पुत्रात्प्रेयो वित्तात्प्रेयोऽन्यस्मात्सर्वस्मादंतरतरं यदयमात्मे'ति । 'एतस्यैवाऽऽनन्दस्यान्यानि भूतानि

इत्थमन्योन्यतादात्म्यप्रतिपत्तिर्यदा भवेत् ।
अब्रह्मत्वं त्वमर्थस्य व्यावर्तेत तदैव हि ।। ७७ ।।
तदर्थस्य च पारोक्ष्यं यद्येवं किं ततः शृणु ।
पूर्णानन्दैकरूपेण प्रत्यग्बोधोऽवतिष्ठते ।। ७८ ।।
एवं सति महावाक्यात्परोक्षज्ञानमीर्यते ।
यैस्तेषां शास्त्रसिद्धान्तविज्ञानं शोभतेतराम् ।। ७९ ।।

एवमखण्डार्थबोधेन किं स्यादित्यत आह—**इत्थमिति** ।। ७७ ।।

तदर्थस्येति । त्वमर्थस्य प्रत्यगात्मनोऽब्रह्मत्वं भ्रान्तिसिद्धाऽब्रह्मरूपता तदर्थस्य ब्रह्मणश्च पारोक्ष्यं परोक्षज्ञानैकविषयत्वं च निवर्तते । ततोऽपि किमिति पृच्छति—**यद्येवमिति** । उत्तरमाह—**शृण्विति** ।। ७८ ।।

ननु 'समयबलेन सम्यक्परोक्षानुभवसाधनमागमः' इत्यागमलक्षणम्, अतो वाक्यस्यापरोक्षज्ञानजनकत्वं कथमुच्यत इत्याशङ्क्य, सिद्धान्तपरिज्ञानशून्योऽयमिति मनसि निधायोपहसति—**एवं सतीति** । एवं वदन्तः सिद्धान्तरहस्यं ते न जानन्तीत्यर्थः ।। ७९ ।।

मात्रामुपजीवन्ती'ति । 'आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानादि'ति । 'एष ह्येवाऽऽनन्दयाती'ति च सच्चिदानन्दलक्षणब्रह्मरूप एवेत्यर्थः । अस्तीत्यार्थिकम् । एवं व्यतिहारमाह **अद्वयानन्देत्यादिना** । एवमद्वैतब्रह्मलक्षणः परमात्माऽपि । प्रत्यगिति । सर्वान्तश्चिदेकरूप एव भवतीति यावत् । एतेन शोधिततत्त्वंपदार्थयोर्वास्तविकैकरूपत्वं सूच्यते ।। ७६ ।।

अथैतत्फलं कथयति--**इत्थमित्यादिद्वाभ्याम्** । अन्योन्येति । परस्परवास्तविकैक्यविषयकप्रमेत्यर्थः । तादात्म्यमत्र पारमार्थिकाभिन्नत्वमेव न तु भेदसहिष्णुरभेदस्तादात्म्यमित्युक्तलक्षणं धर्मधर्म्यादिनिष्ठं पारिभाषिकमिति । यदेतिपदेनोक्तप्रमितेरनन्तजन्मपुण्यफलत्वेनातिदुर्लभत्वं ध्वन्यते । त्वमर्थस्य शोधितत्वम्पदार्थस्य पञ्चकोशसाक्षित्वोपलक्षितस्य प्रतीच इति यावत् । अब्रह्मत्वं सर्वदृश्याधिष्ठानत्वोपलक्षितसत्यज्ञानानन्तानन्दरूपशोधिततत्पदार्थीभूतब्रह्मभिन्नत्वमित्येतत् । तदेव निरुक्तप्रतिपत्तिलक्षण एवेत्यर्थः । नतूत्तरक्षणे । उक्तं हि **कल्पतरुकारैः**—शुद्धं ब्रह्मेति विषयीकुर्वाणा वृत्तिः स्वस्वेतरोपाधिनिवृत्तिरुदयत इति । हिर्विद्वदनुभवप्रसिद्धयर्थक एव । व्यावर्तेत निवृत्तं स्यादिति सम्बन्धः ।। ७७ ।।

तदर्थस्य चेति । चोऽप्यर्थे । उक्तलक्षणतत्पदार्थस्य परोक्षत्वमपि व्यावर्तेत तत्क्षण एव ध्वस्तं भवेदित्यनुकृष्य योज्यम् । तत्फलमपि साकाङ्क्षं संक्षिपति—**यद्येवमित्यादिशेषेण** ।। ७८ ।।

नन्वेवं यदि विचारितान्महावाक्यादेवाद्वैतब्रह्मात्मैक्यविषयको परोक्षबोधश्चेत्तर्हि

'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' इति श्रुत्या श्रवणादिविधानं किमिति कृतं स्यात्तस्मात्समयबलेन सम्यक्परोक्षानुभवसाधनमागम इति रामकृष्णलिखितागमलक्षणानुरोधेन 'समयाः शपथाचारकालसिद्धान्तसंविद' इत्यमरात्समयशब्दवाच्यपदार्थविषयकपदशक्तिग्रहणज्ञानबलेन प्रमात्मकपरोक्षानुभवजनकाज्ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेतेत्यादिरूपाद्वैदिकाद्गामानयेत्यादिरूपाल्लौकाच्चाऽऽगमशब्दाभिधेयादाप्तवाक्यात्परोक्षमेव ज्ञानं भवतीत्याशङ्कामुपहासेनैव निराकरोति—एवं सतीति। इदमत्रोपहासबीजम्। तद्यथा—'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' इत्याद्युदाहृतश्रुतिस्त्वनुभूतिप्रकाशे श्रीविद्यारण्यचरणैरेव व्याख्याता—

"आत्मा द्रष्टव्य इत्युक्त्या तत्त्वधीरुपदर्शिता।
श्रोतव्य इत्यादिना तु विचार उपदर्श्यते॥

श्रुत्यर्थाविष्कृतेर्हेतुः शब्दशक्तिविवेककृत्।
श्रुतिलिङ्गादिको न्यायः प्रोक्तः श्रोतव्य इत्यतः॥

अर्थासम्भावनोच्छेदी तर्को मननमीरितम्।
वेदशास्त्राऽविरोध्यत्र तर्को ग्राह्यो न चेतरः॥

अपरायत्तबोधोऽत्र निदिध्यासनमुच्यते।
ध्यानाशङ्कानिवृत्त्यर्थं विज्ञानेनेत्युदीरणात्॥

द्रष्टव्य इति विज्ञानमुद्दिश्य श्रवणं तथा।
मननं च विधायाथ विज्ञानमवधिं जगौ"॥ इति

एवं चेहाद्वैतब्रह्मात्मापरोक्षाप्रतिबद्धबोधमुद्दिश्य तदन्तरंगतमसाधने श्रवणमनने एव विधाय तत्फलीभूतमुपक्रान्तमात्मज्ञानमेवोक्तलक्षणं पर्यवसानभूमित्वेनोक्तमिति क्व नाम निदिध्यासनशब्दवाच्यध्यानापरोक्षवादावसरः। एवं यदिदं रामकृष्णाख्येन प्राचैतट्टीकाकृताऽत्रैव समयबलेनेत्यादिनाऽऽगमलक्षणमुक्तं तत्किमार्षं मानुषं वा। नाऽऽद्यः। 'प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानी'ति योगसूत्र एव शब्दप्रमाणस्थले ह्यागमशब्दः प्रयुक्तस्तद्भाष्ये वैयासिके तु, आप्तेन दृष्टोऽनुमितो वार्थः परत्रस्वबोधसंक्रान्तये शब्देनोपदिश्यते 'शब्दात्तदर्थविषयावृत्तिः श्रोतुरागम' इत्यत्र निरुक्ततल्लक्षणानुपलम्भात्। नान्त्योऽपि। क्षोदाक्षमत्वात्। तद्यथा—अव्याप्त्यादिविधुरो धर्म एव लक्षणमिति प्रायः सर्वसम्मतम्। दशमस्त्वमसि कौन्तेयस्त्वमसीत्यादिशब्देष्वाप्तवाक्यत्वेनाऽऽगमत्वेऽपि समयबलेन सम्यक्परोक्षानुभवसाधनत्वाभावादव्याप्तिः। एवं व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मताज्ञानं परामर्श इति तस्माल्लिगपरामर्शोऽनुमानमिति च तर्कसंग्रहस्याप्युक्तेर्व्याप्तिस्मृतिद्वारकत्वेन पक्षधर्मीभूतपार्वतधूमादिज्ञानस्यैव समयशब्दितस्य बलेन सम्यक्परोक्षानुभवसाधनेऽनुमानेऽतिव्याप्तिरपि स्फुटतरैवेति। तस्मादेवं सतीत्यादीना मूलकारैः कृतः शब्दापरोक्षवादासहिष्णुतदीयपरोक्षैकज्ञानजनननैयत्यवादिनामुपहासः समुचित एवेति भावः। अत्र विस्तरस्तु मदीयबोधैक्यसिद्ध्यादावेव द्रष्टव्य इति दिक्॥ ७९॥

आस्तां शास्त्रस्य सिद्धान्तो युक्त्या वाक्यात् परोक्षधीः ।
स्वर्गादिवाक्यवन्नैवं दशमे व्यभिचारतः ।। ८० ।।
स्वतोऽपरोक्षजीवस्य ब्रह्मत्वमभिवाञ्छतः ।
नश्येत्सिद्धापरोक्षत्वमिति युक्तिर्महत्यहो ।। ८१ ।।
वृद्धिमिष्टवतो मूलमपि नष्टमितोदृशम् ।
लौकिकं वचनं सार्थं सम्पन्नं त्वत्प्रसादतः ।। ८२ ।।
अन्तःकरणसंभिन्नबोधो जीवोऽपरोक्षताम् ।
अर्हत्युपाधिसद्भावान्न तु ब्रह्मानुपाधितः ।। ८३ ।।

ननु सिद्धान्तस्तावत्तिष्ठतु, वाक्यस्य परोक्षज्ञानजनकत्वं त्वनुमानसिद्धमिति शङ्कते—**आस्तामिति** । 'विमतं वाक्यं परोक्षज्ञानजनकं भवितुमर्हति; वाक्यत्वात्, स्वर्गादिप्रतिपादकवाक्यवत्' इत्यनुमानेन परोक्षज्ञानजनकत्वं सिद्धमित्यर्थः । अनैकान्तिकोऽयं हेतुरिति परिहरति—**नैवमिति** । 'दशमस्त्वमसि' इति वाक्ये वाक्यत्वे सति अपरोक्षज्ञानजनकत्वस्योपलम्भादिति भावः ।८०।

किञ्च 'त्वं'पदार्थस्य जीवस्य अपरोक्षत्वाभावप्रसङ्गादपि न महावाक्यं परोक्षज्ञानजनकमित्यङ्गीकार्यमित्याह—**स्वत इति** ।। ८१ ।।

इष्टापत्तिरित्याशङ्क्याह—**वृद्धिमिति** ।। ८२ ।।

ननु सोपाधिकत्वाज्जीवस्यापरोक्षत्वं युक्तं, ब्रह्मणस्तु निरुपाधिकत्वात्तन्न युज्यते इति शङ्कते—**अन्तःकरणेति** ।। ८३ ।।

अथैवमप्युक्तवाद्यनुमानबलेन शब्दस्य परोक्षैकप्रमाकरणत्वं साधयति—**आस्तामित्यादिना** । तथा चेत्थं प्रयोगः कथायाम् । वाक्यं परोक्षैकप्रमाकरणम् । वाक्यत्वात् । ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेतेत्यादिवाक्यवदिति । ततः सिद्धान्ती निरुक्तहेतोरनैकान्तिकत्वेन तत्खण्डयति—**नैवमिति** । तत्र हेतुं प्रतिबोधयति—**दशम इत्यादिना** ।। ८० ।।

एवं निरुक्तमतेऽतिप्रसंगमप्याह—**स्वत इति** । अहो इति युक्तिर्महतीत्युपहास एव सम्बन्धः ।। ८१ ।।

निरुक्तोपहासे लौकिकाभाणकमप्यनुकूलयति—**वृद्धिमिति** ।। ८२ ।।

तत्रापि पुनः पूर्ववादी शङ्कते—**अन्तःकरणेति** । 'कार्योपाधिरयं जीव' इति श्रुतेर्बुद्ध्यवच्छिन्नचैतन्यमित्यर्थः ।। ८३ ।।

नैवं ब्रह्मत्वबोधस्य सोपाधिविषयत्वतः ।
यावद्विदेहकैवल्यमुपाधेरनिवारणात् ॥ ८४ ॥
अन्तःकरणसाहित्यराहित्याभ्यां विशिष्यते ।
उपाधिर्जीवभावस्य ब्रह्मतायाश्च नान्यथा ॥ ८५ ॥
यथा विधिरुपाधिः स्यात्प्रतिषेधस्तथा न किम् ।
सुवर्णलोहभेदेन शृङ्खलात्वं न भिद्यते ॥ ८६ ॥

ब्रह्मणो निरुपाधिकत्वमसिद्धमिति परिहरति—**नैवं ब्रह्मेति** । जीवस्य ब्रह्मरूपताज्ञानं यदस्ति तस्य सोपाधिकवस्तु विषयत्वात्तद्विषयस्य ब्रह्मणोऽपि सोपाधिकत्वं ज्ञानस्य सोपाधिकविषयत्वं च ज्ञेयस्य सोपाधिकत्वमन्तरेण न घटते इति भावः । तदेव कुत इत्यत आह—**यावदिति** ॥ ८४ ॥

ननु तर्हि जीवब्रह्मणोर्विलक्षणमुपाधिद्वयं वक्तव्यमित्याशङ्क्याह—**अन्तः-करणेति** । जीवभावब्रह्मभावयोरन्तःकरणसाहित्यराहित्ये एवोपाधी इत्यर्थः ॥ ८५ ॥

नन्वतःकरणसम्बन्धस्य भावरूपत्वादुपाधित्वमस्तु, नाभावरूपस्य तद्राहित्यस्य तदुचितमित्याशङ्क्य, 'यावत्कार्यमवस्थायिभेदहेतोरुपाधिता'

अथ सिद्धान्ती बोधविषयीभूतब्रह्मण्यनुपाधिकत्वहेतोः स्वरूपासिद्धिमभिदधन्समाधत्ते—**नैवमिति** । अत एवोक्तं मयाऽपि **सिद्धान्तरत्नशुद्धान्ते**—एतेन शबलज्ञानान्मुक्तिः शुद्धज्ञानान्मुक्तिरिति मतद्वयविरोधोऽपि प्रत्युक्तः । अद्वैतचिन्मात्रविषयकचरमचित्तवृत्ति-रूपज्ञानप्रयुक्तविषयताशाबल्येऽपि तत्र तदितरदृश्यानास्कन्दितत्वात् । न हि विशुद्धहीर-कादिरत्नं पश्यतः परीक्षकस्य चक्षुःप्रतिबिम्बनमन्तरा तत्र तथात्वेन प्रमेति ॥ ८४ ॥

ननु यदि ब्रह्मत्वबोधः सोपाधिकविषय एव तर्हि—

"अव्यावृत्राननुगतं वस्तु ब्रह्मेति भण्यते ।
ब्रह्मार्थो दुर्लभोऽत्र स्याद्द्वितीये सति वस्तुनि"

इति वार्तिकविरोध इत्याशङ्क्य तत्तात्पर्यस्य त्वयैवाज्ञातत्वान्नैवमित्याह—**अन्तःकरणेति** । एवं च द्वितीये वस्तुनि सत्यत्राद्वैतशास्त्रे ब्रह्मार्थो दुर्लभः स्यादिति वदतां श्रीमद्वार्तिकाचार्यचरणानां यावद्द्वैताभावावच्छिन्नचैतन्यत्वमेव ब्रह्मत्वमिति स्पष्टमेवेष्ट-मिति न तद्विरोधगंधोऽपीत्याकूतम् ॥ ८५ ॥

ननु भावपदार्थस्यैव स्फटिकादिसन्निहितकुंकुमादेर्लोके रक्तः स्फटिक इत्यादिभ्रमं प्रति दृष्टमुपाधित्वम् । तथा चोक्तमद्वैतसिद्धौ—अत एवाविद्यादिकं साक्षि-

अतद्व्यावृत्तिरूपेण साक्षाद्विधिमुखेन च ।
वेदान्तानां प्रवृत्तिः स्याद्द्विधेत्याचार्यभाषितम् ॥ ८७ ॥

इत्युक्तोपाधिलक्षणस्य साहित्यराहित्ययोरुभयोरपि सत्त्वादुचितमेवोपाधित्वमित्यभिप्रायेण परिहरति—**यथेति** । विधिर्भावरूपोऽन्तःकरणसम्बन्धो यथा उपाधिः स्यात्तथा प्रतिषेधोऽभावरूपोऽन्तःकरणवियोगो, न किं, उपाधिर्न स्यात्किम् ? स्यादेवेत्यर्थः । तथापि भावाभावरूपत्वलक्षणमवान्तरवैलक्षण्यं दृश्यत एवेत्याशङ्क्य, तस्य अकिञ्चित्करत्वेनानादरणीयत्वमित्यभिप्रेत्य, दृष्टान्तमाह—**सुवर्णेति** । पुरुषप्रचारनिरोधकत्वांशेऽनुपयुक्तं सुवर्णत्वलोहत्वादिवैलक्षण्यं यद्वदनादरणीयं तद्वदित्यर्थः ॥ ८६ ॥

विधेरिव निषेधस्यापि ब्रह्मबोधोपायत्वेन ब्रह्मोपाधित्वं द्रढयितुं विधिनिषेधयोरुभयोरपि ब्रह्मबोधोपायत्वमाचार्यैर्निरूपितमिति दर्शयति——

अतदिति । 'तत्'शब्देन ब्रह्माभिधीयते 'अतत्'शब्देन तदतिरिक्तमज्ञानादि 'नेति नेती'त्यादिव्यावृत्तिर्निरसनम्, न तत् अतत्, तस्य प्रपञ्चस्य व्यावृत्तिर्निरसनं तदेव रूपं उपायस्तेन साक्षात् विधिमुखेन च विधिर्विधानं साक्षाद्वाचकशब्दप्रयोगः 'सत्यं ज्ञानमनन्तम्' (तै० २।१।१) इत्येवमादिरूप;, तेन च विधिमुखेन, तद्द्वारेणापीत्यर्थः । वेदान्तानामुपनिषदां प्रवृत्तिः प्रवर्तनं प्रतिपादनं ब्रह्मणीति शेषः ॥ ॥ ८७ ॥

त्वादावुपाधिरिति सिद्धान्तो वेदान्तिनामिति । तथा च कथमन्तःकरणोपलक्षितद्वैतराहित्यस्याभावरूपस्य ब्रह्मतां प्रत्युपाधित्वमित्याशङ्क्य समाधत्ते—**यथेति** । अत्र विधित्वं भावत्वमेव न तु लिङ्गादिघटितवाक्यबोध्यत्वम् । एवं च यद्यप्यध्यस्तभावावधिष्ठानैकस्वरूपकाविति मते प्रतिषेधस्यानुपाधित्वेऽपि जायतेऽस्तीत्यादियास्कवचनाद्विनाशोऽपि कश्चिद्भावविकार एवेति मते युक्तमेव तस्योपाधित्वमिति तत्त्वम् । एतदेवार्थांतरन्यासविशेषेण द्रढयति—**सुवर्णेति** । यद्वाऽयमुक्तार्थदार्ढ्यार्थं व्यतिरेकदृष्टान्त एव बोध्य ॥ ८६ ॥

ननु निषेधस्योपाधित्वमसाम्प्रदायिकमित्याशङ्क्य श्रीमद्भाष्यकारैरेव विधिनिषेधयोरुभयोरपि साम्येनैव ब्रह्मबोधोपायत्वस्य बृहद्वाक्यवृत्तावुक्तत्वान्मैवमिति समाधित्सुः पूर्वार्धं तत्रत्यमेव विलिख्य तच्छेषं पूरयति—**अतदित्यादिना** । एवं हि तत्र पूर्वोत्तरग्रन्थसंदर्भः—

अहमर्थपरित्यागादहं ब्रह्मेति धीः कुतः ।
नैवमंशस्य हि त्यागो भागलक्षणयोदितः ।। ८८ ।।

ननु वेदान्तानामतद्व्यावृत्त्या ब्रह्मबोधकत्वाङ्गीकारे 'अहं'शब्दार्थस्य कूटस्थस्यापि त्यागप्रसङ्गात् 'अहं ब्रह्मास्मि' इति सामानाधिकरण्येन ज्ञानं नोदेतुमर्हतीति शङ्कते—**अहमर्थेति** । 'अहं' शब्दार्थस्य सर्वस्यात्यक्तत्वान्नैवमिति परिहरति—**नैवमिति** । हि यस्मात्कारणात् भागलक्षणया जहदजहल्लक्षणया अंशस्य 'अहं'शब्दार्थैकदेशस्य जडांशस्य ईरितः, न कूटस्थस्य । अतः 'अहं ब्रह्मास्मि' इति ज्ञानमुपपद्यत इत्यर्थः ।। ८८ ।।

"त्वमर्थमेवं निश्चित्य तदर्थं चिन्तयेत्पुनः ।
अतद्व्यावृत्तिरूपेण साक्षाद्विधिमुखेन च ।।
निरस्ताशेषसंसारदोषोऽस्थूलादिलक्षणः ।
अदृश्यत्वादिगुणकः पराकृततमोमलः ।।
निरस्तातिशयानन्दः सत्यप्रज्ञानविग्रहः ।
सत्तास्वलक्षणः पूर्णः परमात्मेति गीयते" इत्यादिः ।

तेनात्र निरस्तेति श्लोकेन शुक्तौ कल्पितं रजतमिव ब्रह्मणि कल्पितं यदतदनृतजडदुःखपरिलिप्तरूपं दृश्यं तस्य या व्यावृत्तिर्नेदं रजतं नात्र रजतमित्यादिव'दस्थूलमनण्वि'त्यादिश्रुत्यादिभिर्बाध एव तद्रूपेण प्रकारेणेत्यर्थः । एवं निरस्तातिशयेत्याद्युत्तरश्लोकेन तु 'को ह्येवान्यात्कः प्राण्याद्यदेष आकाश आनन्दो न स्यादि'ति 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मे'त्यादि श्रुतिबोधितो यः साक्षाद्विधिमुखलक्षणप्रकारः प्रत्यगद्वैतबोधोपायस्य तेनेति यावत् । वेदान्तानामुपनिषदाम् । द्विधा निरुक्तरीत्या द्विप्रकारा । प्रवृत्तिः सकलद्विजराजाद्वैतब्रह्मजिज्ञासुप्रबोधाय श्रीगत्सद्गुरुद्वारोत्कण्ठेत्यर्थः । स्याद्भूयादित्युक्तप्रकारकम् । आचार्येति । आचार्याणां भगवत्पादाख्यश्रीजगद्गुरुणा भाषितं बृहद्वाक्यवृत्तावुक्तिजातमस्तीत्यार्थिकम् । तस्माद्विधिवन्निषेधस्यापि ब्रह्मबोधोपायत्वेनोपाधित्वं समानमेवेति भावः ।। ८७ ।।

ननु यद्येवं सिद्धान्ते वेदान्तानामतद्वस्तुव्यावृत्त्यैवाद्वैतब्रह्मबोधकत्वं चेत्तर्ह्यहंपदार्थस्यावश्यं त्यागेऽहं ब्रह्मास्मीति सामानाधिकरण्येन कथं तत्त्वमस्यादिवाक्यविचारजन्योऽनुभवः स्यादिति शङ्कते—अहमर्थेति । पूर्वोक्तभागत्यागलक्षणाङ्गीकारेणाहमर्थवाच्यांशीभूतपञ्चकोशविशिष्टचैतन्यस्यैवं दृश्यानात्मत्वादिना मिथ्यात्वात्त्यागेऽपि दृङ्मात्रस्य तदुपलक्षितचैतन्यस्य तल्लक्ष्यार्थस्यात्यागेन तद्विस्मरणादिदं चोद्यमेवानुचितमित्याशयेन समाधत्ते—**नैवमिति** । अत एवोदितः प्रागनुपदमेवास्माभिर्हि यस्मादुपपादित इति भूतार्थकः प्रयोगः ।। ८८ ।।

अन्तःकरणसन्त्यागादवशिष्टे चिदात्मनि ।
अहं ब्रह्मेति वाक्येन ब्रह्मत्वं साक्षिणीक्ष्यते ॥ ८९ ॥
स्वप्रकाशोऽपि साक्ष्येव धीवृत्त्या व्याप्यतेऽन्यवत् ।
फलव्याप्यत्वमेवास्य शास्त्रकृद्भिर्निवारितम् ॥ ९० ॥

अंशत्यागेन बोधनप्रकारमभिनीय दर्शयति—**अन्तःकरणेति** ॥ ८९ ॥

ननु केवलस्य प्रत्यगात्मनः स्वप्रकाशत्वाद्बुद्धिवृत्तिविषयत्वं न घटते इत्याशङ्क्याह—**स्वप्रकाश इति** । अन्यवत् घटादिवदित्यर्थः । 'स्वप्रकाशोऽहम्' इत्येवं बुद्धिवृत्तिसम्भवादिति भावः । तर्हि अपसिद्धान्तापात इत्याशङ्क्य, पूर्वाचार्यैरपि वृत्तिव्याप्यत्वस्याङ्गीकृतत्वान्नायमपसिद्धान्त इति परिहरति—**फलव्याप्यत्वमिति** । फलं वृत्तिप्रतिबिम्बितचिदाभासः तद्व्याप्यत्वमेव अस्य प्रत्यगात्मनो निराकृतं स्वस्यैव स्फुरणरूपत्वादिति भावः ॥ ९० ॥

एवं च सविशेषणविधिनिषेधन्यायेनाहं पदवाच्यार्थगतविशेषणोभूतसाभासोपादानान्तःकरणस्य श्रुतियुक्त्यनुभूतिपूर्वकविचारेण सम्यक्त्यागलक्षणबाधे सति बाधावधित्वेनावशिष्टे लक्ष्यार्थे साक्षित्वोपलक्षिते चिदात्मन्यहं ब्रह्मास्मीत्याद्यनुभववाक्येनाद्वैतब्रह्मत्वं विद्वद्भिरनुभूयत एव तस्याद्वैतब्रह्मत्वतिरोधानतद्भेदभानोपादानमूलाज्ञानध्वंसनद्वारैवाखण्डब्रह्मविद्याख्यचरमवृत्त्येत्याह—**अन्तःकरणेति** ॥ ८९ ॥

तदुपपादयति—**स्वप्रकाशोऽपीति** । अपिना तद्भाने वृत्त्यनुपयोगेऽपि तस्योक्तमूलाज्ञानकृताद्वैतानन्दावरणविनिवारणार्थमेव तदुपयोग आवश्यक इति द्योत्यते । धीवृत्त्या विचारिततत्त्वमस्यादिमहावाक्यजन्यचरमचित्तवृत्त्येत्यर्थः । अन्यवत्साक्षिभास्यभिन्नघटपटपादिवदित्येतत् । ननु यदि स्वप्रकाशोऽपि साक्षी प्रमाणवृत्त्या घटादिवद्व्याप्यते चेत्तर्हि तत्प्रतिफलितचिदाभासेनाप्यसौ व्याप्यतां तथा च तस्य तद्वदेव जडत्वापत्तिरित्यत्र प्राचीनाचार्यचरणसम्मतिसूचनपूर्वकं समाधत्ते—**फलेति** । साक्षिलक्षणं ब्रह्मैव स्वप्रकाशत्वेन नित्यापरोक्षत्वादुपक्रान्तत्वाच्चेदंशब्दार्थः । एवं चास्य प्रकृतस्य साक्षिलक्षणब्रह्मण इत्यर्थः । शास्त्रकृद्भिः सूत्रादिकर्तृभिः प्राचीनाचार्यैरिति यावत् । फलव्याप्यत्वमेव चिद्विविषयत्वमेव न तु—

"मोहातीतो विशुद्धो मुनिभिरभिहितो मोहसङ्क्रान्तमूर्तिः
साक्षी स्वान्ते तदुत्थे प्रतिफलितवपुर्गीयतेऽसौ प्रमाता ।
वृत्त्यारूढं प्रमाणं फलमथ धिषणावृत्तिसंख्याप्यचेत्यो-
पाधिर्मोहोत्थशब्दप्रमुखविषयगः स्यात्प्रमेयः परात्मा" ।

इति साम्प्रदायिकाभिहितं प्रमाणजन्यबुद्धिवृत्त्यवच्छिन्नचैतन्यं विषयावच्छिन्नचैतन्येन सहैक्यं प्राप्तं सत्फलपदवाच्यमिति । तद्विषयत्वम् । तथात्वस्यायुक्तत्वात् ।

तथा हि । ब्रह्मण्युक्तलक्षणे निरुक्तरूपफलव्याप्तिर्नैव भवतीति वदन्तप्रष्टव्यः किं यत्र यत्र फलव्याप्तिस्तत्र घटादाविव जडत्वमिति व्याप्त्या ब्रह्मणोऽपि जडत्वापत्तेस्तदनङ्गीकारः किं वा यत्र यत्र घटादाविव जडत्वं तत्र फलव्याप्यत्वमपीति व्याप्त्या ब्रह्मणश्चित्त्वेन जडत्वाभावात्तदनङ्गीकार इति । नाऽऽद्यः । इष्टापत्तेः । नान्त्यः । साक्षिभास्येष्वविद्यादिषु व्यभिचारात् । तत्र हि चिद्भिन्नत्वादिना जडत्वसत्त्वेऽपि फलव्याप्यत्वाभावस्य सर्वसम्मतत्वाच्च । प्रपञ्चितं चैतद्वेदान्तकल्पलतिकायां मधुसूदनसरस्वतीभिः—अस्तु वा ब्रह्मण्यपि कल्पितविषयता । न कर्मत्वेन जडत्वापात इति वाच्यम् । स्वसमानसत्ताकविषयता एव कर्मत्वापादकत्वात् । सा च घटादौ सम्भवति । उभयोरपि व्यावहारिकत्वेन तुल्यत्वात् । ब्रह्मणि तु परमार्थसति व्यावहारिक्यपि विषयता परमार्थसत्त्वाभावेन न समानेति किमनुपपन्नम् । एतेन तं त्वौपनिषदमिति श्रुतिरप्यनुगृहीता भवति । अथवा चैतन्यविषयतैव जडत्वापादिका न तु वृत्तिविषयताऽपि ॥ यतो वाचो निवर्तन्ते, न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा, तन्त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि । नावेदविन्मनुते तं बृहन्तम् । वेदेनैव यद्वेदितव्यमित्याद्युभयविधश्रुत्यनुसारेण कल्पनात् । यत्तु फलव्याप्यत्वमेवास्य शास्त्रकृद्भिर्निराकृतम् । 'ब्रह्मण्यज्ञाननाशाय वृत्तिव्याप्तिरपेक्षिते'ति युक्तत्वात्फव्याप्यत्वमेव जडत्वापादकमित्याहुस्तत्र प्रमाणजन्यान्तःकरणवृत्त्यभिव्यक्तचैतन्यस्यैव शास्त्रे फलत्वव्यपदेशात्तद्व्याप्यत्वस्यैव जडत्वापादकत्वे ब्रह्मण इव साक्षिभास्यानामपि जडत्वं न स्यात् । चैतन्यकर्मता तु चिद्भिन्नत्वावच्छेदेन सर्वत्रैवेति सैव जडत्वप्रयोजिका । उदाहृतकारिकायामपि चैतन्यमात्रपरमेव फलपदमिति द्रष्टव्यम् । ननु वृत्तिविषयत्वेन तदुपरक्तचैतन्यविषयत्वमपि नियतम् । वृत्तेश्चिदाकारगर्भिण्या एवोत्पत्तेः ।

तदुक्तम्—"वियद्वस्तु स्वभावानुरोधादेव न कारकात् ।
वियत्सम्पूर्णतोत्पत्तौ कुम्भस्येव दृशा धियाम् ।
घटदुःखादिरूपत्वं धियो धर्मादिहेतुतः ।
स्वतः सिद्धार्थसम्बोधव्याप्तिर्वस्त्वनुरोधतः" इति ।

तथा चैतन्यविषयत्वेन जडत्वं दुर्वारमेव । न वृत्त्युपरक्तचैतन्यस्य स्वयमेव चैतन्यरूपत्वात्तत्र तद्व्याप्यता । फले फलान्तरानुपपत्तेः । तद्भिन्नानां तु स्वतो भानरहितानां तद्व्याप्तिरवश्यमाश्रयणीयेति न कोऽपि दोषः ।

तदुक्तम्—"परागर्थप्रमेयेषु या फलत्वेन सम्मता ।
संवित्सैवेह मेयोर्थो वेदान्तोक्तिप्रमाणतः ॥" इति ।

नन्वत्रैतैर्निगदितकारिकागतफलपदस्य चैतन्यमात्रपरत्वेन व्याचक्षाणैस्तत्कर्तॄणां तदुदाहर्तॄणां च मतं खण्डितमिति प्रतीयत इति चेन्नूनं भ्रान्तोऽसि । एतैस्तत्तात्पर्यस्यैव प्रत्युत सयुक्तिससम्मति च विवृतत्वात् । अत एव विशिष्टं शुद्धान्नातिरिच्यत इति पक्षमुररीकृत्यैवात्र परागर्थप्रमेयेष्वित्यादिवार्तिकस्याप्युदाहृतत्वाच्च । न च तर्ह्य क्वखंडनं क्व प्रसरतीति वाच्यम् । निरुक्तकारिकागतमेवकारमितरयोगव्यवच्छेदार्थकत्वेन वृत्तिव्याप्तिस्वीकारपरेऽपि शास्त्रकृद्भिः फलव्याप्यत्वमेवास्य जडत्वापादकत्वान्निवारितमिति

बुद्धितत्स्थचिदाभासौ द्वावपि व्याप्नुतो घटम् ।
तत्राज्ञानं धिया नश्येदाभासेन घटः स्फुरेत् ॥ ९१ ॥
ब्रह्मण्यज्ञाननाशाय वृत्तिव्याप्तिरपेक्षिता ।
स्वयं स्फुरणरूपत्वान्नाभास उपयुज्यते ॥ ९२ ॥

आत्मनि फलव्याप्त्यभावं दर्शयितुं अनात्मनो वृत्त्या फलेन च व्याप्यत्वं दर्शयति—**बुद्धितदिति** । उभयव्याप्तेः प्रयोजनमाह—**तत्रेति** । तत्र तयोर्बुद्धिचिदाभासयोर्मध्ये धिया बुद्धिवृत्त्या प्रमाणभूतया अज्ञानं नश्यति; ज्ञानाज्ञानयोर्विरोधात् । आभासेन चिदाभासेन घटः स्फुरेत्; जडत्वेन स्वतःस्फुरणायोगादिति भावः ॥ ९१ ॥

इदानीमात्मनि ततो वैलक्षण्यं दर्शयति—**ब्रह्मणीति** । प्रत्यग्ब्रह्मणोरेकत्वस्य अज्ञानेनावृतत्वात्तस्य अज्ञानस्य निवृत्तये वाक्यजन्यया 'अहं ब्रह्मास्मी'त्येवमाकारया धीवृत्त्या व्याप्तिरपेक्ष्यते; स्वस्यैव स्फुरणरूपत्वात्, तत्स्फुरणाय चिदाभासो नापेक्ष्यते, अतो युज्यमानोऽपि चिदाभासो नोपयुज्यत इत्यर्थः ॥ ९२ ॥

साध्याहारं व्याचक्षाणपरतायाः फलव्याप्यत्वमेव जडत्वापादकमित्याहुरिति कण्ठत एवोक्तत्वात् । तथैवोक्तं **श्रीमद्भाष्यकारचरणैः** सदाचारप्रकरणे—

"वृत्तिव्याप्यत्वमेवास्तु फलव्याप्तिः कथं भवेत् ।
स्वप्रकाशैकरूपत्वात्सिद्धत्वाच्च परात्मनः" इति ॥ ९० ॥

ननु माऽस्त्वात्मनि फलव्याप्तिः परं त्वनात्मन्येवाऽऽदावेकावृत्तिव्याप्तिरपरा फलव्याप्तिश्चेति द्वयं क्वोपलभ्यते केवलमिन्द्रियार्थसंनिकर्षजन्यं ज्ञानं प्रत्यक्षं परामर्शजन्यं ज्ञानमनुमितिरित्यादिकमेव सर्वप्रमात्मकं ज्ञानमनुभूयत इत्याशङ्क्य **तार्किकमते** तथात्वेऽपि तस्य सामान्यत्वात्स्वमतानुसारेण सूक्ष्मतरविचारे तत्स्फुटमेवेति मन्वानस्तद्विशदयति–**बुद्धीति** । बुद्धिवृत्तेरुत्पत्त्यवच्छेदेनैव साभासत्वमिति तु "वियद्वस्तु स्वभावानुरोधादेव न कारकात्" इत्यादिवार्तिकवचनादनुपदमेव सूचितमिति घटज्ञाने तदुभयात्मकत्वे यद्यपि नैव वैमत्यमथापि तद्द्वाढर्याय तत्र कार्यभेदेन तल्लिङ्गकमनुमानमपि व्यनक्ति—**तत्रेति** । घटाज्ञाननाशस्तद्विषयकबुद्धिमात्रजन्यः । घटाज्ञाननाशत्वात् । व्यतिरेके पटाज्ञाननाशवदिति । एवं घटस्फूर्तिः । घटव्यापकचिन्मात्रजन्या । घटस्फूर्तित्वात् । व्यतिरेके पटस्फूर्तिवदित्यपि बोध्यम् । तस्मान्नैव घटादिप्रमायां वृत्तिव्याप्त्याद्युभयरूपत्वे विवादगन्धोऽपीति बोध्यम् ॥ ९१ ॥

ननु भवत्वेवं घटादिप्रमायामथाऽपि ब्रह्मप्रमायां प्रमात्वसाम्येऽपि किमिति तद्वदेव नोभयात्मत्वमङ्गीक्रियत इति चेत्प्रयोजनाभावादेवेत्याह—**ब्रह्मणीति** ॥ ९२ ॥

चक्षुर्दीपावपेक्ष्येते घटादेर्दर्शने यथा ।
न दीपदर्शने किन्तु चक्षुरेकमपेक्ष्यते ।। ९३ ।।
स्थितोऽप्यसौ चिदाभासो ब्रह्मण्येकीभवेत् परम् ।
न तु ब्रह्मण्यतिशयं फलं कुर्याद्घटादिवत् ।। ९४ ।।
अप्रमेयमनादिं चेत्यत्र श्रुत्येदमीरितम् ।
मनसैवेदमाप्तव्यमिति धीव्याप्यता श्रुता ।। ९५ ।।

उक्तमर्थं दृष्टान्तप्रदर्शनेन विशदयति—**चक्षुरिति** । अन्धकारावृतघटादि-दर्शने चक्षुर्दीपौ उभावपि अपेक्ष्येते, दीपप्रदर्शने तु तथा न, किन्तु एकं चक्षुरेवापेक्ष्यते यथा, तथा ब्रह्मण्यज्ञाननाशायेति पूर्वेण सम्बन्धः ।। ९३ ।।

ननु बुद्धितद्वृत्तीनां चिदाभासवैशिष्ट्यस्वाभाव्यात् घटादिष्विव ब्रह्मण्यपि फलव्याप्तिर्बलाद्भवेदित्याशङ्क्याह—**स्थितोऽपीति** । यद्यपि घटाद्याकारवृत्तिवद्ब्रह्मगोचरवृत्तावपि चिदाभासोऽस्ति, तथापि नासौ ब्रह्मणो भेदेन भासते; किन्तु प्रचण्डातपमध्यवर्तिप्रदीपप्रभावत्तेनैकीभूत इव भवति, अतः स्फुरणलक्षणातिशयजनको न ब्रह्मणीत्यर्थः ।। ९४ ।।

ननु ब्रह्मणि फलव्याप्तिर्नास्ति, वृत्तिव्याप्तिस्तु विद्यत इत्युक्तं; तत्र किं प्रमाणमित्याशङ्क्य, आगमः प्रमाणमित्याह—**अप्रमेयमिति** । 'निर्विकल्प-मनन्तं च हेतुदृष्टान्तवर्जितम् । अप्रमेयमनादिं च यज्ज्ञात्वा मुच्यते बुधः' (अमृ० बि० ९) इत्यत्रास्मिन्मन्त्रे **श्रुत्याऽमृतबिन्दूपनिषदा** 'अप्रमेय'

उक्तमेवार्थं व्यावहारिकस्वप्रकाशदृष्टान्तेन स्पष्टयति—**चक्षुर्दीपाविति** । उप-लक्षणमिदं सूर्यादेरपि । एवं च घटादेर्दर्शने चक्षुर्दीपावुभावपि देवदत्तेनापेक्ष्येते दीपदर्शने तु नैव तावपेक्ष्येते किं त्वेकं चक्षुरेव यथाऽपेक्ष्यते तद्वद्ब्रह्मण्यज्ञाननाशायेत्यादिपूर्वपद्येन सम्बन्धो बोध्यः ॥ ९३ ॥

नन्वेवमपि वियद्वस्तुस्वभावानुरोधादेवेत्यादिसमुदाहृतवार्तिकोक्तयुक्त्याघटादिवद-द्वैतब्रह्माकारवृत्तावपि चिदाभाससत्वस्वाभाव्यात्तत्रापि फलव्याप्तिर्दुर्वारैवेत्यत्राऽऽह—**स्थितोऽपीति** । आदर्शप्रतिफलितसूर्याभासः स्वाभिमुख्ये सति गृहगतघटादिकं प्रकाश-यन्नपि सूर्यैकाभिमुख्ये सति तेन साकमैक्यमेव प्राप्नोति न तु तत्र तृणमात्रमप्यतिशयं यथा तनोति तथा ब्रह्माकारबुद्धिवृत्तावपि स्वाभाव्याद्विद्यमानोऽपि चिदाभासो ब्रह्मैक्यमेव प्राप्नोति न तु तत्राणुतुल्यमपि कञ्चिद्धर्मं विधत्त इति ध्येयम् ॥ ९४ ॥

आत्मानं चेद्विजानीयादयमस्मीति वाक्यतः ।
ब्रह्मात्मव्यक्तिमुल्लिख्य यो बोधः सोऽभिधीयते ॥ ९६ ॥
अस्तु बोधोऽपरोक्षोऽत्र महावाक्यात्तथाप्यसौ ।
न दृढः श्रवणादीनामाचार्यैः पुनरीरणात् ॥ ९७ ॥

शब्देन इदं फलव्याप्तिराहित्यमुक्तम्, 'मनसैवेदमाप्तव्यं नेह नानास्ति किञ्चन' (कठ० ४।११) इति कठवल्ल्यां धीव्याप्यता श्रुता, वृत्तिव्याप्यत्वं श्रुतमित्यर्थः ॥ ९५ ॥

'आत्मानं चेद्विजानीयात्' (बृ० ४।४।१२) इति मन्त्रेणापरोक्षज्ञानं शोकनिवृत्त्याख्यं जीवगतमवस्थाद्वयं, अभिधीयते इत्युक्तं 'अपरोक्षज्ञानशोकनिवृत्त्याख्ये उभे इमे । अवस्थे जीवगे ब्रूते आत्मानं चेदिति श्रुतिः' (प्र० ७।४८) इत्यनेन श्लोकेन, तत्र कियतांशेन अपरोक्षज्ञानमुच्यते ? इत्याकाङ्क्षायामाह—**आत्मानमिति** । ब्रह्मात्मव्यक्ति सत्यादिलक्षणब्रह्माभिन्नप्रत्यगात्मस्वरूपमुल्लिख्य विषयीकृत्य यो बोधो जायते 'ब्रह्माहमस्मी'ति सोऽभिधीयते अनेन वाक्येनेत्यर्थः ॥ ९६ ॥

ननु तर्हि पूर्वोक्तरीत्या सकृद्वाक्यविचारादेव अपरोक्षज्ञानसिद्धेः 'आवृत्तिरसकृदुपदेशात्' (ब्र० सू० ४।१।१) इत्यादौ विहितं श्रवणाद्यावर्तनमनुष्ठेयं स्यादित्याशङ्क्य, ज्ञानदाढर्याय तदावर्तनानुष्ठानस्य आचार्यैरभिहितत्वादनुष्ठेयमेवेत्याह—**अस्तु बोध इति** । अत्र ब्रह्मात्मविषये महावाक्यात् सकृच्छ्रुताद्विचारसहितादपरोक्षबोधोऽस्तु । भवत्वेवं, तथापि नासौ

एवं चाप्रमेयमनादिं चेत्यादि मनसैवेदमाप्तव्यमित्यादि च परस्परविरुद्धश्रुतिद्वयं क्रमात्फलव्याप्त्यभाववृत्तिव्याप्तिसद्भावाभिप्रायेणैव सङ्गतमित्याह—**अप्रमेयमिति**॥९५॥

ननु भवत्वेवमथापि प्रकृतप्रकरणारम्भे प्रतिज्ञातश्रुतिविशेषव्याख्याने किमागतमित्यपेक्षायामपरोक्षज्ञानमेव तत्पूर्वार्धार्थ एतावता ग्रन्थसन्दर्भेणैतावन्मात्रं शब्दापरोक्षवादस्यैव सिद्धान्तत्वेन निरणायीत्याह—**आत्मानं चेदिति** । इतिशब्दः प्रतीकसमाप्त्यर्थः । वाक्यतो विचारिततत्त्वमस्यादिमहावाक्यात्सकाशादित्यर्थः ॥ ९६ ॥

तत्रापि शङ्कते—**अस्त्विति** । ननु पदतदर्थगृहीतशक्तिकस्य देवदत्तस्याकङ्क्षादिविशिष्टादाप्तवाक्याज्जायमानः शाब्दबोधः प्रमात्वेन दृढ एव समुदेति दशमस्त्वमसि

अहंब्रह्मेति वाक्यार्थबोधो यावद्दृढीभवेत् ।
शमादिसहितस्तावदभ्यसेच्छ्रवणादिकम् ॥ ९८ ॥
बाढं सन्ति ह्यदार्ढ्यस्य हेतवः श्रुत्यनेकता ।
असम्भाव्यत्वमर्थस्य विपरीता च भावना ॥ ९९ ॥

दृढः; अतः श्रवणाद्यावर्तनीयं श्रीमच्छङ्कराचार्यैः तु न वाक्यार्थज्ञानोत्पत्त्यनन्तरमपि श्रवणाद्यावर्तनाभिधानादित्यर्थः । ज्ञानादार्ढ्याय इत्येतदर्थाल्लभ्यते ॥ ९७ ॥

आचार्यैः केन वाक्येन अभिहितमित्याशङ्क्य, तद्वाक्यं पठति-- **अहंब्रह्मेति** ॥ ९८ ॥

ननु वाक्यप्रमाणजनितज्ञानस्य अदार्ढ्यं कुत इत्याशङ्क्याह— **बाढमिति** । हि यस्मात् कारणाच्छ्रुत्यनेकता श्रुतीनां नानात्वमेको हेतुः अर्थस्याप्यखण्डैकरसस्य अद्वितीयब्रह्मरूपस्य अलौकिकत्वेन असंभावितत्वमपरः विपरीतभावना च पुनः कर्तृत्वाभिमानरूपस्तृतीय इत्येवंविधा अदार्ढ्यस्य हेतवो बाढं सन्ति सर्वथा विद्यन्ते, अतोऽपरोक्षानुभवदार्ढ्याय श्रवणादिकमावर्तनीयमिति भावः ॥ ९९ ॥

कौन्तेयस्त्वमसीत्यादिवरतः क तत्र दृढत्वापेक्षेत्यत्राऽऽह—**श्रवणादीनामित्यादि**-शेषेण ॥ ९७ ॥

ननु किं तदाचार्यवचनमित्यपेक्षायां बृहद्वाक्यवृत्तिस्थं तद्वाक्यमेव पठति—**अहं ब्रह्मेतीति** । इतिशब्दोऽस्य वाक्यार्थबोधेन सहैवान्वेति न तु वाक्येन । अन्यथाऽहं ब्रह्मास्मीति वाक्यप्रतीकग्रहेऽपि तत्त्वमस्यादिवाक्यसङ्ग्रहाभावापत्तेरित्याकूतम् । उदरंभर्यभ्यासव्युदासाय— **शमेति** । आदिना मननादि ॥ ९८ ॥

नन्वाचार्यैरपि सति वाक्यात्प्रमारूपे शाब्दबोधे समानविषयकाविद्याध्वंसके पुनस्तद्दार्ढ्यार्थं निरुक्तरीत्या श्रवणाद्यभ्यासविधानं किमिति कृतं किमत्रादार्ढ्यंकारणमित्याशङ्क्य समाधत्ते—**बाढमिति** । तदुक्तं **सर्वज्ञात्ममुनीश्वरचरणैः**—

"पुरुषापराधमलिना धिषणा निरवद्यचक्षुरुदयाऽपि यथा ।
न फलाय भर्च्छुविषया भवति श्रुतिसम्भवाऽपि तु तथाऽऽत्मनि धीः ॥
पुरुषापराधविगमे तु पुनः प्रतिबन्धकव्युदसनात्सफला ।
मणिमन्त्रयोरपगमे तु यथा सति पावकाद्भवति धूमलता" ॥ १।१४॥

इत्यन्वयव्यतिरेकाभ्यामपि । एवं चात्रोक्तप्रमायामदार्ढ्यंप्रयोजकाः श्रुत्यनेकते-

शाखाभेदात्कामभेदाच्छ्रुतं कर्मान्यथाऽन्यथा ।
एवमत्रापि मा शङ्कीत्यतः श्रवणमाचरेत् ।। १०० ।।

वेदान्तानामशेषाणामादिमध्यावसानतः ।
ब्रह्मात्मन्येव तात्पर्यमिति धीः श्रवणं भवेत् ।। १०१ ।।

एवं त्रिविधान् अदार्ढ्यहेतूनुपन्यस्य श्रुतिनानात्वप्रयुक्तादार्ढ्यनिवृत्तये श्रवणावृत्तिः कार्येत्याह–शाखेति । यथा शाखाभेदात्कर्मभेदः श्रूयते 'यदृचैव होत्रं क्रियते यजुषाध्वर्यवं साम्नोद्गीथं' इति । यथा वा कामभेदात् 'कारीर्या वृष्टिकामो यजेत शतकृष्णलमायुष्कामः' इत्यादिकर्मभेदः श्रुतः, एवमुपनिषत्स्वपि प्रतिपाद्यतत्त्वस्य भेदशङ्कायां तन्निवारणाय श्रवणं पुनः पुनः कर्तव्यमित्यर्थः ।। १०० ।।

किं तच्छ्रवणमित्याकाङ्क्षायां तल्लक्षणमाह—वेदान्तानामिति । सर्वासामप्युपनिषदामुपक्रमोपसंहारादिपर्यालोचनायां ब्रह्मरूपे प्रत्यगात्मन्येव तात्पर्यमिदं पारम्पर्येण पर्यवसानमित्येवंरूपो निश्चयः श्रवणमित्यर्थः ।।१०१।।

त्यादिना क्रमात्प्रमाणासम्भावनाप्रमेयासम्भावनासाधनविपरीतभावना चकारात्फलविपरीतभावना चेति । चत्वारः प्रतिबन्धाश्चतुर्लक्षण्याख्योत्तरमीमांसायाः श्रोत्रियब्रह्मनिष्ठाचार्यचरणानुग्रहपरिशीलितैः **श्रीमद्भगवत्पादभाष्यादिविवृतैरेव** समन्वयाविरोधसाधनफलाभिधैश्चतुर्भिरध्यायैरत्र श्रवणमनननिदिध्यासनसमाधानविषयीकृतैर्निरसनीयाः सूच्यन्ते ।। ९९ ।।

तत्र श्रुत्यनेकत्वप्रयुक्तप्रमाणासम्भावनाभङ्गार्थं श्रवणमेव कर्तव्यमिति पूर्वतन्त्रीयव्यतिरेकदृष्टान्तेन विधत्ते—**शाखाभेदादिति** । 'यदृचैव हौत्रं क्रियते यजुषाऽध्वर्यवं साम्नोद्गीथम्' इति शाखाभेदात्कर्मभेद आम्नायते । कारीर्या वृष्टिकामो यजेत चित्रया पशुकामः' इत्यादिः कामभेदात्सः । एवं पूर्वकाण्डवदत्रापि ब्रह्मकाण्डेऽपीत्यर्थः । ब्रह्मभेद इत्यार्थिकम् । **मेत्यादि** । ब्रह्मभेदविषयकशङ्का नैव कर्तव्येत्यतः श्रवणमाचरेन्मुमुक्षुरिति शेषः ।। १०० ।।

भवत्वेवमथापि किं श्रवणलक्षणमित्याकाङ्क्षायां तत्संक्षिपति—**वेदान्तानामिति** ।। १०१ ।।

समन्वयाध्याय एतत् सूक्तं धीस्वास्थ्यकारिभिः ।
तर्कैः सम्भावनार्थस्य द्वितीयाध्याय ईरिता ।। १०२ ।।
बहुजन्मदृढाभ्यासाद्देहादिष्वात्मधीः क्षणात् ।
पुनःपुनरुदेत्येवं जगत्सत्यत्वधीरपि ।। १०३ ।।
विपरीता भावनेयमैकाग्र्यात्सा निवर्तते ।
तत्त्वोपदेशात्प्रागेव भवत्येतदुपासनात् ।। १०४ ।।

एवंविधं श्रवणं कुत्र निरूपितमित्यत आह—**समन्वयाध्याय** इति। एतच्छ्रवणं समन्वयाध्याये सुष्ठूक्तं व्यासादिभिरिति शेषः । अर्थासम्भावना-निवृत्तिहेतुर्मननं तु द्वितीयाध्याये निरूपितमित्याह—**धीस्वास्थ्येति** । प्रमेय-गतानुपपत्तिपरिहारद्वारा बुद्धिस्वास्थ्यकारिभिस्तर्कैः युक्तिशब्दाभिधेयैरर्थस्य सम्भावनासम्भावितत्वानुसन्धानं मननं द्वितीयाध्याये निरूपितमित्यर्थः ।। १०२ ।।

इदानीं विपरीतभावनां तन्निवृत्त्युपायं च दर्शयति—**बहुजन्मेति** ।। १०३ ।।

विपरीतेति । विपरीतभावनानिवर्तकं यदैकाग्र्यं तत्कुतो जायत इत्याशङ्क्याह—**तत्त्वेति** । एतदैकाग्र्यं ब्रह्मोपदेशात्प्रागेव सगुणब्रह्मो-पासनाद्भवति भवेदित्यर्थः ।। १०४ ।।

नन्वसर्वज्ञदुर्ज्ञेयं तत्तात्पर्यमुपक्रमादिनेत्यत आह—**समन्वयेति** । एतदुक्तलक्षणं तात्पर्यम् । सूक्तं **श्रीमद्भिर्बादरायणाचार्यै**रित्यार्थिकम् । एवं प्रमेयासम्भावनानिवृत्ति-फलकं मननमपि तत्रैव **ब्रह्मसूत्रे द्वितीयाध्याये**ऽविरोधाभिध उक्तमित्याह—**धीत्यादिना** ।। १०२ ।।

ननु भवत्वेवमथापि 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' इति श्रुतिविहितनिदिध्यासननिवर्त्या काऽसौ प्रागुक्ता द्विविधविपरीतभावनैवेत्याशङ्क्य समाधत्ते—**बहुजन्मेत्यादिसपादश्लोकेन** । एवं चात्राद्या देहादिरेवात्मपदार्थः स्यान्न तु तत्साक्षित्वोपलक्षितः शुद्धचिन्मात्रत्वेन चिंतित इति साधनविपरीतभावना, तथा द्वितीया तु द्वैतमेव सत्यं न तु तत्त्वज्ञानसाध्याऽविद्यानिवृत्त्युपलक्षितद्वैतमिथ्यात्वफलीभूतस्व-प्रकाशब्रह्मानन्दलक्षणकैवल्यमिति फलविपरीतभावनेति विभागः ।। १०३ ।।

ननु कथमस्यानिवृत्तिरित्यत आह—**ऐकाग्र्यादिति** । द्वितीयपादेन उत्तरमीमांसा-यास्तृतीयचतुर्थाध्यायोक्तनिरुक्तसिद्धान्तानुसंधानजन्यचित्तवृत्तिनिरोधादित्यर्थः । ननू-

उपास्तयोऽत एवात्र ब्रह्मशास्त्रेऽपि चिन्तिताः ।
प्रागनभ्यासिनः पश्चाद्ब्रह्माभ्यासेन तद्भवेत् ॥ १०५ ॥

नन्वेतत्कुतोऽवगतमित्याशङ्क्य, उपासनाविचारस्य वेदान्तशास्त्रे कृतत्वादित्याह—**उपास्तय इति** । अकृतोपास्तिकस्य कुतस्तज्जन्मेत्यत आह—**प्रागिति** ॥ १०५ ॥

क्तलक्षणमेकाग्र्यं तु "शान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वा" इति "नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः । नाशान्तमानसो वाऽपि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात्" इति चान्वयव्यतिरेकश्रुतिभ्यां तवानुभवात्प्रागेवेदमधिकारिविशेषणत्वेन विहितनिरोधसमाधिना सिद्धमेवेति चेद्गुढाभिसंधिरङ्गीकरोति—**तत्त्वेति** । तत्र हेतुमाह—**उपासनादिति** । सगुणनिर्गुणब्रह्मप्रतीकाहंग्रहान्यतमोपास्तिपदवाच्यनिरंतरतदेकाकारचित्तवृत्तिसंपादनलक्षणभावनाभूरितराभ्यासादित्यर्थः ॥ १०४ ॥

तत्रोपपत्तिमाह—**उपास्तय इति** । अत्र प्रकृतोत्तरमीमांसाख्ये । चिन्तितास्तृतीयाध्यायादौ विचारिता इति यावत् । तमेव गूढभिसंधिमुद्घाटयति—**प्रागिति** । तदुक्तं **जीवन्मुक्तिविवेकेऽत** एव—"विद्याधिकारी द्विविधः । कृतोपास्तिरकृतोपास्तिश्चेति । तत्रोपास्यसाक्षात्कारपर्यंतामुपास्ति कृत्वा यदि ज्ञाने प्रवर्तते तदा वासनाक्षयमनोनाशयोर्दृढतरत्वेनज्ञानादूर्ध्वं विद्वत्संन्यासजीवन्मुक्ती स्वत एव सिद्धयतः । तादृश एव शास्त्राभिमतो मुख्योऽधिकारी । ततस्तं प्रति शास्त्रेषु सहोपन्यासात्स्वरूपेण विविक्तावपि विद्वत्संन्यासविविदिषासंन्यासौ संकीर्णाविव प्रतिभासेते । इदानींतनास्तु प्रायेणाकृतोपास्तय एवौत्सुक्यमात्रात्सहसा विद्यायां प्रवर्तंते । वासनाक्षयमनोनाशौ च तात्कालिकौ संपादयन्ति । तावता श्रवणमनननिदिध्यासनानि निष्पाद्यन्ते तैश्च दृढाभ्यस्तैरज्ञानसंशयविपर्ययनिरासात्तत्त्वज्ञानं सम्यगुदेति । तस्य बाधकप्रमाणाभावान्निवृत्तायामविद्यायां पुनरुत्पत्तिकारणाभावाच्च नास्ति तस्य शैथिल्यम् । वासनाक्षयमनोनाशौ तु दृढाभ्यासाभावाद्भोगप्रदेन प्रारब्धेन तदा तदा बाध्यमानत्वाच्च सवातप्रदेशदीपवत्सहसा निवर्तेते । तथा च **वसिष्ठः**—

"पूर्वेभ्यस्तु प्रयत्नेभ्यो विषमोऽयं हि संमतः । दुःसाध्यो वासनात्यागः सुमेरून्मूलनादपि" । **अर्जुनोऽपि**—"चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम् । तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करमिति" ।

तस्मादिदानींतनानां विद्वत्संन्यासिनां ज्ञानस्यानुवृत्तिमात्रं वासनाक्षयमनोनाशौ तु प्रयत्नसाध्याविति सिद्धमिति" । नन्वत्राकृतोपास्तिनाऽप्यधिकारिणा तावद्दृढाभ्यस्तैः श्रवणमनननिदिध्यासनैः क्रमादज्ञानसंशयविपर्ययनिरासात्तत्त्वज्ञानं सम्यगुदेति यद्यप्यथापि वासनाक्षयमनोनाशयोर्दृढाभ्यासाभावात्तावेव प्रयत्नसाध्यावित्युक्तम् । त्वया त्विदं विपरीतभावनानिवर्तकैकाग्र्याख्यनिदिध्यासनं प्रकृत्य तन्मूलकमैकाग्र्यं तत्त्वोपदेशात्प्रागेव यद्यप्युपासनाद्भवत्यथापि प्रागुपासनाभ्यासाभावे ब्रह्माभ्यासेन तदेकाग्र्यं

तच्चिन्तनं तत्कथनमन्योन्यं तत्प्रबोधनम् ।
एतदेकपरत्वं च ब्रह्माभ्यासं विदुर्बुधाः ।। १०६ ।।
तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः ।
नानुध्यायाद्बहूञ्छब्दान् वाचो विग्लापनं हि तत् ।।१०७।।

ब्रह्माभ्यासश्च कीदृश इत्याकाङ्क्षायामाह—**तच्चिन्तनमिति** ।।१०६।।

एतदेकपरत्वं विशदयितुं (बृ० ४।४।२०) श्रुतिमाह—**तमेवेति** । धीरो ब्रह्मचर्यादिसाधनसम्पन्नः ब्राह्मणो ब्रह्म भवितुमिच्छुर्मुमुक्षुः तमेव प्रत्यग्रूपं परमात्मानमेव विज्ञाय संशयाद्यभावो यथा भवति तथा ज्ञात्वा, प्रज्ञां ब्रह्मात्मैकत्वज्ञानसन्ततिरूपमैकाग्र्यं कुर्वीत सम्पादयेत् । अनात्मगोचरान्बहून् शब्दान्नानुध्यायान्नानुस्मरेत् । ध्यानेनाभिधानमप्युपलक्ष्यते, नाभिदध्याच्च, अन्यथा शब्दध्यानेन वाग्विग्लापनानुपपत्तेः । कुत इत्यत आह—**वाच इति** । हि यस्मात्तदभिधानम् । अनेन स्मरणमप्युपलक्ष्यते । 'वाच' इति मनसोऽप्युपलक्षणम् । विग्लापनं विग्लापयतीति विग्लापनं श्रमहेतुः । अयमभिप्रायः—इतरशब्दानुसन्धाने मनसः श्रमो भवति, तदभिधाने तु वाच इति ।। १०७ ।।

स्यादित्यत्र सम्मतित्वेन वाक्यजातमुदाहृतमतः किं केन सङ्गतमिति चेन्न । भावानवबोधात् । तथा हि । अत्र तत्त्वोपदेशात्प्रागेव भवत्येतदुपासनादित्यारभ्य प्रागनभ्यासिनः पश्चाद्ब्रह्माभ्यासेन तद्भवेदित्यन्तग्रन्थेन ब्रह्मोपदेशात्पूर्वं कृतोपास्तेश्चित्तैकाग्र्यं निसर्गसिद्धमेवेति ब्रह्मविद्यास्वोदयमात्रादेव दृढीभवत्यकृतोपास्तेस्त्वसावदृढेति तद्दार्ढ्यार्थं श्रवणमननाभ्याससम्भावनां निर्मूल्य विपरीतभावनाभङ्गार्थं ब्रह्माभ्यासेनैकाग्र्यं निदिध्यासनाख्येन साधनीयमित्युक्तं तत्तु समुदाहृतजीवन्मुक्तिविवेकेऽपि समानमेवेति किमत्र वैसाङ्गत्यम् । यत्तु तत्र निवृत्ताविद्यस्यापि जीवन्मुक्त्यर्थं वासनाक्षयादिसाध्यमुक्तमिह त्वतथाविधस्यैव विपरीतभावनानिवृत्त्यर्थं ब्रह्माभ्यासेनैकाग्र्यं साध्यमित्युक्तमित्यवान्तरभेदजातं तत्तु न प्रोक्तप्रधानसम्मतिभञ्जकमिति दिक् ।। १०५ ।।

प्रतिज्ञातब्रह्माभ्यासमेव व्युत्पादयति—**तच्चितनमिति** । एकान्त इत्यार्थिकम् । एवं स्वन्यूनसमानसतीर्थ्यसान्निध्ययोः क्रमात्तत्कथनादि । जाग्रति तदन्याभावार्थमेतदेकेति ।। १०६ ।।

उक्तलक्षणब्रह्माभ्यासविधाने श्रुतिं प्रमाणयति—**तमेवेति** । धीरो ब्रह्मचर्यादिमान । तमेवाद्वैतात्मानमेव विज्ञाय निःसंशयमपरोक्षीकृत्येत्यर्थः । ब्राह्मण इति भविष्यदा-

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ।। १०८ ।।
इति श्रुतिस्मृती नित्यमात्मन्येकाग्रतां धियः ।
विधत्तो विपरीताया भावनायाः क्षयाय हि ।। १०९ ।।

एवमैकाग्र्यप्रतिपादिकां श्रुतिमभिधाय (गी० ९.२२) स्मृतिमप्याह–**अनन्या इति ।** ये जनाः अनन्या 'अहं-ब्रह्मास्मी'तिज्ञानेन मदभिन्नाः सन्तस्तथैव मां चिन्तयन्तः पर्युपासते, परितः सर्वेष्वपि कालेषु उपासते, मद्रूपा एव वर्तन्ते, तेषां नित्याभियुक्तानां सदा मच्चित्तानां तेषां अहं तदात्मत्वेन अनुसन्धीयमानोऽहं योगक्षेमं—अलब्धप्रापण-लब्धपरिरक्षणरूपौ–योगक्षेमौ वहामि, सम्पादयामीत्यर्थः ।। १०८ ।।

उदाहृतयोः श्रुतिस्मृत्योस्तात्पर्यमाह—**इतीति** । एते श्रुतिस्मृतीविपरीत-भावनानिवृत्तये आत्मनि सदा चित्तैकाग्र्यं प्रतिपादयत इत्यर्थः ।। १०९ ।।

वश्यकब्रह्मनिष्ठाभिप्रायम् । तथा च काण्वैराम्नायते—"पाण्डित्यं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेत्पाण्डित्यं च बाल्यं च निर्विद्याथ मुनिरमौनं च निर्विद्याथ ब्राह्मणः" इति । श्रुत्यर्थस्तूक्तोऽनुभूतिप्रकाशे श्रीमद्विद्यारण्यचरणैः—

"पाण्डित्यबाल्यमौनानि श्रवणादीनि तैरयम् ।
भवति ब्राह्मणस्तत्र ब्राह्मण्यं ब्रह्मरूपता" इति ।

अवयवार्थादिविस्तरस्तु तत्रैव बोध्यः । अत एव प्रज्ञामित्यादि । ब्रह्मात्मैक्य-विषयकवृत्तिसन्ततिमित्यर्थः । एतेन निदिध्यासनं ध्वन्यते । तदकरणे दोषमाह—**नेत्यादिना** । श्रवणादिसंस्कारोपस्थितानपोत्यार्थिकम् । प्रणवादियावदात्मानुसन्धानोप-योग्यल्पशब्दसङ्ग्रहसूचनाय—**बहूनिति** । नानुध्यायान्नानुचिन्तयेन्न स्मरेदपीत्यर्थः । तत्र हेतुः—**वाच इत्यादिना** । 'यदेव मनसा ध्यायति तदेव वाचा वदती'तिश्रुतेः ॥ १०७ ॥

स्मृतिमप्युक्तेर्थे संवादयति—**अनन्यया इति** । ये जना कृतयथोक्तवेदान्तश्रवण-मननाः परमात्मतत्त्वजिज्ञासव इत्यर्थः । मामद्वैतपरमात्मानम् । अनन्या अहं ब्रह्मास्मीत्य-भेदभावनायुक्ता इति यावत् । चिन्तयन्ते ध्यायन्तः सन्त इत्यर्थ । पर्युपासते मदैक्यमिवा-पन्नास्तिष्ठन्तीति यावत् । अहं निरुक्तरीत्या चिंत्यमानः परमात्मा । तेषामुक्तरूपसाधका-नाम् । योगक्षेममवाप्तभूमिकाप्रापणपूर्वकं प्राप्तभूमिकासंरक्षणमित्यर्थः । वहामि निरुक्त-ध्यानारूढतयैव सम्पादयामीति सम्बन्धः ।। १०८ ।।

उक्तश्रुत्यादितात्पर्यमाह—**इतीति** । हिरवधारणे । विपरीतभावनाभङ्गार्थमेवेति यावत् ॥ १०९ ॥

यद्यथा वर्तते तस्य तत्त्वं हित्वाऽन्यथात्वधीः ।
विपरीता भावना स्यात्पित्रादावरिधीर्यथा ।। ११० ।।
आत्मा देहादिभिन्नोऽयं मिथ्या चेदं जगत्तयोः ।
देहाद्यात्मत्वसत्यत्वधीर्विपर्ययभावना ।। १११ ।।
तत्त्वभावनया नश्येत् साऽतो देहातिरिक्तताम् ।
आत्मनो भावयेत्तद्वन्मिथ्यात्वं जगतोऽनिशम् ।। ११२ ।।

ननु देहाद्यात्मत्वबुद्धेः जगत्सत्यत्वबुद्धेश्च कुतो विपरीतभावनात्व-मित्याशङ्क्य, तल्लक्षणयोगादिति दर्शयितुं तस्या लक्षणमाह—

यद्यथेति । यद्वस्तु शुक्त्यादि यथा येन शुक्त्यादिरूपेण वर्तते तस्य तत्त्वं शुक्त्यादिरूपत्वं परित्यज्यान्यथात्वधीरन्यथात्वस्य रजतादिरूपत्वस्य धीर्ज्ञानं विपरीतभावना स्यात् । अतस्मिंस्तद्बुद्धिरिति यावत् । तामुदाहरति—**पित्रादाविति** ।। ११० ।।

उक्तलक्षणं प्रकृते योजयति—**आत्मेति** । अयमात्मा वस्तुतो देहादिभ्यो भिन्नः, इदं जगच्च मिथ्या, एवं सत्यपि तयोः आत्मजगतोर्यथाक्रमं देहादि-रूपत्वबुद्धिः सत्यत्वबुद्धिश्च या विपरीतभावनेत्यर्थः ।। १११ ।।

पूर्वम् 'ऐकाग्र्यात्सा निवर्तते' (प्र० ७।१०४) इति सामान्येनोक्तमर्थं विशेषाकारेणाह—**तत्त्वभावनयेति** । सा देहाद्यात्मत्वजगत्सत्यत्वधीरूपा विपरीता भावना तत्त्वभावनया आत्मनो देहातिरिक्तत्वस्य जगतो मिथ्यात्वस्य च भावनया निरन्तरध्यानेन नश्येत् । अत आत्मनो देहाद्यतिरिक्तत्वं देहादेः जगतो मिथ्यात्वं च सदा भावयेदित्युक्तम् ।। ११२ ।।

अथ किंलक्षणा विपरीतभावनेवेत्यपेक्षायां तां लक्षयति—यदिति । तामुदाहरति—**पित्रादावित्यादिना** । मन्दान्धकाराद्यवच्छेदेनेत्यार्थिकम् बहुजन्मेत्यादिना तु प्राक्तत्स्वरूपमेव कथितमिति न पौनरुक्त्यम् ।। ११० ।।

निरुक्तलक्षणं विपरीतभावनायाः प्रागुक्ते बहुजन्मदृढाभ्यासादित्यादिना तत्स्व-रूपेऽपि योजयति—**आत्मेति** ।। १११ ।।

अस्त्वेवमथाप्यसौ कथमुपशाम्येतेति खिद्यमानं प्रति प्रागुक्तब्रह्माभ्याससाध्यचित्तै-काग्र्यलक्षणतदुपाये सामान्यत्वात्तद्विशेषमाह—**तत्त्वभावनयेति** । तत्रापि विषयविभागा-पेक्षायां तं संक्षिपति - **अत इत्यादिना** सहेतुकम् । ननु 'भावनाजं फलं यत्स्याद्यच्च

किं मन्त्रजपवन्मूर्तिध्यानवद्वात्मभेदधीः ।
जगन्मिथ्यात्वधीश्चात्र व्यावर्त्या स्यादुतान्यथा ।। ११३ ।।

अन्यथेति विजानीहि दृष्टार्थत्वेन भुक्तिवत् ।
बुभुक्षुर्जपवद्भुङ्क्ते न कश्चिन्नियतः क्वचित् ।। ११४ ।।

तत्र जपादाविव नियमापेक्षाऽस्ति वा न वेति पृच्छति—**किं मन्त्रजपवदिति** । आत्मभेदधीरात्मनो देहादिभ्यो विभिन्नज्ञानं जगतो मिथ्यात्वानुसंधानं च मन्त्रजपवत् देवताध्यानादिवत् किं नियमेनानुष्ठातव्यं, उत लौकिकव्यवहारवन्नियममन्तरेणापि कर्तुं शक्यत इति ।। ११३ ।।

दृष्टफलकत्वान्नात्र नियमः कश्चिदस्तीत्याह—**अन्यथेति** । अन्यथा, नियमं विनेत्यर्थः । तत्र हेतुमाह—**दृष्टार्थत्वेनेति** । तत्र दृष्टान्तमाह—**भुक्तिवदिति** । दृष्टार्थेऽपि भोजने नियमाः श्रुतिस्मृत्योरुपलभ्यन्त इत्याशङ्क्याह—**बुभुक्षुरिति** । क्षुदपनयनाय भोक्तुमिच्छन्पुरुषो जपं कुर्वाण इव न नियमेन भुङ्क्ते, अपि तु यथा क्षुद्बाधोपशान्तिः स्यात्तथा भोजनं करोतीत्यर्थः ।। ११४ ।।

स्यात्कर्मणः फलम् । न तत्स्थास्न्विति विज्ञेयं पण्यस्त्रीसङ्गतं यथे'ति वार्तिके भावनाजन्यानां कर्मजन्यानां च फलानां विनश्वरत्वोक्तेः कथं तत्त्वभावनाविनष्टविपरीतभावनायाः पुनरनुदय इति चेन्न । निरुक्तवार्तिकस्य तत्त्वज्ञानप्राक्कालिकभावनाभिप्रायकत्वादुक्तभावनायास्तु तद्दार्ढ्यार्थं तदुत्तरकालिकतत्त्वानुसंधानमात्ररूपत्वेन तत्त्वज्ञानसमानफलकत्वाच्च । स्फुटमेवेदमग्रेऽपि ॥ ११२ ॥

तत्र भावना हि मनसो भाव्याकारवृत्तिपरम्परेति । निर्विवादमेव निरुक्तपक्षद्वयेऽपि तथाऽपि सहस्रपरमा देवीत्यादिस्मृतेः किमसौ प्रातः संध्योपासने प्रत्यहं सहस्रजपवन्नियमेन संख्यया ब्रह्मात्मैक्यविषयकचित्तवृत्तिर्द्वैतमिथ्यात्वविषयकतद्वृत्तिश्चाऽऽवर्तनीया किं वा तत्र प्रत्ययैकतानताध्यानमिति पातञ्जलसूत्राद्विजातीयवृत्त्यनास्कन्दितध्येयाकारसजातीयवृत्तिप्रवाहीकरणं सञ्चिन्तयेद्भगवतश्चरणारविंदमित्यादिभागवतादिविहितं विष्ण्वादिध्यानं यत्तद्वद्ब्राह्ममुहूर्तादौ प्रतिदिनं समनुष्ठेयं यद्वा प्रकारान्तरेणानियतमेवेति विकल्प्य पृच्छति—**किं मंत्रेति** ।। ११३ ।।

तत्र चरमकोट्यवलम्बनेन समाधत्ते—**अन्यथेत्यादिद्वाभ्याम्** ।। ११४ ।।

अश्नाति वा न वाऽश्नाति भुङ्क्ते वा स्वेच्छयाऽन्यथा ।
येन केन प्रकारेण क्षुधामपनिनीषति ।। ११५ ।।
नियमेन जपं कुर्यादकृतौ प्रत्यवायतः ।
अन्यथाकरणेऽनर्थः स्वरवर्णविपर्ययात् ।। ११६ ।।
क्षुधेव दृष्टबाधाकृद्विपरीता च भावना ।
जेया केनाप्युपायेन नास्त्यत्रानुष्ठितेः क्रमः ।। ११७ ।।

एतदेव प्रपञ्चयति—**अश्नातीति** । अश्नाति वाऽन्ने सति कदाचिद्भुङ्क्ते न वाऽश्नाति, तस्मिन्नसति क्षुद्बाधाविस्मारकद्यूतादिचेष्टयाऽनश्नन्नेव कालं नयति, अन्यथा वा तिष्ठन् गच्छन् शयानो वा स्वेच्छया भुङ्क्ते, एवं येन केन प्रकारेण तात्कालिकीं क्षुद्बाधामपनेतुमिच्छति । अत्रायमभिसंधिः—क्षुद्बाधानिवृत्तिलक्षणदृष्टफलाय भोजनमेव कार्यं, नियमास्तु परलोकहेतव इति ।। ११५ ।।

जपादौ भोजनाद्वैलक्षण्यं दर्शयति—**नियमेनेति** । तत्र हेतुमाह—**अकृताविति** । भवत्वेवमकरणे प्रत्यवायश्च, अन्यथाकरणे तु स नास्तीत्याशङ्क्याह—**अन्यथेति** । 'मन्त्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह । स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्' (पा० शि० ५२) इत्युक्तत्वादिति भावः ।। ११६ ।।

ननु क्षुधाया दृष्टबाधाहेतुत्वात्तन्निवृत्तयेऽनियमेनापि भोक्तव्यमेव, विपरीतभावनायास्तु तथात्वाभावात्तन्निवर्तकं ध्यानं अदृष्टफलाय नियमेनानुष्ठेयमित्याशङ्क्याह—**क्षुधेवेति** । विपरीतभावनाया दुःखहेतुत्वस्यानुभवसिद्धत्वादिति भावः ।। ११७ ।।

अन्यथा नक्ताद्युक्तप्रकारेणेत्यर्थः ।। ११५ ।।

जपे भोजनाद्वैलक्षण्यं स्पष्टयति—**नियमेनेति** । प्रात्याहिकसहस्रसंख्यादिनिबन्धेनेत्यर्थः । तत्र हेतुं द्योतयति—**अकृताविति** । 'संध्याहीनोऽशुचिर्नित्यमनर्हः सर्वकर्मसु' इत्यादिस्मृतिषु प्रत्यवायदर्शनादित्यर्थः । न केवलमेतावानेव निबन्धः किंत्वपरोऽपीत्याह—**अन्यथेति** । तत्र हेतुः—**स्वरेति** ।

"मन्त्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह ।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्"

इति शिक्षायां स्वरादिविपर्यासस्य दोषजनकत्वं प्रसिद्धमेवेति भावः ।। ११६ ।।

उपायः पूर्वमेवोक्तस्तच्चिन्ताकथनादिकः ।
एतदेकपरत्वेऽपि निर्बन्धो ध्यानवन्न हि ।। ११८ ।।
मूर्तिप्रत्ययसान्तत्यमन्यानन्तरितं धियः ।
ध्यानं तत्रातिनिर्बन्धो मनसश्चञ्चलात्मनः ।। ११९ ।।
चञ्चलं हि मनः कृष्ण ! प्रमाथि बलवद्दृढम् ।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ।। १२० ।।

तर्हि स उपायः प्रदर्शनीय इत्याशङ्क्य, पूर्वमेव प्रदर्शित इत्याह—**उपाय इति** । ननु जपवत्प्राङ्मुखत्वादिनियमो मा भूत्, ध्यानवदेतदेकपरत्वलक्षणैकाग्रतानिर्बन्धोऽस्तीत्याशङ्क्याह—**एतदिति** ।। ११८ ।।

ननु ध्यानस्य ध्येयचिन्तामात्रात्मकत्वात्तत्र को निर्बन्ध इत्याशङ्क्य, ध्याने निर्बन्धं दर्शयितुं ध्यानस्वरूपं तावदाह—**मूर्तीति** । धियो बुद्धेः सम्बन्धिनां देवतादिमूर्तिगोचराणां प्रत्ययानां यत्सान्तत्यमविच्छिन्नतया वर्तमानत्वं तदन्यानन्तरितमन्येन विजातीयप्रत्ययेनाव्यवहितं सत् ध्यानमित्युच्यते । एवं ध्यानस्वरूपं निरूप्य, तत्र निर्बन्धं दर्शयति—**तत्रेति** । सदा पर्यटनशीलस्य करितुरगादेरेकत्र स्तम्भादौ बन्धने यथोपरोधो भवति तद्वदिति भावः ।। ११९ ।।

मनसश्चाञ्चल्यादौ गीतावाक्यं (६।३४) प्रमाणयति—**चञ्चलं हीति** । प्रमाथि प्रमथनशीलं पुरुषस्य व्याकुलत्वकारणं बलवत्समर्थमनिग्राह्यमित्यर्थः । दृढं सत्यसति वा विषये लग्नम्, तत उद्धर्तुमशक्यमित्यर्थः । अतस्तस्य मनसो निग्रहो वायोर्निग्रह इव सुदुष्करः ।। १२० ।।

नन्वेवमपि विपरीतभावनाभञ्जकतत्त्वानुसंधाने प्रकृते किमागतमित्यत आह—**क्षुधेवेति** ।। ११७ ।।

ननु कोऽसावुपायस्तत्राऽऽह—**उपाय इति** । आदिनाऽन्योन्यतत्प्रबोधनमेव । न चाथाप्येतदेकपरत्वाख्ये चतुर्थे तदुपायांशे चित्तवृत्तेः परमात्मेतराविषयकत्वे सति सदा तदेकविषयकत्वेन यमाद्यष्टाङ्गसाध्यत्वान्महानिर्बंन्ध इति वाच्यम् । तस्यानुसंधानत्वेन ध्यानवैलक्षण्यादित्याह—**एतदेकपरत्वेऽपीति** ।। ११८ ।।

नन्वनुसंधानध्यायनयोः को विशेष इत्याशङ्क्य तल्लक्षणं संक्षिपति—**मूर्तीत्यादिना** । सगुणाभिप्रायं मूर्तिपदम् । धिय इति तत्प्रागेव योज्यम् । अथापि किं तत्राऽऽह—**तत्रेत्यादिशेषेण** । निबन्धो निरोधः ।। ११९ ।।

अप्यब्धिपानान्महतः सुमेरून्मूलनादपि ।
अपि वह्न्यशनात्साधो ! विषमश्चित्तनिग्रहः ।। १२१ ।।
कथनादौ न निर्बन्धः श्रृङ्खलाबद्धदेहवत् ।
कित्वनन्तेतिहासाद्यैर्विनोदो नाट्यवद्धियः ।। १२२ ।।
चिदेवात्मा जगन्मिथ्येत्यत्र पर्यवसाकृतः ।
निदिध्यासनविक्षेपो नेतिहासादिभिर्भवेत् ।। १२३ ।।

मनसो दुर्निग्रहत्वे वासिष्ठवाक्यमपि प्रमाणयति—**अपीति** ।। १२१ ।।

प्रकृते ततो वैषम्यं दर्शयति—**कथनादाविति** । श्रृङ्खलाबद्धदेहस्य यथा निर्बन्धः, न तथा कथनादावित्यर्थः । 'आदि' शब्देन तच्चिन्तनादिकं गृह्यते । न केवलं निर्बन्धाभावश्च, प्रत्युत धियो विनोद इत्याह—**किंत्विति** । इतिहासः पूर्वेषां कथा आद्या तेषां लौकिककथानुकूलयुक्तिदृष्टान्तप्रदर्शनादीनां ते अनन्ता असंख्यातास्च ते इतिहासाद्याश्च इत्यनन्तेतिहासाद्यास्तैर्धियः बुद्धेः विनोदः क्रीडाविषयो भवति । तत्र दृष्टान्तः—**नाट्यवदिति** । नृत्यक्रियानिरीक्षणमिवेत्यर्थः ।। १२२ ।।

ननु कथादिभिरपि तदेकपरत्वविघातः स्यादित्याशङ्क्याह—**चिदेवेति** । इतिहासादीनामात्मा चिन्मात्ररूपो न देहादिरूपः, जगच्च मिथ्येत्येतस्मिन्नर्थे पर्यवसानात् न तैरेतदेकपरत्वशब्दाभिधेयस्य निदिध्यासनस्य विक्षेप इत्यर्थः ।। १२३ ।।

तत्रार्जुनवाक्यमनुकूलयति—**चञ्चलं हीति**। चञ्चलोऽपि मृगादिर्बध्यत इत्यत आह—**प्रमाथीत्यादिना** । कामेन विवेकप्रमथनशीलम् । बलवदाग्रहादनिर्ग्राह्यम् । दृढकान्तादिविषयादाक्रष्टुमशक्यमित्यर्थः ।। १२० ।।

एवमेव भगवान्वसिष्ठोऽपीत्याह—**अपीति** । महत इत्येकार्णवकालिकत्वार्थम् । सप्ताब्धिपानस्यागस्त्यकृतत्वात् । तस्यापि सृष्टिकाले विधातृकृतत्वात्सुमेर्विति । तस्यापि हरकार्मुकावच्छेदेन रामकृतत्वाद्वह्नीति । तस्यापि कृष्णकृतत्वाद्विषम इति ।। १२१ ।।

ननु भवत्वेवं ध्याने मनसश्चञ्चलस्वरूपत्वाद्यनेकदोषैरतिनिबन्धः परंत्वनुसन्धाने द्वैतमिथ्यात्वपूर्वकापरोक्षीकृतब्रह्मात्मैक्यविषयकस्मृतिसातत्यलक्षणे प्रकृते कथं तद्भाव इत्यपेक्षायां तमेव प्रपञ्चयति—**कथनादावित्यादिना** । आदिनाऽन्योन्यं तत्प्रबोधनम् । **अनन्तेति** । बृहद्वासिष्ठमोक्षधर्मसूतसंहितादिप्रसिद्धा सङ्ख्येतिहासादिभिरित्यर्थः ।।१२२।।

ननु कथनादिनाऽपि तच्चिन्तनादिनिरुक्तोपायांशविशेषयोस्तच्चितनैतदेकपरत्वयोर्विघातः स्यादेवेत्यत आह—**चिदेवेति** ।। १२३ ।।

कृषिवाणिज्यसेवादौ काव्यतर्कादिकेषु च ।
विक्षिप्यते प्रवृत्त्या धीस्तैस्तत्त्वस्मृत्यसंभवात् ।। १२४ ।।
अनुसंदधतैवात्र भोजनादौ प्रवर्तितुम् ।
शक्यतेऽत्यन्तविक्षेपाभावादाशु पुनः स्मृतेः ।। १२५ ।।
तत्त्वविस्मृतिमात्रान्नानर्थः किन्तु विपर्ययात् ।
विपर्येतुं न कालोऽस्ति झटिति स्मरतः क्वचित् ।।१२६।।

नन्वितिहासानामङ्गीकारे कृष्यादेरपि प्रसक्तिः स्यादित्याशङ्क्याह—**कृषीति** ।। १२४ ।।

ननु कृष्यादीनां तत्त्वानुसंधानविघातित्वेन त्याज्यत्वे भोजनादेरपि तथात्वात्तदपि त्याज्यमेवेत्याशङ्क्याह—**अनुसंदधतैवेति** । कुत इत्यत आह—**अत्यन्तेति** । विक्षेपाभावोऽपि कुत इत्यत आह—**आशु पुनः स्मृतेरिति** ।। १२५ ।।

ननु तदानीं विक्षेपाभावेऽपि तत्त्वविस्मृतिसद्भावात् पुरुषार्थहानिः स्यादित्याशङ्क्याह—**तत्त्वविस्मृतीति** । कुतस्तर्ह्यनर्थ इत्यत आह—**किन्तु विपर्ययादिति** । विस्मरणे सति विपर्ययोऽपि स्यादित्याशङ्क्याह—**विपर्येतुमिति** ।। १२६ ।।

उक्तमेवार्थं प्रत्युदाहरणकथनेन द्रढयति—**कृषीति** । आदिना काम्यकर्म वैदिकं ग्राह्यम् । एवं कायिकव्यापारेषु बुद्धेर्विक्षेपमुक्त्वा वाचिकेष्वपि ब्रह्मेतरविषयेषु तमाह—**काव्येति** । आदिना यावद्भेदवादिनिबन्धाः । तत्र हेतु—**तैरित्यादिचरमचरणेन** ।। १२४ ।।

ननु कृष्यादिवद्भोजनादेरपि तत्त्वविस्मारकत्वेन त्याज्यत्वापत्तिरित्यत आह—**अनुसन्दधतैवेति** । आदिना निखिलमाह्निकम् । तत्र हेतुः—**अत्यन्तेति** । तत्रापि हेतुः—**आश्वित्यादिना** । सदाचारप्रकरणे श्रीमद्भाष्यकृच्चरणैः सर्वस्याप्याह्निकस्य द्वैतमिथ्यात्वपूर्वकमद्वैतब्रह्मात्मैक्यानुसंधानात्मनैव विहितत्वान्मयाऽपि तट्टीकायां तथैव प्रपञ्चितत्वाच्च तत्पर्यालोचनेन शीघ्रमेव भोजनादौ प्रवृत्तस्य पुनः स्मृतिर्भवतीति भावः ।। १२५ ।।

नन्वथापि भोजनादितत्तद्व्यापारकालावच्छेदेन तत्त्वविस्मृतिस्तु स्यादेवेत्यत्राऽऽह—**तत्त्वेति** ।। १२६ ।।

तत्त्वस्मृतेरवसरो नास्त्यन्याभ्यासशालिनः ।
प्रत्युताभ्यासघातित्वाद्बलात्तत्त्वमुपेक्ष्यते ॥ १२७ ॥

तमेवैकं विजानीथ ह्यन्या वाचो विमुञ्चथ ।
इति श्रुतं तथाऽन्यत्र वाचो विग्लापनं त्विति ॥ १२८ ॥

आहारादि त्यजन्नैव जीवेच्छास्त्रान्तरं त्यजन् ।
किं न जीवसि येनैवं करोष्यत्र दुराग्रहम् ॥ १२९ ॥

ननु भोजनादिषु प्रवृत्तस्येव तर्काद्यभ्यासप्रवृत्तस्यापि तत्त्वस्मरणं किं न स्यादित्याशङ्क्याह—**तत्त्वस्मृतेरिति** । न केवलं तत्त्वानुसंधानावसराभाव एव, किंतु काव्यतर्काद्यभ्यासस्य तत्त्वाभ्यासविरोधित्वात्तदानीं स्मृतमपि तत्त्वं बलादुपेक्ष्यत इत्याह—**प्रत्युतेति** ॥ १२७ ॥

तत्त्वानुसंधानविरोधिवाग्व्यवहारस्य त्याज्यत्वे प्रमाणत्वेन 'तमेवैकं जानथ आत्मानमन्या वाचो विमुञ्चथामृतस्यैष सेतुः' (मु० २।२।५) इति श्रुतिवाक्यमर्थतः पठति—**तमेवेति** । 'नानुध्यायाद्बहूञ्छब्दान्वाचो विग्लापनं हि तत्' (बृ० ४।४।२१, शाट्या० २३) इत्येतदपि वाक्यं श्रूयत इत्याह—**तथेति** ॥ १२८ ॥

ननु तत्त्वानुसंधानातिरिक्तमाहारादि यथा न त्यज्यते, एवमितरशास्त्राद्यभ्यासोऽपि क्रियतामित्याग्रहं कुर्वाणं प्रत्याह—**आहारादिति** ॥ १२९ ॥

ननु तर्हि भोजनादिवत्तर्काद्यभ्यासिनोऽपि भवतु शीघ्रं तत्त्वस्मृतिरित्याशङ्क्य समाधत्ते—**तत्त्वस्मृतेरिति** । न केवलं तत्र तदनवकाशः किन्तु विरोधित्वमपीत्याह—**प्रत्युतेति** । उपेक्ष्यते त्यज्यते ॥ १२७ ॥

ननु भोजनादिव्यवहारस्तत्त्वानुसंधानाविरोधीत्युपपाद्यांगीक्रियते तर्कादिशास्त्राभ्यासस्तु भेदवादित्वेन तद्विरोधीति नाऽऽद्रियते चेत्सुमण्डितमद्वैतिपाण्डित्यमित्याशंक्य श्रुत्यैव प्राक्त'मेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः । नानुध्यायाद्बहूञ्शब्दान्वाचो विग्लापनं हि तदि'ति । समाधाने कृतेऽपि तद्विस्मरणशीलं प्रति समाधातुं तादृक्श्रुत्यंतरमर्थतः पठंस्तामपि स्मारयति—**तमेवैकमिति** । तथाचाऽऽथर्वणिकैराम्नायते—'तमेवैकं जानथ आत्मानमन्या वाचो विमुञ्चथामृतस्यैष सेतुः' इति । शिष्टं तु स्पष्टमेव ॥ १२८ ॥

अथैवं भेदवादाभिनिविष्टं प्रति पुनरपि विस्पष्टं समाक्षिपति—**आहारादीति** । आदिना निद्रादि ॥ १२९ ॥

जनकादेः कथं राज्यमिति चेद् दृढबोधतः ।
तथा तवापि चेत्तर्कं पठ यद्वा कृषिं कुरु ।। १३० ।।
मिथ्यात्ववासनादार्ढ्ये प्रारब्धक्षयकाङ्क्षया ।
अक्लिश्यन्तः प्रवर्तन्ते स्वस्वकर्मानुसारतः ।। १३१ ।।
अतिप्रसङ्गो मा शङ्क्यः स्वकर्मवशवर्तिनाम् ।
अस्तु वा केन शक्येत कर्म वारयितुं वद ।। १३२ ।।

ननु तर्हि जनकादीनां तत्त्वविदामपि कथं राज्यपरिपालनादौ प्रवृत्तिरिति शङ्कते—**जनकादेरिति** । दृढापरोक्षज्ञानित्वात्तेषां सा न बाधिकेत्यभिप्रायेण परिहरति । तर्हि ममापि दृढबोधोऽस्तीति वदन्तं प्रत्याह—**तथेति** ।। १३० ।।

ननु तत्त्वविदः संसारासारतां जानन्तः कुतस्तत्र प्रवर्तिष्यन्ते इत्याशङ्क्य, प्रारब्धस्यावश्यंभाविफलत्वाद्भोगेन तत्तत्क्षयाय प्रवृत्तिरित्याह—**मिथ्यात्वेति** ।। १३१ ।।

तर्ह्यनाचारेऽपि प्रवृत्तिः स्यादित्याशङ्क्याह—**अतिप्रसङ्ग इति** । प्रारब्धवशादेवातिप्रसङ्गोऽपिस्यादित्याशङ्क्याङ्गीकरोति—**अस्त्विति** ।१३२।

तत्रापि भेदवादिशास्त्राभिनिविष्टः पुनः सनिदर्शनमाक्षिपति—**जनकादेरिति**। तत्र सिद्धान्ती समाधत्ते—**दृढेति** । तद्दृढताऽवधिस्तूपदेशसाहस्र्यां श्रीमद्भाष्यकारैरेव दर्शितः—

"देहात्मज्ञानवज्ज्ञानं देहात्मज्ञानबाधकम् ।
आत्मन्येव भवेद्यस्य स नेच्छन्नापि मुच्यते" ।। इति ।

ननु प्रागुदाहृतात् 'अहं ब्रह्मेति वाक्यार्थबोधो यावद्दृढीभवेत् । शमादिसहितस्तावदभ्यसेच्छ्रवणादिकम्' इति बृहद्वाक्यवृत्तिवाक्यादसम्भावनादिनिवृत्तये प्रोक्तरीत्या श्रवणाद्यभ्यासमनुतिष्ठतो ममापीदानीं बोधो दृढ एवेत्याशङ्क्य भूरिविक्षेपकरावपि शास्त्रीयलौकिकव्यवहाराधमावपि तर्कपठनकृषिकरणव्यवहारावप्यनुमोदते—**तथेति**।।१३०।।

ननु यावद्दृश्यस्यासज्जडदुःखात्मकत्वं मिथ्यात्वं चानुभवतां निरुक्तव्यवहारयोः प्रथमं प्रवृत्तिरेव कथं सम्भवेदित्यत आह—**मिथ्यात्वेति** । तदुक्तं **स्वाराज्यसिद्धावपि**—

"केऽपि वर्णाश्रमाचारनिष्ठापरा मुग्धबालप्रमत्तोपमाश्चापरे ।
रागिणो भोगिनो योगिनश्चेतरे ज्ञानिनां लक्ष्यते नैकरूपा स्थितिः" इति ।

मुग्धेति । जडभरतचतुःसनदत्तात्रेयादयः । रागिणः संतो भोगिनः सौभर्यादयः ।।१३१।।

नन्वेवं तर्हि विकर्मण्यपि प्रवृत्तिप्रसङ्ग इत्यत्राऽऽह—**अतिप्रसङ्ग इति** । तत्र

ज्ञानिनोऽज्ञानिनश्चात्र समे प्रारब्धकर्मणी ।
न क्लेशो ज्ञानिनो धैर्यान्मूढः क्लिश्यत्यधैर्यतः ।।१३३।।
मार्गे गन्त्रोर्द्वयोः श्रान्तौ समायामप्यदूरताम् ।
जानन् धैर्याद् द्रुतं गच्छेदन्यस्तिष्ठति दीनधीः ।। १३४ ।।

ननु ज्ञान्यज्ञानिनोः प्रारब्धकर्मण्यवश्यभोक्तव्यतया समाने तयोः कुतो वैलक्षण्यसिद्धिरित्याशङ्क्याह—**ज्ञानिन इति** ।। १३३ ।।

तत्र दृष्टान्तमाह—**मार्गे इति** ।। १३४ ।।

हेतुः—**स्वेति** । अयं भावः । ब्रह्मविदां हि लोकदृष्टिसिद्धस्वकार्पण्यवत्प्रारब्धावस्थापितशरीरेन्द्रियादिव्यापारः कारणसामाग्र्यभावेऽपि मूलाविद्याविनाशाद्दक्षिणावर्तभ्रामितचक्रन्यायेन संस्कारमात्रप्रयुक्त इत्यवश्यं वाच्यम् । तथा च—'स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः' इत्यादिस्मृतेः 'स्ववर्णाश्रमधर्मेण तपसा हरितोषणात् । साधनं प्रभवेत्पुंसां वैराग्यादिचतुष्टयम्' इत्यपरोक्षानुभूतेश्च स्वकर्मशब्दितयावत्काम्यनिषिद्धशून्यांतर्याम्येकाज्ञापरिपालनानुष्ठिततत्परितुष्ट्यैकफलकानंतजन्मसंपादितकर्तृत्वाभिमानफलाभिसन्धिहीनस्वविरचितस्ववर्णाश्रमोचिततंत्रगन्धरहितश्रौतस्मार्तनित्यनैमित्तिकप्रायश्चितकर्मसंस्कारैकवशवर्तित्वं तेषां नियतमेव यतोऽस्ति तस्मादनाचारस्वच्छन्दाचारादिप्रवृत्तिलक्षणोऽतिप्रसङ्गो नैव शङ्क्य इति । तथैवोक्तमनुभूतिप्रकाशेऽपि—'किंच पुण्यरतः पूर्वं ज्ञानमाप्नोति नान्यथा । पश्चाच्च तद्वासनया पुण्यमेव करोत्यसौ' इति । स्वानुभवादर्शेऽपि—'नैव श्लेषः पुण्यपापक्रियाया यद्यप्येवं शुद्धसंस्कारहेतोः । पुण्ये श्रद्धा पाप्मनो नैव बुद्धिस्तत्त्वज्ञस्य प्रायशोऽयं निसर्गः' इति । प्रपञ्चितं चैतदद्वैतजलजातादिग्रन्थेषु मया तथाऽत्राप्यग्रे तत्प्रकरणे भूरितमुपपाद्येतापीति दिक् । नन्वेवं चेत्तर्ह्यस्तु वेत्यादिनाऽतिप्रसङ्गाख्यदुराचाराद्यङ्गीकारः प्रतीयते । प्रारब्धवशादेवातिप्रसङ्गोऽपि स्यादित्याशङ्क्याङ्गीकरोति—**अस्तु वेतीति** । प्राचा व्याख्यातश्च कथं सङ्गच्छेतेति चेन्न । यद्वा यद्येवं तदा ज्ञानोत्तरं पातकेन नैव भाव्यं तथात्वे 'तदधिगम उत्तरपूर्वाधयोरश्लेषविनाशौ तद्व्यपदेशात्' इत्यधिकरणविरोध इति चेन्न । उपक्रमानुसारेण तस्याज्ञातपातकाभिप्रायकत्वात् । अत एवोक्तं **नैष्कर्म्यसिद्धौ—**

"अधर्माज्जायतेऽज्ञानं यथेष्टाचरणं ततः ।
धर्मकार्ये कथं तत्स्याद्यत्र धर्मोऽपि नेष्यते" इति ।

आदर्शेऽपि—"दृष्ट्वा परब्रह्मरसान्निवृत्तिरित्याह गीतासु हरिः कृपालुः ।
अतो यथेष्टाचरणं न तस्य यद्यस्ति चेज्ज्ञानविपाकिता न" ।

इत्यभिप्रेत्याऽऽह—**अस्तु वेति** । तत्र हेतुः—**केनेत्यादिना** ।। १३२ ।।

नन्वेवं तर्हि ज्ञानिनः को विशेष इत्यत्राऽऽह—**ज्ञानिन इति** ।। १३३ ।।

तत्र दृष्टान्तं स्पष्टयति—**मार्ग इति** ।। १३४ ।।

साक्षात्कृतात्मधीः सम्यगविपर्ययबाधितः ।
किमिच्छन् कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरेत् ।। १३५ ।।
जगन्मिथ्यात्वधीभावादाक्षिप्तौ काम्यकामुकौ ।
तयोरभावे संतापः शाम्येन्निःस्नेहदीपवत् ।। १३६ ।।
गन्धर्वपत्तने किंचिन्नैन्द्रजालिकनिर्मितम् ।
जानन् कामयते किंतु जिहासति हसन्निदम् ।। १३७ ।।

इत्थमुपपादितं 'आत्मानं चेत्' (बृ० ४।४।१२) इति मन्त्रस्य पूर्वार्धार्थमनुवदन् फलप्रदर्शनपरमुत्तरार्धमवतारयति—**साक्षादिति** । सम्यक् साक्षात्कृतात्मधीः साक्षात्कृतः आत्मा यया सा साक्षात्कृतात्मा, तादृशी धीर्यस्य सः साक्षात्कृतात्मधीः, अविपर्ययबाधितः विपर्ययेण देहाद्यात्मत्व-बुद्ध्या बाधितो न भवतीत्यविपर्ययबाधितः । उभयं हेतुगर्भितं विशेषणम् ।। १३५ ।।

अस्य मन्त्रार्धस्य तात्पर्यमाह—**जगन्मिथ्येति** । [illegible] च कामुकश्च काम्यकामुकौ, तावाक्षिप्तौ निरस्तौ । तन्निराकरणे कारणमाह—**जगन्मिथ्यात्वेति** । ततः किमित्यत आह—**तयोरिति** । तयोः काम्कामुकयोरभावे संतापः कामनानिमित्तकः कारणाभावान्निःस्नेहदीपवच्छाम्येदित्यर्थः ।।१३६।।

काम्याभावात्कामनाभावः क्व दृष्ट इत्याशङ्क्याह—**गन्धर्वेति** । मायाविनिर्मिते पत्तने स्थितं वस्तु किञ्चिदपि 'इदमैन्द्रजालिकनिर्मितम्'

एवं व्याख्येयत्वेन प्रतिज्ञातश्रुतेर्निर्णीतं पूर्वार्धार्थमनूद्योत्तरार्धमवतारयति—**साक्षादिति** । सम्यगिति मध्यमणिन्यायेनोभयत्राप्यन्वेति । एवं चाबाधितत्वेनापरोक्षात्म-विषयकप्रमावानित्यर्थः । तद्व्याख्यार्थम्—**अविपर्ययेति** । कदाऽपि विपरीतभावनाजनित-पीडारहित इत्येतत् । एतादृशः पुमान् । किं प्रयोजनं सुखं दुःखध्वंसनं वा इच्छन्सन् । शरीरं स्थूलादिदेहत्रयमनुसृत्य । सञ्ज्वरेत्सम्यग्दुःखं प्राप्नुयादपि तु भोग्यभोक्त्रो-रुभयोरपि मिथ्यात्वान्नैव दुःखी स्यादिति सम्बन्धः ।। १३५ ।।

अथ व्याख्येयमवशिष्टमन्त्रोत्तरार्धं व्याकर्तुं तत्तात्पर्यं सूत्रयति—**जगदिति** । यावद्द्वैतविषयकबाधितबुद्धिसद्भावादित्यर्थः । आक्षिप्ता'वाक्षेपो भर्त्सनाकृष्टिकाव्या-लङ्कृतिषु स्मृत' इति मेदिन्यास्तिरस्कृतावित्यर्थः ।। १३६ ।।

ननु मिथ्याभूतत्वेऽपि रम्यतमं कामिन्यादिचित्रं प्रेम्णा प्रेक्ष्यत एवेत्यत्राऽऽह—**गन्धर्वेति** । ऐन्द्रजालिकेन गन्धर्वदेवताकमन्त्रक्षुब्धमायया निर्मिते नगर इत्यर्थः ।

आपातरमणीयेषु भोगेष्वेवं विचारवान् ।
नानुरज्यति किंत्वेतान्दोषदृष्ट्या जिहासति ।। १३८ ।।
अर्थानामर्जने क्लेशस्तथैव परिपालने ।
नाशे दुःखं व्यये दुःखं धिगर्थान्क्लेशकारिणः ।। १३९ ।।
मांसपाञ्चालिकायास्तु यन्त्रलोलेऽङ्गपञ्जरे ।
स्नाय्वस्थिग्रन्थिशालिन्याः स्त्रियाः किमिव शोभनम् ।।१४०।।

इति जानन् न कामयते । न केवलं कामनाभावः, प्रत्युत 'इदमनृतम्' इति हसन् जिहासति परित्यक्तुमिच्छति ।। १३७ ।।

दार्ष्टान्तिके योजयति—**आपातेति** । एवमापातरमणीयेषु प्रतीतिमात्ररम्येषु भोगेषु भुज्यन्त इति भोगा विषयाः स्रक्चन्दनवनितादयस्तेषु एवं विचारवान् आपातरमणीयत्वानुसंधानवान् नानुरज्यति नासक्तिं करोति, किन्तु दोषदर्शनेनैतान् परित्यक्तुमिच्छति ।। १३८ ।।

के ते विषयदोषा इत्यत आह—**अर्थानामिति** ।। १३९ ।।

एवं विषयाणां दुःखहेतुत्वं प्रदर्श्याशोभनत्वं क्वचिद्दर्शयति—**मांसेत्यादिश्लोकद्वयेन** । स्नायवः शिराश्च अस्थीनि प्रसिद्धानि, ग्रन्थयो मांसनिचयरूपनितम्बस्तनादयः, एतैश्च सहिते मांसपाञ्चालिकायाः पुत्तलिकाया योषितो यन्त्रलोले यन्त्रवच्चञ्चलशीले अङ्गपञ्जरे अङ्गान्येव पञ्जरं नीडं तस्मिञ्शरीरे किं शोभनमिव ? न किमपीत्यर्थः ।। १४० ।।

इदं घटादिकं वस्त्वैन्द्रजालिकनिर्मितमिति जानन्किञ्चिदपि न कामयते नैवोपभोक्तुमिच्छति किं तु हसन्सन्प्रत्युत जिहासति हातुं त्यक्तुमेवेच्छतीत्यन्वयः । एवं च निरुक्ते चित्रे दिदृक्षायामपि बुभुक्षा नैव भवतीति भावः ।। १३७ ।।

दार्ष्टान्तिके योजयति—**आपातेति** । पातं विनाशं विचारजं बाधं वा मर्यादीकृत्येत्यापातमापातरमणीयाः सुन्दरास्तेष्वित्यर्थः ।। १३८ ।।

ननु के ते विषयदोषा इत्याकाङ्क्षायां 'वेधा द्वेधा भ्रमं चक्रे कान्तासु कनकेषु च' इति प्राचीनवचनादखिलविषयाणां मध्ये कनककामिन्योरेव महाव्यामोहकत्वात्तद्दोषप्रतिपादकावेवोपलक्षणविधया बृहद्वासिष्ठश्लोकावुदाहरति । अर्थानामित्यादिक्रमाद्धनवनिताविनिन्दकौ । व्यये दुःखोदाहरणं नृगः प्रसिद्ध एव ।। १३९ ।।

मांसेति । पाञ्चालिका पुत्तिका स्याद्वस्त्रदन्तादिभिः कृतेत्यमरः । **यन्त्रेति** । यन्त्रवत्कलासूत्रयंत्रवल्लोले चेष्टमान इत्यर्थः । एतादृशे—**अङ्गेति** । पञ्जरो यथा कीरादे-

एवमादिषु शास्त्रेषु दोषाः सम्यक्प्रपञ्चिताः ।
विमृशन्ननिशं तानि कथं दुःखेषु मज्जति ।। १४१ ।।
क्षुधया पीड्यमानोऽपि न विषं ह्यत्तुमिच्छति ।
मिष्टान्नध्वस्ततृड् जानन्नामूढस्तज्जिघत्सति ।। १४२ ।।

एवमादिष्विति । 'आदि'शब्देन 'त्वङ्मांसरक्तवाष्पाम्बु पृथक् कृत्वा विलोचने । समालोकय रम्यं चेत्किं मुधा परिमुह्यसि ।।' (याज्ञ० उप० ६) इत्येवमादयो गृह्यन्ते ।। १४१ ।।

विषयदोषदर्शने सति भोगेच्छाऽभावे युक्तिसहितं दृष्टान्तमाह— **क्षुधयेति** । स्वयममूढः विवेकी मिष्टान्नभोजनेन ध्वस्ता विनष्टा तृट् तृष्णा आकाङ्क्षा यस्य स तथोक्तः 'इदं विषम्' इत्येवं जानन् तद्विषं न जिघत्सति, नात्तुमिच्छतीत्यर्थः ।। १४२ ।।

वंधकस्तथाऽयं तरुणीकायः पुंमनोबन्धक इति द्योतयितुं पञ्जरपदं रूपकादिघटकम् । एतादृशे सतीति यावत् । **मांसेति** । मांसादिसप्तधातुनिर्मितपुत्तलिकायाः । अत एव— **स्नाय्विति** । त्वक्चर्ममांसरुधिरमेदोमज्जास्नायवोऽस्थीनि मे शुद्ध्यन्तां ज्योतिरहमित्यादिश्रुतेः, 'अथ वस्नसा स्नायुः स्त्रियामि'त्यमराच्च स्नायवोऽस्थिनिकटस्थो धातुविशेष एवं तद्विशिष्टानि यान्यस्थीनि तेषां ये ग्रन्थयस्तच्छालिन्यास्तद्विशिष्टाया इत्यर्थः । एतादृश्या स्त्रियाः किमिव शोभनं मुखाद्यवयजातं रम्यमस्तीत्यन्वयः । एवं च मांसेत्यादिनाऽतिवीभत्सत्वान्न तत्र रम्यत्वलेशोऽपीत्याशयः ।। १४० ।।

उपलक्षणमिदमेवञ्जातीयकानां शास्त्राणामिति सर्वदा तानि परिशीलयन्नेव दुःखाब्धौ निमग्नः स्यादित्याह—**एवमादिष्विति** । आदिनैतन्मूलीभूतानि—'न वै स्त्रैणानि सख्यानि सन्ति सालावृकाणां हृदयान्येताः' इति शाकलश्रुतिस्तथा—'तज्जायाऽजाया भवति यदस्यां जायते पुनः' इति च तच्छ्रुतिरेव तथा यजुषि—'भगवन्नस्थिचर्मस्नायुमज्जामांसशुक्रशोणितश्लेष्माश्रुदूषिका विण्मूत्रपित्तकफसङ्घाते दुर्गन्धे निःसारेऽस्मिञ्शरीरे किं कामोपभोगैरि'त्यादिमैत्रायणीयश्रुतिरपीह । तद्वत्—''जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च'' इत्यादीनि स्मृत्यादीन्यपि वचनानि द्रष्टव्यानि ।। १४१ ।।

तत्र हेतुमर्थान्तरन्यासेन सूचयति—**क्षुधयेति** । **मृष्टेति** । मृष्टं कृतसंस्कारं यदन्नमोदनं तेन ध्वस्ता तृट्वाञ्छा बुभुक्षा यस्य स तथेत्यर्थः । तत्राप्यज्ञातत्वव्युदासार्थम्— **जानन्निति** । एवमपि ग्रहादिभ्रांतत्वनिरासाय—**अमूढ इति** । जिघत्सति भोक्तुं नैवेच्छतीत्यन्वयः ।। १४२ ।।

प्रारब्धकर्मप्राबल्याद्भोगेष्विच्छा भवेद्यदि ।
क्लिश्यन्नेव तदाप्येष भुङ्क्ते विष्टिगृहीतवत् ।। १४३ ।।
भुञ्जाना वा अपि बुधाः श्रद्धावन्तः कुटुम्बिनः ।
नाद्यापि कर्म नश्छिन्नमिति क्लिश्यन्ति सन्ततम् ।। १४४ ।।
नायं क्लेशोऽत्र संसारतापः किंतु विरक्तता ।
भ्रान्तिज्ञाननिदानो हि तापः सांसारिकः स्मृतः ।। १४५ ।।
विवेकेन परिक्लिश्यन्नल्पभोगेन तृप्यति ।
अन्यथाऽनन्तभोगेऽपि नैव तृप्यति कर्हिचित् ।। १४६ ।।

ननु प्रारब्धकर्मणः प्रबलत्वाज्ज्ञानिनोऽपीच्छा भवेदित्याशङ्क्य, सत्यामपीच्छायां प्रीतिपुरःसरं न भुङ्क्ते इत्याह—**प्रारब्धेति** ।। १४३ ।।

कथमेतदवगम्येत इत्याशङ्क्य, लोकदर्शनादित्याह—**भुञ्जाना इति** ।। १४४ ।।

ननु तत्त्वविदां संसारनिमित्तकस्तापोऽनुपपन्नः, ज्ञानवैयर्थ्यापातादित्याशङ्क्याह—**नायमिति** । अयं क्लेशः 'नाद्यापि कर्म नः छिन्नम्' इत्येवमनुतापात्मकः संसारतापो न भवति किंत्वत्र संसारे विरक्तता आसक्तिरहितता । तापकत्वाभावे युक्तिमाह—**भ्रान्तीति** । हि यस्मात्कारणात् सांसारिकस्तापो भ्रान्तिज्ञाननिदानः भ्रान्तिज्ञानकरणकः स्मृतः पूर्वाचार्यैः, अयं तु विवेकज्ञानमूलत्वान्न तथाविध इत्यर्थः ।। १४५ ।।

अयं क्लेशो विवेकमूलः अविवेकमूलो वेति कुतोऽवगम्यत इत्याशङ्क्य, कामनिवर्तकत्वाद्विवेकमूल इत्याह—**विवेकेनेति** ।। १४६ ।।

ननु सौभर्यादीनां कथं तर्हि भोगेच्छादीत्यत आह—**प्रारब्धेति** । विष्टिपदार्थो हि वेठ इति महाराष्ट्रप्रसिद्धस्तत्र गृहीतो धृतस्तद्वदित्यर्थः ॥ १४३ ॥

तदुदाहरति–**भुञ्जाना इति** । तानपि प्रारब्धप्राबल्यापादितानपि भोगानित्यर्थः । श्रद्धावन्तो दूर्वामूलावलम्बिनरककूपगपितृवचनास्तिक्यशालिजरत्कार्वादयः ॥ १४४ ॥

एवं चेत्संसारादविशेषस्तत्राऽऽह—**नेति** । तत्र हेतुः—**भ्रान्तीति** ॥ १४५ ॥

ननु निरुक्तक्लेशो विवेकमूलक एवेति कुतोऽध्यवसीयत इति चेत्कार्यलिङ्गकानुमानादेवेत्याह—**विवेकेनेति** । **अल्पेति** । जरत्कार्वादौ तथैव दृष्टत्वादित्याशयः । विमतः क्लेशो विवेकमूलकः । अल्पभोगतुष्टनिष्ठत्वात् । व्यतिरेकेऽविवेकिक्लेशवदिति व्यतिरेकदृष्टान्तं स्पष्टयति—**अन्यथेति** ॥ १४६ ॥

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति ।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते ।। १४७ ।।
परिज्ञायोपभुक्तो हि भोगो भवति तुष्टये ।
विज्ञाय सेवितश्चोरो मैत्रीमेति न चोरताम् ।। १४८ ।।
मनसो निगृहीतस्य लीलाभोगोऽल्पकोऽपि यः ।
तमेवालब्धविस्तारं क्लिष्टत्वाद्बहु मन्यते ।। १४९ ।।

विवेकिन इवाविवेकिनोऽपि भोगेनैव तृप्तिः स्यादतो विवेकोऽप्रयोजक इत्याशङ्क्य, भोगस्य तृप्तिहेतुत्वाभावप्रतिपादिकां श्रुतिं (नार० परि० ३।३७) पठति—**न जातु काम इति** ।। १४७ ।।

विवेकमूलस्य भोगस्य तृप्तिहेतुत्वमनुभवसिद्धमित्याह–**परिज्ञायेति** । 'अयं भोग एतावान्, एवं प्रयाससाध्य' इत्येवमनुभवपूर्वश्चेदलम्बुद्धिहेतुर्हि दृश्यत इत्यर्थः । ननु तृष्णाहेतोः भोगस्य विवेकसाहचर्यमात्रेण कथं तुष्टिकरत्वमित्याशङ्क्य, सहचारिविशेषवशाद्विपरीतकार्यकारित्वं लौकिके दृष्टमित्याह—**विज्ञायेति** । 'अयं चोरः' इति ज्ञात्वा तेन सह वर्तमानस्य पुरुषस्य न चोरो भवति, किन्तु मित्रतामेतीत्यर्थः ।। १४८ ।।

ननु कामनास्वरसत्वान्मनसः कथं स्वल्पभोगेन तृप्तिः स्यादित्याशङ्क्य, निदिध्यासनेन गृहीतस्य अतथात्वाद्भवत्येव तृप्तिरित्याह—**मनस इति** । निगृहीतस्य योगाभ्यासेन वशीकृतस्य मनसोऽल्पकोऽपि लीलाभोगः लीलानुभवो योऽस्ति अलब्धविस्तारमप्राप्तबाहुल्यं तमेव भोगं क्लिष्टत्वाद्दोषयुक्तत्वाद्बहु मन्यते, अधिकत्वेन जानातीत्यर्थः ।। १४९ ।।

तत्र पुराणं प्रमाणयति— **न जात्विति** । जातु कदाचिदपि । कामानां काम्यमानानां विषयाणामुपभोगेन कामो विषयाभिलाषो नैव शाम्यतीत्यन्वयः । तत्र दृष्टान्तं स्फुटयति—**हविषेति** । कृष्णवर्त्मेव 'बर्हिः शुष्मा कृष्णवर्त्मे'त्यमरादग्निरिवेत्यर्थः।।१४७।।

नन्वल्पभोगेन तुष्टिरेव लोके ह्यदृष्टत्वादसिद्धेवेत्याशङ्क्य विवेकपूर्वकस्याल्पभोगस्यापि सामग्रीमहिम्ना विपरीतकारित्वमपि विषविशेषवत्स्यादेवेति ममाधत्ते—**परिज्ञायेति** । सर्वामपि भोगसामग्रीं तत्साधनप्रयत्नादिविवेकपूर्वकं ज्ञात्वेत्यर्थः । तत्र निदर्शनमाह—**विज्ञायेति** ।। १४८ ।।

किं च विवेकिनोऽल्पभोगेन संतोषे हेत्वन्तरमप्याह—**मनस इति** । प्रागुक्ताद्वैत-

बद्धमुक्तो महीपालो ग्राममात्रेण तुष्यति ।
परैर्न बद्धो नाक्रान्तो न राष्ट्रं बहु मन्यते ॥ १५० ॥

विवेके जाग्रति सति दोषदर्शनलक्षणे ।
कथमारब्धकर्मापि भोगेच्छां जनयिष्यति ॥ १५१ ॥

नैष दोषो यतोऽनेकविधं प्रारब्धमीक्ष्यते ।
इच्छाऽनिच्छा परेच्छा च प्रारब्धं त्रिविधं स्मृतम् ॥१५२॥

निगृहीतस्यापि मनसः स्वल्पेनापि भोगेन तृप्तिर्भवतीत्यत्र दृष्टान्तमाह—**बद्धमुक्त इति** ॥ १५० ॥

ननु 'प्रारब्धकर्मप्राबल्याद्भोगेष्विच्छा भवेद्यदि' (प्र० ७।१४३) इत्यत्र 'कर्मवशादिच्छा भवेत्' इत्युक्तं तदनुपपन्नम्, इच्छाविघातिनि विवेकज्ञाने सति तदुत्पत्त्यसंभवादिति शङ्कते—**विवेके इति** ॥ १५१ ॥

दोषदर्शने सत्यपि इच्छाजन्म संभविष्यति; प्रारब्धस्य नानाप्रकारकत्वादिति परिहरति—**नैषेति** । नानाप्रकारत्वमेव दर्शयति—**इच्छेति** । इच्छाजनकं अनिच्छया भोगप्रदं परेच्छया भोगप्रदं चेति त्रिविधमित्यर्थः ॥ १५२ ॥

ब्रह्मात्माभेदविषयकापरोक्षप्रमोत्तरं तद्दार्ढ्यायाभ्यस्यमानासम्भावनादिनिरासफलकचतुर्लक्षणीश्रवणमननद्वैतमिथ्यात्वपूर्वकोक्तैक्यानुसन्धानेनेति शेषः । निगृहीतस्य रुद्धस्य । **लीलेति** । सौभर्यादिवद्यत्किञ्चिद्यत्नजन्येष्टोपभोग इत्यर्थः । अल्पकोऽपि यो भवति तमेवोक्तलक्षणं मन उक्तनिरोधेनेत्यार्थिकम् । क्लिष्टत्वादलब्धविस्तारमप्राप्तानन्तसंकल्पं बहुमन्यते इति योजना ॥ १४९ ॥

तत्र दृष्टान्तं स्पष्टयति—**बद्धेति** । पूर्वं बद्धः कारायां निरुद्धः पश्चान्मुक्तो मोचित इत्येतत् । आक्रान्तो व्याप्तः ॥ १५० ॥

तत्रापि शङ्कते—**विवेक इति** ॥ १५१ ॥

सिद्धान्ती समाधत्ते—**नैष इति** । तत्र हेतुः—**यत इति** । ता एवं विधाः संक्षिपति—**इच्छेति** । इच्छादिमूलकमित्यर्थः । अत्र विस्तरस्तु मदीयप्रारब्धध्वान्तदीधितावेवानुसंध्येयः । ग्रन्थगौरवभयान्नेह प्रतन्यते ॥ १५२ ॥

अपथ्यसेविनश्चोरा राजदाररता अपि ।
जानन्त एव स्वानर्थमिच्छन्त्यारब्धकर्मतः ।। १५३ ।।
न चात्रैतद्वारयितुमीश्वरेणापि शक्यते ।
यत ईश्वर एवाह गीतायामर्जुनं प्रति ।। १५४ ।।
सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि ।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ।। १५५ ।।

इच्छाप्रारब्धं दर्शयति—**अपथ्येति** ।। १५३ ।।

अपथ्यसेवादीच्छायाः प्रारब्धफलत्वं कुतोऽवगम्यत इत्याशङ्क्य, अपरिहार्यत्वादित्यभिप्रेत्याह—**न चेति** । अत्रास्मिन् लोके अपथ्यादीच्छन्ति इत्येतत् कुत इत्यत आह—**यत इति** ।। १५४ ।।

गीतावाक्यं (अ० ३।३३) पठति—**सदृशमिति** । विवेकज्ञानवानपि पुरुषः स्वस्याः स्वकीयायाः प्रकृतेः सदृशमनुरूपं चेष्टते । प्रकृतिर्नाम पूर्वकृतधर्माधर्मादिसंस्कारो वर्तमानजन्मादावभिव्यक्तः ज्ञानवानपि, किं पुनर्मूर्खः ? तस्मात्प्रकृतिं यान्ति भूतानि, निग्रहः प्रवृत्तिनिवृत्त्योर्निरोधो मयाऽन्येन वा कृतः किं करिष्यति ? न किमपीत्यर्थः ।। १५५ ।।

तत्राऽऽदाविच्छाप्रारब्धमेवोदाहरति—**अपथ्येति** । रोगिणः सन्त इत्यार्थिकम् । सर्वं बलवतां पथ्यमिति न्यायात् । **आरब्धेति** । भीमसेनभुक्तविषसम्पृक्तशार्करमोदक-श्रीकृष्णकृतनवनीतादिप्रमोषणचन्द्रकर्तृकगुरुदारगमननिदर्शनैस्तात्कालिकतत्तद्व्यापार - प्रवर्तकारब्धफलकर्मवेगत इति यावत् ।। १५३ ।।

ननु प्रचुरतरविचारेणोक्तनिदर्शनान्यथासिद्धेः प्रकृतापथ्यसेवादिव्यापारेच्छायाः संछेद एव कार्य इत्याशङ्क्यां प्रत्याह—**न चात्रेति** । अत्र लोके । एतदिच्छाप्राबल्य-मूलीभूतं प्रारब्धमित्यर्थः । अपिना तदन्यत्र तदभावः कैमुत्यसिद्ध एवेति द्योत्यते—तत्रहेतुः—**यत इति** ।। १५४ ।।

तद्वाक्यमेवोदाहरति—**सदृशमिति** । प्रकृतिरत्र तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते पूर्वप्रज्ञा चेति श्रुतिप्रसिद्धविवेकानिराकार्यपूर्वप्रज्ञापदवाच्यज्ञानादिसंस्कारविद्याकर्म-त्रय्येव देहाद्युपादानत्वादित्यर्थः । अपिनाऽत्रापि प्राग्वदेव कैमुत्यम् । भूतानि भवन-धर्मीणि जारायुजादिशरीरावच्छिन्नजीवचैतन्यान्येवेति यावत् । शिष्टं तु स्पष्टमेव । अत्र पूर्वप्रज्ञाख्यविद्यादिसंस्कारनिकरस्य विवेकेत्यादिविशेषणमाहुः संस्कारनिरासद्वारा यत्न-वादसिद्धेः सकलशास्त्रसाफल्यमित्याकूतम् । उपपादयिष्याम एवेदं षोडशे सावकाशमिति दिक् ।। १५५ ।।

अवश्यंभाविभावानां प्रतीकारो भवेद्यदि ।
तदा दुःखैर्न लिप्येरन्नल-राम-युधिष्ठिराः ।। १५६ ।।
न चेश्वरत्वमीशस्य हीयते तावता यतः ।
अवश्यंभाविताऽप्येषामीश्वरेणैव निर्मिता ।। १५७ ।।

तीव्रप्रारब्धस्यापरिहार्यत्वे वचनान्तरसंमतिमाह—**अवश्यमिति** । अवश्यंभाविनां भावानां दुःखादीनामित्यर्थः ।। १५६ ।।

प्रारब्धस्यापरिहार्यत्वे तत्परिहारासमर्थस्येश्वरस्य अनीश्वरत्वप्रसङ्ग इत्याशङ्क्याह—**न चेश्वरत्वमिति** । कुत इत्यत आह—**यत अवश्यमिति** । यतः कारणादेषा दुःखादीनामवश्यं भावितापि ईश्वरेणैव निर्मिता, अतो नानीश्वरत्वप्रसङ्ग इत्यर्थः ।। १५७ ।।

ननूक्तस्मृतेरभिप्रायान्तरमेव भवत्वित्याशङ्क्यां प्रतिबन्द्या पराकरोति—**अवश्यमिति** । प्राचां तु तीव्रप्रारब्धस्यापरिहार्यत्वे वचनान्तरसम्मतिमाह—**अवश्यमिति** । अवश्यम्भाविभावानां दुःखादीनामित्यर्थ इति व्याख्यातम् । प्रतीकारो निरासः । **नलेति** । क्रमात्कृतादिष्वित्यर्थः । अत्र नलयुधिष्ठिरयोर्द्यूतस्य धर्मशास्त्रनिन्दितत्वलक्षणदोषदर्शनसत्त्वेऽपि तत्र प्रवृत्तिरवश्यप्रारब्धादेव न च"ऽऽहूतो न निवर्तेत द्यूतादपि रणादपि" इति **स्मृतेरेव** साऽस्त्विति साम्प्रतम् । राजा राजसूयेन यजेतेति नित्यस्यापि तस्य द्वादशवार्षिकविपद्ग्रस्तत्वेन त्याज्यत्ववत्प्रकृतेऽपि त्याज्यत्वसम्भवात् । एवं रामस्यापि कनकमृगासम्भवज्ञाने सत्यपि तद्धनने प्रवृत्तिर्व्याख्येया । प्रपञ्च्यते चेदं बोधैक्यसिद्धाविति ।। १५६ ।।

ननु नलयुधिष्ठिरयोर्जीवकोटिनिविष्टयोः कर्मपारतन्त्र्येण प्रारब्धकर्मावश्यम्भाविदुःखप्रतीकाराशक्तत्वसम्भवादुदाहरणार्हत्वेऽपि श्रीरामस्य त्वीश्वरत्वा'ल्लोकवत्तु लीलाकैवल्यमि'तिपारमर्षसूत्रादिनिर्णीतमायिकमनुष्यनाट्यप्रकटनेन पूर्वोत्तरमीमांसानिश्चितवेदार्थानुभावनतः सकलजीवाननुजिघृक्षोरादौ कर्मपारतन्त्र्यस्यैवासम्भवात्कुड्यचित्रन्यायेन तज्जन्यदुःखप्रतीकाराशक्तत्वेऽनुदाहरणत्वमेवेति चेत्सत्यम् । यद्यपि श्रीरामस्येश्वरत्वेन कर्मापातन्त्र्यमेव तथापि सत्यसङ्कल्पत्वान्मायिकस्वेच्छापारतन्त्र्यं तु निर्विवादमेवाङ्गीकार्यम् । तथा च सिद्धान्तबिन्दौ तावदीश्वरं प्रकृत्योक्तम् । वार्तिककारमते त्वीश्वर एव साक्षीति द्वैविध्यमेव जीवेश्वरभेदेन दृशः । तत्रेश्वरोऽपि त्रिविधः । स्वोपाधिभूताविद्यागुणत्रयभेदेन विष्णुब्रह्मरुद्रभेदात् । कारणीभूतसत्त्वगुणावच्छिन्नो विष्णुः पालयिता कारणीभूतरज उपहितो ब्रह्मा स्रष्टा । हिरण्यगर्भस्तु महाभूतकारणत्वाभावान्न ब्रह्मा । तथाऽपि स्थूलभूतस्रष्टृत्वात्क्वचिद्ब्रह्मेत्युपचर्यते । कारणीभूततम उपहितो रुद्रः संहर्त्ता । एवं चैकस्यैव चतुर्भुजचतुर्मुखपञ्चमुखाद्याः पुमाकारः श्रीभारतीभवान्या-

द्याश्च स्त्र्याकाराः। अन्ये च मत्स्यकूर्मादयोऽनन्तावतारा लीलयैवाविर्भवन्ति भक्तानुग्रहार्थमित्यपि च ध्येयमिति। एवं च मायासम्बन्धिसत्त्वप्रधानत्वावच्छिन्नस्तन्मात्रप्रकटितलीलाविग्रहः पालनमुख्यव्यापारो विष्णुः स्वेच्छयैव। 'तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतः। ऋचः सामानि जज्ञिरे। छन्दाँसि जज्ञिरे तस्मात्। यजुस्तस्मादजायत' इत्यादिश्रुतेः 'शास्त्रयोनित्वादि'ति सूत्रा'द्वेदाः शास्त्राणि विज्ञानमेतत्सर्वं जनार्दनादि'त्यादिस्मृतेश्च स्वाविर्भावितस्ववाग्रूपवेदोपलक्षितसकलशब्दब्रह्मगतसन्ध्योपासनादिविधिसुरापानादिनिषेधानुष्ठानजनितस्वतोषरोषरूपपुण्यापुण्ययोः सुखदुःखदानावश्यम्भावित्वशक्तिमनादिसंसारपरम्परारीत्यैव सङ्कल्पितवानित्यपि सर्वास्तिकसम्मतमेव। ततः पुण्यैकानुष्ठानप्राधान्यशालिनां स्वभक्तानां तेन शापानुग्रहसामर्थ्यशक्तिमपि निर्विकल्पसमाध्यन्ते पुण्यकर्मणि स्वेच्छयैव चित्तशुद्धिस्वर्गादिदानदक्षत्वसामर्थ्यवदकल्पयदित्यप्यवश्यमेवोररीकरणीयम्। तेन च सनत्कुमारदत्तशापवशात्स्वस्य सार्वज्ञ्यविलयपूर्वकमज्ञानोपगमः किञ्चित्कालं तथा भृगौ समाधिस्थे सति सुरभयाच्छरणागतान्स्वशिष्यानसुरानाश्रमस्था तत्पत्न्येव स्वपातिव्रत्यादितपोमहिम्ना तत्पृष्ठागतसुरसैनिकशस्त्रादिभ्यः सततमरक्षदतः सुरपक्षपातिना विष्णुना स्वकीयसुदर्शनाख्यामोघास्त्रेण तच्छिरश्छेदः एवाकारि ततः समाधेर्व्युत्थितो भृगुस्तमशपत्तवापि पत्नीवियोगो भविष्यतीति पद्मपुराणप्रसिद्धतमशापवशात्पयोष्णीतीरे नृसिंहावतारं दृष्ट्वा देवदत्तशर्मणो ब्राह्मणस्य पत्नी भीरुत्वादेव तत्कालं मृतेति तेनापि तथैव दत्तशापात्प्रसिद्धवृन्दाशापाच्च त्रिवारं श्रीरामावतारे जानकीवियोगश्च समभूदिति सर्वमिदं बृहद्योगवासिष्ठीयप्रथमसर्गं एवोपाख्यायते। तत्र हि स्वर्गादिविषयसुखेषु दोषदर्शनेन परमविरक्तमाग्निवेश्यनामानं कञ्चिद्राजानं देवदूतसन्दिष्टेन्द्राज्ञावशाद्वसिष्ठरामसम्वादकथनच्छलेनाद्वैतब्रह्मविद्यां प्रबोधयन्तं वाल्मीकिं प्रत्यसौ—

राजोवाच—'को रामः कीदृशः कस्य बद्धो वा मुक्त एव वा। एतन्मे निश्चितं ब्रूहि ज्ञानं तत्त्वविदां वर'।

टीका—ज्ञायतेऽनेनेति ज्ञानं निश्चयकारणमित्यर्थं इति।

वाल्मीकिरुवाच—'शापव्याजवशादेव राजवेशधरो हरिः। आहृताज्ञानसम्पन्नः किंचिज्ज्ञोऽसौ भवत्प्रभुः'।

टीका—भवत् अभवत्। अडभावश्छान्दसः।

राजोवाच—'चिदानन्दस्वरूपे हि रामे चैतन्यविग्रहे। शापस्य कारणं ब्रूहि कः शप्ता चेति मे वद'। **वाल्मीकिरुवाच**—'सनत्कुमारो निष्कामोऽप्यवसद्ब्रह्मसद्मनि। वैकुण्ठादागतो विष्णुस्त्रैलोक्याधिपतिः प्रभुः। ब्रह्मणा पूजितस्तत्र सत्यलोकनिवासिभिः। विना कुमारं तं दृष्ट्वा ह्युवाच प्रभुरीश्वरः। सनत्कुमारस्तब्धोऽसि निष्कामो गर्वचेष्टया। अतस्त्वं भव कामार्तः शरजन्मेति नामतः। तेनापि शापितो विष्णुः सर्वज्ञत्वं तवास्ति यत्। किञ्चित्कालं हितत्त्यक्त्वा त्वमज्ञानी भविष्यसि। भृगुर्भार्यां हतां दृष्ट्वा ह्युवाच क्रोधमूर्छितः। विष्णो तवापि भार्यया वियोगो हि भविष्यति। वृन्दया शापितो

प्रश्नोत्तराभ्यामेवैतद्गम्यतेऽर्जुनकृष्णयोः ।
अनिच्छापूर्वकं चास्ति प्रारब्धमिति तच्छृणु ।। १५८ ।।

एवं सप्रपञ्चमिच्छाप्रारब्धमभिधाय, अनिच्छाप्रारब्धं वक्तुमारभते— **प्रश्नोत्तराभ्यामिति** । अनिच्छापूर्वकं च प्रारब्धमस्तीत्येतदर्जुनकृष्णयोः प्रश्नोत्तराभ्यामेव गम्यते ज्ञायत इति योजना । तदभिधानाय शिष्यमभिमुखीकरोति—**तच्छृण्विति** ।। १५८ ।।

विष्णुश्छलनं यत्त्वया कृतम् । अतस्त्वं स्त्रीवियोगं तु वचनान्मम यास्यसि । भार्या हि देवदत्तस्य पयोष्णीतीरसंस्थिता । नृसिंहवेषधृग्विष्णुं दृष्ट्वा पञ्चत्वमागता । तेन शप्तो हि नृहरिर्दुःखार्तः स्त्रीवियोगतः' । **टीका**—दुःखैर्दुःखसाध्यैः सुकृतैः (ऋतः) साक्षात्कृतोऽपि नृहरिस्तेन शप्तः ।

भृगुणैवं कुमारेण शापितो देवशर्मणा । वृन्दया शापितो विष्णुस्तेन मानुष्यतां गत इति ।। तदेवं श्रीरामस्येश्वरत्वेन कर्मपारतन्त्र्याभावेऽपि निरुक्तरीत्या स्ववाक्त्वेन स्वाज्ञारूपवेदविहितानुष्ठानात्सुखहेतुः स्वतोषलक्षणसुकृतोत्पत्तिस्तन्निषिद्धानुष्ठानाद्दुःखहेतुः स्वरोषलक्षणदुष्कृतोत्पत्तिरित्यनादिसंसारे स्वेच्छयैव नियतं तदेवात्र नियत्यवश्यम्भावितादिपदैर्व्यवह्रियते । तस्मात्परमसुकृतिचक्रवर्तिसनत्कुमारे भृग्वादिषु च शापादिसामर्थ्यमपि स्वेच्छानैयत्यादेव सम्पन्नमिति तत्परिपालनं स्वस्यावश्यकमेवेति भावशब्दितदुःखतत्प्रयोजकादिपदार्थानामवश्यम्भावितायाः सर्वथाऽप्यप्रतीकार्यत्वमात्रासाम्येन महानुभावनलयुधिष्ठिरयोर्मध्ये श्रीरामस्यापि सङ्ग्रहः सुघट एव । एतावांस्तु परं विशेषो यत्तयोर्जीवकोटिनिविष्टयोर्दुःखाद्यवश्यम्भाविता कर्मजन्या भगवतःश्रीरामस्य त्वीश्वरकोटिनिविष्टत्वेन सत्यसङ्कल्पत्वादुक्तरीत्या स्वेच्छाजन्यैवेति । अत एवेदं श्रीरामोदाहरणमाचार्यैरिच्छाप्रारब्धविचार एव निवेशितं न त्वनिच्छादिविचारेऽपि । न चैवमपीश्वरेच्छायां कर्मवत्प्रारब्धपदव्यवहार्यत्वं नास्त्येव तथा च तद्विचारप्रकरणे तत्संग्रहस्य पुनरनौचित्यतादवस्थ्यमेवेति वाच्यम् । रूढ्या योगरूढ्या वा तत्र तद्व्यवहारस्यासंभवेऽपि योगैः प्रकर्षेणावश्यंभावित्वलक्षणेनाऽऽरब्धं मायिकवृत्तिरूपं दुष्कृतादिजन्यदुःखादिनैयत्यमितीच्छासम्पादनं कृतमिति प्रचुरमारब्धं प्रारब्धं चेत्यादिरूपैरीश्वरेच्छायामपि प्रारब्धपदप्रवृत्तिव्यवहारसम्भवात् । तस्माल्लोकदृष्ट्या दुःखसहस्रसत्त्वेऽप्यनादिपरम्परया स्वनियतमर्यादापरिपालनविषया परमेश्वरस्य तत्प्रतीकाराकरणमात्रेण नैव पारमैश्वर्यक्षतिः प्रत्युत राजादिवत्स्वविहितमर्यादापरिपालनार्थं शक्तत्वसत्त्वेऽपि दुःखसहस्रसहनमपि भगवता कृतमिति महती कीर्तिरेवेत्याशयं विशदयति—**न चेश्वरत्वमिति** । तत्र हेतुः—**यत इत्यादिना** । एषां दुष्कृतादिभ्यस्तत्तद्देशकालवस्त्ववच्छेदेन दुःखादिजन्मनामित्यर्थः ।। १५७ ।।

ननूक्तरीत्या कर्मणां फलावश्यंभाविता तावदीश्वरेच्छैकायत्तेति त्वयोन्नीयते न तु तेन कण्ठतः क्वचित्तथोक्तमिति प्रायेणोपलभ्यत इत्याशङ्क्य काकाक्षिगोलकन्यायेन

पूर्वोत्तरग्रन्थयोरपि क्रमेणान्वययोग्यमेकमर्धं पठन्त्समाधत्ते—**प्रश्नेति**। एतत्कर्मणां फलावश्यं भावनियमस्येश्वरेच्छैकायत्तत्वमिति यावत्। अर्जुनकृष्णयोः। अत्राभ्यर्हितत्वेनाल्पाजुत्तरत्वेन च कृष्णपदस्यैव पूर्वनिपाताभ्यर्हितत्वेऽप्यर्जुनं निमित्तीकृत्येति **गीता**-भाष्यप्रयोगाद्भगवद्गीताशास्त्राविर्भावकारणतायास्तदेकपर्याप्तत्वेन ततोऽप्यभ्यर्हितत्वात्तद्वाचकपदस्यैव पूर्वनिपात इति प्रतिभाति। प्रश्नोत्तराभ्यामेव। **भगवद्गीतायास्तृतीयाध्यायारम्भे—**

अर्जुन उवाच—ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन। तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव॥ व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे। तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम्॥ **श्रीभगवानुवाच**—लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयाऽनघ। ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनामिति॥

इत्युपन्यस्ताभ्यामेवेत्यर्थः। अत्र **मधुसूदनाचार्याणां टीका** दिङ्मात्रमेवोदाह्रियते– ननु तर्हि तेजस्तिमिरयोरिव विरोधिनोर्ज्ञानकर्मणोः समुच्चयासम्भवाद्भिन्नाधिकारिकत्वमेवास्तु। सत्यमेवं सम्भवति। एकमर्जुनं प्रति तूभयोपदेशो न युक्तः। न हि कर्माधिकारिणं प्रतिज्ञाननिष्ठोपदेष्टुमुचिता। न वा ज्ञानाधिकारिणं प्रति कर्मनिष्ठा। एकमेव प्रतिविकल्पेनोपदेश इति चेन्न। उत्कृष्टयोर्विकल्पानुपपत्तेः। अविद्यानिवृत्त्युपलक्षितात्मस्वरूपे मोक्षे तारतम्यासम्भवाच्च। तस्माज्ज्ञानकर्मनिष्ठयोर्भिन्नाधिकारिकत्व एकं प्रत्युपदेशायोगादेकाधिकारिकत्वे च विरुद्धयोः समुच्चयासम्भवात् कर्मापेक्षया ज्ञानप्राशस्त्यानुपपत्तेश्च विकल्पाभ्युपगमे चोत्कृष्टमनायाससाध्यं ज्ञानं विहाय निकृष्टमनेकायासबहुलं कर्मानुष्ठातुमयोग्यमिति मत्वा पर्याकुलीभूतबुद्धिः। **अर्जु० ज्या०। तत्किम्**। हे जनार्दन सर्वजनैरर्द्यते वाच्यते स्वभिलषित सिद्धय इति त्वं तथाभूतो मयाऽपि श्रेयोनिश्चयार्थं याचस इति नैवानुचितमिति सम्बोधनाभिप्रायः। कर्मणो निष्कामादपि बुद्धिरात्मतत्त्वविषया ज्यायसी प्रशस्ततरा चेद्यदि ते तव मता। तत्तदा किं कर्मणि घोरे हिंसाद्यनेकायासबहुले मामतिभक्तं नियोजयसि कर्मण्येवाधिकारस्त इत्यादिना विशेषेण प्रेरयसि। हे केशव सर्वेश्वर सर्वेश्वरस्य सर्वेष्टदायिनस्तव मां भक्तं शिष्यस्तेऽहं शाधि मामित्यादिना त्वदेकशरणतयोपपन्नं मां प्रति प्रतारणा नोचितेत्यभिप्रायः। ननु नाहं कंचिदपि प्रतारयामि किं पुनस्त्वामतिप्रियम्। त्वं तु किं मे प्रतारणाचिह्नं पश्यसीति चेत्तत्राऽऽह—**व्यामिश्रेणेव०**। तव वचनं व्यामिश्रं न भवत्येव। मम त्वेकाधिकारिकत्वभिन्नाधिकारिकत्वसन्देहाद्व्यामिश्रं संकीर्णार्थमिव ते यद्वाक्यं मां प्रतिज्ञानकर्मनिष्ठाद्वयप्रतिपादकम्। तेन वाक्येन त्वं मे मम मन्दबुद्धेर्वाक्यतात्पर्यापरिज्ञानात्। बुद्धिमन्तःकरणम्। मोहयसीव भ्रान्त्या योजयसीव परमकारुणिकत्वात्त्वं न मोहयस्येव मम तु स्वाशयदोषान्मोहो भवतीतीवशब्दार्थः। एकाधिकारिकत्वे विरुद्धयोः समुच्चयानुपपत्तेरेकार्थत्वाभावेन च विकल्पानुपपत्तेः प्रागुक्ते यद्यधिकारिभेदं मन्यसे तदैकं मां प्रति विरुद्धयोर्निष्ठयोरुपदेशायोगात्तज्ज्ञानं वा कर्म वैकमेव अधिकारं मे निश्चित्य वद। येनाधिकारनिश्चयपुरःसरमुक्तेन त्वया मया चानुष्ठितेन ज्ञानेन कर्मणा

वेकेन श्रेयो मोक्षमहमाप्नुयां प्राप्तुं योग्यः स्याम् । एवं ज्ञानकर्मनिष्ठयोरेकाधिकारिकत्वे विकल्पसमुच्चययोरसंभवादधिकारिभेदज्ञानायार्जुनस्य प्रश्न इति स्थितम् ।

इहेतरेषां कुमतं समस्तं श्रुतिस्मृतिन्यायबलान्निरस्तम् ।
पुनः पुनर्भाष्यकृताऽतियत्नादतो न तत्कर्तुमहं प्रवृत्तः ॥
भाष्यकारमतसारदर्शिना ग्रन्थमात्रमिह योज्यते मया ।
आशयो भागवतः प्रकाश्यते केवलं स्ववचसो विशुद्धये ॥

एवमधिकारिभेदेऽर्जुनेन पृष्टे तदनुरूपं प्रतिवचनम्—**श्रीभगवानुवाच—लोके०** ॥ अस्मिन्नधिकारित्वाभिमते लोके शुद्धाशुद्धान्तःकरणभेदेन द्विविधे जने । द्विविधा द्विःप्रकारा निष्ठा स्थितिर्ज्ञानपरता कर्मपरता च । पुरा पूर्वाध्याये । मया तवात्यन्तहितकारिणा । प्रोक्ता प्रकर्षेण स्पष्टत्वलक्षणेनोक्ता तथा चाधिकार्यैक्यशङ्कया मा ग्लासीरिति भावः । हे अनघापापेति सम्बोधयन्नुपदेशयोग्यतामर्जुनस्य सूचयति । एकैव निष्ठा साध्यसाधनावस्थाभेदेन द्विःप्रकारा न तु द्वे एव स्वतन्त्रे निष्ठे इति कथयितुं निष्ठेत्येकवचनम् । तथा च वक्ष्यति -- 'एकं साङ्ख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति' इति । तामेव निष्ठां द्वैविध्येन दर्शयति । सङ्ख्या सम्यगात्मबुद्धिस्तां प्राप्तवतां ब्रह्मचर्यादेव कृतसंन्यासानम् वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थानां ज्ञानभूमिमारूढानां शुद्धान्तःकरणानां साङ्ख्यानाम् । ज्ञानयोगेन ज्ञानमेव युज्यते ब्रह्मणाऽनेनेति व्युत्पत्त्या योगस्तेन निष्ठोक्ता । तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्पर इत्यादिना । अशुद्धान्तःकरणानां तु ज्ञानभूमिमनारूढानाम् । योगिनां कर्माधिकारयोगिनाम् । कर्मयोगेन कर्मैव युज्यतेऽन्तःकरणशुद्धयाऽनेनेति व्युत्पत्त्या योगस्तेन निष्ठोक्तांतःकरणशुद्धिद्वारा ज्ञानभूमिकाऽऽरोहणार्थं धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यत इत्यादिना । अत एव न ज्ञानकर्मणोः समुच्चयो विकल्पो वा । किंतु निष्कामकर्मणा शुद्धान्तःकरणानां सर्वकर्मसंन्यासेनैव ज्ञानमिति । चित्तशुद्ध्यशुद्धिरूपावस्थाभेदेनैकमेव त्वां प्रति द्विविधा निष्ठोक्ता । 'एषा तेऽभिहिता साङ्ख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृण्विति' अतो भूमिकाभेदेनैकमेव प्रत्युभयोपयोगान्नाधिकारभेदेऽप्युपदेशवैयर्थ्यमित्यभिप्राय इत्यादि । तदेवं पूर्वाचार्यैरवधृतभगवद्गीतागतार्जुनकृतप्रश्नभगवत्कृतोत्तरानुसारेणैव कर्मसम्बन्धिफलावश्यंभावनियमनस्येश्वरेच्छामात्रायत्तत्वं स्पष्टमेव गम्यते ज्ञायत इत्यन्वयः । नन्वत्रार्जुनं प्रति पूर्वाध्यायसूत्रितवेदार्थतापन्नयोर्ज्ञानकर्मनिष्ठयोः समुच्चयादिविषयकसंशयोपशम एव तयोः साध्यसाधनभावेनैकाधिरिकत्वमात्रकथनाद्भगवताकृत इति प्रतीयते नतावता कर्मफलावश्यंभावनैयत्यस्येश्वरेछामात्रायत्तत्वमनादित्वेनसिद्धयतीति चेद्भ्रान्तोऽसि । प्रागुदाहृताखिलाचार्यतात्पर्यनिर्णायकसिद्धान्तबिन्दुना श्रीकृष्णस्येश्वरत्वं तु निर्विवादमेव । तथा च तेनानादिसंसारपरम्परायां सत्यसङ्कल्पत्वेन स्वेच्छयैवोक्तनिष्ठयोरुभयोरपि सङ्कल्पितफलावश्यंभावनैयत्यस्य प्रकृते कण्ठत एव प्रकटितत्वान्नैवात्र विवादगन्धोऽपीति दिक् । एवं पूर्वग्रन्थान्वययोग्यं प्रश्नोत्तराभ्यामेवैतद्गम्यतेऽर्जुनकृष्णयोरित्यर्धं व्याख्यातमिदानीं तदपेक्षितोत्तरार्धेन सह तत्सम्बन्धकथनपूर्वकं प्राच्यरीत्यैव व्याक्रियते । अस्त्वेवमिच्छा-

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः ।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय ! बलादिव नियोजितः ।। १५९ ।।

तत्रार्जुनस्य प्रश्नं (गी० ३।३६) तावद्दर्शयति—**'अथ केनेति'** । हे वार्ष्णेय वृष्णिसंबन्धिन् ! अयं पुरुषः केन प्रयुक्तः प्रेरितः अनिच्छन्निच्छामकुर्वन्नपि राज्ञा बलान्नियोजित इव पापं चरति आचरतीति ।। १५९ ।।

परेच्छा च प्रारब्धं त्रिविधं स्मृतमिति प्राक्प्रतिज्ञातत्रिविधप्रारब्धमध्ये तावदिच्छाप्रारब्धमथाप्यनिच्छाप्रारब्धे किं प्रमाणमित्यत्राऽऽह—**प्रश्नेत्यादिना** । चोऽप्यर्थः । अनिच्छापूर्वकमपि प्रारब्धमस्तीत्येतदर्जुनकृष्णयोरथ केनेत्यादिना वक्ष्यमाणाभ्यां प्रश्नोत्तराभ्यामेव गम्यत इति सम्बन्धः । कथं तदुक्तप्रश्नादिकमिति पृच्छन्तमन्तेवासिनमालक्ष्य तमभिमुखीकरोति—**तदित्यादिशेषेण** ॥ १५८ ॥

तत्र प्रश्नवाक्यं प्रथमं पठति—**अथेति** । अत्रापि **मधुसूदनाचार्याणामेव** व्याख्यानं लिख्यते यथोपयुक्तम्—एवं तावद्भगवन्मताङ्गीकारिणां श्रेयःप्राप्तिस्तदनङ्गीकारिणां च श्रेयोमार्गभ्रष्टत्वमुक्तम् । श्रेयोमार्गभ्रंशेन फलाभिसन्धिपूर्वककाम्यकर्माचरणे च केवलपापमात्राचरणे च बहूनि कारणानि कथितानि । ये त्वेतदभ्यसूयन्त इत्यादिना । तत्रायं संग्रह श्लोकः—

'श्रद्धा ह्यानिस्तथाऽसूया दुष्टचित्तत्वमूढते । प्रकृतेर्वशवर्तित्वं रागद्वेषौ च पुष्कलौ । परधर्मरुचित्वं चेत्युक्ता दुर्मार्गवाहकाः ॥

तत्र काम्यप्रतिषिद्धकर्मप्रवृत्तिकारणमपनुद्य भगवन्मतमनुवर्तितुं तत्कारणावधारणाय—**अर्जुन उवाच । अथ केन०** । ध्यायतो विषयान्पुंस इत्यादिना पूर्वमनर्थमूलमुक्तम् । साम्प्रतं च प्रकृतेर्गुणसम्मूढा इत्यादिना बहुविस्तरं कथितम् । तत्र किं सर्वाण्यपि समप्राधान्येन कारणान्यथवैकमेव मुख्यं कारणमितराणि तु तत्सहकारीणि केवलम् । तत्राऽऽद्ये सर्वेषां पृथक्पृथङ्निवारणे महान्प्रयासः स्यात् । अन्त्ये त्वेकस्मिन्नेव निराकृते कृतकृत्यता स्यादित्यतो ब्रूहि मे केन हेतुना प्रयुक्तः प्रेरितोऽयं त्वन्मताननुवर्ती सर्वविज्ञानविमूढपुरुषः पापमनर्थानुबन्धि सर्वं फलाभिसन्धिपुरःसरं काम्यं चित्रादिशत्रुवधसाधनं च श्येनादिप्रतिषिद्धं च कलञ्जभक्षणादि बहुविधं कर्माऽऽचरति स्वयं कर्तुमनिच्छन्नपि, न तु निवृत्तिलक्षणं परमपुरुषार्थानुबन्धित्वात्समुपदिष्टं कर्मेच्छन्नपि करोति । न च पारतन्त्र्यं विनेत्थं सम्भवति । अतो येन बलादिव नियोजितो राज्ञेव भृत्यस्त्वन्मतविरुद्धं सर्वानर्थानुबन्धित्वं जानन्नपि तादृशं कर्माचरति तमनर्थमार्गप्रवर्तकं मां प्रति ब्रूहि ज्ञात्वा समुच्छेदाय यतेयेत्यर्थः । हे वार्ष्णेय वृष्णिवंशे मन्मातामहकुले कृपयाऽवतीर्णेति सम्बोधनेन वार्ष्णेयीसुतोऽहं त्वया नोपेक्षणीय इति च सूचयति ॥१५९॥

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः ।
महाशनो महापाप्मा विद्धयेनमिह वैरिणम् ।। १६० ।।

श्रीकृष्णस्योत्तरमाह (गी० ३।३७)—**'काम इति'** । एष पुरुषप्रवर्तको रजोगुणात्समुद्भव उत्पत्तिर्यस्य सः रजोगुणसमुद्भवः कामः, एष प्रसिद्धोऽयं कामः कदाचित्क्रोधरूपेणापि परिणमते ततः क्रोधः । स पुनः कीदृशः ? महाशनः महदशनं विषयजातं यस्य स महाशनः । महापाप्मा महतः पापस्य हेतुत्वादुपचारान्महापाप्मत्वमस्य । अत इह संसारे एनं कामक्रोधरूपिणं वैरिणं विद्धि । अयमभिप्रायः—प्रारब्धवशादुद्रिक्तरजोगुणकार्ययोः कामक्रोधयोरन्यतरस्यैव पुरुषप्रवर्तकत्वं, न प्रवृत्तिरिच्छाया इति ।। १६० ।।

एवमर्जुनेन पृष्टे—"अथो खल्वाहुः काममय एवायं पुरुषः" इति । "आत्मैवेदमग्र आसीदेक एव सोऽकामयत जाया मे स्यादथ प्रजायेयाथ वित्तं मे स्यादथ कर्म कुर्वीयेत्यादि श्रुतिसिद्धमुत्तरम्—**श्रीभगवा०** । **काम एष०** । यस्त्वया पृष्टो हेतुर्बलादनर्थमार्गे प्रवर्तकः स एष काम एव महाञ्शत्रुः । यन्निमित्ता सर्वानर्थप्राप्तिः प्राणिनाम् । ननु क्रोधोऽप्यभिचारादौ प्रवर्तको दृष्ट इत्यत आह । क्रोध एषः । काम एव केनचिद्धेतुना प्रतिहतः क्रोधत्वेन परिणमतेऽतः क्रोधोऽप्येष एव । एतस्मिन्नेव महावैरिणि निवारिते सर्वपुरुषार्थप्राप्तिरित्यर्थः । तन्निवारणोपायज्ञानाय तत्कारणमाह । रजोगुणसमुद्भवः । दुःखप्रवृत्तिबलात्मको रजोगुण, एव समुद्भवः कारणं यस्यातःकारणानुविधायित्वात्कार्यस्य सोऽपि तथा । यद्यपि तमोगुणोऽपि तस्य कारणं तथाऽपि दुःखे प्रवृत्तौ च रजस एव प्राधान्यात्तस्यैव निर्देशः । एतेन सात्त्विक्या वृत्त्या रजसि क्षीणे सोऽपि क्षीयत इत्युक्तम् । अथवा तस्य कथमनर्थमार्गे प्रवर्तकत्वमित्यत आह । रजोगुणस्य प्रवृत्त्यादिलक्षणस्य समुद्भवो यस्मात् । कामो हि विषयाभिलाषात्मकः स्वयमुद्भूतो रजः प्रवर्तयन्पुरुषं दुःखात्मके कर्मणि प्रवर्तयति तेनायमवश्यं हन्तव्य इत्यभिप्रायः । ननु सामदामभेददंडाश्चत्वार उपायास्तत्र प्रथमत्रिकस्यासम्भवे चतुर्थो दण्डः प्रयोक्तव्यो न तु हठादेवेत्याशङ्क्य त्रयाणामसम्भवं वक्तुं विशिनष्टि । महाशनो महापाप्मेति । महदशनमस्येति महाशनः "यत्पृथिव्यां व्रीहियवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः । नालमेकस्य तत्सर्वमिति मत्वा शमं व्रजेत्" इति स्मृतेः । अतो न दानेन सन्धातुं शक्यः । नापि सामभेदाभ्यां यतो महापाप्माऽत्युग्रः । तेन हि बलात्प्रेरितोऽनिष्टफलमपि जानन्पापं करोति । अतो विद्धि जानीहि । एनं काममिह संसारे वैरिणं । तदेतत्सर्वं विवृतं वार्तिककारैरा'त्मैवेदमग्र आसीदि'ति श्रुतिव्याख्याने—

"प्रवृत्तौ च निवृत्तौ च यथोक्तस्याधिकारिणः । स्वातन्त्र्ये सति संसारसृतौ कस्मात्प्रवर्तते ।। न तु निःशेषविध्वस्तसंसारानर्थवर्त्मनि । निवृत्तिलक्षणे ... ऽयं केनायं

स्वभावजेन कौन्तेय ! निबद्धः स्वेन कर्मणा ।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात् करिष्यस्यवशोऽपि तत् ॥१६१॥
नानिच्छन्तो न चेच्छन्तः परदाक्षिण्यसंयुताः ।
सुखदुःखे भजन्त्येतत्परेच्छापूर्वकर्म हि ॥ १६२ ॥

नन्वत्र कामक्रोधयोरेव पुरुषप्रवर्तकत्वमुपलभ्यते, नानिच्छाप्रारब्धस्येत्याशङ्क्य, तस्यैव प्रवर्तकत्वप्रतिपादकं तद्वाक्यं (गी० १८।६०) पठति—'**स्वभावजेनेति**' । हे कौन्तेय ! स्वेनैवानुष्ठितेन अत एव स्वकीयेन प्रारब्धेन कर्मणा निबद्धः सन् यत्कर्तुं नेच्छसि तदपि मोहादविवेकतः अवशः परवशः करिष्यसीति । अतोऽनिच्छाप्रारब्धमस्तीत्यभ्युपगन्तव्यमिति भावः ॥१६१॥

इदानीं परेच्छाप्रारब्धमस्तीत्याह—**नानिच्छन्त इति** । अनिच्छन्तोऽपि न भजन्ति, किन्तु परदाक्षिण्यसंयुताः सन्तः तत्प्रीत्यर्थमेव सुखदुःखे

प्रेर्यतेऽवशः ॥ अनर्थपरिपाकत्वमपि जानन्प्रवर्तते । पारतन्त्र्यमृते दृष्टा प्रवृत्तिर्नेदृशी क्वचित् ॥ तस्माच्छ्रेयोर्थिनः पुंसः प्रेरकोऽनिष्टकर्मणि । वक्तव्यस्तन्निरासार्थमित्यर्था स्यात्परा श्रुतिः ॥ अनाप्तपुरुषार्थोऽयं निःशेषानर्थसंकुलः । इत्थं कामयतेऽनाप्तान्पुमर्थान्साधनैर्जडः ॥ जिहासति तथाऽनर्थानविद्वानात्मनिश्रितान् । अविद्योद्भूतकामः सन्नथो खल्विति च श्रुतिः ॥ अकामतः क्रियाः काश्चिद्दृश्यन्ते नेह कस्यचित् । यद्यद्धि कुरुते जन्तुस्तत्तत्कामस्य चेष्टितम् ॥ काम एष क्रोध एष इत्यादिवचनं स्मृतेः । प्रवर्तको नापरोऽतः कामादन्यत्प्रतीयते" इति ।

अकामत इति मनुवचनम् । अन्यत्स्पष्टम् ॥ १६० ॥

नन्वत्र कामो हि विषयाभिलाषात्मक इति मधुसूदनाचार्यवचनादिष्टशब्दादिविषयलालस्यात्मककामस्यैव तत्तद्विषयसम्पादनादौ प्रवर्तकता प्रतीयते तथा चोक्तानिच्छापूर्वकप्रारब्धविषयकप्रमाणकथनप्रतिज्ञायां किमायातमिति चेद्बाढम् । अत्रार्जुनप्रश्ने यद्यप्यनिच्छन्निति पदध्वनितानिच्छापूर्वकप्रवृत्तिकारणीभूतवस्तुन एव पृष्टत्वेन भगवदुक्तोत्तरे तस्यादृष्टस्य दृष्टरूपमन्तरा स्पष्टत्वासम्भवादुक्तकामरूपेण कथयितुर्भगवतस्तत्रैव तात्पर्यपर्यवसानेऽपि तव स्पष्टतरं तत्प्रतिपत्त्यर्थं तदीयमेवाष्टादशाध्यायस्थं वाक्यमस्तीति मनसि निधायाऽऽचार्यस्तत्पठति—**स्वभावजेनेति** । अत्रापि श्रीमधुसूदनीयमेव व्याख्यानं लिख्यते—प्रकृतिं विवृणोति । स्वभावजेन पूर्वोक्तक्षत्रियस्वभावजेन शौर्यादिना स्वेनानागन्तुकेन कर्मणा निबद्धा वशीकृतः । त्वं हे कौन्तेय यद्बन्धुवधादिनिमित्तं युद्धम् । मोहात्स्वतन्त्रोऽहं यथेच्छामि तथा सम्पादयिष्यामीति भ्रमात्कर्तुं नेच्छसि । तदवशोऽप्यनिच्छन्नपि स्वाभाविककर्मपरतन्त्रः परमेश्वरपरतन्त्रश्च करिष्यस्येवेति ॥ १६१ ॥

एवं प्रतिज्ञातत्रिविधप्रारब्धमध्ये तावदिच्छाऽनिच्छात्मके ते प्रतिपाद्य तृतीयं

कथं तर्हि किमिच्छन्नित्येवमिच्छा निषिध्यते ।
नेच्छानिषेधः किंत्विच्छाबाधो भर्जितबीजवत् ॥ १६३ ॥
भर्जितानि तु बीजानि सन्त्यकार्यकराणि च ।
विद्वदिच्छा तथेष्टव्याऽसत्त्वबोधान्न कार्यकृत् ॥ १६४ ॥

अनुभवन्ति । अत एतत्सुखादिभोगहेतुभूतं परेच्छापूर्वकं प्रारब्धं प्रसिद्धमित्यर्थः । अत एव दोषदर्शने सत्यपि प्रारब्धस्य अपरिहार्यत्वात्तस्येच्छाजनकत्वं न निवारयितुं शक्नोतीति भावः ॥ १६२ ॥

ननु तत्त्वविदोऽपीच्छाङ्गीकारे 'किमिच्छन्' (शाट्या० २२ बृ.४.४.१२) इति श्रुतिविरोध इति शङ्कते—'**कथं तर्हीति**'। 'किमिच्छन्' इत्यनेन वाक्येन कथमिच्छाभावो वर्णित इत्यर्थः । नानेन इच्छाभावोऽभिधीयते, किन्तु सत्या अपि तस्याः समर्थप्रवृत्तिजनकत्वं नास्तीति बोध्यत इति परिहरति—'**नेच्छानिषेध**' इति । स्वरूपेण सत्या अपि तस्याः सामर्थ्यराहित्ये दृष्टान्तमाह—'**भर्जितेति**' ॥ १६३ ॥

संक्षेपेणोक्तमर्थं प्रपञ्चयति—**भर्जितानीति** । यथा भर्जितानि बीजानि स्वयं स्वरूपेण विद्यमानान्यपि नाङ्कुरादिकार्यकराणि भवन्ति, तथा विद्वदिच्छा स्वयं विद्यमानाऽपीष्यमाणपदार्थस्यासत्त्वज्ञानेन बाधितत्वान्न व्यसनादिकार्यक्षमेत्यर्थः ॥ १६४ ॥

परेच्छाप्रारब्धमपि संक्षिपति—**नानिच्छन्त इति** । **परेति** । 'दक्षे तु चतुरपेशलपटवः सूत्थान उष्णश्चे'त्यमरादितरजनसामर्थ्यप्रेरिताः सन्त इत्यर्थः । जीवा इत्यार्थिकम् । सुखदुःखे भजन्ति हरिश्चन्द्रवद्वसिष्ठविश्वामित्राभ्यां कृतप्रसिद्धतरानुग्रहनिग्रहद्वाराऽनुभवन्तीति सम्बन्धः । हिरवधारणे । एतदेव परेच्छापूर्वकर्मेति योजना ॥ १६२ ॥

नन्वेवं जीवन्मुक्तानामप्युक्तत्रिविधप्रारब्धकर्मसम्भवो जीवन्मुक्त्यन्यथानुपपत्त्यैव वाच्यस्तथा चा'ऽऽत्मानं चेदि'त्याद्युपक्रान्तश्रुतौ 'किमिच्छन्नि'त्यादिवाक्यविरोधमाशङ्क्य समाधत्ते—**कथं तर्हीति** ॥ १६३ ॥

उक्तदृष्टान्तं स्पष्टयति—**भर्जितानि त्विति** । दार्ष्टान्तिके योजयति—**विद्वदिति** । यथा भर्जितानि व्रीह्यादिबीजानि समुत्पादकान्यप्यङ्कुराद्युत्पादकानि नैव भवन्ति तथा ब्रह्मविदां सौभर्यादीनामिच्छाऽप्यसत्त्वबोधाद्यावद्द्वैतमिथ्यात्वोपलक्षिता द्वैताद्वैतब्रह्मात्मैक्यसाक्षात्कारात्कार्यंकृत्पुण्याद्युत्पादनद्वारा प्रारब्धपरिसमाप्त्युत्तरं द्वैतानुभाविका नैव भवतीत्येवेष्टव्येत्यन्वयः ॥ १६४ ॥

दग्धबीजमरोहेऽपि भक्षणायोपयुज्यते ।
विद्वदिच्छाप्यल्पभोगं कुर्यान्न व्यसनं बहु ।। १६५ ।।

भोगेन चरितार्थत्वात्प्रारब्धं कर्म हीयते ।
भोक्तव्यसत्यताभ्रान्त्या व्यसनं तत्र जायते ।। १६६ ।।

ननु तर्हि विदुष इच्छैव नाङ्गीकर्तव्या; फलाभावादित्याशङ्क्य, फलाभावोऽसिद्धो भोगलक्षणफलसद्भावादिति सदृष्टान्तमाह—**दग्धबीजमिति** । दग्धं भर्जितमिति यावत् । व्यसनं विपदादिरूपं बहुविधम् । 'व्यसनं विपदि भ्रंशे दोषे कामजकोपजे' इत्यभिधानात् ।। १६५ ।।

ननु कर्मैव भोगद्वारा व्यसनमपि जनयेदित्याशङ्क्याह—**भोगेनेति** । प्रारब्धकर्मणो भोगमात्रहेतुत्वान्न व्यसनजनकत्वमित्यर्थः । कुतस्तर्हि व्यसनजन्मेत्यत आह—**भोक्तव्येति** । तत्र तस्मिन्विषये ।। १६६ ।।

ननूक्तदृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोरुभयोरप्यकार्यकरत्वं क्रमाद्दग्धत्वविद्वत्त्वाभ्यां यदुक्तं तत्किं यत्किंचिदकार्यकरत्वं सर्वथा वा । नाऽऽद्यः । अदग्धबीजानामप्यनुप्तत्वेनोप्तात्मनामप्यनावृष्ट्याद्युपहतत्वेन चाङ्कुरादि यत्किञ्चित्कार्याजनकत्वस्य प्रायो बीजत्वावच्छेदेनैव सर्वत्रापि दृष्टतया दृष्टान्ते दग्धत्वस्याप्रयोजकत्वात् । एवमविदुषां रम्भासम्भोगादीच्छासत्त्वेऽपि मर्त्यलोके तथा स्वर्लोकेऽपि विना तादृशसुकृतमकार्यकरत्वदर्शनेन दार्ष्टान्तिकेऽपि विद्वत्त्वस्याप्रयोजकत्वाच्च । नान्त्यः । भक्षणादिकार्यस्य प्रारब्धफलोपभोगकार्यस्य च क्रमात्सत्वादित्याशङ्क्य भावानवबोधनिबन्धनैवेयं शङ्केति समाधित्सुः सिद्धान्त्युभयत्रापि स्वाशयं विशदयति—**दग्धेति** । **अल्पेति** । जरत्कार्वादिवद्यत्किंचिदुपभोगमेव न तु भरतादिवज्जन्मान्तरापादकतादात्म्याध्यासाधनमित्यर्थः । 'व्यसनं विपदि भ्रंशे दोषे कामजकोपज' इत्यमरस्तथा 'व्यसनं त्वशुभे सक्तौ पानस्त्रीमृगयादिषु । दैवानिष्टफले पापे विपत्तौ निष्फलोद्यम' इति विश्वश्च ।। १६५ ।।

ननु विदुषोऽपीच्छया भोगसत्त्वे तद्वियोगानिमित्तकं विपदादिलक्षणं बह्वपि व्यसनं स्यादेवेत्याशङ्क्य भोगप्रयोजकप्रारब्धस्य जीवाय सुखदुःखतत्प्रयोजकदेहादिप्रदान एव निर्बन्धात्तावन्मात्रेणैव तच्चरितार्थं सद्भरतादिवन्नैवोक्तव्यसनं कर्तुं शक्नोतीति समाधत्ते—**भोगेनेति** । न चैवं तर्हि भरतादेरुक्तव्यसनं कुतः सम्पन्नमिति वाच्यम् । अज्ञत्वमूलकभोक्तव्यहरिणतर्णककारुण्यप्रयोजकस्वतच्छरीरादिसत्यत्वभ्रान्तेरेवेत्याह—**भोक्तव्येति** ।। १६६ ।।

मा विनश्यत्वयं भोगो वर्धतामुत्तरोत्तरम् ।
मा विघ्नाः प्रतिबध्नन्तु धन्योऽस्म्यस्मादिति भ्रमः ॥ १६७ ॥
यदभावि न तद्भावि भावि चेन्न तदन्यथा ।
इति चिन्ताविषघ्नोऽयं बोधो भ्रमनिवर्तकः ॥ १६८ ॥
समेऽपि भोगे व्यसनं भ्रान्तो गच्छेन्न बुद्धवान् ।
अशक्यार्थस्य संकल्पाद्भ्रान्तस्य व्यसनं बहु ॥ १६९ ॥

व्यसनहेतुं भ्रमं दर्शयति—**मा विनश्यत्विति** । अयं भोगो मा विनश्यतु, एष उत्तरोत्तरं वर्धतां, विघ्नाश्चैनं मा प्रतिबध्नन्तु अस्य प्रतिबन्धं मा कुर्वन्तु, अस्मादेव भोगात् अहं धन्यः कृतार्थोऽस्मीत्येवंरूपो भ्रमो भवति, ततश्च व्यसनमित्यर्थः ॥ १६७ ॥

प्रसङ्गादस्य परिहारोपायमाह—**यदभावीति** । 'यद्भवितुमयोग्यं तन्न भवेदेव, भवितुं योग्यं चेत्तदन्यथा न भवेदेव' इत्येवंरूपः चिन्ताविषघ्नः 'इदं मे श्रेयः कदा भविष्यति, इदमनिष्टं कदा निवर्तिष्यते ?' इत्येवमादिचिन्तैव विषमिव स्वसंसृष्टपुरुषस्य नाशहेतुत्वाद्विषं इदं चिन्ताविषं हन्तीति चिन्ताविषघ्नः, एवंभूतो यो बोधः सोऽयं भ्रमनिवर्तकः पूर्वोक्तभ्रमस्य निवर्तक इत्यर्थः ॥ १६८ ॥

ननु विद्वदविदुषोरुभयोरपि भोगित्वाविशेषे एकस्य व्यसनम्, अपरस्य

ननु देहाद्यात्मकः सर्वोऽपि प्रपञ्चः सामान्यतः सर्वेऽप्यज्ञाः सत्य इति यथा वदन्त्येवं कलिकालेऽद्य वेदान्तशास्त्रावलम्बेन बहिः प्रायशः सर्वेषां मुखपिधानं कुर्वाणाः पण्डितंमन्याः पामराः केवलमन्तर्यथेष्टचेष्टैकपराः सर्वदा तन्मिथ्यात्वमपि ब्रुवाणाः सहस्रशोऽप्युपलभ्यन्ते तत्कथं बुभुत्सुना स्वबोधतद्दार्ढ्यादिर्थं सुपरीक्ष्य तन्निर्णयः कार्य इत्याशङ्क्य भ्रमादेवेति वक्तुं भ्रमस्य स्वानुभवादिगोचरं विशिष्टतरं स्वरूपमभिनीय विशदयति – **मा विनश्यत्विति** ॥ १६७ ॥

नन्वस्त्वेवं तेषां तत्तद्व्यवहारलिंगगम्योऽयमन्तर्भ्रमनिर्णयस्तथाऽपि विदुषामपि प्रारब्धापादितभोगेच्छादिसत्त्वे भोग्येष्टवियोगादिसम्भावितविपदादिव्यसनसत्त्वं तदवस्थमेवेति चेन्न । तेषां सम्भावितसकलदुःखादिसंसारार्णवजन्यकालकूटशामकदृढतमविवेकात्मकमहामन्त्रशालित्वादित्यभिप्रायेण तदध्यवसायं प्रकटयति—**यदिति** । सत्यसङ्कल्पप्रारब्धफलप्रदेश्वरसंकेतेनेति शेषः । शिष्टं तु स्पष्टमेव ॥ १६८ ॥

एवं तर्हि विद्वदविदुषोरुभयोरपि प्रारब्धकर्मापादितसुखादिफलोपभोगसाम्येऽपि

मायामयत्वं भोगस्य बुद्ध्वाऽऽस्थामुपसंहरन् ।
भुञ्जानोऽपि न संकल्पं कुरुते व्यसनं कुतः ।। १७० ।।
स्वप्नेन्द्रजालसदृशमचिन्त्यरचनात्मकम् ।
दृष्टनष्टं जगत्पश्यन्कथं तत्रानुरज्यति ।। १७१ ।।

तु तन्नेत्येतत्कुत इत्याशङ्क्य, विपरीतज्ञानसत्त्वासत्त्वाभ्यां तत्सिद्धिरित्याह—**समेऽपीति** । बुद्धवाञ्ज्ञानवान्, ज्ञानीत्यर्थः । भ्रान्तेः कथं व्यसनहेतुत्वमित्यत आह—**अशक्यार्थस्येति** ।। १६९ ।।

विवेकिनस्तदभावं दर्शयति—**मायामयत्वमिति** ।। १७० ।।

ननु मायामयत्वबोधे सत्यपि भोगस्य तदानींतनसुखहेतुत्वात्कुत आस्थोपसंहार इत्याशङ्क्य, बहुविधदोषदर्शनादित्याह—**स्वप्नेन्द्रेति** ।।१७१।।

क्रमादर्थानर्थौ विवेकाविवेकमूलकावेवेति चेच्चिरं जीवतु भवानित्याशयेन देशिकस्तद्वचनमनूद्य भ्रान्तस्य बहुव्यसने हेतुमप्याह—**समेऽपीत्यादिपूर्वोत्तरार्धाभ्याम्** । **बुद्धेति** । बुद्धं विचारिततत्त्वमस्यादिमहावाक्यजन्यचरमप्रमाविषयीकृतगद्वैतब्रह्मात्मैक्यं द्वैतमिथ्यात्वपूर्वकमनुसन्धीयमानत्वेनास्ति सर्वदास्येति तथोक्त यावत् । **अशक्येति** । मा विनश्यत्वयं भोगो वर्धतामुत्तरोत्तरमित्याद्यनुपदोदीरितासंभावितवस्तुन इत्यर्थः ।।१६९।।

ननु तर्हि तत्त्वविदः कथं प्रारब्धभोगेऽनुभव इत्यपेक्षायां तं संक्षिपति—**प्रायेति**। भोग्यस्य स्त्रक्चन्दनवनितादेः । आस्थां प्रेमातिशयितामिति यावत् । संकल्पं मा विघ्नाः प्रतिबध्नन्तु धन्योऽस्म्यस्मादित्यादिवृत्तिविशेषणमित्यर्थः । अपिनोक्तसंकल्पाभावे व्यसनाभावः कैमुत्यसिद्ध इति ध्वन्यते । तदेवाऽऽक्षेपेणापि स्फुटयति—**व्यसनं कुत इति** ।१७०।

ननु द्वैतस्य मिथ्यात्वेऽपि चित्रशतपत्रनेत्रन्यायेन चन्द्रचन्द्राननात्मकस्य तस्य तात्कालिकरम्यतमत्वेन कथं तत्रास्थोपसंहारः सुकर इत्याशङ्क्योक्तचित्रशतपत्रनेत्रापेक्षयाऽप्यस्य प्रपञ्चगतेष्टविषयस्य हीनसत्ताकत्वानुभवाद्युक्त एव तद्विषयकास्थोपसंहार इति सदृष्टान्तं साक्षेपं संक्षिपति—**स्वप्नेति** । अद्वैतशास्त्रे हि दृष्टिसृष्टिवादः सृष्टदृष्टिवादश्चेत्यधिकारिभेदेन मतद्वयं सर्वपूर्वाचार्यसंमतमेव । तत्राऽऽद्ये दृश्यसत्ताप्रातिभासिकी दृक्सत्ता तु पारमार्थिक्येवेति सत्ताद्वैविध्यम् । अन्त्ये तु प्रातिभासिकशुक्तिरजतादिसत्तापेक्षया व्यावहारिक्यन्यैवाऽऽकाशादेः सत्तादृश्ये मिथ्यात्वादिसाम्येऽपीति पारमार्थिकब्रह्मसत्तया सह सत्तात्रैविध्याङ्गीकारः । ब्रह्मज्ञानेतरबाध्यत्वाबाध्यत्वाभ्यामेव प्रातिभासिकव्यावहारिकसत्तयोर्भेदः । सर्वमिदं बोधैक्यसिध्यादौ प्रपञ्चयिष्यामः । एवं चेह प्रथममताधिकारिणं प्रति स्वप्नदृष्टान्तोपन्यासश्चरममताधिकारिणं प्रति तु चरमदृष्टान्तोपन्यास इत्याशयः । इन्द्रजालं हि मन्त्रादिक्षुब्धमायाप्रकटितमैन्द्रिजालिकायत्तसत्ताकं नगरादिकं सुप्रसिद्धमेव । वस्तुतस्तु तस्यापि प्रातिभासिकत्वेऽपि चित्रा-

स्वस्वप्नमापरोक्ष्येण दृष्ट्वा पश्यन्स्वजागरम् ।
चिन्तयेदप्रमत्तः सन्नुभावनुदिनं मुहुः ।। १७२ ।।
चिरं तयोः सर्वसाम्यमनुसंधाय जागरे ।
सत्यत्वबुद्धिं संत्यज्य नानुरज्यति पूर्ववत् ।। १७३ ।।
इन्द्रजालमिदं द्वैतमचिन्त्यरचनात्वतः ।
इत्यविस्मरतो हानिः का वा प्रारब्धभोगतः ।। १७४ ।।

ननूक्तस्वप्नेन्द्रजालसादृश्यादिज्ञाने सत्यासक्तिभावो न भवेत्, तदेव कुतो जायत इत्याशङ्क्य, तज्जन्मोपायमाह—**स्वस्वप्नमिति** । श्लोकद्वयेन । स्वकीयस्वप्नमपरोक्षतया दृष्ट्वा स्वकीयं च जागरमनुभवन् स्वप्नजागरावुभावपि अप्रमत्तः सन्मुहुश्चिन्तयेत् स्वप्नतुल्योऽयं जागर इति ।। १७२ ।।

एवं तयोः स्वप्नजागरयोः सर्वसाम्यं तात्कालिकभोगहेतुत्वपरिणतिविरसत्वविनाशित्वादिलक्षणं चिरमनुसन्धाय, जागरेऽपि सत्यत्वबुद्धिं परित्यज्य, जाग्रद्वस्तुष्वपि पूर्ववत् जगत्सत्यत्वज्ञानदशायामिव नानुरज्यति, अनुरक्तो न भवतीत्यर्थः ।। १७३ ।।

ननु प्रपञ्चगोचरस्य मिथ्यात्वज्ञानस्य विषयसत्यत्वोपजीविनो भोगस्य च परस्परविरोधान्मिथ्यात्वज्ञाने सति कथं भोगसिद्धिरित्याशङ्क्य, भोगस्य विषयसत्यत्वापेक्षाभावान्न विरोध इति परिहरति—**इन्द्रजालमिति** । इदं द्वैतं भोग्यजातं अचिन्त्यरचनात्वादिन्द्रजालवन्मिथ्येति युक्त्याऽनुसंधाय अविस्मरतो विदुषः प्रारब्धभोगतः प्रारब्धकर्मफलयोः सुखदुःखयोरनुभवेन मिथ्यात्वानुसंधानस्य का वा हानिः, 'वा'शब्दान्मिथ्यात्वानुसंधानेन वा भोगस्य का हानिः ? विभिन्नविषयत्वादिति भावः ।। १७४ ।।

दिवत्सोपाधिकभ्रमत्वेन स्वप्नाद्यपेक्षया किञ्चिदधिकसत्ताकत्वाद्व्यावहारिकजगद्दृष्टान्तत्वमित्याकूतम् । तत्र हेतुः । अचिन्त्येति दृष्टेति च व्युत्क्रमेण । क्षणप्रभावदृष्टं सदेव नष्टं क्षणभङ्गुरमित्यर्थः ।। १७१ ।।

तत्राऽऽद्याधिकारिणं प्रति सदृष्टान्तानुसन्धानं विधत्ते—**स्वस्वप्नेति** । आपरोक्ष्येण साक्षिप्रत्यक्षेण ।। १७२ ।।

फलितमाह—**चिरमिति** ।। १७३ ।।

एवं चरममताधिकारिणं प्रति सदृष्टान्तानुभवानुसन्धानमपि विदधानस्तस्मिन्सति सुखदुःखान्यतरसाक्षात्कारलक्षणः प्रारब्धभोग एव कथं स्याद्वृत्तिद्वयस्य

निर्बन्धस्तत्त्वविद्याया इन्द्रजालत्वसंस्मृतौ ।
प्रारब्धस्याग्रहो भोगे जीवस्य सुखदुःखयोः ।। १७५ ।।
विद्यारब्धे विरुध्येते न भिन्नविषयत्वतः ।
जानद्भिरप्यैन्द्रजालविनोदो दृश्यते खलु ।। १७६ ।।

विभिन्नविषयत्वमेव दर्शयति—**निर्बन्ध इति** । तत्त्वविद्याया जगत्तत्त्वगोचरस्य ज्ञानस्य इन्द्रजालवज्जगतो मिथ्यात्वानुसन्धाने निर्बन्धः, नतु भोगापलापे । प्रारब्धकर्मणश्च जीवस्य सुखःदुखयोः प्रदाने आग्रहः, नतु भोगसत्यत्वापादाने इति भावः ।। १७५ ।।

एवं विभिन्नविषयत्वं प्रदर्श्य, प्रयोगमाह—**विद्येति** । विद्याप्रारब्धकर्मणी परस्परं न विरुध्येते; विभिन्नविषयत्वात्, सम्प्रतिपन्नरूपरसज्ञानवदित्यर्थः । भोग्यमिथ्यात्वाज्ञानं भोगबाधकं न भवतीत्येतत् क्व दृष्टमित्या-

तुल्यकालत्वासंभवादित्याशङ्कामप्युपमयति—**इन्द्रजालमिति** । इदं साक्षिप्रत्यक्षोपलक्षिदृश्यत्वावच्छेदकावच्छिन्नं द्वैतं जिवेश्वरभेदादिपञ्चविधभेदघटितप्रपञ्चजातम् । इन्द्रजालमिन्द्रजालनिष्ठसर्वसंमतमिथ्यात्ववन्मिथ्यात्वशालि । **अचिन्त्येति** । अचिन्त्यरचनात्वात् । व्यतिरेके ब्रह्मवदिति यावद्द्वैतस्वेव पक्षत्वात्केवलव्यतिरेक्येवायं प्रयोग इत्यभिप्रायः । ननु भवत्वयं द्वैतमिथ्यात्वानुमानप्रयोगस्तथाऽपि प्रकृते किमायातमित्यत आह—**इतीति** । निरुक्तानुमानजन्यस्मृतिसातत्यायातसंस्कारलोपाभाववत इत्यर्थः । तत्त्वविद इत्यार्थिकम् । एवं चोक्तस्मृतिसंस्कारविरहराहित्ये प्रारब्धकर्मापादितसुखाद्यन्यतराकारपरिणतांतःकरणवृत्तिविषयकसाक्षिप्रत्यक्षं सम्भवेदेवेति भावः । तथा च नैव वृत्तिद्वययोगपद्यमपि । वस्तुतस्तु घटपटाविति समूहालम्बनात्मकमेकमेव ज्ञानमित्यङ्गीकुर्वतां तार्किकाणामेव ज्ञानद्वययोगपद्यासंभवः । सूक्ष्मदृशामद्वैतिनां मते तु यथा दीपालोकस्तावदेक एव सन्निकृष्टघटपटादिनानापदार्थास्तुल्यकालमेव प्रकाशयंस्तत्तदवच्छेदकभेदेन भिद्यत एवैवमेकाऽपि चिदिद्धा बुद्धिर्युगपदेव तत्तत्करणद्वारा बहिरागत्य तत्तद्विषयाकारतामापन्नाऽवच्छेदकीभूततत्तद्विषयावच्छिन्नतत्तद्वृत्तिभेदाद्भिद्यत एवेत्यङ्गीकरणीयमेव । एतेनान्तःसुखाद्यात्मना युगपदनेकविधस्तत्परिणामोऽपि व्याख्यातः । तथैवानुभवः पादे मे प्रमदाकरपद्मस्पर्शजं दृशोर्मे सस्मिततदाननेन्दुवीक्षणजं च सुखमेवमंतरपि मे श्रीगुरुहरचरणस्मरणसम्भवं सुखमिति । तस्मान्नैवात्र विरोधगन्धोऽपीति ध्येयं धीरैः ।। १७४ ।।

सर्वत्र विरोधो हि प्रायः समानविषययोरेव तेजस्तिमिरयोरिव दृष्टः प्रकृते तु विषयैक्यस्यैवाभावान्नैवासाविति सूचयितुं तत्त्वविद्याप्रारब्धयोः कार्यभेदमेव विशदयति—**निर्बन्ध इति** । द्वैतविषय इति शेषः ।। १७५ ।।

जगत्सत्यत्वमापाद्य प्रारब्धं भोजयेद्यदि ।
तदा विरोधि विद्याया भोगमात्रान्न सत्यता ।। १७७ ।।
अनूनो जायते भोगः कल्पितैः स्वप्नवस्तुभिः ।
जाग्रद्वस्तुभिरप्येवमसत्यैर्भोग इष्यताम् ।। १७८ ।।
यदि विद्याऽपह्नुवीत जगत्प्रारब्धघातिनी ।
तदा स्यान्न तु मायात्वबोधेन तदपह्नवः ।। १७९ ।।

शङ्क्याह—**जानद्भिरिति** । ऐन्द्रजालविनोद इन्द्रजालसंबन्धिचमत्कारविशेषः जानद्भिरपीन्द्रजालं जानद्भिरप्यवलोक्यत इति प्रसिद्धमित्यर्थः ।। १७६ ।।

किञ्च, विद्याप्रारब्धकर्मणोर्विरोधोऽस्तीति वदन् प्रष्टव्यः—किं प्रारब्धकर्म विद्याविरोधीत्युच्यते, उत विद्या प्रारब्धकर्मविरोधिनी ? इति नाद्य इत्याह—**जगदिति** । प्रारब्धं कर्म जगतो भोग्यजातस्य सत्यत्वमबाध्यत्वमापाद्य सम्पाद्य, यदि भोजयेज्जीवस्य सुखदुःखे दद्यात्तदा विद्याविषयस्य मिथ्यात्वस्य अपहाराद्विद्याया विरोधि स्यात्, न च तथा करोति, किन्तु भोगमेव प्रयच्छति, अतो न विद्याविरोधि प्रारब्धमिति भावः । भोगबलादेव भोग्यस्य सत्यत्वमपि स्यादित्याशङ्क्याह—**भोगमात्रादिति** । विमतं जगत् सत्यं, भोग्यत्वादित्यत्र दृष्टान्ताभाव इति भावः ।। १७७ ।।

ननु मिथ्यापदार्थैर्भोगो भवतीत्यत्रापि दृष्टान्तो नास्तीत्याशङ्क्याह—**अनून इति** ।। १७८ ।।

नापि द्वितीय इत्याह—**यदि विद्येति** । विद्या यदि जगद्भोग्यजातम-

फलितमाह—**विद्येति** । तत्रानुभवं प्रमाणयति—**जानद्भिरपीति** । इदमिन्द्रजालकलितरसालादिकं मृषैवेति निर्णयद्भिरपि पुरुषैरित्यर्थः ।। १७६ ।।

एवं तर्हि कदाऽनयोर्विरोधः स्यादित्यत्राऽऽह—**जगदिति** ।। १७७ ।।

ननु जगति यथाकथञ्चित्सत्यत्वापादनमन्तरा प्रारब्धं भोगमेव कथं सम्पादयेत् । न चानुपदमेवोक्तं तत्र निदर्शनं जानद्भिरप्यैन्द्रजालो विनोदो दृश्यते खल्विति सांप्रतम् । निरुक्तोदाहरणेऽपि दृशेः प्रयोगेणार्थक्रियारूपस्य भोगस्यासम्भवात् । तस्मात्किमत्र तात्पर्यमित्याशङ्क्येन्द्रजालदर्शने लोके क्वाचित्कतया तदीयफलादिवस्तुभक्षणादिना तृप्त्यनुभवस्य सन्दिग्धत्वात्प्रतिदिनमपि प्रायः सर्वानुभूतसार्वांशिकानुरूपदृष्टांतस्पष्टीकारेण समाधत्ते—**अयून इति** ।। १७८ ।।

भवत्वेवं सर्वथाऽपि ब्रह्मविद्या प्रारब्धाऽविरोधिनी तथाऽपि "क्षीयन्ते चास्य

अनपह्नुत्य लोकास्तदिन्द्रजालमिदं त्विति ।
जानन्त्येवानपह्नुत्य भोगं मायात्वधीस्तथा ॥ १८० ॥

पह्नुवीत नेदं रजतमिति निषेधकज्ञानवत्प्रतीयमानस्य भोग्यस्य स्वरूपं विलापयेत् तदा प्रारब्धकर्मभोगस्य सुखदुःखानुभवस्य साधनापहारेण प्रारब्धकर्मविघातिनी स्यात्; न च तत्करोति, किन्तु मिथ्यात्वमेव बोधयति, अतो न प्रारब्धकर्मविरोधिनीति भावः । ननु मिथ्यात्वबोधनादेव स्वरूपमपि विलापयेदित्याशङ्क्याह—**न तु मायेति** । इन्द्रजालादौ स्वरूपविलापनमन्तरेणापि मिथ्यात्वज्ञानदर्शनादिति भावः ॥ १७९ ॥

एतदेव प्रपञ्चयति—**अनपह्नुत्येति** । लोका जनास्तदिन्द्रजालस्वरूपमनपह्नुत्यानिरस्य 'इदमिन्द्रजालम्' इति जानन्त्येव यथा, तथा भोगं भोग्यमनपह्नुत्याविलाप्य मायात्वधीः । जगन्मिथ्यात्वज्ञानं भवतीत्यर्थः ॥ १८० ॥

कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे" इति "ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा" इति च **श्रुतिस्मृतिभ्यां** प्रतीयमानकर्मसामान्यविरोधित्वेनार्थापत्तिसिद्धप्रारब्धविरोधित्वं तत्र कदा स्यादित्यत आह—**यदीति** । 'ब्रह्मज्ञानविभावसुः सकलमेवाज्ञानतत्सम्भवं सम्यग्वस्तुबलप्रवर्तनमरुद्व्यापारसंदीपितः । निर्लेपेन हि दंदहीति न मनागप्यस्य रूपान्तरं संसारस्य शिनष्टि तेन विदुषः सद्योविमुक्तिर्ध्रुवा" इति **संक्षेपशारीरोक्तसद्योमुक्तिबृंहद्वाष्टिप्रसिद्धोद्दालकमुनेः** संजाताऽधुनाऽपि कस्यचित्साधनचतुष्टयपुष्टिपूर्वकं ब्रह्मनिष्ठमाचार्यवरिष्ठमनन्यभावेन शरणीकृत्य वेदान्तशास्त्रश्रवणमननाद्यनुतिष्ठतोऽपि प्रतिबन्धविशेषवशादसञ्जातद्वैतब्रह्मात्म्यैक्यसाक्षात्कारत्वात् संन्यासपुरःसरं समुपदिष्टया प्रणवोच्चारपूर्वकमहं ब्रह्मास्मीति शोधिततत्त्वंपदार्थयोरैक्यभावनालक्षणया निर्गुणाऽहंग्रहोपासनयाऽन्तकाले—

"उपासनं पक्वमिह नास्ति यस्य परत्र सः ।
मरणे ब्रह्मलोके वा तत्त्वं विज्ञाय मुच्यते ॥"

इति वचनादुपासनपरिपाके तु मरणसमकालमेव तत्त्वज्ञानोदयेन स प्रारब्धद्वैतध्वस्तिरूपा मुक्तिर्यदि स्यात्तदा तदीया ब्रह्मविषयिणी विद्या जगत्सकलदृश्यमेव तं प्रत्यपह्नुवीत प्रध्वंसयेत्तदा प्रारब्धघातिनी स्यादिति संबन्धः ॥ १७९ ॥

अथ प्रागुपन्यस्तजीवन्मुक्तिपक्षदृष्टान्तमिन्द्रजालमिव मायामयमिति मैत्रायणीयश्रुतिसिद्धंदार्ष्टान्तिकेनसह स्पष्टयति—**अनपह्नुत्येति** । **तथेत्यादि** । तथोक्तेन्द्रजालानपह्नववद्भोगं प्रारब्धापादितसुखादिसाक्षात्कारम् । अनपह्नुत्यानपलाप्य भोग्यादौ द्वैते

यत्र त्वस्य जगत्स्वात्मा पश्येत्कस्तत्र केन कम् ।
किं जिघ्रेत्किं वदेद्वेति श्रुतौ तु बहु घोषितम् ॥१८१॥
तेन द्वैतमपह्नुत्य विद्योदेति न चान्यथा ।
तथा च विदुषो भोगः कथं स्यादिति चेच्छृणु ॥१८२॥

'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत्' (बृ० ४।५।१५) इत्यादिश्रुतिः द्रष्टृदर्शनदृश्याभावं बोधयति, अतो विद्योत्पद्यमाना जगद्विलापयेदेव; एवं सति विदुषो भोगश्च कथं स्यादिति श्रुत्यवष्टम्भेन शङ्कते श्लोकद्वयेन—**यत्र त्वित्यादिना** । यत्र यस्यां विद्यावस्थायां कृत्स्नं जगदस्य विदुषः स्वात्मैवाभूत् 'इदं सर्वं यदयमात्मा' (बृ० २।४।६, नृ० उ० ५।१) इति ज्ञानेन स्वरूपमेव भवति, तत्र तस्यां दशायां को द्रष्टा, केन साधनेन चक्षुषा किं दृश्यं रूपजातं पश्येत्, एवं घ्राणलक्षणेन किं कुसुमादिकं जिघ्रेत्, किं वाक्यं केन वागिन्द्रियेण वा वदेत् । एवमितरेन्द्रियव्यापाराभावद्योतनाय 'वा'शब्दः । इत्येवंप्रकारेण श्रुतौ बहुवारमभिहितमित्यर्थः ॥ १८१ ॥

ततः किमित्यत आह—**तेन द्वैतमिति** । 'स्वाप्ययसंपत्त्योरन्यतरापेक्षमाविष्कृतं हि' (ब्र० सू० ४।४।१६) इत्यस्मिन्सूत्रे । यत्र त्वस्येत्युदाहृतायाः श्रुतेः सुप्तिमोक्षयोरन्यतरापेक्षयोरन्यतरविषयत्वेन व्याख्यातत्वान्न विद्यया जगदपह्नव इति परिहरति—**शृण्विति** ॥ १८२ ॥

मायात्वधीः सुघटैवेत्यन्वयः । तस्मादनपलापेऽपि मायात्वबोध एवोक्तदृष्टान्त इत्याशयः ॥ १८० ॥

ननु निरुक्तरीत्या जीवन्मुक्तिपक्षे तत्त्वविद्यया द्वैते मिथ्यात्वमात्रं बोध्यते न तु तन्नाशः संपाद्यते तथा च विदुषः समुपपन्न एव प्रारब्धभोग इति सिद्धान्तस्ताव'द्यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येदि'त्यादिश्रुत्या सह विरुद्धत्वादयुक्त एवेति शङ्कते—यत्र त्वस्येत्यादियुग्मेन । इदं सर्वं यदयमात्मेत्यादिश्रुतिजन्यप्रमानन्तरमित्याऽऽर्थिकम् । 'यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यती'त्यादिप्राक्तनश्रुत्यर्थवैलक्षण्यार्थस्तुशब्दः । बह्विति । तत्केनकं जिघ्रेत्तत्केन कं रसयेत्तत्केन कमभिवदेत्तत्केन शृणुयात्तत्केन कं मन्वीत तत्केन कं स्पृशेत्तत्केन कं विजानीयादिति बहुप्रकारैरित्यर्थः । वाशब्दः सकलकरणोपरमसूचनायैव ॥ १८१ ॥

ततः किं तत्राऽऽह—**तेनेत्यादिना** । एवमाक्षेपे सति निरुक्तश्रुत्यर्थस्य भगवद्भिर्बादरायणाचार्यचरणैरेवोत्तरमीमांसाचतुर्थाध्यायचतुर्थचरण एव निर्णीतत्वात्तादृक्साम्प्रदायिकगूढार्थाकर्णनार्थमेव प्रष्टारमभिमुखीकरोति—**इतीत्यादिशेषेण** ॥ १८२ ॥

सुषुप्तिविषया मुक्तिविषया वा श्रुतिस्त्विति ।
उक्तं स्वाप्ययसम्पत्त्योरितिसूत्रे ह्यतिस्फुटम् ।।१८३।।

अन्यथा याज्ञवल्क्यादेराचार्यत्वं न सम्भवेत् ।
द्वैतदृष्टावविद्वत्ता द्वैतादृष्टौ न वाग्वदेत् ।।१८४।।

स्वाप्ययः सुषुप्तिः, सम्पत्तिर्मुक्तिरित्यर्थः ।। १८३ ।।

अस्याः श्रुतेः सुषुप्त्यादिविषयत्वानङ्गीकारे बाधकमाह—**अन्यथेति** । तत्रोपपत्तिमाह—**द्वैतेति** । याज्ञवल्क्यादिर्यदि द्वैतं पश्येत्तर्हि तदाऽद्वैतज्ञानाभावान्नाचार्यो भवेत् । अथ द्वैतं न पश्यति तर्हि बोध्यशिष्याद्यनुपलम्भादाचार्यवाक् शिष्यं प्रति बोधनाय न प्रवर्तेत, अतो विद्यासंप्रदायोच्छेदप्रसङ्ग इति भावः ।। १८४ ।।

तमेवार्थमुक्तसूत्रप्रतीकग्रहणपूर्वकं कथयति-**सुषुप्तीति** । मुमुक्षुं प्रति सुषुप्तिविषया तेन तस्या एव सर्वदा प्रत्यहमनुभूतत्वात् । मुक्तं प्रति तु मुक्तिविषयैवेयं "यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूदि'त्यादिप्रकृतश्रुतिः । मुमुक्ष्ववस्थां **मैत्रेयीं** स्वप्रियां प्रति जीवन्मुक्त्यवस्थापन्नस्य **याज्ञवल्क्यस्य** निर्विकल्पसामाध्यादौ तथाऽनुभवतो वचनत्वाच्चेत्यभिप्रायः । वा शब्दस्तत्तदनुभूतिभेदेन विकल्पसूचक एव । ननूक्तश्रुत्यर्थे किं मानमत आह—**उक्तमिति । स्वेति** । 'स्वाप्ययसंपत्योरन्यतरापेक्षमाविष्कृतं ही'ति चतुर्लक्षणीचरमचरणगत इत्यर्थः । हिरवधारणे । एतादृशसूत्र एवोकार्थंजातमतिस्फुटं यथा स्यात्तथोक्तमस्तीति योजना । सूत्रार्थस्तु । स्वाप्ययः 'स्वं ह्यपीतो भवती'ति श्रुतेः सुप्तिः । सम्पत्तिर्मुक्तिः । तयोः सुप्तिमुक्त्योरित्यर्थः । **अन्यतरेति** । अन्यतरत्वं 'व्रीहिभिर्वा यवैर्वा यजेते'त्यादाविवेच्छिकविकल्पविषयत्वं तस्यापेक्षा यत्र तत्तथैव मुमुक्ष्वपेक्षमुक्तापेक्षं च क्रमादित्येतत् । एतादृशं द्वैताभावरूपमर्थजातम् । हिरवधारणे । यत्र त्वस्येत्यादिश्रुत्यैवाविष्कृतप्रकटितमस्तीति ।। १८३ ।।

नन्वनुभूतिप्रकाश इयं श्रुतिः—

"यस्यां तु विद्यावस्थायामात्मैवास्याभवज्जगत् ।
तदा कः केन किं जिघ्रेदद्वैते परवस्तुनि ।"

इति मुक्तमात्रपरत्वेन व्याख्यातेति चेत्सत्यम् । विद्यायाः प्रकृते प्राधान्येन तदवस्थायां तथात्त्वाभिप्रायकत्वात्तस्येत्यन्यथानुपपत्याऽप्याह—**अन्यथेति** । तत्र हेतुः । **द्वैतेति** । तस्मादुक्तरीतिरेवेज्येति दिक् ।। १८४ ।।

निर्विकल्पसमाधौ तु द्वैतादर्शनहेतुतः ।
सैवापरोक्षविद्येति चेत्सुषुप्तिस्तथा न किम् ॥१८५॥
आत्मतत्त्वं न जानाति सुप्तौ यदि तदा त्वया ।
आत्मधीरेव विद्येति वाच्यं न द्वैतविस्मृतिः ॥१८६॥
उभयं मिलितं विद्या यदि तर्हि घटादयः ।
अर्धविद्याभाजिनः स्युः सकलद्वैतविस्मृतेः ॥१८७॥

ननु याज्ञवल्क्यादीनामाचार्यत्वदशायां विद्यमानस्य ज्ञानस्य विद्यात्वमस्त्येव, तथापि तस्य नापरोक्षविद्यात्वं द्वैतप्रतीतिसद्भावात्; निर्विकल्पकसमाधौ तु द्वैतदर्शनाभावात्सैवापरोक्षविद्येति शङ्कते—**निर्विकल्पेति** । द्वैताप्रतीतेरप्यतिप्रसङ्गापादकत्वान्मैवमिति परिहरति—**सुषुप्तिस्तथा न किमिति** ॥ १८५ ॥

अतिप्रसङ्गपरिहारं शङ्कते—**आत्मतत्त्वमिति** । सुप्तौ द्वैतदर्शनाभावेऽपि आत्मगोचरज्ञानाभावान्न विद्यात्वं तस्या इत्यर्थः । तर्हि प्राप्तं विवेकज्ञानस्यैव विद्यात्वं, न द्वैतदर्शनाभावस्येत्याह—**तदेति** ॥ १८६ ॥

ननु द्वैतादर्शनात्मज्ञानयोर्मिलितयोरेव विद्यात्वं, नैकैकस्येति शङ्कते—**उभयमिति** । द्वैतविस्मृतेरपि विद्यांशत्वाङ्गीकारे जडस्याप्यर्धविद्यात्वप्रसङ्ग इति परिहरति—**तर्हि घटादय इति** । अत्रोपपत्तिमाह—**सकलेति** ।१८७।

ननु याज्ञवल्क्यादेराचार्यत्वं परोक्षविद्ययैव भवतु द्वैतादर्शनस्य तु निर्विकल्पसमाधावेव सम्भवा'द्यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह । बुद्धिश्च न विचेष्टति तामाहुः परमां गतिमि'ति श्रुतेः । "यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः । यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणाऽपि विचाल्यते । तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम् ॥" इति स्मृते'स्तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् । ऋतंभरा तत्र प्रज्ञेत्या'दि योगसूत्रसन्ततेश्चासंप्रज्ञातसमाध्यवस्थैवापरोक्षविद्येत्याशङ्क्यातिप्रसक्त्या समाधत्ते—**निर्विकल्पेति** ॥ १८५ ॥

तद्वारणमाशङ्क्य परिहरति—**आत्मतत्त्वमिति** ॥ १८६ ॥

ननु समुदाहृतश्रुत्यादिभ्यस्तत्त्वज्ञानदृश्या दर्शनोभयमेलनस्यैवापरोक्षज्ञानत्वमित्याशङ्कां सोपहासप्रतिबन्द्या विनिन्दति—**उभयमित्यादिद्वाभ्याम्** ॥ १८७ ॥

मशकध्वनिमुख्यानां विक्षेपाणां बहुत्वतः ।
तव विद्या तथा न स्याद्घटादीनां यथा दृढा ॥१८८॥
आत्मधीरेव विद्येति यदि तर्हि सुखी भव ।
दुष्टचित्तं निरुन्ध्याच्चेन्निरुन्द्धि त्वं यथासुखम् ॥१८९॥
तदिष्टमेष्टव्यमायामयत्वस्य समीक्षणात् ।
इच्छन्नप्यज्ञवन्नेच्छेत्किमिच्छन्निति हि श्रुतम् ॥१९०॥

अस्मिन्नेव पक्षे समाधिमतां पुरुषाणां अर्धविद्यावत्त्वमपि न स्यादिति सोपहासमाह—**मशकध्वनीति** । घटादीनां यथा द्वैतविस्मरणं दृढं तथा तव समाधौ द्वैतविस्मरणं न संभवति; मशकध्वन्यादीनामनेकेषां विक्षेपाणां सद्भावादित्यर्थः ॥ १८८ ॥

ननु आत्मज्ञानस्यैव विद्यात्वं, न द्वैतविस्मृतेरिति शङ्कते—**आत्मधीरेवेति** । तदस्माकमिष्टमित्यभिप्रायेण आशीर्वादयति—**तर्हि सुखी भवेति** । नन्वात्मधीरेव विद्या, सा न दुष्टचित्ते सम्भवति, अतश्चित्तदोषपरिहाराय चित्तवृत्तिनिरोधः कार्यं इति शङ्कामनुभाषते—**दुष्टचित्तमिति** । तदङ्गीकरोति—**निरुन्द्धि त्वमिति** ॥ १८९ ॥

तदिष्टमिति । अस्माकमपीति शेषः । कुत इत्यत आह—**एष्टव्येति** । चित्तदोषापगमे सति अद्वितीयात्मज्ञानाय इष्यमाणं जगन्मायामयत्वं सम्य-

मशकेति । "त्रिरुन्नतं स्थाप्य समं शरीरं हृदीन्द्रियाणि मनसा सन्निवेश्य । ब्रह्मोडुपेन प्रतरेत विद्वान् स्रोतांसि सर्वाणि भयावहानि । प्राणान्प्रपीड्येह स युक्तचेष्टः । क्षीणे प्राणे नासिकयोच्छ्वसीत । दुष्टाश्वयुक्तमिव वाहमेनं विद्वान्मनो धारयेताप्रमत्तः । समे शुचौ शर्करावह्निवालुकाविवर्जिते शब्दजलाश्रयादिभिः । मनोनुकूले न तु चक्षुःपीडने गृहानिवाताश्रयणे नियोजयेत्" इत्यादिश्वेताश्वतरोपनिषदुक्तचक्षुः पीडनाख्यमशकध्वनिप्रतिबहुविधविघ्नग्रस्तत्वाद्योगाभ्यासस्येत्यार्थिकम् ॥ १८८ ॥

एवमुपहसितः प्रतिबन्दितश्च प्रतिवादी शिष्यो वा सिद्धान्तिमतमङ्गीकरोति—**आत्मेत्यादिना** । अथ तद्वाक्यमनूद्य सिद्धान्ती तमाशिषाऽभिनन्दयति—**इतीत्यादि** । जीवन्मुक्तिसुखार्थं किं चित्तनिरोधो विवेकवैराग्यादिभिः कार्यो न वेति संदिहानं तमालक्ष्याऽऽह—**दुष्टेति** ॥ १८९ ॥

तत्र हेतुः—**तदिति** । **एष्टव्येति** । एष्टव्यमभिलषणीयं यदद्वैते मायामयत्वं तस्येत्यर्थः । न हि स्वकार्ष्ण्येन कश्चित्कान्ताकुन्तलकान्तिवत्तृप्यतीत्याकूतम् । फलित-

रागो लिङ्गमबोधस्य सन्तु रागादयो बुधे ।
इति शास्त्रद्वयं सार्थमेवं सत्यविरोधतः ।।१९१।।

गीक्ष्यते यतः, अत इष्टमित्यर्थः । एवं 'किमिच्छन्'(शाट्या० २२, बृ० ४।४।१२)इति मन्त्रांशेनाभिप्रेतमर्थमुपपादितमुपसंहरति——इच्छन्निति । इच्छन्नपि अयं अज्ञवन्नेच्छेत्, अतः किमिच्छन्निति श्रुतमिति योजना ।। १९० ।।

एवमभिप्रायवर्णने कारणमाह—**रागो लिङ्गमिति** । 'रागो लिङ्गमबोधस्य चित्तव्यायामभूमिषु । कुतः शाद्वलता तस्य यस्याग्निः कोटरे तरोः ।।' इति तत्त्वविदो रागनिषेधपरं शास्त्रम्, 'शास्त्रार्थस्य समासत्वान्मुक्तिः स्यात्तावता मितेः । रागादयः सन्तु कामं न तद्भावोऽपराध्यते ।।' इति तस्यैव रागाङ्गीकारपरं च शास्त्रम् । एवं च सति तत्त्वविदो दृढरागाभावे सति शास्त्रद्वयं सार्थमर्थवद्भवति अविरोधतः, रागनिषेधपरस्य शास्त्रस्य दृढरागविषयत्वात्तदभ्युपगमपरस्य शास्त्रस्य रागाभासविषयत्वादिति भावः । ।। १९१ ।।

माह—**इच्छन्नपीति** । द्वैतेस्यैव बाधितत्वेन विद्वदिच्छातत्कर्तृतत्कर्मतत्करणादेरपि तत्त्वान्नाज्ञतौल्यमित्याशयः । अथ प्रकृतमन्त्रसाङ्गत्यमाह—**किमिच्छन्नितीत्यादिना** ।।१९०।।

न केवलमुक्तरीतिकतत्त्वज्ञेच्छाव्यवस्थया **'किमिच्छन्कस्य कामाय शरीरमनु-संज्वरे'**दिति श्रुतेरेवार्थसाङ्गत्यसिद्धिरपि तु **वार्तिककारवाक्यद्वय**विरोधोऽपि परिहृत इत्याह—**राग इति** ।

"रागो लिङ्गमबोधस्य चित्तव्यायामभूमिषु ।
कुतः शाद्वलता तस्य यस्याग्निः कोटरे तरोः ।।"

इतीदं **वचनं नैष्कर्म्यसिद्धिस्थमेव** विद्वद्रागनिषेधकम् । अस्य सारस्यं तु—**चित्तेति** । चित्तसञ्चारस्थलीभूतेष्टशब्दस्पर्शरूपसगन्धाख्यविषयविषयक इत्यर्थः । राग इष्टविषयाभिलाषोऽबोधस्याज्ञानस्य व्यापकस्य लिङ्गं व्याप्त्याऽनुमापकं व्याप्यमस्तीत्यन्वयः । तस्माद्यत्र यत्रेष्टविषयविषयकोऽभिलाषः पुरुषे दृश्यते तत्राबोध इति व्याप्तिरिति यावत् । तामेवार्थातरन्यासेन दृढयति—**कुत इत्यादिना** । यस्य तरोः कोटरेऽग्निर्भवति तत्र शाद्वलताशाखापल्लवादिषु 'शाद्वलः स्यादहरित' इत्यमराद्धरिद्वर्णशालितेत्यर्थः । कुतः स्यान्न कथमपि भवेदिति सम्बन्ध इति । अथैतत्प्रतिकूलं **वार्तिककृद्वाक्यमेव** किञ्चिदंशप्रतीकेन व्यनक्ति—**संत्विति** । इदं हि बृहदारण्यकभाष्योपरिवार्तिकामृतगतमेव ।

जगन्मिथ्यात्ववत्स्वात्मासङ्गत्वस्य समीक्षणात् ।
कस्य कामायेति वचो भोक्त्रभावविवक्षया ॥ १९२ ॥
पतिजायादिकं सर्वं तत्तद्भोगाय नेच्छति ।
किंत्वात्मभोगार्थमिति श्रुतावुद्घोषितं बहु ॥ १९३ ॥

एवं 'किमिच्छन्'इत्यंशस्याभिप्रायमुपवर्ण्य,'कस्य कामाय' इत्यंशस्याभिप्रायमाह—**जगदिति** । यथा जगन्मिथ्यात्वबोधेन वास्तवकाम्याभावविवक्षया 'किमिच्छन्'इत्युक्तम्, एवमात्मनोऽसङ्गत्वबोधेन वास्तवभोक्तृत्वाभावविवक्षया 'कस्य कामाय' (बृ० ४।४।१२) इति श्रुत्याभिहितमित्यर्थः ॥ १९२ ॥

नन्वात्मनो भोक्तृत्वप्रतिषेधस्तत्प्रसक्तिपूर्वको वक्तव्यः, सा तु न विद्यते

तद्यथा—"शास्त्रार्थस्य समाप्तत्वान्मुक्तिः स्यात्तावता मितेः ।
रागादयः सन्तु कामं न तद्भावोऽपराध्यति" इति ।

अस्याप्ययमर्थः—**शास्त्रार्थस्येति** । शास्ति जीवं प्रति हितमुपदिशतीति शास्त्रं वेदस्तस्य योऽर्थः परब्रह्मात्मैक्यलक्षणः प्रतिपाद्यः कालत्रयाबाधितवस्तुविशेषस्तस्य तद्विषयकोपदेशस्येति यावत् । समाप्तत्वादनवशिष्टत्वादित्यर्थः । ततः किं तत्राऽऽह—**मुक्तिरित्यादिना** । तावतैवोपदेश्यार्थानवशेषेणैव । मुक्तिरधिकारिणः कैवल्यरूपाऽनाद्यविद्यादिद्वैतध्वस्तिः । मितेः प्रोक्तब्रह्मैक्यप्रमाया हेतोरित्यर्थः । स्याद्भूयादेवेति हेतोस्तत्र ब्रह्मविदीत्यार्थिकम् । काममत्यन्तम् । रागादय आदिना द्वेषादयः **पश्वादिभिश्चाविशेषादितिभाष्यवचनात्** । सन्तु तिष्ठन्तु यतस्तद्भवस्तेषां रागादीनां बुद्धेः सद्भावः । नापराध्यति नैवाद्वैतविद्याबाधितस्य द्वैतस्य पुनः सत्यत्वसाधको भवतीति सम्बन्धः । **इतीत्यादि** । इत्युक्तप्रकारकम् । शास्त्रद्वयं वार्तिकयुगम् । एवं सति प्रागुक्तरीत्या विचारितमहावाक्यात्सञ्जातायामप्यपरोक्षब्रह्मविद्यायामसम्भवादिनैवादृढायामननुसंधानसमानाधिकरणरागादीनामज्ञानदार्ढ्याधायकत्वेनाज्ञानलिङ्गत्वे श्रवणाद्यभ्यासपरिपाकेन निःशेषासम्भावनादिनिरासाद्दृढायां तस्यां तदनुसन्धानसमानाधिकरणरागादीनामाभासत्वे च सिद्धे सतीत्यर्थः । अविरोधत उक्तव्यवस्थया परस्परविरुद्धार्थप्रतिपादकत्वाभावात्सार्थं स्वार्थवत्सम्पन्नमिति शेषः ॥ १९१ ॥

नन्वेवं तत्त्वानुसंधानसमानाधिकरणस्फूर्यमाणरागादीनामेवाभासत्वं चेत्तर्हि भोक्तृभोग्यात्मकस्याखिलद्वैतस्यापि तत्त्वमनुसन्ध्येयत्वेन प्राप्तं तत्र भोग्यस्य स्रगादेः स्वप्नेन्द्रजालादिदृष्टान्ततः प्राक्साधितेऽपि मिथ्यात्वे भोक्तुर्मिथ्यात्वमप्यवश्यं वाच्यमेवेत्यत्राऽऽह—**जगन्मिथ्यात्ववदिति** ॥ १९२ ॥

ननु कथं भोक्त्रभावविवक्षेयं सुघटा स्यादात्मनो ह्यसङ्गत्वश्रुतिवद्भोक्तृत्वश्रुतेरपि **न वा अरे** पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवत्यात्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवतो-

किं कूटस्थश्चिदाभासोऽथ वा किं वोभयात्मकः ।
भोक्ता तत्र न कूटस्थोऽसङ्गत्वाद्भोक्तृतां व्रजेत् ।। १९४ ।।
सुखदुःखाभिमानाख्यो विकारो भोग उच्यते ।
कूटस्थश्च विकारी चेत्येतन्न व्याहतं कथम् ।। १९५ ।।

असङ्गत्वादात्मन इत्याशङ्क्य, तस्याः स्वानुभवसिद्धत्वान्नैवमित्यभिप्रेत्य, तदनुवादिकां श्रुतिमर्थतोऽनुक्रामति—**पतिजायेति** । 'न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवति' (बृ० ४।५।६) इत्यारभ्य 'आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति' (बृ० ४।५।६) इत्यन्तेन वाक्यसन्दर्भेण पतिजायादिकस्य प्रपञ्चस्यात्मनो भोगसाधनत्वं प्रतिपाद्यते, तत आत्मनो भोक्तृत्वप्रसक्ति-रित्यर्थः ।। १९३ ।।

एवमात्मनो भोक्तृत्वं प्रदर्श्य, तदपवादाय भोक्तारं विकल्पयति—**किं कूटस्थ इति** । किं कूटस्थस्य भोक्तृत्वं, उत चिदाभासस्य किं वोभयात्मकस्य ? इति विकल्पार्थः । तत्र प्रथमं प्रत्याह—**भोक्ता तत्रेति** ।।१९४।।

असङ्गत्वमस्तु, भोक्तृत्वमप्यस्तु, को दोष इत्याशङ्क्याह—**सुखेति** । सुखित्वदुःखित्वाभिमानलक्षणो विकारो भोगः, सोऽसङ्गस्य कूटस्थस्य न युज्यते । कूटस्थत्वविकारित्वयोरेकत्र समावेशायोगादित्यर्थः ।। १९५ ।।

त्यादिबहुप्रकारायाः सत्त्वादित्यभिप्रेत्य तामर्थतः संक्षिपति—**पतिजायादिकमिति** । आदिना **न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवतीत्यन्तो ग्रन्थो ग्राह्यः** ।। १९३ ।।

अथोक्तां शङ्कां समाधातुं भोक्तृत्वेन सम्मतमात्मानं विकल्प्य पृच्छति—**किं कूटस्थ इत्यादिना** । एवं निरुक्तविकल्पेषु प्रथमं प्रत्याह—**तत्र नेत्यादिना** । कुत इत्यत आह—**असङ्गत्वादित्यादिशेषेण** । **असंगो ह्ययं पुरुष इति** श्रुत्युक्ता-दित्यर्थः ।। १९४ ।।

नन्वसङ्गत्वभोक्तृत्वप्रतिपादकयोरुभयोरपि श्रुत्योः प्रामाण्यादुभयमप्यस्त्वित्या-शङ्क्य व्याघातापत्तेर्नैवमित्याह—**सुखिदुःखीत्यादिना** । सुखदुःखाभिमानेति पाठः प्रामादिक एव । अहं सुखमित्यादिधर्मपुरस्कारेणाध्यासादर्शनात् । गर्वोऽभिमानोऽहंकार इत्यमरे धर्मितादात्म्यलक्षणस्याहंकारस्यैवाभिमानपदवाच्यत्वोक्तेश्च । न च सुखं मे जातमित्यादौ सुखादिसाक्षात्कारोऽपि भोग एव वाच्यस्तथा च सुखित्वाद्यन्यतर-तादात्म्याध्यासो भोग इति प्रकृतफलितलक्षणस्य तत्राव्याप्तिरिति साम्प्रतम् । विचार-निष्कर्षे तस्याप्यत्रैव पर्यवसानादिति तत्त्वम् ।। १९५ ।।

विकारिबुद्ध्यधीनत्वादाभासे विकृतावपि ।
निरधिष्ठानविभ्रान्तिः केवला न हि तिष्ठति ॥ १९६ ॥
उभयात्मक एवातो लोके भोक्ता निगद्यते ।
तादृगात्मानमारभ्य कूटस्थः शेषितः श्रुतौ ॥ १९७ ॥
आत्मा कतम इत्युक्ते याज्ञवल्क्यो विबोधयन् ।
विज्ञानमयमारभ्यासङ्गं तं पर्यशेषयत् ॥ १९८ ॥

ननु तर्हि विकारिणश्चिदाभासस्य भोक्तृत्वं स्यादित्याशङ्क्य, विकारित्वेऽपि निरधिष्ठानस्य तस्यैवासिद्धेर्मैवमिति परिहरति—**विकारीति** । चिदाभासस्य विकारिबुद्ध्युपाध्यधीनत्वात् स्वस्मिन् विकारे सम्भवत्यपि तस्य आरोपितस्य आरोपितस्वरूपत्वेन अधिष्ठानभूतं कूटस्थं विहाय स्वातन्त्र्येणावस्थानासम्भवात्केवलचिदाभासस्यापि भोक्तृत्वं न सम्भवतीति भावः ॥१९६॥

तस्मात्तृतीयः पक्षः परिशिष्यत इत्याह—**उभयात्मक इति** । यत एकैकस्य भोक्तृत्वं न सम्भवति अत उभयात्मकः साधिष्ठानचिदाभास एव लोके व्यवहारदशायां भोक्तेत्यभिधीयते, परमार्थतस्तूभयात्मकत्वमेव न घटत इति भावः । ननु 'असङ्गो ह्ययं पुरुषः' (बृ० ४।३।१५) इत्यादौ असङ्गत्वस्येव 'योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु' (बृ० ४।३।७) इत्यादौ बुद्धिसाक्षित्वस्यापि श्रवणादुभयात्मकं भोक्तृस्वरूपमपि पारमार्थिकमेव स्यात्, न लोकव्यवहारमात्रसिद्धमित्याशङ्क्य, श्रुतेस्तत्र तात्पर्याभावान्मैवमित्याह—**तादृगिति** । तादृगात्मानं बुद्ध्युपाधिकं भोक्तारमात्मानमारभ्य अनूद्य कूटस्थः बुद्ध्यादिकल्पनाधिष्ठानभूतश्चिदात्मा शेषितः बुद्ध्याद्यनात्मनिरसनेन परिशेषितः श्रुतौ बृहदारण्यकादावित्यर्थः ॥ १९७ ॥

तत्र बृहदारण्यकवाक्यार्थं तावत्संक्षिप्य दर्शयति—**आत्मेति** । जनकेन

एवं तर्ह्याभास एव जलचन्द्रवद्विकारिबुद्ध्यधीनत्वेन विकारित्वाद्द्वितीयपक्षोक्त एव भवतु भोक्तेति चेन्न। निरधिष्ठानस्य तस्याऽऽकाशकुसुमत्वादित्याह—**विकारीति** ॥ १९६ ॥

तथा च परिशेषात्तृतीयपक्ष एवास्त्विति चेद्व्यवहारदशायां तथात्वेऽपि परमार्थतः कोऽपि न भोक्तेत्याह—**उभयेति** । श्रुतौ स एष नेति नेत्यादावित्यर्थः ॥ १९७ ॥

कोऽयमात्मेत्येवमादौ सर्वत्रात्मविचारतः ।
उभयात्मकमारभ्य कूटस्थः शेष्यते श्रुतौ ।। १९९ ।।

कूटस्थसत्यतां स्वस्मिन्नध्यस्यात्माऽविवेकतः ।
तात्त्विकीं भोक्तृतां मत्वा न कदाचिज्जिहासति ।। २०० ।।

'कतम आत्मा' (बृ० ४।३।७) इत्येवमात्मनि पृष्टे सति याज्ञवल्क्यस्तं विबोधयन् 'योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु' (बृ० ४।३।७) इत्यादिना विज्ञानमयमुपक्रम्य 'असङ्गो ह्ययं पुरुषः' (बृ० ४।३।१५) इत्यसङ्गं कूटस्थं परिशेषितवानित्यर्थः ।। १९८ ।।

एवं बृहदारण्यके असङ्गात्मपरिशेषप्रकारं प्रदर्श्य, ऐतरेयादि-श्रुत्यन्तरेष्वपि तद्दर्शयति—**कोऽयमात्मेति** । 'वयमुपास्महे कतरः स आत्मा' (ऐ० ४।३।१) इत्येवमादौ आत्मविचारेणान्तःकरणोपाधिकमात्मानमारभ्य प्रज्ञानमात्रात्मकः कूटस्थः परिशेषितः । एवमन्यत्रापि द्रष्टव्यम् । एवमुक्तश्रुतिपर्यालोचनायामुभयात्मकस्य भोक्तुर्मिथ्यात्वं, पारमार्थिकस्यासङ्गस्य कूटस्थस्य अभोक्तृत्वं च सिद्धम् ।। १९९ ।।

ननूक्तरीत्या भोक्तुर्मिथ्यात्वे प्राणिनां तस्मिन्सत्यत्वबुद्धिः कुतो जायते इत्याशङ्क्याह—**कूटस्थेति** । आत्मा लोकप्रसिद्धो भोक्ताऽविवेकतः स्वस्य कूटस्थाद्विवेकज्ञानाभावेन कूटस्थनिष्ठं सत्यत्वं आत्मन्यध्यस्य तद्द्वारा स्वनिष्ठस्य भोक्तृत्वस्यापि सत्यतां मत्वा योगं कदाचिदपि न हातुमिच्छति । ।। २०० ।।

तत्राऽऽदौ जनकयाज्ञवल्क्यसम्वादलक्षणां शबलमुपक्रम्य शुद्धात्मपरिशेषपरां श्रुतिमर्थतः संक्षिप्योदाहरति—**आत्मेति** । **विज्ञानमयमिति** । **योऽयं** विज्ञानमयः प्राणेष्वित्यादिना शबलमुपक्रम्य, **असङ्गो** ह्ययं पुरुष इति शुद्धात्मानमेव बाधावधित्वेनावबोधितवानित्यर्थः ।। १९८ ।।

एवमैतरेयश्रुतिमपि यावदुपनिषदुपलक्षणविधयोदाहरति—**कोऽयमिति** ।। १९९ ।।

नन्वेवं तर्हि सर्वे जीवाः स्वभोक्तृत्वं सत्यं मन्वानाः कुतस्तद्भोगार्थं प्रवर्तन्त इत्यत्राऽऽह—**कूटस्थेति** । जिहासति हातुमिच्छति भोगमिति शेषः ।। २०० ।।

भोक्ता स्वस्यैव भोगाय पतिजायादिमिच्छति ।
एष लौकिकवृत्तान्तः श्रुत्या सम्यगनूदितः ।। २०१ ।।
भोग्यानां भोक्तृशेषत्वान्मा भोगेष्वनुरज्यताम् ।
भोक्तर्येव प्रधानेऽतोऽनुरागं तं विधित्सति ।। २०२ ।।
या प्रीतिरविवेकानां विषयेष्वनपायिनी ।
त्वामनुस्मरतः सा मे हृदयान्माप सर्पतु ।। २०३ ।।

ननु तर्हि 'आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति' (बृ० २।४।५) इत्यात्मशेषत्वं भोग्यस्य कथं प्रतिपाद्यत इत्याशङ्क्य, न कूटस्थात्मशेषत्वं प्रतिपाद्यते, किन्तु लोकप्रसिद्धोभयात्मकभोक्तृशेषत्वमेव श्रुत्याऽनूद्यत इत्याह—**भोक्तेति** । लोके यो भोक्ता सः स्वस्यैव भोगाय पतिजायादि-भोगोपकरणमिच्छतीत्ययं लौकिकवृत्तान्तः श्रुत्या सम्यगनूदितः नार्थान्तरं प्रतिपाद्यत इत्यर्थः ।। २०१ ।।

अनुवादः किमर्थमित्याशङ्क्य, भोक्तर्येव [illegible] विधानायेत्याह—**भोग्यानामिति** । भोग्यानां पतिजायादीनां भोक्तुः स्वस्य भोगोपकारणत्वाद् भोग्येष्वनुरागो न कर्तव्यः, किन्तु प्रधानभूते भोक्तर्येवानुरागः कर्तव्य इति विधानायेत्यर्थः ।। २०२ ।।

भोग्येषु प्रेमत्यागपुरःसरं आत्मप्रेमकर्तव्यतायां दृष्टान्तत्वेनेश्वरे प्रेम-

नन्वेवं यदि भोग्यवद्भोक्ताऽपि चिदाभासाख्यो जीवः सर्वथा मिथ्यैव तर्हि श्रुत्या कथमात्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवतीत्यखिलस्य भोग्यस्याऽऽत्मशेषत्वमुच्यत इत्यत आह—**भोक्तेति** । श्रुत्या न वा अरे पत्युः कामायेत्यादिरूपिण्येत्यर्थः ॥ २०१ ॥

नन्वग्निर्हिमस्य भेषजमित्याद्यनुवादकश्रुतेरर्थवादत्वेनाऽऽहवनीये जुहोतीत्यादि-विधिशेषत्ववत्प्रकृतश्रुतेरपि किञ्चिद्विधिशेषत्वं वक्तव्यमेवेति चेत्सत्यम् । व्याचक्षाणस्य तु मे निदिध्यासस्वेति जिज्ञासुं मैत्रेयीं प्रति ब्रह्मात्मैक्यमुपदिदिक्षोर्भगवतो याज्ञवल्क्यस्य वचसैव निदिध्यासनविध्यङ्गत्वं सिद्धमेवेत्यभिप्रेत्य समाधत्ते—**भोग्यानामिति** । तदुक्त-**मनुभूतिप्रकाशे**—

"निदिध्यासस्वेति शब्दात्सर्वत्यागफलं जगौ । न ह्यन्यचिन्तामत्यक्त्वा निदिध्या-सितुमर्हति । निरन्तरविचारो यः श्रुतार्थस्य गुरोर्मुखात् । तन्निदिध्यासनं प्रोक्तं तच्चैका-ग्र्येण लभ्यते । अनात्मन्यरुचिश्चित्ते रुचिश्चाऽऽत्मनि चोद्भवेत् । पुण्यपुञ्जेन शुद्धं तच्चित्तमैकाग्र्यमर्हति । शुद्धेऽङ्कुरितमैकाग्र्यं विवेके नाभिवर्धयेत् । प्रियाप्रियविवेकोऽतो मैत्रेय्या उपदिश्यते" इति । विधित्सति विधातुमिच्छति निरुक्तश्रुतिरिति शेषः ॥ २०२ ॥

इति न्यायेन सर्वस्माद्भोग्यजाताद्विरक्तधीः ।
उपसंहृत्य तां प्रीतिं भोक्तर्येनं बुभुत्सते ।। २०४ ।।
स्रक्चन्दनवधूवस्त्रसुवर्णादिषु पामरः ।
अप्रमत्तो यथा तद्वन्न प्रमाद्यति भोक्तरि ।। २०५ ।।

प्रार्थनापुरःसरं पुराणवचनमुदाहरति—**या प्रीतिरिति** । अविवेकिनामात्मज्ञानशून्यानां विषयेष्वनपायिनी दृढा या प्रीतिरस्ति, हे माप लक्ष्मीपते ! सा प्रीतिस्त्वामनुस्मरतस्त्वां सदा चिन्तयतो मे हृदयान्मनसः सर्पतु अपगच्छतु, मम मनो विषयेष्वासक्तिं परित्यज्य त्वय्येव सदा तिष्ठत्वित्यर्थः । यद्वा,—अविवेकिनां विषयेषु दृढा या यादृशी प्रीतिरस्ति सा तादृशी विषयेषु विद्यमाना प्रीतिः त्वामनुस्मरतो मे हृदयान्मा अपसर्पतु मा अपगच्छतु, सदा तिष्ठत्वित्यर्थः ।। २०३ ।।

भवत्वेवं पुराणे, श्रुतौ किमायातमित्यत आह—**इति न्यायेनेति** । इत्यनेन पुराणोक्तन्यायेन सर्वस्माद्भोग्यजातात्पतिजायादिलक्षणात् विरक्तधीः विरक्ता धीर्यस्यासौ विरक्तधीः पुरुषः तां भोग्यगोचरां प्रीतिं भोक्तर्यात्मन्युपसंहृत्य एनमात्मानं बुभुत्सते बोद्धुमिच्छति ।। २०४ ।।

एवमात्मन्येव प्रेमोपसंहारे फलितं सदृष्टान्तमाह—**स्रक्चन्दनेति** । पामरः पृथग्जनः स्रगादिविषये यथाऽप्रमत्तः सावधानो भवति, एवं मुमुक्षुरप्यात्मविषये न प्रमाद्यत्यनवधानं न करोति, किन्तु तच्चिन्तयैव तिष्ठतीत्यर्थः ।। २०५ ।।

तदुपबृंहणाय पुराणमप्याह—**येति** । हे माप लक्ष्मीपते । अविवेकानामज्ञानां या विषयेष्विष्टशब्दादिष्वनपायिन्यखण्डिता प्रीतिरस्ति । सा तत्सजातीया विषयप्रीतिर्मे मम त्वां निर्गुणात्मानम् । अनुस्मरतः श्रवणाद्यनुसारेण चिन्तयत एतादृशाद्धृदयान्मनसः । अपसर्पतु गच्छतु निर्विघ्नं ब्रह्मात्मैक्यनिदिध्यासनं भवत्विति यावत् । केचित्तु मापेति सम्बुद्धिमविधायार्थिकीं तां गृहीत्वा । येत्यादि । सा तत्सजातीयाखण्डप्रीतिस्त्वामनुस्मरतो मे हृदयान्माऽपसर्पतु त्वदेकविषयिणी तादृगेव सदाऽस्त्विति वदन्ति ।। २०३ ।।

फलितमाह—**इतीति** । भोक्तरि सामान्यतः सिद्धेऽहंप्रत्ययालम्बने चिदाभासकूटस्थोभयात्मक इत्यर्थः । एनं भोक्तारं बुभुत्सते वास्तविकत्वेन बोद्धुमिच्छतीति यावत् ।। २०४ ।।

ननु भोग्येभ्यः सकाशाद्भोक्तर्युपसंहृतायाः प्रीतेः किं स्वरूपमत आह—**स्रगिति** । न प्रमाद्यति तदेकविषयकचिन्तयाऽनवरतं सावधानो भवतीत्यर्थः ।। २०५ ।।

काव्यनाटकतर्कादिमभ्यस्यति निरन्तरम् ।
विजिगीषुर्यथा तद्वन्मुमुक्षुः स्वं विचारयेत् ॥ २०६ ॥
जपयागोपासनादि कुरुते श्रद्धया यथा ।
स्वर्गादिवाञ्छया तद्वच्छ्रद्दध्यात्स्वे मुमुक्षया ॥ २०७ ॥
चित्तैकाग्र्यं यथा योगी महायासेन साधयेत् ।
अणिमादिप्रेप्सयैवं विविच्यात्स्वं मुमुक्षया ॥ २०८ ॥
कौशलानि विवर्धन्ते तेषामभ्यासपाटवात् ।
यथा तद्वद्विवेकोऽस्याप्यभ्यासाद्विशदायते ॥ २०९ ॥

अनवधानाभावमेव बहुभिर्दृष्टान्तैः स्पष्टयति—**काव्येति** । यथा विजिगीषुः प्रतिवादिजयकाम इह लोके प्रधानः पुरुषो निरन्तरं काव्यादीनभ्यस्यति, एवं मुमुक्षुरपि सदा स्वात्मानं विचारयेत् ॥ २०६ ॥

जपेति । यथा वैदिकश्च स्वर्गाद्यर्थी तत्तत्साधनानि जपादीनि श्रद्धापुरःसरमनुतिष्ठति तथा मुमुक्षुरपि मोक्षेच्छया स्वे श्रौते आत्मनि विश्वासं कुर्यात् ॥ २०७ ॥

चित्तैकाग्र्यमिति । योगी योगाभ्यासवानणिमाद्यैश्वर्यलाभेच्छया महायासेन चित्तैकाग्र्यं यथा सम्पादयेत्तद्वदयमप्यात्मानं सदा विविच्यात्, देहादिभ्यो विविच्य जानीयादित्यर्थः ॥ २०८ ॥

नन्वेवमेतेषां सदाऽभ्यासेन किं फलमित्यत आह—**कौशलानीति** । यथा तेषां काव्याद्यभ्यासवतां अभ्यासपाटवेन तस्मिन् तस्मिन्विषये कौशलानि

तत्प्रकारमेव दृष्टान्तैर्विस्पष्टीकृत्य प्रागुक्तब्रह्माभ्यासवदिदानीमात्माभ्यासरूपं तद्विचारं विधत्ते – **काव्येत्यादित्रिभिः** । आदिना सांख्यादि । स्वमात्मानमात्मन आकाशः सम्भूत इत्यादिश्रुतिप्रसिद्धमित्यर्थः ॥ २०६ ॥

जपेति । जपो गायत्र्यादिमंत्राणां प्रसिद्ध एव । यागश्चातुर्मास्यादिः । उपासना सन्ध्यावन्दनादिलक्षणं ध्यानम् । आदिना सत्रादि । **स्वर्गादीति** । कर्मणा पितृलोक इति तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेनेत्यादि च श्रुतिभ्यां पितृलोकचित्तशुद्धयादीच्छयेति यावत् । स्वेऽद्वैतात्मनि विषय इत्यर्थः ॥ २०७ ॥

चित्तैकाग्र्यमिति । स्वं साक्षित्वोपलक्षितं कूटस्थाख्यं शोधिततत्वंपदार्थमित्यर्थः । अत्र काव्येत्यादिदृष्टांतत्रयेण क्रमाद्वाचिककायिकमानसिकाखिलव्यापारान्विहायाद्वैतात्ममात्रनिरतेन तत्त्वज्ञानदार्ढ्यार्थं मुमुक्षुणा भाव्यमिति द्योत्यते ॥ २०८ ॥

विविञ्चता भोक्तृतत्त्वं जाग्रदादिष्वसङ्गता ।
अन्वयव्यतिरेकाभ्यां साक्षिण्यध्यवसीयते ।। २१० ।।
यत्र यद्दृश्यते द्रष्ट्रा जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिषु ।
तत्रैव तन्नेतरत्रेत्यनुभूतिर्हि संमता ।। २११ ।।

विवर्धन्ते, एवमस्यापि मुमुक्षोरभ्यासाद्विवेको देहादिभ्य आत्मनो भेदज्ञानं विशदायते स्पष्टं भवति ।। २०९ ।।

विवेकवैशद्यस्य फलमाह—**विविञ्चतेति** । अन्वयव्यतिरेकाभ्यां भोक्तृतत्त्वं भोक्तुः पारमार्थिकस्वरूपं विविञ्चता भोगेभ्यो जडजातेभ्यो भेदेन जानता पुरुषेण जाग्रदादिषु जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिष्ववस्थासु साक्षिण्यसङ्गताऽध्यवसीयते, निश्चीयत इत्यर्थः ।। २१० ।।

अन्वयव्यतिरेकौ दर्शयति—**यत्रेति** । जाग्रदादिषु मध्ये यत्र यस्मिन्स्थाने जाग्रति स्वप्ने सुषुप्तौ वा यत् स्थूलं सूक्ष्ममानन्दश्चेति त्रिविधं भोग्यं द्रष्ट्रा साक्षिणा दृश्यते अनुभूयते तत् दृश्यं तत्रैव तस्यामेवावस्थायां तिष्ठति, इतरत्र न इतरस्यामवस्थायां नास्ति; द्रष्टा तु सर्वत्रानुगततया वर्तत इत्यनुभवः सर्वसम्मतः, हि प्रसिद्धमेतदित्यर्थः ।। २११ ।।

एवं च तत्त्वविद्यादृढत्वं कथं स्यादित्याशङ्क्य तन्निदर्शनेनैव समाधत्ते—**कौशलानीति** । तेषामुक्तविजिगीषुप्रभृतीनां पुरुषाणामित्यर्थः । विशदायते कालत्रयेऽपि द्वैतसत्यत्वाद्यध्यासेन नीलिम्ना नभ इव नैव मलिनीभवतीत्येतत् ॥ २०९ ॥

ननु निरुक्तविवेकाभ्यासेन द्वैताध्यासाभावः कथं परिपक्वत्वेन परिचेय इत्यत्राऽऽह—**विविञ्चतेति** । जाग्रदादिषु जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिमूर्छामरणसमाधिष्वित्यर्थः । उपलक्षणमिदं सृष्टिस्थितिप्रलयानामपि ॥ २१० ॥

ननु कीदृशावन्वयव्यतिरेकौ साक्षिण्यसङ्गतासाधकावित्याशङ्कायां स्वानुभूतिसिद्धावन्वयव्यतिरेकौ निर्वक्ति—**यत्रेति** । द्रष्ट्रा साक्षिणा । **जाग्रदित्यादि** । जाग्रदाद्यवस्थात्रयमध्य इत्यर्थः । यत्र यस्मिञ्जाग्रल्लक्षणे वा स्वप्नलक्षणे वा सुषुप्तिलक्षणे वा अवस्थाविशेष इत्यार्थिकम् । दृश्यते भास्यते स्थूलदेहघटपटादिकमक्ष्यादीन्द्रियद्वारा साक्षात्तु स्वप्नादौ विषयी क्रियत इति यावत् । तत्तत्रैव जाग्रत्यनुभूतं स्थूलदेहघटपटादिकं जाग्रत्येव वर्तते न तु स्वप्नादौ । एवं स्वप्नाद्यनुभूतं स्थूलेतरप्रपञ्चकारणाज्ञानादिकम् । तत्तत्रैव स्वप्नादावेव न तु जाग्रत्यस्तीत्यनुभूतिः । हीति प्रसिद्धौ संमता सर्वमान्या भवतीति योजना । एवं च द्रष्टुः साक्षिणः सर्वावस्थ...प्यनुस्यूतत्वेनानुवृत्तिशब्दवाच्यो-

स यत्तत्रेक्षते किञ्चित्तेनानन्वागतो भवेत् ।
दृष्टैव पुण्यं पापं चेत्येवं श्रुतिषु डिण्डिमः ।। २१२ ।।
जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्यादिप्रपञ्चं यत्प्रकाशते ।
तद्ब्रह्माहमिति ज्ञात्वा सर्वबन्धैः प्रमुच्यते ।। २१३ ।।

न केवलमनुभवः, आगमोऽपीत्यभिप्रायेण 'स यत्तत्र किञ्चित्पश्यत्यनन्वागतस्तेन भवत्यसङ्गो ह्ययं पुरुषः' (बृ० ४।३।१५) 'स वा एष एतस्मिन् संप्रसादे रत्वा चरित्वा दृष्ट्वैव पुण्यं च पापं च पुनः प्रतिन्यायं प्रतियोन्याद्रवति' (बृ० ३।४।१५) इत्यादिवाक्यद्वयमर्थतः पठति—**स यदिति** । स आत्मा तत्र तस्यामवस्थायां यत्किञ्चिद्भोग्यमीक्षते पश्यति तेन दृश्येनानन्वागतो भवेदनुसृत्य गतो न भवेत्, किन्तु स्वयमेवावस्थान्तरं गच्छतीत्यर्थः । पुण्यं पुण्यफलं सुखम्, पापं तत्फलं दुःखं च दृष्ट्वैव, अनादायैवेत्यर्थः ।। २१२ ।।

भोक्तृतत्त्वविवेचनपराणि श्रुत्यन्तराणि दर्शयति—**जाग्रदिति** । यत्सत्यज्ञानानन्दलक्षणं ब्रह्म साक्षिरूपेणावस्थितं तज्जाग्रदादिप्रपञ्चं प्रकाशते

ऽन्वयः । जाग्रदाद्यवच्छेदेन दृश्यस्य सावच्छेदकस्थूलादेस्तत्तदितरावस्थासु तत्तदवस्थाख्यावच्छेदकविशिष्टस्यापि दृश्यस्याभावेन व्यावृत्तिशब्दितो व्यतिरेकः स्फुटित इत्याशयः । ननु यत्सत्त्वे यत्सत्त्वमन्वयः । यदभावे यदभावो व्यतिरेक इति तार्किकादिसम्मतो तन्त्वादिसत्त्वे पटादिसत्त्वं तन्त्वाद्यभावे पटाद्यभाव इत्याद्यखिलोदाहरणेष्वनुभूतान्वयव्यतिरेकौ प्रकृते कुतो नोक्ताविति चेन्न । तयोरप्याचार्यैः साक्षित्वोपलक्षितस्याऽऽत्मनः कालत्रयेऽप्यसङ्गत्वसिध्यर्थमत्रैव सूचितत्वेऽपि त्वयैव तत्तात्पर्यानाकलनात् । तथाहि । जाग्रदादितत्तदवस्थावच्छेदेन सावच्छेदकस्थूलदेहादिदृश्यसत्त्व एवाद्वैतात्मनि 'साक्षाद्द्रष्टरि संज्ञायाम्' इति पाणिन्यनुशासनात्तद्द्रष्टृत्वलक्षणसाक्षित्वसत्त्वमित्यन्वयस्तस्य बोधबाधेनाभावे तु निरुक्तलक्षणसाक्षित्वाभाव इति व्यतिरेकोऽपीति संक्षेपः ॥ २११ ॥

उक्तेऽर्थे श्रुतीरपि प्रमाणयन्नादौ बृहदारण्यकगं स यत्तत्र किञ्चित्पश्यत्यनन्वागतस्तेन भवति असङ्गो ह्ययं पुरुष इति । स वा एष एतस्मिन्त्सम्प्रसादे रत्वा चरित्वा दृष्ट्वैव पुण्यं च पापं च पुनः प्रति योन्याद्रवति इति च वचनद्वयमर्थतः पठति—**स यदिति** । स चिदाभासः कूटस्थ आत्मा । तत्र स्वप्नावस्थायाम् । यत्किञ्चिदीक्षते स्वाप्नं भोग्यं पश्यति तेनानन्वागतो भवेत्सम्बद्धो नैव भवति । पुण्यं तत्फलं सुखम् । पापं तत्फलं दुःखम् । शिष्टं तु स्पष्टमेव ॥ २१२ ॥

एक एवात्मा मन्तव्यो जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिषु ।
स्थानत्रयव्यतीतस्य पुनर्जन्म न विद्यते ।। २१४ ।।
त्रिषु धामसु यद्भोग्यं भोक्ता भोगश्च यद्भवेत् ।
तेभ्यो विलक्षणः साक्षी चिन्मात्रोऽहं सदाशिवः ।। २१५ ।।

प्रकाशयति तद्ब्रह्माहमस्मि न बुद्धिचिदाभासाद्यहमस्मीति ज्ञात्वा श्रुत्यनुभवाभ्यां निश्चित्य, सर्वबन्धैः प्रमातृत्वकर्तृत्वादिभिः प्रमुच्यते प्रकर्षेण सर्वात्मना मुच्यते ।। २१३ ।।

एक इति । जाग्रदादिष्ववस्थासु एक एवात्मा मन्तव्यः । एवं विवेकज्ञानेन स्थानत्रयव्यतीतस्य अवस्थात्रयाद्विविक्तस्यात्मनः पुनर्जन्म न विद्यते, एतच्छरीरपातानन्तरं शरीरान्तरप्राप्तिर्नास्तीत्यर्थः ।। २१४ ।।

त्रिष्विति । त्रिषु धामसु त्रिष्ववस्थानेषु यद्भोग्यं स्थूलप्रविविक्तानन्दस्वरूपं यश्च भोक्ता विश्वतैजसप्राज्ञरूपो यश्च भोगस्तदनुभवरूपश्चेति ये विद्यन्ते तेभ्यः स्थानादिभ्यो विलक्षणो यश्चिन्मात्ररूपः साक्षी सदाशिवः निरतिशयानन्दरूपत्वेन सर्वदा शोभमानः परमात्माऽस्ति सोऽहमस्मीत्यर्थः ।। २१५ ।।

एवमाथर्वणिककैवल्योपनिषच्छ्रुतिमपि पठति—**जाग्रदिति** । आदिना समाधिः । अपरं तु सरलमेव ।। २१३ ।।

तद्वदाथर्वणीयामृतबिन्दूपनिषन्मन्त्रमपि संगृह्णाति—**एक एवेति** । इदं तु निगदव्याख्यातमेवास्ति वाक्यम् ।। २१४ ।।

पुनरपि कैवल्यवाक्यमेव लिखति—**त्रिष्विति** । धामसु जाग्रदाद्यवस्थावच्छिन्नस्थूलदेहादिगृहेष्वित्यर्थः । अपरं त्वतिरोहितार्थकमेव । यद्यप्यत्र जाग्रदाद्यवस्थात्रयेऽपि सामान्यतः कण्ठत एव भोक्तृभोग्यभोगाख्यत्रिपुट्युक्तेः "सुषुप्तिकाले सकले विलीने तमोऽभिभूतः सुखरूपमेति । पुनश्च जन्मान्तरकर्मयोगात्स एव जीवः स्वपिति प्रबुद्धः" इति पूर्वमन्त्रपठितसकलत्रिपुट्यात्मकप्रपञ्चविलयो विरुद्धः प्रतीयते तथाऽप्यसौ सुखमहमस्वाप्सं दुःखमहमस्वाप्सं गाढमूढोऽहमस्वाप्समिति तदुत्थितपरामर्शात्सिद्धान्तबिन्द्वादिप्रसिद्धसात्त्विकादिसुषुप्तिभेदेन तत्त्रैविध्यात्तामसतद्भेदाभिप्रायेव पूर्वश्रुतिः सकलविलयवादिनी सात्त्विकादितद्भेदद्वयाङ्गीकृतसुखाद्यभिप्रायिकेव सामान्यतोऽवस्थात्रयेऽपि त्रिपुटीसत्त्ववादिनो सेति तत्परिहारो ध्येयो धीरैः । विस्तरस्तु मामकप्रारब्धध्वान्तसंहृतावेव बोध्य इति दिक् ।। २१५ ।।

एवं विवेचिते तत्त्वे विज्ञानमयशब्दितः ।
चिदाभासो विकारी यो भोक्तृत्वं तस्य शिष्यते ।। २१६ ।।
मायिकोऽयं चिदाभासः श्रुतेरनुभवादपि ।
इन्द्रजालं जगत्प्रोक्तं तदन्तःपात्ययं यतः ।। २१७ ।।
विलयोऽप्यस्य सुप्त्यादौ साक्षिणा ह्यनुभूयते ।
एतादृशं स्वस्वभावं विविनक्ति पुनः पुनः ।। २१८ ।।

एवं विवेकेनात्मतत्त्वेऽसङ्गे निश्चिते सति भोक्तृत्वं कस्येत्यत आह—**एवमिति ।** यो 'विज्ञान'शब्देन अभिधीयमानश्चिदाभासस्तस्य विकारित्वाद्भोक्तृत्वमित्यर्थः ।। २१६ ।।

ननु चिदाभासस्य भोक्तृत्वाङ्गीकारे 'कस्य कामाय' (बृ० ४।४।१२) इति वचो भोक्त्रभावविवक्षयेति पूर्वोक्तं व्याहन्येतेत्याशङ्क्य, तस्य वचनस्य पारमार्थिकभोक्त्रभावपरत्वमभिप्रेत्य भोक्तुश्चिदाभासस्य मिथ्यात्वं साधयति—**मायिक इति ।** अयं चिदाभासो मायिको मृषात्मकः श्रुतेः 'जीवेशावाभासेन करोति' (नृ० उ० ता० ९) इति श्रुतेः, अनुभवादपि द्रष्ट्रादित्रितयमध्यवर्तित्वेन अनुभूयमानत्वादपीत्यर्थः । तदेवोपपादयति—**इन्द्रजालमिति ।** इन्द्रजालवन्मिथ्याभूते जगत्यन्तर्भूतत्वादस्यापि मिथ्यात्वं तद्वदनुभूयते, विद्वद्भिरिति शेषः । यस्माज्जगदन्तःपाती इत्यतो मृषेति योजना ।।२१७।।

अस्य जगत इव विनाशित्वानुभवादपि मृषात्वमित्याह—**विलयोऽपीति ।** मूर्च्छादिरादिशब्दार्थः । भवतु मृषात्वं, ततः किमित्यत आह--**एतादृशमिति ।** यदा कूटस्थाद्विवेचितश्चिदाभासो मायिको ज्ञातस्तदा स्वस्वभावं स्वतत्त्वमेतादृशं मृषात्मकं पुनः पुनः विविनक्ति कूटस्थाद्विविच्य जानाति ।। २१८ ।।

एतद्विवेचनफलमाह—**एवमिति** ।। २१६ ।।

ननु किमसौ सत्योऽस्ति नेत्याह—**मायिक इति ।** जीवेशावाभासेन करोतीति श्रुतेर्ब्रह्मविदनुभूतेश्चेत्यर्थः । **इन्द्रजालमिति । इन्द्रजालमिव ।** मायामयमिति श्रुतेः ।।२१७।।

चिदाभासस्य मायिकत्वे हेत्वन्तरमपि द्योतयति—**विलयोऽपीति ।** आदिना मूर्छादि । ननु कूटस्थस्यासङ्गत्वादुक्तविवेकोऽपि चिदाभासकर्तृक एवेति तथा च किमस्य तत्फलमित्यत्राऽऽह—**एतादृशमित्यादि ।** अयं चिदाभास इत्यार्थिकम् । एतादृशं प्रागुक्तमायिकत्वादिलक्षणम् । स्वस्वभावं विविनक्ति चेत् ।। २१८ ।।

विविच्य नाशं निश्चित्य पुनर्भोगं न वाञ्छति ।
मुमूर्षुः शायितो भूमौ विवाहं कोऽभिवाञ्छति ।। २१९ ।।
जिह्रेति व्यवहर्तुं च भोक्ताऽहमिति पूर्ववत् ।
छिन्ननास इव ह्रीतः क्लिश्यन्नारब्धमश्नुते ।। २२० ।।
यदा स्वस्यापि भोक्तृत्वं मन्तुं जिह्रेत्ययं तदा ।
साक्षिण्यारोपयेदेतदिति कैव कथा वृथा ।। २२१ ।।
इत्यभिप्रेत्य भोक्तारमाक्षिपत्यविशङ्कया ।
कस्य कामायेति ततः शरीरानुज्वरो न हि ।। २२२ ।।

ततोऽपि किमित्यत आह—**विविच्येति** । स्वविनाशनिश्चये भोगेच्छाऽभावे दृष्टान्तमाह—**मुमूर्षुरिति** ।। २१९ ।।

किञ्च पूर्ववदहं भोक्तेति व्यवहर्तुमपि लज्जत इत्याह—**जिह्रेतीति** । तर्हि ज्ञानोत्पत्त्यनन्तरं प्रारब्धावसानपर्यन्तं कथं व्यवहरतीत्यत आह—**छिन्नेति** । ह्रीतो लज्जितः क्लिश्यन् 'नेदानीमपि कर्म क्षीयते' इति क्लेशमनुभवन् प्रारब्धमश्नुते, प्रारब्धकर्मफलं भुङ्क्ते इत्यर्थः ।। २२० ।।

इदानीं ज्ञानानन्तरं साक्षिणो भोक्तृत्वाभावः कैमुतिकन्यायसिद्ध इत्याह—**यदेति** । अयं चिदाभासः स्वस्यापि भोक्तृत्वं मन्तुं 'अहं भोक्ता' इति ज्ञातुं जिह्रेति विलज्जते यदा तदा, एतत्स्वगतं भोक्तृत्वं साक्षिण्यसङ्गे आरोपयेदिति वृथाऽर्थशून्या कथा कैव ? न कापीत्यर्थः ।। २२१ ।।

उक्तमर्थं श्रुत्यारूढं करोति—**इतीति** । 'कस्य कामाय' (बृ० ४।४।१२) इति श्रुतिरित्यर्थः । कूटस्थस्य चिदाभासस्य वा पारमार्थिकभोक्तृत्वाभाव-

तर्हि नाशमपि सुषुप्त्यादौ साक्ष्यनुभूतं स्वविलयमपि विविच्य निश्चित्य विवेकपूर्वकमेव निर्णीयेत्यर्थः । पुनरनन्तरम् । भोगस्रगाद्यनुभवं वाञ्छतीत्युत्तरेणान्वयः । तत्रार्थान्तरन्यासमाह—**मुमूर्षुरित्यर्धेन** ॥ २१९ ॥

नन्वथापि प्रारब्धकर्मफलभोगस्त्वस्य वाच्यः स कथमुपपद्यत इत्यत आह—**जिहेतीति** । पूर्ववत्साक्षिणः सकाशात्स्वाविवेककाल इवाहं भोक्तेति व्यवहर्तुमपि जिह्रेति लज्जत इति सम्बन्धः । अत एव । **छिन्नेति** । ह्रीतः लज्जितः । अत एव । क्लिश्यन्दुःखित एव सन्नित्यर्थः । आरब्धं प्रारब्धाप्तवनितादिसुखोपभोगमपीति यावत् । अश्नुते भुङ्क्त इति योजना ॥ २२० ॥

एतेन कूटस्थे प्राग्वद्भोक्तृत्वं नैवाऽऽरोपयतीति कैमुत्यसिद्धमेवेत्याह—**यदेति** ॥२२१॥

स्थूलं सूक्ष्मं कारणं च शरीरं त्रिविधं स्मृतम् ।
अवश्यं त्रिविधोऽस्त्येव तत्र तत्रोचितो ज्वरः ॥ २२३ ॥
वातपित्तश्लेष्मजन्यव्याधयः कोटिशस्तनौ ।
दुर्गन्धित्वकुरूपत्वदाहभङ्गादयस्तथा ॥ २२४ ॥
कामक्रोधादयः शान्तिदान्त्याद्या लिङ्गदेहगाः ।
ज्वरा द्वयेऽपि बाधन्ते प्राप्त्याऽप्राप्त्या नरं क्रमात् ॥ २२५ ॥
स्वं परं च न वेत्त्यात्मा विनष्ट इव कारणे ।
आगामिदुःखबीजं चेत्येतदिन्द्रेण दर्शितम् ॥ २२६ ॥

मभिप्रेत्य अविशङ्कया शङ्काराहित्येन भोक्तारमाक्षिपति निराकरोति । भवत्येवं भोक्त्राक्षेपः, ततः किमित्यत आह—तत इति । न हि ज्वरो ज्वरणं संतापः ॥ २२२ ॥

तत्त्वविदः शरीरानुज्वराभावं दर्शयितुं शरीरभेदं तत्र तत्र ज्वरसद्भावं च दर्शयति—**स्थूलमिति** ॥ २२३ ॥

तत्र स्थूलशरीरे ज्वरांस्तावदाह—**वातेति** ॥ २२४ ॥

सूक्ष्मशरीरे ज्वरान्दर्शयति—**कामेति** । कामशान्त्यादीनां च ज्वरत्वमुपपादयति—**द्वयेऽपीति** । द्वयेऽपि द्विविधा अपि क्रमेण प्राप्त्यप्राप्तिभ्यां नरं बाधन्ते, अतो ज्वरसाम्याज्ज्वरा इत्युच्यन्त इत्यर्थः ॥ २२५ ॥

कारणशरीरगतो ज्वरः छान्दोग्यश्रुतावुक्त इत्याह—**स्वं परमिति** । 'नाह खल्वयमेवं संप्रत्यात्मानं जानात्ययमहमस्मीति नो एवेमानि भूतानि विनाशमेवापीतो भवति नाहमत्र भोग्यं पश्यामि' (छा० ८।११।१-२) इति वाक्येन स्वपरज्ञानशून्यत्वमज्ञानेन नष्टप्रायत्वं परेद्युरागामिदुःखबीजं च इन्द्रेण शिष्येण गुरोः प्रजापतेः पुरतो निवेदितमित्यर्थः ॥ २२६ ॥

ततः किं प्रकृतश्रुतिविवृतावित्यत्राऽऽह—**इतीति** । श्रुतिवाक्यमिति शेषः । फलितमाह—**तत इत्यादिना** ॥ २२२ ॥

शरीरानुज्वरविरहप्रकारमेव विस्तारयति—**स्थूलमित्यादि पञ्चभिः** । शीर्यत इति व्युत्पत्तेस्त्रिष्वपि साधारण्यात्त्रिप्रकारमित्यर्थः ॥ २२३ ॥

वातेति । श्लेष्मा कफः । भङ्गोऽवयवच्छेदस्तद्भेदो वा ॥ २२४ ॥

कामेति । द्वयेऽपि द्विविधाऽपीति प्राञ्चः । अत्र तयपोऽयचि स्थानिवद्भावेन तयबन्तत्वात्सर्वनामसंज्ञेति द्वय इति साधु ॥ २२५ ॥

एते ज्वराः शरीरेषु त्रिषु स्वाभाविका मताः ।
वियोगे तु ज्वरैस्तानि शरीराण्येव नासते ।। २२७ ।।
तन्तोर्वियुज्येत पटो बालेभ्यः कम्बलो यथा ।
मृदो घटस्तथा देहो ज्वरेभ्योऽपीति दृश्यताम् ।। २२८ ।।
चिदाभासे स्वतः कोऽपि ज्वरो नास्ति यतश्चितः ।
प्रकाशैकस्वभावत्वमेव दृष्टं न चेतरत् ।। २२९ ।।
चिदाभासेऽप्यसंभाव्या ज्वराः साक्षिणि का कथा ।
एवमप्येकतां मेने चिदाभासो ह्यविद्यया ।। २३० ।।

एवं त्रिष्वपि देहेषु ज्वरानभिधाय, तेषामपरिहार्यत्वमाह—एत इति । त्रिष्वपि शरीरेषु प्रतीयमाना एते ज्वराः शरीरैः सहोत्पन्नत्वेन स्वाभाविकाः सम्मताः । स्वाभाविकत्वं व्यतिरेकमुखेन द्रढयति—**वियोगे त्विति** । यतः कारणादेभिर्ज्वरैस्तेषां शरीराणां वियोगे सति तानि शरीराणि नासते एव नैव भवन्ति, अतः स्वाभाविका इत्यर्थः ।। २२७ ।।

तत्र दृष्टान्तमाह—**तन्तोरिति** ।। २२८ ।।

इदानीं कूटस्थे ज्वराभावं कैमुतिकन्यायेन दिदर्शयिषुश्चिदाभासे तावत् ज्वराभावं दर्शयति—**चिदाभास इति** । चिदाभासे स्वतः शरीरत्रयगतज्वर-सम्बन्धमन्तरेण न कोऽपि ज्वरो विद्यते । कुत इत्यत आह—**यत इति** । चितः प्रकाशैकस्वभावस्य विद्वदनुभवसिद्धत्वात्प्रतिबिम्बस्य चिदाभासस्य तथात्वमेष्टव्यमिति भावः ।। २२९ ।।

यदर्थं चिदाभासे ज्वराभाव उपपादितस्तदिदानीं दर्शयति—**चिदा-**

स्वं परं चेति । इन्द्रेणेति कारणज्वरप्रमाणदर्शनार्थमेव । तथाचाऽऽम्नायते छान्दोग्याष्टमे—नाह खल्वयमेवं सम्प्रत्यात्मानं जानात्ययमहमस्मीति नो एवेमानि भूतानि विनाशमेवापीतो भवति । नाहमत्र भोग्यं पश्यामीत्यादि । दर्शितमुक्तम् ॥२२६॥

ननु यद्येवं त्रिष्वपि शरीरेषु ज्वराश्चेत्ते तत्तदुपायैः प्रशमनीया एवेत्यत आह—**एत इति** ॥ २२७ ॥

तत्र दृष्टान्तोपन्यासैः शरीरत्रयस्यापि ज्वरैकोपादानकत्वं साधयति—**तन्तोरिति** । वियुज्येद्वियोगं लभेदित्यर्थः । वियुज्येतेत्यपपाठ एव ॥ २२८ ॥

नन्वेवं चेत्तर्हि दृश्यत्वात्त्रिविधशरीरवच्चिदाभासेऽपि कश्चिज्ज्वरः संभाव्यत एवेत्यत्राऽऽह—**चिदाभास इति** । तत्र हेतुः—**यत इत्यादिना** ॥ २२९ ॥

साक्षिसत्यत्वमध्यस्य स्वेनोपेते वपुस्त्रये ।
तत्सर्वं वास्तवं स्वस्य स्वरूपमिति मन्यते ।। २३१ ।।
एतस्मिन्भ्रान्तिकालेऽयं शरीरेषु ज्वरत्स्वथ ।
स्वयमेव ज्वरामीति मन्यते हि कुटुम्बिवत् ।। २३२ ।।

भासेऽपीति । यदर्थं चिदाभासेऽपि ज्वरा न सम्भाव्यन्ते तदा न साक्षिणि सम्भवन्तीति किमु वक्तव्यमिति भावः । ननु तर्हि 'ज्वरामी'त्यनुभवस्य का गतिरित्यत आह—**एवमप्येकतामिति** ।। २३० ।।

'एकतां मेने' इति संक्षेपेणोक्तमर्थं प्रपञ्चयति—**साक्षीति** । चिदाभासः स्वेन सहिते शरीरत्रये साक्षिगतं सत्यत्वमध्यस्य तत्सर्वं ज्वरवच्छरीरत्रयं स्वस्य वास्तवं रूपमिति मन्यत इत्यर्थः ।। २३१ ।।

एवं भ्रान्तिज्ञाने सति किं भवतीत्याह—**एतस्मिन्निति** । अयं चिदाभासः अस्यां भ्रान्तिवेलायां शरीरनिष्ठं ज्वरं स्वात्मन्यारोपयतीत्यर्थः । तत्र दृष्टान्तमाह—**कुटुम्बिवदिति** ।। २३२ ।।

एवं च साक्षिणि सकलज्वरविरहः कैमुत्यसिद्ध एवेत्याह—**चिदाभासेऽपीति** । नन्वेवं तर्ह्यहं सुखीत्यादिज्वरप्रतीतिः किं निबन्धनेत्याशङ्क्याविवेकमूलिकैवोक्तज्वरप्रतीतिरिति समाधत्ते—**एवमपीति** । अनादिभावरूपयेत्यार्थिकम् । अन्यथाऽनवस्थाव्याघाताद्यापत्तिर्दुरन्तैवेति भावः । तद्यथा । अविद्यायाः कल्पितत्वेन जन्यत्वे त्वविवेकमूलकत्वं तद्वत्तत्राप्यविद्यान्तरैकमूलकत्वमित्यनवस्था । एवं विद्याशब्दितज्ञानाभावो यद्यविद्या तर्हि किमसौ ज्ञानसामान्यप्रतियोगिकः किं वा तद्विशेषप्रतियोगिकः । आद्ये धर्मिप्रतियोगिविषयकज्ञानसत्त्वे तत्सामान्याभावासिद्धिस्तदसत्त्वे चाभावाज्ञाने प्रतियोग्यादिज्ञानस्य हेतुत्वात्तदसिद्धिरिति व्याघातः । अन्त्ये यद्विषयकत्वमज्ञानस्येष्टं तद्विषयकज्ञानमेव प्रतियोगित्वेन विवक्षितो ज्ञानविशेषो वाच्यः । नो चेद्घटविषयकाज्ञाने ह्यभावात्मके पटविषयकज्ञानमपि प्रतियोगि स्यात् । तच्चानुपपन्नं प्रतियोगितदभावयोः सामानाधिकरण्यादर्शनात् । देवदत्ते हि पटज्ञानसमकालमपि घटाज्ञानोपलब्धेः । एवं च प्रतियोगिभूतं यदज्ञानविषयीभूतवस्तुविषयकं ज्ञानं तद्विषयकं ज्ञानं त्वन्मतेऽनुव्यवसायात्मकमेव । तथा च तद्विनाऽभावसिद्धिर्न स्यात्तत्सत्त्वे चार्थात्प्रतियोगिनः सिद्धत्वात्तत्सामानाधिकरण्येन सुतरामज्ञानस्य ज्ञानविशेषाभावरूपस्य नैव सिद्धिरिति तथैव व्याघात इति ।। २३० ।।

एकताप्रकारमेव प्रपञ्चयति—**साक्षीति** ।। २३१ ।।

फलितमाह—**एतस्मिन्निति** । अयं चिदाभासः । **कुटुम्बिवदिति** । एतद्दृष्टान्तेन तद्यथा पुत्रभार्यादिषु विकलेषु सकलेषु वाऽहमेव विकलः सकलो वेति मन्यत इत्यध्यास-

पुत्रदारेषु तप्यत्सु तपामीति वृथा यथा ।
मन्यते पुरुषस्तद्वदाभासोऽप्यभिमन्यते ।। २३३ ।।
विविच्य भ्रान्तिमुज्झित्वा स्वमप्यगणयन् सदा ।
चिन्तयन्साक्षिणं कस्माच्छरीरमनुसंज्वरेत् ।। २३४ ।।
अयथावस्तुसर्पादिज्ञानं हेतुः पलायने ।
रज्जुज्ञानेऽहिधीध्वस्तौ कृतमप्यनुशोचति ।। २३५ ।।
मिथ्याभियोगदोषस्य प्रायश्चित्तप्रसिद्धये ।
क्षमापयन्निवात्मानं साक्षिणं शरणं गतः ।। २३६ ।।

दृष्टान्तं विशदयति—पुत्रदारेष्विति ।। २३३ ।।

एवमविवेकदशायां चिदाभासस्य भ्रान्त्या ज्वरं प्रदर्श्य, विवेकदशायां तदभावं दर्शयति—विविच्येति । चिदाभासः कूटस्थं स्वात्मानं शरीराणि च विविच्य भेदेन ज्ञात्वा तत्सर्वं वास्तवं स्वस्य रूपमिति मन्यत इत्युक्तां भ्रान्ति परित्यज्य, स्वस्याभावरूपत्वज्ञानेन स्वस्मिन्नप्यादरमकुर्वन् स्वस्य निजं रूपं ज्वरादिरहितं साक्षिणं सदा चिन्तयन् कस्मात् शरीरमनुसंज्वरेत् ज्वरवच्छरीरमनुसृत्य स्वयं कस्मात्संज्वरेत् ? न संज्वरेदेवेत्यर्थः ।। २३४ ।।

भ्रान्तिज्ञानतत्त्वज्ञानयोः ज्वरतदभावकारणत्वं दृष्टान्तप्रदर्शनेन स्पष्टयति—अयथेति । रज्ज्वादौ कल्पितस्य सर्पादेः ज्ञानं पलायने कारणं भवति । 'आदि'शब्देन स्थाणौ कल्पितश्चोरो गृह्यते । रज्ज्वादिज्ञानेन सर्पादिबुद्धिनिवृत्तौ तदपि पलायनमनुशोचति, 'वृथा कृतं मया' इत्यनुतप्यत इत्यर्थः ।२३५।

'साक्षिणं सदा चिन्तयन्' (प्र० ७।२३४) इत्युक्तमर्थं दृष्टान्तेन स्पष्टयति—मिथ्येति । यथा लोके मिथ्याभियोगकर्ता तद्दोषस्य प्रायश्चित्तसिद्ध्यर्थं मिथ्याभियुक्तं पुनः पुनः क्षमापयति, एवमयं चिदाभासोऽपि

भाष्योक्तपुत्राद्यध्यासान्तप्रकारोऽपि सूचित इति रहस्यम् ।। २३२ ।।

उक्तदृष्टान्तमेव स्पष्टयति—पुत्रेति । पुत्राश्च दाराश्च तेष्वित्यर्थः ।। २३३ ।।

प्रकृतमाह—विविच्येति । प्रागुक्तरीत्या विवेकं विधायेत्येत्यर्थः । अगणयन्कूटस्थेतरवास्तविकत्वेनेति यावत् । उज्झित्वोज्झ उत्सर्गे इति धातोरुत्सृज्येत्यर्थः ।। २३४ ।।

शरीरत्रयानुज्वराभावे हेतुः—अयथेति । अहीतिच्छेदः ।। २३५ ।।

आवृत्तपापनुत्त्यर्थं स्नानाद्यावर्त्यते यथा ।
आवर्तयन्निव ध्यानं सदा साक्षिपरायणः ।। २३७ ।।

उपस्थकुष्ठिनी वेश्या विलासेषु विलज्जते ।
जानतोऽग्रे तथाभासः स्वप्रख्यातौ विलज्जते ।। २३८ ।।

गृहीतो ब्राह्मणो म्लेच्छैः प्रायश्चित्तं चरन्पुनः ।
म्लेच्छैः संकीर्यते नैव तथा भासः शरीरकैः ।। २३९ ।।

यौवराज्ये स्थितो राजपुत्रः साम्राज्यवाञ्छया ।
राजानुकारी भवति तथा साक्ष्यनुकार्ययम् ।। २४० ।।

साक्षिण्यसङ्गात्मनि भोक्तृत्वाद्यारोपलक्षणमिथ्याभियोगदोषप्रायश्चित्तार्थं साक्षिणमात्मानं क्षमापयन्निव शरणं गतः ।। २३६ ।।

तत्रैव दृष्टान्तान्तरमाह---**आवृत्तेति** । यथा पापकारिणा पुरुषेणावृत्तपापापनुत्त्यर्थं अभ्यस्तपापापनोदाय विहितं स्नानादिकं प्रायश्चित्तमावर्त्यते पुनःपुनरनुष्ठीयते, तथाऽयमपि चिरं साक्षिणि संसारित्वाद्यारोपणदोषपरिहाराय ध्यानं परिवर्तयन्निव सदा साक्षिपरायणो भवति ।। २३७ ।।

एवं साक्षिपरत्वं दृष्टान्तैरुपवर्ण्य, स्वगुणप्रख्याने लज्जालुत्वं सदृष्टान्तमाह---**उपस्थकुष्ठिनीति** ।। २३८ ।।

इदानीं शरीरत्रयाद्विवेचितस्य चिदाभासस्य पुनस्तैः सह तादात्म्यभ्रमाभावे दृष्टान्तमाह--**गृहीत इति** ।। २३९ ।।

न केवलं स्वापराधनिवृत्तये साक्ष्यनुसरणं, किंतु महत्प्रयोजनसिद्ध्यर्थमपीति सिंहावलोकनन्यायेन सदृष्टान्तमाह---**यौवराज्य इति** । राजानुकारी भवति, राजेव प्रजारञ्जनादिगुणवान् भवतीत्यर्थः ।। २४० ।।

अथ किं करोतीत्यत आह--**मिथ्येति** । साक्षिणि मिथ्याभूतदेहत्रयविशिष्टस्वाध्यासपूर्वकमिथ्याकर्तृत्वभोक्तृत्वारोपदोषस्येत्यर्थः । भवन्तीत्यन्ते शेषः ।। २३६ ।।

किमियं शरणागतिः क्षणिकेत्यत्राऽऽह--**आवृत्तेति** ।। २३७ ।।

नन्वत्र ध्यानं किं स्वेन सह साक्षिणि तादात्म्यभावना किं वा प्राङ्निर्णीतस्वादिसकलदृश्यमिथ्यात्वपूर्वंदृङ्मात्रत्वेनापरोक्षतयाऽनुभूताद्वैतब्रह्मानुसंधानमिति चेदन्त्यपक्ष एवेति स दृष्टान्तं स्पष्टयति--**उपस्थेति** । जानतोऽग्र इति पूर्वान्वयि ।। २३८ ।।

चिदाभासकर्तृकस्वप्रख्यात्यभावमेव दृश्यासंकरदृगैक्यसूचकदृष्टान्ताभ्यां स्पष्टयति--**गृहीत इत्यादिद्वाभ्याम्** ।। २३९ ।।

यौवराज्य इति । अयं प्रकृतश्चिदाभासः ।। २४० ।।

यो ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवत्येव इति श्रुतिः ।
श्रुत्वा तदेकचित्तः सन् ब्रह्म वेत्ति न चेतरत् ।। २४१ ।।
देवत्वकामा ह्यग्न्यादौ प्रविशन्ति यथा तथा ।
साक्षित्वेनावशेषाय स्वविनाशं स वाञ्छति ।। २४२ ।।
यावत्स्वदेहदाहं स नरत्वं नैव मुञ्चति ।
यावदारब्धदेहं स्यान्नाभासत्वविमोचनम् ।। २४३ ।।

ननु युवराजस्य राजानुसरणे साम्राज्यफलं दृश्यते, नैवं साक्ष्यनुसरणे; अतस्तदनुसरणे कथं प्रवर्तेत इत्याशङ्क्याह—य इति । 'स यो ह वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति, नास्याऽब्रह्मवित्कुले भवति, तरति शोकं, तरति पाप्मानं, गुहाग्रन्थिभ्यो विमुक्तोऽमृतो भवति' (मु० ३।२।९) इति श्रुतौ ब्रह्मभावादिरूपस्य फलस्य श्रूयमाणत्वात्तत्फलवाञ्छया साक्ष्यनुसरणे प्रवर्तनं युक्तमित्यर्थः ।। २४१ ।।

ननु ब्रह्मज्ञानेन ब्रह्मभावप्राप्तौ चिदाभासत्वमेव विनश्येत्, अतः स्वविनाशाय कथं प्रवर्तेत इत्याशङ्क्याह—देवत्वकामा इति । यथा लोके देवत्वप्राप्तिकामा मनुष्याः भृग्वग्निप्रयागगङ्गाप्रवेशादौ प्रवर्तन्ते, एवं साक्षिरूपेण अवस्थानलक्षणस्य अधिकफलस्य विद्यमानत्वाच्चिदाभासत्वापगमहेतौ ब्रह्मज्ञानेऽपि प्रवृत्तिर्घटत एवेत्यर्थः ।। २४२ ।।

ननु तत्त्वज्ञानेनाभासत्वमपगच्छति चेत्कथं तत्त्वविदां जीवत्वव्यवहार इत्याशङ्क्य, प्रारब्धकर्मक्षयपर्यन्तं तदुपपत्तिं सदृष्टान्तमाह—यावदिति । यथाऽग्न्यादौ प्रविष्टः पुरुषः दाहादिना स्वदेहनाशपर्यन्तं नरत्वं नरव्यवहारयोग्यत्वं नैव मुञ्चति, एवं प्रारब्धकर्मक्षयपर्यन्तं चिदाभासत्वव्यवहारो न निवर्तत इत्यर्थः ।। २४३ ।।

ननु साक्षित्वमपि कल्पितसाक्ष्यप्रयुक्तमत आह—य इति । स यो ह वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवतीति श्रुतिवर्णाः ।। २४१ ।।

नन्वद्वैतब्रह्मभावे स्वनाशस्तत्राऽऽह—देवत्वेति । कुमारिलभट्टाचार्यकृततुषाग्निप्रवेशः शंकरविजये प्रसिद्ध एव ।। २४२ ।।

तत्र यावत्प्रारब्धभोगं चिदाभासध्वंसभावाद्दृष्टांतवैषम्यं प्रत्याचष्टे—यावत्स्वदेहेति । स कृताग्निप्रवेशः पुरुषः ।। २४३ ।।

रज्जुज्ञानेऽपि कम्पादिः शनैरेवोपशाम्यति ।
पुनर्मन्दान्धकारे सा रज्जुः क्षिप्तोरगी भवेत् ।। २४४ ।।
एवमारब्धभोगोऽपि शनैः शाम्यति नो हठात् ।
भोगकाले कदाचित्तु मर्त्योऽहमिति भासते ।। २४५ ।।

ननु भोक्तृत्वादिभ्रमोपादानस्याज्ञानस्य निवृत्तत्वात्कथं पुनर्भोगानुवृत्तिः, कथं वा मर्त्योऽहमिति विपरीतप्रतीतिरित्याशङ्क्य, दृष्टान्तप्रदर्शनेन एतत्संभावयति—**रज्जुज्ञान इति** ।। २४४ ।।

दार्ष्टान्तिके योजयति—**एवमिति** ।। २४५ ।।

ननु शुक्तिरजतादिनिरुपाधिकभ्रमेऽधिष्ठानसाक्षात्कारक्षण एव तद्विषयकज्ञानतत्कार्यध्वंसः समनुभूयते तद्वदधिष्ठानविषयकानाद्यज्ञानमात्रविजृम्भिते द्वैतभ्रमेऽपि तत्साक्षात्कारतुल्यकालमेव तदज्ञानतद्व्याप्यादिध्वंसेन भाव्यं तत्कथं यावदारब्धदेहं यावत्प्रारब्धकर्मप्रयुक्तदेहादिद्वैतप्रतिभासमासत्वविमोचनं चिदाभासत्वप्रध्वंसनं न स्यादित्युच्यत इत्याशङ्क्य निरुपाधिकभ्रम एव दृष्टान्तरे किञ्चित्कालं कायविशेषस्यानुभवसिद्धत्वान्मैवमिति समाधास्यंस्तद्दृष्टान्तमेवाऽऽदो स्पष्टयति—**रज्जुज्ञानेऽपीति** । आदिना भयम् । ननु भवतु कम्पादिशमः शनैः सर्पप्रतीतिस्तु पुनर्नैव संपद्यत इत्यत्राऽऽह—**पुनरिति** ॥ २४४ ॥

ननु किं यस्य सर्पभ्रमोपशमस्तज्ज्ञानेन सम्पन्नस्तेनैव रज्जुर्लीलया मन्दान्धकारे क्षिप्ता सत्युरगी भवेदित्युच्यतेऽन्येन वा । नाऽऽद्यः । अलुप्ततत्प्रमासंस्कारस्य तस्य तत्रोक्तभ्रान्त्यसंभवात् । नान्त्यः । अन्येन मन्दान्धकारे क्षिप्ता सैव रज्जुः कालान्तरे लुप्तरज्जुप्रमासंस्कारमेनं प्रत्येवोरगी मन्दान्धकारान्तरेणावरणाज्जाताऽपि दार्ष्टान्तिके स्वरूपावरकाज्ञानान्तरासम्भवेन वैधर्म्यादित्याशङ्क्य पूर्वपद्यपूर्वोत्तरार्धलिखितदृष्टान्तौ क्रमेण दार्ष्टांतिकयोः प्रकृतपद्यपूर्वोत्तरार्धोक्तयोर्योजयन्समाधत्ते—**एवमिति** । यथा रज्जुज्ञाने सत्यपि कम्पादि शनैरेवोपशाम्यत्येवमारब्धभोगोऽपि शनैरेव शाम्यति । हठात्तत्त्वज्ञानस्य योगादेर्वा बलात्कारात्तत्कालमेव नो शाम्यति नैव विनश्यति । तथा पुनरपि तेनैव दीपादियोगान्मन्दान्धकारनाशे रज्जुप्रमया तदज्ञानविनाशान्नष्टतदुपादानकसर्पभ्रमवताऽपि पुरुषेण सैव रज्जुर्निष्प्रयोजनत्वान्मन्दान्धकारे क्षिप्ता सती कालान्तरवशाल्लुप्ततत्प्रमासंस्कारं तं प्रत्येवोरगीभवेदेवं भोगकाले प्रारब्धकर्मफलमुखाद्यनुभवसमये तु पुनः कदाचिदेव न तु सर्वदा । एवं च प्रायः सर्वदा ब्रह्मैवाहमस्मि मिथ्यैवेदं द्वैतमाकाशकार्ष्ण्यवदित्येवाऽऽत्मविदः स्वानुसन्धानात्प्रतीयते । कदाचित्कस्मिंश्चित्कालेऽहं मर्त्य इति भासत इति सम्बन्धः । यत्तु सिद्धान्ते ह्यज्ञानैक्यादावरकान्तराभावेन प्रध्वस्ताज्ञानानां ब्रह्मविदां पुनर्मन्दान्धकारे क्षिप्ता सती रज्जुर्यथोरगी भवेदेवं भोगकाले कदाचित्तु मर्त्योऽहमिति भासत इति दृष्टान्तवैषम्यमुक्तं तत्सत्यमेव परं त्वस्त्यत्र किञ्चिद्रहस्यम् ।

नैतावताऽपराधेन तत्त्वज्ञानं विनश्यति ।
जीवन्मुक्तिव्रतं नेदं किन्तु वस्तुस्थितिः खलु ।। २४६ ।।

ननु पुनर्मर्त्यत्वबुद्ध्युदये तेन तत्त्वज्ञानं बाध्येतेत्याशङ्क्याह–**नैतावतेति** । कदाचिदहं मर्त्य इत्येवंविधज्ञानोदयमात्रेण आगमप्रमाणजनिततत्त्वज्ञानं न बाध्यते । कुत इत्यत आह–**जीवन्मुक्तीति** । इदं मर्त्यत्वबुद्ध्युपाकरणलक्षणं जीवन्मुक्तिव्रतं नियमनानुष्ठेयं न भवति, किन्तु सम्यग्ज्ञानेन भ्रान्तिज्ञाननिवृत्तिरित्ययं वस्तुस्वभावः; अतः कदाचिन्मर्त्यत्वबुद्ध्युदयेऽपि पुनस्तत्त्वज्ञानान्तरेण तस्या एव बाध्यत्वमिति भावः ।। २४६ ।।

तद्यथा—"जीवन्मुक्तिस्तावदस्ति प्रतीतेर्द्वैतच्छाया तत्र चास्तिप्रतीतेः ।
द्वैतच्छायारक्षणायास्ति लेशस्तस्मिन्नर्थे स्वानुभूतिः प्रमाणम्"।।

इति श्रीमत्सर्वज्ञात्ममुनीश्वरचरणवचनादद्वैतब्रह्मात्मैक्यमात्रविषयकमूलाज्ञानविनाशेऽपि सुषुप्त्याद्यावरणादिप्रयोजकः प्रारब्धकर्मफलोपभोगसिद्ध्यर्थं ब्रह्मास्त्रदग्धपार्थरथन्यायेन सत्यसङ्कल्पसर्वेश्वरस्थापितस्तदीयलेशः प्रोक्तफलोपभोगपरिसमाप्तिपर्यन्तमवश्यं तिष्ठतीत्यङ्गीकार्यमेव । स एव सुषुप्त्याख्यामावृतिं संपाद्य स्वप्नमिव जीवन्मुक्तानां याज्ञवल्क्यादीनामपि तीव्रप्रारब्धभोगकाले "नमो वयं ब्रह्मिष्ठाय कूर्मो गोकामा एव स्मः" इत्यादि व्यवहारमद्वैतब्रह्मविस्मृतिपूर्वकं क्षणमात्रं साधयेदेवेति नैवात्र कोऽपि वैषम्यलेशोऽपि । स च प्रारब्धक्षयक्षणे स्वयमेव विनंक्ष्यतीति । एवमेवोक्तं **मदीयबोधैक्यसिद्धौ**—

"ब्रह्मास्त्रप्रविदग्धफाल्गुनरथः कृष्णस्य यावन्मृधं
वाञ्छाख्यप्रतिबन्धकैकविरहे स्वध्वंसकोऽभूद्यथा ।
ज्ञानेनोद्दलितं तु दृश्यमखिलं प्रारब्धबन्धात्स्फुर-
त्तद्ध्वंसक्षण एव संवितनुते स्वध्वंसमेतत्तथा" इति ।

विस्तरस्तु मदीयायामेवाद्वैतात्मप्रबोधाख्यायामेतद्व्याख्यायामेव द्रष्टव्य इति दिक् ।। २४५ ।।

नन्वेवं भोगकाले कदाचिदद्वैतब्रह्मात्मविस्मृतिपूर्वकं मर्त्योऽहमिति भासते चेत्तत्कालावच्छेदेन कृतस्य सन्ध्यावन्दनादेरनृतवादादेश्च कर्मणः सकाशादीशतोषरोषरूपसमुत्पन्नपुण्यपापाभ्यामस्य पुनः संसारापत्तिस्तथा च तत्त्वज्ञानमस्य संजातमपि मोक्षलक्षणफलनाशद्वारा नष्टमेव स्यात्तत्त्वनिष्ठमेवेत्यत्राऽऽह—**नैतावतेति** । नन्वत्रैवाबाधस्तादुक्तं तत्त्वविस्मृतिमात्रान्नानर्थः किं तु विपर्ययादिति तथा च मर्त्योऽहमिति विपर्यये सति कथं न संसारापत्त्या ज्ञाननाश इति चेन्न । 'विपर्येतुं न कालोऽस्ति झटिति स्मरतः क्वचिदि'त्युदाहृतवाक्यशेषं 'भोगकाले कदाचित्तु मर्त्योऽहमिति भासत' इति प्रकृतवाक्य-

दशमोऽपि शिरस्ताडं रुदन्बुद्ध्वा न रोदिति ।
शिरोव्रणस्तु मासेन शनैः शाम्यति नो तदा ।। २४७ ।।
दशमामृतिलाभेन जातो हर्षो व्रणव्यथाम् ।
तिरोधत्ते मुक्तिलाभस्तथा प्रारब्धदुःखिताम् ।। २४८ ।।
व्रताभावाद्यदाऽध्यासस्तदा भूयो विविच्यताम् ।
रससेवी दिने भुङ्क्ते भूयो भूयो यथा तथा ।। २४९ ।।

भवतु रज्जुसर्पादिस्थले विपरीतज्ञाननिवृत्तावपि तत्कार्यकम्पाद्यनुवृत्तिः, प्रकृतदृष्टान्ते दशमे 'दशमस्त्वमसि' इति वाक्यविचारजन्यज्ञानेन भ्रमनिवृत्तौ तत्कार्यानुवृत्तिर्नोपलभ्यत इत्याशङ्क्याह—**दशमोऽपीति** । 'दशमोऽस्मी'ति ज्ञानोदये सति शिरस्ताडनपूर्वकं रोदनमात्रं निवर्तते, ताडनजन्यव्रणस्तु अनुवर्तत एवेत्यर्थः ।। २४७ ।।

ननु ज्ञानोत्तरकालेऽपि संसारानुवृत्तौ जीवन्मुक्तेः कुतः पुरुषार्थतेत्याशङ्क्य, मुक्तिलाभजन्यहर्षस्य तद्दुःखाच्छादकस्य सत्त्वात्पुरुषार्थतेति दृष्टान्तपूर्वकमाह—**दशमेति** ।। २४८ ।।

'जीवन्मुक्तिव्रतं नेदम्' (प्र० ७।२४६) इत्युक्तं, तत्र व्रतत्वाभावे किमायातमित्यत आह—**व्रताभावादिति** । पुनः पुनर्विचारकरणे दृष्टान्तमाह—**रससेवीति** । यथा रससेवी नरः एकस्मिन्नेव दिने क्षुद्बाधापरिहाराय पुनः पुनर्भुङ्क्ते तद्वदध्यासनिवृत्तये पुनः पुनर्विवेकः क्रियतामित्यर्थः ।। २४९ ।।

गतकदाचित्पदं चाननुसन्धायैवोक्तशङ्कावकाशात् । अत एव **जीवन्मुक्तीति** । **वस्त्वति** । बाधितत्वाबाधितत्वाभ्यां द्वैताद्वैतप्रतीतिलक्षणार्थव्यवस्थेत्यर्थः ।। २४६ ।।

ननु रज्जुसर्पनिदर्शनेऽधिष्ठानज्ञानेन तदज्ञानतदुपादानकभ्रमोपरमेऽपि भयकम्पादितत्कार्यावशेषः किञ्चित्कालमथापि प्रकृते प्रथमतः सप्तावस्थादृष्टान्तत्वेनोररीकृते दशमोदाहरणे किं तदित्यत आह—**दशमोऽपीति** । शिरस्ताडमिति क्रियाविशेषणम् । शिरसस्ताडनं ताडो यथा स्यात्तथाऽहमेव दशमोऽस्मीति अज्ञानजन्यतन्मृतिविभ्रमाद्रुदन् संस्तमेव दशमोऽसीति नवगणनपूर्वकमाप्तवाक्यजन्यज्ञानेनाहमेव दशमोस्मीति बुद्ध्वा यद्यपि नैव रोदिति तथाऽपि शिरोव्रणस्तु मासेन शनैरेव शाम्यति हठादनुतापरूपबलात्कारान्नो नैव शाम्यतीत्यन्वयः ।। २४७ ।।

नन्वेवं यदि ज्ञानोर्ध्वमपि संसारानुवृत्तो तन्नैष्फल्यमेवेति चेज्जीवन्मुक्तिलाभान्मैवमिति सोक्तदृष्टान्तं स्पष्टयति—**दशमामृतीति** ।। २४८ ।।

शमयत्यौषधेनायं दशमः स्वं व्रणं यथा ।
भोगेन शमयित्वैतत्प्रारब्धं मुच्यते तथा ।। २५० ।।
किमिच्छन्निति वाक्योक्तः शोकमोक्ष उदीरितः ।
आभासस्य ह्यवस्थैषा षष्ठी तृप्तिस्तु सप्तमी ।। २५१ ।।
साङ्कुशा विषयैस्तृप्तिरियं तृप्तिर्निरङ्कुशा ।
कृतं कृत्यं प्रापणीयं प्राप्तमित्येव तृप्यति ।। २५२ ।।

ज्ञानेनानिवर्त्यस्य प्रारब्धकर्मफलस्य केन तर्हि निवृत्तिरित्याशङ्क्य, ताडनजन्यव्रणस्य औषधेनेव भोगेनैव निवृत्तिरित्याह—**शमयतीति** ।।२५०।।

अपरोक्षज्ञानशोकनिवृत्त्याख्ये उभे इमे अवस्थे जीवगे ब्रूते 'आत्मानं चेत्' (बृ० ४।४।१२) इति श्रुतिरित्यनेन श्लोकेन । 'आत्मानं चेद्विजानीयादयमस्मीति पूरुषः । किमिच्छन्कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरेत्' (बृ० ४।४।१२) इत्यस्मिन्मन्त्रे परोक्षज्ञानशोकनिवृत्त्याख्ये जीवावस्थे द्वे अभिहिते इत्युक्तम्, इदानीं तदभिधानसूचितां जीवस्य सप्तमीं तृप्तिलक्षणामवस्थां वृत्तानुकीर्तनपूर्वकं वक्तुमारभते—**किमिच्छन्निति** । 'किमिच्छन्' इत्युत्तरार्धेनाभिहितो यः शोकमोक्षः स एतावता ग्रन्थसन्दर्भेणोदीरितोऽभिहितः । एषा 'अज्ञानमावृतिस्तद्वद्विक्षेपश्च परोक्षधीः । अपरोक्षमतिः शोकमोक्षस्तृप्तिर्निरङ्कुशा' (प्र० ७।३३) इत्यनेन श्लोकेनाभिहितासु सप्तसु जीवावस्थासु षष्ठीत्याह—**आभासस्येति** । सप्तमी व्याख्यायत इति शेषः ।। २५१ ।।

अपरोक्षज्ञानजन्यायास्तृप्तेर्निरङ्कुशत्वं प्रतियोगिप्रदर्शनपुरःसरं प्रतिजानीते—**साङ्कुशेति** । विषयलाभजन्यायास्तृप्तेर्विषयान्तरकामनया कुण्ठितत्वात्साङ्कुशत्वं, अस्यास्तु तदभावान्निरङ्कुशत्वम् । तदेव दर्शयति—**कृतमिति** ।। २५२ ।।

नन्वेवमपि प्रागुक्तं जीवन्मुक्तिव्रतं नेदमित्यादिना तस्यास्तावद्व्रतत्वाभावेनासातत्यं तथा च कथं लाभसिद्धिः स्यात् । न हि लब्धं कण्ठचामीकरादिकं भवतीत्यत्राऽऽह—**व्रताभावादिति** । रसः प्रेमा ॥ २४९ ॥

एवं ज्ञानेनाप्यनिवृत्तं प्रारब्धं कदा निवर्तेतेत्यत्राऽऽह—**शमयतीति** ॥ २५० ॥

एवमुक्तं शास्त्रार्थं प्रतिज्ञातमन्त्रव्याख्याने नियोज्य निगमयति—**किमिच्छन्नितीति** । एषा शोकमोक्षाख्या ॥ २५१ ॥

ऐहिकामुष्मिकव्रातसिद्ध्यै मुक्तेश्च सिद्धये ।
बहु कृत्यं पुराऽस्याभूत्तत्सर्वमधुना कृतम् ।। २५३ ।।
तदेतत्कृतकृत्यत्वं प्रतियोगिपुरःसरम् ।
अनुसंदधदेवायमेवं तृप्यति नित्यशः ।। २५४ ।।
दुःखिनोऽज्ञाः संसरन्तु कामं पुत्राद्यपेक्षया ।
परमानन्दपूर्णोऽहं संसरामि किमिच्छया ।। २५५ ।।

कृतकृत्यत्वमेवोपपादयति—**ऐहिकेति** । अस्य विदुषस्तत्त्वज्ञानोदयात् पूर्वमिह लोके इष्टप्राप्तये अनिष्टनिवृत्तये च कृषिवाणिज्यादिकं स्वर्गादिसिद्धये यागोपासनादिकं, मोक्षसाधनज्ञानसिद्धये श्रवणादिकं चेति बहुविधं कर्तव्यमासीत् । इदानीं तु सांसारिकफलेच्छाभावाद्ब्रह्मानन्दसाक्षात्कारस्य सिद्धत्वाच्च तत्सर्वं कृषियागश्रवणादिकं कृतं कृतप्रायमभूत्, अतःपरमनुष्ठेयत्वाभावादित्यर्थः ।। २५३ ।।

एवं कृतकृत्यत्वमुपपाद्य, तत्फलभूतां तृप्तिं दर्शयति—**तदेतदिति** । प्रतियोगिपुरःसरं प्रतियोग्यनुसंधानपूर्वकं यथा भवति तथा एवं वक्ष्यमाणप्रकारेण सर्वदा तृप्यति ।। २५४ ।।

तदेवानुसंधानं प्रपञ्चयति – **दुःखिनोऽज्ञा इत्यादिना** । 'कृतकृत्यतया तृप्तः प्राप्तप्राप्यतया पुनः' (प्र० १४।५८) इत्यतः प्राक्तनेन ग्रन्थेन । तत्र तावदैहिकसुखार्थिभ्यो वैलक्षण्यं स्वस्य दर्शयति—**दुःखिन इति** ।। २५५ ।।

ननु सप्तम्यवस्थात्वेन प्रतिज्ञाता तृप्तिः किं शब्दादीष्टविषयप्राप्तिजन्यालम्बुद्धिर्वात्कि प्राप्तव्यान्तरविनश्वरत्वादिना सांकुशेत्यत आह **सांकुशेति** । निरंकुशत्वमेवाभिनीय दर्शयति—**कृतमिति** ।। २५२ ।।

कृत्यमेव संक्षिप्य दर्शयति—**ऐहिकेति** । इदानीं तदभावमाह—**तदित्यादि**शेषेण ।। २५३ ।।

एवं कृतकृत्यत्वस्वरूपं निरूप्याग्रे तदनुसंधानप्रकारं प्रतिजानीते—**तदेतदिति** ।। २५४ ।।

एवं प्रतिज्ञातं प्रतियोगिशब्दितवक्ष्यमाणतत्तदभावनिरूपकवस्तुसहितान्यावद्द्वैताभावोपलक्षकान्कांश्चिदभावानात्मनि सप्तभिः प्रदर्शयन्नादौ गौणात्माख्यपुत्रप्राप्त्यर्थंसन्तानगोपालाराधनप्रवृत्त्यभावं स्वस्मिन्नाह—**दुःखिन इति** । यतोऽज्ञा अत एव पुत्राद्यपेक्षया पुत्रतत्साधनीभूतकलत्रादिवाञ्छयेति यावत् । **परमेति** । पदत्रयेऽपि कर्मधारयः ।। २५५ ।।

अनुतिष्ठन्तु कर्माणि परलोकयियासवः ।
सर्वलोकात्मकः कस्मादनुतिष्ठामि किं कथम् ॥ २५६ ॥
व्याचक्षतां ते शास्त्राणि वेदानध्यापयन्तु वा ।
येऽत्राधिकारिणो मे तु नाधिकारोऽक्रियत्वतः ॥ २५७ ॥
निद्राभिक्षे स्नानशौचे नेच्छामि न करोमि च ।
द्रष्टारश्चेत्कल्पयन्ति किं मे स्यादन्यकल्पनात् ॥ २५८ ॥
गुञ्जापुञ्जादि दह्येत नान्यारोपितवह्निना ।
नान्यारोपितसंसारधर्मानेवमहं भजे ॥ २५९ ॥
शृण्वन्त्वज्ञाततत्त्वास्ते जानन्कस्माच्छृणोम्यहम् ।
मन्यन्तां संशयापन्ना न मन्येऽहमसंशयः ॥२६०॥

स्वर्गाद्यर्थं कर्मानुष्ठातृभ्यो वैलक्षण्यमाह—अनुतिष्ठन्त्विति ॥ २५६ ॥

ननु स्वार्थप्रवृत्त्यभावेऽपि परार्थप्रवृत्तिः किं न स्यादित्याशङ्क्याधिकाराभावात् साऽपि नास्तीत्याह—व्याचक्षतामिति ॥ २५७ ॥

ननु स्वदेहभरणार्थं भिक्षाहरणादिकं परलोकार्थस्नानादिकं च भवता क्रियमाणमुपलभ्यते, अतोऽक्रियत्वमसिद्धमित्याशङ्क्य, तदपि स्वदृष्ट्या नैवास्ति, किंत्वन्यैरेव कल्पितमित्याह—निद्रेति ॥ २५८ ॥

अन्यकल्पनयापि बाधोऽस्तीत्याशङ्क्य, तदभावे दृष्टान्तमाह—गुञ्जापुञ्जेति ॥ २५९ ॥

ननु फलान्तरेच्छाभावे कर्मानुष्ठानं मा भूत्, तत्त्वसाक्षात्काराय श्रवणादिकं कर्तव्यमेवेत्याशङ्क्य, अज्ञानाद्यभावच्छ्रवणादिकर्तृत्वमपि नास्तीत्याह—

एवं कर्मसामान्यप्रवृत्त्यभावमपि स्वस्मिन्प्रकटयति—अनुतिष्ठन्त्विति । परलोकेति । स्वर्गादिगमनेच्छव इत्यर्थः ॥ २५६ ॥

तद्वदध्यापकत्वाभावमपि स्फुटयति—व्याचक्षतामिति । व्याकुर्वन्त्वित्यर्थः । एतेन स्वार्थप्रवृत्त्यभावेऽपि परोपकारार्थप्रवृत्त्यभावोऽपि स्वस्मिन्सूचितः । वस्तुतस्तु परोपकारस्यापि पुण्यकारणत्वेन स्वार्थत्वमेवेत्याकूतम् ॥ २५७ ॥

नन्वक्रियत्वमयुक्तमेव स्वदेहनिर्वाहार्थं निद्राभिक्षाशनक्रियायाः परलोकार्थं स्नानादिक्रियायाश्च कर्तृत्वादित्यत आह—निद्रेति ॥ २५८ ॥

अन्यकृतेन स्वस्मिन्नारोपविशेषेण स्वक्षत्यभावं सदृष्टान्तं स्पष्टयति—गुञ्जेति ॥ २५९ ॥

विपर्यस्तो निदिध्यासेत्किं ध्यानमविपर्ययात् ।
देहात्मत्वविपर्यासं न कदाचिद्भजाम्यहम् ।। २६१ ।।

अहं मनुष्य इत्यादिव्यवहारो विनाप्यमुम् ।
विपर्यासं चिराभ्यस्तवासनातोऽवकल्पते ।। २६२ ।।

प्रारब्धकर्मणि क्षीणे व्यवहारो निवर्तते ।
कर्माक्षये त्वसौ नैव शाम्येद्ध्यानसहस्रतः ।। २६३ ।।

विरलत्वं व्यवहृतेरिष्टं चेद्ध्यानमस्तु ते ।
आबाधिकां व्यवहृतिं पश्यन्ध्यायाम्यहं कुतः ।। २६४ ।।

शृण्वन्त्विवति । अज्ञाततत्त्वाः अज्ञानं ब्रह्मात्मैकत्वलक्षणं तत्त्वं यैस्ते तथाभूताः श्रवणं कुर्वन्तु । तत्त्वमित्थमन्यथा वेति संशयवन्तो मननं कुर्वन्तु, मम तदुभयाभावान्नोभयत्र प्रवृत्तिरित्यर्थः ।। २६० ।।

मा भूतां श्रवणमनने, विपर्ययनिरासार्थं निदिध्यासनं कर्तव्यमित्याशङ्क्य, देहादावात्मत्वबुद्धिलक्षणस्य विपर्ययस्याभावात्तदपि नानुष्ठेयमित्याह—**विपर्यस्त इति** ।। २६१ ।।

ननु विपर्ययाभावे 'अहं मनुष्य' इति व्यवहारः कथं घटत इत्याशङ्क्य, वासनावशाद्भवतीत्याह—**अहमिति** ।। २६२ ।।

तर्ह्यस्य व्यवहारस्य निवृत्तिसिद्धये ध्यानं सम्पाद्यमित्याशङ्क्य, प्रारब्धक्षयमन्तरेणास्य निवृत्तिर्नास्तीत्याह—**प्रारब्धेति** ।। २६३ ।।

ननु प्रारब्धनिमित्तकस्यापि व्यवहारस्य विरलत्वाय ध्यानं कर्तव्यमेवेत्याशङ्क्य, व्यवहारस्य अबाधकत्वदर्शनात्तन्निवृत्तये ध्यानमननुष्ठेयमित्याह—**विरलत्वमिति** ।। २६४ ।।

नन्वेवमपि श्रवणाद्यन्तरङ्गतरसाधनानि तु यावद्देहं कर्तव्यान्येवेति चेन्निष्प्रयोजनत्वान्नेत्याह—**शृण्वन्त्वित्यादिद्वाभ्याम्** । जानन्नद्वैतात्मानमिति शेषः ।। २६० ।।

विपर्यस्त इति । विपरीतभावनावानित्यर्थः ।। २६१ ।।

नन्वहं मनुष्योऽयं घट इत्यादिव्यवहारस्तर्हि कथमित्यत आह—**अहमिति** ।।२६२।।

एवं तर्हि कदोक्तव्यवहारनिवृत्तिरित्यत्राऽऽह—**प्रारब्धेति** । **ध्यानेति** । देवहूत्यृषभदेवादीनां त्वसम्प्रज्ञातसमाधावपि विवरणमते सुप्तौ सुखाद्याकाराविद्यकवृत्तिवद्घनसत्त्वात्मना परिणतान्तःकरणीयानामहं ब्रह्मास्मीति सूक्ष्मवृत्तीनां सत्त्वस्य तत्त्वविवेके वृत्तयस्तु तदानीमपीत्यादिनाऽङ्गीकृतेर्न तत्राव्याप्तिरिति दिक् ।। ६३ ।।

विक्षेपो नास्ति यस्मान्मे न समाधिस्ततो मम ।
विक्षेपो वा समाधिर्वा मनसः स्याद्विकारिणः ।। २६५ ।।
नित्यानुभवरूपस्य को मे वाऽनुभवः पृथक् ।
कृतं कृत्यं प्रापणीयं प्राप्तमित्येव निश्चयः ।। २६६ ।।
व्यवहारो लौकिको वा शास्त्रीयो वाऽन्यथापि वा ।
ममाकर्तुरलेपस्य यथारब्धं प्रवर्तताम् ।। २६७ ।।

ध्यानस्य अकर्तव्यत्वेऽपि विक्षेपपरिहाराय समाधिः कर्तव्य इत्याशङ्क्य, विक्षेपसमाधानयोर्मनोधर्मत्वान्न विक्षेपनिवारकेऽपि समाधौ ममाधिकार इत्याह—**विक्षेप इति** ।। २६५ ।।

ननु तथापि समाधिफलमनुभवः संपादनीय इत्याशङ्क्य, तस्य मत्स्वरूपत्वान्न संपाद्यत इत्याह—**नित्येति** । उपपादितं कृतकृत्यत्वं निगमयति—**कृतं कृत्यमिति** ।। २६६ ।।

एवं सर्वत्र कर्तृत्वानभ्युपगमेऽनियतवृत्तित्वं प्रसज्येतेत्याशङ्क्य, प्रारब्धवशात्प्राप्तमनियतवृत्तित्वमङ्गीकरोति—**व्यवहार इति** । लौकिको भिक्षाहा-

नन्वेवं सिद्धान्ते ज्ञानोत्तरमहं मनुष्य इत्यादिव्यवहारवदहं ब्रह्मास्मीति सूक्ष्मतमघनसत्त्वैकमयमनोवृत्तेरपि यद्यपि व्यवहारत्वमेव तथापि प्रथमस्यातिस्थूलत्वादिना दुःखदत्वाद्धेयत्वमंत्यस्यातिसूक्ष्मत्वादिना सुखदत्वाद्दुःखदोक्तव्यवहारविरलताधायकत्वाच्चोपादेयत्वमेवेत्याशङ्क्य समाधत्ते—**विरलत्वमिति** ते प्रतिवादिनोऽन्तेवासिनो वा तवेत्यर्थः ॥ २६४ ॥

तदेवोपपादयति—**विक्षेप इति** ।

"आच्छाद्य विक्षिपति संस्फुरदात्मरूपं जीवेश्वरत्वजगदाकृतिभिर्मृषैव ।
अज्ञानमावरणविभ्रमशक्तियोगादात्मत्वमात्रविषयाश्रयताबलेन ।।"

इति संक्षेपशारीरकोक्तविक्षेपमूलीभूतस्य मूलाज्ञानस्यैव नष्टत्वात्तदभावे तद्विरोधिनः समाधेरपि दृश्यत्वाविशेषान्न सममेष्टव्य इत्याशयः । तत्र हेतुः—**विक्षेपो वेति** ॥ २६५ ॥

नन्वथापि भगवता पतञ्जलिना निर्विकल्पसमाधि प्रकृत्य 'तदा द्रष्टुःस्वरूपेऽवस्थानं । वृत्तिसारूप्यमितरत्रेति । ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा । श्रुतानुमानाभ्यामन्यविषये'ति च योगसूत्रयोः समाध्येकसाध्यत्वं स्वस्वरूपानुभवस्योक्तमतः सोऽवश्यमनुष्ठेय इत्यत आह—**नित्येति** । सूत्रयोस्तु त्वंपदार्थशोध एवं कश्चिदधिकारिविशेषं प्रत्येवोपयोगः । नन्वेवं चेत्तर्हि कस्तव निश्चय इत्यपेक्षायां तं संक्षिपति—**कृतमिति** ।। २६६ ।।

अथवा कृतकृत्योऽपि लोकानुग्रहकाम्यया ।
शास्त्रीयेणैव मार्गेण वर्तेऽहं का मम क्षतिः ।। २६८ ।।
देवार्चनस्नानशौचभिक्षादौ वर्ततां वपुः ।
तारं जपतु वाक्तद्वत् पठत्वाम्नायमस्तकम् ।। २६९ ।।
विष्णुं ध्यायतु धीर्यद्वा ब्रह्मानन्दे विलीयताम् ।
साक्ष्यहं किञ्चिदप्यत्र न कुर्वे नापि कारये ।। २७० ।।

रादिः, शास्त्रीयो जपसमाध्यादिः, अन्यथापि वा प्रतिषिद्धहिंसादिर्वा व्यवहारः कर्तृत्वभोक्तृत्वरहितस्य मम प्रारब्धं कर्मानतिक्रम्य प्रवर्ततामित्यर्थः ।।२६७।।

एवं वस्तुतत्त्वमभिधाय प्रौढवादेनाह—**अथवेति** । लोकानुग्रहकाम्यया प्राण्यनुग्रहेच्छयेत्यर्थः ।। २६८ ।।

शास्त्रीय एव मार्गे प्रवर्तनाङ्गीकारे तर्हि तदभिमानप्रयुक्तो विकारः स्यादित्याशङ्क्याह—**देवार्चनेत्यादिना** श्लोकद्वयेन । तारं प्रणवम् । आम्नायमस्तकं वेदान्तशास्त्रम् ।। २६९-२७० ।।

एवं चेत्तर्हि तव व्यवहारः कथमिति चेद्यथारब्धमेवेत्याह—**व्यवहार इति** । लौकिको निद्राभिक्षादिः । शास्त्रीयः शास्त्रविहितत्वेनेशतोषलक्षणपुण्यापादकः । अन्यथा तन्निदितत्वेनेशरोषलक्षणपापापादकः शापद्वारा याज्ञवल्क्यकर्तृकविदग्धशाकल्यमूर्धपातरूपः प्रसिद्ध एव बृहदारण्यकपञ्चमप्रपाठके: । अपि वेत्यादि विकल्पसमुच्चयवाचकमेव । ननु निद्राभिक्षे स्नानशौच इत्यादिना प्राक्त्वयैव लौकिकादिव्यवहारद्वयमेवोक्तमिदानीमयं तृतीयोऽप्यन्यथा व्यवहारोऽप्युच्यत इति किमत्र भावत्कमाकूतमित्याशङ्क्य समाधत्ते—**ममेत्यादिना** । **यथारब्धमिति** । अयमभिप्रायः । प्रारब्धं हि सुखदुःखदान एवोपक्षीणं न तु व्यवहारलक्षणक्रियमाणसम्पादनेऽपि । तत्तु सदसत्संस्कारैकायत्तमिति तु निर्विवादमेव । तथा च दक्षिणावर्तभ्रामितकुलचक्रन्यायेन ब्रह्मविदो मम वपुरादिसत्संस्कारैकारब्धमिति तथैव तत्प्रवर्तेतेति ।। २६७ ।।

अथ स्वयमेवोक्तगूढाभिसन्धि प्रकटयति—**अथवेति** । **लोकेति** ।

"सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वंति भारत ।
कुर्याद्विद्वांस्तथाऽसक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ।।"

इति स्मृतेरिति शेषः ।। २६८ ।।

तमेव संन्यासिनः स्वस्य शास्त्रीयं कायिकादिमार्गं प्रदर्शयन्त्वासङ्गत्वमनुसंधत्ते—**देवार्चनेत्यादिद्वाभ्याम्** । शालिग्रामबाणलिंगाख्यहरिहरान्यतरप्रतीकावच्छेदेन देवदेवस्य "एको देवः सर्वभूतेषु गूढ" इत्यादि श्रुतिप्रसिद्धस्य स्वप्रकाशात्मनो यदर्चनं तन्त्रगन्धे-

एवं च कलहः कुत्र संभवेत्कर्मिणो मम ।
विभिन्नविषयत्वेन पूर्वापरसमुद्रवत् ।। २७१ ।।
वपुर्वाग्धीषु निर्बन्धः कर्मिणो न तु साक्षिणि ।
ज्ञानिनः साक्ष्यलेपत्वे निर्बन्धो नेतरत्र हि ।। २७२ ।।
एवं चान्योन्यवृत्तान्तानभिज्ञौ बधिराविव ।
विवदेतां बुद्धिमन्तो हसन्त्येव विलोक्य तौ ।। २७३ ।।
यं कर्मी न विजानाति साक्षिणं तस्य तत्त्ववित् ।
ब्रह्मत्वं बुध्यतां तत्र कर्मिणः किं विहीयते ।। २७४ ।।

फलितमाह—**एवं चेति** ।। २७१ ।।

विभिन्नविषयत्वमेव स्पष्टयति—**वपुरिति** ।। २७२ ।।

अथापि यौ ज्ञानिकर्मिणौ कलहं कुर्वाते तौ विद्वद्भिः परिहसनीयाावित्याह—**एवं चेति** ।। २७३ ।।

कुतः परिहास्यत्वमित्याशङ्क्य, निर्विषयकलहकारित्वादित्याह—**यमिति** । कर्मी यं साक्षिणं कर्मानुष्ठानोपयोगिदेहवाग्बुद्ध्यतिरिक्तं प्रत्यगात्मानं न विजानाति तत्त्वविदा तस्य ब्रह्मत्वे बुद्धे कर्मिणः कर्मानुष्ठाने किं हीयते ? ।। २७४ ।।

नापि हीनं प्रणवैकमन्त्रं गङ्गोदकभस्ममात्रोपचारकं पूजनं न त्वन्यत्स्वप्नेऽपीत्यर्थः । आदिना निद्रा । शिष्टं तु स्पष्टमेव । तारमोंकारम् । **आम्नायेति** । उपनिषद्वृन्दमिति यावत् । उपलक्षणामिदं प्रस्थानत्रयान्तर्गतभगवद्गीताब्रह्मसूत्रयोरपि ।। २६९ ।।

विष्णुमिति । "शिव एको ध्येयः शिवशंकर" इति श्रुतेरुपलक्षणमिदं शिवस्यापि । अत्र सगुणात्वास्वरसाद्वेति । अपरं त्वतिरोहितमेव ।। २७० ।।

फलितमाह—**एवं चेति** । तत्र हेतुः—**विभिन्नेत्यादिना** सदृष्टान्तम् ।। २७१ ।।

तदेव विभिन्नविषयत्वं विशदयति—**वपुरिति** ।। २७२ ।।

नन्वेवं चेत्तर्हि कर्मित्वं ज्ञानित्वं च मन्यमानयोर्बहिर्मुखपूर्वोत्तरमीमांसकयोः कलहः कुतः संपद्यत इति चेद्बहिर्मुखत्वेन शास्त्रतात्पर्यानभिज्ञत्वादित्येव जानीहीति सदृष्टान्तं समाधत्ते—**एवं चान्योन्येति** । बुद्धिमन्तः "एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान्स्यात्कृतकृत्यश्च भारत" इति स्मृतेर्ब्रह्मविद इत्यर्थः ।। २७३ ।।

अन्योन्यवृत्तान्तानभिज्ञत्वमेव प्रकृते प्रपञ्चयति—**यं कर्मीत्याविद्भ्याम्** ।।२७४।।

देहवाग्बुद्धयस्त्यक्ता ज्ञानिनानृतबुद्धितः ।
कर्म प्रवर्तयत्वाभिर्ज्ञानिनो हीयतेऽत्र किम् ।। २७५ ।।
प्रवृत्तिर्नोपयुक्ता चेन्निवृत्तिः क्वोपयुज्यते ।
बोधहेतुर्निवृत्तिश्चेद् बुभुत्सायां तथेतरा ।। २७६ ।।
बुद्धश्चेन्न बुभुत्सेत नाप्यसौ बुध्यते पुनः ।
अबाधादनुवर्तेत बोधो न त्वन्यसाधनात् ।। २७७ ।।

देहेति । ज्ञानिना मिथ्यात्वबुद्ध्या परित्यक्ताभिर्देहवाग्बुद्धिभिः कर्मानुष्ठाने ज्ञानिनो वा किं हीयते ? अतो निर्विषयकलहकारिणोः परिहसनीयत्वमित्यर्थः ।। २७५ ।।

कर्मानुष्ठानं प्रयोजनशून्यत्वान्न ज्ञानिनाभ्युपगम्यत इति शङ्कते—**प्रवृत्तिरिति** । उपभोगाभावो निवृत्तावपि समान इति परिहरति—**निवृत्तिरिति** । निवृत्तेर्बोधहेतुत्वान्नोपयोगाभाव इति शङ्कते—**बोधहेतुर्निवृत्तिश्चेदिति** । तर्हि प्रवृत्तिरपि बुभुत्साहेतुत्वादुपयोगवतीत्याह—**बुभुत्सेति** ।। २७६ ।।

ननु बुद्धस्य बुभुत्साभावात्प्रवृत्तेरनुपयोगित्वमिति पुनः शङ्कते—**बुद्धश्चेदिति** । तर्हि बुद्धस्य पुनर्बोधाभावात्तद्धेतुनिवृत्तिरपि बुद्धं प्रत्यनुपयोगिनीत्याह—**नापीति** । सकृज्जातस्य बोधस्य स्थिरत्वाय निवृत्तिरपेक्ष्यत इत्याशङ्क्य, स्थिरत्वं बाधकाभावमपेक्षते; न साधनान्तरमित्याह—**आबाधादिति** । वाक्यप्रमाणजन्यज्ञानस्य बलवता प्रमाणेन बाधाभावादनुवृत्तिः स्यादेव, अतो न साधनान्तरं तदर्थमनुष्ठेयमित्यर्थः ।। २७७ ।।

देहवागिति । त्यक्ता अनादृताः । **अनृतेति** । मिथ्यात्वबोधबलेनेत्यर्थः । आभिर्देहवाग्बुद्धिभिः । प्रवर्तयतु जीवमिति शेषः । स्वर्गाद्यर्थं ज्योतिष्टोमाद्यनुष्ठाने वेदपठने तत्तद्देवताध्याने चेत्यार्थिकम् । विषयसप्तमीयम् । विनियोजयत्विति यावत् ।। २७५ ।।

ननु कर्मणि प्रवृत्तिर्विक्षेपजनकत्वादयुक्तेत्याशङ्क्य प्रतिबन्द्या समाधत्ते—**प्रवृत्तिरिति** । प्रतिबन्दी मोचनमाशङ्क्य प्रतिबन्द्यन्तरेण तत्प्रत्याह—**बाधेति** ।। २७६ ।।

ननुपूर्वपद्ये "निवृत्तिर्नोपयुक्ता चेत्प्रवृत्तिः क्वोपयुज्यते । बोधहेतुर्निवृत्तिश्चेद्बुभुत्सायां तथेतरा" इति प्रतिबन्द्यन्तरेणेव यत्समाहितं तदयुक्तं बुद्धस्य तत्त्वबुभुत्सासम्भवादित्याशङ्क्य तत्रापि प्रतिबन्द्यैव समाधत्ते—**बुद्धश्चेदिति** । यदि बुद्धस्तत्त्वबोधवान्वा पुरुषः । न बुभुत्सेत बोद्धुमिच्छां नैव कुर्यात्सञ्जातबोधत्वादिति वदसि चेत्तर्ह्यसौ तत एव पुनर्नैव

नाविद्या नापि तत्कार्यं बोधं बाधितुमर्हति ।
पुरैव तत्त्वबोधेन बाधिते ते उभे यतः ।। २७८ ।।
बाधितं दृश्यतामक्षैस्तेन बाधो न शक्यते ।
जीवन्नाखुर्न मार्जारं हन्ति हन्यात् कथं मृतः ।। २७९ ।।
अपि पाशुपतास्त्रेण विद्धश्चेन्न ममार यः ।
निष्फलेषुवितुन्नाङ्गो नङ्क्ष्यतीत्यत्र का प्रमा ।। २८० ।।

ननु प्रमाणान्तरेण अबाधेऽप्यविद्यया तत्कार्येण कर्तृत्वाध्यासेन वा बाधः स्यादित्याशङ्क्याह—**नाविद्येति** । तत्र हेतुमाह—**पुरैवेति** ।।२७८।।

नन्वविद्याया बाधितत्वेऽपि तत्कार्यस्य प्रतीयमानस्य बाधितत्वासंभवात्तेन बोधस्य बाधो भवेदित्याशङ्क्य, उपादाननिवृत्त्यैव तस्यापि बाधितत्वान्न तेनापि बाधः शङ्कितुं शक्यत इत्याह—**बाधितमिति** । तत्र दृष्टान्तमाह—**जीवन्निति** । आखुर्मूषकः ।। २७९ ।।

द्वैतदर्शनेन तत्त्वबोधस्य बाधाभावं कैमुतिकन्यायप्रदर्शनेन द्रढयितुं तदनुकूलं दृष्टान्तमाह—**अपीति** । यः समर्थः पाशुपतास्त्रेण विद्धोऽपि न ममार चेत्किल स निष्फलेषुवितुन्नाङ्गः शल्यरहितेषुणा व्यथितदेहः सन् नङ्क्ष्यति नाशं प्राप्स्यतीत्यत्र का प्रमा ? प्रमाणं नास्तीत्यर्थः ।। २८० ।।

बुध्यते बोधमपि नैव सम्पादयतीति सम्बन्धः । एवं च यथा बुभुत्साकारणीभूता भूयः प्रवृत्तिः सञ्जातबोधत्वात्तत्त्वविदोऽनुपयुक्तेऽति त्वयोच्यते तथा बोधकारणीभूता निवृत्तिरपि तत एव तस्य तथेति प्रतिपत्तव्यमिति तत्त्वम् । ततः किं तदाह—**अबाधादिति** ।। २७७ ।।

नन्वबाध एव कुत इति चेत्किं मूलाविद्यालेशरूपा सुषुप्त्यादिप्रयोजिका तद्व्याप्यजीवेश्वरतद्भेदतच्चित्सम्बन्धविशिष्टाऽविद्याबोधबाधिकेति ब्रूषे किं वा तत्कार्यमाकाशप्रभृति तथेति विकल्प्य नोभयमपीत्याह—**नाविद्येत्यादिना** । तत्र हेतुः—**पुरैवेति** । अयमाशयः । सस्वप्नां सुप्तिं बाधयन्त्येव यथा जाग्रदुदेत्येवं समूलं द्वैतं बाधयदेव तत्त्वज्ञानमुदेति प्रतीयते तु सस्वप्नादिस्मृतिवदाप्रारब्धं तदिति ।। २७८ ।।

अत एव । **बाधितमिति** । उपलक्षणमिदमन्यप्रमाणानां साक्षिणश्च तेन बाधितदृश्येन । बाधस्तत्त्वबोधस्येत्यार्थिकम् । तत्रार्थान्तरन्यासद्वयमाह—**जीवन्नित्यादि** सार्धेन दार्ढ्यार्थम् ।। २७९ ।।

अपीति । यो जीवः । 'न जीवो म्रियते' इति **श्रुतेः** ।। २८० ।।

आदावविद्यया चित्रैः स्वकार्यैर्जृम्भमाणया ।
युद्ध्वा बोधोऽजयत्सोऽद्य सुदृढो बाध्यतां कथम् ॥२८१॥
तिष्ठन्त्वज्ञानतत्कार्यशवा बोधेन मारिताः ।
न भीतिर्बोधसम्राजः कीर्तिः प्रत्युत तस्य तैः ॥ २८२ ॥
य एवमतिशूरेण बोधेन न वियुज्यते ।
प्रवृत्त्या वा निवृत्त्या वा देहादिगतयाऽस्य किम् ॥ २८३ ॥
प्रवृत्तावाग्रहो न्याय्यो बोधहीनस्य सर्वथा ।
स्वर्गाय वाऽपवर्गाय यतितव्यं यतो नृभिः ॥ २८४ ॥

दृष्टान्तसिद्धमर्थं दार्ष्टान्तिक योजयति—**आदाविति** । आदौ विद्याभ्यास-समये चित्रैर्बहुविधैस्तत्कार्यैः प्रमातृत्व-भोक्तृत्व-कर्तृत्वादिभिः जृम्भमाणया विवर्धमानया अविद्यया बोधो युद्ध्वा युद्धं कृत्वा तामजयत् स एवाभ्यास-पाटवेन सुदृढोऽद्येदानीमविद्यानिवृत्तौ सत्यं निर्मलेन तत्कार्येणाध्यासेन कथं बाध्यताम् ? न कथमपि बाध्येतेत्यर्थः ॥ २८१ ॥

उपपादितमर्थं श्रोतृबुद्ध्यारोहाय रूपकेणाह—**तिष्ठन्त्विति** ॥२८२॥

भवत्वेवं, प्रकृते किमायातमित्यत आह—**य इति** । यः पुमानेवमुक्त-प्रकारेण अतिशूरेण अविद्यातत्कार्यघातकेन बोधेन ब्रह्मात्मैकत्वज्ञानेन न वियुज्यते न कदापि वियुक्तो भवति । अस्य पुंसो देहादिनिष्ठया प्रवृत्त्या वा किम् ? न किमपीष्टमनिष्टं वेत्यर्थः ॥ २८३ ॥

तर्हि ज्ञानिवदज्ञानिनोऽपि प्रवृत्तावाग्रहो न युक्त इत्याशङ्क्याह—**प्रवृत्ताविति** । तत्रोपपत्तिमाह—**स्वर्गायेति** ॥ २८४ ॥

तदेव रूपकेणापि प्रपञ्चयति—**आदाविति** । जृम्भमाणया विकसमानया ॥ २८१ ॥

एवं बाधितप्रतीतिरपीष्टेवेति रूपकेणैवाऽऽह—**तिष्ठन्त्विति** ॥ २८२ ॥

फलितमाह—**य एवमिति** । **देहेति** । आदिनेन्द्रियादि ॥ २८३ ॥

तर्हि कस्य प्रवृत्तिरिष्टेत्यत आह—**प्रवृत्ताविति** । 'मोक्षोऽपवर्गः' इत्यमरादपवर्गाय केवल्यार्थमित्यर्थः ॥ २८४ ॥

विद्वांश्चेत्तादृशां मध्ये तिष्ठेत्तदनुरोधतः ।
कायेन मनसा वाचा करोत्येवाखिलाः क्रियाः ॥ २८५ ॥
एष मध्ये बुभुत्सूनां यदा तिष्ठेत्तदा पुनः ।
बोधायैषां क्रियाः सर्वा दूषयंस्त्यजतु स्वयम् ॥ २८६ ॥
अविद्वदनुसारेण वृत्तिर्बुद्धस्य युज्यते ।
स्तनन्धयानुसारेण वर्तते तत्पिता यतः ॥ २८७ ॥

विदुष आग्रहो न युक्त इत्युक्तं, तर्हि कर्मिणां मध्ये वर्तमानेन तेन किं कर्तव्यमित्याह—**विद्वांश्चेदिति** । विद्वांस्तादृशां कर्मिणां मध्ये तिष्ठेच्चेत्तदनुरोधतः तेषामनुसारेण शरीरादिभिः सर्वाः क्रियाः करोत्येव, न तान्कर्मिणो निवारयेदित्यर्थः ॥ २८५ ॥

अस्यैव तत्त्वबुभुत्सूनां मध्येऽवस्थितस्य कृत्यमाह—**एष इति** । एष विद्वान्बुभुत्सूनां मध्ये यदा तिष्ठेत्तदा एषां बुभुत्सूनां बोधाय तत्त्वज्ञानजननाय ताः क्रियाः दूषयन् स्वयमपि त्यजतु॥ २८६ ॥

कुत एवं कर्तव्यमित्याह—**अविद्वदिति** । अज्ञान्यनुसारेण ज्ञानिनो वर्तनमुचितम्; कृपालुत्वात्तेषामनुकम्पनीयत्वाच्चेति भावः । एवं क्व दृष्टमित्यत आह—**स्तनन्धयेति** । स्तनन्धयाः स्तनपानकर्तारः शिशव इत्यर्थः ॥२८७॥

एवं तर्हि तत्त्वविदा किंकर्तव्यमित्यपेक्षायां तत्तदधिकारिसन्निधाने प्रवृत्तिनिवृत्ती उभे अपि तत्तदनुग्रहार्थमेव, स्वस्य तु वस्तुतः कृतार्थत्वान्नैव किमपि कर्तव्यमित्याह—**विद्वांश्चेदित्यादिद्वाभ्याम्** । तादृशां विषयिणाम् । 'लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन्कर्तुमर्हसत्यादिस्मृतेरखिलाः शास्त्रमात्रविहिताः सकलकाम्यनिषिद्धशून्याः सम्प्राप्ततत्तत्प्रायश्चित्तसहितास्तन्त्रगन्धेनाप्यनास्कन्दिताः स्वस्ववर्णाश्रमाद्युचिताः सम्पूर्णा नित्यादिरूपाः परमात्मपरितोषैकफलिका इति यावत् । अत्र करोत्येवेत्युक्तं न तु कुर्यादेवेति । तेन तस्य लोकानुग्रहस्वाभाव्यं विध्यकैंकर्यं च सूच्यते ॥ २८५ ॥

एष इति । दूषयन्न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृतत्वमानशुरि'त्यादितैत्तिरीयादिश्रुतिसहस्रैः 'सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रजे'त्यादिस्मृतिशतैश्चेत्यार्थिकम्॥ २८६ ॥

ननु कृतकृत्येनापि विदुषा किमित्यज्ञानुसारेण वर्तितव्यमिति चेत्सत्यम् । 'मय्येव सकलं जातमिति ।' 'तस्य पुत्रा दायमुपयंति सुहृदः पुण्यकृत्यां द्विषन्तः पापकृत्यामि'ति च । सुतश्च जीवन्मुक्त्वोपाधिनैव तस्य जगत्पितृत्वादेवेत्यभिप्रेत्य पितृदृष्टान्तेनैव तत्स्पष्टयति—**अविद्वदित्यादिद्वाभ्याम्** ॥ २८७ ॥

अधिक्षिप्तस्ताडितो वा बालेन स्वपिता तदा ।
न विलश्नाति न कुप्येत बालं प्रत्युत लालयेत् ।। २८८ ।।
निन्दितः स्तूयमानो वा विद्वानज्ञैर्न निन्दति ।
न स्तौति किंतु तेषां स्याद्यथा बोधस्तथाचरेत् ।। २८९ ।।
येनायं नटनेनात्र बुध्यते कार्यमेव तत् ।
अज्ञप्रबोधान्नैवान्यत् कार्यमस्त्यत्र तद्विदः ।। २९० ।।

पितुः स्तनन्धयानुसारित्वमेव दर्शयति—**अधिक्षिप्त इति** ।। २८८ ।।

दार्ष्टान्तिके योजयति—**निन्दित इति** । विद्वान् अज्ञैर्निन्दितः स्तूयमानो वा स्वयं न निन्दति न स्तौति, किन्त्वेषामज्ञानां यथा बोध उपजायते तथाऽऽचरेत् ।। २८९ ।।

एवमाचरणे निमित्तमाह—**येनेति** । अयमज्ञानी अत्रास्मिंल्लोके विदुषो येन यादृशेन नटनेनाचरणेन बुध्यते तत्त्वमवगच्छति तदाचरणं तेन कर्तव्यमेव । तर्हि तद्वदेव कार्यान्तरमपि प्रसज्येतेत्यत आह—**अज्ञेति** । यतस्तद्विदस्तत्त्वविदः अत्र लोकेऽज्ञप्रबोधादन्यत्कर्तव्यं नैवास्ति, अतस्तदनुसरणेन तत्त्वबोधनं कर्तव्यमित्यर्थः ।। २९० ।।

अधिक्षिप्त इति । अनुचितं भाषित इत्यर्थः । अत्र स्तनन्धयः सञ्जातवाक्चौलप्राग्वया एव, न क्लिश्नाति नैव दुःखीभवति ।। २८८ ।।

ननु बालस्योक्तवयस्यकत्वलक्षणकौमारावस्थैकदेशशालित्वाद्भवतु स्वपितरं प्रत्यधिक्षेपादिकमथापि ब्रह्मविदोऽज्ञकर्तृकाधिक्षेपाद्यसम्भव एवेति चेन्न । तत्रापि तत्सम्भवात् । तथा हि । अयं तावद्विषयिणां मध्ये यदा तिष्ठति तदा प्रागुक्तरीत्या सर्वं सत्कर्मैव करोति यदा तु मुमुक्षूणां मध्ये तिष्ठति तदा सदसदात्मकमखिलमपि कर्म दूषयन्स्वयमपि त्यजत्येवेत्यनुपदमेवोक्तं, तेन तादृगवस्थं तं दृष्ट्वा विषयिकर्तृकनिन्दा सम्भवत्येव । तथा चोपाख्यायत एव **श्रीमद्भागवते भिक्षुगीतप्रसङ्गेन वायवीयमाघमाहात्म्येऽपि** पतिव्रताचरितप्रसङ्गागतमाण्डव्यशूलारोपादिकथनेन सविस्तरमित्याशयेन तस्य तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनीति **स्मृतिप्रसिद्धं** प्रेक्षकग्राह्यं लक्षणमपि संक्षिपति—**निन्दित इत्यादिना** । स्तूयमानो मुमुक्षुभिरत्यार्थिकम् । तर्हि किं करोतीत्यत्राऽऽह—**किंत्वित्यादिशेषेण** । आचरेदाचरत्येवेत्यर्थः ।। २८९ ।।

ननु कृतकृत्यस्याप्यस्याज्ञबोधने किं प्रयोजनमित्याशङ्क्य न हि ग्रीष्ममध्याह्ने मरुमरीचिकावारिणि सत्यं तरङ्गिणीबुद्ध्या पिपासातिशयाद्धावमानाः पान्थजनाः प्रागेवमेव धावनक्लिष्टेन वृक्षस्थित्याद्यन्वयव्यतिरेकसहकृतचक्षुः प्रत्यक्षीकृतमध्याह्नकालिका-

कृतकृत्यतया तृप्तः प्राप्तप्राप्यतया पुनः ।
तृप्यन्नेवं स्वमनसा मन्यतेऽसौ निरन्तरम् ॥ २९१ ॥
धन्योऽहं धन्योऽहं नित्यं स्वात्मानमञ्जसा वेद्मि ।
धन्योऽहं धन्योऽहं ब्रह्मानन्दो विभाति मे स्पष्टम् ॥ २९२ ॥

वृत्तवर्तिष्यमाणयोस्तात्पर्यमाह—**कृतकृत्येति** । असौ विद्वान् पूर्वोक्तप्रकारेण कृतकृत्यतया कृतं कृत्यजातं येनासौ कृतकृत्यः, तस्य भावस्तत्ता, तया तृप्तः सन् वक्ष्यमाणप्रकारेण, प्राप्तप्राप्यतया प्राप्तं प्राप्यं येन सः प्राप्तप्राप्यः, तस्य भावस्तत्ता, तया तृप्यन् तृप्तो भवन् स्वमनसा निरन्तरमेवं मन्यते ॥ २९१ ॥

किं मन्यते इत्यत आह—**धन्योऽहं धन्योऽहमित्यादिना** । धन्यः कृतार्थः । आदरार्थे वीप्सा । नित्यमनवरतं स्वात्मानं स्वस्य निजं रूपं देशाद्यनवच्छिन्नं प्रत्यगात्मानमञ्जसा साक्षाद्यतो वेद्मि जानाम्यतो धन्यः । एवमात्मज्ञानलाभनिमित्तां तुष्टिमभिधाय, तत्फललाभनिमित्तां तां दर्शयति—**धन्य इति** । ब्रह्मानन्दः ब्रह्मभूतानन्दः मे स्पष्टं विभाति स्पष्टं यथा भवति तथा स्फुरतीत्यर्थः ॥ १९२ ॥

लोकावच्छिन्नोषरधरण्याख्याधिष्ठानतया ततः प्रत्यागतेन पुरुषेण 'इदं मृगजलं मिथ्येव मध्याह्नकालिकालोकोषरधरणीसंयोगाज्जलत्वेन प्रतीयतेऽतो यूयं मैव धावध्व'मिति न प्रबोध्यते । तस्माद्वास्तविकस्वप्रयोजनाभावेऽपि स्मृतस्वाज्ञतादुःखकृपयाऽन्येषामज्ञानध्वस्तियर्थादृकायिकादिव्यापारतः स्यात्तानेव निसर्गात्करोतीति समाधत्ते—**येनार्यमिति** । अयमज्ञजनः । अत्र नटनपदाद्विद्वत्क्रियास्ववास्तवत्वं व्यज्यते । कार्यमेव कर्तुं योग्यमेव । अत्र क्रियासङ्गतैवकारान्नीलं सरोजं भवत्येवेत्यादिवद्ब्रह्मविद्यज्ञजनबोधनप्रवृत्तेरत्यन्तायोगव्यवच्छेदो व्यज्यते । एवं करुणयाविषयिणां धनाद्यहरणमपि ब्रह्मविदः प्रभुसेवादिना सम्पाद्यं स्यादित्यत आह—**अज्ञेति** ॥ २९० ॥

नन्वस्त्वेवमज्ञप्रबोधार्थं स्वधर्मानुष्ठानादिबहिर्नटनमन्तस्तु तस्य कथं तृप्तिरित्यपेक्षायां तदनुभवानुवदनप्रकारं प्रतिजानीते—**कृतकृत्यतयेति** । असौ ब्रह्मनिष्ठः ॥२९१॥

एवं प्रतिज्ञाततत्त्वविदनुभवप्रकारानुवादं प्रपञ्चयति—**धन्योऽहं धन्योऽहं नित्यमित्याद्युपगीतिचतुष्टयविशिष्टानुष्टुब्द्वयेन** । वीप्सेयमादरातिशयार्थैव । तत्र हेतुः—**नित्यमित्यादिना** । नित्यं सर्वदा न तु क्षणमात्रम् । एतेनाद्वैतप्रमाया अपि वृत्तित्वावच्छेदेन त्रिक्षणावस्थायित्वेऽपि तस्या अविनाशिस्वप्रकाशैकविषयकत्वेन विस्मृत्यसम्भवादेव सातत्यं द्योत्यते । यद्वा नित्यमिति स्वात्मविशेषणमेव । नित्यः शुद्ध इत्यादिश्रुतेः । एतेन

धन्योऽहं धन्योऽहं दुःखं सांसारिकं न वीक्षेऽद्य ।
धन्योऽहं धन्योऽहं स्वस्याज्ञानं पलायितं क्वापि ।। २९३ ।।
धन्योऽहं धन्योऽहं कर्तव्यं मे न विद्यते किञ्चित् ।
धन्योऽहं धन्योऽहं प्राप्तव्यं सर्वमद्य सम्पन्नम् ।। २९४ ।।
धन्योऽहं धन्योऽहं तृप्तेर्मे कोपमा भवेल्लोके ।
धन्योऽहं धन्योऽहं धन्यो धन्यः पुनः पुनर्धन्यः ।। २९५ ।।

एवमिष्टप्राप्तौ तुष्टिमभिधायानिष्टनिवृत्त्यापि तुष्यतीत्याह—**धन्योऽहमिति** । अद्य इदानीं दुःखं दुःखस्वरूपं संसारं न वीक्षे न पश्यामि, अतः कृतार्थ इत्यर्थः । दुःखाप्रतीतौ कारणमाह—**धन्योऽहमिति** । अनेककर्मवासनाजालमज्ञानं क्वापि पलायितं नष्टमित्यर्थः ।। २९३ ।।

अज्ञाननिवृत्तिफलं कृतकृत्यत्वं प्राप्तप्राप्यत्वं च दर्शयति—**धन्य इति** ।। २९४ ।।

इदानीं 'कृतकृत्यतया' (प्र० ७।२९१) इत्यादिना जातायास्तृप्तेर्निरति-

कालपरिच्छेदो व्युदस्तः । देशवस्तुपरिच्छेदव्युदासस्तु विशेष्यत एव । तद्यथा । नित्यं त्रिकालाबाध्यमेतादृशमपि स्वात्मानम्, अत्र कर्मधारय एव । तथा च स्वशब्देन साक्षित्वोपलक्षितं प्रत्यक्कूटस्थचिन्मात्रमेव शोधितत्वंपदार्थरूपं लक्ष्यते । आत्मशब्देनाऽऽत्मैवेदमग्र आसीदित्याद्यैतरेयश्रुतेरात्मन आकाशः सम्भूत इत्यादि तैत्तिरीयश्रुतेश्च ।

"अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः । अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च" इतिस्मृतेः "यच्चाऽऽप्नोति यदादत्ते यच्चात्ति विषयानिह । यच्चास्य सन्ततो भावस्तस्मादात्मेति भण्यते" इत्यपि स्मृतेश्च सत्यज्ञानानन्तानन्दब्रह्माख्यमसज्जडपरिच्छिन्नदुःखद्वैतविरोधिशोधिततत्पदार्थरूपं लक्ष्यते । एतेन देशिकपरिच्छेदव्युदासः सूच्यते । द्वयोः कर्मधारयाद् भेदःसार्वांशिकवास्तविकपरिच्छेदव्युदासोऽपि ध्वन्यते । एवमप्यञ्जसाऽपरोक्षमेव । वेद्मि श्रीगुरूपदिष्टतत्त्वमस्यादिमहावाक्यविचाराज्जानामीत्यर्थः । एवं चार्थाद्द्वैतमिथ्यात्वं द्योत्यते । एवं ब्रह्मज्ञानलाभजन्यतृप्तावपि तत्फलीभूतजीवन्मुक्तिलाभजन्या सा प्रतिबन्धान्न स्यादित्यत्राऽऽह—**धन्योऽहं धन्योऽहं ब्रह्मे**त्यादि सार्धोपगीतित्रयेण ॥ २९२ ॥

एवं सुखावाप्त्यात्मिकां जीवन्मुक्तिमभिधाय सबीजदुःखध्वस्तिरूपां तामभिधत्ते—**धन्योऽहं धन्योऽहमिति** ॥ २९३ ॥

एवं कृतकृत्यस्वरूपां प्राप्तप्राप्तव्यरूपां च तां प्रकटयति—**धन्योऽहं धन्योऽहं कर्तव्यं म** इत्यादिना ।। २९४ ॥

अहो पुण्यमहो पुण्यं फलितं फलितं दृढम् ।
अस्य पुण्यस्य सम्पत्तेरहो वयामहो वयम् ।। २९६ ।।

अहो शास्त्रमहो शास्त्रमहो गुरुरहो गुरुः ।
अहो ज्ञानमहो ज्ञानमहो सुखमहो सुखम् ।। २९७ ।।

तृप्तिदीपमिमं नित्यं येऽनुसन्दधते बुधाः ।
ब्रह्मानन्दे निमज्जन्तस्ते तृप्यन्ति निरन्तरम् ।। २९८ ।।

इति श्रीविद्यारण्यकृतपञ्चदश्यां तृप्तिदीपाख्यं प्रकरणं समाप्तम् ॥७॥

शयत्वमाह—धन्य इति । इतःपरं वक्तव्यादर्शनात्तुष्टिरेव परिस्फुरतीति दर्शयति—धन्य इति ।। २९५ ।।

अस्य सर्वस्य कारणभूतपुण्यपुञ्जपरिपाकमनुस्मृत्य तुष्यतीत्याह—अहोपुण्यमिति । एवंविधपुण्यसम्पादकमात्मानमनुस्मृत्य तुष्यति—अस्येति ।।२९६।।

इदानीं सम्यग्ज्ञानसाधनं शास्त्रं तदुपदेष्टारमाचार्यमनुस्मृत्य तुष्यति—अहो शास्त्रमिति । पुनश्च शास्त्रजन्यं ज्ञानं तत्सुखं चानुस्मृत्य संतुष्यति—अहो ज्ञानमिति ।। २९७ ।।

ग्रन्थाभ्यासफलमाह—तृप्तिदीपमिति ।। २९८ ।।

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीभारतीतीर्थविद्यारण्यमुनिवर्यकिंकरेण रामकृष्णाख्यविदुषा विरचिता तृप्तिदीपव्याख्या समाप्ता ॥७॥

अत एवोक्ततृप्तेर्निरंकुशत्वेन निरुपमत्वं व्यनक्ति—धन्योऽहं धन्योऽहं तृप्तेर्मे इति । अत एव । धन्योऽहमित्यादि ।। २९५ ।।

तथा च सर्वमिदं फलमीशतोषरूपपुण्यस्यैवेति तदप्युद्भूतत्वेनानुसन्धाय तुष्यतीत्याह— अहो पुण्यमिति । सर्वत्र वीप्साऽत्र चमत्कारातिशयार्थैव । तत्र हेतुः—अस्येत्यादिना । वयमिति चिदाभासकृतात्मादरातिशयादेव बहुवचनम् । ब्रह्माद्वैतकैवल्यरूपाः सम्पन्नाः स्मेत्यर्थः । अहो इत्याश्चर्यार्थकमेवाव्ययम् । शिष्टं तु स्पष्टमेव ।। २९६ ।।

अथान्तरङ्गतरं शास्त्रादिसाधनत्रयमपि संस्मृत्य तदाश्चर्येणापि स परितृप्यतीति तत्तुष्ट्यनुवादेनाऽऽह—अहो शास्त्रमिति । एवं जीवन्मुक्तिसुखमप्यत्याश्चर्यरूपमेवेत्याह—अहो सुखमित्यादिना । तथैव श्रूयते स्मर्यते च "आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनमाश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः । आश्चर्यवच्चैनमन्य शृणोती"त्यादि ।। २९७ ।।

एवं भगवान्भारतीतीर्थ आचार्यः प्रतिज्ञातमात्मानं चेदित्यादिबार्हदारण्यकमन्त्रव्याख्यानं तत्प्रसङ्गागतविचारभूमिसप्तकान्तिमनिरंकुशतृप्त्यभिधसप्तभूमिकामप्युपसंहृत्य तन्नाम्नेव प्रकृतग्रथनामापि प्रथयंस्तदभ्यासफलमपि प्रेक्षावन्मुमुक्षुप्रवृत्त्यर्थं संक्षिपति- तृप्तीति । ननु भवता प्रागुपोद्घाते—

"प्रत्यक्षाद्यभिगम्ये जीवे गौरादितः कथं शास्त्रम् ।
तद्बोधिमानताभावप्रतिबन्धोऽयं द्वितीय इह जीवे ॥"

इत्यार्यया जीवशब्देष्टशुद्धत्वं पदार्थबोधविषयकं प्रमाणासंभावनाख्यं द्वितीयं प्रतिबन्धमुपन्यस्य—

'सप्तम आत्मानं चेदिति श्रुतेर्विवरणात्स्फुटं भवति ।
जीवोद्देशेन समन्वयमुख्यत्वं रसज्ञानाम् ॥"

इत्यार्यान्तरेण सप्तमस्यास्य तृप्तिदीपाख्यप्रकरणस्य तद्बाधकत्वमुक्तं तत्कथं सम्भवतीति चेन्न । एतत्प्रकरणतात्पर्यकथनेनोक्तार्ययैवोक्तप्रतिबन्धबाधध्वननादुपक्रमादितद्विषयकलिङ्गानामप्यात्मानं चेदिति श्रुतेर्विवरणादिति तया कण्ठत एवोक्तत्वाच्चेति शिवम् ॥ २९८ ॥

येन स्वप्नगतेन दत्तमभवन्मह्यं जयन्तीदिने
शुक्ला लेखनिकाऽतिसुन्दरमषीसम्पूर्णपात्री तथा ।
इत्थं वागभिधाङ्गनातनुयुगं तच्छद्मनैतद्भुवे
तं श्रीमन्नरसिंहमद्वयसदानन्दं गुरुं नौम्यहम् ॥

इति श्रीमत्परम० श्रीमदद्वैतसच्चिदानन्द० श्रीमदच्युतराथमोडकपञ्चदशीव्याख्यायास्तृप्तिदीपप्रकाशः सप्तमः सम्पूर्णः ॥ ७ ॥

अष्टमं कूटस्थदीपप्रकरणम्

खादित्यदीपिते कुड्ये दर्पणादित्यदीप्तिवत् ।
कूटस्थभासितो देहो धीस्थजीवेन भास्यते ।। १ ।।

नत्वा श्रीभारतीतीर्थविद्यारण्यमुनीश्वरौ ।
कुर्वे कूटस्थदीपस्य व्याख्यां तात्पर्यदीपिकाम् ।। १ ।।

अत्र मुमुक्षोर्मोक्षसाधनस्य ब्रह्मात्मैकत्वज्ञानस्य 'त्वं'पदार्थशोधनपूर्वकत्वात् 'त्वं'पदार्थशोधनपरं कूटस्थदीपाख्यं ग्रन्थमारभमाण आचार्योऽस्य ग्रन्थस्य वेदान्तप्रकरणत्वेन तदीयैरेव विषयादिभिस्तद्वत्तासिद्धिमभिप्रेत्य, 'त्वं'पदलक्ष्यवाच्यौ कूटस्थजीवौ सदृष्टान्तं भेदेन निर्दिशति—खादित्येति । खादित्यदीपिते खे आदित्यः खादित्यः, प्रसिद्धः सूर्य इत्यर्थः । तेन च तत्सम्बन्ध्यालोको लक्ष्यते, तेन दीपिते प्रकाशिते कुड्ये । दर्पणादित्यदीप्तिवद्दर्पणेषु निपत्य पर्यावृत्तैश्च कुड्यसम्बद्धैरादित्यरश्मिभिस्तत्प्रकाशनमिव कूटस्थभासितः कूटस्थेनाविकारिचैतन्येन भासितः प्रकाशितो देहो धीस्थजीवेन बुद्धिस्थचिदाभासेन भास्यते प्रकाश्यते । अनेन सामान्यतो विशेषतश्च कुड्यावभासकादित्यप्रकाशद्वयमिव देहावभासकचैतन्यद्वयमस्तीति प्रतिज्ञातं भवति ।। १ ।।

अद्वैतानन्दसच्चिद्विभुविमलपरब्रह्मकूटस्थरूपं
मोहाद् द्वैतेन्द्रजालालयमपि तिलकं स्वप्रकाशं श्रुतीनाम् ।
सर्वांश्चाऽऽचार्यवर्यान् रघुकुलतिलकं सद्गुरुं ब्रह्मनिष्ठं
श्रीमन्नारायणाख्यं स्वगुरुमपि महादेवसंज्ञं प्रणौमि ।। १ ।।
नत्वा जीवन्नीवान्विद्यारण्यं च भारतीतीर्थम् ।
कूटस्थदीपमिभराट्प्रकाशतो द्योतयामि कौमुद्याः ।। २ ।।

अथ भगवान्भारतीतीर्थाख्य अचार्यस्तृप्तिदीपाख्ये पञ्चदश्याः सप्तमे पूर्वप्रकरणे तावदज्ञानादिनिरंकुशतृप्त्यन्तसप्तावस्थाश्चिदाभासस्यैव सन्ति न कूटस्थस्येत्युक्तमाकर्ण्य-कः कूटस्थ इति विशिष्य तद्विषयिणीं तर्कितान्तेवासिजिज्ञासामालक्ष्य देहाभिधभास्य-प्रतियोगिकसामान्यविशेषभासकत्वाभ्यां कूटस्थचिदाभासयोर्भेदं व्यनक्ति—खादित्येति । अन्तरिक्षस्थितभानुभासित इति यावत् । एतादृशे कुड्ये । भित्तिः स्त्री कुड्यमित्य-

अनेकदर्पणादित्यदीप्तीनां बहुसन्धिषु ।
इतरा व्यज्यते तासामभावेऽपि प्रकाशते ।। २ ।।
चिदाभासविशिष्टानां तथाऽनेकधियामसौ ।
संधिं धियामभावं च भासयन्प्रविविच्यताम् ।। ३ ।।

ननु तत्र दर्पणादित्यदीप्तिव्यतिरेकेण खादित्यदीप्तिर्नोपलभ्यत इत्याशङ्क्य, ताभ्यस्तां विभज्य दर्शयति—**अनेकेति** । या अनेका बहुदर्पणजन्याः कुड्ये तत्र तत्र मण्डलाकारविशेषप्रभा दृश्यन्ते, तासां सन्धौ मध्ये इतरा सामान्यप्रकाशरूपा खादित्यप्रभा व्यज्यते अभिव्यक्तोपलभ्यते । तासां दर्पणजन्यप्रमाणामभावे दर्पणापगमादिनाऽसत्त्वे च स्वयं सर्वत्र प्रकाशते ।। २ ।।

दृष्टान्तसिद्धमर्थं दार्ष्टान्तिके योजयति—**चिदाभासेति** । तथा तेनैव प्रकारेण चिदाभासविशिष्टानां चित्प्रतिबिम्बयुक्तानां अनेकधियामनेकासां बुद्धिवृत्तीनां घटज्ञानादिशब्दवाच्यानां सन्धिमन्तरालं जाग्रदादौ धियां तासामेव बुद्धिवृत्तीनामभावं च सुषुप्त्यादौ भासयन्प्रकाशयन् असौ कूटस्थः प्रविविच्यताम् । ताभ्यो भेदेन ज्ञायतामित्यर्थः ।। ३ ।।

मरान्मृदादिभित्तावित्यर्थः । **दर्पणेति** । आदर्शप्रतिबिम्बितसूर्यकान्तिवदित्येतत् । उपलक्षणमिदं जलादिप्रतिफलितसूर्यकान्तेरपि । एवं दृष्टान्तमभिधाय दार्ष्टान्तिकमाह—**कूटस्थेति** । अत्रायं प्रयोगः स्थूलदेहः कूटस्थसाक्षिचैतन्यभासित एव सन्नहंकारान्तर्गततत्प्रतिबिम्बरूपचिदाभासाख्यजीवभास्यः । यद्वा बिम्बप्रतिबिम्बोभयभास्यः । विशिष्टभास्यत्वात् । सूर्यभासितभित्तेरादर्शप्रतिबिम्बिततद्भासितप्रदेशवदिति । अत्र कूटस्थात्मानुसन्धानरूपं प्रसिद्धप्रमाणप्रयोजनं मङ्गलं तथाऽद्वैतशास्त्रप्रकरणत्वात्तदेकविषयाद्यनुबन्धचतुष्टयवैशिष्ट्यमप्युत्तरार्धेन ध्वन्यते ॥ १ ॥

एवं सूत्रितस्य शास्त्रार्थस्य विवृतिं कुर्वाणः प्रथमं हेत्वसिद्धिमुद्दिधीर्षुर्दृष्टान्ते विशिष्टभास्यत्वं स्पष्टयति—**अनेकेति** । यथा ह्यादर्शगृहादर्शप्रतिबिम्बितसूर्यप्रकाशैः पुरःस्थितसूर्यभासिताऽपि भित्तिस्तत्तत्प्रदेशावच्छेदेन विशिष्य भास्यते तत्र तेषां सन्धिष्वितरा सूर्यभा प्रत्यक्षैव तथोक्तादर्शप्रतिफलितसूर्यकान्तीनामभावेऽपि सामान्यतो भित्तिभासकसूर्यकान्तिर्भित्तौ प्रत्यक्षैवास्तीत्यर्थः ॥ २ ॥

उक्तमर्थं दार्ष्टान्तिकेऽपि प्रकटयति—**चिदाभासेति** । **अनेकेति** । घटपटादिविषयकासंख्यातमतिवृत्तीनामित्यर्थः ।

सन्धिम्—"लीने पूर्वविकल्पे तु यावदन्यस्य नोदयः ।
निर्विकल्पकचैतन्यं स्पष्टं तावद्विभासते" ॥

घटैकाकारधीस्था चिद्घटमेवावभासयेत् ।
घटस्य ज्ञातता ब्रह्मचैतन्येनावभासते ।। ४ ।।
अज्ञातत्वेन ज्ञातोऽयं घटो बुद्ध्युदयात्पुरा ।
ब्रह्मणैवोपरिष्टात्तु ज्ञातत्वेनेत्यसौ भिदा ।। ५ ।।

इदानीं देहान्तः कूटस्थचिदाभासयोः भेदप्रदर्शनाय देहाद्बहिरपि चिदाभासब्रह्मणी विभज्य दर्शयति—घटेति । घटैकाकारधीस्था चिद् घटस्यैकस्याकार इवाकारो यस्याः सा घटैकाकारा, तथाविधायां बुद्धौ वर्तमानश्चिदाभासः घटमेवावभासयेत्; तस्य घटस्य ज्ञातताख्यो धर्मो घटो ज्ञात इति व्यवहारहेतुर्यः स घटकल्पनाधिष्ठानेन ब्रह्मचैतन्येन साधनभूतेनावभासते, प्रकाशत इत्यर्थः ।। ४ ।।

ननु ज्ञाततावभासकचैतन्येनैव घटप्रतीतिसम्भवाद्बुद्धिः किमर्थेत्याशङ्क्य, घटस्य ज्ञाततादिभेदसिद्ध्यर्थेत्याह—अज्ञातत्वेनेति । बुद्ध्युदयात्पुरा अयं घटो ब्रह्मणैवाज्ञातत्वेन प्रकाशितो, बुद्ध्युत्पत्तौ सत्यां ज्ञातत्वेन ब्रह्मणैव प्रकाश्यते इति इयानेव भेदः, नान्य इत्यर्थः ।। ५ ।।

इति लघुवाक्यवृत्युक्तेरन्तरालकालमेव जाग्रदाद्यवच्छेदेनेत्यार्थिकम् । एवं धियां निरुक्तवृत्तिकारणीभूतबुद्धीनामेवेत्यर्थः । बहुवचनमिदं सर्वजीवानुभवप्रसिद्ध्यर्थमेव । अभावं च सुप्त्यावच्छेदेन विलयमपीति यावत् । तथा प्रागुक्तदृष्टान्तप्रकारेण भासयन्प्रकाशयन्सन्नसौ कूटस्थः प्रविविच्यतां प्रकृष्टविचारविषयीक्रियतामित्यन्वयः । मुमुक्षुभिरिति शेषः । तस्माद्यत्र यत्र विशिष्टभास्यत्वं तत्र बिम्बप्रतिबिम्बोभयभास्यत्वमिति व्याप्तेः सूर्यभासितभित्तौ वह्वादर्शप्रतिबिम्बितसूर्यकान्तिभास्यत्ववद्देहाख्यपक्षेऽपि बिम्बीभूतकूटस्थभास्यत्वस्य तत्प्रतिबिम्बीभूतचिदाभासभास्यत्वस्य च सत्त्वान्न हेतोः स्वरूपासिद्ध्यादिकमित्याशयः ।। ३ ।।

एवं त्वंपदार्थपरिशोधार्थं देहान्तः कूटस्थचिदाभासौ प्रविविक्तौ प्रदर्श्य तत्पदार्थपरिशोधार्थं देहाद्बहिरपि ब्रह्मचिदाभासौ प्रविविक्तौ प्रदर्शयति—घटैकाकारेति । घटस्यैकस्यैव न त्वितरस्याऽऽकार इवाऽऽकारो यस्या एतादृशी या धीस्तत्र प्रतिबिम्बत्वेन तिष्ठतीति तथेति यावत् । एतादृशी या चिच्चिदाभासरूपसंविदित्यर्थः । अस्त्वेवं ततः किं तत्राऽऽह—घटस्येति । ज्ञातो घट इत्यादिव्यवहारप्रयोजकीभूता घटस्य ज्ञातता तु घटकल्पनाधिष्ठानेनेत्यार्थिकम् । एतादृशेन । ब्रह्मेत्यादि निगदव्याख्यातम् । एवं चायंघट इति ज्ञाने घटचिदाभासभास्य एव ज्ञातो घट इति ज्ञाने त्वसौ घटारोपाधिष्ठानीभूतब्रह्मचैतन्यभास्य इति तयोर्विभागः स्फुट एवेति भावः ।। ४ ।।

नन्वेवं तर्हि घटाकारबुद्ध्युदयात्प्रागपि तदधिष्ठानीभूतब्रह्मचिन्मात्रेणैवास्तु

चिदाभासान्तधीवृत्तिर्ज्ञानं लोहान्तकुन्तवत् ।
जाड्यमज्ञानमेताभ्यां व्याप्तः कुम्भो द्विधोच्यते ।। ६ ।।
अज्ञातो ब्रह्मणा भास्यो ज्ञातः कुम्भस्तथा न किम् ।
ज्ञातत्वजननेनैव चिदाभासपरिक्षयः ।। ७ ।।

नन्वेकस्यैव घटस्य ज्ञातत्वाऽज्ञातत्वलक्षणं द्वैरूप्यं कथं सम्भवतीत्याशङ्क्य, तदवबोधनाय ज्ञातताऽज्ञाततानिमित्तयोर्ज्ञानाज्ञानयोः स्वरूपं तावद् दर्शयति—चिदाभासेति । चिदाभासान्तधीवृत्तिः चिदाभासश्चित्प्रतिबिम्बः सोऽन्ते पुरोभागे यस्याः सा धीवृत्तिर्ज्ञातमित्युच्यते 'बोधेद्धा बुद्धिः' इत्याचार्यैरभिधानात् । तत्र दृष्टान्तः—लोहान्तकुन्तवदिति । जाड्यं स्वतःस्फूर्तिरहितत्वमज्ञानमित्युच्यते । एताभ्यां पर्यायेण व्याप्तः सर्वतः सम्बद्धः कुम्भो द्विधोच्यते, ज्ञात इति अज्ञात इति चोच्यते इत्यर्थः ।। ६ ।।

नन्वज्ञातस्य कुम्भस्य अज्ञानव्याप्तत्वाद् भवतु ब्रह्मावभास्यत्वं, ज्ञानव्याप्तस्य तु ज्ञातस्य कुम्भस्य कुतो ब्रह्मचैतन्यावभास्यत्वमित्याशङ्क्य, अज्ञानस्य अज्ञातताजननमात्रेणेव ज्ञानस्यापि ज्ञातताजननमात्रेणोपक्षीणत्वादज्ञातकुम्भ-

घटभानमिति चेदज्ञातत्वेनास्त्येव तथेत्याह—अज्ञातत्वेनेति । एवं चेद् बुद्धेः किं फलमित्यत आह—उपरिष्टात्त्विति । भिदा भेदः ।। ५ ।।

ननु भवत्वेवमज्ञातत्वाद्युपहितो घटो ब्रह्मभास्यस्तथा ज्ञातत्वाज्ञातत्वाभ्यां सर्वमिदं साक्षिभास्यमिति विवरणसिद्धान्तेन सह ब्रह्मणोऽज्ञातत्वादिना भासकत्वादेव साक्षित्वविवक्षयाऽविरोधश्च तथाऽपि किं तन्मूलीभूतयोर्ज्ञानाज्ञानयोरेवाऽऽदौ स्वरूपं विवक्षितमित्यपेक्षायां तत्संक्षिपति—चिदाभासान्तेति । चिदाभासः सर्वात्मना मिथ्याभूतश्चित्प्रतिबिम्बः सोऽन्तेऽग्रभागे यस्याः सा तथेत्यर्थः । एतादृशी धीवृत्तिरेव । लोहेति । लोहं तन्मयं शल्यमन्तेऽग्रभागे यस्स स चासौ कुन्तश्चेति तथा तद्वदित्यर्थः । ज्ञानं भवतीत्यन्वयः । यथा काचन वंशयष्टिरेव लोहमयशल्याग्रा संपादिता चेद्भुशुण्ड्यपराभिधः 'भाला' इति महाराष्ट्रप्रसिद्धः कुन्ताख्यायुधविशेषो भवति तद्वच्चिदाभासाग्रवती मतिवृत्तिरेव ज्ञानं भवतीति भावः । एवं ज्ञानस्वरूपं निरूप्याज्ञानस्वरूपमप्याह—जाड्यमिति । तदेतज्जडं मोहात्मकमिति श्रुतेर्भानविरोध्यनादिभावरूपमनिर्वचनीयं वस्त्वित्यर्थः । एतादृशम् । अज्ञानमज्ञानपदवाच्यमस्तीति यावत् । फलितमाह—एताभ्यामित्यादिशेषेण । द्विधा ज्ञातोऽज्ञातश्चेत्यर्थः ।। ६ ।।

ततः किं तत्राऽऽह—अज्ञात इति । ननु ज्ञातः कुम्भः स्पष्टं चिदाभासभास्य एव प्रतीयत इति चेत्सत्यम् ।

आभासहीनया बुद्ध्या ज्ञातत्वं नैव जन्यते ।
तादृग्बुद्धेर्विशेषः को मृदादेः स्याद्विकारिणः ।। ८ ।।
ज्ञात इत्युच्यते कुम्भो मृदा लिप्तो न कुत्रचित् ।
धीमात्रव्याप्तकुम्भस्य ज्ञातत्वं नेष्यते तथा ।। ९ ।।
ज्ञातत्वं नाम कुम्भेऽतश्चिदाभासफलोदयः ।
न फलं ब्रह्मचैतन्यं मानात्प्रागपि सत्त्वतः ।। १० ।।

वज्ज्ञातस्यापि ब्रह्मावभास्यत्वं भवतीत्याह—अज्ञात इति । यथा अज्ञात-कुम्भो ब्रह्मणा भास्यस्तथा ज्ञातकुम्भो न किं ब्रह्मावभास्यो भवति ? किन्तु भवत्येवेत्यर्थः । कुत इत्यत आह—ज्ञातत्वेति ।। ७ ।।

नन्वज्ञातताजननाय अज्ञानमिव ज्ञातताजननायापि बुद्धिरेवालम्, किमनेन चिदाभासेनेत्याशङ्क्य, चिदाभासरहिताया बुद्धेर्घटादिवदप्रकाशरूपत्वेन ज्ञातताजननं न सम्भवतीत्याह--आभासेति ।। ८ ।।

चिदाभासरहितबुद्धिव्याप्तस्य घटस्य ज्ञातत्वाभावं दृष्टान्तप्रदर्शनेन स्पष्टयति—ज्ञात इति । लोके कुत्रचिदपि घटो मृदा शुक्लकृष्णरूपया लिप्तो लेपनं प्राप्तो ज्ञात इति नोच्यते यथा तथा चिदाभासरहितबुद्धिव्याप्तस्यापि कुम्भस्य ज्ञातत्वं नाभ्युपगम्यत इति भावः ।। ९ ।।

फलितमाह—ज्ञातत्वमिति । यतः केवलाया बुद्धेर्ज्ञातत्वजननासमर्थत्वमतः कुम्भे चिदाभासलक्षणस्य फलस्योत्पत्तिरेव ज्ञातत्वं नाम प्रसिद्धमित्यर्थः । नन्वथापि चिदाभासो न कल्पनीयः; ब्रह्मचैतन्यस्यैव फलस्य सद्भावादित्याशङ्क्याह—न फलमिति । ब्रह्मचैतन्यं फलं घटादिस्फुरणं न

"बुद्धितत्स्थचिदाभासौ द्वावपि व्याप्नुतो घटम् ।
तत्राज्ञानं धिया नश्येदाभासेन घटः स्फुरेत्" ।।

इतिवचनाज्ज्ञानमात्रोत्पादनेनैव तस्य चारितार्थ्यादित्याह—ज्ञातत्वेति । यथा दण्डित्वं दण्ड एव तथा ज्ञातत्वं ज्ञानमेव ।। ७ ।।

ननु ज्ञातत्वरूपं ज्ञानं बुद्धिरेव जनयतु किं चिदाभासेनेत्यत्राऽऽह—आभासेति । तत्र हेतुः—तादृगिति ।। ८ ।।

तत्रोपपत्तिमाह—ज्ञात इतीति ।। ९ ।।

परागर्थप्रमेयेषु या फलत्वेन संमता ।
संवित्सैवेह मेयोऽर्थो वेदान्तोक्तिप्रमाणतः ।। ११ ।।

भवतीति कुत इत्यत आह—**मानादिति** । मानात्प्रागपि प्रमाणप्रवृत्तेः पूर्वंमपि विद्यमानत्वात्; फलस्य तु तदुत्तरकालीनत्वनियमादिति भावः ।।१०।।

नन्विदं 'परागर्थप्रमेयेषु' इत्यादिसुरेश्वरवार्तिकविरुद्धमित्याशङ्क्य, तद्विवक्षानभिज्ञस्य इदं चोद्यमिति परिहरति—**परागर्थे**ति । अस्य चायमर्थः—परागर्था बाह्या घटादयः पदार्थास्तेषु प्रमेयेषु प्रमाणविषयेषु सत्सु या प्रमाणफलत्वेनाभ्युपेता संविदस्ति, सैवेहास्मिन्वेदान्तशास्त्रे वेदान्तोक्तिप्रमाणतो वेदान्तवाक्यलक्षणप्रमाणेन मेयोऽर्थो ज्ञातव्योऽर्थः ।। ११ ।।

निगमयति—**ज्ञातत्वमिति । चिदाभासेति** । चिदाभास एव फलं प्रमाणफलं तस्योदय इत्यर्थः । ननु ब्रह्मचैतन्यमेव घटाधिष्ठानीभूतं भवतु फलमित्यत आह—**नेत्यादिना** । तत्र हेतुः—**मानादित्यादिशेषेण** ।। १० ।।

नन्वेवं यदि प्रमाणजन्यान्तःकरणवृत्त्यभिव्यक्तं चिदाभासचैतन्यमेव फलं न तु ब्रह्मचैतन्यं फलमिति चेत्तर्हि **श्रीमत्सुरेश्वरवार्तिकेन** साकं विरोध इति दर्शयितुं तद्वार्तिकं पठति—**परागिति** । परागर्थाः प्रत्यगर्थीभूतात्मभिन्नाः सर्वेऽप्यनात्मपदार्थाः कुम्भादयस्तल्लक्षणानि यानि प्रमेयाणि प्रमाविषयतायोग्यान्यज्ञातघटाद्यवच्छिन्नचैतन्यानि तेष्वित्यर्थः । या संविच्चितिः फलत्वेन ज्ञातत्वलक्षणेन प्रमाणफलचैतन्यत्वेन सम्मता सर्वाभियुक्तमान्याऽस्तीत्यर्थः । सैव संविदिहाद्वैतशास्त्रे—**वेदान्तेति** । अयमात्मा ब्रह्मेत्याद्युपनिषन्महावाक्यैकजन्यप्रमाणवृत्तित इति यावत् । मेयः प्रमितिविषयीकरणीयः । अर्थोऽद्वैतब्रह्मलक्षणोऽर्थः । भवतीत्यार्थिकशेषं सम्पूर्य सम्बन्धः । तदुक्तं **सिद्धान्तबिन्दौ**—एवमत्र प्रक्रिया । शरीरमध्ये स्थितः सर्वशरीरव्यापकः सत्त्वप्राधान्येन सूक्ष्मपञ्चभूतारब्धोऽन्तःकरणाख्योऽविद्याविवर्तो दर्पणादिवदतिस्वच्छो नेत्रादिद्वारा निर्गत्य योग्यान्घटादिविषयान्व्याप्य तत्तदाकारो भवति द्रुतताम्रादिवत् । तस्य च सौरालोकादिवज्झटित्येव संकोचविकासावुपपद्येते । स च सावयवत्वात्परिणममाणो देहाभ्यन्तरे घटादौ च सम्यग्व्याप्य देहघटयोर्मध्येऽपि चक्षुर्वदविच्छिन्नो व्यवतिष्ठते । तत्र देहावच्छिन्नोऽन्तःकरणभागोऽहंकाराख्यः कर्तेत्युच्यते । देहविषयमध्यवर्ती दण्डायमानस्तद्भागो वृत्तिज्ञानाख्या क्रियेत्युच्यते । विषयव्यापकंस्तद्भागो विषयस्य ज्ञानकर्मत्वसम्पादकमभिव्यक्तियोग्यत्वमित्युच्यते । तस्य च त्रिभागस्यान्तःकरणस्यातिस्वच्छत्वाच्चैतन्यं तत्राभिव्यज्यते । तस्याभिव्यक्तस्य चैतन्यस्यैकत्वेऽप्यभिव्यञ्जकान्तःकरणभागभेदात् त्रिधा व्यपदेशो भवति । कर्तृभागावच्छिन्नश्चिदंशः प्रमाता । क्रियाभागावच्छिश्चिदंशः प्रमाणम् । विषयगताभिव्यक्तियोग्यत्वभागावच्छिन्नश्चिदंशः प्रमितिरिति । प्रमेयं तु विषयगतं ब्रह्मचैतन्यमेवाज्ञानम् । तदेव च ज्ञातं सत्फलमिति ।

इति वार्तिककारेण चित्सादृश्यं विवक्षितम् ।
ब्रह्मचित्फलयोर्भेदः सहस्र्यां विश्रुतो यतः ।। १२ ।।

इत्यनेन वार्तिकेन ब्रह्मचैतन्यसदृशश्चिदाभासः प्रमाणफलत्वेन विवक्षितो न ब्रह्मचैतन्यमिति भावः । वार्तिककाराणामीदृशी विवक्षेति कुतोऽवगम्यत इत्याशङ्क्य, तद्गुरुभिः श्रीमदाचार्यैरुपदेशसाहस्र्यां ब्रह्मचैतन्यचिदाभासयोर्भेदस्य प्रतिपादितत्वादित्याह—ब्रह्मचिदिति । ब्रह्मचिच्च फलं च ब्रह्मचित्फले, तयोरिति विग्रहः ।। १२ ।।

एवं चाधिष्ठानत्वाद्विषयगतब्रह्मचैतन्यस्यैव ज्ञातत्वोपहितत्वेन फलत्वमिति तु निर्विवादमेव । तथा च गामानयेति गुरुणाऽऽज्ञप्तः शिष्यः शुक्लां गामानयन्नपि किमिति शुक्ला गौरानीतेति तेनासौ नैव तिरस्क्रियते तस्माद्विशिष्टं शुद्धान्नातिरिच्यत इति न्यायः फलति । तेनैवेदं वार्तिकमवाङ्मनसगम्ये शुद्धे ब्रह्मणि बुभुत्सुबुद्ध्यप्रवेशात्तदनुजिघृक्षया प्रवृत्तमित्याकूतम् ।। ११ ।।

एवं श्रीमद्वार्तिककारचरणरहस्यानभिज्ञस्य शिष्यादेर्ब्रह्मचैतन्यफलचैतन्ययोः शुद्धत्वकिञ्चिद्धर्मविशिष्टत्वाभ्यां भेदवादिने सिद्धान्तिने तद्विरोधप्रदर्शनार्थं प्रकृतवार्तिकोपन्यासे सति तत्तात्पर्यं सिद्धान्त्यभिधत्ते—इतीत्यर्धेन । इति प्रकृतवार्तिक इत्यर्थः । वार्तिकेति । अत्र षष्ठीबहुवचनान्तपाठ एव साधीयान् । अन्वयसारल्यात् । बहुवचनं त्वादरातिशयार्थमेव । तृतीयैकवचनान्तस्त्वपपाठ एव । अन्वयक्लिष्टत्वाद्यापत्तेः । चिदित्यादि । चित्त्वेनैव ब्रह्मचैतन्यप्रमाणफलचैतन्ययोः सादृश्यं साम्यमिति यावत् । विवक्षितं वक्तुमिष्टमस्तीति योजना । ननु कुत एतदिति चेत्तद्गुरुभिः श्रीमद्भाष्यकारचरणैरुपदेशसाहस्र्यां तद्भेदस्यैवोक्तत्वादित्याह—ब्रह्मचिदिति । ब्रह्मचिच्च फलं प्रागुक्तं फलचैतन्यं चेति तथा तयोरित्यर्थः । तदुक्तमुपदेशसाहस्र्याश्चतुर्दशप्रकरणे—

"चिन्मात्रज्योतिषा सर्वा सर्वदेहेषु बुद्धयः ।। मया यस्मात्प्रकाश्यन्ते सर्वस्याऽऽत्मा ततो ह्यहम् । करणं कर्म कर्ता च क्रिया स्वप्ने फलं च धीः । जाग्रत्येवं यतो दृष्टा द्रष्टा तस्मादतोऽन्यथा ।।" इति अत्र रामतीर्थीटीकाऽपि यावदुपयुक्तैव संगृह्यते । द्रष्टाऽऽत्मा ततो बुद्धेरन्यथाऽन्यादृशः सत्योऽखण्डैकरस इत्यर्थ इति । एवं चेह चिन्मात्रेत्यादिना च ब्रह्मात्मचैतन्यस्य फलमिति फलचैतन्यभेदः स्पष्ट एवेति भावः । नन्वेवमपि वेदान्तकल्पलतायां श्रीमधुसूदनसरस्वतीभिरेतद्वार्तिकं ब्रह्मचैतन्यपरमेव वर्णितं तथाच पुनरपि विरोधतादवस्थ्यमेव । तद्यथा । तत्र हि ब्रह्मणि वृत्तिव्याप्तिं प्रकृत्योक्तम् ।

यत्तु—"फलव्याप्यत्वमेवास्य शास्त्रकृद्भिर्निराकृतम् ।
ब्रह्मण्यज्ञाननाशाय वृत्तिव्याप्तिरपेक्षिता" ।।

इत्युक्त्वात्फलव्याप्यत्वमेव जडत्वापादकमित्याहुस्तन्न । प्रमाणजन्यान्तःकरणवृत्त्यभिव्यक्तचैतन्यस्यैव शास्त्रे फलत्वव्यपदेशात्तद्व्याप्यत्वस्यैव जडत्वापादकत्वे ब्रह्मण

इव साक्षिभास्यानामपि जडत्वं न स्यात्। चैतन्यकर्मता तु चिद्भिन्नत्वावच्छेदेन सर्वत्रैवेति सैव जडत्वप्रयोजिका। उदाहृतकारिकायामपि चैतन्यमात्रपरमेव फलपदमिति द्रष्टव्यम्। ननु वृत्तिविषयत्वेन तदुपरक्तचैतन्यविषयत्वमपि नियतम्। वृत्तेश्चिदाकारगर्भिण्या एवोत्पत्तेः।

तदुक्तम्—"वियद्वस्तु स्वभानानुरोधादेव न कारकात्। वियत्सम्पूर्णतोत्पत्तौ कुम्भस्येव दृशा धियाम्। घटदुःखादिरूपत्वं धियो धर्मादिहेतुतः। स्वतः सिद्धार्थसंबोधव्याप्तिर्वस्त्वनुरोधतः" इति। तथाच चैतन्यविषयत्वेन जडत्वं दुर्वारमेव। न। वृत्त्युपरक्तचैतन्यस्य स्वयमेव चैतन्यरूपत्वान्न तद्व्याप्तता। फले फलान्तरानुपपत्तेः। तद्भिन्नानां तु स्वतो भानरहितानां तद्व्याप्तिरवश्यमाश्रयणीयेति न कोऽपि दोषः। तदुक्तम्—"परागर्थं प्रमेयेषु या फलत्वेन सम्मता। संवित्सैवेह मेयोऽर्थो वेदान्तोक्तिप्रमाणतः" इतीति। एवं च मूलकृतामुपदेशसाहस्र्यनुसारेणैतद्वार्तिकस्थफलपदं ब्रह्मचैतन्यसदृशपरमभिमतम्। अन्यथोपदेशसाहस्र्युक्तः स्वोक्तश्च ब्रह्मचैतन्यफलचैतन्ययोर्भेदः प्रतिरुद्धः स्यादुदाहृतकल्पलतिकाग्रन्थे तावत्तयोरभेद एव स्फुटीभवतीति चेत्सत्यम्। उक्तकल्पलतिकायामप्यव्यवहितपूर्वग्रन्थे। अथवा चैतन्यविषयतैव सर्वत्र जडत्वापादिका न तु वृत्तिविषयताऽपि "यतो वाचो निवर्तन्ते" "न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा" "तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि" "नावेदविन्मनुते तं बृहन्तम्" "वेदेनैव यद्वेदितव्यम्" इत्याद्युभयविधश्रुत्यनुसारेण कल्पनादित्युक्तेः शुद्धब्रह्मविषयक एव वृत्तिविचारेष्वपीति (?) तु निर्विवादमेव। तेन वृत्त्युपरक्तचैतन्यस्येत्यादावत्र सिद्धान्तग्रन्थे वृत्त्या विचारिततत्त्वमस्यादिवाक्यजन्ययाऽहं ब्रह्मास्मीत्यखण्डाकारचरमवृत्त्योपरक्तं मूलाविद्याध्वंसद्वारा सम्बद्धमिव यद्ब्रह्मात्मचैतन्यं तस्य स्वयमेव चैतन्यरूपत्वान्न तद्व्याप्यतेत्याद्युपपाद्य तत्र संमतित्वेनोदाहृतमिदं वार्तिकं परागर्थेत्यादि। तत्र परागर्था अनात्मरूपाः ये घटादयस्तल्लक्षणानि यानि प्रमेयाणि तेषु या संविच्चितिस्तद्विषयकचक्षुरादिजन्यबुद्धिवृत्त्यवच्छिन्ना चित्फलत्वेन प्रमाणजन्यान्तःकरणवृत्त्यभिव्यक्तचैतन्यस्यैव शास्त्रे फलत्वव्यपदेशादित्यत्रैव प्राक्फलचैतन्यलक्षणस्योक्तत्वात्तत्त्वे न संमता। "करणं कर्म कर्ता च क्रिया स्वप्ने फलं च धीः। जाग्रत्येवं यतो दृष्टा" इति श्रीमद्भाष्यकारचरणानां समभिप्रेताऽस्ति। वेदान्तोक्तिप्रमाणतस्तु मेयोऽर्थ एव ब्रह्मात्मैक्यलक्षणः पारमार्थिकः पुरुषार्थः सा भवति नैव तत्र घटादिजडवत्स्फोरणार्थं फलचैतन्याख्यनिरुक्तसंविदन्तरापेक्षा। तस्या एव स्वप्रकाशत्वादिति यथामत्यर्थः प्रतिभाति। तथा चैवकारोऽयं मया कल्पलताकृदनुसारेणैव मेयोर्थ एवेति योजितो न तु कपोलकल्पित इति ध्येयम्। एवं च मूले। "ज्ञातत्वं नाम कुम्भे तच्चिदाभासफलोदयः। न फलं ब्रह्मचैतन्यं मानात्प्रागपि सत्त्वतः" इत्युक्त्वा घटाद्याकारप्रमाणवृत्तिविचारे फलचैतन्यब्रह्मचैतन्ययोः स्पष्टभेदमसहमानस्योक्तवार्तिके सैवेति यथाश्रुतग्राहिणस्त्वादृशस्य घटादिप्रतिकर्मव्यवस्था व्युत्पादनार्थमुक्तवार्तिकमेव पठित्वाऽग्रे "इति वार्तिककाराणां चित्सादृश्यं विवक्षित"मित्यादिना सहेतुकं फलत्वेन या सम्मतेत्यादेः स्वारस्यं न्यरूपीति कोऽत्र मूलकल्पलतयोरुपजीव्योपजीवकयोर्विरोध-

आभास उदितस्तस्माज्ज्ञातत्वं जनयेद्घटे ।
तत्पुनर्ब्रह्मणाभास्यमज्ञातत्ववदेव हि ।। १३ ।।
धीवृत्त्याभासकुम्भानां समूहो भास्यते चिदा ।
कुम्भमात्रफलत्वात्स एक आभासतः स्फुरेत् ।। १४ ।।
चैतन्यं द्विगुणं कुम्भे ज्ञातत्वेन स्फुरत्यतः ।
अन्येऽनुव्यवसायाख्यमाहुरेतद्यथोदितम् ।। १५ ।।

एवं च सति प्रकृते किमायातमित्यत आह—**आभास इति** । यस्माद्ब्रह्मचित्फलयोर्भेदः प्रसिद्धः, तस्माद्घटे उदित उत्पन्न आभासश्चिदाभासस्तत्र घटे ज्ञातत्वं पुनरज्ञातत्ववद्ब्रह्मणैवाभास्यं भवति । हि प्रसिद्धमित्यर्थः ।। १३ ।।

एवं ब्रह्मचिदाभासयोर्भेदमुपपादितं विषयभेदप्रदर्शनेन स्पष्टयति—**धीवृत्त्येति** । चिदा ब्रह्मचैतन्येनेत्यर्थः । चिदाभासस्य कुम्भमात्रनिष्ठफलरूपत्वात्तेनाभासेन स घट एक एव स्फुरेत्, भासेतेत्यर्थः ।। १४ ।।

कुम्भस्य चिदाभासब्रह्मोभयभास्यत्वे लिङ्गमाह—**चैतन्यमिति** । अतो घटस्य ब्रह्मचिदाभासोभयभास्यत्वात्कुम्भे ज्ञातत्वेन द्विगुणं चैतन्यं भाति । इदमेव घटज्ञातताविभासकं चैतन्यं तार्किकैर्नामान्तरेण व्यवह्रियत इत्याह—

गन्धोऽपि । चिन्मात्रस्याद्वितीयत्वेऽपि प्रतिकर्मव्यवस्थायां तत्तदवच्छेदेन षोढा भिन्नत्वं सदृष्टान्तं मया स्पष्टोक्तं **बोधैक्यसिद्धौ**—

"पर्वाब्ध्यस्फाटिकोच्चापवरकगलसद्दीपवच्छुद्ध आत्मा
तद्भावत्स्यात्स साक्षी तदुपहितकव(?)त्पर्ववत्स प्रमाता ।
मानं मेयं मितिस्तत्फलमपि च बहिः प्रस्फुरंस्तत्प्रकाशः
कुम्भाद्यन्तं यथैवं सकरणगमतीद्धः स्फुरत्यद्वयोऽपि" इति ॥

विस्तरस्त्वेतट्टीकायामेव मदीयायां विज्ञेय इति शिवम् ।। १२ ।।

ननु भवत्वेवं ततः किं प्रकृत इत्यत आह—**आभास इति** । आलोकसहकृतचक्षुःसन्निकृष्टघटाकारबुद्धिवृत्ताविति शेषः । आभासश्चिदाभासः । उदितस्तत्समकालमेव घटाकाशवदुत्पन्नः सन्नित्यर्थः । अपरं तु सरलमेव ॥ १३ ॥

एवं चोपपादितएव ब्रह्मचैतन्यफलचैतन्ययोर्भेदे युक्त्यन्तरमप्याह—**धीवृत्तीति** । धीवृत्तिः प्रमाणजन्या मनोवृत्तिराभासः प्रमाणफलाख्यस्तद्गतश्चिदाभासः कुम्भस्तद्विषयो घटश्चेति द्वन्द्वः । समूहः संघः । चिता घटाधिष्ठानीभूतब्रह्मचैतन्येनेत्यर्थः । ततः किं तत्राऽऽह—**कुम्भमात्रेति** । एवं च विषयविभेदादपि ब्रह्मचैतन्यफलचैतन्ययोर्भेद इति भावः ॥ १४ ॥

घटोऽयमित्यसावुक्तिराभासस्य प्रसादतः ।
विज्ञातो घट इत्युक्तिर्ब्रह्मानुग्रहतो भवेत् ।। १६ ।।

अन्य इति । यथोदितं यथोक्तमेतदेव ब्रह्मचैतन्यं अन्ये तार्किका अनुव्यवसायाख्यं ज्ञानान्तरं प्राहुरिति योजना ।। १५ ।।

'अयं घट' इति व्यवहारभेदादपि चिदाभासब्रह्मणोर्भेदोऽवगन्तव्य इत्याह—**घटोऽयमिति** ।। १६ ।।

ननु धीवृत्त्याभासकुम्भानां त्रयाणामपि साधारण्येन ब्रह्मचैतन्यभास्यत्वेऽपि पुनः कुम्भस्यैकस्यैव फलाख्यचिदाभासभास्यत्वं यदुच्यतेऽत्र किं मानमित्याशङ्क्य कार्यलिङ्गकानुमानमेवेतिध्वनयन्समाधत्ते— **चैतन्यमिति ।** धीवृत्त्याभासकुम्भानां मध्ये यतः कुम्भ एक एव ज्ञातत्वेन 'ज्ञातो मया कुम्भ' इति 'कुम्भज्ञानवानहमि'ति वा परिस्फुरत्यतः कुम्भे चैतन्यं द्विगुणमयं कुम्भ इति ज्ञातो मया कुम्भ इति स्फुरणद्वयं भवति न तु धीवृत्तिचिदाभासयोरित्याशयः । तत्रायं कुम्भ इति प्राथमिकज्ञान धीवृत्त्याभासकुम्भानां दृश्यत्वसाधारण्येन भानेऽपि प्रमातुश्चक्षुरभिधप्रमाणप्रवृत्तेः कुम्भमात्रप्रमित्यर्थत्वात्साक्षिमात्रभास्यधीवृत्त्याभासयोस्तदविषयत्वाच्च । नन्वयं घट इति प्राथमिकज्ञाने यथा साक्षिणा धीवृत्त्यादयस्त्रयोऽपि विषयीक्रियन्ते तथा द्वितीये ज्ञातो घट इत्यादिरूपे ज्ञानेऽपि ब्रह्मचैतन्याख्यसाक्षिणैव ते विषयीक्रियन्तेऽत्रैकस्मिन्कुम्भ एव किमिति ज्ञानभानस्फुरणसंविच्चिच्चितिचैतन्यादिपदानामनर्थान्तरत्वेन चैतन्यद्वैगुण्यं स्वोक्रियत इति चेद् बाढम् । प्राथमिकज्ञानस्यैव प्रमात्वेन कुम्भमात्रविषयकत्वात्तदानीं तन्मात्रस्यैव भानात्तन्नाऽऽन्तरीयकतया बुद्धिवृत्तितदवच्छिन्नचिदाभासयोस्तु साक्षिरूपज्ञानेनैव भानाच्च । ज्ञातो घट इत्याद्याकारके कुम्भज्ञानविषयके ज्ञाने तु साक्षिणैव कुम्भस्तद्विषयं प्रमावृत्त्यात्मकं ज्ञानं तदवच्छिन्नश्चिदाभासश्च तुल्यकालमेव विषयीक्रियन्त इति युक्तमेव घटे चैतन्यस्य द्वैगुण्यकथनम् । अत्रायं प्रयोगः । अयं घट इति ज्ञाने स्फूर्यमाणानां धीवृत्त्याभासकुम्भानां मध्ये विमतः कुम्भ एव चैतन्यद्वैगुण्यवान् । प्रमितिविषयत्वे सति साक्षिविषयत्वाद्व्यतिरेके प्रमित्यादिवदिति । यावत्प्रमाविषयाणां पक्षसमतयाऽन्वयदृष्टान्ताभावात्केवलव्यतिरेक्येव । ननु भवत्वेवमथाप्यन्यैः कैश्चिदपि तैर्थिकैः प्रमिते वस्तुनि ज्ञानद्वैगुण्याङ्गीकरणादर्शनादिदं परिभाषामात्रमेवेति चेन्न । तार्किकैरस्मदुक्तस्य ज्ञानविषयकसाक्षिज्ञानस्यैवानुव्यवसायत्वेनाङ्गीकृतत्वादित्यभिप्रेत्याऽऽह— **अन्य इति** । अन्ये तार्किकाः । यथोदितं यथावदुपपादितम् । अस्माभिरित्यार्थिकम् । एतत्प्रमिते वस्तुनि ज्ञानत्वेन स्फुरणमित्यर्थः । अनुव्यवसायाख्यमेतन्नामकम् । आहुरित्यन्वयः ।।१५।।

तदेवमुक्तमेवार्थं सर्वानुभवसाधारण्येन बुद्धावधिरोहयति— **घटोऽयमित्यसाविति** । आभासस्य प्रमित्यवच्छिन्नचिदाभासस्येत्यर्थः । **ब्रह्मेति** । घटाधिष्ठानीभूतब्रह्मचैतन्येनेति यावत् ।। १६ ।।

आभासब्रह्मणी देहाद् बहिर्यद्वद्विवेचिते ।
तद्वदाभासकूटस्थौ विविच्येतां वपुष्यपि ॥ १७ ॥
अहंवृत्तौ चिदाभासः कामक्रोधादिकासु च ।
संव्याप्य वर्तते तप्ते लोहे वह्निर्यथा तथा ॥ १८ ॥
स्वमात्रं भासयेत्तप्तं लोहं नान्यत्कदाचन ।
एवमाभाससहिता वृत्तयः स्वस्वभासिकाः ॥ १९ ॥
क्रमाद्विच्छिद्य विच्छिद्य जायन्ते वृत्तयोऽखिलाः ।
सर्वा अपि विलीयन्ते सुप्तिमूर्च्छासमाधिषु ॥ २० ॥

देहाद् बहिश्चिदाभासब्रह्मणी विविच्येते यथा तथा देहान्तश्चिदाभास-कूटस्थौ विवेचनीयावित्याह—आभासेति ॥ १७ ॥

ननु देहाद् बहिश्चिदाभासव्याप्यघटाकारवृत्तिवदान्तरविषयगोचरवृत्त्य-भावात्कथं तद्व्यापकश्चिदाभासोऽभ्युपगम्यत इत्याशङ्क्य, विषयगोचर-वृत्त्यभावेऽप्यहमादिवृत्तिसद्भावात्तद्व्यापकश्चिदाभासोऽभ्युपगन्तुं शक्यत इति सदृष्टान्तमाह—अहमिति ॥ १८ ॥

अहमादिवृत्तीनामेव चिदाभासभास्यत्वं दृष्टान्तप्रपञ्चनेन स्पष्टयति—**स्वमात्रमिति** ॥ १९ ॥

एवं चिदाभासं व्युत्पाद्य, कूटस्थस्वरूपं व्युत्पादयितुं तदुपयोगिनं वृत्त्य-भावावसरं दर्शयति—**क्रमादिति** ॥ २० ॥

एवं तत्पदार्थपरिशोधनार्थं देहाद्बहिर्ब्रह्मचिदाभासौ विविच्य तद्दृष्टान्तेन पुनस्त्वं-पदार्थपरिशोधनार्थमुपक्रम एवोपन्यस्त कूटस्थाभासयोर्विवेचनं विधत्ते—**आभासेति** । न चोपक्रम एव तद्विवेचनस्य कृतत्वादलं पुनस्तद्विवेचनविधानेनेति । वाच्यम् । देहादि-पञ्चकोशाध्यासेन तदविवेकस्यैव सर्वाऽनर्थप्रयोजकत्वेन तन्निरासार्थं तद्विवेचन एव दार्ढ्या-धिक्यापेक्षणार्थत्वादिति संक्षेपः ॥ १७ ॥

एवं यदुक्तं वपुष्यपि त्वंपदार्थनिर्णयार्थमाभासकूटस्थौ विवेचनीयावेवोपक्रम-सूत्रितविवृत्त्ये तत्प्रकारं संक्षिपति—**अहंवृत्तावित्यादिचतुर्भिः** । **कामेति** । वृत्तिष्विति शेषः । तत्र दृष्टान्तः—तप्त इत्यादिशेषेण ॥ १८ ॥

उक्तदृष्टान्तमेव स्पष्टयति—**स्वमात्रमिति** । दार्ष्टान्तिके तद्योजयति—**एवमिति** । ॥ १९ ॥

एवं द्वाभ्यां देहाभ्यन्तरेऽहङ्कारादिवृत्तिषु चिदाभासं तद्भिन्नं निरूप्याथ कूटस्थं निरूपयिष्यंस्तद्व्यञ्जकं वृत्त्याभावाद्यवसरं दर्शयितुं तदुत्पत्तिलयावाह—**क्रमादिति** ।

संधयोऽखिलवृत्तीनामभावाश्चावभासिताः ।
निर्विकारेण येनासौ कूटस्थ इति चोच्यते ॥ २१ ॥
घटे द्विगुणचैतन्यं यथा बाह्ये तथाऽऽन्तरे ।
वृत्तिष्वपि ततस्तत्र वैशद्यं संधितोऽधिकम् ॥ २२ ॥

भवत्वेवं समाध्यादौ वृत्तिविलयः, अनेन कथं कूटस्थोऽवगम्यत इत्याशङ्क्य, वृत्त्यभावसाक्षित्वेनासाववगम्यते इत्याह—सन्धय इति । वृत्तिसन्धयो वृत्त्यभावाश्च येन चैतन्येनावभास्यन्ते स कूटस्थोऽवगन्तव्य इत्यर्थः ॥ २१ ॥

एवं च सति किं फलितमित्यत आह—

घट इति । बाह्ये घटे यथा घटमात्रावभासकश्चिदाभासो घटस्य ज्ञातताावभासकं ब्रह्मचैतन्यं चेति चैतन्यद्वैगुण्यं तथाऽऽन्तरेऽहंकारादिवृत्तिष्वपि कूटस्थचैतन्यं वृत्त्यवभासकश्चिदाभासश्चेति द्विगुणचैतन्यमस्ति तत्रोपपत्तिमाह—तत इति । यतो द्विगुणचैतन्यमस्ति ततः संधितः संधिभ्यस्तत्र वृत्तिषु वैशद्यमधिकं दृश्यत इति शेषः ॥ २२ ॥

एतेन प्राक्सूत्रितं सन्धिधियामभावं चेत्यादि यत्तदपि व्याख्यातम् । अत्र समाधौ लयस्तावद्घनसत्त्वाकारपरिणतान्तःकरण एव तद्वृत्तीनां न तु सुषुप्त्यादाविव गाढतमोगुणाकारपरिणतेऽवस्थाज्ञान इति ॥ २० ॥

अत्र कूटस्थमेव विविच्य प्रथयति— सन्धय इति । निर्विकारेणेति कूटवन्निर्विकारेण स्थितः कूटस्थ उच्यत इति तत्पदविग्रहप्रदर्शनार्थं परिकरालङ्कारसूचकं सहेतुकं विशेषणम् । चोऽवधारणे । असावेव कूटस्थ इत्युच्यत इति सम्बन्धः ॥ २१ ॥

ननु भवत्वेवमान्तरवृत्तितत्संधितदभावभासको यो निर्विकारः स कूटस्थपदाभिधेयस्तथाऽपि बाह्यघटवदतिरेऽपि स्वप्नमनोराज्यस्मृत्यादिकालिके घटे द्विगुणचैतन्यमस्ति न वा । आद्ये व्यावहारिकत्वापत्तिः । अन्त्ये सन्ध्यादिकवैशद्यानापत्तिरित्याशङ्क्येन्द्रजालिकघटादौ चैतन्यद्वैगुण्यसत्त्वेऽपि ब्रह्मज्ञानेतराबाध्यत्वलक्षणव्यावहारिकत्वादर्शनादाद्यपक्ष एवेष्ट इति स्पष्टयति—घट इत्यादि पूर्वार्धेन । उक्तमर्थमांतरवृत्तिष्वपि वक्ष्यमाणरीत्या प्रमाणत्वेन विवक्षितास्यातिदिशति—वृत्तिष्वपीति । नन्वेवमप्यान्तराणां बुद्धिवृत्तीनां किं चैतन्यैकगुण्यं तद्द्वैगुण्यं वा । नाऽऽद्यः । तत्संधिवदवैशद्यापत्तेः । नापि द्वितीयः वृत्तिपदेन वृत्तित्वावच्छेदकावच्छिन्नानामन्तःकारणवृत्तीनां ग्रहे ताभिश्चाज्ञाननाशनादित्युत्तरश्लोकीयचरमचरणोक्तप्रमाणवृत्तिमात्रग्रहणविरोधात् । तद्धिया तत्र प्रमाणमात्रवृत्तिग्रहे चक्षुषा घटं पश्याम्यहमित्यादिवत्तासां बाह्यत्वापादिति चेच्छृणवत्र रहस्यम् । अत्र वृत्तिपदेनोकोपसंहारग्रन्थविरोधज्ञानैकनाशकान्तरप्रमाणमात्रवृत्तयो ग्राह्याः । न च तथात्वे निरुकतद्वाह्यत्वापत्तिरिति सांप्रतम् । प्रमाणवृत्तित्वसत्त्वेऽप्यान्तरत्वसंभवात् । तद्यथा । काशीं

ज्ञातताज्ञातते न स्तो घटवद्वृत्तिषु क्वचित् ।
स्वस्य स्वेनागृहीतत्वात्ताभिश्चाज्ञाननाशनात् ॥ २३ ॥

नन्वत्रापि घटादिष्विव ज्ञातताज्ञातताभासकत्वेन कूटस्थः किं नेष्यत इत्याशंक्य तत्र ज्ञातताद्यभावादेवेत्याह—

ज्ञाततेति । तत्रोपपत्तिमाह—**स्वस्येति ।** ज्ञानाज्ञानव्याप्तिभ्यां ज्ञातताज्ञातते भवतः वृत्तीनां तु स्वप्रकाशत्वेन ज्ञानव्याप्तिर्नास्ति ताभिर्वृत्तिभिः स्वोत्पत्तिमात्रेण स्वगोचराज्ञानस्य निवर्तितत्वादज्ञानस्य व्याप्तिरपि नास्तीति भावः ॥ २३ ॥

स्मरामीत्यादि यथार्थविषयिण्याः स्मृतेरान्तरत्वेऽपि प्रमाणवृत्तित्वमबाधादेवावश्यं वाच्यम् । एवं विमतं मिथ्या । दृश्यत्वाच्छुक्तिरजतवदित्यादिरूपा मननकालिक्येकान्ते मुमुक्षोरान्तराऽप्यनुमित्यात्मिका प्रमाणवृत्तिः । तद्वन्निदिध्यासनकालिक्यप्यहं ब्रह्मास्मीति । "**मय्येव** सकलं जातं मयि सर्वं प्रतिष्ठितम् । मयि सर्वं लयं याति तद्ब्रह्माद्वयमस्म्यहम्" इति श्रुतेस्तत्त्वंपदार्थयोः शोधितयोरैक्यभावनावृत्तेरान्तरत्वेऽप्यबाधितत्वादेव धारावाहिकवृत्तिवत्प्रमाणत्वम् । तथा स्वप्नोपलब्धमन्त्रादिविषयकश्रवणाद्यात्मकवृत्तेरान्तरत्वेऽपि प्रमाणत्वमक्षतमेवेति । तदुक्तं **सिद्धांतबिंदावेव**, एवं स्वप्ने मन्त्रादिप्राप्तिः । स्वप्नजाग्रदादिति । एतेन स्वप्न एवाहं मन्त्रोपलम्भवानित्यादेस्तादृङ्मन्त्रोपलब्ध्युत्तरकालावच्छेदेन संभावितवृत्तेरान्तरत्वेऽपि प्रमाणवृत्तित्वं व्याख्यातम् । एवं मनोराज्योदाहरणमपि द्रष्टव्यम् । अत्र सर्वत्रांऽऽतरवृत्तित्वेऽपि प्रामाण्यं साधारण्येनाबाधादेव । अज्ञाननिवर्तकत्वेन तु तद्यथासंभवं द्रष्टव्यमिति । फलितमाह—**तत इत्यादिशेषेण** ॥ २२ ॥

नन्वेवं चेद्यदिबाह्यान्तरघटवद्बाह्यान्तरवृत्तिष्वपि प्रमाणरूपा साक्षिचैतन्यचिदाभासचैतन्यभास्यत्वेन चैतन्यद्वैगुण्ये घटवदेव तास्वपि ज्ञातताज्ञातते अपि प्रसक्ते स्यातां तथा च घटज्ञानज्ञानं मेऽस्ति नाऽऽसोच्च तदेतावत्कालमित्याद्यनुभूत्यापत्तिरित्याशङ्क्य समाधत्ते—**ज्ञाततेति ।** तत्र क्रमेण हेतू आह—**स्वस्येत्यादितृतीयादिपादाभ्याम् ।** घटविषयकप्रमाणवृत्तिं प्रति ज्ञाततामापादयन्प्रष्टव्यः किमसौ वृत्तिस्तयैव ज्ञायत इत्युच्यते साक्षिणा वा । नान्त्यः । विज्ञातो घट इत्युक्तिर्ब्रह्मानुभवतो भवेदिति प्रागेव सिद्धान्तितत्त्वेनाधुना तदापादनासंभवात् । स्वस्कन्धाधिरोहणापत्त्या नाप्याद्य इत्याह—**स्वस्येत्यादिना ।** अत्र संवित्स्वप्रकाशवादिप्राभाकरादिखण्डनयुक्तयस्त्वाकरत एव ज्ञेयाः । अनतिप्रयोजकत्वाद्विस्तरभयाच्च नेह प्रतन्यते—इति दिक् । एवं तेनस्तिमिरयोरिव ज्ञानाज्ञानयोर्विरोधेन ज्ञानरूपाणां प्रभावृत्तीनामज्ञानावृतत्वलक्षणमज्ञातत्वमपि न घटत इत्याह—**ताभिश्चेत्यादिना ।** चोवधारणे । तथा च ताभिः प्रमाणवृत्तिभिरेवाज्ञाननाशनात्तासामज्ञातत्वमनुपपन्नमेवेति भावः । अत्र प्राचा त्वेवं व्याख्याम्—नन्वत्रापि घटादिष्विव वृत्तिष्वपि ज्ञातताज्ञातताभावसकत्वेन कूटस्थः किं नेष्यत इत्याशंक्य तत्र ज्ञातताद्यभावादेवेत्याह—**ज्ञाततेति ।** तत्रोपपत्तिमाह—**स्वस्येति ।** ज्ञानाज्ञानव्याप्तिभ्यां

द्विगुणीकृतचैतन्ये जन्मनाशानुभूतितः ।
अकूटस्थं तदन्यत्तु कूटस्थमविकारतः ॥ २४ ॥
अन्तःकरणतद्वृत्तिसाक्षीत्यादावनेकधा ।
कूटस्थ एव सर्वत्र पूर्वाचार्यैर्विनिश्चितः ॥ २५ ॥

ननु कूटस्थचिदाभासयोरुभयोरपि चित्त्वे समान एकस्य कूटस्थत्वमपरस्याकूटस्थत्वमित्येतत्कुत इत्याशङ्क्य चिदाभासनिष्ठयोर्जन्मनाशयोरनुभूयमानस्यादस्याकूटस्थत्वमपरस्य विकारित्वे प्रमाणभावात्कूटस्थत्वमित्याह—**द्विगुणेति** ॥ २४ ॥

चिदाभासव्यतिरिक्तकूटस्थाभ्युपगमः स्वकपोलकल्पित इत्याशंक्याऽऽचार्यैः कूटस्थस्योपपादितत्वान्मैवमित्याह—

अन्तःकरणेति । "अन्तःकरणतद्वृत्तिसाक्षी चैतन्यविग्रहः । आनन्दरूपः सत्यः सन् किं नाऽऽत्मानं प्रपद्यते" इत्यादावित्यर्थः ॥ २५ ॥

ज्ञातताज्ञातते भवतः । वृत्तीनां स्वप्रकाशत्वेन ज्ञानव्याप्तिर्नास्ति । ताभिर्वृत्तिभिः स्वोत्पत्तिमात्रेण स्वगोचराज्ञानस्य निवर्तितत्वादज्ञानस्य व्याप्तिरपि नास्तीति भाव इति । अत्रायं भावः । वृत्तीनां प्रमाणरूपाणामपि स्वप्रकाशत्वं यद्यपि नैवास्त्यात्मभिन्नत्वेनास्वप्रकाशत्वरूपभवस्य यावद्द्वैते व्याप्तत्वात्तथाऽपि निरुक्तवृत्तिस्तदीयं जडत्वविरोधिस्वप्रकाशत्वं स्वस्मिन्नानेकदर्पणादित्यदीप्तीनामित्युपक्रमोपन्यस्तादर्शदृष्टान्तेनैव तदीयप्रतिबिम्बनेन गृहीत्वा यथा निरुक्तादर्शाः सर्व प्रायेण लोकदृष्ट्या सूर्यप्रतिबिम्बतादात्म्येन क्षणं स्वप्रकाशा एव संपद्यमानाः सूर्यवद्दृष्टचक्षूंष्यवमुष्णंतः सर्वतिमिरनिरासं तन्वते तथा तत्तदज्ञानध्वंसं तनोतीति समुचितमेव तत्र स्वप्रकाशत्वं बुभुत्सुदृष्ट्येति । तस्मात्तद्ग्रन्थेन सहापि न कोऽपि वैमत्यगन्धोपीति सहृदयधुरीणा एव विदांकुर्वन्त्वित्यलं पल्लवितेन ॥२३॥

नन्वेवं चिदाभाससाक्षिणो रुभयोरपि चैतन्ययोः । स्वप्रकाशत्वसाम्येऽप्येकस्याकूटस्थत्वमपरस्य कूटस्थत्वमित्यत्र किं कारणमित्यत आह—**द्विगुणीकृतेति** । द्विगुणीकृतं प्रागुक्तरीत्या घटाद्यवच्छेदेन चैतन्यं येन सा तथा तस्मिंश्चिदाभास इत्यर्थः सुषुप्त्यवच्छेदेनाहंकाराख्यबुद्धिप्रमाणवृत्त्यभावाच्चिदाभासानुदयेन साक्षिचैतन्यमेकमेवास्ति स्वप्नाद्यवच्छेदेन तु निरुक्ताहंकारादिवृत्तिसत्त्वेन सहैव चिदाभासोदयात्तत्र द्विगुणीकृतचैतन्यत्वं स्पष्टमेवेति भावः । इदं हि परिकरांकुरालंकारसूचकं विशेष्यमेव निरुक्तव्युत्पत्त्या हेतुगर्भमिति ध्येयम् । जन्मेति स्वप्नादौ जन्मानुभवात्सुप्त्यादौ । नाशानुभवाच्चेति यावत् । तच्चिदाभासचैतन्यम् । अकूटस्थं विकारीत्यर्थः । एवं चिदाभासस्य विकारित्वे हेतुमुक्त्वा साक्षिणस्तदभावेऽपि तमाह—**तदन्यत्त्विति** । तुशब्दस्तद्वैलक्षण्यार्थः । अविकारितो भावप्रधानोऽयं निर्देशः । अविकारित्वादित्येतत् ॥ २४ ॥

ननूक्तचिदाभासभिन्नकूटचैतन्यांगीकारोऽसांप्रदायिक इत्यत्राऽऽह—**अन्तःकरणेति** । अन्तःकरणं पूर्ववत्त्यपरमे सति यावदवत्यन्तरान्तरकालिकं निवातदेशगतपात्रस्थितजल-

आत्माभासाश्च यश्चैवं मुखाभासाश्रया यथा ।
गम्यन्ते शास्त्रयुक्तिभ्यामित्याभासश्च वर्णितः ।। २६ ।।

बुद्ध्यवच्छिन्नकूटस्थो लोकान्तरगमागमौ ।
कर्तुं शक्तो घटाकाश इवाभासेन किं वद ।। २७ ।।

कूटस्थातिरिक्तश्चिदाभासोऽपि तैर्वर्णित इत्याह—

आत्माभासेति । आत्मा चाऽऽभासश्चाऽऽश्रयश्चाऽऽत्माभासाश्रयाश्चेति द्वन्द्वः समासः मुखाभासाश्रया इत्यत्रापि तथा । मुखं प्रसिद्धमाभासो मुखप्रतिबिम्ब आश्रयो दर्पणादिश्चेति त्रयं यथा प्रत्यक्षेणावगम्यत एवमात्मा कूटस्थ आभासश्चिदाभास आश्रयोऽन्तःकरणादिरिति त्रयोऽपि शास्त्रयुक्तिभ्यामवगम्यत इत्यर्थः । अत्र चाऽऽभासशब्देन कूटस्थातिरिक्तश्चिदाभासो वर्णित इति भावः । मनसः साक्षी बुद्धेः साक्षीति बुद्धिसाक्षिण कूटस्थस्य प्रतिपादकं शास्त्रं रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूवेति चिदाभासप्रतिपादकं विकारित्वादिरूपा युक्तिः पूर्वमेवोक्तेति भावः ।। २६ ।।

तत्र चिदाभासमाक्षिपति—

बुद्धीति । स्वस्मिन् कल्प्यमानया बुद्ध्याऽवच्छिन्नकूटस्थ एव घटद्वारा घटाकाश इव बुद्धिद्वारा लोकांतरे गमनागमने कर्त्तुं शक्नोत्यतश्चिदाभासकल्पनायां गौरवमिति भावः ।। २७ ।।

वदसंजातपरिणतिकमपञ्चीकृतपञ्चमहाभूतसत्त्वांशवदंबकमित्यर्थः । तद्वृत्तयोऽहङ्कारादयः प्रसिद्धा एव । इदं हि श्रीमद्भाष्यकारचरणानां वृहद्वाक्यवृत्तावेव वाक्यम्—'अन्तःकरणतद्वृत्तिसाक्षी चैतन्यविग्रहः । आनन्दरूपः सत्यः सन्किनाऽऽत्मानं प्रपद्यते'' इति । शिष्टन्तु स्पष्टमेव ।। २५ ।।

ननु भवत्वेवं कूटस्थकथनमाचार्यकृतमथापि चिदाभासस्तु पारिभाषिक एवेत्यत आह—**आत्मेति ।** आत्मा चाऽऽभासश्चाऽऽश्रय उक्तात्मप्रतिबिम्बलक्षणश्चिदाभासाश्रयोन्तःकरणादिश्चेति तथेत्यर्थः । तथोपदेशसाहस्र्यां तत्त्वमस्याख्येऽष्टादशे प्रकरणेऽयं श्लोकस्तैरेवोक्तः परं चरमचरणस्त्वेवं तत्रत्यः—आभासासत्त्वमेव चेति ।। २६ ।।

एवमाभासस्यापि साम्प्रदायिकत्वे सिद्धेऽत्रावच्छिन्नवादी भगवद्वाचस्पतिमतानुयायी शङ्कते—**बुद्ध्यवच्छिन्नेति ।** न च लोकान्तरगमनादिकं केवलबुद्ध्यवच्छेदमात्रेण विना चिदाभासं न स्यादिति साम्प्रतम् । उक्तापत्तेः प्रतिबिम्बवादे ततः किञ्चिन्न्यून आभासवादेऽपि तुल्यत्वात्तत्र यद्युपाधिद्वारा तत्सम्भवस्तर्ह्यस्मिन्नपि पक्षे तस्यादण्डाहतत्वाच्चेत्यभिप्रेत्याऽऽह—**लोकान्तरेति ।** तत्र श्रुतिं प्रमाणयन्दृष्टान्तमपि

शृण्वसङ्गः परिच्छेदमात्राज्जीवो भवेन्न हि ।
अन्यथा घटकुड्याद्यैरवच्छिन्नस्य जीवता ॥ २८ ॥
न कुड्यसदृशी बुद्धिः स्वच्छत्वादिति चेत्तथा ।
अस्तु नाम परिच्छेदे किं स्वाच्छ्येन भवेत्तव ॥ २९ ॥
प्रस्थेन दारुजन्येन कांस्यजन्येन वा नहि ।
विक्रेतुस्तण्डुलादीनां परिमाणं विशिष्यते ॥ ३० ॥
परिमाणाविशेषेऽपि प्रतिबिम्बो विशिष्यते ।
कांस्ये यदि तदा बुद्धावप्याभासो भवेद्बलात् ॥ ३१ ॥

असंगस्य कूटस्थस्य बुद्ध्यवच्छेदमात्रेण जीवत्वं न घटतेऽन्यथाऽतिप्रसंगादिति परिहरति—**शृण्वसंग इति** ॥ २८ ॥

बुद्धिकुड्योः स्वाच्छ्यास्वाच्छ्याभ्यां वैषम्यं शङ्कते—

नेति । उक्तं स्वच्छत्वं परिच्छेदप्रयोजकं न भवतीत्याह—**तथाऽस्त्विति** ॥ २९ ॥

उक्तमर्थं दृष्टान्तेन स्पष्टयति—**प्रस्थेनेति** । दारुकांस्यजन्ययोः प्रस्थयोः स्थिते स्वच्छत्वास्वच्छत्वे तण्डुलपरिमाणे न्यूनाधिकभावहेतू भवत इत्यर्थः ॥ ३० ॥

कांस्यप्रस्थे तंडुलपरिमाणाधिक्याभावेऽपि प्रतिबिम्बलक्षणमाधिक्यमस्तीत्याशंक्य तर्हि बुद्धावपि चिदाभासो भवतैवांगीकृतः स्यादित्याह—**परिमाणाविशेष इति** ॥ ३१ ॥

स्पष्टयति—**घटाकाश इवेति** । तथाचाऽऽथर्वणिकाः समामनन्ति—"घटसंवृतमाकाशं नीयमाने घटे यथा । घटो नीयेत नाऽऽकाशस्तद्वज्जीवो नभोपमः" इति । उक्तवादमुपसंहरति—**आभासेनेत्यादिशेषेण** । अत्र विस्तारस्तु मदीयबोधैक्यसिद्ध्यादौ बोध्यः ॥२७॥

अथ श्रीमद्वितरणाचार्यमतानुसारेण सिद्धांती समाधत्ते—**शृण्वित्यादिना** सामंत्रणम् । तत्रान्यथानुपपत्तिं प्रथयति—**अन्यथेति** ॥ २८ ॥

तत्र बुद्धेः स्वच्छत्वेन घटकुड्यादिवैषम्यं प्रतिवादी शंकते—**न कुड्येत्यादिना** । अथ सिद्धांत्येतदंगीकृत्य प्रकृते तावताऽपि तव नैव किंचित्फलं प्रत्युतानिष्टापत्तिरेवेति मन्यमानस्तं प्रत्याक्षिपति **तथेत्यादिना** ॥ २९ ॥

ननु बुद्धेः स्वच्छत्वेनाऽऽत्मनः परिच्छेदे कुतो न विशेष इत्यत्राऽऽह—**प्रस्थेनेति** ॥ ३० ॥

एवं सिद्धांत्युक्तपरिणामाविशेषं प्रतिपाद्याङ्गीकृत्य कांस्यप्रस्थे स्वच्छत्वेन प्रतिबिम्ब एव स्वल्पतण्डुलादीनां विशिष्यत इत्याह—**परिमाणेति** । एवं तर्हि सिद्धमाभासवादेनेति ।

ईषद्भासनमाभासः प्रतिबिम्बस्तथाविधः ।
बिम्बलक्षणहीनः सन्बिम्बवद्भासते स हि ।। ३२ ।।

ससङ्गत्वविकाराभ्यां बिम्बलक्षणहीनता ।
स्फूर्तिरूपत्वमेतस्य बिम्बवद्भासनं विदुः ।। ३३ ।।

प्रतिबिम्बाङ्गीकारे चिदाभासः कथमङ्गीकृतः स्यादित्याशंक्य प्रतिबिम्बाभासशब्दाभ्यामभिधेयस्यार्थस्यैक्यादित्याह—

ईषदिति । प्रतिबिम्बस्याऽऽभासत्वं कथमित्याशंक्याऽऽभासलक्षणयोगादित्याह—**बिम्बलक्षणेति** । हि यस्मात्कारणात्प्रतिबिम्बो बिम्बलक्षणरहितो बिम्बवदवभासतेऽतो बिम्बाभास इति भावः ।। ३२ ।।

आभासलक्षणयोगित्वमेव स्पष्टयति—

ससंगत्वेति । एतस्य चिदाभासस्य ससंगत्वविकारित्वाभ्यां बिम्बभूतासंगाविकारिचैतन्यलक्षणहीनत्वं स्फुरणत्वं बिम्बवदवभासनमित्यर्थः । हेतुलक्षणरहिता हेतुवदवभासमाना हेत्वाभासा इति वदित्यर्थः ।। ३३ ।।

सिद्धान्त्यभिधत्ते—**यदीत्यादिशेषेण** । तत्रायं निष्कर्षः—

"सौरालोको यथाऽयं प्रतिफलनवशादेव तत्कांततोऽग्निं
कुर्यान्नैवेतरत्र प्रमितिकृदपि कापि तद्वत्परात्मा ।
बुद्ध्यादौ बिम्बितः सन्भवति मितिकरो नान्यतः सर्वगोऽपि
त्याज्योऽवच्छेदवादस्तदिति बुधवरैर्ग्राह्य आभासवादः" इति ।। ३१ ।।

तत्र हेतुं वदन्विवरणवार्तिकयोः संमतप्रतिबिम्बाभासवादयोः फलत ऐक्यं वक्तुं तयोः स्वरूपे व्युत्क्रमेण निर्वक्ति—**ईषदिति** ।। ३२ ।।

तदुपपादयन्नुपसंहरति—**ससंगत्वेति** । विदुर्ग्रंथद्वयतात्पर्यैक्यदर्शिनः प्राचीनाचार्या इति शेषः । एतावत्प्रकरणक्रोडीकरणमुक्तं बोधैक्यसिद्धौ । नीरूपप्रतिबिम्बोपपत्युपपादनोत्तरम्—

"एवं कूटस्थदीपे गगनरविसमं प्रोच्य कूटस्थमग्रे
जीवं स्वादर्शबिम्बप्रभमथ किमतः प्राच्य एवास्तु जीवः ।
इत्याशङ्क्योक्तमात्मा यदि भवति परिच्छेदमात्रेण जीवः
कुड्यादेर्जीवता स्याद्विमलमपि मनः कांस्यवत्तुच्छमेव" इति ।। ३३ ।।

न हि धीभावभावित्वादाभासोऽस्ति धियः पृथक् ।
इति चेदल्पमेवोक्तं धीरप्येवं स्वदेहतः ॥ ३४ ॥
देहे मृतेऽपि बुद्धिश्चेच्छास्त्रादस्ति तथा सति ।
बुद्धेरन्यश्चिदाभासः प्रवेशश्रुतिषु श्रुतः ॥ ३५ ॥
धीयुक्तस्य प्रवेशश्चेन्नैतरेये धियः पृथक् ।
आत्मा प्रवेशं संकल्प्य प्रविष्ट इति गीयते ॥ ३६ ॥

इत्थं चिदाभासस्याप्रयोजकतां निराकृत्येदानीं तस्य बुद्धेः पृथक् सत्त्वं साधयितुं पूर्वपक्षमाह—

न हीति । यथा मृदि सत्यामेव भवन्घटो न मृदो भिद्यते तद्वदिति भावः । नन्वेवं तर्हि देहातिरिक्ता धीरपि न सिध्येदिति प्रतिबन्द्या परिहरति—अल्पमिति ॥ ३४ ॥

प्रतिबन्दीमोचनं शङ्कते—

देहे मृत इति । देहव्यतिरिक्ताया बुद्धेः सविज्ञानो भवतीत्यादिश्रुतिसिद्धत्वान्नासत्त्वमिति भावः । ननु श्रुतिबलाद्देहातिरिक्ता बुद्धिरभ्युपगम्यते चेत्तर्हि प्रवेशश्रुतिबलाद्बुद्ध्यतिरिक्तश्चिदाभासोऽप्यभ्युपेय इत्याह—तथा सतीति ॥ ३५ ॥

ननु बुद्ध्युपाधिकस्यैव प्रवेशो युज्यते नेतरस्येति शङ्कते—

धीयुक्तस्येति । ऐतरेयश्रुतौ बुद्ध्यतिरिक्तस्यैव प्रवेशश्रवणान्नैवमिति परिहरति—ऐतरेय इति ॥ ३६ ॥

अथ पुनरप्यवच्छिन्नवादी युक्त्यन्तरेण शङ्कते—न हीति । उक्त शङ्कां सिद्धान्ती सानुवादमुपहासेनैव दूषयन्प्रतिबंद्या प्रत्याचष्टे—इति चेदिति । स्पति । अहं ब्राह्मण इत्यध्यस्तात् ॥ ३४ ॥

तत्रस्थोक्तप्रतिबन्दीमोचनं तदभिमतमाशङ्क्य तन्मोचनोपायेनैव पुनरप्याभासनया स्थापयति—देह इति ॥ ३५ ॥

ननु धीविशिष्टस्यैव सर्वप्रवेशश्रुतिष्वात्मनो देहादौ प्रवेशः शुद्धप्रवेशानुपपत्त्या कल्पनीय इति तदभिमतमनूद्य विदलयितुं प्रतिजानीते—धीयुक्तस्येत्यादिना । तत्रैतरेयोपनिषद्गतप्रवेशश्रुत्यर्थं कथयन्हेतुं द्योतयति— ऐतरेय इत्यादिश्लोकेण ॥ ३६ ॥

कथं न्विदं साक्षदेहं मदृते स्यादितीरणात् ।
विदार्य मूर्धसीमानं प्रविष्टः संसरत्ययम् ।। ३७ ।।
कथं प्रविष्टोऽसङ्गश्चेत्सृष्टिर्वाऽस्य कथं वद ।
मायिकत्वं तयोस्तुल्यं विनाशश्च समस्तयोः ।। ३८ ।।
समुत्थायैव भूतेभ्यस्तान्येवानुविनश्यति ।
विस्पष्टमिति मैत्रेय्यै याज्ञवल्क्य उवाच हि ।। ३९ ।।

तां श्रुतिमर्थतः पठति—

कथं न्विति । अयं परमात्मा साक्षदेहमक्षाणि च देहाश्चाक्षदेहास्तैः सह वर्तत इति साक्षदेहमिदं जडजातं मदृते चेतनं मां विहाय कथं नु स्यान्न कथमपि निर्वहेदिति विचार्य मूर्धसीमानं कपालत्रयमध्यदेशं विदार्य स्वसन्निधिमात्रेण भित्वा प्रविष्टः सन् संसरति जाग्रदादिकमनुभवतीत्यर्थः ।।३७।।

नन्वसंगस्याऽऽत्मनः प्रवेशोऽप्ययुक्त इति शङ्कते—

कथं प्रविष्ट इति । इदं चोद्यं सृष्टावपि समानमित्याह—**सृष्टिरिति** सृष्टिकर्तुर्मायिकत्वान्न दोष इत्याशङ्क्यायं परिहारः प्रष्टर्यपि समान इत्याह— **मायिकत्वमिति** । अनयोर्मायिकत्वे हेतुः समान इत्याह—**विनाश इति**।।३८।।

प्रज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति न प्रेत्य संज्ञाऽस्तीत्योपाधिकरूपस्य विनाशित्वप्रतिपादिकां श्रुतिं दर्शयति—

समुत्थायेति । एष प्रज्ञानघन आत्मा एतेभ्यो देहेन्द्रियादिरूपेभ्यः पंचभूतकार्येभ्यो निमित्तभूतेभ्य उपाधिभ्यः समुत्थाय जीवाभिमानं प्राप्य तान्येव देहादीनि विनश्यंत्यनुविनश्यति तेषु विनश्यत्सु तत्कृतं जीवत्वाभि-

ननु धीविधुरस्याऽऽत्मनः प्रवेशसंकल्पासंभवान्नैवं श्रुत्यर्थः संभवतीत्याशङ्क्य समाधातुं तामेव श्रुतिमर्थतः संग्रथ्य प्रागुक्तेर्थे हेतुं कथयति—**कथं न्विदमित्यर्धेन** । स ईक्षत कथं न्विदं मदृते स्यादितीत्यैतरेये श्रूयते । **साक्षेति** । अक्षाणि च देहाश्च तद्विशिष्टमित्यर्थः । एतादृशम् । इदं साक्षिणो मम प्रत्यक्षं सादिदृश्यमिति यावत् । मदृते मां विना । कथं स्यान्मत्सत्तात्मकप्रकाशविरहे कथं व्यवहरेदित्यर्थः । कथं प्रविष्ट इति तदाह—विदार्येति । एतदपि तत्रैव । स एतमेव सीमानं विदार्यैतया द्वारा प्रापद्यतेति । अत्र पूर्वार्धेन प्रवेशसंकल्पोऽन्येन प्रवेशश्च क्रमादुक्त इत्याशयः ।। ३७ ।।

तत्र शङ्कते—**कथमित्यादिना** । प्रतिपाद्या समाधत्ते—**सृष्टिर्वेत्यादिना** । तत्र हेतुः—**मायिकत्वमिति** । तयोः प्रवेशसृष्ट्योः ।। ३८ ।।

ननु चिदाभासस्य जीवस्य कथंविनाश इत्यत्राऽऽह—**समुत्थायेति** । उवाच ह ।

अविनाश्ययमात्मेति कूटस्थः प्रविवेचितः ।
मात्रासंसर्ग इत्येवमसङ्गत्वस्य कीर्तनात् ॥ ४० ॥
जीवापेतं वाव किल शरीरं म्रियते न सः ।
इत्यत्र न विमोक्षोऽर्थः किन्तु लोकान्तरे गतिः ॥ ४१ ॥
नाहं ब्रह्मेति बुध्येत स विनाशीति चेन्न तत् ।
समानाधिकरण्यस्य बाधायामपि संभवात् ॥ ४२ ॥

मानं जहाति । एवंप्रकारेण सोपाधिकरूपस्य विनाशित्वं याज्ञवल्क्यो मैत्रेय्यै उवाचोक्तवानित्यर्थः ॥३९॥

अविनाशी वा अरेऽयमात्मानुच्छित्तिधर्मेति श्रुत्या कूटस्थस्ततो विभिन्नः प्रदर्शित इत्याह—

अविनाशीति । मात्रासंसर्गस्त्वस्य भवतीति श्रुत्याऽविनाशित्वे हेतुमसंगत्वं चोक्तवानित्याह—**मात्रेति** । मीयंत इति मात्रा देहादयस्ताभिरस्याऽऽत्मनोऽसंसर्गो भवतीत्यर्थः ॥४०॥

ननु **जीवापेतं** वाव किलेदं **म्रियते** न जीवो म्रियत इति श्रुत्याऽस्यौपाधिकस्याप्यविनाशित्वं प्रतिपाद्यत इत्याशंक्य तस्याः श्रुतेर्देहान्तरप्राप्तिविषयतया नाऽऽत्यन्तिकनाशाभावपरत्वमित्याह—

जीवापेतमिति । धीवापेतं जीवरहितं जीवेन त्यक्तमिति यावत् । वाव एव जीवो न म्रियत इत्यर्थः ॥४१॥

ननु जीवस्य विनाशित्वेऽहं ब्रह्मास्मीत्यविनाशिब्रह्मतादात्म्यज्ञानं न घटत इति शङ्कते—

नाहमिति । विनाशी स जीवोऽहं ब्रह्मेति ब्रह्मरूपेणाऽऽत्मानं न बुध्येत न जानीयाद्विनाश्यविनाशिनोरेकत्वविरोधादिति चेन्मुख्यसामानाधिकरण्याभावेऽपि बाधायां सामानाधिकरण्यसंभवाज्जीवभावबाधेन ब्रह्मभावोऽवगन्तुं शक्यत इत्याह—**न तदिति** ॥४२॥

प्रज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाना(?)न्येवानु विनश्यतीति श्रुत्याऽवददित्यर्थः ॥३९॥

एवमाभासे श्रुतिमुक्त्वा कूटस्थेऽप्याह—**अविनाशीति** । अविनाशी वा अरेऽयमात्माऽनुच्छित्तिधर्मेति । मात्रासंसर्गस्त्वस्य भवतीति च **काण्वमाध्यंदिनयोः** क्रमाच्छ्रुतिरेवम् ॥ ४० ॥

एवं जीवापेतं वाव किलेदं म्रियते न जीवो म्रियत इति तदीयश्रुतिमप्याभासेऽनुकूलयति—**जीवेति** ॥ ४१ ॥

एवमप्यभेदानुपपत्तिमाशंक्य समाधत्ते—**नेति** ॥ ४२ ॥

योऽयं स्थाणुः पुमानेष पुंधिया स्थाणुधीरिव ।
ब्रह्मास्मीति धियाऽशेषाप्यहंबुद्धिर्निवर्त्यते ॥ ४३ ॥

नैष्कर्म्यसिद्धावप्येवमाचार्यैः स्पष्टमीरितम् ।
सामानाधिकरण्यस्य बाधार्थत्वमतोऽस्तु तत् ॥ ४४ ॥

बाधासामानाधिकरण्येन वाक्यार्थप्रतिपत्तिप्रकारो वार्तिककारैः सदृष्टान्तोऽभिहित इतीयमर्थं तद्वाक्योदाहरणपूर्वकं दर्शयति—

योऽयं स्थाणुरिति । स्थाणुरेष पुमानित्यस्मिन्वाक्ये पुरुषत्वबोधेन स्थाणुत्वबुद्धिर्निवर्त्यते यथैवमहं ब्रह्मास्मीतिबोधेनाहंबुद्धिः कर्ताऽहमस्मीत्येवमादिरूपा सर्वाऽपि निवर्त्यत इति ॥४३॥

नैष्कर्म्येति । एवमुक्तेन प्रकारेणाऽऽचार्यैर्वार्तिककारैर्नैष्कर्म्यसिद्धौ सामानाधिकरण्यस्य बाधार्थत्वं स्पष्टमीरितमिति । फलितमाह—**अतोस्तु तदिति ।** अतः कारणाद्ब्रह्माहमस्मीति वाक्ये तत्सामानाधिकरण्यस्य बाधार्थत्वमस्त्विमस्त्वित्यर्थः ॥४४॥

नन्वस्तु बाधायां सामानाधिकरण्यसंभवः प्रतिज्ञामात्रेण वस्तुतस्त्वेकविभक्तिकत्वे सत्येकार्थप्रतिपादकत्वलक्षणस्य तस्य बाधायां कथं सम्भवो युक्तिसहः स्याद्यथाकथञ्चिद्युक्तिसहत्वेऽपि नैतत्साम्प्रदायिकम् । सोऽयं देवदत्त इत्यादिनिदर्शनेन तत्त्वमस्यादिवाक्येष्वभेदसामानाधिकरण्यस्यैव **सर्वपूर्वाचार्यै**रुक्तत्वादित्याशङ्कां प्रशमयितुं **श्रीमत्सुरेश्वराचार्यचरणवचनं नैष्कर्म्यसिद्धि**द्वितीयाध्यायगतमुदाहृत्य तदुपपादयति—**योऽयमि**त्यादिद्वाभ्याम् । **ब्रह्मास्मीति धियेति** । योऽयं स्थाणुस्त्वयोच्यत एष पुमानेवास्तीत्याप्तोपदिष्टवाक्यप्रमाणकपुंधिया यथा स्थाणुधीर्बाध्यते तद्वद्ब्रह्मास्मीति धियाऽशेषा समूलाऽप्यहंबुद्धिर्निवर्तत इत्यन्वयः। एवं च स्थाणुः पुरुष इति वाक्यस्थपदयोरुक्तलक्षणसामानाधिकरण्यवदहं ब्रह्मास्मीतिवाक्यस्थपदयोरपि सामानाधिकरण्यं ब्रह्मधिया सविषयकाहंधीबाधायां सत्यामेव पुरुषधिया स्थाणुधियो बाधायां सत्यामिव भवतीति भावः ॥ ४३ ॥

नैष्कर्म्येति । आचार्यैरपि—"आचिनोति च शास्त्रार्थमाचारे स्थापयत्यपि । स्वयमप्याचरेद्यस्तु स आचार्य इति स्मृतः" इति **वचनोक्तलक्षणैः श्रीवार्तिककारचरणै**रपीत्यर्थः । अपिः स्वोक्तिसंमतिसमुच्चायकः । निगमयति – **अत इत्यादिशेषेण** । तन्मदुक्तं बाधायां सामानाधिकरण्यम् ॥ ४४ ॥

सर्वं ब्रह्मेति जगता सामानाधिकरण्यवत् ।
अहं ब्रह्मेति जीवेन सामानाधिकृतिर्भवेत् ।। ४५ ।।
सामानाधिकरण्यस्य बाधार्थत्वं निराकृतम् ।
प्रयत्नतो विवरणे कूटस्थस्य विवक्षया ।। ४६ ।।
शोधितस्त्वंपदार्थो यः कूटस्थो ब्रह्मरूपताम् ।
तस्य वक्तुं विवरणे तथोक्तमितरत्र च ।। ४७ ।।

नन्वेवमपि श्रुतिषु बाधायां सामानाधिकरण्यं न क्वापि दृष्टमित्याशङ्क्य सर्वं ह्येतद्ब्रह्मेत्यत्र बाधायां सामानाधिकरण्यं दृष्टमतोऽत्रापि तद्भविष्यतीत्याह—**सर्वं ब्रह्मेतीति** ।।४५।।

ननु तर्हि विवरणाचार्यैर्बाधासामानाधिकरण्यं कुतो निराकृतमित्याशङ्क्य तैरहंशब्देन कूटस्थस्य विवक्षितत्वादित्याह—**सामानाधिकरण्यस्येति** ।।४६।।

कूटस्थत्वविवक्षयेत्युक्तमर्थं विवृणोति—

शोधित इति । शोधितो बुद्ध्यादिभ्यो विवेचितस्त्वंपदलक्ष्यो यः कूटस्थो वक्ष्यमाणलक्षणस्तस्य ब्रह्मरूपतां सत्यत्वादिलक्षणब्रह्मरूपतां वक्तुं विवरणादिषु बाधासामानाधिकरण्यनिराकरणपूर्वकं मुख्यसामानाधिकरण्यमुक्तमित्यर्थः ।।४७।।

ननु भवत्वाभासवादिवार्तिककारमते तत्तथा श्रीभगवत्पादाभिधभाष्यकारमते तु नैतदिष्टमित्याकाङ्क्षायाम् । सर्वं ह्येतद्ब्रह्मेति **माण्डूक्यश्रुतौ**विदं सर्वं यदयमात्मेति **काण्वश्रुतौ** च गत्यन्तरराहित्येन तेषामपि तदिष्टेरवश्यवाच्यत्वान्नैवमिति समाधत्ते—**सर्वं ब्रह्मेतीति** । बाधायामिति शेषः ।। ४५ ।।

नन्वेवमपि विवरणग्रन्थविरोधस्तदवस्थ एव तत्र हि महता प्रबन्धेन सामानाधिकरण्यस्य बाधार्थत्वं प्रयत्नत एव निराकृतमिति चेन्न । अहं ब्रह्मास्मीतिवाक्ये विवरणाचार्याणामहंपदार्थशोधितजीवे साक्षित्वोपलक्षिते प्रतीचि कूटस्थत्वस्यैव विवक्षितत्वात्प्रतिबिम्बवादिनां तेषां तथात्वस्यैवोचितत्वादाभासप्रतिबिम्बवादयोरविरोधस्य त्रयस्त्रिंशच्छलोक एव साधितत्वाच्चेति सूचयन्नाह—**सामानाधिकरण्यस्येति** । अक्षरार्थस्तु स्फुट एव ।। ४६ ।।

तदेव विशदयन्नुक्ताविरोधप्रकारं भामत्यादिग्रन्थान्तरेऽप्यतिदिशति—**शोधित इति** ।। ४७ ।।

देहेन्द्रियादियुक्तस्य जीवाभासभ्रमस्य या ।
अधिष्ठानचितिः सैषा कूटस्थाऽत्र विवक्षिता ।। ४८ ।।
जगद्भ्रमस्य सर्वस्य यदधिष्ठानमीरितम् ।
त्रय्यन्तेषु तदत्र स्याद्ब्रह्मशब्दविवक्षितम् ।। ४९ ।।
एतस्मिन्नेव चैतन्ये जगदारोप्यते यदा ।
तदा तदेकदेशस्य जीवाभासस्य का कथा ।। ५० ।।
जगत्तदेकदेशाख्यसमारोप्यस्य भेदतः ।
तत्त्वंपदार्थौ भिन्नौ स्तो वस्तुतस्त्वेकता चितेः ।। ५१ ।।

इदानीं कूटस्थस्य ब्रह्मणैक्यं संभावयितुं कूटस्थशब्देन विवक्षितमर्थमाह—

देहेति । आदिशब्देन मनआदयो गृह्यन्ते । एवं च देहेन्द्रियादियुक्तस्य शरीरद्वययुक्तस्य जीवाभासभ्रमस्य चिदाभासरूपभ्रमस्य याऽधिष्ठानचितिर्यदधिष्ठानचैतन्यमस्ति तदत्र वेदान्तेषु कूटस्थत्वेन विवक्षितमित्यर्थः ।।४८।।

ब्रह्मशब्दस्य चार्थमाह—

जगदिति । कृत्स्नजगत्कल्पनाधिष्ठानं यच्चैतन्यं वेदान्तेषु निरूपितं तदत्र ब्रह्मशब्देन विवक्षितमित्यर्थः ।।४९।।

ननु जीवभ्रमाधिष्ठानं चैतन्यं कूटस्थ इत्युक्तमनुपपन्नं जीवस्याऽऽरोपितत्वासिद्धेरित्याशंक्य तस्याऽऽरोपितत्वं कैमुतिकन्यायेन साधयति—

एतस्मिन्निति । जगदेकदेशत्वं चानेन जीवेनानुप्रविश्येत्यादिश्रुतिसिद्धम् ।।५०।।

ननु जगदधिष्ठानचैतन्यस्यैकत्वात्तत्त्वंपदार्थयोर्भेदाभावे **तत्त्वंपदार्थयोः** पौनरुक्त्यामित्याशंक्य तयोरौपाधिको भेदो वास्तवमैक्यमित्याह—

जगदिति । जगत्तदेकदेश इति चाऽऽख्या यस्य समारोप्यस्य तत्तथा । जातावेकवचनम् ।।५१।।

ननु भवत्वेवं मताविरोधस्तथाऽपि प्रकृतेऽत्राऽऽभासवादे तु कूटस्थशब्देन ब्रह्मशब्देन च कीदृग्वस्तु विवक्षितमित्यत्राऽऽह – **देहेन्द्रियेत्यादि** क्रमाद्द्वाभ्याम् ।। ४८ ।।

जगद्भ्रमस्येति । त्रय्यन्तेष्वित्युपलक्षणं यावच्छारीरकविचारितोपनिषदामपि । तदविचारितानां तु तासां तदुदीरितविचारदिशैव चारितार्थ्यमिति दिक् ।। ४९ ।।

ननु वस्तुत एवमपि तत्त्वमसीत्यादिनोक्तं चिदैक्यं नोपपद्यते तत्तदारोप्य भेदादित्याशंक्य समाधत्ते—**एतस्मिन्नेवेति** । प्रागुक्ते ब्रह्मचैतन्य इत्यर्थः ।। ५० ।।

फलितमाह—**जगदिति** ।। ५१ ।।

कर्तृत्वादीन्बुद्धिधर्मान्स्फूर्त्याख्यां चात्मरूपताम् ।
दधद्विभाति पुरत आभासोऽतो भ्रमो भवेत् ॥ ५२ ॥

का बुद्धिः कोऽयमाभासः को वाऽऽत्माऽत्र जगत्कथम् ।
इत्यनिर्णयतो मोहः सोऽयं संसार इष्यते ॥ ५३ ॥

बुद्ध्यादीनां स्वरूपं यो विविनक्ति स तत्त्ववित् ।
स एव मुक्त इत्येवं वेदान्तेषु विनिश्चयः ॥ ५४ ॥

एवं च सति बन्धः स्यात् कस्येत्यादिकुतर्कजाः ।
विडम्बना दृढं खण्ड्याः खण्डनोक्तिप्रकारतः ॥ ५५ ॥

ननु चिदाभासस्य शुत्याकारजतादिवदधिष्ठानारोप्योभयधर्मवत्त्वानुपलम्भात्कथमारोपितत्वमित्याशङ्क्याऽऽह —

कर्तृत्वादीनिति । बुद्ध्युपाधिद्वारा समारोप्यमाणान्कर्तृत्वभोक्तृत्वप्रमातृत्वादीन्स्फुरणलक्षणमात्मरूपत्वं च दधत्पुरतो भाति स्पष्टं प्रतिभासतेऽत आभासः कल्पित इत्यर्थः ॥५२॥

अस्य भ्रमस्य किं कारणमित्याकांक्षायां बुद्ध्यादिस्वरूपापरिज्ञानमेवेत्याह—

का बुद्धिरिति । तस्य निवर्तनीयत्वायानर्थहेतुतामाह—**सोऽयमिति** ।५३।

अस्य किं निवर्तकमित्याकाङ्क्षायां बुद्ध्यादिस्वरूपविवेक एव निवर्तक इत्यभिप्रेत्य तद्वानेव ज्ञानी तत एवानर्थवृत्तिरित्याह—**बुद्ध्यादीनामिति** ।५४।

एवं बन्धमोक्षयोरविवेकमूलत्वे सत्यद्वैतवादे कस्य बन्धः कस्य वा मोक्ष इत्येवमादिरूपास्तार्किकैः क्रियमाणाः कुतर्कमूलाः परिहासविशेषाः खण्डनोक्तयुक्तिभिस्तेषां निरुक्तत्वापादनेन परिहरणीया इत्याह—**एवमिति** ॥५५॥

नन्वेवं जगदेकदेशीभूतस्य चिदाभासरूपजीवस्याऽऽरोप्यत्वलक्षणमध्यस्तत्वमुक्तमनुपपन्नम् । तत्र सत्यानृतवस्तुसंभेदावभासानुपपत्तेरित्यत्राऽऽह— **कर्तृत्वादीनिति** । पुरत इत्यनेन तस्य साक्षिप्रत्यक्षत्वं सूच्यते ॥ ५२ ॥

नन्वेवमप्यस्यानुभूयमानः संसारः किं मूलक इत्यत आह—**का बुद्धिरिति** ॥ ५३॥

एवं तर्हि कथमस्य संसारस्य निरास इत्यपेक्षायां तदुपायं संक्षिपति—**बुद्ध्यादीनामिति** ॥ ५४ ॥

नन्वेवमप्याभासः सत्यमिथ्यावस्तुद्वयसम्मेलनात्मेति तु निर्विवादमेव । तथात्वे

वृत्तेः साक्षितया वृत्तिप्रागभावस्य च स्थितः ।
बुभुत्सायां तथाऽज्ञोऽस्मीत्याभासाज्ञानवस्तुनः ।। ५६ ।।
असत्यालम्बनत्वेन सत्यः सर्वजडस्य तु ।
साधकत्वेन चिद्रूपः सदा प्रेमास्पदत्वतः ।। ५७ ।।

एवं श्रुतियुक्तिभ्यां कूटस्थं बुद्ध्यादिभ्यो विविच्य दर्शयित्वा पुराणेष्वपि तद्विवेकः कृत इत्याह—**वृत्तेरित्यादि** श्लोकत्रयेण । कामादिवृत्त्युत्पत्तौ सत्यां तत्साक्षित्वेन वृत्त्युदयात्पूर्वं तत्प्रागभावसाक्षित्वेन जिज्ञासायां सत्यां तत्साक्षित्वेन ततः पूर्वमज्ञोऽस्मीत्यनुभूयमानाज्ञानसाक्षित्वेन च शिव एव तिष्ठति ।।५६।।

स चासत्यस्य जगत आलम्बनत्वेनाधिष्ठानत्वेन सत्यो जडस्य सर्वस्य साधकत्वेनावभासकत्वाच्चिद्रूपः सर्वदा प्रेमविषयत्वादानन्दरूपः ।।५७।।

तस्य सत्यांशात्मना सत्यत्वान्न साकल्येन मिथ्यात्वं स्यात्ततश्च प्रतिबिम्बवादापत्तिस्तत्परिहृत्यर्थम् ।

"अध्यस्तमेव हि परिस्फुरति भ्रमेषु नान्यत्कथंन च परिस्फुरति भ्रमेषु ।
रज्जुत्वशुक्तिशकलत्वमरुक्षितित्वचन्द्रैकताप्रभृतिकानुपलम्भनेन ।।"

इति संक्षेपशारीरकोक्तरीत्या स्वावच्छेदेन भासमानां स्फूर्तिमपि मिथ्याभूतामेवाङ्गीकरोषि चेदध्यासभाष्ये सत्यानृते मिथुनीकृत्येति सूचिताध्यासलक्षणविरोधापत्तिश्चेत्यन्तेवास्याशङ्कां शमयिष्यन्नद्वैतवादे बन्धस्यैवाभावात्कस्य तत्त्वज्ञानद्वारा मोक्षार्थं शास्त्रमारम्भणीयं स्यादित्यादिकुतार्किककृतोपहासाः श्रीहर्षमिश्राख्यखण्डनकारोक्तयुक्तिभिरेव निराकरणीया इत्याह—**एवं चेति** । तत्राद्वैतवाद इत्यादि वदन्प्रतिवाद्येवं पराकरणीयः । यस्त्वं पृच्छसीति । कुत इति चेद्यतस्त्वद्दृष्ट्यैव प्रश्नान्यथानुपपत्त्या द्वैतं भासते । मद्दृष्ट्या तु "न शास्ता न शास्त्रं न शिष्यो न शिक्षा न च त्वं न चाहं न चायं प्रपंचः । स्वरूपाववोधो विकल्पासहिष्णुस्तदेकोऽवशिष्टः शिवः केवलोऽहम्" इति दशश्लोक्याशय एवेति । विस्तरस्तु खण्डन एवेति ।। ५५ ।।

न केवलमयं कूटस्थः श्रुत्यादिष्वेव सिद्धः किन्तु पुराणेष्वपि प्रसिद्ध इति द्योतयितुं शैवपुराणगानेव त्रीञ्श्लोकान्संगृह्णाति—**वृत्तेरित्यादिना** । **वृत्तीति** । अत्र वृत्तिप्रागभावपदेन तदुपलक्षितं वृत्त्युपादानमन्तःकरणमेव । अज्ञोऽस्मीति च्छेदः । इत्यनुभव इत्यर्थः । **आभासेति** । आभासविशिष्टं यदज्ञानाख्यं वस्तु विषयतासम्बन्धेन भासमानं तस्येत्यर्थः । साक्षितयेति सर्वत्र संबध्यते ।। ५६ ।।

असत्येति । सदा प्रेमेत्याद्युत्तरान्वयि ।। ५७ ।।

आनन्दरूपः सर्वार्थसाधकत्वेन हेतुना ।
सर्वसंबन्धवत्त्वेन संपूर्णः शिवसंज्ञितः ॥ ५८ ॥
इति शैवपुराणेषु कूटस्थः प्रविवेचितः ।
जीवेशत्वादिरहितः केवलः स्वप्रभः शिवः ॥ ५९ ॥
मायाभासेन जीवेशौ करोतीति श्रुतत्वतः ।
मायिकावेव जीवेशौ स्वच्छौ तौ काचकुम्भवत् ॥ ६० ॥

सर्वार्थाभासकत्वेन सर्वसम्बन्धित्वात्संपूर्ण इत्युच्यते । अत्र चेदमभिप्रेतं विमतः शिवो वृत्त्यादिभ्यो भिद्यते । वृत्त्यादिसाक्षित्वाद्यद्यद्वृत्त्यादिभ्यो न भिद्यते तत्तद्वृत्त्यादिसाक्षि न भवति । यथा वृत्त्यादि । विमतः सत्यो भवितुमर्हति मिथ्याधिष्ठानत्वादसत्यरजताधिष्ठानशुक्तिवत् । विमतश्चिद्रूपो जडमात्रावभासकत्वाद्यच्चिद्रूपं न भवति तत्सर्वं जडावभासकमपि न भवति यथा घटादि । विमतः परमानन्दरूपः परप्रेमास्पदत्वात् । यत्परमानदन्रूपं न भवति तत्परप्रेमास्पदमपि न भवति तथा घटादि । विमतः परिपूर्णः सर्वसम्बन्धित्वाद्गगनवत् । सर्वसम्बन्धित्वं च सर्वार्थसाधकत्वेन विमतः । सर्वसम्बन्धवान्सर्वावभासकत्वात् । यः सर्वसम्बन्धवान् न भवति स सर्वावभासकोऽपि न भवति यथा दीपादिरिति ॥५८॥

उदाहृतपुराणवाक्यस्य तात्पर्यमाह—

इतीति । इत्येवंप्रकारेण सूतसंहितादिषु । पुराणेषु जीवेश्वरत्वादिकल्पनारहितः केवलोऽद्वितीयः स्वप्रभः स्वयंप्रकाशश्चैतन्यरूपः शिवः कूटस्थो विवेचित इत्यन्वयः ॥५९॥

जीवेशत्वादिराहितत्वं कुत इत्याशङ्क्य श्रुत्या तयोर्मायिकत्वप्रदर्शनादित्याह—

मायेति । जीवेशावभासेन करोति माया चाविद्या च स्वयमेव भवतीति श्रुतिर्मायाविद्याधीनयोश्चिदाभासयोर्मायिकत्वं प्रतिपादयतीति भावः । मायिकत्वे तयोर्देहादिभ्यो वैलक्षण्यं न स्यादित्याशङ्क्य पार्थिवत्वाविशेषेऽपि काचकुम्भस्य घटादिभ्यो वैलक्षण्यमिवानयोरपि स्यादिस्याह—स्वच्छाविति ॥६०॥

आनन्देति । अत एवोक्तं संक्षेपशारीरकारम्भ एव—"अनृतजडविरोधिरूपमन्तत्रयमलबन्धनदुःखिताविरुद्धम्" इत्यादि ॥ ५८ ॥

उक्तमर्थं निगमयति—इतीति । शैवेति । शिवस्येमानि तत्प्राधान्यप्रतिपादकत्वादेतादृशानि यानि स्कान्दसूतसंहितावायुपुराणादीनि तेषु । इतीद्याद्युपसंहारार्थम् ॥५९॥

जीवेशत्वादिराहित्ये हेतुः—मायेति ॥ ६० ॥

अन्नजन्यं मनो देहात्स्वच्छं यद्वत्तथैव तौ ।
मायिकावपि सर्वस्मादन्यस्मात्स्वच्छतां गतौ ॥ ६१ ॥

चिद्रूपत्वं च संभाव्यं चित्त्वेनैव प्रकाशनात् ।
सर्वकल्पनशक्तायाा मायाया दुष्करं न हि ॥ ६२ ॥

अस्मन्निद्राऽपि जीवेशौ चेतनौ स्वप्नगौ सृजेत् ।
महामाया सृजत्येतावित्याश्चर्यं किमत्र ते ॥ ६३ ॥

सर्वज्ञत्वादिकं चेशे कल्पयित्वा प्रदर्शयेत् ।
धर्मिणं कल्पयेद्याऽस्याः को भारो धर्मकल्पने ॥ ६४ ॥

ननु घटकाचकुम्भारम्भकयोर्मृद्विशेषयोर्भेदात्तद्वैलक्षण्यमुचितं जगज्जीवेश्वरभेदहेतोर्मायाया एकत्वात्तयोर्जगतो वैलक्षण्यमनुचितमित्याशङ्क्यान्नजन्ययोर्देहमनसोर्यथा वैलक्षण्यं तद्वदित्याह—अन्येति ॥६१॥

चिद्रूपेति । चिद्रूपत्वेन प्रकाशनमपि मायिकयोरनुपपन्नमित्याशङ्क्य तस्या दुर्घटकारित्वादुपपन्नमित्याह—सर्वेति ॥६२॥

भवतु काचादिवत्स्वच्छत्वं चित्त्वं तु कुत इत्याशङ्क्यानुभवादित्याह—उक्तमर्थं कैमुतिकन्यायेन द्रढयति—अस्मदिति ॥६३॥

ईश्वरस्यापि मायिकत्वे तस्य जीववदसर्वज्ञत्वादिकं स्यादित्याशङ्क्य सर्वज्ञत्वादिकमपि मायैव कल्पयिष्यतीत्याह—

सर्वज्ञत्वेति । तत्रोपपत्तिमाह —धर्मिणमिति ॥६४॥

ननु मायिकयोस्तयोरनादित्वेन भासमानयोरपि कथं स्वच्छत्वमित्यत आह—अन्नेति । "अन्नमयं हि सोम्य मनः" इति छान्दोग्यश्रुतेरन्नान्वयादिपरिपुष्टमित्यर्थः ॥ ६१ ॥

नन्वेवमपि कथं तयोश्चिद्रूपत्वमित्यत्राऽऽह—चिद्रूपत्वं त्विति । तत्रापि हेतुः—सर्वेति ॥ ६२ ॥

तदुपपादयति—अस्मदिति ॥६३॥

नन्वेवं यदि मायैवेश्वरकल्पिका तर्ह्यसौ जीववत्तद्व्यामोहिकाऽपि स्यादित्यत आह—सर्वज्ञत्वादिकं चेति । आदिना सर्वशक्तित्वम् । चः पूर्वोक्तसमुच्चायकः । ननु माया च तमोरूपेत्यादिश्रुतेरावरणस्वभावायास्तस्या ईशे सर्वज्ञत्वादिकल्पनं कथं घटत इत्यत्राऽऽह—धर्मिणमिति ॥ ६४ ॥

कूटस्थेऽप्यतिशङ्का स्यादिति चेन्माऽतिशङ्क्यताम् ।
कूटस्थमायिकत्वे तु प्रमाणं न हि विद्यते ॥ ६५ ॥

वस्तुत्वं घोषयन्त्यस्य वेदान्ताः सकला अपि ।
सपत्नरूपं वस्त्वन्यन्न सहन्तेऽत्र किंचन ॥ ६६ ॥

श्रुत्यर्थं विशदीकुर्मो न तर्काद्वच्मि किंचन ।
तेन तार्किकशङ्कानामत्र कोऽवसरो वद ॥ ६७ ॥

ननु जीवेशयोरिव कूटस्थस्यापि मायिकत्वं प्रसज्येतेति शङ्कते—**कूटस्थ इति** । प्रामाणाभावान्मैवमिति परिहरति—**माऽतिशङ्क्यतामिति** ॥६५॥

कूटस्थस्य वास्तवत्वेऽपि प्रमाणं नोपलभ्यत इत्याशङ्क्य श्रुतय. सर्वा अपि प्रमाणमित्याह—**वस्तुत्वमिति** । अत्र कूटस्थस्य पारमार्थिकत्वे प्रतिपक्षभूतमन्यद्वस्तु किञ्चन न सहंत इत्यर्थः ॥ ६६ ॥

ननु कूटस्थस्य जीवेशयोश्च वास्तवत्वावास्तवत्वसाधने श्रुतय एव पठ्यन्ते न तर्कैः किंचिदपि साध्यत इत्याशङ्क्य मुमुक्षूणां श्रुत्यर्थविशदीकरणाय प्रवृत्तत्वान्न तर्कोपन्यास इत्याह—**श्रुत्यर्थमिति** ॥ ६७ ॥

न चैवं तर्हि कूटस्थमपि सैव कल्पयेदिति वाच्यम् । प्रामाण्यमायान्नीपादिकल्पने तु श्रुतेरेवोक्तत्वाच्चेत्याह—**कूटस्थेऽपीति** । हिस्त्ववधारणे । नैव प्रमाणं विद्यत इत्यन्वयः ॥ ६५ ॥

प्रत्युत सकलवेदान्तैस्तस्य पारमार्थिकसत्यत्वमेव तद्भिन्नं यावद् दृश्यबाधपूर्वकमुपपाद्यत इत्याह—**वस्तुत्वमिति** । **सपत्नेति** । कूटस्थयाथार्थ्यसमर्थनशत्रुभूतमित्यर्थः ॥ ६६ ॥

नन्वद्वैतकूटस्थबोधनविरोधि किमपि द्वैतमसहंतः सन्त एव सर्वेऽपि वेदान्तास्तं तथा मुमुक्षून्प्रति बोधयन्तीत्युक्तमयुक्तम् । निरुक्तबोधनस्यैव गुरुशिष्यादिद्वैतसापेक्षत्वाद्बोधनोर्ध्वमपि बोध्यं प्रति यावदारब्धं जीवन्मुक्तिपक्षे द्वैतावस्थानाच्छुकादीनां मुक्तावप्यस्मदादीनां सुस्थिरद्वैतोपलम्भाच्चेत्याशङ्क्य समाधत्ते—**श्रुत्यर्थमिति** । तर्कात्किंचन किमपि वस्तु वयं यतो नैव विशदीकुर्म इति सम्बन्धः । अत्र वच्मीत्यपपाठ एव ॥ ६७ ॥

तस्मात्कुतर्कं संत्यज्य मुमुक्षुः श्रुतिमाश्रयेत् ।
श्रुतौ तु माया जीवेशौ करोतीति प्रदर्शितम् ।। ६८ ।।
ईक्षणादिप्रवेशान्ता सृष्टिरीशकृता भवेत् ।
जाग्रदादिविमोक्षान्तः संसारो जीवकर्तृकः ।। ६९ ।।
असङ्ग एव कूटस्थः सर्वदा नास्य कश्चन ।
भवत्यतिशयस्तेन मनस्येवं विचार्यताम् ।। ७० ।।
न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः ।
न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता ।। ७१ ।।
अवाङ्मनसगम्यं तं श्रुतिर्बोधयितुं सदा ।
जीवमीशं जगद्वाऽपि समाश्रित्य प्रबोधयेत् ।। ७२ ।।

ततः किमित्यत आह—

तस्मादिति । मुमुक्षूणां श्रुत्यर्थः कीदृशोऽनुसंधेय इत्याह—**श्रुता-वित्यादिना** । श्रुतिषु जीवेशयोर्मायिकत्वम् ।। ६८ ।।

ईक्षणादिप्रवेशान्तायाः सृष्टेरीश्वरकर्तृत्वं जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिबन्धमोक्ष-लक्षणस्य जीवकर्तृत्वम् ।। ६९ ।।

कूटस्थस्यासंगत्वादिकं मृतिजन्मादिलक्षणस्य व्यवहारजातस्यासत्त्वं च प्रतिपादितमतो मुमुक्षुरिममर्थं सर्वदा विचारयेदित्यभिप्रायः ।। ७० ।।

कूटस्थस्य जन्माद्यतिशयाभावः कुतोऽवगम्यत इत्याशङ्क्य श्रुतिवाक्या-दित्यभिप्रेत्य तद्वाक्यं पठति—**न निरोध इति** ।। ७१ ।।

ननु तर्हि श्रुतिषु तत्र तत्र जीवेश्वरादिस्वरूपप्रतिपादनं किमर्थमित्या-शङ्क्यावाङ्मनसगोचरस्याऽऽत्मनोऽवबोधनायेत्याह—**अवाङ्मनस इति** ।।७२।।

अस्त्वेवं प्रतिवादिनं प्रति समाधानं मुमुक्षुं प्रति तत्कथं तत्राऽऽह—**तस्मादित्या-दिना** ।। ६८ ।।

ईक्षणादीति । उक्तार्थमेवेदं प्राक् ।। ६९ ।।

असंग एवेति । भवत्यतिशय इत्यन्त श्रुतौ सूक्तमिति योजना । फलितमाह—**तेनेत्यादिशेषेण** ।। ७० ।।

किं विचार्यं तदाह—**नेत्यादि श्रुत्यैव** ।। ७१ ।।

एवं चेत्तर्हि तयैव जीवादि किमित्युक्तमित्यत आह—**अवाङ्मनसेति** तमुक्तरूपं कूटस्थम् । प्रेति प्रबोधयतीत्यर्थः ।। ७२ ।।

यथा यथा भवेत्पुंसां व्युत्पत्तिः प्रत्यगात्मनि ।
सा सैव प्रक्रियेह स्यात्साध्वीत्याचार्यभाषितम् ।। ७३ ।।
श्रुतितात्पर्यमखिलमबुद्ध्वा भ्राम्यते जडः ।
विवेकी त्वखिलं बुद्ध्वा तिष्ठत्यानन्दवारिधौ ।। ७४ ।।

ननु तत्त्वस्यैकरूपस्य श्रुतिबोध्यत्वे श्रुतिषु विगानं कुतो दृश्यत इत्याशङ्क्य न तत्त्वे विगानमस्ति, अपि तु तद्बोधनप्रकारे तदपि बोध्यपुरुषचित्तवैषम्यानुसारेण **सुरेश्वराचार्यै**रुक्तमित्याह—**यथा यथेति** ।। ७३ ।।

श्रुत्यर्थस्यैकरूपत्वे तत्प्रतिपादकानामेव कुतो विप्रतिपत्तिरित्याशङ्क्य श्रुतितात्पर्यबोधशून्यानामेव विप्रतिपत्तिर्न तु तद्विदामित्याह—**श्रुतितात्पर्यमिति** ।। ७४ ।।

ननु श्रुतिर्यद्यवाङ्मनसगम्यं कूटस्थमेव पारमार्थिकत्वेन प्रबोधयितुं जीवादिद्वैतं समाश्रयति चेदस्तु नाम तच्छाखाचन्द्रन्यायेन तथा परन्तु श्रुत्यैव तदैकरूप्यं कुतो नोच्यते । तथा हि । जीवेशावाभासेन करोतीत्यत्राऽऽभासवादः । यथा हि "अयं ज्योतिरात्मा विवस्वानपोभिन्ना बहुधैकोऽनुगच्छन् । उपाधिना क्रियते भिन्नरूपो देवः क्षेत्रेष्वेवमजोऽयमात्मा" इति । "एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः । एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत्" इति "रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव" इत्यादौ च प्रतिबिम्बवादः । "घटसंवृतमाकाशं नीयमाने घटे यथा । घटो नीयेत नाऽऽकाशस्तद्वज्जीवो नभोपमः" इत्यत्रावच्छिन्नवादः । इत्याद्यनेकवाक्यात्मना श्रुतिरेवानेकधा विगायति तन्मुमुक्षुणा किं मतमवलम्बनीयं किं वा हेयमिति चेन्न । जीवबुद्धीनां विविधसंस्कारावरुद्धत्वेन तत्तन्मुमुक्षुबुद्धिमनुरुध्य तत्तद्वादस्य श्रुत्योक्तत्वादिति श्रुतितात्पर्यं **श्रीमत्सुरेश्वराचार्यचरणै**रेव वर्णितमिति द्योतयितुं तद्वार्तिकमेव पठन्समाधत्ते—**यथा यथेति** । पुंसां मुमुक्षूणाम् । यया यया प्रक्रिययेति शेषः । **प्रत्यगिति** । प्रतिद्वैतस्य प्रतिरोधेनैवाञ्चति यथावत्प्रकाशत इति प्रत्यक्स चा सावात्मा च—

"यच्चाऽऽप्नोति यदादत्ते यच्चात्ति विषयानिह ।
यच्चास्य संततो भावस्तस्मादात्मेति भण्यते ।"

इति वचनात्साक्षित्वोपलक्षितः कूटस्थस्तस्मिञ्शोधितत्वंपदार्थाभिन्ने शोधिततत्पदार्थरूपाद्वैतब्रह्मणि विषय इत्यर्थः । व्युत्पत्तिर्दृढा परोक्षप्रमया परिचितिरिति यावत् । सा सैव प्रक्रिया । इहाद्वैतशास्त्रे । साध्वी तं तमधिकारिणं प्रत्युपकारिणीत्यर्थः । इति एवम् । आचार्यभाषितं श्रीमद्वार्तिकाचार्यचरणानिर्णीतमस्तीत्यर्थः । तस्मादत्र न कोऽपि प्रक्रियाभेदयुक्तदोषलेशोऽपीत्याशयः ।। ७३ ।।

नन्वेवं श्रुत्यर्थस्यैकरूप्येऽपि तत्प्रामाण्यवादिनामपि यावदद्वैतिनां कुतोऽत्र वैमत्यमित्यत आह—**श्रुतीति** । एवं च तेषां जन्मान्तरीयदूरदृष्टप्रयुक्तमतिजाड्यमेव संपूर्णश्रुतितात्पर्यानवबोधने ततः संसारचक्रवम्भ्रमणे च कारणमित्याकूतम् । तेनानन्तजन्ममु-

मायामेघो जगन्नीरं वर्षत्वेष यथा तथा।
चिदाकाशस्य नो हानिर्न वा लाभ इति स्थितिः ।। ७५ ।।
इमं कूटस्थदीपं योऽनुसंधत्ते निरन्तरम्।
स्वयं कूटस्थरूपेण दीप्यतेऽसौ निरन्तरम् ।। ७६ ।।

तर्हि विवेकिनो निश्चयः कीदृश इत्याकांक्षायामाह—**मायेति** ।। ७५ ।।

ग्रन्थाभ्यासफलमाह—**इममिति** ।। ७६ ।।

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीभारतीतीर्थविद्यारण्यमुनिवर्यकिंकरेण रामकृष्णाख्येन विदुषा विरचिता कूटस्थदीपतात्पर्यदीपिका समाप्तिमगमत् ।। ८ ।।

कृतेन भगवदनुगृहीतानां शुद्धवैदिकानामाचार्यश्रीभगवत्पादीयमतोपजीविनामद्वैतिनां तु ततो वैलक्षण्यं प्रेक्षावन्मुमुक्षुप्रवृत्त्यं संक्षिपति—**विवेकी त्विति**। वैलक्षण्यावद्योतो तुशब्दः। सर्वसाधनमूलं विवेक एवेति सूचकं विवेकिपदम्। एकवचनमधिकारिदौर्लभ्यध्वनकमेव। वारिधिपदेन तस्य श्रीकान्तसादृश्यं व्यज्यते ।। ७४ ।।

ननु लक्ष्मीरमणसमकक्षसुखस्य जीवन्मुक्तस्योक्तरूपस्य कथं यावत्प्रारब्धं द्वैतावभासे सत्यप्यस्त्यन्तर्निश्चय इत्यपेक्षायां तं संक्षिपति—**मायेति** रूपकेण। **इतीति**। इत्युक्तरूपेवं। स्थितिर्व्यवस्थितिर्जीवन्मुक्तस्यास्तीत्यार्थिकम् ।। ७५ ।।

अथ ग्रन्थाभ्यासफलं कथयति—**इममिति**। दीप्यते प्रकाशत इत्यर्थः। अपरं तु सरलमेव। ननु त्वयोपक्रमे—"चिन्मात्रो यद्यात्मा प्रत्यक्षाद्यखिलमानमुच्छिद्येत्। युक्तिरपि नास्ति तादृक्प्रतिबन्धोऽयं तृतीय इह जीवे" इत्यार्यया शोधितत्वंपदार्थज्ञानविषयकः प्रमेयासंभावनाभिधस्तृतीयः प्रतिबन्ध उक्तः। एवम्—"शोधितजीवविवेकान्नानायुक्त्याऽविरोध एवोक्तः। मानान्तरैरतस्तत्परा स्यादष्टमेऽपि न किम्" इत्यार्यया निरुक्तप्रतिबन्धप्रध्वंसकत्वमपि कूटस्थदीपाख्यास्याष्टमप्रकरणस्याप्यस्योक्तं तत्कथमुपपद्यत इति चेदाकलय। उपक्रमादिलिङ्गैरस्य प्रकरणस्य शोधितत्वंपदार्थविषयकप्रमेयासंभावनानिरासपरत्वात्। तद्यथा। अत्र—"खादित्यदीपिते कुड्ये दर्पणादित्यदीसिवत्। कूटस्थभासितो देवो धीस्थजीवेन भास्यते" इत्युपक्रम्य "माया मेऽद्य" इत्यादिनोपसंहारः कृतः। तत्र कूटस्थनिर्गुणपरमात्मानमेव देहोपलक्षितसकलद्वैतभासकत्वोनोद्दिश्य चिदाकाशपदेन शोधितत्वंपदार्थाभिन्नतया परामृश्य तस्य माया मेऽद्य इत्यादिना मायिकजगत्कारणत्वं ब्रुवाणेनाऽऽचार्येण प्रत्याक्षादिप्रमाणान्तराविरोधः साधित इति प्रमेयासंभावनानिरासः स्फुट एव संपन्नः। एवम् "आभासब्रह्मणी देहाद्बहिर्यद्वद्विवेचिते। तद्वदाभासकूटस्थौ विविच्येतां वपुष्यपि" इति। "संधयाऽखिलवृत्तोनामभावाश्चावभासिताः। निर्विकारेण येनासौ कूटस्थ इति चोच्यते" इति च तत्र तत्र यावत्प्रकरणे कूटस्थाभ्यासः। एवम् "नाहं ब्रह्म विबुध्येत स विनाशीति चेन्न तत्। सामानाधिकरण्यस्य बाधायामपि संभवात्"

इति कूटस्थाख्यशुद्धजीवस्य ब्रह्मत्वेनावशेषार्थं चिदाभासाख्यविशिष्टजीवस्य बाधायां सामानाधिकरण्यं स्थाणुः पुरुष इत्यादिवदित्यपूर्वता। असंग एव कूटस्थ इत्यादिफलम्। "आत्मा प्रवेशं संकल्प्य प्रविष्ट इति गीयते" इत्यादिरर्थवादः। "द्विगुणीकृतचैतन्ये जन्मनाशानुभूतितः। अकूटस्थं तदन्यत्तु कूटस्थमविकारितः" इत्याद्युपपत्तिरिति षोढा लिङ्गानीति॥ ७६॥

इति श्रीमत्परमहंसपरि० श्रीमदद्वैतसच्चिदानन्द० पंचदशीव्याख्यायाः
कूटस्थदीपप्रकाशोऽष्टमः संपूर्णः॥ ८॥

समाप्तोऽयं कूटस्थदीपः

अथ श्रीपञ्चदश्यां ध्यानदीपाख्यं नवमं प्रकरणम्

संवादिभ्रमवद्ब्रह्मतत्त्वोपास्त्याऽपि मुच्यते ।
उत्तरे तापनीयेऽतः श्रुतोपास्तिरनेकधा ।। १ ।।

नत्वा श्रीभारतीतीर्थविद्यारण्यमुनीश्वरौ ।।
क्रियते ध्यानदीपस्य व्याख्या संक्षेपतो मया ।।१।।

इह तावद्वेदान्तशास्त्रे नित्यानित्यवस्तुविवेकादिसाधनचतुष्टयसंपन्नस्य सम्यक्श्रवणमननिदिध्यासनानुष्ठानवतस्तत्त्वंपदार्थविवेचनपूर्वकं महावाक्यार्थापरोक्षज्ञानेन ब्रह्मभावलक्षणो मोक्षो भवतीति प्रतिपादितं तत्र श्रुतोपनिषत्कस्यापि बुद्धिमांद्यादिना केनचित्प्रतिबन्धेन वाक्यार्थविषयापरोक्षप्रमित्यनुत्पत्तौ सत्यां तदुत्पादनद्वारा मोक्षफलकोपासनानि दिदर्शयिपुरादौ तावत्सदृष्टान्तब्रह्मतत्त्वोपासनयाऽपि मोक्षो भवतीति प्रतिजानीते—

संवादीति । यथा संवादिभ्रमेण प्रवृत्तस्याभिप्रेतार्थलाभो भवति, एवं ब्रह्मतत्त्वोपासनयाऽप्यभिलषितब्रह्मभावलक्षणो मोक्षो भवतीत्यर्थः । तत्र किं प्रमाणमित्यत आह—**उत्तर इति** । यत उपासनयाऽपि मोक्षोऽस्त्यतस्तापनीयोपनिषद्यनेकप्रकारेण ब्रह्मतत्त्वोपासना श्रुतोक्तेत्यर्थः ।।१।।

अद्वैतानन्दसच्चिद्विभुविमलपरब्रह्मकूटस्थरूपं
मोहाद्द्वैतेन्द्रजालालयमपि तिलकं स्वप्रकाशं श्रुतीनाम् ।
सर्वांश्चाऽऽचार्यवर्यान्रघुकुलतिलकं सद्गुरुं ब्रह्मनिष्ठं
श्रीमन्नारायणाख्यं स्वगुरुमपि महादेवसंज्ञं प्रणौमि ।। १ ।।

मत्वा जीवंजीवान्विद्यारण्यं च भारतीतीर्थम् ।
कौमुद्याः स्फुटयाम्यहिप्रकाशतो ध्यानदीपमिमम् ।। २ ।।

अथ भगवान्भारतीर्थाख्य आचार्यः कूटस्थदीपाख्ये पंचदश्या अष्टमे प्रकरणे प्राक्तनेऽन्ते तावत् "इमं कूटस्थदीपं योऽनुसंधत्ते निरन्तरम् । स्वयं कूटस्थरूपेण दीप्यतेऽसौ निरन्तरम्" इति श्लोकेन निरन्तरब्रह्मानुसन्धानशालिन एव कैवल्यरूपफलमकथयत्तत्तु नित्यानित्यविवेकादिसाधनचतुष्टयपुष्टिपूर्वकं श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठमाचार्यमुपसृत्य चतुर्लक्ष्युत्तरमीमांसां श्रीमद्भगवत्पादप्रणीताद्वैतभाष्यतट्टीकादिपूर्वकं श्रवणमननिदिध्यासनैः समभ्यस्य निरस्तपञ्चविधप्रतिबन्धस्य विचारिततत्त्वमस्यादिमहावाक्यात्संजातदृढतमापरोक्षप्रमया सकलद्वैते मूलविद्याध्वंसद्वारा बाधितेऽपि यावत्प्रारब्धपरिसमाप्तिमृगजलव-

मणिप्रदीपप्रभयोर्मणिबुद्धयाऽभिधावतोः ।
मिथ्याज्ञानाविशेषेऽपि विशेषोऽर्थक्रियां प्रति ॥ २ ॥
दीपोऽपवरकस्यान्तर्वर्तते तत्प्रभा बहिः ।
दृश्यते द्वार्यथाऽन्यत्र तद्वद्दृष्टा मणेः प्रभा ॥ ३ ॥

संवादिभ्रमवदित्युक्तं प्रपञ्चयितुं संवादिभ्रमप्रतिपादकवार्तिकं पठति—

मणिप्रदीपेति । मणिश्च प्रदीपश्च मणिप्रदीपौ तयोः प्रभे मणिप्रदीपप्रभे तयोरिति विग्रहः । मणिप्रभायां दीपप्रभायां च या मणिबुद्धिः सा मिथ्याज्ञानमेव तस्मिंस्तद्बुद्धित्वादथापि मणिप्रभायां च या मणिबुद्धिः साऽर्थक्रियाकारिणी मणिबुद्धयाभिधावतः पुरुषस्य मणिलाभो भवतीतरस्य तु नास्तीत्यर्थक्रियायां वैषम्यमस्तीत्यर्थः ॥२॥

वार्तिकं व्याचष्टे—

दीपोऽपवरकस्यान्तरित्यादिना श्लोकत्रयेण । कस्मिंश्चिन्मंदिरेऽपवरकस्यान्तर्दीपस्तिष्ठति तस्य प्रभा बहिर्द्वारप्रदेशे रत्नमिव वर्तुलोपलभ्यते तथाऽन्यस्मिन्मन्दिरेऽपवरकस्यान्तःस्थितस्य रत्नस्य प्रभा बहिर्द्वारप्रदेशे दीपप्रभेव रत्नसमा नोपलभ्यते ॥३॥

त्प्रतीयमाने तदुत्तरमेव स्यात्तदपेक्षया वरं यावद्देहपातं सर्वसंगपरित्यागपूर्वकं स्वस्ववर्णाश्रमधर्मानुष्ठानावशिष्टकाले हरिहराद्यन्यतमसगुणब्रह्मध्यानमेवैकान्तवासेनेति कस्यचिदन्तेवासिनो मनीषामालक्ष्य तदनुजिघृक्षया निर्गुणाहंग्रहोपासनप्रधानं **ध्यानदीपाख्यं** प्रकरणं प्रारिरिप्सुः प्रसिद्धप्रमाणप्रयोजनं ब्रह्मतत्त्वेति ब्रह्मात्मैक्यानुसंधानलक्षणं मंगलमपि सूचयन्नस्याद्वैतशास्त्रीयप्रकरणत्वेऽपि ब्रह्मात्मैक्यलक्षणं विषयमुपास्यत्वेन ज्ञातत्वद्वारैव तथा सद्योमुक्तिलक्षणमुक्तोपास्तिपरिपाकेन देहपातसमकालमेव—

"उपासनं पक्वमिह नास्ति यस्य परत्र सः ।
मरणे ब्रह्मलोके वा तत्त्वं विज्ञाय मुच्यते"

इतिवचनात्तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानमिति ऋतंभरा तत्र प्रज्ञा इति च **योगसूत्राभ्यां** च समुत्पन्नेनाहं ब्रह्मास्मीत्यपरोक्षज्ञानेन सकार्यकाविद्याध्वस्तिरूपां सद्योमुक्तिमपि प्रयोजनतयोपास्त्याऽपि मुच्यत इत्यनेन ध्वनयन्नुपास्यत्वावच्छिन्नब्रह्मात्मतत्त्वप्रकृतप्रकरणयोः प्रतिपाद्यप्रतिपादकभावं सम्बन्धं तथोक्तमुक्तिकाममधिकारिणमपि द्योतयन्नुक्तोपास्त्या मुक्तिं सदृष्टान्तं प्रतिजानीते—**संवादीति** । तत्रान्यथानुपपत्तिं श्रौतीमेव प्रमाणयति—**उत्तर इति** । **नृसिंहोत्तरतापनीयाख्योपनिषद्भाग इत्यर्थः** ॥ १ ॥

ननु संवादिभ्रमाभिधोक्तदृष्टान्त एवाश्रुतपूर्व इत्यतस्तं स्पष्टयति—**मणिप्रदीपेत्यादिवार्तिकश्लोकेनैव** ॥ २ ॥

उक्तवार्तिकमेव विवृणोति—**दीप इत्यादित्रिश्लोक्या** । राजमन्दिरे द्विदीपाः

दूरे प्रभाद्वयं दृष्टा मणिबुद्ध्याऽभिधावतोः ।
प्रभायां मणिबुद्धिस्तु मिथ्याज्ञानं द्वयोरपि ।। ४ ।।

न लभ्यते मणिर्दीपप्रभां प्रत्यभिधावता ।
प्रभायां धावताऽवश्यं लभ्येतैव मणिर्मणेः ।। ५ ।।

दीपप्रभामणिभ्रान्तिर्विसंवादिभ्रमः स्मृतः ।
मणिप्रभामणिभ्रान्तिः संवादिभ्रम उच्यते ।। ६ ।।

दूर इति । तथाविधं प्रभाद्वयं दूरतो दृष्ट्वाऽयं मणिरयं मणिरिति बुद्ध्या द्वौ पुरुषावभिधावनं कुरुतः तयोर्द्वयोरपि प्रभाविषये जायमानं मणिज्ञानं भ्रान्तमेव ।।४।।

अथापि दीपप्रभायां मणिबुद्धिं कृत्वा धावता पुरुषेण मणिर्नोपलभ्यते मणेः प्रभायां मणिबुद्ध्या धावता मणिर्लभ्येतैव ।।५।।

भवत्वेवं वार्तिकार्थः प्रकृते किमायतमित्यत आह—

दीपप्रभेति । या दीपप्रभायां मणिभ्रान्तिरस्ति स विसंवादिभ्रम इति स्मृतो विद्वद्भिः । मणिलाभलक्षणार्थक्रियारहितत्वाद्या मणिप्रभायां मणिबुद्धिरस्ति सा तु मणिलाभलक्षणार्थक्रियावत्त्वात्संवादिभ्रम इत्युच्यत इत्यर्थः ।।६।।

पतंगाद्युपसर्गशमनार्थं सूक्ष्मजालकमये रजतादिरचिते पनसाकृतवपवृणोतीतिव्युत्पत्त्या [जालीदार फाणस जालीदार कंदील इति महाराष्ट्रभाषाप्रसिद्धे] पात्रविशेषे शतशः स्थाप्यन्त इति राजकीयजनानां प्रसिद्धमेव । तेन तत्प्रभा बहिर्द्वारि द्वारबाह्यप्रदेश इत्यर्थः । दृश्यते, उक्तापवरकवर्तुजालकछिद्रविशेषनिर्गतत्वेन रात्रौ देववशादनभिज्ञेन केन चित्स्वप्रकाशरत्नाकारैवावलोक्यत इति यावत् । अथानन्तरमन्यत्राऽऽकरेऽरण्यादौ । तद्वन्मणेः स्वप्रभारत्नस्यापि प्रभातस्य वल्लय्याद्यावृतिसंभावद्वर्तुलेव केनचिदरण्यकत्वेऽपि श्रुतस्वप्रभारत्नकथेन पुरुषेण देवाद्दृष्टा ।। ३ ।।

दूर इति । दूरादेवेत्यर्थः ।। ४ ।।

नेति । मणेः प्रभायमिति योज्यम् ।। ५ ।।

अथ विसंवादिसंवादिभ्रमयोः फलितं स्वरूपमाह—**दीपेति** । दीपप्रभायां मणिभ्रांतिरित्यादि विग्रहः ।। ६ ।।

वाष्पं धूमतया बुद्ध्वा तत्राङ्गारानुमानतः ।
वह्निर्यदृच्छया लब्धः स संवादिभ्रमो मतः ॥ ७ ॥
गोदावर्युदकं गङ्गोदकं मत्वा विशुद्धये ।
संप्रोक्ष्य शुद्धिमाप्नोति स संवादिभ्रमो मतः ॥ ८ ॥
ज्वरेणाप्तः संनिपातं भ्रान्त्या नारायणं स्मरन् ।
मृतः स्वर्गमवाप्नोति स संवादिभ्रमो मतः ॥ ९ ॥

एवं प्रत्यक्षविषये संवादिभ्रमं दर्शयित्वाऽनुमानविषयेऽपि तं दर्शयति—

वाष्पमिति । क्वचित्प्रदेशे स्थितं वाष्पं धूमत्वेन निश्चित्य तन्मूलप्रदेशोऽयं प्रदेशोऽग्निमान्धूमत्वादित्यनुमाय प्रवृत्तेन पुरुषेण दैवगत्या यद्यग्निस्तत्रोपलभ्येत तदा वाष्पविषयं धूमज्ञानं संवादिभ्रमो मतः ॥७॥

आगमविषयेऽपि तं दर्शयति—

गोदावर्युदकमिति । गोदावर्युदकस्यापि विशुद्धिहेतुत्वमागमसिद्धमतस्तत्प्रोक्षणादपि विशुद्धिरस्त्येवाथापि गोदावर्युदके या गंगोदकबुद्धिः सा भ्रान्तिरेव ॥८॥

उदाहरणान्तरमाह—

ज्वरेणाऽऽप्त इति । ज्वरेण संनिपातं प्राप्तः पुरुष इदं नारायणस्मरणं मम स्वर्गसाधनमिति ज्ञानमन्तरेणापि सन्निपातप्रयुक्तभ्रमवशात्साधारणपुरुषतया चैद्यादिवन्नारायणं स्मरन्मृतः स्वर्गमवाप्नोत्येव "हरिर्हरति पापानि दुष्टचित्तैरपि स्मृतः" "आक्रुश्य पुत्रमघवान्यदजामिलोऽपि नारायणेति म्रियमाण इयाय मुक्तिम्" इत्यादिपुराणवचनेभ्यः । अत्रापि नारायणनाम्नः पुत्रनामत्वज्ञानं भ्रान्तिरेव ॥९॥

एवं प्रत्यक्षं उक्तं संवादिभ्रममनुमानागमयोरप्याह—**वाष्पमित्यादित्रिभिः** । हेमन्तादौ जलाशये प्रातः प्रतीयमानं वाफ (भाप) इति भाषासिद्धं बाष्पं प्रसिद्धमेव । उपलक्षणमिदं धूमभ्रमप्रयोजकस्य धूलिपटलस्यापि । यदृच्छयाऽकस्मात् ॥ ७ ॥

गोदावरीति । मत्वा पुराणादिति शेषः ॥ ८ ॥

ज्वरेणेति । यतः संनिपातमाप्तोऽत एव भ्रान्त्येति सम्बन्धः । स्मरन्नुच्चारयन् । अत एव स्वर्गं न तु वैकुण्ठम् । एतेन सावधानतया सगुणमपि नारायणमन्तकाले चेत्यादिस्मृतेः स्मरन्वैकुण्ठमेत्येवेति द्योत्यते । इदमपि शास्त्रैकगम्यत्वात्तदुदाहरणमेव ॥ ९ ॥

प्रत्यक्षस्यानुमानस्य तथा शास्त्रस्य गोचरे ।
उक्तन्यायेन संवादिभ्रमाः सन्ति हि कोटिशः ।। १० ।।

अन्यथा मृत्तिकादारुशिलाः स्युर्देवताः कथम् ।
अग्नित्वादिधियोपास्याः कथं वा योषिदादयः ।। ११ ।।

अयथावस्तुविज्ञानात् फलं लभ्यत ईप्सितम् ।
काकतालीयतः सोऽयं संवादिभ्रम उच्यते ।। १२ ।।

एवं त्रिविधसंवादिभ्रमोदाहरणेन सिद्धमर्थमाह—प्रप्यक्षस्येति ।।१०।।

विपक्षे बाधकप्रदर्शनेनोक्तमर्थं द्रढयति—

अन्यथेति । अन्यथा संवादिभ्रमाभावे मृदादयः फलसिद्धये देवतात्वेन पूज्या न भवेयुः स्वतो देवतात्वाभावादित्यर्थः । बाधकान्तरमाह—अग्नित्वादिति । पंचाग्निविद्यायां "योषा वाव गोतमाग्निः पुरुषो वाव गोतमाग्निः पृथिवी वाव गोतमाग्निः पर्जन्यो वाव गोतमाग्निरसौ वाव द्युलोको गोतमाग्निः" इत्यादिवाक्यैर्योषित्पुरुषपृथिवीपर्जन्यद्युलोकानामग्नित्वेनोपासनब्रह्मलोकावाप्तिफलकं न भवेदित्यर्थः । आदिपदेन "मनो ब्रह्मेत्युपासीत" "आदित्यो ब्रह्मत्यादेशः" इत्येवमादयो गृह्यन्ते ।।११।।

इदानीं बहुभिर्ग्रन्थैरुपपादितं संवादिभ्रमं बुद्धिसौकर्याय संक्षिप्य दर्शयति—

अयथावस्त्विति । विहितादविहिताद्वा यस्मादयथावस्तुविज्ञानाद्विपरीतज्ञानादीप्सितमभिलषितं फलं काकतालीयन्यायतो दैवगत्या लभ्यते सोऽयं संवादिभ्रम इत्यर्थः ।।१२।।

एवमुदाहरणान्तरेष्वप्यतिदिशति—प्रत्यक्षस्येति ।। १० ।।

तत्रार्थापत्ति प्रमाणयति—अन्यथेति । मृत्तिकेति । देवताः पार्थिवलिङ्गजगन्नाथशालग्रामाद्यवच्छेदने देवाः । "योषा वाव गोतमाग्निः" इत्यादि च्छान्दोग्ये प्रसिद्धम् ।। ११ ।।

अथैवमुपपादितं संवादिभ्रमं निगमयन्बुद्धिसौकर्याय संक्षिप्य लक्षयति—अयथेति भ्रमात्मकज्ञानादपीत्यर्थः लभ्येत ईप्सितमिति संध्यभावो विवक्षयैव ।। १२ ।।

स्वयंभ्रमोऽपि संवादी यथा सम्यक्फलप्रदः ।
ब्रह्मतत्त्वोपासनाऽपि तथा मुक्तिफलप्रदा ॥ १३ ॥
वेदान्तेभ्यो ब्रह्मतत्त्वमखण्डैकरसात्मकम् ।
परोक्षमवगम्यैतदहमस्मीत्युपासते ॥ १४ ॥
प्रत्यग्व्यक्तिमनुल्लिख्य शास्त्राद्विष्ण्वादिमूर्तिवत् ।
अस्ति ब्रह्मेति सामान्यज्ञानमत्र परोक्षधीः ॥ १५ ॥

ननु ब्रह्मोपासनस्यायथावस्तुविषयस्य कथं सम्यग्ज्ञानसाध्यमुक्तिफलप्रदत्वमित्याशङ्क्य संवादिभ्रमवदेत्याह—**स्वयं भ्रम इति** ॥१३॥

ननु ब्रह्मतत्त्वं ज्ञात्वोपासनं क्रियतेऽज्ञात्वा वाऽऽद्य उपासनावैयर्थ्यं मोक्षसाधनस्य ज्ञानस्यैव विद्यमानत्वाद् द्वितीये विषयापरिज्ञानादुपासनमेव न घटत इत्याशङ्क्याऽऽह—

वेदान्तेभ्य इति । अयमभिप्रायः । ब्रह्मात्मैकत्वापरोक्षज्ञानस्य मोक्षसाधनस्यानुत्पन्नत्वान्नोपासनावैयर्थ्यं शास्त्रात्परोक्षतयाऽवगतत्वाद् ब्रह्म उपासनाविषयत्वमिति ॥१४॥

उपास्यब्रह्मतत्त्वगोचरस्य परोक्षज्ञानस्य किं रूपमित्याकांक्षायामाह—

प्रत्यगिति । प्रत्यग्व्यक्तिं बुद्ध्यादिसाक्षिणमानन्दात्मानमनुल्लिख्याविषयीकृत्य शास्त्रात्सत्यज्ञानादिवाक्यजाताद्ब्रह्मास्तीत्येव सामान्याकारेण जायमानं ज्ञानमत्रास्यामुपासनायां परोक्षधीः परोक्षज्ञानं विवक्षितमित्यर्थः । **तत्र दृष्टान्तः—विष्ण्वादीति** । विष्ण्वादिमूर्तिप्रतिपादकशास्त्रजन्यज्ञानवदित्यर्थः ॥१५॥

एवं दृष्टान्तमुपपाद्य प्रतिज्ञाते दार्ष्टान्तिके योजयति—**स्वयमिति** । ननु "तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय" इत्याद्यनेकश्रुत्यादिभिर्मुक्तेरद्वैतात्मज्ञानमात्रसाध्यत्वात्तदन्तराऽत्र कथमुपासनासाध्यत्वमुक्तनिदर्शनेऽप्युच्यत इति चेन्न । तत्तात्पर्यानवबोधादुक्तदृष्टान्तेनैवं तत्र ज्ञानद्व्रैवेष्टसाधकत्वस्य स्पष्टीकरणाच्च । नहि मणिप्रभायां मणिबुद्ध्या धावमानस्तत्र मण्यभावेऽपि तन्निकटगं मणिमनवेक्ष्य तं लभते तस्मान्निर्गुणाहंग्रहोपासनयाऽप्यहं ब्रह्मास्मीति सदा भावनारूपया निरस्ताखिलप्रतिबन्धस्तत एव महावाक्यात्संजातद्वैतात्मापरोक्षबोधोऽसौ सद्य एव सव्याप्यसकार्यकज्ञानध्वस्तिरूपां मुक्तिमाप्नोतीति युक्तमेवेति भावः ॥ १३ ॥

एतदेव प्रपञ्चयति—**वेदान्तेभ्य** इत्यादिना । उपासते सद्यो मुमुक्षवश्चिन्तयन्तीत्यर्थः ॥ १४ ॥

नन्वेतदपेक्षितं परोक्षज्ञानमेवाऽऽदौ कथमित्यपेक्षायाम् "अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद

चतुर्भुजाद्यवगतावपि मूर्तिमनुल्लिखन् ।
अक्षैः परोक्षज्ञान्येव न तदा विष्णुमीक्षते ।। १६ ।।
परोक्षत्वापराधेन भवेन्नातत्त्ववेदनम् ।
प्रमाणेनैव शास्त्रेण सत्त्वमूर्तेर्विभासनात् ।। १७ ।।
सच्चिदानन्दरूपस्य शास्त्राद्भानेऽप्यनुल्लिखन् ।
प्रत्यञ्चं साक्षिणं तत्तु ब्रह्म साक्षान्न वीक्षते ।। १८ ।।

ननु शास्त्रेण विष्ण्वादिमूर्तेश्चतुर्भुजत्वादिविशेषप्रतीतेस्तज्ज्ञानस्यापि कुतः परोक्षत्वमित्याशङ्क्याऽऽह—

चतुर्भुजादीति । **शास्त्रेण** चतुर्भुजत्वादिविशेषप्रतीतावपि चक्षुरादिभिर्विष्ण्वादिमूर्तिमविषयीकुर्वन्पुरुषः परोक्षज्ञान्येव । तत्रोपपत्तिमाह—**न तदेति ।** तदोपासनाकाले विष्णुमुपास्यं नेक्षते नेन्द्रियैर्विषयीकरोतीत्यर्थः ।।१६।।

ननु विष्ण्वादिगोचरस्य ज्ञानस्य व्यक्त्युल्लेखित्वाद्भ्रमत्वमित्याशङ्क्य प्रमाणेन जनितत्वान्न भ्रमत्वमित्याह—

परोक्षत्वेति । परोक्षज्ञानत्वं भ्रान्तिज्ञानत्वे कारणं न भवति किं तु विषयासत्यत्वमिह तु प्रमाणभूतेन शास्त्रेणैव यथार्थभूताया विष्ण्वादिमूर्तेरवभासनान्न भ्रमत्वमित्यर्थः ।।१७।।

ननु सच्चिदानन्दव्यक्त्युल्लेखिनो ब्रह्मतत्त्वज्ञानस्य शास्त्रजन्यस्यापि कुतः परोक्षतेत्याशङ्क्यापरोक्षत्वप्रयोजकप्रत्यक्त्वोल्लेखाभावादित्याह—

सच्चिदानन्देति । सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म, **नित्यः** शुद्धो बुद्धः सत्यो मुक्तो निरञ्जनः, **सद्धीदं** सर्वं तत्सदिति, इत्यादिशास्त्रात्सच्चिदानन्दरूपस्य

सन्तमेनं ततो विदुः" इति **तैत्तिरीयकश्रुतिप्रसिद्धमेव** तल्लक्षणं संक्षिपति—**प्रत्यगिति** प्रत्यक्साक्षी ।। १५ ।।

निरुक्तपरोक्षज्ञाने दृष्टान्तीकृतविष्णुप्रभृतिमूर्तिविषयकज्ञानस्यैवाऽऽदौ परोक्षत्वं विशदयति—**चतुर्भजादीति** । शास्त्रादिति शेषः विष्णोरित्यार्थिकम् । चतुर्भुजाद्यवगतौ सत्यामपि । मूर्ति व्यक्तिम् । अनुल्लिखन्देवदत्तः परोक्षज्ञान्येवातस्तदा ध्यानकालेऽक्षैश्चक्षुरादीन्द्रियैर्विष्णु नेक्षते नैव प्रत्यक्षीकुरुत इत्यन्वयः ।। १६ ।।

नन्वेवं चेत्परोक्षज्ञाने प्रमात्वं कथमित्यत आह—**परोक्षत्वेति** ।। १७ ।।

दार्ष्टान्तिकपरोक्षज्ञाने तद्योजयति—**सच्चिदानन्देति** । तत्सच्चिदानन्दरूपत्व-

शास्त्रोक्तेनैव मार्गेण सच्चिदानन्दनिश्चयात् ।
परोक्षमपि तज्ज्ञानं तत्त्वज्ञानं न तु भ्रमः ॥ १९ ॥
ब्रह्म यद्यपि शास्त्रेषु प्रत्यक्त्वेनैव वर्णितम् ।
महावाक्यैस्तथाप्येतद्दुर्बोधमविचारिणः ॥ २० ॥
देहाद्यात्मत्वविभ्रान्तौ जाग्रत्यां न हठात्पुमान् ।
ब्रह्मात्मत्वेन विज्ञातुं क्षमते मन्दधीत्वतः ॥ २१ ॥

ब्रह्मणो भानेऽपि प्रत्यञ्चं साक्षिणमनुल्लिखन्तस्य ब्रह्मणः प्रत्यगात्मरूपत्वमजानानस्तद्ब्रह्मसाक्षान्न वीक्षते नैव पश्यति ॥१८॥

कथं तर्हि तथाविधब्रह्मगोचरस्य ज्ञानस्य तत्त्वज्ञानत्वमित्याशङ्क्याऽऽगमप्रमाणजन्यत्वादित्याह—

शास्त्रेति । तज्ज्ञानं परोक्षमपि शास्त्रोक्तेनैव प्रकारेण ब्रह्मणः सच्चिदानन्दरूपनिश्चायकत्वात्सम्यग्ज्ञानमेव न भ्रम इत्यर्थः ॥१९॥

ननु सत्यज्ञानादिवाक्यैर्ब्रह्मणः सच्चिदानन्दरूपत्वमिव तत्त्वमस्यादिवाक्यैः प्रत्यग्रूपत्वमपि तस्य बोध्यत एवातः शास्त्रजन्यस्यापि ज्ञानस्य प्रत्यग्व्यक्त्युल्लेखित्वादपरोक्षमेवेत्याशंक्याऽऽह—

ब्रह्मेति । यद्यपि वेदान्तेषु महावाक्यैर्ब्रह्म प्रत्यगात्मत्वेनेवोपदिष्टं तथाऽप्येतत्प्रत्यग्रूपमन्वयव्यतिरेकाभ्यां तत्त्वंपदार्थविवेकशून्यस्य दुर्बोधं बोद्धुमशक्यमतः केवलाद्वाक्यान्नापरोक्षज्ञानमुत्पद्यत इत्यर्थः ॥ २० ॥

ननु सम्यग्ज्ञानस्य प्रमाणवस्तुपरतन्त्रत्वात्प्रमाणस्य च तत्त्वमस्यादिवाक्यरूपस्य सद्भावाद्वस्तुनश्च ब्रह्मात्मैक्यलक्षणस्य विद्यमानत्वात्कुतो विचारमन्तरेण दुर्बोधत्वमित्याशङ्क्याऽऽह—

देहादीति । ब्रह्मात्मैकत्वापरोक्षज्ञानविरोधिनो देहेन्द्रियादिष्वात्मत्वभ्रमस्य विचारनिवर्त्यस्य सद्भावात्तन्निवृत्तये विचारोऽपेक्ष्यत इत्यर्थः ॥२१॥

मित्यर्थः । प्रत्यञ्चमात्मानं साक्षिणं प्रत्यनुल्लिखन्नत एव ब्रह्म साक्षात्प्रत्यक्षं न वीक्षत इति सम्बन्धः ॥ १८ ॥

एवमस्यामि प्राग्वदेव प्रमात्वमित्याह—शास्त्रेति ॥ १९ ॥

ननु "अव्यावृत्ताननुगतं वस्तु ब्रह्मेति भण्यते । ब्रह्मार्थो दुर्लभोऽत्र स्याद्द्वितीये सति वस्तुनि" इति वार्तिकाद्ब्रह्मणः परोक्षज्ञानमेवानुपपन्नमत आह—ब्रह्मेति ॥ २० ॥

तत्र हेतुं विवृणोति—देहादीति ॥ २१ ॥

ब्रह्ममात्रं सुविज्ञेयं श्रद्धालोः शास्त्रदर्शिनः ।
अपरोक्षद्वैतबुद्धिः परोक्षाद्वैतबुद्ध्यनुत् ।। २२ ।।

अपरोक्षशिलाबुद्धिर्न परोक्षेशतां नुदेत् ।
प्रतिमादिषु विष्णुत्वे को वा विप्रतिपद्यते ।। २३ ।।

अश्रद्धालोरविश्वासो नोदाहरणमर्हति ।
श्रद्धालोरेव सर्वत्र वैदिकेष्वधिकारतः ।। २४ ।।

ननु तर्हि देहेन्द्रियादिगोचरस्य द्वैतभ्रमस्य सद्भावादद्वितीयब्रह्मगोचरं परोक्षज्ञानमपि नोदीत्यादित्याशङ्क्य परोक्षद्वैतभ्रमस्य परोक्षाद्वैतज्ञानाविरोधित्वाच्छ्रद्धावतः पुंसः शास्त्रात्परोक्षज्ञानमुत्पद्यत एवेत्याह—

ब्रह्ममात्रमिति । अपरोक्षद्वैतबुद्धिर्यतः परोक्षद्वैतबुद्ध्यनुदतो ब्रह्ममात्रं सुविज्ञेयमिति योजना ।। २२ ।।

अपरोक्षभ्रमस्य परोक्षसम्यग्ज्ञानाविरोधित्वे दृष्टान्तमाह—

अपरोक्षेति । विरोधाभावमेवोदाहृत्य दर्शयति—**प्रतिमादिष्विति** ।। २३ ।।

केचन विप्रतिपद्यमाना उपलभ्यन्त इत्याशंक्याऽऽह—

अश्रद्धालोरिति । कुत इत्यत आह—**श्रद्धालोरेवेति ।** सर्वेषु वेदोक्तानुष्ठानेषु श्रद्धालोरेव श्रद्धावत एवाधिकारित्वादित्यर्थः ।। २४ ।।

ननु यथा मन्दधीत्वेन पञ्चकोशविवेचनक्षमकुशाग्रबुद्धित्वाभावादपरोक्षज्ञानमद्वैतब्रह्मात्मैक्यविषयकं नोदेति तथाऽत्रापरोक्षद्वैतबुद्धावपि देहाद्यात्मत्वबुद्धिवज्जाग्रत्यां परोक्षब्रह्मज्ञानमपि कथं स्यादित्यत्राऽऽह—**ब्रह्ममात्रमिति** । तत्र हेतुः—**अपरोक्षेति** । न ह्यपरोक्षनवज्ञानमपि परोक्षं दशमोऽस्तीत्याप्तवाक्यजन्यज्ञानं प्रतिविरुणद्धि । तस्माद्युक्तमेव प्रकृतोक्तमित्याशयः ।। २२ ।।

तदेवोपपादयति—**अपरोक्षेति** । सा(शा)लग्रामबाणलिङ्गादाविति शेषः । तत्रापि विशेषमाह—**प्रतिमादिष्विति** ।। २३ ।।

ननु तत्रापि केषाञ्चिदश्रद्धोपलभ्यत एवेत्यत आह—**अश्रद्धालोरिति** । आप्तवाक्य आस्तिक्यबुद्धि श्रद्धा तत्कार्यं हि फलावश्यम्भावनिश्चयो विश्वास इति तयोर्भेदः ।। २४ ।।

सकृदाप्तोपदेशेन परोक्षज्ञानमुद्भवेत् ।
विष्णुमूर्त्युपदेशो हि न मीमांसामपेक्षते ॥ २५ ॥

कर्मोपास्ती विचार्येते अनुष्ठेयाविनिर्णयात् ।
बहुशाखाविप्रकीर्णं निर्णेतुं कः प्रभुर्नरः ॥ २६ ॥

निर्णीतोऽर्थः कल्पसूत्रैर्ग्रथितस्तावताऽस्ति कः ।
विचारमन्तरेणापि शक्तोऽनुष्ठातुमञ्जसा ॥ २७ ॥

एतावता परोक्षज्ञाने किमायातमित्यत आह—

सकृदाप्त इति । उक्तमर्थं लोकानुभवेन द्रढयति—**विष्णुमूर्तीति** ॥ २५ ॥

ननु तर्हि शास्त्रेषु कुतो विचाराः क्रियन्त इत्याशङ्क्यानुष्ठेययोः कर्मोपासनयोः संदेहसंभवात्तन्निर्णयाय विचाराः क्रियन्त इत्याह—

कर्मोपास्तीति । सन्देहसंभवमेवोपपादयति—**बहुशाखेति** । अनेकासु शाखासु तत्र तत्र चोदितं कर्म उपासनं वैकत्र समाहृत्य निर्णेतुमस्मदादिर्नरः कः प्रभुः समर्थः ? न कोऽपीत्यर्थः ॥ २६ ॥

ननु तर्ह्यननुष्ठेयत्वमेव कर्मोपासनयोः प्राप्तमित्याशङ्क्याऽऽह—

निर्णीत इति । जैमिन्यादिभिः पूर्वाचार्यैर्निश्चितोऽर्थः । अनुष्ठानप्रकारः कल्पसूत्रैः संगृहीतोऽस्ति तावता तैर्ग्रथितत्वेनैव तेषु विश्वासवान् पुरुषो विचारं विनाऽपि कर्म सम्यगनुष्ठातुं शक्नोत्येव ॥ २७ ॥

अस्त्वेवं ततः किं प्रकृत इत्यत्राऽऽह—**सकृदिति** । तदेवार्थान्तरन्यासेन समर्थयति—**विष्णुमूर्तीति** ॥ २५ ॥

एवं तर्हि द्वादशलक्षणीप्रभृतिकर्मादिविचारशास्त्रं व्यर्थमित्यत आह—**कर्मेति** ॥ २६ ॥

एवं तर्हि कर्मोपास्त्योरस्मदादेः कथमनिर्णयादनुष्ठेयत्वं तत्राऽऽह—**निर्णीत इति** । अञ्जसा शीघ्रम् ॥ २७ ॥

उपास्तीनामनुष्ठानमार्षग्रन्थेषु वर्णितम् ।
विचाराक्षममर्त्याश्च तच्छ्रुत्वोपासते गुरोः ॥ २८ ॥

वेदवाक्यानि निर्णेतुमिच्छन्मीमांसतां जनः ।
आप्तोदेशमात्रेण ह्यनुष्ठानं हि संभवेत् ॥ २९ ॥

ब्रह्मसाक्षात्कृतिस्त्वेवं विचारेण विना नृणाम् ।
आप्तोपदेशमात्रेण न संभवति कुत्रचित् ॥ ३० ॥

परोक्षज्ञानमश्रद्धा प्रतिबध्नाति नेतरत् ।
अविचारोऽपरोक्षस्य ज्ञानस्य प्रतिबन्धकः ॥ ३१ ॥

ननु तत्रोपासनाविचाराभावात्तदनुष्ठानं न संभवेदित्याशंक्याऽऽह—

उपास्तीनामिति । आर्षग्रन्थेषु ब्रह्मवासिष्ठादिमन्त्रकल्पेषूपासनाप्रकारो वर्णितः । ततो विचारासमर्था मनुष्याः कल्पेषूक्तं तदुपासनं गुरुमुखादवगत्यानुतिष्ठन्तीति भावः ॥ २८ ॥

ननु तर्हीदानीन्तनैरपि ग्रन्थकर्तृभिर्वेदवाक्यविचारः कुतः क्रियत इत्याशङ्क्य स्वस्वबुद्धिपरितोषायैव क्रियते नानुष्ठानसिद्धय इत्याह—वेदेति ॥२९॥

ननु ब्रह्मोपासनवद्ब्रह्मसाक्षात्कारस्याप्युपदेशमात्रादेव सिद्धिः किं न स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—ब्रह्मेति ॥ ३० ॥

आप्तोपदेशमात्रेणोपासनानुष्ठानोपयोगि परोक्षज्ञानमुत्पद्यतेऽपरोक्षज्ञानं तु विचारमन्तरेण न जायत इत्युक्तं तत्र कारणमाह—

परोक्षेति । यतोऽविश्वास एव परोक्षज्ञानं प्रतिबध्नाति नाविचारोऽतस्तन्निवृत्तौ सकृदुपदेशादेव परोक्षज्ञानजन्मोपपद्यते । अविचारप्रतिबन्धस्यापरोक्षज्ञानस्य तु विचारद्वारा तन्निवृत्तिमन्तरेणोत्पत्तिर्न संभवति । अतो विचारः कर्तव्य इति भावः ॥ ३१ ॥

ननूपास्तीनामनुष्ठाननिर्णयः क्वेत्यत आह—उपास्तीनामिति । आर्षग्रन्थेषु ब्राह्मवासिष्ठादिमन्त्रकल्पेष्विति प्राञ्चः पुराणादिष्विति तु सम्यक्—"इतिहासपुराणाभ्यां वेदार्थमुपबृंहयेत्" इति स्मृतेः ॥ २८ ॥

तर्हि पूर्वमीमांसायां कस्याधिकारस्तदर्थानुष्ठाने च कस्येति तत्राऽऽह—वेदेति ॥ २९ ॥

ब्रह्मज्ञाने तु नैवमित्याह— ब्रह्मेति ॥ ३० ॥

एवं तर्हि परोक्षापरोक्षज्ञानयोः के प्रतिबन्धके तत्राऽऽह—परोक्षेति ॥ ३१ ॥

विचार्याप्यापरोक्ष्येण ब्रह्मात्मानं न वेत्ति चेत् ।
आपरोक्ष्यावसानत्वाद्भूयो भूयो विचारयेत् ॥ ३२ ॥
विचारयन्नामरणं नैवात्मानं लभेत चेत् ।
जन्मान्तरे लभेतैव प्रतिबन्धक्षये सति ॥ ३३ ॥
इह वाऽमुत्र वा विद्येत्येवं सूत्रकृतोदितम् ।
शृण्वन्तोऽप्यत्र बहवो यन्न विद्युरिति श्रुतिः ॥ ३४ ॥

ननु विचारे कृतेऽपि यदाऽपरोक्षज्ञानं न जायते तदा किं कर्तव्यमित्यत आह—

विचार्यापीति । तत्त्वंपदार्थौ सम्यग्विचार्यापि वाक्यार्थं ब्रह्मात्मैकत्वमपरोक्षतया न जानातीति चेत्तदापि पुनः पुनर्विचार एव कर्त्तव्योऽपरोक्षज्ञानहेतोरन्यस्याभावादिति भावः ॥ ३२ ॥

ननु भूयो भूयो विचारेणापीह साक्षात्कारानुदये किं व्यर्थः स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—**विचारयन्निति** ॥ ३३ ॥

नन्विदं कुतोऽवगतमित्याशङ्क्य ब्रह्मसूत्रकृता व्यासेनैहिकमप्यप्रस्तुतप्रतिबन्धे तद्दर्शनादित्यस्मिन् सूत्रेऽभिधानादित्याह—**इह वाऽमुत्रेति** । सति प्रतिबन्ध इह जन्मनि ज्ञानानुत्पत्तौ श्रुतिं दर्शयति—**शृण्वन्त इति** ॥ ३४ ॥

नन्वपरोक्षज्ञानप्रतिबन्धकीभूताविचारनिराकरणार्थं विचारोऽप्यद्वैतशास्त्रस्य किं सकृदसकृद्वा कार्यं इत्याशङ्क्य यावत्फलं स एव कार्यः सकृदादिनियमस्तु तत्र नैवापेक्षित इति समाधत्ते—**विचार्यापीति** । **आपरोक्ष्येति** । विचारस्येति शेषः ॥ ३२ ॥

ननु यावद्देहमपि ब्रह्मविचारे कृतेऽपि तदपरोक्षप्रमानुदये किं व्यर्थमेवाऽऽयुःक्षय इति भीतं सान्त्वयति—**विचारयन्निति** ॥ ३३ ॥

ननु किमत्र मानमिति चेत्सप्रमाणं समाधत्ते—**इह वेति** । तथा च **शारीरकसूत्रमिदम्**—"ऐहिकमप्यप्रस्तुतप्रतिबन्धे तद्दर्शनात्" इति । अस्यायमर्थः—"आवृत्तिरसकृदुपदेशात्" इति पूर्वतनसूत्रेण श्वेतकेतुं प्रति छान्दोग्यषष्ठे ह्युद्दालककर्तृकनववारोपदेशवशाद्विहितविचारावृत्त्या तावदद्वैतब्रह्मात्मैक्यापरोक्षज्ञानमप्रस्तुतप्रतिबन्धे वर्तमानादिवक्ष्यमाणप्रतिबन्धाभावे सत्यैहिकमपीहास्मिञ्शरीरे भवं तथाऽपिना जन्मान्तरेऽव्यवहित एव भविष्यति । तत्र हेतुः—तद्दर्शनात् । तथात्वस्य श्रुतावुक्तश्वेतकेत्वादावैहिकज्ञानस्य स्मृतावर्जुनादौ च । पारत्रिकज्ञानस्य तु श्रुतौ गर्भ एव वामदेवे स्मृतौ मदालसापत्यादौ च दर्शनादिति । तत्र श्रुतिमप्याह—**शृण्वन्तोऽपीति** । श्रुतिपाठस्तु—"श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः शृण्वन्तोऽपि बहवो यन्न विद्युः" इति ॥ ३४ ॥

गर्भ एव शयानः सन् वामदेवोऽवबुद्धवान् ।
पूर्वाभ्यस्तविचारेण यद्वदध्ययनादिषु ॥ ३५ ॥
बहुवारमधीतेऽपि तदा नाऽऽयाति चेत्पुनः ।
दिनान्तरेऽनधीत्येव पूर्वाधीतं स्मरेत्पुमान् ॥ ३६ ॥
कालेन परिपच्यन्ते कृषिगर्भादयो यथा ।
तद्वदात्मविचारोऽपि शनैः कालेन पच्यते ॥ ३७ ॥
पुनःपुनर्विचारेऽपि त्रिविधप्रतिबन्धतः ।
न वेत्ति तत्त्वमित्येतद्वार्तिके सम्यगोरितम् ॥ ३८ ॥
कुतस्तज्ज्ञानमिति चेत्तद्धि बन्धपरिक्षयात् ।
असावपि च भूतो वा भावी वा वर्ततेऽथ वा ॥ ३९ ॥

इह जन्मनि श्रवणादिकर्तुर्जन्मान्तरेऽपरोक्षज्ञानं भवतीत्यत्रापि गर्भे नु सन्नन्वेषाम वेदमहं देवानां जनिमानि विश्वेत्यादिकां श्रुतिमर्थतः पठति—

गर्भेति । इह जन्मन्युत्पन्नस्य ज्ञानस्य कालान्तरोत्पत्तौ दृष्टान्तमाह—**तद्वदिति** ॥ ३५ ॥

दृष्टान्तं विवृणोति **बहुवारमिति** ॥ ३६ ॥

आदिशब्देन परिगृहीतानि दृष्टान्तान्तराण्याह—

कालेनेति । दार्ष्टान्तिके योजयति—**तद्वदिति** ॥ ३७ ॥

बहुवारं विचारितेऽपि तत्त्वे प्रतिबन्धबलात्साक्षात्कारो न जायत इत्येतद्वार्त्तिककारैरपि निरूपितमित्याह—**पुनः पुनरिति** ॥ ३८ ॥

तान्येव वार्तिकान्युदाहरति—**कुतस्तज्ज्ञानमित्यादिना भरतस्य त्रिजन्मभिरित्यन्तेन** । तत्र तावत्पूर्वमनुत्पन्नस्य ज्ञानस्येदानीमुत्पत्तौ कारणं पृच्छति—

कुत इति । उत्तरमाह—**तद्धि बन्धेति** । बन्धः प्रतिबन्धस्तस्य परिक्षयादित्यर्थः । सोऽपि प्रतिबन्धीभूतो भावी वर्तमानश्चेति त्रिविध इत्याह—**असाविति** ॥ ३९ ॥

एवं गर्भे एवैतच्छयानवामदेव एवमुवाच । अहं मनुरभवं सूर्यश्चेति श्रुत्यन्तरमप्यत्राऽऽह—**गर्भ एवेति** । तत्र दृष्टान्तं स्पष्टयति—**यद्वदिति** ॥ ३५ ॥

तं विवृणोति—**बहुवारमिति** ॥ ३६ ॥

तत्र दृष्टान्तान्तरपूर्वकं फलितमाह—**कालेनेति** ॥ ३७ ॥

तत्र भूतादयस्त्रयः प्रतिबन्धा वार्तिक एवोक्ता इत्याह—**पुनः पुनरिति** ॥ ३८ ॥

तानि वार्तिकान्येव पठति—**कुत इत्यादिना** । बन्धः प्रतिबन्धः ॥ ३९ ॥

अधीतवेदवेदार्थोऽप्यत एव न मुच्यते ।
हिरण्यनिधिदृष्टान्तादिदमेव हि दर्शितम् ।। ४० ।।
अतीतेनापि महिषोस्नेहेन प्रतिबन्धतः ।
भिक्षुस्तत्त्वं न वेदेति गाथा लोके प्रगीयते ।। ४१ ।।
अनुसृत्य गुरुः स्नेहं महिष्यां तत्त्वमुक्तवान् ।
ततो यथावद्वेदैष प्रतिबन्धस्य संक्षयात् ।। ४२ ।।

भवत्वेवं त्रिविधप्रतिबन्धस्ततः किमित्यत आह—

अधीतेति । अत एव प्रतिबन्धसद्भावादेवेत्यर्थः । सति प्रतिबन्धे ज्ञानं नोदेतीत्येतत्, तद्यथा हिरण्यनिधिं निहितमक्षेत्रज्ञा उपर्युपरि संचरन्तो न विन्देयुः "**एवमेवेमाः** सर्वाः प्रजा अहरहर्ब्रह्मलोकं गच्छन्त्य एतं ब्रह्मलोकं न विदन्त्यनृतेन हि प्रत्यूढाः" इत्यनया श्रुत्या प्रदर्शितमित्याह— **हिरण्येति** ।। ४० ।।

नन्वतीतस्य प्रतिबन्धकत्वं न दृष्टमित्याशङ्क्याऽऽह—

अतीतेनेति । अयमर्थः । कश्चिद्यतिः पूर्वं गार्हस्थ्यदशायां कस्यांचिन्महिष्यां स्नेहं कृत्वा पश्चात्संन्यासानन्तरं श्रवणे प्रवृत्तोऽपि तेनैव स्नेहेन जनितात्प्रतिधन्धात्तत्त्वं गुरुणोपदिष्टमपि न ज्ञातवानित्येवंविधा गाथा लोके प्रगीयते न पुराणादिषु पठ्यत इत्यर्थः ।। ४१ ।।

तर्हि तथाविधस्य तस्य कथं ज्ञानोत्पत्तिरित्यत आह—

अनुसृत्येति । गुरुस्तस्य तत्त्वोपदेष्टा तदीयमहिषीस्नेहमनुसृत्य तस्यामेव महिष्यां तत्त्वं तन्महिष्युपाधिकं ब्रह्मोक्तवान् । ततः सोऽपि महिषीस्नेहलक्षणप्रतिबन्धकापगमेन गुरूपदिष्टं तत्त्वं यथावच्छास्त्रोक्तप्रकारेणैव ज्ञातवानित्यर्थः ।। ४२ ।।

अधीतेति । **हिरण्यनिधीति** । तद्यथा हिरण्यनिधिमित्यादिछान्दोग्याष्टमप्रसिद्धादित्यर्थः ।। ४० ।।

तत्र भूतं तमाह—**अतीतेनापीति** । कृताभिषेका महिषीत्यमरः ।। ४१ ।।

एवं तर्हि किं नैव तस्मिञ्जन्मनि ज्ञानोत्पत्तिरित्यत आह—**अनुसृत्येति** । तस्येत्यार्थिकम् । महिष्यां प्रागुपभुक्तराजपत्न्यामित्यर्थः । स्नेहं यथा हृदयवर्तित्वात्तेन संन्यासिना रहसि निवेदितं निजप्रेमाणमिति यावत् । अनुसृत्य यथार्थकत्वेन सुप्रसन्नो गुरुः परमकारुणिकः । महिष्यामेव निरुक्तराजरमण्यामेव पञ्चकोशादिविवेककथनेन तत्त्वमुक्तवानित्यन्वयः ।। ४२ ।।

प्रतिबन्धो वर्तमानो विषयासक्तिलक्षणः ।
प्रज्ञामान्द्यं कुतर्कश्च विपर्ययदुराग्रहः ।। ४३ ।।
शमाद्यैः श्रवणाद्यैश्च तत्र तत्रोचितैः क्षयम् ।
नीतेऽस्मिन्प्रतिबन्धेऽतः स्वस्य ब्रह्मत्वमश्नुते ।। ४४ ।।
आगामिप्रतिबन्धश्च वामदेवे समोरितः ।
एकेन जन्मना क्षीणो भरतस्य त्रिजन्मभिः ।। ४५ ।।

एवमतीतप्रतिबन्धं प्रदर्श्य वर्तमानं दर्शयति—

प्रतिबन्ध इति । वर्तमानः प्रतिबन्धश्चित्तस्य विषयासक्तिरूप एकः, प्रज्ञामान्द्यं बुद्धेस्तैक्ष्ण्याभावः, कुतर्कश्च शुष्कतार्किकत्वेन श्रुत्यर्थस्यान्यथोहनं, विपर्ययदुराग्रहो विपर्ययय आत्मनः कर्तृत्वादिधर्मयुक्तत्वज्ञानलक्षणे दुराग्रहो युक्तिरहितोऽभिनिवेशः, एतेषामन्यतमस्यापि सत्त्वे ज्ञानं नोदेतीत्यर्थः ।।४३।।

अस्यापि प्रतिबन्धस्य केन निवृत्तिरित्यत आह—

शमाद्यैरिति । शमादयः—**शान्तो** दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वेतिश्रुत्युक्ताः । श्रवणादयः—**श्रोतव्यो** मन्तव्यो निदिध्यासितव्य इति श्रुत्याऽभिहिताः । एतैः साधनैस्तत्र तत्र तस्य तस्य प्रतिबन्धस्य निवर्तन उचितैर्योग्यैस्तस्मिन्प्रतिबन्धे क्षयं नीते सति विनाशिते सति । अतः प्रतिबन्धापगमादेव स्वस्य प्रत्यगात्मनो ब्रह्मत्वं प्राप्नोतीत्यर्थः ।। ४४ ।।

इदानीं भाविप्रतिबन्धं दर्शयति—

आगामीति । आगामिप्रतिबन्धो जन्मान्तरहेतुः प्रारब्धशेष इत्यर्थः । तस्य च भोगमन्तरेण निवृत्त्यभावात्तन्निवृत्तौ कालनियमो नास्तीत्याह—**एकेनेति ।** स चैकेन जन्मना क्षीणो वामदेवस्येति शेषः । भरतस्य त्रिजन्मभिः क्षीण इत्यनुषज्यते ।। ४५ ।।

एवं भूतप्रतिबन्धं निरूप्य वर्तमानं तं कथयति—**प्रतिबन्ध इति** ।। ४३ ।।

ननु चतुर्विधस्यास्य कः प्रशमोपाय इत्यत्राऽऽह—**शमाद्यैरित्यादि क्रमेण ।** एवं च विषयासक्तेः शमाद्यैः श्रवणेन प्रज्ञामान्द्यस्य मननेन कुतर्कस्य निदिध्यासनेन विपर्ययरूपात्मकर्तृत्वजगत्सत्यत्वविषयकदुराग्रहलक्षणनिर्युक्तिकाभिमानस्य क्षय इत्याशयः । ननु त्वया तूपक्रमेऽसौ पञ्चविधः प्रञ्चित इति चेत्सत्यम् । **प्रकृतवार्तिकस्थविपर्ययदुराग्रहपदस्वारस्यः श्रीमधुसूदनाचार्यैरेव** विपर्ययपदेन साधनविपरीतभावनां दुराग्रहपदेन फलविपरीतभावनामभिप्रेत्य **संक्षेपशारीरकटीकायां** तथोक्तत्वादत्र तु **प्राचीनटीकानुसारेणैव** चातुर्विध्योक्तेश्च ।। ४४ ।।

एवमागामिनमपि तं सोदाहरणं विवृणोति—**आगामीत्यादिनयभिः** ।। ४५ ।।

योगभ्रष्टस्य गीतायामतीते बहुजन्मनि ।
प्रतिबन्धक्षयः प्रोक्तो न विचारोऽप्यनर्थकः ॥ ४६ ॥
प्राप्य पुण्यकृतां लोकानात्मतत्त्वविचारतः ।
शुचीनां श्रीमतां गेहे साभिलाषोऽभिजायते ॥ ४७ ॥
अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम् ।
निःस्पृहो ब्रह्मतत्त्वस्य विचारात्तद्धि दुर्लभम् ॥ ४८ ॥
तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम् ।
यतते च ततो भूयस्तस्मादेतद्धि दुर्लभम् ॥ ४९ ॥

नन्वेकेन त्रिजन्मभिरितिनियतकालतत्त्वं भवतैवोच्यत इत्याशङ्क्याऽऽह—**योगेति** । योगभ्रष्टस्तत्त्वसाक्षात्कारपर्यन्तं विचाररहित इत्यर्थः । तर्हि तत्त्वविचारो निष्फलः स्यादित्याशङ्क्याऽह—**न विचारोऽपीति** । प्रतिबन्धनिवृत्त्यनन्तरमेवापरोक्षज्ञानलक्षणफलसद्भावादिति भावः ॥ ४६ ॥

गीतायां प्रतिपादितमर्थं दर्शयति—**प्राप्येत्यादिना ततो याति परां गतिमित्यन्तेन** । **प्राप्येति** । योगभ्रष्ट आत्मतत्त्वविचारबलादेव पुण्यकारिणां लोकान्स्वर्गविशेषान्प्राप्य तत्र बहुकालं सुखमनुभूय तद्भोगावसाने साभलाषश्चेदस्मिँलोके शुचीनां मातृतः पितृतः शुद्धानां श्रीमतां कुलेऽभिजायते ॥ ४७ ॥

पक्षान्तरमाह—

अथ वेति । निस्पृहः स्वयमतिविरक्तश्चेद्ब्रह्मतत्त्वविचारादेव धीमतामात्मतत्त्वनिश्चयविचारवतां योगिनां चित्तैकाग्र्यवतां कुले भवति जायत इत्यर्थः । पूर्वस्मात्पक्षात्को विशेष इत्याह—**तद्धीति** हि यस्मात्कारणात्तद्योगिकुले जन्म दुर्लभमल्पपुण्येनालभ्यमित्यर्थः ॥ ४८ ॥

तस्य दुर्लभत्वमुपपादयति—

तत्रेति । हि यस्मात्कारणात्तत्र तस्मिञ्जन्मनि पौर्वदेहिकं पूर्वदेहभवं तं बुद्धिसंयोगं तत्त्वविचारगोचरबुद्धिसम्बन्धं शीघ्रं लभते प्राप्नोति न केवलं बुद्धिसम्बन्धमात्रलाभः किंतु ततः पूर्वस्मात्प्रयत्नाद्भूयो यतते चाधिकं प्रयत्नं करोति तस्मादेतज्जन्म दुर्लभमित्यर्थः ॥ ४९ ॥

नन्वेकजन्मादिनैयत्यं प्रतिबन्धक्षये चेद्वरमित्यत आह—**योगेति** ॥ ४६ ॥
ननु कथं न विचारानर्थक्यमत आह—**प्राप्येत्यादिगीतावाक्यार्थकथनेन** ॥ ४७ ॥
निरभिलाषे वैलक्षण्यं संक्षिपति—**अथवेति** ॥ ४८ ॥
ततः किं तदाह—**तत्रेति** ॥ ४९ ॥

पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः ।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम् ।। ५० ।।

ब्रह्मलोकाभिवाञ्छायां सम्यक्सत्यां निरुध्य ताम् ।
विचारयेद्य आत्मानं न तु साक्षात्करोत्ययम् ।। ५१ ।।

वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्था इति शास्त्रतः ।
ब्रह्मलोके स कल्पान्ते ब्रह्मणा सह मुच्यते ।। ५२ ।।

भूयोऽभ्यासे कारणमाह—

पूर्वेति । योगभ्रष्टस्तेन पूवाभ्यासेनैवावशोऽप्यस्वाधीनोऽपि ह्रियत आकृष्यत एवमनेकेषु जन्मसु कृतेन प्रयत्नेन संसिद्धस्तत्त्वज्ञानसंपन्नस्ततस्तस्मात्तत्त्वज्ञानात्परां गतिं मुक्तिं याति प्राप्नोतीत्यर्थः ।। ५० ।।

आगामि प्रतिबन्धान्तरं दर्शयति—

ब्रह्मलोकेति । ब्रह्मलोकप्राप्तीच्छायां दृढायां सत्यां तां निरुध्य य आत्मानं विचारयेत्तस्य साक्षात्कारो नैव जायत इत्यर्थः ।। ५१ ।।

ननु तर्हि तस्य कदाऽपि मुक्तिर्न स्यादित्याशंक्याऽऽह—

वेदान्तेति । "वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः संन्यासयोगाद्यतयः शुद्धसत्त्वाः । ते ब्रह्मलोके तु परान्तकाले परामृताः परिमुच्यन्ति सर्वे" "ब्रह्मणा सह ते सर्वे संप्राप्ते प्रतिसंचरे । परस्यान्ते कृतात्मनः प्रविशन्ति परं पदम्" इत्यादिशास्त्रवशाद्ब्रह्मलोकप्राप्त्यनन्तरं तत्त्वं साक्षात्कृत्य ब्रह्मणा सह मुक्तिर्भविष्यतीत्यर्थः ।। ५२ ।।

अत एव—पूर्वेति ।। ५० ।।

एवं चतुर्थमपि तमाह—**ब्रह्मे**ति । उपलक्षणमिदं वैकुण्ठादेरपि ।। ५१ ।।

ननु तर्हि तस्य का गतिरित्यत आह—**वेदान्तेति ।** "वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः संन्यासयोगाद्यतयः शुद्धसत्त्वाः । ते ब्रह्मलोके तु परान्तकाले परामृतात्परिमुच्यन्ति सर्वे" इति तैत्तिरीयश्रुतेः । "ब्रह्मणा सह ते सर्वे संप्राप्ते प्रतिसञ्चरे । परस्यान्ते कृतात्मानः प्रविशन्ति परं पदम्" इति स्मृतेश्चेत्यर्थः ।। ५२ ।।

केषाञ्चित्तु विचारोऽपि कर्मणा प्रतिबध्यते ।
श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्य इति श्रुतेः ॥ ५३ ॥

अत्यन्तबुद्धिमान्द्याद्वा सामग्र्या वाप्यसंभवात् ।
यो विचारं न लभते ब्रह्मोपासीत सोऽनिशम् ॥ ५४ ॥

निर्गुणब्रह्मतत्त्वस्य न ह्युपास्तेरसंभवात् ।
सगुणब्रह्मणीवात्र प्रत्ययावृत्तिसंभवात् ॥५५ ॥

एवं तत्त्वविचारे क्रियमाणे प्रतिबन्धवशादत्र साक्षात्करो न जायत इत्यभिधाय तीव्रपापिनां तु सोऽपि विचारो दुर्लभ इत्याह—

केषाञ्चिदिति । तत्र प्रमाणमाह—**श्रवणायेति** । यः परमात्मा बहुभिः पुरुषैः श्रवणायापि श्रोतुमपि न लभ्यो दुर्लभ इत्यर्थः ॥ ५३ ॥

एतावता सति प्रतिबन्धे तत्त्वसाक्षात्कारस्तत्साधनभूतो विचारश्च न संभवतीत्यभिधायेदानीं विचारासमर्थेन पुरुषार्थार्थिना किं कर्तव्यमित्यपेक्षायां "विचाराक्षममर्त्याश्च तच्छ्रुत्वोपासते गुरोः" इति यत्प्राक्प्रतिज्ञातं तदुपपादयति—

अत्यन्तेति । सामग्र्यसंभवो नाम तदुपदेष्टुर्गुरोरध्यात्मशास्त्रस्य देशकालादेर्वाऽसंभवस्तस्मादित्यर्थः ॥ ५४ ॥

ननु निर्गुणब्रह्मतत्त्वस्य गुणरहितत्वात्तदुपासनं न घटत इत्याशङ्क्योपासनस्य प्रत्ययावृत्तिरूपत्वात्सगुणब्रह्मणीव निर्गुणेऽपि तत्संभवतीत्याह—**निर्गुणेति** ॥ ५५ ॥

न केवलमेते ज्ञान एव प्रतिबन्धाः सन्ति किं तु तत्साधके विचारेऽपि दूरदृष्टविशेषलक्षणोऽसौ विद्यत एवेत्याह—**केषांचिदति** तत्र प्रमाणमाह—**श्रवणायापीति** । उपलक्षणमिदं जीवन्मुक्त्याख्ये ज्ञानफले प्रतिबन्धस्यापि तत्प्रपञ्चनं तु जीवन्मुक्तिविवेकप्रकाश एव करिष्याम इति दिक् ॥ ५३ ॥

एवं वार्त्तिकोक्तं सर्वं प्रतिबन्धविधिमभिधायाधुना—"विचाराक्षममर्त्याश्च तच्छ्रुत्वोपासते गुरोः" इति यत्प्राक्प्रतिज्ञातं तत्संगति प्रतिपादयति—**अत्यन्तेति** । सामग्र्या गुरुशास्त्रात्मिकाया इत्यर्थः ॥ ५४ ॥

निर्गुणे कथमुपासनमित्यत्राऽऽह—**निर्गुणेति** ॥ ५५ ॥

अवाङ्मनसगम्यं तन्नोपास्यमिति चेत्तदा ।
अवाङ्मनसगम्यस्य वेदनं न च संभवेत् ।। ५६ ।।
वागाद्यगोचराकारमित्येवं यदि वेत्त्यसौ ।
वागाद्यगोचराकारमित्युपासीत नो कुतः ।। ५७ ।।
सगुणत्वमुपास्यत्वाद्यदि वेद्यत्वतोऽपि तत् ।
वेद्यं चेल्लक्षणावृत्त्या लक्षितं समुपास्यताम् ।। ५८ ।।
ब्रह्म विद्धि तदेव त्वं न त्विदं यदुपासते ।
इति श्रुतेरुपास्यत्वं निषिद्धं ब्रह्मणो यदि ।। ५९ ।।

ननु निर्गुणस्य ब्रह्मणो वाङ्मनसगोचरत्वाभावान्नोपास्यत्वमित्याशङ्क्य वेदनपक्षेऽप्ययं दोषः समान इत्याह—अवाङ्मनसेति ।। ५६ ।।

ननु ब्रह्मावाङ्मनसगोचरमित्येवं ज्ञातुं शक्यमित्याशङ्क्यैवमेवोपासितुमपि शङ्क्यमित्याह—वागादिति ।। ५७ ।।

ब्रह्मण उपास्यत्वे सगुणत्वं प्रसज्येतेत्याशङ्क्य वेद्यत्वेऽपि तत्सगुणत्वं स्यादित्याह—

सगुणत्वमिति । तत्सगुणत्वमित्यर्थः । ननु लक्षणावृत्त्याश्रयणान्न वेद्यत्वे सगुणत्वप्रसंग इत्याशङ्क्य उपासनमपि तथैव क्रियतामित्याह—वेद्यं चेदिति ।। ५८ ।।

ननु ब्रह्मण उपास्यत्वं श्रुत्या निषिध्यत इति शङ्कते—

ब्रह्म विद्धीति । "यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनोमतं तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते" इति श्रुतिरुपास्यस्य ब्रह्मत्वं निषेधयतयीत्यर्थः । त्वं यदवाङ्मनसगम्यं यदेव ब्रह्म विद्धीदमिति यत्तूपासते पुरुषास्तन्न विद्धीति योजना ।। ५९ ।।

नन्ववाङ्मनसगम्ये तत्र प्रत्ययावृत्तिलक्षणं नैवोपासनं संभवतीत्याशङ्क्य प्रतिबन्धः समाधत्ते—अवागिति ।। ५६ ।।

अथ प्रतिवन्दीमोचनमपि साम्येन प्रत्याह—वागादीती ।। ५७ ।।

एवमुपास्यत्वात्सगुणत्वयाशङ्क्य प्रतिवंद्यैव समाधत्ते—सगुणत्वमिति प्रकृतेऽपि प्रतिवन्दीमोचनामाशङ्क्य साम्येनैव शमयति—वेद्यं चेदिति ।। ५८ ।।

उपास्यत्वं श्रुत्या ब्रह्मणि निषिद्धमिति शङ्कते—ब्रह्मेति । "तदेव ब्रह्मत्वं विद्धि नेद यदिदमुपासते" इति तवल्का(लवका)रोपनिषत् ? ।। ५९ ।।

विदितादन्यदेवेति श्रुतेर्वेद्यत्वमस्य न ।
यथा श्रुत्यैव वेद्यं चेत्तथा श्रुत्याप्युपास्यताम् ॥ ६० ॥

अवास्तवी वेद्यता चेदुपास्यत्वं तथा न किम् ।
वृत्तिव्याप्तिर्वेद्यता चेदुपास्यत्वेऽपि तत्समम् ॥ ६१ ॥

का ते भक्तिरुपास्तौ चेत्कस्ते द्वेषस्तदीरय ।
मानाभावो न वाच्योऽस्यां बहुश्रुतिषु दर्शनात् ॥ ६२ ॥

उपास्यत्ववद्वेद्यत्वस्यापि तन्निषेधः समान इत्याह—

विदितादिति । अन्यदेव तद्विदितादथोऽविदितादधीति ब्रह्मणो वेद्यत्वमपि निवारयतीत्यर्थः । विदिताज्ज्ञातादित्यर्थः । अविदितादज्ञातादित्यर्थः । विदिताविदिताभ्यामन्यद्ब्रह्मेति श्रुतिः प्रतिपादयतीति चेत्तर्हि तथैव तज्जानीयादित्याशङ्क्योपासनेऽप्येतत्समानमित्याह—**यथेति** ॥ ६० ॥

ननु वेद्यत्वं ब्रह्मणो वास्तवं न भवतीत्याशङ्क्योपास्यत्वमपि तथेत्याह—

अवास्तवीति । ननु वेदनपक्षे वृत्तेर्ब्रह्माकारत्वमस्ति नोपासन इत्याशङ्क्य शब्दबलात्तदाकारत्वमुभयत्र समानमित्याह—**वृत्तीति** ॥६१॥

युक्तिशून्य उपालम्भस्तु त्वत्पक्षेऽपि समान इत्याह—

का त इति । ननु निर्गुणोपासने प्रमाणं नास्तीत्याशङ्क्यानेकासु श्रुतिषूपलभ्यमानत्वान्मैवमित्याह—**मानाभाव इति** ॥ ६२ ॥

अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधीतित**श्रुत्यैव** तत्र वेद्यत्वमपि निषिद्धमिति प्रतिवन्द्यैव समाधत्ते—**विदितादिति** । फलितमाह—**यथेति** । दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्येत्यादिरूपयेत्यर्थः । **तथेति** । प्रज्ञां कुर्वीतेति श्रुत्येत्यर्थः ॥ ६० ॥

उपासनेऽवास्तवत्वादिकं वेदनसममेवेत्याह—**अवास्तवीति** ॥ ६१ ॥

ननु निर्गुणाहंग्रहोपासन एव तवेदं किमिति प्रेमेति चेत्त्वदीयोऽत्र द्वेषोऽपि किंमूलकस्तत्कथयेत्याह—**का ते भक्तिरिति** । प्रमाणाभावं तत्राऽऽशङ्क्य प्रत्याह—**मानेति** ॥ ६२ ॥

उत्तरस्मिंस्तापनीये शैब्यप्रश्नेऽथ काठके ।
माण्डूक्यादौ च सर्वत्र निर्गुणोपास्तिरीरिता ॥ ६३ ॥
अनुष्ठानप्रकारोऽस्याः पञ्चीकरण ईरितः ।
ज्ञानसाधनमेतच्चेन्नेति केनात्र वारितम् ॥ ६४ ॥
नानुतिष्ठति कोऽप्येतदिति चेन्माऽनुतिष्ठतु ।
पुरुषस्यापराधेन किमुपास्तिः प्रदुष्यति ॥ ६५ ॥

बहुश्रुतिषु दर्शनादित्युक्तमर्थं विवृणोति—

उत्तरस्मिन्निति । तापनीयोपनिषदि तावत् "देवा ह वै प्रजापतिमब्रुवन्नणोरणीयांसमिममात्मानमोङ्कारं नो व्याचक्ष्व" इत्यादिना बहुधा निर्गुणोपासनमभिधीयते शैब्यप्रश्ने प्रश्नोपनिषदि पंचमे प्रश्ने "यः पुनरेतं त्रिमात्रेणोमित्यनेनैवाक्षरेण परं पुरुषमभिध्यायीत" इति काठके कठवल्ल्याम् "सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति" इत्युपक्रम्य "एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतदालम्बनं श्रेष्ठम्" इत्यादिना प्रणवोपासनमुच्यते । माण्डूक्योपनिषदि "ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वमित्यादिनाऽवस्थायातीततुरीयोपासनमेवाभिधीयत इत्यर्थः । आदिशब्देन तैत्तिरीयमुण्डकादयो गृह्यन्ते ॥ ६३ ॥

ननु निर्गुणोपासनं कथमनुष्ठेयमित्यत आह—

अनुष्ठानेति । नन्वेतदुपासनं ज्ञानसाधनमेव न मुक्तिसाधनमित्याशङ्क्य ब्रह्मतत्त्वोपास्त्याऽपि मुच्यत इतिवदतामस्माकमनुकूलमित्याह—ज्ञानसाधनमिति ॥ ६४ ॥

ननु सगुणोपासनमेव सर्वैरनुष्ठीयते न निर्गुणोपासनमित्याशङ्क्य तस्य प्रमाणसिद्धस्यापलापो न युक्त इत्याह—नानुतिष्ठतीति ॥ ६५ ॥

तत्र कासाञ्चिच्छ्रुतीनां नामान्याह—उत्तरस्मिन्निति । नृसिंहोत्तरतापनीये यथा "देवा ह वै प्रजापतिमब्रुवन्नणोरणीयांसमिममात्मानमोङ्कारं व्याचक्ष्व" इत्यादिना । एवं प्रश्नोपनिषदि शैब्यप्रश्ने—"यः पुनरेतं त्रिमात्रेणोमित्येतेनैवाक्षरेण परं पुरुषमभिध्यायते" इति । तद्वत्कठवल्ल्याम्—"सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति" इत्युपक्रम्य "तत्तेपदं संग्रहेण ब्रवीम्योम्" इत्येतदिति । तथा माण्डुक्योपनिषद्यपि—"ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वम्" इत्यादिना । आदिना—"ओमिति ब्रह्म । ओमितीदं सर्वम्" इत्यादि तैत्तिरीयकादि ॥ ६३ ॥

ननु भवत्वेवमत्र प्रामाणिकत्वमथाप्यनुष्ठानप्रकारोऽस्याः क्वोक्त इत्यत आह—अनुष्ठानेति । ननु ज्ञानसाधनमेवोक्तोपासनमिति चेन्नेति को ब्रूत इत्याह—ज्ञानेति ॥६४॥

नन्वेनदनुष्ठानं लोके प्रायः कोऽपि न करोतीत्यत्राऽऽह — नानुतिष्ठतीति ॥ ६५ ॥

इतोऽप्यतिशयं मत्वा मन्त्रान्वश्यादिकारिणः ।।
मूढा जपन्तु तेभ्योऽतिमूढाः कृषिमुपासताम् ।। ६६ ।।
तिष्ठन्तु मूढाः प्रकृता निर्गुणोपास्तिरीर्यते ।
विद्यैक्यात्सर्वशाखास्थान्गुणानत्रोपसंहरेत् ।। ६७ ।।
आनन्दादेर्विधेयस्य गुणसङ्घस्य संहृतिः ।
आनन्दादय इत्यस्मिन्सूत्रे व्यासेन वर्णिता ।। ६८ ।।

प्रमाणसिद्धस्यानुष्ठानाभावेनापरित्याज्यत्वे दृष्टान्तमाह—

इतोऽपीति । अयमभिप्रायः । यथा सगुणोपासनेभ्यः कालान्तरभाविफलेभ्यो वश्यादिकारिमन्त्रेष्वैहिकफलप्रदत्वमतिशयं बुद्ध्वा मूढानां तन्मन्त्रजपादौ प्रवृत्तावपि विवेकिभिः सगुणोपासनं न परित्यज्यते । यथा वा नियमानुष्ठानापेक्षेभ्यस्तेभ्योऽपि मन्त्रेभ्यः कृष्यादावतिशयं नियमनैरपेक्ष्यं मत्वा मूढतराणां तत्र प्रवृत्तावपि तन्मन्त्रानुष्ठानं न परित्यज्यते तथा सांसारिकफलेप्सूनां निर्गुणोपासनानुष्ठानाभावेऽपि न मुमुक्षुभिर्निर्गुणोपासनं त्यज्यत इति ।। ६६ ।।

एवं प्रासङ्गिकं परिसमाप्य प्रकृतमनुसरति—

तिष्ठन्त्विति । सर्ववेदान्तप्रत्ययं चोदनाद्यविशेषादित्युक्तन्यायेन निर्गुणोपासनस्यैकत्वात्तासु शाखासु श्रुतानुपास्यगुणानेकत्रोपसंहृत्योपासनं कर्तव्यमित्याह—**विद्येति** ।। ६७ ।।

ते च गुणा द्विप्रकाराः । विधेया निषेध्याश्चेति । तत्राऽऽनन्दो ब्रह्म विज्ञानमानदं नित्यः शुद्धो बुद्धः सत्यो मुक्तो निरञ्जनो विभुरद्वय आनन्दः

ननूक्तोपासनाननुष्ठाने कः पुरुषस्यापराध इत्याशङ्क्याविवेक एवेत्याशयेन तादृशाविवेकिनः सोदाहरणमुपेक्षया निन्दति—**इतोऽपीति** । ज्ञानद्वारा मोक्षप्रदनिर्गुणाहंग्रहोपासनतोऽपीत्यर्थः । मत्वा बालाविलासादिविषयसुखशून्येन किं मोक्षेणेति स्वमनीषिकयैव संकल्प्येति यावत् । मन्त्रान्श्रीविद्यादिमन्त्रान् । स तावत्पञ्चदशाक्षर एवं कूटत्रयात्मकः शाक्तैः पञ्चदशीति बीजान्तरनिक्षेपेण षोडशीति व्यवह्रियते । तदनादरेण साक्षान्मोक्षप्रदतत्त्वविचारार्थमेव परमकारुणिकाभ्यामेताभ्यामाचार्याभ्यामियं पंचदशी जीवन्मुक्तिविवेकेन सह षोडशी च मुमुक्ष्वेकानुजिघृक्षयाऽकारीति रहस्यम् ।। ६६ ।।

एवं मूर्खाननादृत्य प्रकृतमनुसरति—**तिष्ठन्त्विति** । तत्प्रकारमाह—**विद्येति** ।।६७।।

इदमसाम्प्रदायिकमिति के ते गुणा इति च शङ्कां शमयन्सप्रमाणं विधिनिषेध-

अस्थूलादेर्निषेध्यस्य गुणसङ्घस्य संहृतिः ।
तथा व्यासेन सूत्रेऽस्मिन्नुक्ताऽक्षरधियां त्विति ॥ ६९ ॥

निर्गुणब्रह्मतत्त्वस्य विद्यायां गुणसंहृतिः ।
न युज्येतेत्युपालम्भो व्यासं प्रत्येष मां न तु ॥ ७० ॥

हिरण्यश्मश्रुसूर्यादिमूर्तीनामनुदाहृतेः ।
अविरुद्धं निर्गुणत्वमिति चेत्तुष्यतां त्वया ॥ ७१ ॥

परः प्रत्यगेक रसः इत्यादयो ये विधेयगुणास्तेषामुपसंहार "आनन्दादयः प्रधानस्य" इत्यस्मिन्नधिकरणेऽभिहित इत्याह—आनन्दादेरिति ॥ ६८ ॥

ये चास्थूलमनण्वह्रस्वं यत्तददृश्यमग्राह्यमशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययमित्यादयो निषेध्यगुणास्तत्र तत्र श्रुतास्तेषामुपसंहारोऽक्षरधियां त्ववरोधः सामान्यतद्भावाभ्यामौपसदनवत्तदुक्तमित्यस्मिन्नधिकरणेऽभिहित इत्याह—अस्थूलादेरिति ॥ ६९ ॥

ननु निर्गुणब्रह्मविद्यायां न गुणोपसंहार एव युज्यते निर्गुणविद्यात्वविरोधादित्याशङ्क्य सूत्रकारेणैवमभिहितस्योपसंहारस्यास्माभिरभिधीयमानत्वान्नास्मान्प्रतीदं चोद्यमुचितमित्याह—निर्गुणेति ॥ ७० ॥

हिरण्यश्मश्रुत्वादिगुणविशिष्टमूर्तीनामनभिधानादिदं निर्गुणोपासनमेवेति चेत्तर्हि न विरोध इत्याह—हिरण्येति । हिरण्यश्मश्रुसूर्यादिमूर्तीनां हिरण्मयानि श्मश्रूणि यस्यासौ हिरण्यश्मश्रु तथाविधः सूर्यो हिरण्यश्मश्रुः सूर्य आदिर्येषां ते हिरण्यश्मश्रुसूर्यादयस्तेषां मूर्तयो हिरण्यश्मश्रुसूर्यादिमूर्तयस्तासामिति विग्रहः ॥ ७१ ॥

मुख्यांस्तानाह—आनन्दादेरित्यादिद्वाभ्याम् । सूत्रे "आनन्दादयः प्रधानस्य" इत्यधिकरणे ॥ ६८ ॥

अस्थूलादेरिति । सूत्रे—"अक्षरधिया त्वविरोधः सामान्यतद्भावाभ्यामौपसदवत्तदुक्तम्" इत्यधिकरण इत्यर्थः । अक्षरार्थस्तु ब्रह्मामृतवर्षिण्यां तद्वृत्तावेव ज्ञेयः ॥ ६९ ॥

तत्राप्याक्षिप्य समाधातुमुपहसति—निर्गुणेति ॥ ७० ॥

उपहासाभिसंधिं बुद्ध्वाऽनुकूलं प्रत्यनुमोदते—हिरण्येति ॥ ७१ ॥

गुणानां लक्षकत्वेन न तत्त्वेऽन्तःप्रवेशनम् ॥
इति चेदस्त्वेवमेव ब्रह्मतत्त्वमुपास्यताम् ॥ ७२ ॥
आनन्दादिभिरस्थूलादिभिश्चात्माऽत्र लक्षितः ।
अखण्डैकरसः सोऽहमस्मीत्येवमुपासते ॥ ७३ ॥
बोधोपास्त्योर्विशेषः क इति चेदुच्यते शृणु ।
वस्तुतन्त्रो भवेद्बोधः कर्तृतन्त्रमुपासनम् ॥ ७४ ॥
विचाराज्जायते बोधोऽनिच्छा यं न निवर्तयेत् ।
स्वोत्पत्तिमात्रात्संसारे दहत्यखिलसत्यताम् ॥ ७५ ॥

ननु आनन्दादीनामस्थूलादीनां च गुणानामुपास्यतत्त्वेंऽतःप्रवेशाभावात्तद्गुणविशिष्टत्वेन कथमुपास्यत्वमित्याशङ्क्य तेषां तत्त्वांतःप्रवेशाभावेऽपि तेषां लक्षकत्वसंभवात्तैर्लक्षितं ब्रह्मोपास्यमित्याह—**गुणानामिति** ॥ ७२ ॥

तथोपासनप्रकारमेव दर्शयति —

आनंदादिभिरिति । अत्राऽऽसु श्रुतिषु योऽखण्डैकरस आत्माऽऽनन्दादिभिरस्थूलादिभिश्च गुणैर्लक्षितः सोऽहमस्मीत्येवमुपासते मुमुक्षव इति शेषः ॥ ७३ ॥

नन्वेवं सति बोधोपासनयोः कुतो भेद इत्याशङ्क्य वस्तुतंत्रकर्तृतंत्रत्वाभ्यां भेद इत्याह—**बोधोपास्त्योरिति** ॥ ७४ ॥

वैलक्षण्यान्तरसिद्धये बोधस्य हेत्वादिकं दर्शयति—

विचाराज्जायत इत्यादिना श्लोकद्वयेन । **विचारादिति** । विचाराद्वस्तुतत्त्वविचाराद्बोधो जायते किं च विचाराज्जायमानं यं बोधमनिच्छाबोधो

ननूक्तसूत्रोक्तानामानन्दादीनां विधेयगुणानामस्थूलादीनां निषेध्यगुणानां च तत्त्वलक्षकत्वान्न तत्र तेषां प्रवेश इत्ययुक्तमेव तद्विशिष्टब्रह्मण उपासनं प्रकृतं तैर्विना कथं सिध्यतीति चेत्सत्यम् । निरुक्तगुणैर्लक्ष्यमेवास्तु ब्रह्मोपास्यमित्याह– **गुणानामिति** ॥७२॥

एवं च कथमुपासनाकारः पर्यवसन्न इत्यत आह—**आनन्दादिभिरिति** । उपासते ध्यायन्ति निरन्तरं मुमुक्षव इति शेषः ॥ ७३ ॥

नन्वेवं तर्हि बोधोपासनयोः कियान्विशेष इत्याशङ्कां व्युद्भाव्य समाधत्ते—**बोधोपास्त्योरिति** ॥ ७४ ॥

एवं सूत्रितं बोधोपास्त्योर्विशेषं विवृणोति—**विचारादिति** । अनिच्छाऽनादरः । अनिच्छतोऽपि विरहिणश्चन्द्रादिज्ञानदर्शनाद्बोधस्य प्रमाणविषयीकृतवस्तुपरतन्त्रत्व-

तावता कृतकृत्यः सन्नित्यतृप्तिमुपागतः ।
जीवन्मुक्तिमनुप्राप्य प्रारब्धक्षयमीक्षते ॥ ७६ ॥
आप्तोपदेशं विश्वस्य श्रद्धालुरविचारयन् ।
चिन्तयेत्प्रत्ययैरन्यैरनन्तरितवृत्तिभिः ॥ ७७ ॥
यावच्चिन्त्यस्वरूपत्वाभिमानः स्वस्य जायते ।
तावद्विचिन्त्य पश्चाच्च तथैवामृति धारयेत् ॥ ७८ ॥
ब्रह्मचारी भिक्षमाणो युतः संवर्गविद्यया ।
संवर्गरूपता चित्ते धारयित्वा ह्यभिक्षत ॥ ७९ ॥

मा भूदित्येवंरूपा न निवर्तयेन्न निवारयेदुत्पद्यमानश्च बोधः स्वजन्ममात्रात्संसारेऽखिलस्य प्रपञ्चस्य सत्यतां दहति नाशयति ॥ ७५ ॥

तावता तत्त्वज्ञानोत्पत्तिमात्रेण निरतिशयं सुखं प्राप्नोतीत्यर्थः ॥७६॥

उपासनायाश्च बोधाद्वैलक्षण्यान्तरसिद्धये तद्दर्शयति—

आप्त इति । आप्तस्य गुरोरुपदेशमुपास्य स्वरूपप्रतिपादकवाक्यजातं विश्वस्य विश्वासं कृत्वा विचारयन्नुपास्य तत्त्वंप्रत्ययैरन्यैर्विजातीयघटादिविषयैरनन्तरितवृत्तिभिरव्यवहितवृत्तिभिश्चिन्तयेदिति ॥ ७७ ॥

कियन्तं कालं चिन्तयेदित्याशङ्क्याऽऽह—**यावदिति** ॥ ७८ ॥

उपासकस्य तद्रूपत्वाभिमानमुदाहरणप्रदर्शनेन स्पष्टीकरोति—

ब्रह्मचारीति । कश्चित्संवर्गत्वगुणाविशिष्टप्राणोपासकब्रह्मचारी भिक्षा-

मेवेति भावः । ब्रह्मबोधे लौकिकबोधाद्वैलक्षण्यमाह—**स्वेति** । स्वविषयकमूलाज्ञानध्वंसनद्वारेत्यार्थिकम् ॥ ७५ ॥

तत्फलं साद्यस्कमेवेत्याह—**तावतेति** । ईक्षते प्रतिक्षणमुपभोगेन क्षीयमाणं साक्षित्वेन पश्यतीत्यर्थः ॥ ७६ ॥

एवं बोधस्य हेतुकार्ये निरूप्योपास्तेस्ते निरूपयति—**आप्तेति** । अन्यैर्विजातीयैः । **अनन्तरितेति** । निरुक्तप्रत्ययकृतव्यवधानहीनवृत्तिभिरहं ब्रह्मास्मीति चिन्तयेदित्यन्वयः ॥ ७७ ॥

नन्वेवं कियत्कालं चिन्तनीयमित्यत आह—**यावदिति** ॥ ७८ ॥

क्षणमात्रमुपास्यवस्तुस्वरूपाभिमाने स्वस्य जातेऽपि तथैवाऽऽमृतिधारणमुदाहरणेन विवृणोति—**ब्रह्मचारीति** । कश्चित्संवर्गत्वगुणविशिष्टप्राणाहंग्रहोपासको ब्रह्मचारी

पुरुषस्येच्छया कर्तुमकर्तुं कर्तुमन्यथा ।
शक्योपास्तिरतो नित्यं कुर्यात्प्रत्ययसंततिम् ॥ ८० ॥
वेदाध्यायी ह्यप्रमत्तोऽधीते स्वप्नेऽधिवासतः ।
जपिता तु जपत्येव तथा ध्याताऽपि वासयेत् ॥ ८१ ॥
विरोधिप्रत्ययं त्यक्त्वा नैरन्तर्येण भावयन् ।
लभते वासनावेशात्स्वप्नादावपि भावनाम् ॥ ८२ ॥

हरणार्थमामत्याभिप्रतारिनाम्मो राज्ञः पुरतः "महात्मनश्चतुरो देव एकः कः स जगार भुवनस्य गोपास्तं कापेय नाभिपश्यन्ति मर्त्या अभिप्रतारिन्बहुधा वसन्तः" इतिमन्त्रेण स्वात्मनः संवर्गरूपत्वं चित्ते धृतं प्रकटीकृतवानिति छांदोग्ये श्रूयत इत्यर्थः ॥ ७९ ॥

आमृतिधारणे निमित्तं दर्शयन्ननिच्छा यं न निवर्तयेदित्युक्ताद्बोधधर्माद्वैलक्षण्यमाह—

पुरुषस्येति । उपास्तिः पुरुषस्योपासकस्येच्छया कर्तुमकर्तुंमन्यथा प्रकारान्तरेण वा कर्तुं शक्योऽतः पुरुषस्येच्छाधीनत्वादुपासनं सर्वदा कुर्यादित्यर्थः ॥ ८० ॥

एवं सदा चिन्तने किं भवतीत्यत आह—

वेदाध्यायीति । अप्रमत्तो वेदोध्यायी सदाऽध्ययनशीलो जपिता सदा जपशीलोधिवासतो दृढवासनया स्वप्नादिष्वध्ययनं जपं वा करोत्येवमुपासकोऽपि वासनादार्ढ्यात्स्वप्नादावपि ध्यायीतेत्यर्थः ॥ ८१ ॥

स्वप्नादावपि ध्यानानुवर्तने कारणमाह—

विरोधीति । वासनावेशात्संस्कारपाटवाद् भावनां ध्यानम् ॥ ८२ ॥

भिक्षमाणः प्राक्तनसंस्कारात्स्नानशौचादिवद्भिक्षाटनमपि कुर्वाणः सन्संवर्गविद्यया छांदोग्यप्रसिद्धयोक्तरूपप्राणोपासनयुतः । अत एव । **संवर्गेत्यादि योज्यम् ।** स कदाचिदभिप्रतारिनाम्नो राज्ञः सद्मनि भिक्षार्थं गतः सन् "महात्मनश्चतुरो देव एकः सो जगार भुवनस्य गोपाः । तं कापेय नाभिपश्यन्ति मर्त्या अभिप्रतारिन्बहुधा वसन्तम्" इति मन्त्रेण छान्दोग्यपठितेन तं प्रति स्वमनसि धृतं स्वस्योक्तरूप्राणनातात्म्यं प्रकटीचकारेति तत्रैवाऽऽम्नायते जगार जागर्ति । गोपाः गोप्ता । कापेय हे कपिगोत्रोत्पन्नेत्यर्थः ॥ ७९ ॥

ततः किं तत्राऽऽह—**पुरुषस्येति** ॥ ८० ॥

तत्र लौकिकोदाहरणद्वयमप्याह—**वेदाध्यायीति ।** वासितः संस्कृतः । ततः फलितं विधत्ते—**तथेत्यादिशेषेण** ॥ ८१ ॥

ननु स्वप्नादावप्यध्येत्रादिदृष्टान्तैर्ध्यातृत्वपर्यंन्तभावनादार्ढ्यसम्पादनमतिदुःशकमिति चिन्तातुरं सान्त्वयति—**विरोधीति** ॥ ८२ ॥

भुञ्जानोऽपि निजारब्धमास्थातिशयतोऽनिशम् ।
ध्यातुं शक्तो न संदेहो विषयव्यसनी यथा ।। ८३ ।।
परव्यसनिनी नारी व्यग्रापि गृहकर्मणि ।
तदेवास्वादयत्यन्तः परसङ्गरसायनम् ।। ८४ ।।
परसङ्गं स्वादयन्त्या अपि नो गृहकर्म तत् ।
कुण्ठीभवेदपि त्वेतदापातेनैव वर्तते ।। ८५ ।।
गृहकृत्यव्यसनिनी यथा सम्यक्करोति तत् ।
परव्यसनिनी तद्वन्न करोत्येव सर्वथा ।। ८६ ।।
एवं ध्यानैकनिष्ठोऽपि लेशाल्लौकिकमारभेत् ।
तत्त्ववित्त्वविरोधित्वाल्लौकिकं सम्यगाचरेत् ।। ८७ ।।

ननु प्रारब्धकर्मवशाद्विषयाननुभवतः कथं नैरन्तर्येण भावनासिद्धिरित्याशङ्क्याऽऽस्थातिशये सति विषयव्यसनिवद्भावनासिद्धिः स्यादित्याह— **भुञ्जान इति** ।। ८३ ।।

दृष्टान्तं विवृणोति—**परव्यसनिनीति** ।। ८४ ।।

परसङ्गास्वादने गृहकृत्यविच्छेदः स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—**परसङ्गमिति** ।। ८५ ।।

आपातेनैव वर्तत इत्युक्तमर्थं विवृणोति—**गृहकृत्येति** ।। ८६ ।।

दार्ष्टान्तिके योजयति—**एवं ध्यानेति** । ननु तत्त्वविदपि लौकिकव्यवहारं किं लेशेनाऽऽचरति किं वा सम्यगिति विषयव्यवहारस्य तत्त्वज्ञानाविरोधित्वात्सम्यगेवाऽऽचरतीत्याह—**तत्त्वविदिति** ।। ८७ ।।

ननु प्रारब्धकर्मापादितसुखदुःखशतं विषयसंनिकर्षैरनुभवतः कथं नैरन्तर्येण ध्यानं स्यादित्यत्राऽऽह—**भुञ्जानोऽपीति** । तत्र दृष्टान्तं स्पष्टयति—**विषयेति** ।। ८३ ।।

तमुदाहरति—**परेति** ।। ८४ ।।

नन्वेवं परसङ्गरसायनास्वादने तस्या गृहकर्म कथं स्यादित्यत आह—**परसङ्गमिति** ।। ८५ ।।

आपातवर्तनमेव गृहकर्मणस्तस्या व्यतिरेकदृष्टान्तेन व्याचष्टे—**गृहकृत्येति** ।।८६।।

उक्तमर्थं दार्ष्टान्तिके स्पष्टयति—**एवमित्यर्धेनैव** । ब्रह्मनिष्ठे तु तद्वैलक्षण्यं संक्षिपति—**तत्त्ववित्त्विति** ।। ८७ ।।

मायामयः प्रपञ्चोऽयमात्मा चैतन्यरूपधृक् ।
इति बोधे विरोधः को लौकिकव्यवहारिणः ॥ ८८ ॥
अपेक्षते व्यवहृतिर्न प्रपञ्चस्य वस्तुताम् ।
नाप्यात्मजाड्यं किं त्वेषा साधनान्येव काङ्क्षति ॥ ८९ ॥
मनोवाक्कायतद्बाह्यपदार्थाः साधनानि तान् ।
तत्त्वविन्नोपमृद्नाति व्यवहारोऽस्य नो कुतः ॥ ९० ॥
उपमृद्नाति चित्तं चेद्ध्याताऽसौ न तु तत्त्ववित् ।
न बुद्धिमर्दयन्दृष्टो घटतत्त्वस्य वेदिता ॥ ९१ ॥

अविरुद्धत्वमेव दर्शयति—**मायामय इति** ॥ ८८ ॥

विरोधाभावमेव प्रपञ्चयति—**अपेक्षत इति** ॥ ८९ ॥

कानि तानि व्यवहारसाधनानीत्यत आह—

मनोवागिति । तद्बाह्याः पदार्था गृहक्षेत्रादयस्तान्मनआदींस्तत्त्वज्ञानी न निवारयत्यतोऽस्य ज्ञानिनो व्यवहारः कुतो न भवति भवत्येवेत्यर्थः ॥ ९० ॥

ननु विषयानुपमर्दनेऽपि तत्त्वविदा चित्तोपमर्दनं कार्यमित्याशङ्क्य तथाकरणे तत्त्वविदेव न स्यादित्याह—

उपमृद्नातीति । ननु तत्त्वविदा चित्तं नोपमृद्यत इत्येतत्क्व दृष्टमित्याशङ्क्याऽऽह—**न बुद्धिमिति** । घटत्त्वस्य वेदिता ज्ञाता बुद्धिमर्दयन्पीडयन्नैकाग्र्यं कुर्वन्पुरुषो न दृष्टो नोपलब्ध इत्यर्थः ॥ ९१ ॥

अविरोधप्रकारमेव प्रबोधयति—**मायेति** ॥ ८८ ॥

तमेवाविरोधमुपपादयति—**अपेक्षत इति** ॥ ८९ ॥

ननु जगत्सत्यत्वमन्तरा कान्यन्यानि व्यवहृतेः साधनानि तत्राऽऽह **मन इत्यादिना** । नन्वेवमपि तत्त्वविदस्ते मनआदि सर्वेऽपि मिथ्याभूता एवातः कथं तैस्तस्य व्यवहार इत्यत आह—तानित्यादिशेषेण । उपमर्दनमत्र ध्वंस एव न तु बाधस्तथा च बाधितैस्तैर्बाधित एव तस्य व्यवहारः कुमारीकर्तृकशिलापुत्रकादिकव्यवहारवत्स्यादेवेति भावः ॥ ९० ॥

ननु "मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः । बन्धाय विषयासक्तं मोक्षे निर्विषयं स्मृतम्" इति श्रुतेश्चित्तस्य निर्विषयत्वं ध्वंसमन्तरा कथं स्यादित्यत्राऽऽह—**उपमृद्नातीति** । तत्रार्थान्तरन्यासं कथयति—**न बुद्धिमिति** ॥ ९१ ॥

सकृत्प्रत्ययमात्रेण घटश्चेद्भासते सदा ।
स्वप्रकाशोऽयमात्मा किं घटवच्च न भासते ॥ ९२ ॥
स्वप्रकाशतया किं ते तद्बुद्धिस्तत्त्ववेदनम् ।
बुद्धिश्च क्षणनाश्येति चोद्यं तुल्यं घटादिषु ॥ ९३ ॥
घटादौ निश्चिते बुद्धिर्नश्यत्येव यदा घटः ।
इष्टो नेतुं तदा शक्य इति चेत्सममात्मनि ॥ ९४ ॥
निश्चित्य सकृदात्मानं यदापेक्षा तदैव तम् ।
वक्तुं मन्तुं तथा ध्यातुं शक्नोत्येव हि तत्त्ववित् ॥ ९५ ॥

घटस्य स्थूलत्वेन स्पष्टत्वात्तद्दर्शने चित्तपीडनं नोपेक्ष्यते ब्रह्मणस्त्वतथात्वात्तज्ज्ञाने तदपेक्ष्यत इत्याशङ्क्य तस्य स्वप्रकाशत्वेन घटादपि स्पष्टतरत्वाच्चित्तनिरोधनं नैवापेक्ष्यत इत्याह—**सकृदिति** ॥ ९२ ॥

ननु ब्रह्मणः स्वप्रकाशत्वेऽपि तद्गोचराया बुद्धिवृत्तेरेव तत्त्वज्ञानत्वात्तस्याश्च क्षणिकत्वेन ब्रह्मणि पुनः पुनरवस्थानमपेक्ष्यत इत्याशङ्क्येदं चोद्यं घटादिष्वपि समानमित्याह—**स्वप्रकाशतयेति** ॥ ९३ ॥

घटादिज्ञानस्य क्षणिकत्वेऽपि सकृन्निश्चितस्य घटस्य सर्वथा व्यवहर्तुं शक्यत्वात्तत्र चित्तस्थैर्यंसंपादनमप्रयोजकमित्याशङ्क्येदमात्मन्यपि समानमित्याह—**घटादाविति** ॥ ९४ ॥

सममात्मनीत्युक्तमर्थं विवृणोति—**निश्चित्येति** ॥ ९५ ॥

ननु घटदृष्टान्तोऽत्र विषम एव । तस्य सकृत्प्रत्ययवेद्यत्वादित्याशङ्क्य समाधत्ते—**सकृदिति** ॥ ९२ ॥

ननु ब्रह्मणः स्वप्रकाशत्वमप्रयोजकं तत्सत्त्वेऽपि ब्रह्मणि भावरूपानाद्यविद्यासत्त्वानुभवात्किंतु विचारितमहावाक्यजन्यात्माभिन्नतद्विषयकबुद्धिरेवाविद्याध्वस्तिरूपमुक्तिदात्रीति यौष्माकीणः सिद्धान्तः । सा च त्रिक्षणावस्थायिनीति सर्वास्तिकसंमतं तद्विलये दीपापगमे तमोन्तरेण तेनैव वा पुनरुपसृतेन तमसा घटस्येव तस्याद्वैतब्रह्मात्मवस्तुनः प्रतिक्षणमावरणसंभवात्तद्वारणाय यावत्प्रारब्धविध्वंसं बुद्धेस्तदाकारतासम्पादनमावश्यकमेवेत्याशङ्क्य प्रतिबन्द्यैव समाधत्ते- **स्वप्रकाशयेति** ॥ ९३ ॥

अथ प्रतिबन्दीमोचनमाशङ्क्य तदपि प्रतिबन्दो साम्येनैव शमयति—**घटादाविति** ॥ ९४ ॥

ननु सकृन्निश्चितघटस्य तद्विषयकबुद्धिनाशेऽपि यदा गङ्गाजलानयनाद्यर्थं तदपेक्षा तथाऽऽत्मनि बुद्धिनाशोर्ध्वं नैव संभवति संप्रतिपादितरीत्या पुनः पुनरावृतत्वसंभवादिति चेन्न । एकाज्ञानपक्षे स्वबुद्ध्यवच्छेदेन तदावरणशक्तिनाशेनानेकाज्ञानस्वमूलाज्ञाननाशेन

उपासक इव ध्यायँल्लौकिकं विस्मरेद्यदि ।
विस्मरत्येव सा ध्यानाद्विस्मृतिर्न तु वेदनात् ॥ ९६ ॥
ध्यानं त्वैच्छिकमेतस्य वेदनान्मुक्तिसिद्धितः ।
ज्ञानादेव तु कैवल्यमिति शास्त्रेषु डिण्डिमः ॥ ९७ ॥
तत्त्वविद्यदि न ध्यायेत्प्रवर्तेत तदा बहिः ।
प्रवर्ततां सुखेनायं को बाधोऽस्य प्रवर्तने ॥ ९८ ॥
अतिप्रसङ्ग इति चेत्प्रसङ्गं तावदीरय ।
प्रसङ्गो विधिशास्त्रं चेन्न तत्तत्त्वविदं प्रति ॥ ९९ ॥

ननु तत्त्वविदप्युपासकवदात्मानुसंधानवशाज्जगदनुसंधानरहितो दृश्यत इत्याशङ्क्य सोऽनुसंधानाभावो ध्यानप्रयुक्तो न वेदनप्रयुक्त इत्याह—**उपासक इति** ॥ ९६ ॥

ननु तत्त्वविदाऽपि मुक्तिसिद्धये ब्रह्मध्यानं कर्तव्यमित्याशङ्क्य 'ज्ञानादेव तु कैवल्यं प्राप्यते येन मुच्यते'' 'तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय', 'ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपापैः' इत्यादिशास्त्रसद्भावान्न मोक्षाय ध्यानं कर्तव्यमित्याह—**ध्यानमिति** ॥ ९७ ॥

ननु तत्त्वविदो ध्यानानभ्युपगमे तस्य सदा बहिः प्रवृत्तिः स्यादित्याशङ्क्य बाधकत्वात्प्रवृत्तेः साऽभ्युपेयत इत्याह—**तत्त्वविदिति** ॥ ९८ ॥

बहिः प्रवृत्त्यभ्युपगमेऽतिप्रसङ्गः स्यादित्याशङ्क्य प्रसङ्गस्य दुर्निरूप्यत्वान्नैवमिति परिहरति—**अतिप्रसङ्ग इति** । न प्रसङ्गो दुर्निरूप्यो विधिशास्त्रस्य प्रसङ्गशब्देन विवक्षितत्वादिति चेन्न तस्याज्ञानिविषयत्वेन तत्त्वविद्विषयत्वाभावादित्याह—**प्रसङ्ग इति** । विधिशास्त्रमित्युपलक्षणं निषेधशास्त्रस्यापि ॥ ९९ ॥

पल्लवाज्ञानानां च ब्रह्मात्मैक्यावरकत्वानङ्गीकारेण च पुनरात्मावरणासंभवात्तमसः प्रकाशदेशावच्छेदेनापसरणमात्राङ्गीकारेण वैषम्यादित्याशयेनाऽऽह—**निश्चित्येति** । एवं च घटप्रमासाम्यमेव ब्रह्मप्रमायामपीति ध्येयम् ॥ ९५ ॥

ननूपासकवद्ध्यानाल्लौकिकविस्मृतिरपि । क्वचिदृषभादितत्त्वविदि दृष्टेति चेदस्तु नाम । तस्या ध्यानकार्यत्वेन ज्ञानजन्यत्वाभावादित्यभिप्रेत्याऽऽह—**उपासक इवेति** ॥ ९६ ॥

फलितमाह— **ध्यानंत्विति** ॥ ९७ ॥

तस्य ध्यानाभावे दोषमाशङ्क्येष्टापत्त्या प्रत्याह—**तत्त्वविद्यदीति** ॥ ९८ ॥

अतिप्रसङ्गमाशङ्क्य प्रसङ्गं पृष्ट्वा निराचष्टे—**अतीति** ॥ ९९ ॥

वर्णाश्रमवयोवस्थाभिमानो यस्य विद्यते ।
तस्यैव च निषेधाश्च विधयः सकला अपि ।। १०० ।।
वर्णाश्रमादयो देहे मायया परिकल्पिताः ।
नात्मनो बोधरूपस्येत्येवं तस्य विनिश्चयः ।। १ ।।
समाधिमथ कर्माणि मा करोतु करोतु वा ।
हृदयेनास्तसर्वास्थो मुक्त एवोत्तमाशयः ।। २ ।।
नैष्कर्म्येण न तस्यार्थस्तस्यार्थोऽस्ति न कर्मभिः ।
न समाधानजप्याभ्यां यस्य निर्वासनं मनः ।। ३ ।।
आत्माऽसङ्गस्ततोऽन्यत्स्यादिन्द्रजालं हि मायिकम् ।
इत्यचञ्चलनिर्णीते कुतो मनसि वासना ।। ४ ।।

विधिशास्त्रस्याविद्वद्विषयत्वमेव दर्शयति—वर्णेति ।। १०० ।।

ननु तत्त्वविदोऽपि देहधारित्वेन वर्णाश्रमाद्यभिमानित्वमस्तीत्याशङ्क्याऽऽह—वर्णाश्रमेति ।। १ ।।

ननु तत्त्वविनिश्चयस्तावत्तिष्ठतु शास्त्रं तु तस्य कर्तव्यं प्रतिपादयतीत्याशङ्क्य तदपि तस्य कर्तव्याभावमेव बोधयतीत्याह—समाधिमिति । यो हृदयेन बुद्ध्याऽस्तसर्वास्थोऽस्ताः परित्यक्ता अशेषा आसक्तिविशेषा यस्य तथाविधः । अत एवोत्तमाशय उत्तम आशयोऽभिप्रायो निर्मलं ज्ञानं यस्य स तथोक्तः । स मुक्त एवातः समाधिमथ कर्माणीत्यन्वयः ।। २ ।।

विदुषः कर्तव्यं नास्तीत्यत्र वचनान्तरमुदाहरति—नैष्कर्म्येणेति । नैष्कर्म्यं कर्मराहित्यं तेन कर्मत्यागेनेत्यर्थः । समाधानं समाधिः जप्यं जपः ।। ३ ।।

ननु विदुषाऽपि वासनानिवृत्तये ध्यानं कर्तव्यमित्याशङ्क्य सम्यग्ज्ञानिनो वासनैव नास्तीत्याह—आत्मेति ।। ४ ।।

तत्र हेतुः—वर्णत्यादिद्वाभ्याम् ।। १०० ।। १०१ ।।

तत्र मानमाह—समाधिमिति । वसिष्ठसार इदम् ।। १०२ ।।

एवं तदीयमेवान्यदपि वाक्यद्वयमत्र प्रमाणयति—नैष्कर्म्येणेतिप्रभृति । नैष्कर्म्यं संन्यासः । समाधानं समाधिः । जप्यं प्रणवादिमंत्रजातम् । निर्वासनं बाधितद्वैतसंस्कारम् ।। १०३ ।।

आत्माऽसङ्ग इति । मायिकं यावन्माया तत्कार्यद्यात्मकं दृश्यम् । इन्द्रजालं हि मिथ्यात्वेनेन्द्रजालमेवेत्यर्थः ।। १०४ ।।

एवं नास्ति प्रसङ्गोऽपि कुतोऽस्यातिप्रसञ्जनम् ।
प्रसङ्गो यस्य तस्यैव शङ्क्येतातिप्रसञ्जनम् ॥ ५ ॥
विध्यभावान्न बालस्य दृश्यतेऽतिप्रसञ्जनम् ।
स्यात्कुतोऽतिप्रसङ्गोऽस्य विध्यभावे समे सति ॥ ६ ॥
न किंचिद्वेत्ति बालश्चेत्सर्वं वेत्त्येव तत्त्ववित् ।
अल्पज्ञस्यैव विधयः सर्वे स्युर्नान्ययोर्द्वयोः ॥ ७ ॥
शापानुग्रहसामर्थ्यं यस्यासौ तत्त्वविद्यदि ।
तन्न शापादिसामर्थ्यं फलं स्यात्तपसो यतः ॥ ८ ॥

भवत्वेवं प्रकृते किमायातमित्यत आह--

एवमिति । कस्य तर्ह्यतिप्रसङ्ग इत्यत आह—**प्रसङ्ग इति** ॥१०५॥

एवं क्व दृष्टमित्यत आह--

विध्यभावादिति । दार्ष्टान्तिके योजयति—**स्यादिति** ॥ ६ ॥

बालस्य विध्यभावे प्रयोजकमज्ञत्वमस्ति न विदुष इत्याशङ्क्य तस्याज्ञत्वाभावेऽपि विध्यभावप्रयोजकं सर्वज्ञमस्तीत्याह—

न किंचिदिति । तर्हि विध्यधिकारः कस्येत्याशङ्क्याऽऽह—**अल्पज्ञस्येति** ॥ ७ ॥

ननु व्यासादिवच्छापानुग्रहसामर्थ्यं यस्य स एव तत्त्वविन्नान्य इति शङ्कते—

शापेति । परिहरति—**तन्नेति** । तत्र हेतुमाह—**शापादिसामर्थ्यमिति** ॥ १०८ ॥

फलितं कथयन् प्रकृते योजयति—**एवमिति** ॥ १०५ ॥

तदेवं सदृष्टान्तं स्पष्टयति—**विध्यभावादिति** ॥ १०६ ॥

तत्र दृष्टान्तं विघटयञ्शंकते **न किंचिदति** । विधिकिंकरो हि सनामयोऽपल्ज्ञः । न तु सर्वथाऽज्ञः परमेश्वरः । नापि सर्वथाऽप्यज्ञो बालादिरित्यतोऽस्य ब्रह्मविदः सर्वं दृश्यमारोपितत्वादधिष्ठानैकायत्तसत्ताकमिति ततः पृथक्कारे तुच्छमेवेदमिति । मिथ्यात्वेन सर्वविषयकं ज्ञानमस्त्येव । अत एव छांदोग्यश्रुतौ "येनाश्रुतं श्रुतं भवति" इत्यादिनैकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञापीति ज्ञानिनो विधिकैङ्कर्याभावोऽस्त्येवेत्याह—**सर्वमित्यादि** । फलितमाह—**अल्पेति** ॥ १०७ ॥

एवमपि निग्रहानुग्रहसामर्थ्याभावात्कथं तत्त्ववित्त्वं श्रद्धेयमित्याशङ्क्य समाधत्ते—**शापेति** ॥ १०८ ॥

व्यासादेरपि सामर्थ्यं दृश्यते तपसो बलात् ।
शापादिकारणादन्यत्तपो ज्ञानस्य कारणम् ।। ९ ।।

द्वयं यस्यास्ति तस्यैव सामर्थ्यज्ञानयोर्जनिः ।
एकैकं तु ततः कुर्वन्नेकैकं लभते फलम् ।। १० ।।

सामर्थ्यहीनो निन्द्यश्चेद्यतिभिर्विधिवर्जितः ।
निन्द्यन्ते यततोऽप्यन्यैरनिशं भोगलम्पटैः ।। ११ ।।

भिक्षावस्त्रादि रक्षेयुर्यद्येते भोगतुष्टये ।
अहो यतित्वमेतेषां वैराग्यभरमन्थरम् ।। १२ ।।

ननु व्यासादीनां तत्त्वविदामपि शापादिसामर्थ्यं दृश्यत इत्याशङ्क्य तेषां न तत्त्वज्ञानफलमपि तु तपः फलमित्याह—

व्यासादेरिति । ननु तर्हि "तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व" इति श्रुतेस्तपोरहितस्य तत्त्वज्ञानमपि न घटेतेत्याशङ्क्य शापादिकारणादन्यस्य तपसः सत्त्वान्नैवमित्याह—**शापेति** ।। ९ ।।

तर्हि तेषां व्यासादीनां तत्त्वज्ञानित्वं शापादिकारणत्वं च कथं दृश्यत इत्याशङ्क्योभयविधतपसः सद्भावादित्याह—**द्वयमिति** ।। १० ।।

ननु यः शापादिसामर्थ्यरहितस्तस्य विध्यभावेऽपि विहितानुष्ठातृभिर्निन्द्यत्वं स्यादित्याशङ्क्य तेषामपि विषयलम्पटैर्निन्द्यत्वं स्यादित्याह—**सामर्थ्यहीन इति** ।। ११ ।।

एतेऽपि भोगतुष्ट्यर्थं विषयान्सम्पादयेयुरित्याशङ्क्य तदा तेषां यतित्वमेव हीयतेत्यभिप्रायेणोपहसति—**भिक्षेति** ।। १२ ।।

एवं तर्हि व्यासादेः कथं **तज्ज्ञाचार्यस्य** निग्रहादिसामर्थ्यमपि दृश्यत इत्यत्र आह—**व्यासादेरपीति** । बलादेवेत्यर्थः । ननु तर्हि "तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व" इति **तैत्तिरीयकश्रुतेर्ज्ञानस्यापि** कारणं तप एवेत्यत्राऽऽह—**शापादीति** । तप आलोचने तप सन्तापे इति हि धातुद्वयं तेन तत्क्रमाज्ज्ञानशापाद्योर्विभिन्नमेव कारणमित्याकूतम् ।। १०९ ।।

अत एव—**द्वयमिति** । एवं च न कोऽपि विरोधः ।। ११० ।।

ननु ब्रह्मविदः शापाद्यसामर्थ्यं कर्मठनिन्द्यत्वं तत्राऽऽह—**सामर्थ्येति** ।। ११ ।।

ननु यतिभिर्भोगिकृतनिन्दाभिक्षादिना वार्येतेत्यत्रोपहासेनैव समाधत्ते—**भिक्षेति** ।। १२ ।।

वर्णाश्रमपरान् मूढा निन्दन्त्वित्युच्यते यदि ।
देहात्ममतयो बुद्धं निन्दन्त्वाश्रममानिनः ॥ १३ ॥
तदित्थं तत्त्वविज्ञाने साधनानुपमर्दनात् ।
ज्ञानिनाचरितुं शक्यं सम्यग्राज्यादि लौकिकम् ॥ १४ ॥
मिथ्यात्वबुद्ध्या तत्रेच्छा नास्ति चेत्तर्हि माऽस्तु तत् ।
ध्यायन्वाऽथ व्यवहरन् यथारब्धं वसत्वयम् ॥ १५ ॥
उपासकस्तु सततं ध्यायन्नेव वसेद्यतः ।
ध्यानेनैव कृतं तस्य ब्रह्मत्व विष्णुतादिवत् ॥ १६ ॥

विषयलम्पटैः पामरैश्च क्रियमाणया निन्दया क्रियापराणां शिष्टानां हानिर्नास्तीत्युच्यते चेत्तर्हि देहाभिमानिभिः क्रियापरैः क्रियमाणया निन्दया तत्त्वविदोऽपि न हानिरित्याह—**वर्णाश्रमेति** ॥ १३ ॥

प्रासङ्गिकं परिसमाप्य प्रकृतमनुसरति **तदित्थमिति** । तत्तस्मात्कारणादित्थमुक्तेन प्रकारेण तत्त्वविज्ञाने सति साधनानुपमर्दनाल्लौकिकव्यवहारसाधनानां मनः आदीनामविलापनाल्लौकिकं राज्यादि राज्यपरिपालनादि कर्म वा ज्ञानिना सम्यगाचरितुं शक्यमित्यर्थः ॥ १४ ॥

ननु तत्त्वविदः प्रपञ्चमिथ्यात्वज्ञानेन तत्रेच्छैव नोदीयादिति चेत्तर्हि स्वकर्मानुसारेण वर्ततामित्याह—**मिथ्यात्वेति** ॥ १५ ।

इदानीमुपासकस्यातो वैषम्यं दर्शयति—

उपासक इति । तत्रोपपत्तिमाह—**यत इति** । यतः कारणात्तस्य ब्रह्मत्वं ध्यानेनैव कृतं न प्रमाणेन प्रमितमतो ध्यायिना सदा ध्यानं कर्तव्यमित्यर्थः । तत्र दृष्टान्तः—**विष्णुतादिवदिति** । यथा स्वस्मिन् ध्यानेन सम्पादितस्य विष्णुत्वादेः पारमार्थिकत्वं नास्ति तद्वदित्यर्थः ॥ १६ ॥

विषयिकृतनिन्दया वर्णाश्रमपराणां का हानिरिति चेत् कर्मठकृतनिन्दया ब्रह्मविदोऽपि हान्यभावः सम एवेत्याह—**वर्णेति** ॥ १३ ॥

एवं सप्ताशीतितमश्लोकोत्तरार्धेन "तत्त्ववित्त्वविरोधित्वाल्लौकिकं सम्यगाचरेत्" इति यदुक्तं तन्निगमयति—**तदित्थमिति**। आचरितुमिति च्छेदः जनकादिवदित्यार्थिकम् ॥ १४ ॥

ननु मैत्रायणीयोपनिषत्प्रसिद्धबृहद्रथवद्राज्ये ज्ञानिनः प्रायो मिथ्यात्वबुद्ध्येच्छैव न स्यादित्याशङ्क्याङ्गीकरोति—**मिथ्यात्वेति** । यथाऽऽरब्धं तीव्रवेगादिप्रारब्धमनतिक्रम्य स्यात्तथेत्यर्थः ॥ ११५ ॥

अथोपासकप्रकृते तद्वैलक्षण्यं वदन्ध्यानसातत्यं विधत्ते—**उपासकस्त्वित्यादिना** । तत्र सदृष्टान्तं हेतुं स्पष्टयति—**यत इत्यादिशेषेण** ॥ १६ ॥

ध्यानोपादानकं यत्तद्ध्यानाभावे विलीयते ।
वास्तवी ब्रह्मता नैव ज्ञानाभावे विलीयते ।। १७ ।।

ततोऽभिज्ञापकं ज्ञानं न नित्यं जनयत्यदः ।
ज्ञापकाभावमात्रेण न हि सत्यं विलीयते ।। १८ ।।

अस्त्येवोपासकस्यापि वास्तवी ब्रह्मतेति चेत् ।
पामराणां तिरश्चां च वास्तवी ब्रह्मता न किम् ।। १९ ।।

ध्यानसम्पादितस्यापि तस्य पारमार्थिकत्वं किं न स्यादित्याशङ्क्य ध्यानसंपादितस्य वाग्धेनुत्वादेर्ध्यानापायेऽपगमदर्शनान्नैवमित्याह—

ध्यानेनेति। ज्ञानेन प्रकाशितस्य ब्रह्मत्वस्य ततो वैलक्षण्यमाह—**वास्तवीति।** हेतुगर्भितं विशेषणं यतो ब्रह्मत्वं वास्तवमतो ज्ञापकज्ञानाभावे सति नैव विलीयते ।। १७ ।।

वास्तवत्वादेव ज्ञानेन नैव जन्यत आह—

तत इति। यतोऽदो ब्रह्मत्वं नित्यं ततो ज्ञानं तस्याभिज्ञापकमवबोधकमेव न जनकमित्यर्थः। तत्रोपपत्तिं व्यतिरेकमुखेनाऽऽह—**ज्ञापकेति।** अयमभिप्रायः ब्रह्मत्वं यदि ज्ञानजन्यं स्यात्तर्हि ज्ञाननाशे स्वयं विलीयेत। न च विलीयते। अतो न जन्यत इत्यर्थः ।। १८ ।।

ननु ज्ञानिवदुपासकस्यापि ब्रह्मत्वं वास्तवमस्त्येवेति शङ्कते—

अस्त्येवेति। अत्यल्पमिदमुच्यत इत्यभिप्रायेणाऽऽह—**पामराणामिति** ।। १९ ।।

तत्रान्वयादिघटितां युक्तिं वक्ति—**ध्यानेति।** ज्ञानफले तु तद्वैलक्षण्यमकृतकत्वान्नियमयति—**वास्तवीति** ।। १७ ।।

तत्र हेतुः—**तत इति।** यतोऽद इदं प्रकृतं ज्ञानम्। स्वविषयीभूतमद्वैतं ब्रह्मनित्यमेवेति न जनयति ततोऽभिज्ञापकं बोधकमेवास्ति न तु कारकमिति सम्बन्धः। तदेवार्थान्तरन्यासेन समर्थयति—**ज्ञापकेति।** स्फुटमेवेमादर्शसौन्दर्यादाविति भावः ।। १८ ।।

ननु सिद्धान्ते किमुपासकस्यापि वास्तवी ब्रह्मता नास्तीत्याक्षिपति—**अस्त्येवेति।** तत्र प्रतिबन्द्यैव समाधत्ते—**पामराणामित्यादिना** ।। १९ ।।

अज्ञानादपुमर्थत्वमुभयत्रापि तत्समम् ।
उपवासाद्यथा भिक्षा वरं ध्यानं तथाऽन्यतः ॥ २० ॥
पामराणां व्यवहृतेर्वरं कर्माद्यनुष्ठितिः ।
ततोऽपि सगुणोपास्तिर्निर्गुणोपासना ततः ॥ २१ ॥
यावद्विज्ञानसामीप्यं तावच्छ्रैष्ठ्यं विवर्धते ।
ब्रह्मज्ञानाय ते साक्षान्निर्गुणोपासनं शनैः ॥ २२ ॥
यथा संवादिविभ्रान्तिः फलकाले प्रमायते ।
विद्यायते तथोपास्तिर्मुक्तिकालेऽतिपाकतः ॥ २३ ॥

पामरादीनां विद्यमानमपि तद्ब्रह्मत्वमज्ञातत्वान्न पुरुषार्थोपयोगोत्या-शङ्क्याज्ञातत्वेनापुरुषार्थोपयोगित्वमुपासकस्यापि समानमित्याह—

अज्ञानादिति । ननु तर्ह्युपासनं किमर्थमभिधीयत इत्याशङ्क्येतरा-नुष्ठानेभ्यः श्रेष्ठत्वाभिप्रायेणोक्तमिति दृष्टान्तपूर्वकमाह—उपवासादिति ॥२०॥

इतरानुष्ठानाच्छ्रैष्ठ्यमेव दर्शयति—पामराणामिति ॥ २१ ॥

उत्तरोत्तरश्रैष्ठ्ये कारणमाह—

यावदिति । निर्गुणोपानस्य सर्वश्रैष्ठ्ये कारणमाह—ब्रह्मज्ञानाय त इति ॥ २२ ॥

उक्तमर्थं दृष्टान्तप्रदर्शनपूर्वकं द्रढयति—यथेति ॥ २३ ॥

ननु पामरादिष्वज्ञत्वमत आह—अज्ञानादिति । एवं तर्हि कर्मिभ्य उपासकस्य शास्त्रे कुत औत्कट्यमित्यत्राऽऽह—उपवासादिति ॥ १२० ॥

तत्राप्यवान्तरतारतम्यक्रममाह—पामराणामिति । व्यवहृतेः कृषिवाणिज्य-सेवादेः । कर्मादीति । आदिना हरिहरान्यतरनामसमुच्चारणादि । सगुणेति । सा हि द्विविधा । प्रतीकाहंग्रहभेदात् । साऽपि यत्किञ्चित्प्रतीका सर्वप्रतीकेति च भेदाद्द्वेधा । तत्राऽऽद्या यथा—नामब्रह्मेत्युपासीतेति । अन्त्याऽपि यथा—सर्वं खल्विदं ब्रह्मेति । एवमहंग्रहोऽपि सगुणे द्वेधा । अहं विष्णुरिति सकलमिदमहं च वासुदेव इति च । निर्गुणेति । सोक्तेवाधस्तात् ॥ २१ ॥

तत्र हेतुः—यावदिति ॥ २२ ॥

निर्गुणोपास्तेः शनैर्ब्रह्मज्ञानत्वे दृष्टान्तं स्मारयति—यथेति ॥ २३ ॥

संवादिभ्रमतः पुंसः प्रवृत्तस्यान्यमानतः ।
प्रमेति चेत्तथोपास्तिर्मान्तरे कारणायताम् ॥ २४ ॥
मूर्तिध्यानस्य मन्त्रादेरपि कारणता यदि ।
अस्तु नाम तथाप्यत्र प्रत्यासत्तिर्विशिष्यते ॥ २५ ॥
निर्गुणोपासनं पक्वं समाधिः स्याच्छनैस्ततः ।
यः समाधिर्निरोधाख्यः सोऽनायासेन लभ्यते ॥ २६ ॥

ननु संवादिविभ्रान्तिः स्वयमेव न प्रमा भवति किन्तु तया प्रवृत्तस्येन्द्रियार्थसन्निकर्षात्प्रमा जायत इति शङ्कते—

संवादिति । अस्तु र्हि निर्गुणोपासनमपि निदिध्यासनरूपं सद्वाक्यजन्यापरोक्षज्ञाने कारणं भविष्यतीत्याह—**तथेति** ॥ २४ ॥

नन्वेवं सति मूर्तिध्यानादेरपि चित्तैकाग्र्यसंपादनद्वाराऽपरोक्षज्ञानसाधनत्वं स्यादिति चेत्तदप्यङ्गीक्रियत इत्याह—

मूर्तीति । तर्हि निर्गुणोपासने कोऽतिशयस्तत्राह—**तथाऽपीति** । प्रत्यासत्तिः सामीप्यं ज्ञानं प्रतीति शेषः ॥ २५ ॥

प्रत्यासत्तिप्रकारमेव दर्शयति—

निर्गुणेति । निर्गुणोपासनं यदा पक्कं भवति तदा सविकल्पकसमाधिः स्यात्ततः सविकल्पकसमाधेर्निरोधाख्यो यस्तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीजः समाधिरिति सूत्रोक्तलक्षणो निर्विकल्पकः समाधिः सोऽनायासेन लभ्यते ॥ २६ ॥

ननूपास्तेर्निर्गुणाहंग्रहरूपायाः कालेनाद्वैतब्रह्मात्मना परिणमने संवादिभ्रमदृष्टान्तो विषम एव । तत्र यथार्थवस्तुसामीप्येन तद्विषयकप्रत्यक्षं प्रत्येव प्रयोजकत्वादुक्तभ्रान्तेः प्रकृतसत्यवस्तुविषयकप्रत्यक्षात्मना परिणत्यभावाच्चेत्याशङ्क्येष्टापत्त्या समाधत्ते—**संवादीति** ॥ २४ ॥

नन्वेवं यदि ब्रह्मज्ञानप्रयोजकत्वेन निर्गुणोपासनायामादरस्तर्हि चतुर्भुजादिमूर्तिध्यानस्य तथा गायत्रीमन्त्रषडक्षरमन्त्रयोरपि तथा हरिहरान्यतरनामोच्चारणस्यापि परम्परासम्बन्धेन ब्रह्मज्ञानं प्रति कारणत्वं चेदस्तु नाम तथा । सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेरित्याद्यधिकरणेन वेदाविरुद्धसकलकर्मणोऽपि तथाऽङ्गीकृतत्वादित्याह—**मूर्तिध्यानस्येति** । १२५ ॥

किंच निर्गुणोपासनस्यासम्प्रज्ञातसमाधिहेतुत्वादप्यनश्यानुष्ठेयत्वमित्याह—**निर्गुणोपासनमिति** ॥ २६ ॥

निरोधलाभे पुंसोऽन्तरसङ्गं वस्तु शिष्यते ।
पुनः पुनर्वासितेऽस्मिन्वाक्याज्जायेत तत्त्वधीः ॥ २७ ॥
निर्विकारासङ्गनित्यस्वप्रकाशैकपूर्णताः ।
बुद्धौ झटिति शास्त्रोक्ता आरोहन्त्यविवादतः ॥ २८ ॥
योगाभ्यासस्त्वेतदर्थोऽमृतबिन्द्वादिषु श्रुतः ।
एवं च दृष्टद्वारापि हेतुत्वादन्यतो वरम् ॥ २९ ॥
उपेक्ष्य तत्तीर्थयात्राजपादीनेव कुर्वताम् ।
पिण्डं समुत्सृज्य करं लेढीति न्याय आपतेत् ॥ ३० ॥

भवत्वेवं निर्विकल्पकलाभस्ततः किमित्यत आह—

निरोधेति । ततोऽपि किमित्यत आह—**पुनः पुनरिति** । अस्मिन्नसङ्गे वस्तुनि पुनः पुनर्वासिते भाविते सति वाक्यात्तत्त्वमस्यादिलक्षणात्तत्त्वधीस्तत्त्वज्ञानमहं ब्रह्मास्मीत्येवमाकारं जायेत उत्पद्येत ॥ २७ ॥

तत्त्वज्ञानस्वरूपमेव विशदयति—**निर्विकारेति** ॥ २८ ॥

ननु निर्विकल्पकसमाधिवशादपरोक्षज्ञानमुदेतीत्यत्र किं प्रमाणमित्याशङ्क्यामृतबिन्द्वादिश्रुतयः सर्वा अपि प्रमाणमित्याह—

योगाभ्यासेति । फलितमाह—**एवमिति** । एवं च सति निर्गुणोपासनस्याप्यपरोक्षज्ञानप्रत्यासत्तिसंभवे सति दृष्टद्वाराऽपि निर्विकल्पकसमाधिलाभद्वारेणापि शब्दाददृष्टद्वाराऽपि हेतुत्वाज्ज्ञानसाधनत्वादन्यतः सगुणोपासनादिभ्यो वरं श्रेष्ठमित्यर्थः ॥ २९ ॥

एवं निर्गुणोपासनस्यापरोक्षज्ञानसाधनत्वे सिद्धे सति तत्परित्यज्यान्यत्र प्रवृत्तानां वृथा श्रमः स्यादिति लौकिकन्यायदर्शनेनाऽऽह—**उपेक्ष्येति** ॥ ३० ॥

ततः किं तत्राऽऽह—**निरोधेति** । असङ्गं शोधितत्वपदार्थाख्यं कूटस्थचैतन्यमित्यर्थः । ततोऽपि किं तदाह—**पुनः पुनरिति** । वासिते निरुक्तासङ्गवस्तुपरिशेषे समभ्यस्ते सतीत्यर्थः । वाक्यादप्रतिबद्धान्महावाक्यात् ॥ २७ ॥

तत्र हेतुः—**निर्विकारेति** । आत्मन इत्यार्थिकम् ॥ २८ ॥

अत एव—**योगेति** । **अमृतेति** । आदिना कैवल्यकठवल्याद्याः । फलितमाह—**एवं चेति** । अन्यतः कर्मतः । अपिना कर्मवददृष्टद्वारा हेतुत्वं सिद्धमेवेति द्योत्यते । निर्गुणोपासनमिति शेषः ॥ २९ ॥

एवं दृष्टाद्युभयद्वाराऽपि ब्रह्मज्ञानजनकमहावाक्यप्रतिबन्धवारकं निर्गुणोपासनं त्यक्त्वा तीर्थयात्रादिपरान्निन्दति—**उपेक्ष्येति** । पिण्डं नवनीतगोलकम् ॥ ३० ॥

उपासकानामप्येवं विचारत्यागतो यदि ।
बाढं तस्माद्विचारस्यासंभवे योग ईरितः ।। ३१ ।।

बहुव्याकुलचित्तानां विचारात्तत्त्वधीर्न हि ।
यो यो मुख्यस्ततस्तेषां धीदर्पस्तेन नश्यति ।। ३२ ।।

अव्याकुलधियां मोहमात्रेणाऽऽच्छादितात्मनाम् ।
सांख्यनामा विचारः स्यान्मुख्यो झटिति सिद्धिदः ।।३३।।

नन्वात्मतत्त्वविचारं परित्यज्य निर्गुणोपासनं कुर्वतामप्ययं न्यायः समान इत्याशङ्क्याङ्गीकरोति—

उपासकानामिति । तर्हि निर्गुणोपासनं कुतः प्रतिपाद्यत इत्यत आह—**तस्मादिति** । यस्मादुक्तन्यायप्रसङ्गस्तस्माद्विचारासम्भवे योग उपासनमुक्तमित्यर्थः ।। ३१ ।।

विचारासंभवे कारणमाह—

बह्विति । यतो विचारो न संभवत्यतो योगः कर्तव्य इत्याह—**योग इति** । मुख्यत्वे कारणमाह—**धीदर्प इति** । तेन योगेन यतो धीदर्पो नश्यत्यतो मुख्य इत्यर्थः ।। ३२ ।।

एवं व्याकुलचित्तानां योगस्य मुख्यत्वमभिधाय तद्रहितानां विचार एव मुख्य इत्याह—

अव्याकुलेति । सांख्यनामा विचारः सांख्यशब्दवाच्यस्तत्त्वविचारो मुख्यः । कुत इत्यत आह—**झटितीति** ।। ३३ ।।

उपासकेष्वपि तन्न्यायापत्तिमङ्गीकरोति—**उपासकानामपीति** ।। ३१ ।।

तत्र युक्तिं वक्ति—**बह्विति** । धीदर्पः बुद्धिप्रमादः ।। ३२ ।।

धीदर्पहीनानामुत्तमाधिकारिणां तु विचार एवाधिकार इत्याह—**अव्याकुलेति** । सांख्यनामा सांख्यसंज्ञकः ।। ३३ ।।

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते ।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ॥ ३४ ॥

तत्कारणं सांख्ययोगाधिगम्यमिति हि श्रुतिः ।
यस्तु श्रुतेर्विरुद्धः स आभासः सांख्ययोगयोः ॥ ३५ ॥

योगसांख्ययोरुभयोरपि तत्त्वज्ञानद्वारा मुक्तिसाधनत्वे **गीतावाक्यं** प्रमाणयति—

यत्सांख्यैरिति । यः सांख्यं च योगं च फलत एकं पश्यति स शास्त्रार्थं सम्यक् पश्यतीत्यर्थः ॥ ३४ ॥

न केवलं **गीतावाक्यं** किन्तु तन्मूलभूता **श्रुतिरप्यस्तीत्याह**—

तत्कारणमिति । ननु सांख्ययोगयोरुभयोरपि तत्त्वज्ञानद्वारा मुक्तिसाधनत्वेनाङ्गीकारे तच्छास्त्रे प्रतिपादितानां तत्त्वानामपि स्वीकार्यत्वं स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—**यस्त्विति** । आभासो बाध्यत इत्यर्थः ॥ ३५ ॥

ननु सांख्ययोगशास्त्रयोर्ज्ञानसाधनत्वेन किं प्रमाणमित्यत आह—**यदिति** । **भगवद्गीतावाक्यमेव** तत्र मानशिरोरत्नमिदमस्तीत्याकूतम् । अपिना सांख्यापेक्षया योगे जघन्यत्वं ध्वन्यते । एवं च सांख्ययोगशब्दाभ्यां **कापिलपातञ्जलशास्त्रशीलपुरुष**-ग्रहो यदि तर्हि तदुक्ततत्त्वसंग्रहादद्वैतापत्तिरित्यत्राऽऽह—**एकमिति** । यो मुमुक्षुः सांख्यं सांख्यनामकं कापिलं योगं पातञ्जलं शास्त्रमपि एकं त्वपदार्थशोधने तत्रैव चित्तवृत्तिरोधनाच्च तत्त्वमस्यादिवाक्यप्रतिबन्धनिगमद्वारा **ब्रह्मात्मैक्यबोधोदयफलकमित्यर्थः** ॥३४॥

तत्र **श्वेताश्वतरश्रुतिमपि** संवादयति—**तदिति** । नन्वेवं तर्हि "स्मृत्यनवकाशदोषप्रसंग इति चेन्नान्यस्मृत्यनवकाशदोषप्रसंगात्" "एतेन योगः प्रत्युक्तः" इत्यधिकरणाभ्यां किमिति **श्रीमद्बादरायणाद्याचार्यैः** तत्खण्डनमेव कृतमित्यत आह—**यस्त्विति** । यस्तु सांख्ययोगयोः श्रुतेर्विरुद्धोंऽश इत्यार्थिकम् । स आभासः । सम्यक् ख्यायते ख्या प्रकथनम् इतिस्मरणादद्वैतब्रह्मत्वरूपप्रकर्षेण ज्ञाप्यत आत्मा येन तत्तथेति व्युत्पत्तेः ।

तथा—"वृत्तिहीनं मनः कृत्वा क्षेत्रज्ञं परमात्मनि ।
एकीकृत्य विमुच्येत योगोऽयं मुख्य उच्यते"

इतिस्मृतेश्च सांख्ययोगशब्दाभ्यामद्वैतात्मैक्यविषयकप्रमेकपरत्वाद्बाधितत्वात्सांख्याद्याभास इत्यर्थः ॥ ३५ ॥

उपासनं नातिपक्वमिह यस्य परत्र सः ।
मरणे ब्रह्मलोके वा तत्त्वं विज्ञाय मुच्यते ।। ३६ ।।
यं यं वाऽपि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् ।
तं तमेवैति यच्चित्तस्तेन यातीति शास्त्रतः ।। ३७ ।।
अन्त्यप्रत्ययतो नूनं भावि जन्म तथा सति ।
निर्गुणप्रत्ययोऽपि स्यात्सगुणोपासने यथा ।। ३८ ।।

ननूपासनं कुर्वाणस्य तत्त्वज्ञानात्प्राङ्मरणे सति न सिद्ध्येदित्याशङ्क्याऽऽह—**उपासनमिति** ।। ३६ ।।

मरणवासरे ज्ञानान्मुक्तिलाभे प्रमाणमाह—

यं यं वापीति । यच्चित्तस्तेनैव प्राणमायाति प्राणस्तेजसा युक्तः सहाऽऽत्मना यथासंकल्पितं लोकं नयतीति **वाक्याच्चेत्यर्थः** ।। ३७ ।।

ननूदाहृताभ्यां श्रुतिस्मृतिवाक्याभ्यामन्त्यप्रत्ययतो भाविजन्माभिधीयते ज्ञानान्मुक्तिरित्याशङ्क्य मुखतस्तथाऽभिधानमङ्गीकरोति—

अन्त्यप्रत्ययत इति । कथं तर्हि मरणकाले ज्ञानान्मोक्षो भवतीत्यत्रेदं **वाक्यद्वयं** प्रमाणत्वेनोपन्यस्तमित्याशङ्क्याऽऽह—**तथा सतीति** । तथा सत्यन्त्यप्रत्ययाद्भाविजन्मविनिश्चये सति सगुणोपासकस्य यथा मरणावसरे पूर्वाभ्यासवशात्सगुणब्रह्माकारः प्रत्ययो जायत एवं निर्गुणोपासकस्यापि निर्गुणब्रह्मगोचरः प्रत्ययो जायते जनिष्यत इत्यर्थः ।। ३८ ।।

ननु निर्गुणाहंब्रह्मोपासनपरिपाकजन्यात्मज्ञानात्प्रागेवाऽऽयुर्दायसमाप्तौ का गतिरित्याशङ्क्य समाधत्ते—**उपासनमिति** । यस्येह जन्मन्युपासनं निर्गुणोपासनमतिपक्वं न तत्त्वज्ञानफलकं न जातं स तावत् "शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते" इत्यादिस्मृतेः परत्र जन्मान्तरे त्वं विज्ञाय मुच्यते पाके तु मरणे ब्रह्मलोकवासनैकावशेषे तु वा ब्रह्मलोके तत्त्वं विज्ञाय मुच्यत इत्यन्वयः ।। १३६ ।।

मरणे निर्गुणोपासनातत्त्वज्ञाने प्रमाणमाह—यं **यमित्यादि गीतावाक्यम्** । तन्मूलीभूतां श्रुतिमप्याह—**यदित्यादिना** । "यच्चित्तस्तेनैष प्राणमायाति प्राणस्तेजसा युक्तः सहाऽऽत्मना यथासंकल्पितं लोकं नयति" इति **काण्वश्रुतेरि**ति । मुच्यत इति पूर्वेण सम्बन्धः ।। ३७ ।।

ततः किं प्रकृत इत्यत्राऽऽह—**अन्त्येति** ।। ३८ ।।

नित्यनिर्गुणरूपं तन्नाममात्रेण गीयताम् ।
अर्थतो मोक्ष एवैष संवादिभ्रमवन्मतः ॥ ३९ ॥
तत्सामर्थ्याज्जायते धीर्मूलाविद्यानिवर्तिका ।
अविमुक्तोपासनेन तारकब्रह्मबुद्धिवत् ॥ ४० ॥
सोऽकामो निष्काम इति ह्यशरीरो निरिन्द्रियः ।
अभयं हीति मुक्तत्वं तापनीये फलं श्रुतम् ॥ ४१ ॥

ननु निर्गुणप्रत्ययाभ्यासवशान्निर्गुणब्रह्मप्राप्तिरेव भवेन्न मुक्तिरित्याशङ्क्य ब्रह्मप्राप्तिमुक्त्योः शब्दमात्रेण भेदो नार्थत इत्याह—

नित्यनिर्गुणेति । तद्ब्रह्म नित्यमिति नाममात्रेणोच्यतामर्थतस्त्वेष मोक्ष एव स्वरूपावस्थितिर्मुक्तिरित्यभिधानादिति भावः । तत्र दृष्टान्तमाह— **संवादीति ।** यथा संवादिभ्रमो नाममात्रेण भ्रम इत्युच्यते वस्तुतस्तत्त्वज्ञानमेव तद्वदित्यर्थः ॥ ३९ ॥

ननु निर्गुणोपासनस्य मानसक्रियारूपस्य मुक्तिसाधनत्वाभिधानं विरुद्धमित्याशङ्क्य तज्जन्यज्ञानस्य मोक्षसाधनत्वाभिधानान्न विरोध इत्याह—

तदिति । तत्र दृष्टान्तमाह—**अविमुक्त इति ।** यथाऽविमुक्तसगुणब्रह्मोपासनसामर्थ्यात्तारकब्रह्मविद्या जायत एवं निर्गुणोपासनान्निर्गुणब्रह्मज्ञानं जायत इत्यर्थः ॥ ४० ॥

ननु निर्गुणोपासनस्य मोक्षः फलमित्यत्र किं प्रमाणमित्याशङ्क्याऽऽह—

सोऽकाम इति । सोऽकामो निष्काम आप्तकाम आत्मकामो न तस्य प्राणा उत्क्रामन्त्यत्रैव समवलीयन्ते ब्रह्मैव सन्ब्रह्माप्येति, अशरीरो निरिन्द्रि-

निर्गुणब्रह्मत्वमेव मुक्तिरित्याह—**नित्यमिति**। तत्र दृष्टान्तमाह— **संवादीति**। स यथा नाम्नैव भ्रमो वस्तुतस्तु प्रमैव तद्वदित्यर्थः ॥ ३९ ॥

ननु ज्ञानमन्तरा कथं मोक्षस्तत्राऽऽह—**तदिति**। तत्र दृष्टान्तमाह-**अविमुक्तेति**। प्रसिद्धमिदं **लघुजाबालोपनिषदि** ॥ ४० ॥

तत्र हि भ्रुवोर्घ्राणस्य सन्धानविमुक्तावच्छिन्नेश्वरध्यानेनान्ते तारकब्रह्मबुद्धिर्भवतीत्युक्तं तद्वत्प्रकृते निर्गुणोपासने ह्यद्वैतज्ञानद्वारा मोक्षफलजनने प्रमाणान्याह— सोऽकाम इति प्रभृतिषड्भिः। "सोऽकामो निष्काम आत्मकाम आप्तकामः। न तस्य प्राणा उत्क्रामयन्त्यत्रैव समवलीयन्ते ब्रह्मैव सन्ब्रह्माप्येतीति **बृहदारण्यके**। अशरीरो

उपासनस्य सामर्थ्याद्विद्योत्पत्तिर्भवेत्ततः ।
नान्यः पन्था इति ह्येतच्छास्त्रं नैव विरुध्यते ।। ४२ ।।
निष्कामोपासनान्मुक्तिस्तापनीये समीरिता ।
ब्रह्मलोकः सकामस्य शैब्यप्रश्ने समीरितः ।। ४३ ।।
य उपास्ते त्रिमात्रेण ब्रह्मलोके स नीयते ।
स एतस्माज्जीवघनात्परं पुरुषमीक्षते ।। ४४ ।।

योऽप्राणो ह्यमनाः सच्चिदानन्दमात्रः स्वस्वराट् भवति य एवं वेद चिन्मयो ह्ययमोङ्कारश्चिन्मयमिदं सर्वं तस्मात्परमेश्वर एवैकमेव तद्भवत्येतदमृतमभयमेतद्ब्रह्माभयं वै ब्रह्म भवति य एवं वेदेति रहस्यमित्यादिवाक्यैस्तापनीयोपनिषदि निर्गुणोपासनस्य मोक्षः फलत्वेन श्रूयत इत्यर्थः ।। ४१ ।।

ननूपासनया मुक्तिः स्याच्चेत् "नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय" इति श्रुतिविरोध इत्याशङ्क्य विद्याव्यवधानेन मोक्षप्रदत्वाभिधानान्न विरोध इत्याह—**उपासनस्येति** ।। ४२ ।।

मरणे ब्रह्मलोके वा तत्त्वं विज्ञाय मुच्यत इत्युक्तार्थे श्रुतिं प्रमाणयति—

निष्काम इति । तत्र सोऽकाम इत्यादि तापनीयवाक्यं पूर्वमेवोदाहृतम् ।। ४३ ।।

इदानीं शैब्यप्रश्नोपनिषद्वाक्यमर्थतः पठति—

य उपास्त इति । "यः पुनरेतत्त्रिमात्रेणोमित्यनेनैवाक्षरेण परं पुरुषमभिध्यायीत स तेजसि सूर्ये सम्पन्नो यथा पादोदरस्त्वचा विनिर्मुच्यत

' निरिन्द्रियोऽप्राणो ह्यमना सच्चिदानन्दमात्रः स्वराट् भवति य एवं वेद चिन्मयो ह्ययमोङ्कारश्चिन्मयमिदं सर्वं तस्मात्परमेश्वर एवैकमेतद्भवति । एतदमृतमभयमेतद्ब्रह्माभयं हि वै ब्रह्म भवति य एवं वेदेति रहस्यमित्यादिर्नृसिंहोत्तरतापनीयोपनिषद्यपि ।। ४१ ।।

उपासनस्येति । नान्य इति । "तमेवं विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय" इति हि श्रुत्या सहाप्येवं सति विरोधो न भवतीति भावः ।। ४२ ।।

निष्कामेति । सोऽकामो निष्काम इत्यादितापनीयश्रुतिस्तूक्तैव । सकामस्य निर्गुणोपासकस्य तु ब्रह्मलोकः । प्रश्नोपनिषदि शैब्यप्रश्न उक्त इत्याह—**ब्रह्मलोक इति** ।। ४३ ।।

तामेव श्रुतिमर्थतः पठति – **य उपास्त इति** । "यः पुनरेतं त्रिमात्रेणोमित्येतेनैवाक्षरेण परं पुरुषमभिध्यायीत स तेजसि सूर्ये संपन्नो यथा पादोदरस्त्वचा विनि-

अप्रतीकाधिकरणे तत्क्रतुन्याय ईरितः ।
ब्रह्मलोकफलं तस्मात्सकामस्येति वर्णितम् ॥ ४५ ॥
निर्गुणोपास्तिसामर्थ्यात्तत्र तत्त्वमवेक्षते ।
पुनरावर्त्तते नायं कल्पान्ते च विमुच्यते ॥ ४६ ॥
प्रणवोपास्तयः प्रायो निर्गुणा एव वेदगाः ।
क्वचित्सगुणताऽप्युक्ता प्रणवोपासनस्य हि ॥ ४७ ॥

मुंच्यत एवं ह वै स पाप्मना विनिर्मुक्तः स सामभिरुन्नीयते ब्रह्मलोकं स एतस्माज्जीवघनात्परं पुरिशयं पुरुषमीक्षते" इति सकामस्य ब्रह्मलोकप्राप्तिः श्रूयत इत्यर्थः। ननु शैब्यप्रश्ने सकामस्य ब्रह्मलोकगतिरेव प्रतीयत इत्याशङ्क्य तत्र तत्त्वसाक्षात्कारश्च श्रूयत इत्याह—स एतस्मादिति । ब्रह्मलोकं गतः स उपासक एतस्माज्जीवघनाज्जीवसमष्टिरूपाद्धिरण्यगर्भात्परमुत्कृष्टं पुरुषं निरुपाधिकचैतन्यरूपं परमात्मानमीक्षते साक्षात्करोति ॥ ४४ ॥

किं च "अप्रतीकालम्बनान्नयतीति बादरायणः" "उभयथादोषात्तत्क्रतुश्च" इत्यत्र कामानुसारेण फलप्राप्तिर्भवतीति प्रतिपादितं तस्मादपि सकामस्य ब्रह्मलोकगतिरित्युक्तेत्याह—अप्रतीकेति ॥ ४५ ॥

तर्हि सकामस्य तत्त्वज्ञानं कुतो जायत इत्याशङ्क्याह—

निर्गुणेति । "इमं मानवमावर्तं नावर्तते न स पुनरावर्तते न स पुनरावर्तते" इति "ब्रह्मणा सह ते सर्वे" इत्यादिश्रुतिस्मृतिसद्भावान्न तस्य पुनः संसारप्राप्तिः किन्तु मुक्तिरेवेत्याह—पुनरावर्तत इति ॥ ४६ ॥

इदानीं प्रणवोपासनप्रसङ्गाद्बुद्धिस्थं तद्द्वैविध्यं दर्शयति—प्रणवेति ॥ ४७ ॥

मुंच्यत एवं ह वै स पाप्मना विनिर्मुक्तः स सामभिरुन्नीयते ब्रह्मलोकं स एतस्माज्जीवघनात्परात्परं पुरिशयं पुरुषमीक्षते" इति ह्येतन्मूलीभूता प्रश्नोपनिषदि शैब्यप्रश्ने श्रुतिः । स इति । स उपासकः । एतस्माद्व्यष्टिलिङ्गशरीरसाजात्येन साक्षिप्रत्यक्षात् । जीवेति । जीवसमष्टिरूपहिरण्यगर्भादित्यर्थः । शिष्टं तु स्पष्टमेव ॥ ४४ ॥

एवं सकामस्य निर्गुणोपासकस्य ब्रह्मलोकप्राप्तौ सूत्रसम्मति वक्ति—अप्रतीकेति । "अप्रतीकालम्बनान्नयतीति बादरायणः" इत्यस्मिन्नधिकरण इति यावत् । तत्क्रतुन्याय इति । उभयथाऽपि दोषात्तत्क्रतुश्चेतिन्याय इत्यर्थः । ईरित उक्तः । कोऽत्र सूत्रार्थं इत्यत्राऽऽह । ब्रह्मेति । अक्षरार्थस्तु ब्रह्मामृतवर्षिण्यामेव ज्ञेयः ॥ ४५ ॥

एवं तर्हि सकामस्य कथं तत्र ज्ञानमित्यत आह—निर्गुणेति ॥ ४६ ॥

एवं च प्रणवोपास्तीनां द्वैविध्यमित्याह—प्रणवेति ॥ ४७ ॥

परापरब्रह्मरूप ओङ्कार उपवर्णितः ।
पिप्पलादेन मुनिना सत्यकामाय पृच्छते ॥ ४८ ॥
एतदालम्बनं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत् ।
इति प्रोक्तं यमेनापि पृच्छते नचिकेतसे ॥ ४९ ॥
इह वा मरणे वाऽस्य ब्रह्मलोकेऽथवा भवेत् ।
ब्रह्मसाक्षात्कृतिः सम्यगुपासीनस्य निर्गुणम् ॥ ५० ॥
अर्थोऽयमात्मगीतायामपि स्पष्टमुदोरितः ।
विचाराक्षम आत्मानमुपासीतेति संततम् ॥ ५१ ॥
साक्षात्कर्तुमशक्तोऽपि चिन्तयेन्मामशङ्कितः ।
कालेनानुभवारूढो भवेयं फलितो ध्रुवम् ॥ ५२ ॥

द्वैविध्ये प्रमाणमाह—

परापरेति । "एतद्वै सत्यकाम परं चापरं च ब्रह्म यदोङ्कारस्तस्माद्विद्वानेतेनैवाऽऽयतनेनैकतरमन्वेति" इति उभयरूपत्वं प्रतिपादितमित्यर्थः ॥ ४८ ॥

कठवल्ल्यां यमेनाप्येतदालम्बनं ज्ञात्वेत्यादिना द्वैविध्यमुक्तमित्याह—एतदालम्बनमिति ॥ ४९ ॥

उक्तमर्थमुपसंहरति—इह वेति ॥ ५० ॥

विचारात्तत्त्वज्ञानसंपादनासमर्थस्य निर्गुणब्रह्मध्यानेऽधिकार इत्ययमर्थ आत्मगीतायां सम्यगभिहित इत्याह—अर्थोऽयमिति ॥ ५१ ॥

आत्मगीतावाक्यान्येवोदाहरति—साक्षादिति ॥ ५२ ॥

तत्र मानमाह—परेति । "एतद्वै सत्यकाम परं चापरं च ब्रह्म यदोङ्कारः" इति प्रश्नोपनिषदि श्रूयते ॥ ४८ ॥

निर्गुणोपासनस्य प्रणवावच्छेदेन तथा सगुणोपासनस्यापि कठवल्यां यमेव नाचिकेतसं प्रत्यनुष्ठानमुक्तमस्तीत्याह—एतदिति ॥ ४९ ॥

भवत्वेवमथापि तु निर्गुणोपासनस्य परिपाकतारतम्येन ब्रह्मज्ञानद्वारा कैवल्यमेव फलमित्युपसंहरति—इह वेति ॥ ५० ॥

ननु निर्गुणोपासनस्य श्रुतिवत्स्मृत्यादौ प्रायेण न प्रसिद्धिरित्यत आह—अर्थोऽयमिति ॥ ५१ ॥

तद्वाक्यान्येव पठति—साक्षात्कर्तुमित्यादित्रिभिः ॥ ५२ ॥

यथाऽगाधनिधेर्लब्धौ नोपायः खननं विना ।
मल्लाभेऽपि तथा स्वात्मचिन्तां मुक्त्वा न चापरः ॥५३॥
देहोपलमपाकृत्य बुद्धिकुद्दालकात्पुनः ।
खात्वा मनोभुवं भूयो गृह्णीयान्मां निधिं पुमान् ॥ ५४ ॥
अनुभूतेरभावेऽपि ब्रह्मास्मीत्येव चिन्त्यताम् ।
अप्यसत् प्राप्यते ध्यानान्नित्याप्तं ब्रह्म किं पुनः ॥ ५५ ॥
अनात्मबुद्धिशैथिल्यं फलं ध्यानाद्दिने दिने ।
पश्यन्नपि न चेद्ध्यायेत् कोऽपरोऽस्मात्पशुर्वद ॥ ५६ ॥
देहाभिमानं विध्वस्य ध्यानादात्मानमद्वयम् ।
पश्यन्मर्त्योऽमृतो भूत्वा ह्यत्र ब्रह्म समश्नुते ॥ ५७ ॥

ध्यानस्य सम्यग्ज्ञानोपायत्वे दृष्टान्तमाह—

यथेति । दार्ष्टान्तिके योजयति—**मल्लाभ इति** ॥ ५३ ॥

व्यतिरेकेणोक्तमर्थमन्वयमुखेनाऽऽह—**देहोपलमिति** ॥ ५४ ॥

ज्ञानेऽसमर्थस्य ध्यानेऽधिकार इत्यत्र वाक्यान्तरं पठति—

अनुभूतेरिति । ध्यानाद्धि ब्रह्मप्राप्तौ कैमुतिकन्यायमाह—**अपीति** । उपासकस्य पूर्वमविद्यमानमपि देवत्वादिकं ध्यानात्प्राप्यते किल स्वरूपत्वेन नित्यप्राप्तं सर्वात्मकं ब्रह्म ध्यानात्प्राप्यत इति किमु वक्तव्यमित्यर्थः ॥५५॥

ब्रह्मध्यानफलस्य प्रत्यक्षसिद्धत्वादपि ध्यानं कर्तव्यमित्याह—**अनात्मेति** ॥ ५६ ॥

इदानीमुपपादितमर्थं संक्षिप्य दर्शयति—

देहाभिमानमिति । मरणशीले देहेऽहमित्यभिमानपरित्यागात्स्वयम-

ध्यानस्याद्वैतात्मसाक्षात्कारोपायत्वे दृष्टान्तं स्पष्टयति—**यथेति** । **अगाधेति** । अतिनिम्ननिक्षिप्तविपुलसुवर्णादिसंचयस्येत्यर्थः ॥ ५३ ॥

तत्र रूपकेण प्रतिबन्धसाधनस्थलफलान्याह—**देहेति** । उपलक्षणमिदं पञ्चकोशानामपि ॥ ५४ ॥

तत्र ज्ञानमेव ज्ञानाशक्तेन कार्यमित्यत्र वाक्यान्तरमपि प्रमाणयति—**अनुभूतेरिति** । तत्र कैमुतिकन्यायमाह—**अप्यसदिति** । देवो भूत्वा देवानप्येतीति श्रुतेरसद्विद्यमानमपि देवत्वादि ॥ ५५ ॥

ब्रह्मध्यानफलं प्रतिदिनं दृष्टमपीति स्पष्टयंस्तद्विमुखान्निन्दति—**अनात्मेति** । तस्माद्विचाराचतुरेण मुमुक्षुणा निर्गुणब्रह्मध्यानमेव सर्वदा विधेयमित्याशयः ॥ ५६ ॥

तत्फलमिह वा मरणे वाऽपि ब्रह्मलोकेऽथवेत्यादिनोपासनपरिपाकतारतम्यात्त्रि-

ध्यानदीपमिमं सम्यक्परामृशति यो नरः ।
मुक्तसंशय एवायं ध्यायति ब्रह्म संततम् ।। ५८ ।।

इति श्रीविद्यारण्यमुनिविरचितपञ्चदश्यां नवमो ध्यानदीपः समाप्तः ।। ९ ।।

मृतो भूत्वाऽत्रास्मिन्नेव शरीरे स्वस्य निजं रूपं सच्चिदानन्दरूपं ब्रह्म प्राप्नोति ।। ५७ ।।

ध्यानदीपानुसंधानफलमाह—ध्यानदीपमिति ।। ५८ ।

श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीभारतीतीर्थविद्यारण्यमुनिवर्यकिङ्करेण श्रीरामकृष्णाख्यविदुषा विरचितं ध्यानदीपव्याख्यानं समाप्तम् ।। ९ ।।

धोक्तमप्यधुना तदादरातिशयार्थं पुनः संक्षिपति—देहेति । तीव्रसंवेगानामसन्नः प्रज्ञालाभ इति ।। ५७ ।।

तत्रास्य प्रकरणस्य सम्यग्विचारणमेवोक्तनिर्गुणध्यानप्रावण्ये कारणमित्याह—ध्यानदीपमिति । ननूपक्रमे भवताऽस्य प्रकरणस्य नवमस्य—"सद्ध्यानकर्मबोधैर्मोक्षो ध्यानेन बोधजातेन । शुद्धेन वेति शुद्धिः प्रतिबन्धोऽयं चतुर्थ इह जीवे" इत्यार्यया शोधितत्वंपदार्थाख्यजीवस्वरूपनिर्णयविषयकसाधनविपरीतभावनाभिधोक्तचतुर्थप्रतिबन्ध-बाधकत्वं ध्यानदीपस्य—"ध्यानविचारान्यतरध्वस्तप्रतिबन्ध एव बुद्धः स्यात् । इत्युक्तेस्तत्परता नवमे निर्णीयते स्पष्टा" इत्यार्ययाऽभ्यधायि तत्कथमिति चेच्छृणु । अत्र हि संवादिभ्रमवद्ब्रह्मतत्त्वोपास्त्याऽपि मुच्यत इत्युपक्रम्य देहाभिमानं विध्वंस्येत्याद्युप-संहृतम् । तेन ब्रह्मतत्त्वोपास्त्याऽपीत्यपिशब्दध्वनितविचारेणैव ज्ञानद्वारा मुच्यते तदशक्तो ब्रह्मतत्त्वोपास्तिशब्दितनिर्गुणब्रह्मज्ञानेनापि ज्ञानप्रतिबन्धमपनीय ज्ञानेन मुच्यत इत्येव-मेवोपसंहाराशयं निर्णीय तयोरैकरूप्यं बोध्यम् । तथा तत्राभ्यासादीन्यपि लिङ्गानि यथा—"वेदान्तेभ्यो ब्रह्मतत्त्वमखण्डैकरसात्मकम् । परोक्षमवगत्यैतदहमस्मीत्युपासते" इत्यादौ स्पष्टान्येव । उक्तं हि वासिष्ठे—"द्वौ क्रमौ चित्तनाशस्य योगो ज्ञानं च राघव । योगस्तद्वृत्तिरोधः स्याज्ज्ञानं सम्यगवेक्षणम् । असाध्यः कस्यचिद्योगः कस्यचित्तत्त्व-निश्चयः । प्रकारौ द्वौ ततो देवो जगाद परमः शिवः" इति । तस्मान्नैवात्र साधन-वैपरीत्यलेशावकाशोऽपीति शिवम् ।। ५८ ।।

इति श्रीमत्परमहंसपरि० श्रीमदद्वैतसच्चिदानन्द० पञ्चदशीव्याख्यायाः सम्पूर्णोऽयं ध्यानदीपप्रकाशः ।। ९ ।।

[1]श्रीमदद्वैतसच्चिदानन्दगुरुवर[2]श्रीमत्स्वरूपानन्दगुरुवर[3]श्रीमन्नारायणगुरुवर-चरणसरोरुहार्पणोस्तु संततम् ।।

---

१. ब्रह्मविद्यामननसहायीभूत श्रीरघुनाथभट्टाख्याः ।

२. शिवपञ्चाक्षरीमहामन्त्रोपदेशकर्तारः स्वरूपानन्दाश्रमयोगपट्टा महादेवबुवासंज्ञकाः ।

३. चतुःशास्त्राध्यापकाचार्याः साठे इत्युपनामकाः ।

—

अथ पञ्चदश्यां नाटकदीपाख्यं दशमं प्रकरणम्

परमात्माऽद्वयानन्दपूर्णः पूर्वं स्वमायया ।
स्वयमेव जगद्भूत्वा प्राविशज्जीवरूपतः ॥ १ ॥

नत्वा श्रीभारतीतीर्थविद्यारण्यमुनीश्वरौ ।
अर्थो नाटकदीपस्य मया संक्षिप्य वक्ष्यते ॥ १ ॥

चिकीर्षितस्य ग्रन्थस्य निष्प्रत्यूहपरिपूरणायाभिमतदेवतातत्त्वानुस्मरण-लक्षणं मङ्गलमाचरन्मन्दाधिकारिणामनायासेन निष्प्रपञ्चब्रह्मात्मतत्त्वप्रतिपत्ति-सिद्धये "अध्यारोपापवादाभ्यां निष्प्रपञ्चं प्रपञ्च्यते । शिष्याणां बोधसिद्ध्यर्थं तत्त्वज्ञैः कल्पितः क्रमः" इति न्यायमनुसृत्याऽऽत्मन्यध्यारोपं तावदाह—

परमात्मेति । पूर्वं सृष्टेः प्रागद्वयानन्दपूर्णः सदेव सौम्येदमग्र असीदेक-मेवाद्वितीयं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म पूर्णमदः पूर्णमित्यादिश्रुतिप्रसिद्धः स्वगतादि-भेदशून्यः परमानन्दरूपः परिपूर्णः परमात्मा स्वमायया मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरमितिश्रुत्युक्त्या स्वनिष्ठया मायाशक्त्या स्वयमेव जगद्भूत्वा तदात्मानं स्वयमकुरुत सच्च त्यच्चाभवदितिश्रुतेः स्वयमेव जगदाकारतां प्राप्य जीवस्वरूपतः प्राविशत् "तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्" "अनेन जीवेनाऽऽत्मनाऽनुप्रविश्य" इत्यादिश्रुतेर्जीवरूपेण प्रविष्टवानित्यर्थः ॥ १

अद्वैतानन्दसच्चिद्विभु विमलपरब्रह्मकूटस्थरूपं
मोहाद्द्वैतेन्द्रजालालयमपि तिलकं स्वप्रकाशं श्रुतीनाम् ।
सर्वांश्चाऽऽचार्यवर्यान्रघुकुलतिलकं सद्गुरुं ब्रह्मनिष्ठं
श्रीमन्नारायणाख्यं स्वगुरुमपि महादेवसंज्ञं प्रणौमि ॥ १ ॥

नत्वा जीवंजीवान्विद्यारण्यं च भारतीतीर्थम् ॥
नाटकदीपं स्फुटयाम्यथ कौमुद्यास्तु दिक्प्रकाशेन ॥ २ ॥

अथ भगवान्भारतीतीर्थाचार्यः स्वकृते पूर्वस्मिन्ध्यानदीपाख्ये पञ्चदश्याः प्रकरणेऽन्ते तदनुसन्धानफलकथनावसरे "मुक्तसंशय एवायं ध्यायति ब्रह्म सन्ततम्" इत्युक्त्या कस्यचिदन्तेवासिनः स्वल्पग्रन्थेनानायासादतिविषयलालसोऽहमतिमन्दश्च मुक्तसंशय एव सन्कथं सन्ततं ब्रह्म ध्यातुं शक्तः स्यामिति मुखम्लान्यादिनाऽतिचिन्तां निश्चित्य तदनुजिघृक्षया **नाटकदीपाख्यं** स्वल्पं पञ्चदश्यां दशमं प्रकरणमारभमाणः परमात्मानुसन्धानलक्षणं मङ्गलं प्रथितप्रमाणप्रयोजनं कुर्वंस्तेनास्य विषयप्रयोजनाद्यनु-

विष्णवाद्युत्तमदेहेषु प्रविष्टो देवता भवेत् ।
मर्त्याद्यधमदेहेषु स्थितो भजति मर्त्यताम् ।। २ ।।

ननु परमात्मन एवैकस्य सर्वशरीरेषु प्रविष्टत्वे पूज्यपूजकादिभावेन प्रतीयमान उत्तमाधमभावो विरुध्येतेत्याशङ्क्याऽऽह—

विष्ण्वति । नायं स्वाभाविक उत्तमाधमभावः किन्तु शरीरोपाधिनिबन्धनोऽतो न विरोध इति भावः ।। २ ।।

बन्धानपि ध्वनितो निबध्नाति—**परमात्मेति** । **अद्वयेति** । न विद्यते द्वयं द्वैतरूपं दृश्यं यत्र स चासावानन्दश्चेति तथा । एवं परमात्मेत्यत्रापि विग्रहः । परान्दृश्यपदार्थान्मिमीते साक्षित्वेन प्रकाशयतीति परमः स चासावात्मा चेति प्राग्वदेव कर्मधारयः । एतेन शुद्धत्वंपदार्थः साक्षित्वोपलक्षितः प्रत्यक्सूचितः । एवमद्वयेत्यादिना शुद्धस्तत्पदार्थः सत्यज्ञानानन्तानन्दाद्वैतब्रह्मलक्षणो द्योत्यते । पूर्ण इत्यनेन तयोरभेदोऽखण्डैकरसोऽसिपदार्थश्चेति त्रिपद्या सर्वोऽप्यद्वैतशास्त्रार्थः सूत्रितो भवति । स एवाज्ञातत्वाज्ञातत्वाभ्यां क्रमेण शास्त्रवत्तत्प्रकरणस्यास्य विषयः प्रयोजनं च । सिद्धान्तेऽत्र जहदजहत्स्वार्थरूपभागत्यागलक्षणाया एवाङ्गीकृतत्वाच्छास्त्रस्य विषयेण सह लक्ष्यलक्षकभाव एव सम्बन्धः प्रसिद्ध एव । अधिकारी त्वधस्तादुध्वनित एव यादृग्जिज्ञासुमुद्दिश्यैतत्प्रकरणारम्भोऽवतारितः । अथोक्तार्थबोधसिद्धये—

"अध्यारोपापवादाभ्यां निष्प्रपञ्चः प्रपञ्च्यते ।
शिष्याणां बोधसिद्ध्यर्थं तत्त्वज्ञैः कल्पितः क्रमः" ।।

इति प्राचां वचनात्प्रथममध्यारोपमाह—**पूर्वमित्यादिना** । पूर्वं सृष्ट्यनारम्भदशायामनादिभावरूपाविद्यात्मसम्बन्धलक्षणक्षणादिकालावच्छेदेनेत्यर्थः । **स्वेति** । स्वैकायत्तसत्ताकत्वेन कल्पितस्वैकसम्बन्धशाल्यनादिभावरूपशुद्धसत्त्वप्रधाना विद्ययेत्यर्थः (?) **स्वयमेवेति** । एतेन स्वतादात्म्यापन्नोक्तरूपमायेतरसामग्रीव्युदासो व्यज्यते । तेन विवर्तवादाङ्गीकारादारम्भादिवादनिरासः सूचितः । जगत्सादिद्वैतमिति यावत् । भूत्वा । **जीवेति** । "अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीं प्रजां जनयन्तीं सरूपाम् । अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः" इति तैत्तिरीयश्रुतेस्तथा । "प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि" इति स्मृतेः "जीव ईशो विशुद्धा चित्तथा जीवेशयोर्भिदा । अविद्यातच्चित्तोर्योगः षडस्माकमनादयः" इत्यभियुक्तोक्तेश्चानादिसिद्धसमष्टिजीवात्मनेत्यर्थः । उपहितत्वेनावच्छिन्नत्वेन प्रतिबिम्बत्वेनाऽऽभासत्वेन वा मरुदेशावच्छिन्नः सौरालोकः स्वाभिन्नत्वेन स्वकल्पितमृगजल इव प्राविशदित्यन्वयः । तथाच श्रुतयः—"आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्" "सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्" "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" "मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मयिनं तु महेश्वरम् । अस्यावयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत्" "सत्यं चानृतं च सत्यमभवत् । यदिदं किञ्च" "तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्" "अनेन जीवेनाऽऽत्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि" इति च ।। १ ।।

नन्वेवमद्वैतात्मैव यदि मायावशान्निरुक्तरूपे जगति प्रविष्टस्तर्हि प्रतिबिम्बाद्यात्मकजीवरूपेण साधारण्यात्प्रविष्टत्वे दृश्यत्वदृक्त्वाभ्यां चिज्जडविभागसम्भवेऽपि सेव्यसेवकादिभावविभागः कथं स्यादित्यत आह—**विष्ण्वादीति**। न चैवं विष्ण्वादेर्जीवत्वापत्तिः। इष्टापत्तेः। तथा ह्यद्वैतसिद्धौ तावन्मङ्गलमेव—

"मायाकल्पितपातृतामुखमृषां द्वैतप्रपञ्चाश्रयः
सत्यज्ञानसुखात्मकः श्रुतिशिखोत्थाखण्डधीगोचरः।
मिथ्याबन्धविधूननेन परमानन्दैकतानात्मकं
मोक्षं प्राप्त इव स्वयं विजयते विष्णुर्विकल्पोज्झितः" ॥

इति स्वाभिमतमनेकशरीरैकजीववादानुसारेण विष्णोरेव मुख्यजीवत्वं संसूच्याग्रे तावदेकजीववादे भूयसा ग्रन्थेन जीवैक्यं प्रतिपाद्यम्। न चैवं सर्वज्ञत्वसर्वकर्तृत्वादिबोधकश्रुतीनां निर्विषयत्वम्। शुद्धचैतन्येऽज्ञत्वस्यैवाभावात्। ईश्वरस्य च जीवभिन्नस्याभावाज्जीवसार्वज्ञस्यानुभवबाधितत्वादिति वाच्यम्। समष्ट्यभिमानिनो जीवस्य सर्वज्ञत्वसर्वकर्तृत्वादिस्वीकारात्। न चानुभवविरोधः। अन्तःकरणाभेदाध्यासबलात्तदनुभवतद्विपरीतानुभवयोरुपपत्तेः। सर्वाभिमानिनस्तु सार्वज्ञाभिमानोऽस्त्येव। अत एव "तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परन्तप" इत्याद्युपपत्तेरिति भगवदनुभव एवोदाहृतः। तस्मात्समुचितमेव विष्णोर्जीवत्वमिति। अत्रोच्यते। त्रिमिदं विष्णोर्जीवत्वं मूलग्रन्थान्यथानुपपत्त्योच्यते समुदाहृताद्वैतसिद्धिग्रन्थाभिप्रायाद्वा। नाऽऽद्यः। तत्तात्पर्यस्य त्वयैवाज्ञातत्वात्। तद्यथा। तत्र हि मायिब्रह्मणस्तद्वशाज्जगद्रूपेण भवनमनादिसिद्धसमष्टिजीवरूपेण तत्र प्रतिबिम्बाद्यात्मना प्रवेशनं च पूर्वपद्येऽभिहितमिति तु स्फुटमेव। यदि साधारण्येनोक्तप्रवेशस्तर्हि प्रतीयमानः शास्त्रादौ पूज्यपूजकभावः कथमित्याकाङ्क्षायामेव विष्ण्वादीति पद्यं प्रवृत्तम्। तथा च विष्ण्वादयः श्रुत्यादिप्रसिद्धाः सर्वेऽपि परमेश्वरलीलाविग्रहा उत्तमाः सर्वोत्कृष्टा येषामिन्द्रादीनां जीवानां व्यष्ट्यात्मकत्वेन प्रसिद्धाना तेषां ये देहा वज्रहस्तः पुरन्दर इत्यादिश्रुत्यादिप्रसिद्धाः कायास्तेष्विति विग्रहस्यैव स्वारसिकत्वेनाऽऽत्रार्थविवक्षितत्वमवश्यं वाच्यम्। अन्यथा प्रविष्टः सन्देवता अभवदित्यग्रे वृन्दारका दैवतानि पुंसि वा देवताः स्त्रियामित्यभिधानकोशप्रसिद्धसुरसाधारणवाचकदेवताशब्दप्रयोगानौचित्यात्प्रविष्टस्त्वीश्वरोऽभवदित्यपि वक्तुं शक्यत्वाच्च। न चैवं विग्रहेऽस्मदादीनां किं विष्ण्वादयः पारमेश्वराः सर्वेऽपि लीलाविग्रहाः सर्वोत्कृष्टाः शास्त्रान्नैव सम्मताः सन्ति येनेन्द्रादय एव ग्राह्या इति साम्प्रतम्। मनुष्याद्यपेक्षया देवानां प्रायेण ज्ञानाधिक्यस्य शास्त्रादौ सुप्रसिद्धत्वात्। ज्ञानाधिकारतारतम्यविवक्षयैव "तद्यो यो देवानां प्रत्यबुध्यत स एव तदभवत्तथर्षीणां तथा मनुष्याणाम्" इति श्रुतौ क्रमोक्तेश्च। एवं तर्हि मर्त्यादीत्यत्रापि बहुव्रीहिपूर्वकषष्ठीतत्पुरुषघटित एष विग्रहो वाच्यः। अन्यथा वैरूप्यापत्तेरिति चेन्न; मर्त्यादयः, आदिना तिर्यञ्चोऽधमाः प्रचरदुःखत्वादत्यन्तं तुच्छा येषां पूर्वसुकृतपरिपक्वत्या भक्त्यधिकारिणां विचारिणां तेषां ये देहास्तेष्वित्येवेष्टत्वात्। अन्यथा स्थितो भजति देवतामित्युत्तरग्रन्थासङ्गत्यापत्तेः। न हि सर्वेऽपि मनुष्यादयः स्वस्ववर्णाश्रमधर्मोचितस्मार्तकर्मानुष्ठानतः परमेश्वरबुद्ध्येन्द्रादीन्देवान्भजन्त इति

अनेकजन्मभजनात् स्वविचारं चिकीर्षति ।
विचारेण विनष्टायां मायायां शिष्यते स्वयम् ।। ३ ।।

इत्थमात्मन्यध्यारोपं संक्षेपेण प्रदर्श्य ससाधनं तदपवादं संक्षिप्य दर्शयति—

अनेकेति । अनेकजन्मभजनादनेकेषु जन्मस्वनुष्ठितानां कर्मणां ब्रह्मणि समर्पणरूपाद्भजनात्स्वविचारं स्वस्याऽऽत्मनो ब्रह्मरूपस्य ज्ञानसाधनं श्रवणादिकं चिकीर्षति कर्तुमिच्छति ततः स्वविचारेण विचारजनितज्ञानेन मायायां स्वस्याद्वयनन्दत्वादिरूपाच्छादिकायामज्ञानाविद्यादिशब्दवाच्यायां विनष्टायां निवृत्तायां स्वयमद्वयानन्दपूर्णः परमात्मैवावशिष्यते ।। ३ ।।

सुप्रसिद्धमेव । एवं चानन्तजीवसमष्टिरूपेण मायिकस्वाध्यस्तनिखिलजडगति स्वदत्तसत्ताप्रकाशत्वात्स्वाभिन्ने प्रविष्टो माययेत्युपचर्यते । तत्र व्यष्ट्याख्यानन्तजीवानां मध्येऽपि केचिदेव पूज्यतां तत्पूजकतां चापन्नाः सन्ततं सुकृततारतम्येनैव न तु सर्वेऽपीति बोध्यम् । नाप्यन्त्यः । तस्य बुभुत्सुविशेषप्रतिबोधनैकफलकप्रतिक्रियाविशेषत्वात् । **श्रीमधुसूदनाचार्याणां** च तत्र तात्पर्याभावाच्च । अन्यथा विष्णोर्जीवसमष्टित्वे—

"वंशीविभूषितकरान्नवनीरदाभात्पीताम्बरादरुणबिम्बफलाधरोष्ठात् ।
पूर्णेन्दुसुन्दरमुखादरविन्दनेत्रात्कृष्णात्परं किमपि तत्त्वमहं न जाने" ।।

इत्युक्तग्रन्थस्थमेव तेषां वाक्यं विरुध्येत । न च तत्समष्टिजीवाभिप्रायिकमेवेति वाच्यम्; किमपीत्यादिपदस्वारस्यभङ्गात् । अद्वैतब्रह्मण एव भक्त्युद्रेकेण तथा वर्णनाच्च । एवमेव तैः स्वाशयः सूचितः **संक्षेपशारीरकटीकामङ्गलश्लोके**—

"सत्यं ज्ञानमनन्तमद्वयसुखं यद्ब्रह्म गत्वा गुरुं
नत्वा लब्धसमाधिभिर्मुनिवरैर्मोक्षाय साक्षात्कृतम् ।
जातं नन्दतपोबलात्तदखिलानन्दाय वृन्दावने
वेणुं वादयदिन्दुसुन्दरमुखं वन्देऽरविन्देक्षणम्" इति ।

नन्वेवं तर्हि कथमेतैरेव **सिद्धान्तबिन्दौ** वार्तिकादिमतान्युपन्यस्य अज्ञानोपहितं बिम्बचैतन्यमीश्वरः । अज्ञानप्रतिबिम्बितं चैतन्यं जीव इति वा । अज्ञानानुपहितं शुद्धं चैतन्यमीश्वरः । अज्ञानोपहितं जीव इति वा मुख्यो वेदान्तसिद्धान्त एकजीववादाख्यः । इममेव च दृष्टिसृष्टिवादमाचक्षत इति । तथा चात्र मुख्यपदाशयादेतेषामयमेव वादः सम्मत इति वाच्यम् । तथा च तदीयग्रन्थद्वयैक्यस्वारस्याद्विष्णोरेवोक्तसमष्टिजीवत्वं तत्सम्मतमिति चेन्न; **सिद्धान्तबिन्दौ** मुख्यपदं दृष्टिसृष्टिमिमां ब्रह्मानुभवी बहुमन्यत इत्यनुभूतिप्रकाशोक्तेस्तत्त्वेन स्वसम्मतत्वाभिप्रायमेव । तेनात्रैकशरीरैकजीववाद एव तत्सम्मतो न त्वनेकशरीरैकजीववादोऽप्यद्वैतसिद्ध्युक्तोऽधिकारिविशेषबुबोधयिषया प्रवृत्तः । अत एवात्र समष्टिजीवपदप्रयोगाभाव इति सर्वमवदातं ध्येयं धीरैः ।। २ ।।

एवमद्वैतात्मन्यध्यारोपं निरूप्य ससाधनं तदपवादं व्युत्पादयति—अनेकेति । भजनं तूक्तमेवाधस्तात् "मर्त्याद्यधमदेहेषु स्थितो भजति देवताम्" इत्यत्र ।। ३ ।।

अद्वयानन्दरूपस्य सद्वयत्वं च दुःखिता ।
बन्धः प्रोक्तः स्वरूपेण स्थितिर्मुक्तिरितीर्यते ॥ ४ ॥
अविचारकृतो बन्धो विचारेण निवर्तते ।
तस्माज्जीवपरात्मानौ सर्वदैव विचारयेत् ॥ ५ ॥
अहमित्यभिमन्ता यः कर्ताऽसौ तस्य साधनम् ।
मनस्तस्य क्रिये अन्तर्बहिर्वृत्ती क्रमोत्थिते ॥ ६ ॥

ननु "तद्ब्रह्माहमिति ज्ञात्वा सर्वबन्धैः प्रमुच्यते" इत्यादि श्रुतिभिर्बन्धनिवृत्तिलक्षणस्य मोक्षस्य ज्ञानफलत्वाभिधानात्परमात्मावशेषणस्य तत्फलताभिधानमनुपपन्नमित्याशङ्क्याऽऽह—

अद्वयानन्देति । अद्वितीये ब्रह्मणि वास्तवस्य बन्धस्य मोक्षस्य वा दुर्निरूपत्वाद्दुःखित्वादिभ्रम एव बन्धः स्वरूपावस्थितिलक्षणा तन्निवृत्तिरेव मोक्षः । अतो न श्रुतिविरोध इति भावः ॥ ४ ॥

ननु "कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः" इति स्मृतेर्मोक्षस्य कर्मसाधनत्वावगमात्किमनेन विचारजनितज्ञानेनेत्यत आह—

अविचारेति । विचारप्रागभावोपलक्षिताज्ञानकृतस्य बन्धस्य न विचारजन्यज्ञानादित्यतो निवृत्तिरुपपद्यते । उदाहृतस्मृतौ च संसिद्धिशब्देन चित्तशुद्धिरेवाभिधीयते न मोक्ष इति भावः । विचारेण बन्धनिवृत्तिरुक्ता किंविषयेण विचारेणेत्यत आह—तस्मादिति । तत्त्वसाक्षात्कारपर्यन्तं सर्वदा विचारं कुर्यादित्यर्थः ॥ ५ ॥

तत्र जीवस्वरूपं तावन्निरूपयति—

अहमिति । यश्चिदाभासविशिष्टोऽहङ्कारो व्यवहारदशायां देहादावहमित्यभिमन्यतेऽसौ कर्ता कर्तृत्वादिधर्मविशिष्टो जीव इत्यर्थः । तस्य किं

ननु विचारेण मूलाज्ञानलक्षणा माया विनश्यतु नाम तथाऽपि तया बन्धः कः कृतोभूत्तन्नाशेन मोक्षश्च कीदृक्सम्पद्यत इत्यपेक्षायां तयोर्लक्षणे संक्षिपति—**अद्वयेति** ॥ ४ ॥

ननु विचारेण प्रागुक्तरीत्या मायानाशेऽपि बन्धः कथं नश्यतीत्यत आह—**अविचारेति** ॥ ५ ॥

एवमप्युक्तविचारः कथं कर्तव्य इत्यपेक्षायामहं ब्राह्मण इति ब्राह्मणत्वादिजातिविशिष्टे देहे तादात्म्याध्यासेनाभिमन्ता यश्चिदाभासः स एव जीवो देहाद्भिन्न इति

अन्तर्मुखाऽहमित्येषा वृत्तिः कर्तारमुल्लिखेत् ।
बहिर्मुखेदमित्येषा बाह्यं वस्त्विदमुल्लिखेत् ॥ ७ ॥
इदमो ये विशेषाः स्युर्गन्धरूपरसादयः ।
असाङ्कर्येण तान्भिन्द्याद् घ्राणादीन्द्रियपञ्चकम् ॥ ८ ॥
कर्तारं च क्रियां तद्वद्व्यावृत्तविषयानपि ।
स्फोरयेदेकयत्नेन योऽसौ साक्ष्यत्र चिद्वपुः ॥ ९ ॥

करणमित्यपेक्षायामाह—तस्येति । कामादिवृत्तिमानन्तःकरणभागो मनः करणस्य क्रियाव्याप्तत्वात्तत्क्रियां दर्शयति—तस्य क्रियेति ॥ ६ ॥

अनयोः स्वरूपं विषयं च विविच्य दर्शयति—

अन्तर्मुखेति । इदमित्येषेति बहिर्वृत्तेः स्वरूपाभिनयः । अवशिष्टेन विषयप्रदर्शनं बाह्यं देहाद्बहिर्वर्तमानमिदन्तया निर्दिश्यमानं वस्तूल्लिखेद् विषयीकुर्यादित्यर्थः ॥ ७ ॥

ननु मनसैव सर्वव्यवहारसिद्धौ चक्षुरादिवैयर्थ्यं प्रसज्येतेत्याशङ्क्याऽऽह—**इदम इति** । मनसेदमिति सामान्यमात्रं गृह्यते न तु तद्विशेषो गन्धादिरतस्तद्ग्रहणे घ्राणादिकमुपयुज्यत इत्यर्थः ॥ ८ ॥

एवं सोपकरणं जीवस्वरूपं निरूप्य परमात्मानं निरूपयति—

कर्तारमिति । कर्तारं पूर्वोक्तमहङ्काररूपं क्रियामहमिदमात्मकमनो-

जीवस्वरूपविचारं प्रथमं सामान्येनाऽऽह—**अहमितीति** । ननु यद्युक्ताभिमन्तुरेव कर्तृत्वं तर्हि तस्य करणं किञ्चिद्वाच्यमित्यत्राऽऽह—**तस्येत्यादिना** यथा दण्डस्य चक्रभ्रामणं क्रिया तद्वदस्यापि क्रिया वाच्येत्यत आह—**तस्येति** । **क्रमेति** । क्रमेणोत्पन्ने इत्यर्थः ॥ ६ ॥

निरुक्तक्रियारूपयोरन्तर्बाह्यः क्रमोत्पन्नवृत्त्योराकारं व्यापारं चाऽऽह—**अन्तरिति** । कर्तारं बुद्धिप्रतिबिम्बितं साक्षित्वोपलक्षितायाः कूटस्थचित अभासमिति यावत् । उल्लिखेद्विषयीकुर्यादित्यर्थः । **बहिरिति** । अत्रान्तस्त्वं बहिष्ट्वं च देहापेक्षमेव । बाह्यं देहाद्बहिर्वर्तमानं वस्तु घटादिपदार्थजातं इदं इदन्त्वेनोल्लिखेत्तन्निष्ठेदमंशं विषयीकुर्यादित्येतत् ॥ ७ ॥

ननु सामान्येनेदमंशोऽस्तु मनोवृत्तिविषयः शब्दादयस्तु तद्विशेषाः किं केवलया तयैव गृह्यन्त इत्यत आह—**इदम इति** । आदिना शब्दस्पर्शौ । आदिना चतुर्जिह्वाकर्णत्वचः ॥ ८ ॥

एवं जीवस्वरूपं सपरिवारं निरूप्योपक्रमोक्तपरमात्मस्वरूपं निरूपयति—

ईक्षे शृणोमि जिघ्रामि स्वादयामि स्पृशाम्यहम् ।
इति भासयते सर्वं नृत्यशालास्थदीपवत् ॥ १० ॥
नृत्यशालास्थितो दीपः प्रभुं सभ्यांश्च नर्तकीम् ।
दीपयेदविशेषेण तदभावेऽपि दीप्यते ॥ ११ ॥
अहङ्कारं धियं साक्षी विषयानपि भासयेत् ।
अहङ्काराद्यभावेऽपि स्वयं भात्येव पूर्ववत् ॥ १२ ॥

वृत्तिरूपां व्यावृत्तविषयानपि व्यावृत्तानन्योन्यविलक्षणान्घ्राणादिग्राह्यान्गन्धादीन् विषयांश्चैकयत्नेन युगपदेव यश्चिद्वपुश्चिद्रूप एव सन्स्फोरयेत्प्रकाशयेदसावत्र वेदान्तशास्त्रे साक्षीत्युच्यत इत्यर्थः ॥ ९ ॥

साक्षिण एकयत्नेन सर्वस्फोरकत्वमभिनीय दर्शयति—

ईक्षे शृणोमीति । ईक्षे रूपमहं पश्यामीत्येवंद्रष्टादर्शनदृश्यलक्षणां त्रिपुटीमेकयत्नेन भासयेदेवं शृणोमीत्यादावपि योज्यं युगपदविकारित्वेऽनेकावभासकत्वे दृष्टान्तमाह—**नृत्यशालास्थदीपवदिति** ॥ १० ॥

दृष्टान्तं स्पष्टयति—

नृत्येति । अविशेषेण प्रभ्वादिविषयविशेषावभासनाय वृद्ध्यादिविकारमन्तरेणेति यावत् ॥ ११ ॥

दार्ष्टान्तिके योजयति—

अहङ्कारमिति । सुषुप्त्यादावहङ्काराद्यभावेऽपि तत्साक्षितया भात्येवेत्यर्थः ॥ १२ ॥

कर्तारमिति । **व्यावृत्तेति** । परस्परविभिन्नविषयानपीत्यर्थः । उपलक्षणमिदमन्तर्बहिःकरणानामपि । स्फोरयेत्प्रकाशयेदित्यर्थः ॥ ९ ॥

तदेवाभिनयति—**ईक्ष इति** । इक्षेऽवलोकयामीत्यर्थः । तत्र निदर्शनमाह—**नृत्येति** ॥ १० ॥

तदेव विशदयति—**नृत्यशालेति** ॥ ११ ॥

दार्ष्टान्तिकेऽपि स्पष्टयति—**अहंकारमिति** । नन्वहङ्कारधियोः प्रभुनर्तकीस्थानीययोर्दीपस्थानीयेन साक्षिणाऽस्तु साक्षाद्भानं विषयाणां तु श्रोत्रादिकरणद्वारा प्रमातुरहङ्कारावच्छिन्नचिदाभासस्य भासमानानां कथं साक्षात्साक्षिभानमुपपद्यत इति चेत्सत्यम् । अनयैवानुपपत्त्याऽत्राऽऽचार्यस्यैकशरीरैकजीववादाख्यप्रागुदाहृतसिद्धान्तबिन्दूक्तदृष्टिसृष्टिपक्षस्यैवाभिमतत्वं गम्यते । तत्रैव सकलदृश्यस्यापि स्वप्नवत्प्रातिभासिकत्वमिति विषयाणामपि साक्षात्साक्षिभास्यत्वमुचितमेवेति भावः ॥ १२ ॥

निरन्तरं भासमाने कूटस्थे ज्ञप्तिरूपतः ।
तद्भासा भास्यमानेयं बुद्धिर्नृत्यत्यनेकधा ।। १३ ।।
अहङ्कारः प्रभुः सभ्या विषया नर्तकी मतिः ।
तालादिधारीण्यक्षाणि दीपः साक्ष्यवभासकः ।। १४ ।।
स्वस्थानसंस्थितो दीपः सर्वतो भासयेद्यथा ।
स्थिरस्थायी तथा साक्षी बहिरन्तः प्रकाशयेत् ।। १५ ।।

ननु प्रकाशरूपाया बुद्धेरेवाहङ्कारादिसर्ववस्त्ववभासकत्वसम्भवात्किं तदतिरिक्तसाक्षिकल्पनयेत्याशङ्क्याऽऽह—

निरन्तरमिति । कूटस्थे निर्विकारे साक्षिणि ज्ञप्तिरूपतः स्वप्रकाशचैतन्यतया निरन्तरं भासमाने सदा स्फुरति सतीयं बुद्धिस्तद्भासा तस्य साक्षिणः स्वरूपचैतन्येन भासमाना प्रकाश्यमानैवानेकधा घटोऽयं पटोऽयमित्यादिज्ञानाकारेण नृत्यति विक्रियते । अयं भावः । यतो बुद्धेर्विकारितया जडत्वात्स्वतःस्फूर्तिराहित्यमतस्तदतिरिक्तः सर्वावभासकः साक्ष्यभ्युपगन्तव्य इति ।। १३ ।।

उक्तमर्थं श्रोतृबुद्धिसौकर्याय नाटकत्वेन निरूपयति—

अहङ्कार इति । विषयभोगसाकल्यवैकल्याभिमानप्रयुक्तहर्षविषादवत्त्वान्नृत्याभिमानिप्रभुतुल्यत्वमहङ्कारस्य । परिसरवर्तित्वेऽपि विषयाणां तद्राहित्यात्सभ्यपुरुषसाम्यम् । नानाविधविकारवत्त्वान्नर्तकीसाम्यं धियः । धीविक्रियाणामनुकूलव्यापारवत्त्वात्तालादिधारिसमानत्वमिन्द्रियाणाम् । एतत्सर्वावभासकत्वात्साक्षिणो दीपसादृश्यमस्यीति द्रष्टव्यम् ।। १४ ।।

ननु साक्षिणोऽप्यहङ्काराद्यवभासकत्वे तेन तेन संबन्धापगमागमरूपवि-

ननु सत्त्वगुणप्रधानाया बुद्धेरेव "सत्त्वात्संजायते ज्ञानम्" इति स्मृत्या सर्वभासकत्वसंभवे किं साक्षिणेत्यत्राऽऽह—निरन्तरमिति । ज्ञप्तीति । चिद्रूपत्वादित्यर्थः । तदिति । एवं च बुद्धेर्जडत्वात्स्वप्रकाशत्वाभावाच्च न सर्वभासकत्वं साक्षात्सभवतीति भावः ।। १३ ।।

एवं चोक्तमर्थं सर्वं सम्पिण्डीकृत्य रूपकेण निरूपयति—अहङ्कार इति । अक्षाणीन्द्रियाणि - तालेति । तालादिवाद्यवादकानां नर्तक्यनुचरत्वेन क्लीबत्वं युक्तमेवेति भावः ।। १४ ।।

ननु दीपदृष्टान्तो विषमः, साक्षिणो निर्विकारत्वाद्दीपस्य तु तैलवर्तिह्रासान्यथानुपपत्त्या प्रतिक्षणनूतनज्वालापरिणामित्वात्सेयं दीपज्वालेति प्रत्यभिज्ञायाश्चातिसादृश्य-

बहिरन्तर्विभागोऽयं देहापेक्षो न साक्षिणि ।
विषया बाह्यदेशस्था देहस्यान्तरहङ्कृतिः ॥ १६ ॥
अन्तःस्था धीः सहैवाक्षैर्बहिर्याति पुनः पुनः ।
भास्यबुद्धिस्थचाञ्चल्यं साक्षिण्यारोप्यते वृथा ॥ १७ ॥

कारवत्त्वं स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—**स्वस्थानेति** । दीपो यथा गमनादिविकारशून्यः स्वदेशेऽवस्थित एव सन्स्वसन्निहिताखिलपदार्थानवभासयत्येवं साक्ष्यपीति भावः ॥ १५ ॥

ननु साक्षिणो बहिरन्तरवभासकत्वाभिधानमनुपपन्नम् "अपूर्वमनपरमनन्तरसबाह्यम्" इति **श्रुत्या** तस्य बाह्यान्तरविभागाभावाभिधानादित्याशङ्क्याऽऽह—

बहिरिति । कस्य बाह्यत्वं कस्य चाऽऽन्तरत्वमित्यत आह—**विषया** इति ॥ १६ ॥

ननु "स्थिरस्थायी तथा साक्षी बहिरन्तः प्रकाशयेत्" इत्यविकारिणः सतो बहिरन्तरवभासकोक्तिरयुक्ताऽहं घटं पश्यामीत्यत्राहमित्यन्तरहङ्कारसाक्षितया प्रथमतो भासकस्यानन्तरं घट पश्यामीति घटाकारवृत्तिस्फुरणरूपेण बहिर्निर्गमानुभवादित्याशङ्क्याऽऽह—

अन्तस्थेति । दृष्टग्राहकत्वेन देहान्तरावस्थिता बुद्धी रूपादिग्रहणाय चक्षुरादिद्वारा भूयो भूयो निर्गच्छन्ति तथा च तन्निष्ठं चाञ्चल्यं तद्भासके साक्षिण्यारोप्यतेऽतो न वास्तवं साक्षिणश्चाञ्चल्यमिति भावः ॥ १७ ॥

प्रयुक्तत्वाच्चेति चेद्वाढम् । व्यावहारिकस्वप्रकाशत्वेनैव तस्य दृष्टान्तत्वादित्यभिसन्धाय समाधत्ते—**स्वस्थानेति** । गमनाद्यकुर्वन्नेवेत्यर्थः । स्थिरेत्यादिना दार्ष्टान्तिकयोजनम् । तत्र स्थिरश्चासौ स्थायीति कर्मधारये पौनरुक्त्यापत्तिरतः स्थिरेण "द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च । क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते" इति **गीताभाष्ये** कूटस्थपदेनाज्ञानस्योक्तिवदत्राप्यगत्या स्थिरपदेन तत्त्वज्ञानमन्तराऽविचलत्वगुणेनाज्ञानमेव गृह्यते । तथाचाज्ञानेन स्थायी तत्प्रयुक्तदृश्यनिरूपितदृक्त्वलक्षणसाक्षित्ववांस्तदभावे तु शुद्धचिन्मात्र एवेत्यर्थः । देहापेक्षयैव बहिरन्तरिति ॥ १५ ॥

तदेवाऽऽह—**बहिरन्तरिति** ॥ १६ ॥

ननु देहस्यान्तरपि साक्ष्यप्यहङ्कारभासकत्वेन भासमानस्तस्या बहिरपि घटादिविषयभासकत्वेन भासमानः स्फुरत्येव तेन किमसावपि चिदाभासवद्बुद्ध्या सह गमागमौ करोतीत्याशङ्कां शमयति—**अन्तःस्थेति** । अक्षैरिन्द्रियैः ॥ १७ ॥

गृहान्तरगतः स्वल्पो गवाक्षादातपोऽचलः ।
तत्र हस्ते नर्त्यमाने नृत्यतीवाऽऽतपो यथा ॥ १८ ॥
निजस्थानस्थितः साक्षी बहिरन्तर्गमागमौ ।
अकुर्वन् बुद्धिचाञ्चल्यात्करोतीव तथा तथा ॥ १९ ॥
न बाह्यो नान्तरः साक्षी बुद्धेर्देशौ हि तावुभौ ।
बुद्ध्याद्यशेषसंशान्तौ यत्र भात्यस्ति तत्र सः ॥ २० ॥
देशः कोऽपि न भासेत यदि तर्ह्यस्त्वदेशभाक् ।
सर्वदेशप्रक्लृप्त्यैव सर्वगत्वं न तु स्वतः ॥ २१ ॥

भासके भास्यचाञ्चल्यारोपः क्व दृष्ट इत्याशङ्क्याऽऽह—**गृहान्तरगत** इति । गवक्षाद्गृहान्तरगतः स्वल्पातपोऽचल एव वर्तते तत्र तस्मिन्नातपे पुरुषेण हस्ते नर्त्यमाने इतस्ततश्चाल्यमाने यथाऽऽतपो नृत्यतीव चलतीव लक्ष्यते न तु चलतीत्यर्थः ॥ १८ ॥

दार्ष्टान्तिकमाह—**निजस्थानेति** ॥ १९ ॥

निजस्थानस्थित इत्यनेन किं बाह्यादिदेशस्थत्वमेवोच्यते नेत्याह—**न बाह्य इति** । तत्र हेतुमाह—**बुद्धेरिति** । तर्हि किं विवक्षितमित्यत आह—**बुद्ध्याद्योति** । आदिशब्देनेन्द्रियादयो गृह्यन्ते संशान्तिशब्देन तत्प्रतीत्युपरतिर्विवक्षिता ॥ २० ॥

ननु सर्वव्यवहारोपरतौ देश एव नोपलभ्यते कुतस्तन्निष्ठत्वमुच्यत इत्याशङ्क्य स्वाभिप्रायमाविष्करोति—

देश इति । देशादिकल्पनाधिष्ठानस्य स्वातिरिक्तदेशापेक्षा नास्तीति भावः । ननु देशाद्यभावे शास्त्रे सर्वंगतसर्वसाक्षित्वाद्युक्तिर्विरुध्येतेत्यतआह—

तदेव दृष्टान्तेन स्पष्टयति—**गृह्यो ति** ॥ १८ ॥

दार्ष्टान्तिके योजयति - **निजेति** । निजस्य स्वसाक्षित्वप्रयोजकमूलाज्ञानस्य यत्स्थानमधिष्ठानं ब्रह्म तत्र स्थित इत्यर्थः ॥ १९ ॥

फलितमाह—**नेति** । तत्र हेतुः—**बुद्धेरित्यादिना** । एवं तर्हि साक्षी कुत्रास्तीत्यत आह—**बुद्ध्याद्योति** । अवाङ्मनसगम्ये ब्रह्मण्येव साक्ष्यनिरूपितसाक्षित्वप्रयोजकज्ञानेन साक्षीति व्यवहारो जायतेऽतस्तत्रैव सोऽस्तीत्यर्थः ॥ २० ॥

नन्वेवं चेत्तर्हि तस्य साक्षिणः कोऽपि देशो नैव भासतेत्याशङ्क्येष्टापत्त्या प्रत्याचष्टे—**देश इति** । ननु तर्ह्याकाशवत्सर्वगतश्च नित्य इतिश्रुत्या कथं तस्य सर्वगतत्व-

अन्तर्बहिर्वा सर्वं वा यं देशं परिकल्पयेत् ।
बुद्धिस्तद्देशगः साक्षी तथा वस्तुषु योजयेत् ।। २२ ।।
यद्यद्रूपादि कल्प्येत बुद्ध्या तत्तत्प्रकाशयन् ।
तस्य तस्य भवेत्साक्षी स्वतो वाग्बुद्ध्यगोचरः ।। २३ ।।
कथं तादृङ्मया ग्राह्य इति चेन्मैव गृह्यताम् ।
सर्वग्रहोपसंशान्तौ स्वयमेवावशिष्यते ।। २४ ।।

सर्वदेशेति । स्वाभाविकमेव किं न स्यादित्यत आह—**न तु स्वत इति** । अद्वितीयत्वादसङ्गत्वाच्चेति भावः ।। २१ ।।

सर्वगतत्ववत्सर्वसाक्षित्वमपि न वास्तवमित्याह–**अन्तर्बहिरिति**।।२२।।

तथा वस्तुषु योजयेदित्येतत्प्रपञ्चयति—

यद्यदिति । तर्हि किं तस्य निजं रूपमित्यत आह–**स्वत इति** ।।२३।।

अवाङ्मनसगोचरत्वे मुमुक्षुणा न गृह्येतेति शङ्कते—

कथमिति । अग्राह्यत्वमिष्टमेवेत्याह—**मैवेति** । नन्वात्मनो ग्राह्यत्वाभावे विचारेण विनष्टायां मायायां शिष्यते स्वयमित्युक्तं परमात्मावशेषणं न सिध्येदित्यत आह—**सर्वग्रहेति** । स्वात्मातिरिक्तस्य द्वैतस्य मिथ्यात्वनिश्चयेन तत्प्रतीत्युपशान्तौ स्वात्मैव सत्यतयाऽवशिष्यत इति भावः ।। २४ ।।

मुक्तमित्यत आह—**सर्वदेशेति** । सर्वदेशानां तत्राज्ञानेन मीरालोके मृगजलकल्लोलानामिव प्रक्लृप्त्या कल्पनयैवेत्यर्थः ।। २१ ।।

यथाऽऽत्मनः सर्वदेशकल्पनयैव सर्वगत्वं तथा सर्वसाक्ष्यकल्पनयैव सर्वसाक्षित्वमपीत्याह—**अन्तरिति** । बुद्धिरन्तर्वा बहिर्वा सर्वं वाऽन्तर्देशं वा बहिर्देशं वा सर्वदेशं वेत्यर्थः । एतादृशं यं देशं परिकल्पयेदज्ञानेनाद्वैताद्वैतात्मन्यारोपयेदिति यावत् । साक्ष्यभिष्ठानत्वेन । स्वाध्यस्तवह्ने: स्वप्रकाशरत्नवत्प्रकाशः सन्नद्वैत आत्मा तद्देशगः सन्वस्तुषु तथा योजयेदिदमन्तर्वस्त्वहङ्कारादिकमिदं बहिर्वस्तु घटादिकमिदं सर्वं वस्तु दृश्यपदशक्यत्वावच्छिन्नादिकमिति प्रकाशयेदित्यन्वयः ।। २२ ।।

फलितमाह—**यद्यदिति** । आदिना नामादि । स्वतो वाग्बुद्ध्यगोचरोऽप्यात्मा तस्य तस्य साक्षी भवेदिति सम्बन्धः ।। २३ ।।

नन्वेवमवाङ्मनसगम्य आत्मा मुमुक्षुणा मया कथं ग्राह्य इत्याशङ्कामिष्टापत्त्या प्रत्याह—**कथमिति** । नन्वेवमात्मनोऽग्राह्यत्वेऽविचारकृतो बन्धो विचारेण निवर्तत इति प्राग्विहितपरात्मविचारो निर्विषयः स्यादिति चेन्न । विचारेण विनष्टायां मायायां शिष्यते स्वयमिति प्रागुक्तरीत्यैव विहितपरमात्मविचारस्य राजहंसकृतक्षीरभक्षणेनामृतावशेषवन्मायाविनाशेन स्वप्रकाशाद्वैतपरमात्मावशेषैकपरत्वादित्याह—**सर्वेति** । नामरूपात्मकस्य सर्वस्यापि द्वैतस्य ग्रहशब्दितज्ञानबाधने सतीत्यर्थः ।। २४ ।।

न तत्र मानापेक्षास्ति स्वप्रकाशस्वरूपतः ।
तादृग्व्युत्पत्त्यपेक्षा चेच्छ्रुतिं पठ गुरोर्मुखात् ।। २५ ।।
यदि सर्वग्रहत्यागोऽशक्यस्तर्हि धियं व्रज ।
शरणं तदधीनोऽन्तर्बहिर्वैषोऽनुभूयताम् ।। २६ ।।

इति श्रीमद्विद्यारण्यमुनिविरचितायां पञ्चदश्यां नाटकदीपाख्यं दशमं प्रकरणं समाप्तम् ।। १० ।।

यद्यप्युक्तन्यायेन स्वात्मा परिशिष्यते तथाऽपि तदापरोक्ष्याय किञ्चित्प्रमाणमपेक्षितमित्यत आह–

न तत्रेति । तत्र हेतुमाह–**स्वप्रकाशेति** । नन्वात्मनः स्वप्रकाशतया स्वतः स्फूर्तौ मानं नापेक्ष्यत इति व्युत्पत्तिसिद्धये मानमपेक्षितमित्याशङ्क्य श्रुतिरेवात्र प्रमाणमित्याह–**तादृगिति** ।। २५ ।।

एवमुत्तमाधिकारिण आत्मानुभवोपायमभिधाय मन्दाधिकारिणस्तं दर्शयति–

यदीति । बुद्धिशरणत्वे किं फलमित्यत आह–**तदधीन इति** । बुद्धया यद्यत्परिकल्पते बाह्यमान्तरं वा तस्य तस्य साक्षित्वेन तदधीनः परमात्मा तथैवानुभूयतामित्यर्थः ।। २६ ।।

श्रीमद्विद्यारण्यमुनिवर्यकिङ्करेण रामकृष्णाख्यविदुषा विरचिता पञ्चदशीप्रकरणगतदशमनाटकदीपव्याख्या समाप्ता ।। १० ।।

नन्वेवं विचारेण द्वैतबाधे सति भवत्वद्वैतात्मावशेषस्तथाऽप्येतदापरोक्ष्यार्थं मानमपेक्षितमित्यत्राऽऽह—**न तत्रेति** । ननु स्वप्रकाश एवाऽऽत्मेति व्युत्पत्त्यर्थं मानं त्वपेक्षितमेवेत्यत आह – **तादृगिति** ।। २५ ।।

एवमुत्तमाधिकारिणः स एष नेति नेत्यात्मेत्यादिश्रुतिप्रसिद्धदृश्यबाधानुग्राहकखण्डनयुक्त्युपबृंहितमननलक्षणविचारेण द्वैतबाधनेनाद्वैतस्वप्रकाशात्मावशेषेण लक्षणमोक्षोपायोपदेशमभिधाय ततोऽप्यतिमन्दाधिकारिणः प्रति तमाह—**यदीति** । **तदधीन इति** । बुद्ध्यवभासकत्वेनेत्यार्थिकम् । एष उक्तरूपः साक्षित्वोपलक्षितः स्वप्रकाशाद्वैतसच्चिदानन्दः परमात्मेत्यर्थः । अन्तर्देहाभ्यन्तरेऽहंवृत्त्यात्मकबुद्धिभासकत्वेनेति यावत् । देहाद्बहिर्वा चक्षुरादीन्द्रियद्वारा घटाद्याकारकबुद्धिवृत्तिभासकत्वेनेत्येतत् । अनुभूयतां स्वप्रकाशात्मत्वेनेति शेषः । ननु भवतोपक्रमे तावत्—

"मुक्तावद्वैतत्वाद्ब्रह्मानन्दानुभूतिरपि न स्यात् ।
शिव शिव कथमथ भूयात्प्रतिबन्धः पञ्चमोऽयमिह जीवे" ।

इत्यार्यया शोधितत्वंपदार्थजीवस्वरूपबोधविषयकं फलविपरीतभावनाभिधं पञ्चमं प्रतिबन्धमभिधायाग्रे—"दशमे दीपवदात्मा सर्वस्याऽऽभासकोऽपि चैकरसः। स्वप्रभसुखैकवारिधिरिति फलकथनेन तत्परता" इत्यार्यान्तरेण नाटकदीपाख्यस्यास्य पञ्चदश्या दशमप्रकरणस्य मुक्तावद्वैतात्मरूपायामपि तु स्वयं प्रकाशमानाद्वैतसच्चिदानन्दाखण्डैकरसामृतनिधित्वलक्षणफलकथनद्वारोक्तप्रतिबन्धबाधनपरत्वं यदुक्तं तत्कथमुपपद्यत इति चेदुच्यते। अत्रोपक्रमे तावत्परमात्माऽद्वयानन्दः पूर्णं इत्युक्त्वाऽन्त एषोपक्रान्तस्वप्रकाशानन्तानन्द आत्माऽनुभूयतामित्युपक्रमोपसंहारैकरूप्यं निरुक्तफलविषयकमेकं लिङ्गम्। एवमग्रेऽद्वयानन्दरूपस्येति चतुर्थश्लोके साक्ष्यत्र चिद्वपुरिति नवमश्लोके निरन्तरं भासमाने कूटस्थे ज्ञप्तिरूपत इति त्रयोदश इत्यादिरभ्यासः। न तत्र मानापेक्षाऽस्ति स्वप्रकाशस्वरूपत इत्यापूर्वता पञ्चविंशे। "सर्वग्रहोपसन्शान्तौस्वयमेवावशिष्यते" इति चतुर्विंशे फलम्। नृत्यशालास्थितो दीप इत्याद्येकादशोऽर्थवादः। गृहान्तरागतः स्वल्पो गवाक्षादातपोऽचल इत्याद्यष्टादशादावुपपत्तिरिति षोढा लिङ्गानि। तस्मान्नैवात्र मुक्तिलक्षणफले निरुक्तरूपे वैमत्यलेशोऽपीति शिवम् ॥ २६ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमदद्वैतसच्चिदानन्देन्द्रसरस्वतीशिष्यश्रीमत्पदवाक्यप्रमाणक्षीरार्णवविहरणश्रीमदद्वैतविद्येन्दिरारमणषष्ठ्युपनामकश्रीनारायणशास्त्रिचरणसरोजराजहंसायमानमानसमोडकोपनामकाच्युतशर्मणा विद्यार्थिना विरचितायां पूर्णानन्देन्दुकौमुद्यभिधायां पञ्चदशीटीकायां नाटकदीपप्रकाशो दशमः सम्पूर्णः ॥ १० ॥

———

अथ पञ्चदश्यामेकादशं प्रकरणम्

तत्र ब्रह्मानन्दे योगानन्दाख्यः प्रथमोऽध्यायः ।

ब्रह्मानन्दं प्रवक्ष्यामि ज्ञाते तस्मिन्नशेषतः ।
ऐहिकामुष्मिकानर्थव्रातं हित्वा सुखायते ॥ १ ॥

नत्वा श्रीभारतीतीर्थविद्यारण्यमुनीश्वरौ ॥
ब्रह्मानन्दाभिधं ग्रन्थं व्याकुर्वे बोधसिद्धये ॥ १ ॥

चिकीर्षितग्रन्थस्य निष्प्रत्यूहपरिपूरणाय परिपन्थिकल्मषनिवृत्तयेऽभिमत-देवतातत्त्वानुसन्धानलक्षणमङ्गलमाचरञ्श्रोतृप्रवृत्तिसिद्धये सप्रयोजनमभिधेय-माविष्कुर्वन् ग्रन्थारम्भं प्रतिजानीते—

ब्रह्मानन्दमिति ।

"निर्विशेषं परं ब्रह्म साक्षात्कर्तुमनीश्वराः ।
ये मन्दास्तेऽनुकम्प्यन्ते सविशेषनिरूपणैः" ॥

इति सविशेषब्रह्मरूपाणां देवतानां तत्त्वस्य निर्विशेषब्रह्मरूपत्वाभि-धानाद्ब्रह्मणश्च "आनन्दो ब्रह्म" इत्यादिश्रुतिभिरानन्दरूपताभिधानाद्-

अद्वैतानन्दसच्चिद्विभुविमलपरब्रह्मकूटस्थरूपं
मोहाद्वैतेन्द्रजालालयमपि तिलकं स्वप्रकाशं श्रुतीनाम् ।
सर्वाश्चाऽऽचार्यवर्यान्रघुकुलतिलकं सद्गुरुं ब्रह्मनिष्ठं
श्रीमन्नारायणाख्यं स्वगुरुमपि महादेवसंज्ञं प्रणौमि ॥ १ ॥
मत्वा जीवञ्जीवान्विद्यारण्यं च भारतीतीर्थम् ।
योगानन्दं स्फुटयाम्यथ कौमुद्याः शिवप्रकाशेन ॥ २ ॥

अथ भगवान्भारतीतीर्थाचार्यः स्वकृतेः पञ्चदश्याः पूर्वस्मिन्नाटकदीपाख्ये दशमे प्रकरणेऽन्ते—

"यदि सर्वग्रहत्यागः शक्यस्तर्हि धियं व्रज ।
शरणं तदधीनोऽन्तर्बहिर्वैषोऽनुभूयताम्"

इति स्वोक्तिश्रवणबुद्धिवृत्त्यन्वेषणपरायणं कञ्चिदन्तेवासिनमालक्ष्य तदनुजिघृक्षयाऽत्र ब्रह्मानन्दाख्ये पञ्चदश्यास्तृतीयांशात्मके पञ्चाध्यायेषु प्रथमं पञ्चदश्यास्त्वेकादशं

ब्रह्मवित् परमाप्नोति शोकं तरति चात्मवित् ।
रसो ब्रह्म रसं लब्ध्वाऽऽनन्दीभवति नान्यथा ।। २ ।।

ब्रह्मानन्दमित्यानन्दरूपस्य ब्रह्मणो वाचकशब्दप्रयोगेण यद्धि मनसा ध्यायति तद्वाचा वदतीति श्रुतिप्रोक्तन्यायेन ब्रह्मानुसन्धानलक्षणं मङ्गलाचरणं सिद्धम् । ब्रह्मणश्च सर्ववेदान्तप्रतिपाद्यत्वात्तत्प्रकरणरूपस्यास्य ग्रन्थस्यापि तदेव विषय इति ब्रह्मशब्दप्रयोगेण विषयश्चापि सूचितः । **ऐहिकेत्युत्तरार्धेन** । अनिष्टनिवृत्तीष्टप्राप्तिरूपं प्रयोजनद्वयं मुखत एवोक्तम् । ब्रह्मानन्दः । वाच्यवाचकयोरभेदोपचारात्तत्प्रतिपादको ग्रन्थोऽपि ब्रह्मानन्दस्तं प्रवक्ष्यामीति तस्मिन्प्रतिपाद्यप्रतिपादकरूपे ब्रह्मानन्दे ज्ञातेऽवगते सत्यैहिकामुष्मिकानर्थव्रातमैहिकानामिह लोके भवानां देहपुत्रादिष्वहंममाभिमानप्रयुक्तानाम् । आध्यात्मिकादितापानाम् । आमुष्मिकाणाममुष्मिन्परलोके भवानां च तेषामनर्थानां व्रातः समूहः तमशेषतो निःशेषं यथा भवति तथा हित्वा परित्यज्य सुखायते सुखरूपं ब्रह्मैव भवति ।। १ ।।

ब्रह्मज्ञानस्यानिष्टनिवृत्तीष्टप्राप्तिहेतुत्वे बहूनि **श्रुतिस्मृतिवाक्यानि** प्रमाणानि संतीति प्रदर्शयितुकामस्तावत् "ब्रह्मविदाप्नोति परं श्रुतं ह्येवमेव भगवद्दृशेभ्यः" "तरति शोकमात्मवित्" इति "सोऽहं भगवः शोचामि तं मा भगवाञ्शोकस्य पारं तारयतु" इति वाक्यद्वयमर्थतः पठति—

ब्रह्मविदिति । ब्रह्मवेत्तोति ब्रह्मवित्परमुत्कृष्टमानन्दरूपं ब्रह्म प्राप्नोति ।

योगानन्दाख्यं प्रकरणमारभमाणः प्रथितप्रमाणप्रयोजनं मङ्गलं प्रकृतप्रकरणप्रतिपाद्याद्वैतब्रह्मात्मानुसन्धानलक्षणं कुर्वन्पञ्चाध्यायात्मकस्योपक्रान्तपञ्चदश्याः पञ्चभिः पञ्चभिः प्रकरणैः क्रमात्तत्त्वंपदार्थौ प्राधान्यात्प्रतिपादयद्भिर्भागद्वये भेदघटिते सम्पन्ने सत्यसिपदार्थमभेदघटितं प्राधान्यादेव प्रतिपादयत्प्रकरणपञ्चकस्यापि ब्रह्मानन्दमिति समष्ट्येकमेव नामाभिदधानस्तेनास्य प्रधानं विषयमपि व्यञ्जयंस्तद्वचनं प्रेक्षावन्मुमुक्षुप्रवृत्त्यर्थं प्रतिजानीते—**ब्रह्मानन्दमिति** । अत्र प्रकर्षस्तु वक्ष्यमाणयोगिप्रत्यक्षलक्षण एव भवत्वेवमथापि किं तत्प्रयोजनमिति चिन्तायां तत्प्रपञ्चयति—ज्ञात इत्यादित्रिपाद्या । अशेषत इति मध्यमणिन्यायेन पूर्वोत्तरान्वय्येव । तेनाऽऽपातिकश्रवणजन्यतात्कालिकसुखादिव्युदासौ व्यज्यन्ते । ऐहिकास्त्वनर्था आधिव्याध्यादयः प्रसिद्ध एव । आमुष्मिकास्तु यमेन्द्रभैरवविरचिताः शासनात्मकयातना विशेषा अपि तत्तदधिकार्यवच्छेदेन शास्त्रैकगम्या एव । एतत्कामुकोऽत्राधिकारी विषयग्रन्थयोः प्रतिपाद्यप्रतिपादकभावः सम्बन्धोऽपि ।। १ ।।

अथैवं सूचितं निखिलदुःखनिवृत्तिपूर्वकनिरतिशयसुखाप्तिलक्षणं प्रकृतप्रकरण-

प्रतिष्ठां विन्दते स्वस्मिन् यदा स्यादथ सोऽभयः ।
कुरुतेऽस्मिन्नन्तरं चेदथ तस्य भयं भवेत् ।। ३ ।।

आत्मविद् भूमशब्दवाच्यं देशकालवस्तुपरिच्छेदशून्यम् । आत्मानं वेत्तीत्यात्मवित् । शोकं स्वसंसृष्टं पुरुषं शोचयतीति शोकस्तमोमूलः संसारस्तं तरति अतिक्रामति । ननूदाहृततैत्तिरीयकश्रुतिवाक्ये ब्रह्मज्ञानस्य परप्राप्तिहेतुतैवावभासते नानन्दप्राप्तिहेतुतेत्याशङ्क्य आनन्दप्राप्तिहेतुत्वप्रतिपादनपरं "रसो वै सः रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति" इति तदीयमेव वाक्यमर्थतः पठति— **रस इति** । "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" "तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः" इति प्रकरणादौ ब्रह्मात्मशब्दाभ्यामभिहितो य आत्माऽसौ रसः सार आनन्दरूप इत्यर्थः । रसमानन्दरूपं ब्रह्म लब्ध्वा ब्रह्माहमस्मीति ज्ञानेन प्राप्यानन्दी भवतीत्यपरिच्छिन्ननिरतिशयसुखवान्भवति । उक्तमर्थं व्यतिरेकप्रदर्शनेन द्रढयति—**नान्यथेति** । अन्यथा ब्रह्मात्मैकत्वज्ञानं विहाय साधनान्तरानुष्ठानेन नानन्दी भवतीत्यर्थः ।। २ ।।

एवमन्त्रमुखेनेष्टप्राप्त्यनिष्टनिवृत्तिप्रतिपादनपराणि वाक्यानि प्रदर्श्यान्वयव्यतिरेकाभ्यामनर्थनिवृत्तिप्रदर्शनपरं "यदा ह्येवैष एतस्मिन्नदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयनेऽभयं प्रतिष्ठां विन्दतेऽथ सोऽभयं गतो भवति यदा ह्येवैष एतस्मिन्नुदरमन्तरं कुरुतेऽथ तस्य भयं भवति" इति वाक्यद्वयमर्थतोऽनुक्रामति—

प्रतिष्ठामिति । अस्यायमर्थः । यदा यस्मिन्काले । हीति विद्वत्प्रसिद्धिप्रदर्शनपरो निपात एवेत्ययमेवानर्थनिवृत्त्युपायो नान्य इति नियमनार्थः । एष मुमुक्षुरेतस्मिन्विद्वदनुभवगम्येऽदृश्य इन्द्रियागोचरेऽनात्म्येऽनात्मीये स्वरूपतया स्वकीयत्वरहिते । अनिरुक्ते निरुक्तं निर्वचनं शब्देनाभिधानं यत्र

विचारजन्याद्वैतब्रह्मात्मैक्यविषयकाप्रतिबद्धसाक्षात्कारद्वारा प्रयोजनं प्रतिपादयदनेकवेदान्तवाक्यवृन्दं संगृह्णन्नादौ क्रमात्तैत्तिरीयछान्दोग्योपनिषदोः प्रसिद्धं 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' इति 'तरति शोकमात्मवित्' इति वाक्यद्वयमर्थतः पठति—**ब्रह्मविदिति** । ननु सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मेति स्वरूपलक्षणवाक्यात्सत्यादिलक्षणब्रह्मविदः परशब्दितोत्कटवस्तुप्राप्तिरेवोक्तवाक्यात्प्रतीयते न तूक्तसुखावाप्तिरपीत्यतस्तैत्तिरीयकमेव 'रसो वै सः । रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवतीति वाक्यान्तरमप्यर्थतो निबन्धाति—**रस इति** ।। २ ।।

एवं निरुक्तदुःखनिवर्तकमपि तदीयमेवान्वयव्यतिरेकघटितं वाक्यद्वयम्—'यदा

वायुः सूर्यो वह्निरिन्द्रो मृत्युर्जन्मान्तरेन्तरम् ।
कृत्वा धर्मं विजानन्तोऽप्यस्माद्भीत्या चरन्ति हि ॥ ४ ॥

नास्ति तदनिरुक्तं तस्मिन्ननिलयने निलीयतेऽस्मिन्निति निलयनमाधारः स न विद्यते यस्य तस्मिन्स्वमहिम्नि स्थित इत्यर्थः । अभयमद्वितीयं "द्वितीयाद्वै भयं भवति" इति श्रुतेर्भयशब्देनात्र भयहेतुर्भेदो लक्ष्यते न विद्यते भयं भेदो यथा भवति तथा प्रतिष्ठां प्रकर्षेण संशयविपर्ययराहित्येन स्थितिर्ब्रह्माहमस्मीत्यवस्थानं प्रतिष्ठा तां विन्दते गुरूपसत्त्यादिना श्रवणादिकं कृत्वा लभतेऽथ तदानीमेव स एवं विद्वानभयं भयरहितं मोक्षरूपमद्वितीयं ब्रह्म गतः प्राप्तो भवति "ब्रह्म विद् ब्रह्मैव भवति" इति श्रुतेः । यदा यस्मिन्नेव काल एष पूर्वोक्त एतस्मिन्नदृश्यत्वादिगुणके प्रत्यगभिन्ने ब्रह्मणि । उदितिनिपातोऽपिशब्दार्थः । अरमुदल्पमप्यन्तरं भेदमुपास्योपासकादिलक्षणं कुरुते पश्यति धातूनामनेकार्थत्वादथ तदानीमेव तस्य भेददर्शिनो भयं संसारप्रयुक्तं दुःखं भवति ॥ ३ ॥

भेददर्शिनां भयं भवतीत्येतदृढीकर्तुं ब्रह्मात्मै[illegible]नरहितानां वाय्वादीनां भयप्रदर्शनपरं भीषाऽस्माद्वातः पवत इत्यादिमन्त्रमर्थतः पठति—

वायुरिति । वाय्वादयो जगन्नियामकत्वेन प्रसिद्धाः पञ्चापि देवता अतीते जन्मनि धर्ममिष्टापूर्तादिलक्षणं विजानन्तोऽपि ज्ञानपूर्वकमनुष्ठितवन्तोऽप्यन्तरं प्रत्यग्ब्रह्मणोर्भेदं कृत्वाऽस्माद्ब्रह्मणो भीत्याऽस्मिन्वाय्वादिजन्मनि चरन्ति स्वस्वव्यापारेषु सदा प्रवर्तन्ते । हि शब्देन "भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः । भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः" इतिकठश्रुतौ यमेनोक्तां प्रसिद्धिं दर्शयति ॥ ४ ॥

ह्येवैष एतस्मिन्नदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयनेऽभयं प्रतिष्ठां विन्दते अथ सोऽभयं गतो भवति यदा ह्येवैष एतस्मिन्नुदरमन्तरं कुरुते अथ तस्य भयं भवति" इत्यर्थतोऽनुसंगृह्णाति—प्रतिष्ठामिति ॥ ३ ॥

एवं भेददर्शिनो भयं क दृष्टमित्यपेक्षायाम् । "भीषाऽस्माद्वातः पवते भीषादेति सूर्यः भीषाऽस्मादग्निश्चेन्द्रश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः" इतीति तदीयवाक्येनैवार्थद्वारा समाधत्ते—वायुरिति । विजानन्तोऽपि विशेषेण साध्यानुष्ठानलक्षणेन जानन्तोऽपि कार्यकारणस्वरूपैः प्रमिण्वाना अपीत्यर्थः । अस्मादन्तर्यामिणः सकाशात् । चरन्ति हि स्वस्वकार्येषु प्रवर्तंत एवेति यावत् ॥ ४ ॥

आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्न बिभेति कुतश्चन ।
एतमेव तपेन्नैषा चिन्ता कर्माग्निसंभृता ।। ५ ।।

एवं विद्वान्कर्मणी द्वे हित्वाऽऽत्मानं स्मरेत्सदा ।
कृते च कर्मणी स्वात्मरूपेणैवैष पश्यति ।। ६ ।।

ननु तरति शोकमात्मविदित्यादिषूदाहृतवाक्येषु ब्रह्मानन्दज्ञानस्यानर्थनिवृत्तिहेतुत्वं स्पष्टं नावभासत इत्याशङ्क्य तथा प्रतिपादनपरं वाक्यमुदाहरति—

आनन्दमिति । राहोः शिर इत्यादिवद्भेदव्यपदेश औपचारिकः । ब्रह्मणः स्वरूपभूतमानन्दं विद्वानपरोक्षतया जानन्पुरुषः कुतश्चन कस्मादप्यैहिकभयहेतोर्व्याघ्रादेः पारलौकिकभयहेतोः पापादेर्वा न बिभेति भयं न प्राप्नोति । ननु तत्त्वविदः पापादेर्भयं नास्तीत्येतत्कुतोऽवगम्यत इत्याशङ्क्य तत्प्रतिपादकम्—"एतँ ह वाव न तपति किमहँ साधु नाकरवं किमहं पापमकरवम्" इति वाक्यमर्थतः पठति—**एतमिति**। कर्माग्निसम्भृता पुण्यपापरूपकं कर्मैवाग्निः । अकरणकरणाभ्यामग्निवत्संतापहेतुत्वात् । तेन सम्भृता पुण्यपापरूपकं कर्मैवाग्निः । अकरणाभ्यामग्निवत्सन्तापहेतुत्वात् । तेन संभृता सम्पादिता एषा पुण्यं नाकरवं कस्मात्पापं तु कृतवान्कुत इत्येवंरूपा चिन्ता । एतमेव तत्त्वविदमेव न तपेन्न सन्तापयेन्नान्यमविद्वांसं स तु तया चिन्तया सदा सन्तप्यत इत्यर्थः ।। ५ ।।

पुण्यपापयोरतापकत्वे हेतुप्रदर्शनपरं "स य एवं विद्वानेते आत्मानँ स्पृणुते" "उभे ह्येवैष एते आत्मानँ स्पृणुते" इति वाक्यद्वयमर्थतः पठति—**एवमिति** । स यः कश्चित्पुमानेवमुक्तेन प्रकारेण स यश्चायं पुरुषे

एवं 'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् । न बिभेति कुतश्चनेति' इति तदीयमेव वाक्यमभयप्राप्तौ पठति—आनन्दमिति । ब्रह्मण इति षष्ठी राहोः शिर इत्यादिवदौपचारिक्येव । कुतश्चनैहिकाद्देहनिर्वाहादेः पारत्रिकादकृतात्पुण्यात्कृतात्पापाच्चेत्यर्थः । अत एव । "एतँ ह वाव न तपति । किमहँ साधु ना करवम् । किमहं पापमकरवमिति" इति । तद्वाक्यार्थमाह—एतमेवेति । एषा वक्ष्यमाणा । कर्मेति । कर्मैवाग्निः पुण्यपापरूपं कर्मैवाकृतत्वाकृतत्वाभ्यां सन्तापकत्वाद्वह्निस्तेन सम्भृता परिपुष्टा । न तपेन्न दहेत् ।। ५ ।।

ननु कर्माग्निसंभृतचिन्तयाऽऽदौ सामान्यतस्ताप एव कस्माद्धेतोर्ब्रह्मविदो न भवतीत्युच्यत इत्याशङ्क्य "स य एवं विद्वानेते आत्मनं स्पृणुते । उभे ह्येवैष एते आत्मानँ

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे ॥ ७ ॥

यश्चासावादित्ये स एक इत्यनेन प्रकारेण विद्वाञ्ज्ञानन्प्रवर्तते स एते पुण्यपापे हित्वेत्यध्याहारः । आत्मानं ब्रह्माभिन्नं प्रत्यञ्चं स्पृणुते प्रीणयति सदा स्मरेदित्यर्थः । यतः पुण्यपापयोर्मिथ्यात्वानुसन्धानेन हानं कृतमतस्तद्विषया चिन्तैव नास्ति । कुतस्तन्निमित्तकस्ताप इत्यभिप्रायः । किञ्च 'एष विद्वानेते पूर्वोक्ते उभे पुण्यपापरूपे कर्मणी देहेन्द्रियादिप्रवृत्त्या जनिते स्वात्मानुरूपेणेवेदं सर्वं यदयमात्मा' इत्यादिवाक्योक्तप्रकारेण पश्यति जानातीत्यर्थः । अतः स्वात्माभिन्नत्वादप्यतापकत्वमिति भावः ॥ ६ ॥

ननु "नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि" इत्यादिशास्त्रसद्भावादनादौ संसारे बहुजन्मोपार्जितेषु पुण्यापुण्यलक्षणेषु कर्मस्वसंख्यातेष्वप्रसिद्धत्वेनाऽऽत्मतयाऽनुसन्धानायोग्येषु सत्सु कथं तद्विषया चिन्ता न भवेदित्याशङ्क्य सनिदानानां तेषां तत्त्वज्ञानेन विनाशित्वान्न चिन्ताजनकत्वमित्यभिप्रायेण हृदयग्रन्थ्यादिनिवृत्तिपरं मुण्डकादिश्रुतिषु स्थितं वाक्यं पठति—

भिद्यत इति। परावरे परमपि हिरण्यगर्भादिकं पदमवरं निकृष्टं यस्मात्तस्मात्परात्मनि दृष्टे साक्षात्कृते। अस्य साक्षात्कारवतो हृदयस्य बुद्धेश्चिदात्मनश्च ग्रन्थिवद्दृढसंश्लेषरूपत्वाद्ग्रन्थिरन्योन्याध्यासो भिद्यते

स्पृणुते" इति प्रागुक्तश्रुतिवाक्यशेषमर्थतः पठन्समाधत्ते—एवं विद्वानिति। द्वे पुण्यादिरूपत्वेन द्विप्रकारे। हित्वा संन्यस्य मिथ्यात्वेन वा त्यक्त्वेत्यर्थः। नन्वात्मज्ञानोत्तरकालयोस्तयोरस्त्वेवं व्यवस्था क्रियमाणाख्योरथापि तत्प्राक्कालिकत्वेन सञ्चिताख्ययोस्तयोः का गतिरित्यत आह—कृते चेति ॥६॥

नन्वनन्तसञ्चितकर्मणां परोक्षाणामात्मत्वेनानुसन्धानं कथं समुचितमित्यस्वरसात्तत्त्वज्ञानोत्तरक्षण एव स्वप्नकृतब्रह्महत्याश्वमेधयोर्जागरइव तद्ध्वंसप्रतिपादिकां मुण्डकश्रुतिमेव पठति—भिद्यत इति। एतदर्थस्तूक्तोऽनुभूतिप्रकाश एव—"परमव्याकृतं यस्मादवरं स्याच्चिदात्मनः। दृष्टे तस्मिन्नहङ्कारचितोग्रन्थिर्विभिद्यते। अहङ्कारस्य कर्तृत्वं चित्यध्यस्य तथा चितः। स्फूर्तिं चाहङ्कृतो ग्रन्थिं कुर्यान्माया तयोर्दृढम्। भिन्ने ग्रन्थौ विवेकेन संशया ब्रह्मतत्त्वगाः। छिद्यन्ते स्याद्भाविजन्महेतुकर्मक्षयस्तथा" इति। एवमेव भगवद्गीताऽपि—"यथैधान्सि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन। ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा" इति। अत्र टीका मधुसूदनी—यथैधान्सि काष्ठानि। समृद्धः प्रचलितः। अग्निर्भस्मसात्कुरुते भस्मीभावं नयति। हेऽर्जुन। ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि

विदीर्यंते विनश्यतीत्यर्थः । सर्वसंशया आत्मा देहादिव्यतिरिक्तो न वा, व्यतिरिक्तोऽपि कर्तृत्वादिधर्मयोगी न वा, अकर्तृत्वेऽपि तस्य ब्रह्मणो भेदोऽस्ति न वा, अभेदेऽपि तज्ज्ञानं कर्मादिसहितं मुक्तिसाधनं केवलं वेत्यादयः ।

पापानि पुण्यानि च विशेषेण प्रारब्धफलभिन्नानि भस्मसात्कुरुते तथा तत्कारणाज्ञानविनाशेन विनाशयतीत्यर्थः । तथा च श्रुतिः—"भिद्यते हृदयग्रन्थिच्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः । क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे" इति । "**तदधिगम उत्तरपूर्वार्धयोरश्लेषविनाशौ तद्व्यपदेशात्**" "इतरस्याप्येवमसंश्लेषः पाते तु" इति **च सूत्रे**। अनारब्धे पुण्यपापे नश्यत एवेत्यत्र सूत्रम्—'अनारब्धकार्ये एव तु पूर्वे तदवधेः' इति । ज्ञानोत्पादकदेहारम्भकाणां तु तद्देहान्त एव विनाशः "**तस्य तावदेव चिरं यावन्न** विमोक्ष्ये अथ सम्पत्स्ये" इति श्रुतेः। "भोगेन त्वितरे क्षपयित्वा सम्पद्यते" इति सूत्राच्च। अधिकारिकाणां तु यान्येव ज्ञानोत्पादकदेहारम्भकाणि तान्येव देहान्तरारम्भकाण्यपि । यथा वसिष्ठावान्तरतमःप्रभृतीनाम्। तथा च सूत्रं—"यावदधिकारमवस्थितिराधिकारिकाणाम्" इति । अधिकारोऽनेकदेहारम्भकं बलवत्प्रारब्धफलं कर्म । तच्चोपासकानामेव नान्येषाम् । अनारब्धफलानि नश्यन्ति तु यावद्भोगसमाप्तिः तिष्ठन्ति । भोगश्चैकेन देहेनानेकेन वेति न विशेषः विस्तरस्त्वाकरे द्रष्टव्य इति । **अत्राऽऽचार्यसरस्वतीचरणैः** प्रारब्धफलभिन्नानीति सर्वकर्मणां विशेषणं यन्न्यवेशि तदस्मदाद्यर्वाग्दर्शिदृष्ट्यनुसारेणैव । अत एवानुभूतिप्रकाशे भाविजन्महेतुकर्मक्षयस्तथेत्येवोक्तम् । प्रारब्धफलानां हि कर्मत्वस्यैव फलत्वेनाभावात् । न ह्यङ्कुरादिदशायां व्रीहिपरिणामेऽप्यङ्कुरादौ व्रीहित्वं दृश्यते । न वा तन्तुत्वमापन्नः कार्पासोऽपि कार्पासत्वेन व्यवह्रियते । अन्यथा स्थण्डिलार्थं मृदमाहरेति नियुक्तो देवदत्तः कपालादिकमप्यानयेत् । तस्मादुक्तविशेषणं नैव तेषां स्वाभिमतत्वेनेत्यस्मद्गुरुपुत्राः पूर्णायुषः पाण्डुरङ्गशास्त्रिणः । एवं तच्चोपासकानामेव नान्येषामित्यपि स्थूलबुद्ध्यभिप्रायेणैवोक्तम् । अन्यथा—"कार्तिक्यां कृत्तिकायोगे यः कुर्यात्स्वामिदर्शनम् । सप्तजन्म भवेद्विप्रो धनाढ्यो वेदपारगः" इति **स्मृतेः** पुरा केनचित्पुरुषेण तादृग्योगे **श्रीशैले** भगवतः **स्कन्दस्य** दर्शनमकारि तेन पुण्येन देवान्मरणोत्तरमिह धनाढ्यो वेदशब्दलक्षितस्वशाखाध्ययनपूर्वकं प्राक्तनानन्तजन्मसञ्चितान्तर्याम्येकार्पणीकृतयथावत्तन्त्रगन्धविधुरसकलकाम्यनिषिद्धशून्यस्वस्ववर्णाश्रमोचितयावच्छ्रौतस्मार्तनित्यादिकर्मभिश्चित्तशुद्धौ नित्यादिविविदिषायां यावदुपयोगं व्याकरणतर्कमीमांसाः समभ्यस्य सञ्जातनित्यानित्यविवेकजनितैहिकादिनिखिलविषयवैरस्य प्रोद्भूतशमादिसाधनषट्कात्तीव्रतमब्रह्मजिज्ञासया यथोक्तलक्षणं श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठमाचार्यवरिष्ठं शरणीकृत्य विचारितचतुर्लक्षण्याऽपगतप्रमाणाद्यसम्भावनालक्षणचतुर्विधप्रतिबन्धादद्वैताचार्यभगवत्पादपादविवृतरीत्यैव स्वशाखीयाद्विचारितान्महावाक्यात्सञ्जातद्वैतब्रह्मात्मैक्यसाक्षात्कारः प्रध्वस्तमूलविद्यानान्तरीयकसिद्धनिखिलद्वैतबाधः संन्यासवत्प्रारब्धफलोपभोगं जीवन्मुक्त एवासौ विहरति चेत्तस्य धनाढ्यत्वादिविशिष्टसप्तजन्मपदनिरुक्तस्वामिदर्शनजन्येश्वरपरितोषरूपधर्मापराभिधपुण्यापूर्वफलोपभोगमध्येयमेकजन्मोपभोगः सम्पन्नस्तेनावशिष्टजन्मषट्कं वसिष्ठादिवदनुपासकस्यापि तस्य जीवन्मुक्ततयैव भवेदित्यवश्यमेवेति

तमेव विद्वानत्येति मृत्युं पन्था न चेतरः।
ज्ञात्वा देवं पाशहानिः क्षीणैः क्लेशैर्न जन्मभाक् ॥ ८ ॥

च्छिद्यन्ते द्वैधीक्रियन्ते। तत्त्वतः साक्षात्कृतस्य वस्तुनः संशयविपर्ययविषयत्वादर्शनादिति भावः। कर्माणि संचितानि पुण्यापुण्यलक्षणानि। क्षीयन्ते स्वनिदानाज्ञानविनाशेन विनश्यन्तीति ॥ ७ ॥

ननु "कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः। एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे। विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयँ सह। अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते" इत्यादिश्रुतेः "कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः" "यथाऽन्नं मधुसंयुक्तं मधु चान्नेन संयुतम्। एवं तपश्च विद्या च संयुक्तं भेषजं महत्" इत्यादिस्मृतेश्च केवलस्य वा ज्ञानसमुच्चितस्य वा कर्मणो मुक्तिहेतुत्वं स्यादित्याशङ्क्योदाहृतवाक्यस्थलेऽपि तपःशब्दस्य पापनिवृत्तिपरत्वादाङ्शब्दस्य च पापेऽनिवृत्तिपरत्वात्संसिद्धिशब्देन च ज्ञानसाधनचित्तशुद्धयभिधानाद्विद्याशब्देन चोपासनाया विवक्षितत्वान्न कर्मणां मुक्तिसाधनत्वमित्यभिप्रायेण साधनान्तरनिषेधपरं "तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय" इति श्वेताश्वतरवाक्यमर्थतः पठति—

तत्र का गतिः। न चैवं तर्हीदानीन्तनानामपि दैवात्केषाञ्चिद्ब्रह्मविदां ब्राह्मणानां निरुक्तरीत्या स्वामिदर्शनजब्राह्मण्यसम्भावनयाऽग्रे द्वित्रादिजन्मसम्भवानिर्णयादतिदुःखापत्तिरिति साम्प्रतम्। यथोक्तधनाढ्यत्वादिगुणशालित्वसत्त्वे त्विष्टापत्तेः सम्भावितद्वित्रादिसप्तावधिकजन्मादिदुःखस्य तु जीवन्मुक्त्यानन्देनैव तृणीकारात्प्रत्युतोपासनां विनैव च वसिष्ठादिवदेव बहुजन्मस्वपि निर्णीतजीवन्मुक्तिविलासानन्दाधिक्यसन्तोषविशेषस्यैव सम्भावितत्वाच्च। परन्त्वतिदुरन्तरकलिकालेऽद्य तावद्विप्राणां धनाढ्यत्वमेव सुदुर्लभं क्वचित्तत्सत्त्वेऽपि वेदपारगत्वं तु सुदुर्लभतरं क्वचित्तदुभयसत्त्वेऽपि निरुक्तरीतिकवास्तविकब्रह्मवित्त्वं तु सुदुर्लभतममेव। नन्वथापि द्वित्रिवर्षोत्तरं निरुक्तयोगः समायात्येव तत्र च सहस्रशः पुरुषाः श्रीशैले श्रीस्कन्ददर्शनं कुर्वन्त्येव ते च मृताः सर्वेऽपि सप्तजन्मपर्यन्तं भरतवर्ष एवास्मिन्धनाढ्या वेदपारगाः कुतो नोपलभ्यन्ते वेदपारगत्वान्यथानुपपत्तिसिद्धब्रह्मविद्याशालिनश्च शतश इति चेन्न। उक्तस्मृतावेतज्जन्माव्यवहितोत्तरमेव सप्तजन्म भवेद्विप्र इत्यादिनियमानुक्तेः स्वर्गकामो यजेत्यादिवत्तत्कल्पनेऽपि कर्मप्राबल्यदौर्बल्यस्यासर्वज्ञदुर्ज्ञेयत्वात्स्वामिदर्शनोत्तरं हि काशीमरण एव जाते ब्रह्मवधसुरापानाद्यन्यतममहापातके वा सञ्जाते क्रमात्तद्ध्वंसतत्प्रतिबन्धयोरपि सम्भवाच्च। तस्माद्युक्तमेवोपासकब्रह्मविदामपि धनाढ्यत्ववेदपारगत्वविशिष्टब्रह्मविरवसत्त्व एवानेकजन्मोपभोग्यकर्मफलकल्पनसम्भव इति। उपासनमत्र वैदिकमेवेति सकलमप्यनाविलम् ॥ ७ ॥

देवं मत्वा हर्षशोकौ जहात्यत्रैव धैर्यवान् ।
नैनं कृताकृते पुण्यपापे तापयतः क्वचित् ॥ ९ ॥

तमेवेति । तं पूर्वोक्तं परमात्मानं विद्वानेव मृत्युं संसारमत्येत्यतिक्रामति । इतरः समुच्चयरूपः केवलः कर्मरूपो वा पन्था मार्गो मोक्षोपायो न च नैव विद्यते । ननूदाहृतासु श्रुतिष्वन्वयव्यतिरेकाभ्यामैहिकानिष्टनिवृत्तिरेव प्राधान्येनावभासते नामुष्मिकीत्याशङ्क्यामुष्मिकस्यानिष्टस्य भाविजन्मपूर्वकत्वात्तस्य सनिदानस्याभावप्रतिपादकं "ज्ञात्वा देवं सर्वपाशापहानिः क्षीणैः क्लेशैर्जन्ममृत्युप्रहाणिः" इति श्वेताश्वतरवाक्यमर्थतः पठति—ज्ञात्वेति । देवं स्वप्रकाशं प्रत्यगभिन्नं ब्रह्म ज्ञात्वा परोक्षतयाऽनुभूय स्थितस्य कामक्रोधादीनां सर्वेषां पाशानां हानिर्भवति तैः पाशशब्दाभिधेयै रागादिभिः क्लेशैः क्षीणैर्नष्टैर्भाविजन्महेतुकर्मारम्भायोगाच्च तत्र प्राप्नोतीत्यर्थः ॥ ८ ॥

ननु शोकतरणादिफलं श्रूयत एव नानुभूयते ज्ञानिनामपीष्टानिष्टप्राप्तिपरिहारार्थं प्रवृत्तिदर्शनादित्याशङ्क्य दृढापरोक्षज्ञानिनां तदभावप्रतिपादनपरम् "अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति" इति कठश्रुतिवाक्यमर्थतः पठति—

ननु "कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः" इति श्रुतेः। "कर्मणैव हि सन्सिद्धिमास्थिता जनकादयः" इतिस्मृतेश्च कर्मणैव सकलदुःखोपशमपूर्वकसम्पूर्णसुखावाप्तिसम्भवादुक्तश्रुतीनां ज्ञानसंस्तावकत्वात् "विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह" इत्यादिश्रुतेः "उभाभ्यामेव पक्षाभ्यां यथा खे पक्षिणां गतिः। तथैव ज्ञानकर्मभ्यां प्राप्यते शाश्वती गतिः" इतिस्मृतेश्च ज्ञानकर्मसमुच्चयानुष्ठानत एवोक्तपुरुषार्थसम्भवोऽस्त्वित्याशङ्क्य 'तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' इति श्रुतित एव समाधातुं श्वेताश्वतरीयां तामर्थतः पठति—तमेवेति। तमेवाद्वैतब्रह्मरूपमात्मानमेव विद्वानेव मृत्युं तत्कारणीभूतामविद्यां तद्व्याप्य तत्कार्यात्मकमखिलदृश्यजालं, अत्येत्यहं ब्रह्मास्मीत्यबाधितापरोक्षज्ञानेन बाधित्वोक्तरूपात्मतत्त्वलक्षणं मोक्षं प्राप्नोतीत्यन्वयः। विदित्वैवेत्येवकारान्वये मानमाह—पन्था इत्यादिना। तत्र तदीयमेवैहिकामुष्मिकनिखिलदुःखनिवृत्तिप्रतिपादनपरं "ज्ञात्वा देवं सर्वपाशापहानिः क्षीणैः क्लेशैर्जन्ममृत्युप्रहाणिः" इतिवाक्यमर्थतः संग्रथयति—ज्ञात्वेति। देवं स्वप्रकाशमद्वैतात्मानमित्यर्थः। "घृणा शङ्का भयं लज्जा जुगुप्सा चैव पञ्चमी। कुलं जातिश्च शीलं चेत्यष्टौ पाशाः प्रकीर्तिताः" इति वचनात्कारुण्यं करुणाघृणेत्यमरोक्त्या घृणाशब्दितकरुणादीनामपि भरतादौ बन्धप्रसिद्धेः पाशत्वं युक्तमेवेति भावः। क्लेशास्तूक्ताः पतञ्जलिनैव—"अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्च क्लेशाः" इति। अस्मिता सूक्ष्मोऽहङ्कारस्तदेव महत्तत्त्वमित्युच्यते ॥ ८ ॥

इत्यादिश्रुतयो बह्वयः पुराणैः स्मृतिभिः सह ।
ब्रह्मज्ञानेऽनर्थहानिमानन्दं चाप्यघोषयन् ।। १० ।।

देवमिति । धैर्यवान्ब्रह्मचर्यादिसाधनसंपन्नो देवं चिदानन्दादिलक्षणं मत्वाऽवगम्याऽत्रैवास्मिन्नेव जन्मनि हर्षशोकौ जहाति "एतमेव तपेन्नैषा चिन्ता कर्माग्निसंभृता" इत्युक्तार्थे विशेषप्रदर्शनपरं "नैनं कृताकृते तपतः" इति याज्ञवल्क्यब्राह्मणवाक्यमर्थतः पठति—**नैनमिति** । पूर्वमकृतं पुण्यं कृतं च पापं तत्त्वविदस्तापहेतुर्न भवतीत्युक्तमिह तु कृतमकृतं वा पुण्यं पापं वा तथाविधं तापकं न भवतीत्युच्यत इति विशेषः । तथा हि तापो नाम चित्तविकारविशेषः । पुण्यं कृतं सद्धर्षलक्षणं विकारमुत्पादयत्यकृतं विषादं पापं पुनस्तद्वैपरीत्येनाकृतं हर्षमुत्पादयति कृतं विषादं तत्त्वविदस्तूभे अप्युभयविधविकारहेतू न कदाचिद्भवतः अविक्रियब्रह्मरूपत्वज्ञानादित्यभिप्रायः ।। ९ ।।

नन्वियन्त्येव वाक्यानि प्रमाणानि नेत्याह—

इत्यादिश्रुतय इति । आदिशब्देन "इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः" "य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्त्यथेतरे दुःखमेवापियन्ति" "तद्यो यो देवानां प्रत्यबुद्धयत स एव तदभवत्" "निचाय्य तं मृत्युमुखात्प्रमुच्यते" इत्याद्याः श्रुतयो गृह्यन्ते "सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चाऽऽत्मनि । संपश्यन्नात्मयाजी वै स्वाराज्यमधिगच्छति । क्षेत्रज्ञस्याऽऽत्मविज्ञानाद्विशुद्धिः परमा मता" इत्यादिपुराणस्मृतिवचनैः सह प्रमाणानीत्यर्थः । उदाहृतानां श्रुतिस्मृतिपुराणवाक्यानां सर्वेषां तात्पर्यमाह—**ब्रह्मज्ञान इति** ।। १० ।।

ननु शोकतरणादिश्रुत्योक्तमपि नानुभूयत इत्यतः **कठवल्लीस्थं**—"अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति" इति वाक्यमर्थतः पठति—**देवमिति** । एवं प्रागुक्तमपि पुण्यादेरतापकत्वं नैनं कृताकृते तपत इति **काण्वश्रुत्या** विशेषेणाऽऽह—**नैनमिति** । कृतं पुण्यं हर्षदं पापं शोकदम् । अकृतं पुण्यं शोकदं पापं हर्षदमित्युभे अपि तत्त्वविद उभयविधविकाररूपतापप्रदे न भवत इति भावः ।। ९ ।।

उपसंहरति—**इत्याद्येति** । आदिना ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवतीति ।। १० ।।

आनन्दस्त्रिविधो ब्रह्मानन्दो विद्यासुखं तथा ।
विषयानन्द इत्यादौ ब्रह्मानन्दो विविच्यते ।। ११ ।।

भृगुः पुत्रः पितुः श्रुत्वा वरुणाद्ब्रह्मलक्षणम् ।
अन्नप्राणमनोबुद्धीस्त्यक्त्वाऽऽनन्दं विजज्ञिवान् ।। १२ ।।

ननु ब्रह्मानन्द इत्यानन्दपदस्य ब्रह्मपदेन विशेषणादानन्दान्तरमस्तीत्यवगम्यते स कतिविधः कीदृशश्चाऽऽनन्द इत्याकाङ्क्षायां तद्भेददर्शनपूर्वकं ब्रह्मानन्दविवेचनं प्रतिजानीते—

आनन्द इति । ब्रह्मानन्दो विषयानन्द इत्यनेन प्रकारेणाऽऽनन्दस्य त्रैविध्यमस्वातन्त्र्यं तत्रेतरयोरानन्दयोर्ब्रह्मानन्दमूलत्वादादावध्यायत्रयेण ब्रह्मानन्दो विभज्य प्रदर्श्यत इत्यर्थः ।। ११ ।।

तत्राऽऽदौ तावत्तैत्तिरीयश्रुतिपर्यालोचनायामानन्दरूपं ब्रह्मावगम्यत इत्यभिप्रायेण भृगुवल्ल्या अर्थं संक्षेपेण दर्शयति—

भृगुरिति । भृगुनामकः पुत्रः पितुर्वरुणाख्याद्ब्रह्मलक्षणं "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद्विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्म" इत्येवं रूपं श्रुत्वाऽन्नमयादिकोशेषु तल्लक्षणासंभवेन तेषामब्रह्मत्वं निश्चित्याऽऽनन्दमानन्दमयकोशे पञ्चमावयवत्वेन 'ब्रह्मपुच्छं प्रतिष्ठा' इति श्रुतं बिम्बभूतमानन्दं ब्रह्मलक्षणयोजनाया ब्रह्मत्वेन ज्ञातवानित्यर्थः ।। १२ ।।

एवं प्रतिज्ञातब्रह्मानन्दाभिधपञ्चदशी चरमांशरूपपञ्चाध्यायात्मके ग्रन्थेऽत्र निरतिशयसुखावाप्तिपूर्वकनिखिलदुःखनिवृत्तिलक्षणं प्रयोजनं प्रमाणैः प्रमेयीभूतब्रह्मात्मैक्यविषयकप्रमया प्रतिपाद्यब्रह्मानन्दमित्यत्राऽऽनन्दस्य ब्रह्मपदेन विशेषणादानं पादान्तरसद्भाव(?)सम्भावनायां सत्यां स कतिविध इत्याकाङ्क्षां क्षपयितुं तत्त्रैविध्यं विधत्ते—**आनन्द इति** । एतेन विषयानन्द एवान्येषां वासनानन्दादीनामप्यन्तर्भाव इति द्योत्यते । भवत्वेवं ततः किं प्रकृत इत्यत आह—**ब्रह्मेति** । एवं च पञ्चस्वप्यध्यायेष्वयोगानन्दात्मानन्दाद्वैतानन्दविद्यानन्दविषयानन्देषु क्रमात्तत्पदार्थत्वंपदार्थविवेचनतदैक्यबोधनतज्जन्यसुखसार्वदिकतदनुसन्धानसाधनान्येव प्राधान्येन प्रतिपाद्यानि सन्तीति ध्वन्यते ।।११।।

तत्र प्रतिज्ञाते ब्रह्मानन्दविवेचने ब्रह्मण एव मुख्यानन्दरूपत्वे भृगुवल्लीं प्रमाणयति—भृगुरिति ।। १२ ।।

आनन्दादेव भूतानि जायन्ते तेन जीवनम् ।
तेषां लयश्च तत्रातो ब्रह्मानन्दो न संशयः ॥ १३ ॥

भूतोत्पत्तेः पुरा भूमा त्रिपुटीद्वैतवर्जनात् ।
ज्ञातृज्ञानज्ञेयरूपा त्रिपुटी प्रलये हि नो ॥ १४ ॥

कथमानन्दे तल्लक्षणं योजितवानित्याशङ्क्य तद्योजनाप्रकारदर्शनपरम् "आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते, आनन्देन जातानि जीवन्ति, आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्ति" इतिवाक्यमर्थतः पठति—

आनन्दादिति । ग्राम्यधर्मनिमित्तकानन्दादेव भूतानि प्राणिनो जायन्त उत्पद्यन्ते तेन विषयभोगादिनिमित्तकेनाऽऽनन्देन जीवनं प्राप्नुवन्ति तेषां प्राणिनां लयश्च तत्र तस्मिन्सुषुप्तिकालिके स्वस्वरूपभूत आनन्द एव भवति सुषुप्तावानन्दातिरेकेण कस्याप्यनुभवाभावादत आनन्दो ब्रह्मैव सर्वानुभवसिद्धत्वान्नात्र संशयः कर्तव्य इति भावः ॥ १३ ॥

एवं तैत्तिरीयश्रुतिपर्यालोचनया ब्रह्मण आनन्दरूपतां प्रदर्श्य छान्दोग्यश्रुतिपर्यालोचनयाऽपि तां दिदर्शयिषुः **सनत्कुमारनारदसंवादरूपे सप्तमाध्याये** स्थितस्य भूमरूपब्रह्मप्रतिपादकस्य "यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमा" इत्यादिवाक्यस्यार्थं संक्षेपेणाऽऽह—

भूतोत्पत्तेरिति । भूतानामाकाशादीनां तत्कार्याणां जरायुजाण्डजादीनां चोत्पत्तेः पूर्वं त्रिपुटीद्वैतवर्जनात्त्रयाणां ज्ञातृज्ञानज्ञेयरूपाणां पुटानामाकाराणां समाहारस्त्रिपुटी सैव द्वैतं तस्य वर्जनमभावस्तस्माद् भूमा देशतः कालतो वस्तुतो वा परिच्छेदशून्यः परमात्मा 'भावानयने द्रव्यानयनम्' इति न्यायाद् भूमैवाऽऽसीदित्यध्याहारः । तदेव द्वैतवर्जनमुपपादयति—**ज्ञातृज्ञानेति** । वक्ष्यमाणज्ञात्रादिरूपा त्रिपुटी प्रलयकाले नास्तीत्येतत्सर्ववेदान्तसम्मतमिति हि शब्दं प्रयुञ्जानस्यायमभिप्रायः ॥ १४ ॥

तत्र हेतुः—**आनन्दादेवेति** ॥ १३ ॥

पञ्चमहाभूताविर्भावात्प्रागित्यर्थः । तत्र हेतुः—**ज्ञात्रिति** ॥ १४ ॥

विज्ञानमय उत्पन्नो ज्ञाता ज्ञानं मनोमयः ।
ज्ञेयाः शब्दादयो नैतत्त्रयमुत्पत्तितः पुरा ।। १५ ।।
त्रयाभावे तु निर्द्वैतः पूर्ण एवानुभूयते ।
समाधिसुप्तिमूर्च्छासु पूर्णः सृष्टेः पुरा तथा ।। १६ ।।
यो भूमा स सुखं नाल्पे सुखं त्रेधा विभेदिनि ।
सनत्कुमारः प्राहैवं नारदायातिशोकिने ।। १७ ।।

इदानीं ज्ञात्रादिस्वरूपं दर्शयति—

विज्ञानमय इति । परमात्मन उत्पन्नो बुद्ध्युपाधिको जीवो विज्ञानमयो ज्ञाता मनोमयो मनसि प्रतिबिम्बितं मनोमयशब्दवाच्यं चैतन्यम् ज्ञानं शब्दस्पर्शादयो ज्ञेयाः प्रसिद्धाः, इदं त्रयं कार्यत्वादुत्पत्तेः पुरा कारणव्यतिरेकेण नास्तीत्यर्थः ।। १५ ।।

फलितमाह—

त्रयेति । ज्ञात्रादित्रयाभावे निर्द्वैतो द्वैतरहितः पूर्ण एवाऽऽत्माऽनुभूयत इत्यात आह—**समाधीति** । विद्वदनुभवप्रदर्शनाय समाधिग्रहणं सर्वानुभवद्योतनाय सुषुप्तिमूर्छयोरुदाहरणं सुषुप्त्याद्युत्थितस्य द्वैतादर्शनस्मरणान्यथानुपपत्त्या निर्द्वैतस्य तदनुभवितुः सिद्धिरिति भावः । भवतु सुषुप्त्यादावद्वैतसिद्धिः प्रकृते किमायातमित्यत आह—**पूर्ण इति** । यथा सुषुप्त्यादौ परिच्छेदकाभावात्पूर्णस्तथा सृष्टेः पुराऽपि तदभावात्पूर्ण इत्यर्थः ।। १६ ।।

अस्तु ब्रह्मणः पूर्णत्वमानन्दरूपत्वं किमायातमित्याशङ्क्यान्वयव्यतिरेकाभ्यां भूम्नः सुखरूपत्वप्रदर्शनपरं "यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति" इति वाक्यमर्थतोऽनुक्रामति—

यो भूमेति । यः पूर्वोक्तो भूमा स सुखरूप एव । अद्वितीये दुःखहेतोरभावात् । अल्पे परिच्छिन्ने तस्यैव विवरणं त्रेधा विभेदिनीति हेतुगर्भं विशेषणं सुखं तत्र न विद्यत इत्यर्थः । एवं कस्मै केनाभिहितमित्यत आह—

तदुपपादयति—**विज्ञानेति** । कोश इति शेषः । **शब्देति** आदिना स्पर्शरूपरसगन्धाः ।। १५ ।।

फलितमाह—**त्रयेति** । **समाधीति** । साक्षिणेत्यार्थिकम् ।। १६ ।।

अस्त्वेवं प्रलयादौ निर्द्वैत आत्मा ततः किं प्रकृत इत्यतो यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्तीति श्रुतिमर्थत आह—**य इति**। एवं तत्र छान्दोग्यसप्तमाध्यायगतां

सपुराणान्पञ्च वेदान् शास्त्राणि विविधानि च ।
ज्ञात्वाप्यनात्मवित्त्वेन नारदोऽतिशुशोच ह ।। १८ ।।
वेदाभ्यासात्पुरा तापत्रयमात्रेण शोकिता ।
पश्चात्त्वभ्यासविस्मारभङ्गगर्वैश्च शोकिता ।। १९ ।।
सोऽहं विद्वन्प्रशोचामि शोकपारं नयात्र माम् ।
इत्युक्तः सुखमेवास्य पारमित्यभ्यधादृषिः ।। २० ।।

सनत्कुमार इति । नारदस्य शिष्यत्वे कारणमाह—अतिशोकिन इति । अतिशयितोऽधिकः शोकोऽस्यास्तीत्यतिशोकी तस्मै ।। १७ ।।

तस्यातिशोकित्वे हेतुमाह—सपुराणानिति । नारदः पुराणैः सह वर्तत इति सपुराणाः पञ्च वेदास्तान्विविधानि च शास्त्राणि विदित्वाऽप्यात्मज्ञानरहितत्वेनातिशयेन शोकं प्राप्तः ।। १८ ।।

ननु वेदशास्त्रविषयकज्ञानस्य शोकनिवर्तकत्वेन प्रसिद्धस्य कथमतिशोकहेतुत्वमित्यत आह—

वेदाभ्यासादिति । तापत्रयेणाऽऽध्यात्मिकादिलक्षणेनैव शोकिता शोकोऽस्यास्तीति शोकी तस्य भावस्तत्ताऽऽसीदित्यध्याहारः । पश्चात्त्विति तु शब्दो विशेषद्योतनार्थः । अभ्यासः पाठाद्यावर्तनम् । विस्मारः पठितस्य विस्मरणम् । भङ्गः स्वतोऽधिकेन तिरस्कारः । गर्वो न्यूनदर्शनेन स्वाधिक्यबुद्धिः । एतैः कारणैः शोकित्वम् ।। १९ ।।

नन्वेवं सर्वज्ञस्यापि नारदस्यातिशोकित्वं जातमिति कुतोऽवगम्यत इत्याशङ्क्य "सोऽहं भगवः शोचामि" इति तदीयादेव वाक्यादवगतमित्यभिप्रेत्य तं मा भगवाञ्शोकस्य पारं तारयत्विति तन्निवृत्त्युपाये तेन पृष्टे सति सनत्कुमारो भूमशब्दवाच्यं सुखरूपं ब्रह्मैव ज्ञायमानं शोकनिवृत्त्युपाय इति सुखं त्वेव जिज्ञासितव्यमित्यारभ्योत्तरग्रन्थसन्दर्भेणोक्तवानित्याह—सोऽहमिति ।। २० ।।

सनत्कुमारविद्यामपि प्रमाणयति—भूमेति । त्रेधा देशकालवस्तुपरिच्छेदैस्त्रिप्रकारमित्यर्थः । विभेदिनि भेदवत्यल्पे द्वैत इत्येतत् ।।१७।।

नारदस्य किमध्ययनाभावाच्छोक इत्याशङ्क्य नेत्याह—सपुराणानिति । प्रसिद्धमेव सर्वमिदं तत्रैव विस्तरभयान्नैवेह प्रपञ्च्यत इति दिक् ।। १८ ।।

तत्र हेतुमाह—वेदेति । तापत्रयं त्वाधिभौतिकादिकं प्रसिद्धमेव ।। १९ ।।

एवं शाब्दिकविद्वत्तायामपि शोकाकुलो नारदः किमकरोदित्यत आह—सोऽहमिति । ऋषिः सनत्कुमारः ।। २० ।।

सुखं वैषयिकं शोकसहस्रेणावृतत्वतः ।
दुःखमेवेति मत्वाह नाल्पेऽस्ति सुखमित्यसौ ॥ २१ ॥

ननु द्वैते सुखं मा भूदद्वैतेऽप्यस्ति नो सुखम् ।
अस्ति चेदुपलभ्येत तथा च त्रिपुटी भवेत् ॥ २२ ॥

माऽस्त्वद्वैते सुखं किं तु सुखमद्वैतमेव हि ।
किं मानमिति चेन्नास्ति मानाकाङ्क्षा स्वयंप्रभे ॥ २३ ॥

ननु स्रगादिजन्येषु सुखेषु बहुषु सत्सु नाल्पे सुखमस्तीत्युक्तिरनुपपन्नेति चेन्न तेषां स्रगादीनां दुःखानुषङ्गेण विषसंपृक्तान्नवद्बहुदुःखरूपत्वस्य मुनिनाऽभिप्रेतत्वादित्याह—सुखमिति ॥ २१ ॥

द्वैते सुखाभावमङ्गीकृत्याद्वैतेऽपि तमाशङ्कते—

नन्विति । तत्रानुपलब्धिं प्रमाणयति—अस्ति चेदिति । अद्वैते यदि सुखं विद्यते तर्हि विषयसुखादिवदुपलभ्येत यतो नोपलभ्यतेऽतो नास्तीत्यर्थः । ननूपलभ्यत इत्याशङ्कमानं प्रत्याह—तथेति । अनुभवस्यानुभवित्रनुभाव्यसापेक्षत्वादद्वैतहानिरिति भावः ॥ २२ ॥

अद्वैतस्य सुखाधिकरणत्वनिषेधमङ्गीकरोति सिद्धान्ती—

माऽस्त्विवति । तत्र हेतुमाह—किं त्विति । हि यस्मात्कारणादद्वैतमेव सुखमतः सुखादिकरणं न भवतीत्यर्थः । अद्वैतं सुखमित्यत्र किं प्रमाणमित्याशङ्कानुवादपूर्वकं तस्य स्वप्रकाशत्वात्प्रमाणप्रश्न एवानुपपन्न इत्याह किं मानमिति ॥ २३ ॥

किं तद्वैषयिकं नेत्याह—सुखमिति ॥ २१ ॥

तत्र शङ्कते—नन्विति । तत्रानुपलब्धिं प्रमाणयति—अस्ति चेदिति । इष्टापत्तिमन्यथानुपपत्त्या प्रत्याह—तथा चेति ॥ २२ ॥

अथ सिद्धान्त्युक्ताशङ्कामङ्गीकृत्य समाधत्ते माऽस्त्विवति । हीति श्रुतिप्रसिद्ध्यर्थम् । साऽपि शक्त्यादिवृत्त्या स्वजन्यप्रमितिविषयतापत्त्या चाद्वैतत्वक्षतेर्न तत्र सञ्चरतीत्यस्याप्रामाणिकत्वं मन्वानः शङ्कते—किमिति । स्वप्रकाशत्वादद्वैतात्मसुखस्य सकलमानानपेक्षत्वमेवेति समाधत्ते—नास्तीत्यादिशेषेण ॥ २३ ॥

स्वप्रभत्वे भवद्वाक्यं मानं यस्माद्भवानिदम् ।
अद्वैतमभ्युपेत्यास्मिन्सुखं नास्तीति भाषते ॥ २४ ॥

नाभ्युपैम्यहमद्वैतं तद्वचोनूद्य दूषणम् ।
वच्मीति चेत्तदा ब्रूहि किमासीद्द्वैततः पुरा ॥ २५ ॥

किमद्वैतमुत द्वैतमन्यो वा कोटिरन्तिमः ।
अप्रसिद्धो न द्वितीयोऽनुत्पत्तेः शिष्यतेऽग्रिमः ॥ २६ ॥

ननु स्वप्रकाशत्वेऽपि किं प्रमाणमित्याशङ्क्य त्वदीयमेव वचनं प्रमाणमित्याह—

स्वप्रभत्व इति। तदुपपादयति—**यस्मादिति**। यतः कारणाद्भवता प्रमाणनैरपेक्ष्येणाद्वैतमभ्युपेत्य सुखमेवाक्षिप्यतेऽतः स्वप्रभत्वमित्यर्थः ॥२४॥

न मया द्वैतमभ्युपगम्यते किन्तु त्वदुक्तमद्वैतमनूद्य दूष्यतेऽतो नोक्तसिद्धिरिति शङ्कते—

नाभ्युपैमीति। विकल्पासहत्वादद्वैतानभ्युपगमोऽनुपपन्न इति मन्वानः पृच्छति—**तदेति** ॥ २५ ॥

किंशब्दसूचितं विकल्पं दर्शयति—

किमद्वैतमिति। तृतीयं पक्षं निराकारोति—**अन्तिम इति**। द्वैताद्वैतविलक्षणस्य रूपस्य लोकेऽदर्शनादिति भावः। द्वितीयं पक्षं निराकरोति—**न द्वितीय इति**। तत्र हेतुमाह—**अनुत्पत्तेरिति**। द्वैतस्य तदानीमनुत्पन्नत्वादिति भावः। अतः प्रथमः पक्षः परिशिष्यत इत्याह—**शिष्यत इति** ॥ २६ ॥

तत्रापि शङ्कते चेत्त्वं स्वात्मानमेव पृच्छेत्याशयेनाऽऽह—**स्वप्रभत्वे इति**। तत्र हेतुः—**यस्मादित्यादिशेषेण** ॥ २४ ॥

तत्रापि तदभिप्रायविशेषं सिद्धान्त्याशङ्क्याऽऽक्षिपति—**नेति** ॥ २५ ॥

एवं सामान्यतः कृतं स्वकृतं प्रश्नमजानानं प्रतिवादिनं स्वाभिसन्धिमुद्घाटयंस्तद्विकल्पत्रयं विधाय व्युत्क्रमेण पक्षद्वयं सन्दूष्य परिशेषादाद्यमेव सिद्धान्तयति—**किमद्वैतमिति**। एतेन "सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्" इति श्रुतिरप्यनुगृहीता भवतीति द्योत्यते। एवं बाधावधित्वेन परिशिष्टमद्वैतमेव पारमार्थिकं द्वैतं तु बाधितत्वान्मिथ्येत्यपि ॥ २६ ।

अद्वैतसिद्धिर्युक्त्यैव नानुभूत्यति चेद्वद ।
निर्दृष्टान्ता सदृष्टान्ता वा कोप्यन्तरमत्र नो ॥ २७ ॥
नानुभूतिर्न दृष्टान्त इति युक्तिस्तु शोभते ।
सदृष्टान्तत्वपक्षे तु दृष्टान्तं वद मे मतम् ॥ २८ ॥
अद्वैतः प्रलयो द्वैतानुपलम्भेन सुप्तिवत् ।
इति चेत्सुप्तिरद्वैतेत्यत्र दृष्टान्तमीरय ॥ २९ ॥

ननूक्तेन प्रकारणाद्वैतं युक्त्यैव सिध्यति नानुभवेनेति चोदयति—

अद्वैतेति । अद्वैतसिद्धिर्युक्त्यैवेत्युक्तं विकल्पासहत्वादनुपपन्नमिति मन्वानो युक्तिं विकल्पयति सिद्धान्ती—**वेदेति** । विकल्पस्य न्यूनतां निराकरोति–**कोप्यन्तरमिति** ॥ २७ ॥

प्रथमं पक्षं सोपहासं निराकरोति—

नानुभूतिरिति । अद्वैतसिद्धिर्युक्त्यैवेति वदताऽनुभूतिस्तावन्नाभ्युपेयते युक्तिस्तु दृष्टान्तप्रदर्शमन्तरेण न किञ्चित्साधयति, अतो न दृष्टान्त इत्युक्तिरयुक्तेति भावः । द्वितीये विकल्प उभयवादिसंप्रतिपन्नो दृष्टान्तो वक्तव्य इत्याह—**सदृष्टान्तेति** ॥ २८ ॥

तर्हि दृष्टान्तेनैवाद्वैतं साधयामोति शङ्कते पूर्ववादी—

अद्वैत इति । प्रलयो द्वैतरहितो भवितुमर्हति द्वैतानुपलब्धिमत्त्वाद्यो द्वैतानुपलब्धिमान्स स द्वैतरहितो यथा स्वाप इति । नन्वेवं साधयतस्तव

तत्रापि पूर्ववादी शङ्कते—**अद्वैतेति** । सिद्धान्ती तत्र विकल्प्य पृच्छति—**इति चेदित्यादिशेषेण** । सा युक्तिरद्वैतसिद्धिकारिण्यस्मदुपन्यस्तापरार्थानुमितिलक्षणा किं निर्दृष्टान्ता सकलद्वैतपक्षका विमतं मिथ्याभिन्नत्वादेवं रूपा सर्वद्वैतस्यैव पक्षत्वेन दृष्टान्तविरहिताऽनुपसंहारिहेत्वाभासवती । किं वा व्यावहारिकं द्वैतं मिथ्येतदुपाध्युपरमे त्वप्रतीयमानत्वादैन्द्रजालिकसहकारवदिति सदृष्टान्तावेति प्रश्नविकल्पाशयः । अत्र मदुपन्यस्तयुक्तिविषय इत्यर्थः । कोऽप्यन्तरं तृतीयकोटिः ॥ २७ ॥

एवमुक्तविकल्पयोराद्यमुपहासेनैव दूषयति—**नानुभूतिरिति** । स्वप्ने स्वशिरश्छेदाद्यवेक्षणं दृष्टान्ताभावेऽपि नालीकमनुभूतेः किन्तु भ्रामिकमेव न तु प्रामिकमित्यस्वरसादाह—**न दृष्टान्त इति** । एवं च दृष्टान्ताभावेऽपि तत्त्वमेव । तद्बीजं तूक्तहेत्वाभासघटितत्वमेव । न च व्यतिरेके ब्रह्मवदिति व्यतिरेकिदृष्टान्तसत्त्वान्नानुपसंहारित्वमिति वाच्यम् । नाभ्युपेम्यहमद्वैतमिति त्वयैवोक्तत्वादिति तत्त्वम् । अथान्त्यपक्ष एवावशिष्टस्तत्र स्वसम्मतं दृष्टान्तं पृच्छति—**सदृष्टान्तत्वेति** ॥ २८ ॥

अथ सृष्टेः प्राक्कालिकाद्वैतसाधने सिद्धान्तिना पृष्टं दृष्टान्तं प्रतिवादी स्पष्टयति

दृष्टान्तः परसुप्तिश्चेदहो ते कौशलं महत् ।
यः स्वसुप्तिं न वेत्त्यस्य परसुप्तौ तु का कथा ॥ ३० ॥
निश्चेष्टत्वात्परः सुप्तौ यथाऽहमिति चेत्तदा ।
उदाहर्तुः सुषुप्तेस्ते स्वप्रभत्वं बलाद्भवेत् ॥ ३१ ॥
नेन्द्रियाणि न दृष्टान्तस्तवाऽप्यङ्गीकरोषि ताम् ।
इदमेव स्वप्रभत्वं यद्भानं साधनैर्विना ॥ ३२ ॥

स्वसुप्तिर्दृष्टान्तः परसुप्तिर्वा । आद्ये तस्या परं प्रत्यसिद्धत्वेन तत्सिद्धये दृष्टान्तान्तरं वक्तव्यमित्याह—**सुप्तिरिति** ॥ २९ ॥

ननु तस्याः परसुप्तिरेव दृष्टान्त इति द्वितीयं विकल्पमाशङ्कते—

दृष्टान्त इति । परसुप्तेस्तवाप्रसिद्धत्वेन त्वया दृष्टान्तीकरणमनुपपन्नमिति सोपहासमाह सिद्धान्ती—**अहो इति** । यो भवान् सुप्तेरनुभवगम्यत्वानङ्गीकारेण स्वसुप्तिमपि न वेत्त्यस्य तव परसुप्तौ का कथा परसुप्तिज्ञानं न भवतीति किमु वक्तव्यमिति भावः ॥ ३० ॥

नन्वनुमानात्परसुप्तिसिद्धिरिति शङ्कते—

निश्चेष्टेति । विमतः परः सुप्तौ भवितुमर्हति प्राणादिमत्त्वे सति निश्चेष्टत्वान्मद्वदित्यनुमानादित्यर्थः । एवं तर्हि तव सुप्तेः स्वप्रकाशत्वं परिशिष्यत इत्याह सिद्धान्ती—**तदेति** । तदा तर्हि मां प्रति सुषुप्तिमुदाहर्तुर्दृष्टान्तीकर्तुस्ते तव सुप्तेः स्वप्रभत्वं स्वप्रकाशत्वं बलात्सुप्त्युदाहरणसामर्थ्यादेव भवेत् ॥ ३१ ॥

कथं बलाद्भवतीत्याशङ्क्याऽऽह—

नेन्द्रियाणीति । सुप्तिग्राहकाणीन्द्रियाणि न सन्ति तेषां स्वकारणे विलीनत्वाद्दृष्टान्तश्च सम्प्रतिपन्नो नास्ति परसुप्तेरप्रसिद्धत्वस्योक्तत्वात्तथाऽपि तां सुप्तिमङ्गीकरोषि । एवं च सति साधनैर्विना ज्ञानसाधनमन्तरेणापि भानं प्रकाशनमिति यदिदमेव स्वप्रभत्वं सुषुप्त्या इत्यर्थः । अत्रायं प्रयोगः । विभवा सुप्तिः स्वप्रकाशाऽसत्स्वपि ज्ञानसाधनेषु प्रकाशमानत्वात् । सांख्याभिमतान्यत्रप्राभाकराभिमतसंवेदनवच्छोक्याभिमतस्वात्मवदित्यर्थः ॥ ३२ ॥

अद्वैत इति । तत्रापि सिद्धान्ती दृष्टान्तं पृच्छति—**सुप्तिरिति** ॥ २९ ॥

तत्र परसुप्तिं दृष्टान्तीकृतामशङ्क्योपहसति—**दृष्टान्त इति** ॥ ३० ॥

अनुमानेन परसुप्तिं साधयितुं स्वसुप्तिमेव दृष्टान्तीकरिष्यसि चेत्तवैव तत्साक्षिणो बलादेव स्वप्रकाशत्वं स्यादित्याह—**निश्चेष्टत्वादिति** ॥ ३१ ॥

तत्र हेतुः—**नेति** ॥ ३२ ॥

स्तामद्वैतस्वप्रभत्वे वद सुप्तौ सुखं कथम् ।
शृणु दुःखं तदा नास्ति ततस्ते शिष्यते सुखम् ।। ३३ ।।
अन्धः सन्नप्यनन्धः स्याद्विद्धोऽविद्धोऽथ रोग्यपि ।
अरोगीति श्रुतिः प्राह तच्च सर्वे जना विदुः ।। ३४ ।।
न दुःखाभावमात्रेण सुखं लोष्टशिलादिषु ।।
द्वयाभावस्य दृष्टत्वादिति चेद्विषमं वचः ।। ३५ ।।

इत्थं प्रलयस्य दृष्टान्तत्वेनोदाहृतायाः सुषुप्तेरद्वैतत्वं स्वप्रभत्वं च प्रसाध्य तत्र सुखप्रसाधनाय पूर्वपक्षिण आकाङ्क्षामुत्थापयति—

स्तामिति । सुखप्रतियोगिनो दुःखस्य तदानीमसत्त्वात्सुखमेव परिशिष्यत इत्याह—**शृण्विति** । सुखदुःखयोः प्रकाशतमसोरिव परस्परविरोधित्वाद्दुःखाभावे सुखमेवाभ्युपेयमिति भावः ।। ३३ ।।

सुप्तौ दुःखाभावे किं मानमित्याकाङ्क्षायां श्रुत्यनुभवावित्याह—

अन्ध इति । "तस्माद्वा एतं सेतुं तीर्त्वाऽन्धः सन्ननन्धो भवति विद्धः सन्नविद्धो भवति उपतापी सन्ननुपतापी भवति तद्यद्यपीदं भगवः शरीरमन्धं भवत्यनन्धः स भवती"त्यादिश्रुतिर्देहाभिमानप्रयुक्तानन्धत्वादीन्दोषान्सुप्तौ निवारयति व्याध्यादिना पीड्यमानस्यापि सुप्तौ तद्दुःखानुभवो नास्तीत्येतत्सर्वजनप्रसिद्धं चेत्यर्थः ।। ३४ ।।

ननु यत्र दुःखाभावस्तत्र सुखमित्यस्याव्याप्तेर्लोष्टादौ व्यभिचार इति शङ्कते—

न दुःखेति । दुःखाभावमात्रेण सुखं कल्पयितुं न शक्यते लोष्टशिलादिषु द्वयाभावस्य सुखदुःखयोरभावस्य दर्शनादित्यर्थः । दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोर्वैषम्यान्मैवमिति परिहरति—**विषममिति** । वचो दृष्टान्तवचनं विषमं दार्ष्टान्तिकाऽननुसारीत्यर्थः ।। ३५ ।।

अथ प्रतिवादी सुप्तावद्वैतत्वाद्यङ्गीकृत्य सुखं पृच्छति—**स्तामिति** । स्यातामित्यर्थः । सुप्तौ दुःखाभावेन परिशेषादेव तदिति समाधत्ते—**शृण्विति** ।। ३३ ।।

"तत्रान्धः सन्ननन्धो भवति विद्धः सन्नविद्धो भवत्युपतापी सन्ननुपतापी भवति" इति छान्दोग्यवचनस्तथाऽनुभवं च प्रमाणयति—**अन्ध इति** ।। ३४ ।।

तत्रातिप्रसङ्गमाशङ्क्य प्रशमयति – **न दुःखेति** ।। १३५ ।।

मुखदैन्यविकासाभ्यां परदुःखसुखोहनम् ।
दैन्याद्यभावतो लोष्टे दुःखाद्यूहो न संभवेत् ॥ ३६ ॥

स्वकीये सुखदुःखे तु नोहनीये ततस्तयोः ।
भावो वेद्योनुभूत्यैव तदभावोऽपि नान्यतः ॥ ३७ ॥

तथा सति स्वसुप्तौ च दुःखाभावोऽनुभूतितः ।
विरोधिदुःखराहित्यात्सुखं निर्विघ्नमिष्यताम् ॥ ३८ ॥

दृष्टान्तस्याननुकूलत्वमेवोपपादयति—

मुखेति । अन्यनिष्ठयोः सुखदुःखयोरूहनं यथाक्रमं सुखदैन्यविकासाभ्यां लिङ्गाभ्यां कर्तव्यमयं दुःखो विषण्णवदनत्वात्संप्रतिपन्नवदयं सुखी प्रसन्नवदनत्वात्संप्रतिपन्नवदित्यर्थः । भवत्वेवं लोके प्रकृते किमायातमित्यत आह—**दैन्येति** । लोष्टादौ मुखदैन्यादिलिङ्गाभावात्सुखदुःखयोरूहनमेव न संभवति । अतस्तत्र दुःखाभावोऽपि न निश्चेतुं शक्यत इत्यर्थः ॥ ३६ ॥

इदानीं परकीयसुखदुःखाभ्यां स्वकीयसुखदुःखयोर्वैषम्यं दर्शयति—

स्वकीये इति । स्वनिष्ठयोस्तु सुखदुःखयोरनुभवसिद्धत्वान्नानुमेयत्वं यतस्ततस्तयोः सुखदुःखयोर्भावः सद्भावो यथानुभूत्यैव वेद्यः प्रत्यक्षेणावगम्यते तथा तदभावोऽपि तयोः सुखदुःखयोरभावोऽपि । अन्यतः अन्यस्मादनुमानादेर्नावगम्यते किन्तु प्रत्यक्षेणैवेत्यर्थः ॥ ३७ ॥

फलितमाह—

तथेति । तथा सति स्वकीयस्य सुखादेरनुभवगम्यत्वे सति स्वसुप्तौ स्वकीयसुषुप्तावपि त्रियमानो दुःखाभावोऽनुभवेनैव सिद्धः । ततोऽपि किं तत्राऽऽह—**विरोधोति** । सुप्तौ सुखविरोधिनो दुःखस्याभावान्निर्विघ्नं बाधरहितं सुखमिष्यतामभ्युपेयताम् ॥ ३८ ॥

तत्र हेतुः—**मुखेति** ॥ ३६ ॥

एवं परकीयदुःखसुखोहनप्रकारं प्रदर्श्य स्वकोयदुःखादिभावाभावो तु स्वप्रकाशसाक्षिलक्षणानुभवैकवेद्यावित्याह—**स्वकीये इति** ॥ ३७ ॥

अथ फलितं कथयति—**तथा सतोति** ॥ ३८ ॥

महत्तरप्रयासेन मृदुशय्यादिसाधनम् ।
कुतः संपाद्यते सुप्तौ सुखं चेत्तत्र नो भवेत् ॥ ३९ ॥
दुःखनाशार्थमेवैतदिति चेद्रोगिणस्तथा ।
भवत्वरोगिणस्त्वेतत्सुखायैवेति निश्चिनु ॥ ४० ॥
तर्हि साधनजन्यत्वात्सुखं वैषयिकं भवेत् ।
भवत्वेवात्र निद्रायाः पूर्वं शय्यासनादिजम् ॥ ४१ ॥
निद्रायां तु सुखं यत्तज्जन्यते केन हेतुना ।
सुखाभिमुखधीरादौ पश्चान्मज्जेत्परे सुखे ॥ ४२ ॥

शय्यादिसुखसाधनसंपादनान्यथानुपपत्त्याऽपि सुप्तौ सुखमस्तीत्यवगम्यत इत्याह—

महत्तरेति। तत्र तस्यां सुप्तौ सुखं न भवेच्चेन्महत्तरप्रयासेन बहुविधवित्तव्ययशरीरपीडनादिना मृदुलं शय्यादि कशिपुमञ्चादि साधनं सुखसाधनं कुतः कस्मात्कारणात्संपाद्यते न कुतोऽपीत्यर्थः ॥ ३९ ॥

अर्थापत्तेरन्यथोपपत्तिं शङ्कते—

दुःखेति। एतच्छय्यादिसाधनसंपादनं दुःखनिवृत्तिफलकं न नियतमिति परिहरति—**रोगिण इति**। रोगादिदुःखे सति तन्निवृत्तये तद्भवतु तदभावे तु निवर्त्यदुःखाभावात्तत्संपादनं सुखायैवेत्यवगम्यत इत्यर्थः ॥ ४० ॥

ननु सौषुप्तसुखस्य शय्यादिसाधनजन्यत्व आत्मस्वरूपत्वं व्याहन्येतेति शङ्कते—

तर्हीति। किं निद्रागमनात्पूर्वकालीनस्य विषयजन्त्वमुच्यत उत निद्राकालीनस्येति विकल्प्याऽऽद्यमङ्गी करोति—**भवत्विति** ॥ ४१ ॥

द्वितीयं निराकरोति—

निद्रायामिति। सुषुप्तौ शय्याद्यनुसन्धानाभावात्तज्जन्यत्वं तस्य न सम्भवतीति भावः। ननु निद्रायामजन्यं सुखं यद्यस्ति तर्हि तद्विषयसुखवत्कुतो

तत्र हेतुः—**महत्तरेति**। एतेनान्यथानुपपत्त्यैव सुखं सुप्तौ सिद्धं बोध्यम् ॥ ३९ ॥

तद्विघटनमाशङ्क्यावच्छेदकविशेषणतदङ्गीकृत्य सामान्यतस्तत्खण्डयति—**दुःखेति** ॥ १४० ॥

तत्राप्याशङ्क्य समाधत्ते—**तर्हीतिप्रभृतिद्वाभ्याम्** ॥ ४१ ॥

एवं निद्रापूर्वकालिकस्य सम्यक्शय्यादिविषयसुखस्य साधनजन्यत्वादपारमार्थिकत्वं ध्वनिमर्यादयाऽङ्गीकृत्य निद्राकालिकसुखस्याऽऽत्मत्वेन पारमार्थिकत्वमभिसन्धाय सिद्धान्ती

जाग्रद्व्यावृत्तिभिः श्रान्तो विश्रम्याथ विरोधिनि ।
अपनीते स्वस्थचित्तोऽनुभवेद्विषये सुखम् ॥ ४३ ॥

आत्माभिमुखधीवृत्तौ स्वानन्दः प्रतिबिम्बति ।
अनुभूयैनमत्रापि त्रिपुट्या श्रान्तिमाप्नुयात् ॥ ४४ ॥

नानुभूयत इत्याशङ्क्यानुभवितुस्तदा तस्मिन्निमग्नत्वान्न विषयसुखवत्तदनुभव इत्यभिप्रायेणाऽऽह—सुखेति । आदौ निद्रायाः पूर्वस्मिन्काले जीवः सुखाभिमुखधीः शय्यादिजन्यसुखाभिमुखा धीर्बुद्धिर्यस्य स तथोक्तस्तथाविधो भवति पश्चान्निद्राकाले पर उत्कृष्टे सुखे स्वरूपसुखे मज्जेद्विलीनो भवेत् ॥ ४२ ॥

संक्षेपेणोक्तमर्थः श्लोकत्रयेण प्रपञ्चयति—

जाग्रद्व्यावृत्तिभिरित्यादिना । जीवो जाग्रद्व्यावृत्तिभिर्जागरणावस्थायां क्रियमाणैर्व्यापारविशेषैः श्रान्तो विश्रम्य मृदुशय्यादौ शयनं कृत्वाऽथानन्तरं विरोधिनि व्यापारजनिते दुःखेऽपनीते निवारिते सति स्वस्थाचित्तोऽव्याकुलमना भूत्वा शय्यादौ विषये जायमानं सुखमनुभवेत्साक्षात्कुर्यात् ॥ ४३ ॥

विषयसुखं च कीदृशमित्याकाङ्क्षायां तत्स्वरूपं दर्शयन्परे सुखे निमज्जननिमित्तत्वेन तदनुभवेऽपि श्रमं दर्शयति—

आत्मेति । अनागतविषयसम्पादनादिना दुःखमनुभूय तन्निवृत्तये मृदुशय्यादौ शयानस्य बुद्धिरन्तर्मुखी भवति तस्यां च बुद्धिवृत्तौ आनन्दः स्वाभिमुखे दर्पणे मुखमिव प्रतिबिम्बति । एष हि विषयानन्दः । अत्राप्यस्यामपि वेलायामेनं विषयानन्दमनुभूयानुभवित्रनुभवानुभाव्यलक्षणया त्रिपुट्या श्रमं प्राप्नुयात् ॥ ४४ ॥

तज्जनकसामग्रीं पृच्छति—निद्रायां त्विति । तत्र प्रतिवाद्यनुत्तरे स्वयमेव मुमुक्ष्वनुजिघृक्षया सर्वव्यवस्थां संक्षिपति—सुखेति । सुखं शय्यादिजन्यसुखं प्रत्यभिमुखैकताना धीर्यस्य । एतादृश आदौ सन्पश्चात्परे सुखे ब्रह्मानन्दाब्धौ मु(म)ज्जेदिति योजना । जीव इत्यार्थिकम् ॥ ४२ ॥

एवं शय्यादिजन्ये विषयानन्दे निद्राप्राक्कालिकैकतानधधीवृत्तिजे च तत्र विनाशित्वे तथा सौषुप्तिकानन्दे नित्यत्वे च क्रमाद्धेतूनाह—जाग्रदित्यादित्रिभिः ॥ ४३ ॥

आत्मेति । प्रतिबिम्बति मुखाभिमुखमुकुरे मुखवदित्यर्थः ॥ ४४ ॥

तच्छ्रमस्यापनुत्त्यर्थं जीवो धावेत् परात्मनि ।
तेनैक्यं प्राप्य तत्रत्यो ब्रह्मानन्दः स्वयं भवेत् ॥ ४५ ॥
दृष्टान्ताः शकुनिः श्येनः कुमारश्च महानृपः ।
महाब्राह्मण इत्येते सुप्त्यानन्दे श्रुतीरिताः ॥ ४६ ॥
शकुनिः सूत्रबद्धः सन्दिक्षु व्यापृत्य विश्रमम् ।
अलब्ध्वा बन्धनस्थानं हस्तस्तम्भाद्युपाश्रयेत् ॥ ४७ ॥

ततः किं तत्राऽऽह—

तच्छ्रमस्येति । तस्य त्रिपुटीदर्शनजनितस्य श्रमस्यापनोदाय स एव जीवः परमात्मन्यानन्दरूपे ब्रह्मणि धावेच्छीघ्रं गच्छेद् गत्वा च तेन ब्रह्मणैक्यं तादात्म्यं गत्वा 'सता सोम्य तदा सम्पन्नो भवति' इति श्रुतेः स्वयमपि तत्रत्यस्तस्यां स्थितौ ब्रह्मानन्दो भवेत् ॥ ४५ ॥

अस्मिन्नुपपादिते सौषुप्त आनन्दे शकुन्यादयो बहवो दृष्टान्ताः श्रुत्युक्ता विद्यन्त इत्याह—

दृष्टान्ता इति । शकुन्यादिभिः पञ्चभिर्दृष्टान्तैः सुप्तावानन्दोपपादनेन तत्र सुखं नास्तीति मतं निराकृतम् ॥ ४६ ॥

तत्र तावत्स यथा शकुनिः सूत्रेण प्रबद्धो दिशं दिशं पतित्वाऽन्यत्राऽऽयतनमलब्ध्वा बन्धनमेवोपाश्रयते, एवमेव खलु सोम्य तन्मनो दिशं दिशं पतित्वाऽन्यत्राऽऽयतनमलब्ध्वा प्राणमेवोपाश्रयते 'प्राणबन्धनं हि सोम्य मनः' इत्यस्य दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकप्रतिपादनपरस्य छान्दोग्यश्रुतिवाक्यस्यार्थं संक्षेपेण दर्शयति श्लोकद्वयेन—

शकुनिरिति । हस्तादौ क्वचिदाधारसूत्रेण बद्धः शकुनिः पक्ष्याहारादिग्रहणाय दिक्षु प्राच्यादिषु व्यापारं कृत्वा तत्र विश्रमं विश्रम्यतेऽस्मिन्निति विश्रम आधारस्तमलब्ध्वा बन्धनस्थानं हस्तादिकमेव यथाऽऽश्रयेत् ॥४७॥

तच्छ्रमस्येति । तत्रत्य इति व्युत्थाने हेतुः ॥ ४५ ॥

ननु भवत्वेवं स्वाप्रक्रियाप्रकारस्तथाऽपि तत्र वृत्त्यभावान्निर्विशेषब्रह्मानन्दानुभवसत्त्वे किं प्रमाणमित्याशङ्क्य त्वादृशकुतार्किककरुणया श्रुत्यैव पञ्चभिरपि दृष्टान्तैरनुमानस्यैवोपन्यस्तत्वान्मैवमिति मन्वानस्तानुद्दिशति—**दृष्टान्ता इति** ॥ ४६ ॥

तत्राऽऽदौ "**स यथा** शकुनिः सुत्रेण बद्धो दिशं दिशं पतित्वाऽन्यत्राऽऽयतनमलब्ध्वा बन्धनमेवोपाश्रयत एवमेव खलु सोम्य तन्मनो दिशं दिशं पतित्वाऽन्यत्राऽऽयतनमलब्ध्वा प्राणमेवोपाश्रयते "प्राणबन्धनं हि सोम्य मनः" इति शकुनिदृष्टान्तादिप्रतिपादकं छान्दोग्यवाक्यमर्थतः पठति—**शकुनिरितिप्रभृतिद्वाभ्याम्** । आदिना यष्टिका ॥४७॥

जीवोपाधिमनस्तद्वद्धर्माधर्मफलाप्तये ।
स्वप्ने जाग्रति च भ्रान्त्वा क्षीणे कर्मणि लीयते ।। ४८ ।।
श्येनो वेगेन नीडैकलम्पटः शयितुं व्रजेत् ।
जीवः सुप्त्यै तथा धावेद् ब्रह्मानन्दैकलम्पटः ।। ४९ ।।
अतिबालः स्तनं पीत्वा मृदुशय्यागतो हसन् ।
रागद्वेषाद्यनुत्पत्तेरानन्दैकस्वभावभाक् ।। ५० ।।

तथा जीवोपाधिभूतं मनोऽपि पुण्यापुण्यफलयोः सुखदुःखयोरनुभवाय स्वप्नजाग्रदवस्थयोस्तत्र तत्र भ्रान्त्वा भोगप्रदे कर्मणि क्षीणे सति स्वोपादाने-ऽज्ञाने विलीयते तल्लये च तदुपहितो जीवः परमात्मैव भवतीत्यर्थः ।। ४८ ।।

इदानीं श्येनदृष्टान्तप्रपञ्चनपरस्य तद्यथाऽस्मिन्नाकाशे श्येनो वा सुपर्णो वा विपरिपत्य श्रान्तः संहत्य पक्षौ स्वालयायैव ध्रियत एवमेवायं पुरुष एतस्मा आनन्दाय धावति यत्र सुप्तो न कञ्चन स्वप्नं पश्यति, इत्यस्य बृहदा-रण्यकवाक्यार्थं संक्षिप्याऽऽह

श्येन इति । यथाऽऽकाशे सर्वतः प्रचरञ्श्येन एतन्नामा पक्षी गगने सञ्चारनिमित्तश्रमपरिहाराय शयितुं शयनं कर्तुं नीडैकलम्पटः कुलायैका-भिलाषवान्व्रजेच्छीघ्रं गच्छेत्तद्वदेव जीवो मनउपाधिकश्चिदाभासोऽपि ब्रह्मा-नन्दैकाभिलाषवान्स्वापाय शीघ्रं गच्छेद् हृदयाकाशमिति शेषः ।। ४९ ।।

"स यथा कुमारो वा महाराजो वा महाब्राह्मणो वाऽतिघ्नीमानन्दस्य गत्वा शयीतैवमेवैष एतच्छेते" इति कुमारादिदृष्टान्तत्रयप्रदर्शनपरं **बालाकि-ब्राह्मणगतवाक्यं श्लोकत्रयेण व्याचष्टे—**

अतिबाल इत्यादिना । यथा स्तनन्धयः शिशुराग़लं स्तनं पाययित्वा मृदुत्वादिगुणयोगिनी तल्पे शायितः स्वकीयादिज्ञानशून्यत्वेन रागादिरहितः सन् सुखमूर्तिरेवावतिष्ठते ।। ५० ।।

जीवोपाधिरिति । लीयते सौषुप्ताज्ञानावच्छिन्नब्रह्मणीत्यर्थात् ।। ४८ ।।

एवं "**तद्यथाऽस्मिन्नाकाशे श्येनो वा सुपर्णो वा विपरिपत्यश्रान्तः संहृत्य पक्षौ सल्लयायैव ध्रियत एवमेवाय पुरुष एतस्मा अन्ताय(?) धावति यत्र सुप्तो न कंचन कामं कामयते न कचन स्वप्न पश्यति**" इति **काण्वश्रुतिमेव श्येनदृष्टान्तादौ निबध्नाति—**
श्येन इति । शयितुं निद्रातुम् ।। ४९ ।।

एवं "**स यथा कुमारो वा महाराजो वा महाब्राह्मणो वाऽतिघ्नीमानन्दस्य गत्वा शयीतैवमेवैष एतच्छेते**" इत्यवशिष्टदृष्टान्तत्रयपरां **काण्वश्रुतिमेवार्थतः सम्प्रथयति—**
अतिबाल इत्यादित्रिभिः ।। ५० ।।

महाराजः सार्वभौमः संतृप्तः सर्वभोगतः ।
मानुषानन्दसीमानं प्राप्याऽऽनन्दैकमूर्तिभाक् ।। ५१ ।।
महाविप्रो ब्रह्मवेदी कृतकृत्यत्वलक्षणाम् ।
विद्यानन्दस्य परमां काष्ठां प्राप्यावतिष्ठते ।। ५२ ।।
मुग्धबुद्धातिबुद्धानां लोके सिद्धा सुखात्मता ।
उदाहृतानामन्ये तु दुःखिनो न सुखात्मकाः ।। ५३ ।।
कुमारादिवदेवायं ब्रह्मानन्दैकतत्परः ।
स्त्रीपरिष्वक्तवद्वेद न बाह्यं नापि चान्तरम् ।। ५४ ।।

यथा वा सार्वभौमो राजाऽविशदबुद्धित्वेऽपि सर्वैर्मानुषानन्दैर्युक्तत्वात्प्रार्थनीयाभावेन रागादिरहित आनन्दमूर्तिरेवावतिष्ठते ।। ५१ ।।

यथा वा महाविप्रो महाब्राह्मणः प्रत्यगभिन्नब्रह्मसाक्षात्कारवानहं कृतकृत्य इत्येवं रूपां विद्यानन्दस्य परमां सीमां जीवन्मुक्ततां प्राप्तः परमानन्दस्वरूप एवावतिष्ठते तथा सुप्तोऽप्यानन्दरूपस्तिष्ठतीति शेषः ।। ५२ ।।

नन्वेते कुमारादयस्त्रय एव किमिति दृष्टान्तीकृता नान्य इत्याशङ्क्य दृष्टान्तत्रयोदाहरणतात्पर्यमाह—

मुग्धेति । विवेकशून्यानां मध्येऽतिबालः सुखी, विवेकिषु सार्वभौमः, अतिविवेकिष्वानन्दात्मसाक्षात्कारवानेव, इतरे तु सर्वदा रागादिमत्त्वादसुखिन इति दृष्टान्तीकृता इत्यर्थः ।। ५३ ।।

भवन्त्वेते सुखिनः प्रकृते किमायातमित्याशङ्क्य दार्ष्टान्तिकश्रुतिवाक्यस्य तात्पर्यमाह—

कुमारादीति । कुमारादिवत्कुमारादयो यथाऽऽनन्दभाज एवमयमपि सुषुप्ते ब्रह्मानन्दैकतत्परो ब्रह्मानन्दैकभागित्यर्थः । ब्रह्मानन्दैकपरत्वे युक्तिप्रदर्शनपरं "तद्यथा प्रियया स्त्रिया संपरिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चन वेद

महाराज इति । मानुषेति । "स एको मानुष आनन्दः" इति तैत्तिरीयश्रुतिप्रसिद्धमनुष्यानन्दकाष्ठामित्यर्थः ।। ५१ ।।

महाविप्र इति । ब्रह्मवेदी ब्रह्मापरोक्षवान् ।। ५२ ।।

फलितमाह—मुग्धेति । बालचक्रवर्तिब्रह्मविदामित्यर्थः ।। ५३ ।।

एवं "तद्यथा प्रियया स्त्रिया संपरिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चन वेद नाऽऽन्तरमेवायं

बाह्यं रथ्यादिकं वृत्तं गृहकृत्यं यथाऽऽन्तरम् ।
तथा जागरणं बाह्यं नाडीस्थः स्वप्न आन्तरः ॥ ५५ ॥
पिताऽपि सुप्तावपितेत्यादौ जीवत्ववारणात् ।
सुप्तौ ब्रह्मैव नो जीवः संसारित्वासमीक्षणात् ॥ ५६ ॥

नाऽऽन्तरमेवमेवायं पुरुषः प्राज्ञेनाऽऽत्मना सम्परिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चन वेद नाऽऽन्तरम्'' इति ज्योतिर्ब्राह्मणगतं वाक्यमर्थतोऽनुक्रामति–स्त्रीपरिष्वक्तेति । यथालोके प्रियया स्त्रियाऽऽलिङ्गितः कामो बाह्याभ्यान्तरविषयज्ञान-शून्यत्वात्सुखमूर्तिर्भवति तथा सुषुप्तौ प्राज्ञेन पारमात्मनैक्यं गतो जीवो बाह्यादिविषयज्ञानाभावादानन्दरूप एव भवति ॥ ५४ ॥

अत्र दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकवाक्यस्थयोर्बाह्याभ्यन्तरशब्दयोर्विवक्षितमर्थं क्रमेण दर्शयति—

बाह्यमिति । वृत्तं वृत्तान्तः । नाडीस्थो जाग्रद्वासनया नाडीमध्ये प्रतीयमानः प्रपञ्चः स्वप्न इत्युच्यते ॥ ५५ ॥

जीवः सुप्तौ ब्रह्मानन्दरूपेणैवावतिष्ठत इत्यत्र युक्तिप्रदर्शनपरायाः ''अत्र पिताऽपिता भवति'' इत्यादिकायाः श्रुतेस्तात्पर्यमाह—

पितेति । अत्र सुप्तावाध्यसिकानां पितृत्वादिजीवधर्माणां श्रुत्यैव निवारितत्वाज्जीवत्वाप्रतीतौ ब्रह्मतैवावशिष्यत इत्यर्थः ॥ ५६ ॥

पुरुषः प्राज्ञेनाऽऽत्मना संपरिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चन वेद नाऽऽन्तरम्'' इतिकाण्वश्रुत्यर्थेनैव निगमयति—**कुमारेत्यादिद्वाभ्याम्** ॥ ५४ ॥

बाह्यमिति । दार्ष्टान्तिकमाह—तथेति । देहापेक्षयैवात्र बाह्यादिभावः ॥ ५५ ॥

एवं दृष्टान्त(ष)ट्के प्रसुप्तौ जीवः स्वरूपभूततदुपहितब्रह्मानन्दरूपेणैवावतिष्ठत इति स्वसिद्धान्ते कुतार्किककृतमानाभावाशङ्कोपशान्त्यर्थं पिशाचः पिशाचभाषयैव बोधनीय इति न्यायेनानुमानप्रधानं तं प्रत्यनुमानमेवं प्रमाणत्वेन संसूच्य मीमांसकं प्रति श्रुतार्था-पत्तिमपि तत्र तथात्वेन द्योतयितुम्—''अत्र पिताऽपिता भवति माताऽमाता लोका अलोका देवा अदेवा वेदा अवेदा अत्र स्तेनोऽस्तेनो भवति भ्रूणहाऽभ्रूणहा चाण्डालो-ऽचाण्डालः पौल्कसोऽपौल्कसः श्रमणोऽश्रमणस्तापसोऽनन्वागतं पुण्येनानन्वागतं पापेन तीर्णो हि तदा सर्वाञ्छोकान्हृदयस्य भवति'' इतिश्रुतिमर्थतः संक्षेपेण संग्रथयति—**पिताऽपीत्यादिद्वाभ्याम्** ॥ ५६ ॥

पितृत्वाद्यभिमानो यः सुखदुःखाकरः स हि ।
तस्मिन्नपगते तीर्णः सर्वाञ्छोकान्भवत्ययम् ।। ५७ ।।

सुषुप्तिकाले सकले विलीने तमसाऽऽवृतः ।
सुखरूपमुपैतीति ब्रूते ह्याथर्वणी श्रुतिः ।। ५८ ।।

सुखमस्वाप्समत्राहं न वै किञ्चिदवेदिषम् ।
इति सुप्ते सुखज्ञाने परामृशति चोत्थितः ।। ५९ ।।

ननु पितृत्वाद्यभिमानाभावेऽपि सुखित्वादिसंसारः किं न स्यादित्याशङ्क्य संसारस्य देहाभिमानमूलत्वात्तदभावेऽभाव इति मन्वानस्तत्प्रतिपादक "तीर्णो हि तदा सर्वाञ्शोकान् हृदयस्य भवति" इति समनन्तरवाक्यतात्पर्यतो व्याचष्टे—**पितृत्वादीति** ।। ५७ ।।

ननूदाहृताभिः श्रुतिभिर्न सुखप्राप्तिर्मुखतोऽभिधीयमानोपलभ्यत इत्याशङ्क्य तत्राभिधानपरं कैवल्यश्रुतिवाक्यमर्थतः पठति—

सुषुप्तीति । सकले जाग्रदादिलक्षणे प्रपञ्चे विलीने स्वोपादानभूतायां तम प्रधानायां प्रकृतौ विलयं गते सति तमसा तया प्रकृत्याऽऽवृत आच्छादितो जीवः सुखरूपं ब्रह्मोपैतीति तस्या श्रुतेरर्थः ।। ५८ ।।

न केवलमयं श्रुतिप्रसिद्धोऽर्थः किन्तु सर्वानुभवसिद्धोऽपीत्याह—

सुखमिति । सुषुप्तादुत्थितः पुरुष एतावन्तं कालं सुखमहमस्वाप्सं न किंचिदवेदिषमित्येवं निद्राकालीने सुखज्ञाने परामृशति स्मरति । अतोऽपि सुप्तौ सुखमस्तीत्यवगम्यते ।। ५९ ।।

पितृत्वादीति । शोकानन्तःकरणसम्बन्धिदुःखानीति शेषः ।। ५७ ।।

ननु त्वयाऽत्र तदुपहितब्रह्मरूपेणैवावतिष्ठत इति किमित्युच्यते निरुक्तश्रुतिषु सुषुप्त्युपहितत्वानुपलम्भादित्यत आह—**सुषुप्तीति** । तथा च कैवल्योपनिषद्याम्नायते— "सुषुप्तिकाले सकले विलीने तमोभिभूतः सुखरूपमेति" इति । सकले जाग्रदादिलक्षणे प्रपञ्च इति प्राञ्चः । तत्तु दृष्टिसृष्ट्यभिप्रायम् । सृष्टिदृष्टिपक्षे तु सकले सर्वांशे मनसीत्यर्थः ।। ५८ ।।

तत्र उत्थितपरामर्शान्यथानुपपत्तिमपि प्रमाणयति । **सुखमिति** । ते श्रुत्युक्ते ।।५९।।

परामर्शोऽनुभूतेऽस्तात्यासीदनुभवस्तदा ।
चिदात्मत्वात्स्वतो भाति सुखमज्ञानधीस्ततः ॥ ६० ॥
ब्रह्म विज्ञानमानन्दमिति वाजसनेयिनः ।
पठन्त्यतः स्वप्रकाशं सुखं ब्रह्मैव नेतरत् ॥ ६१ ॥
यदज्ञानं तत्र लीनौ तौ विज्ञानमनोमयौ ।
तयोर्हि विलयावस्था निद्राऽज्ञानं च सैव हि ॥ ६२ ॥

ननु परामर्शस्याप्रमाणत्वात्कथं तद्बलात्सुखसिद्धिरित्याशङ्क्य तस्याप्रामाण्येऽपि तन्मूलभूतानुभवबलात्तत्सिद्धिरित्यभिप्रायेणाऽऽह—

परामर्श इति । परामर्शः स्मरणज्ञानमनुभूत एव विषये भवति नाननुभूतविषय इत्यस्माद्धेतोस्तदा सुप्तावनुभव आसीदित्यवगम्यते ननु सुप्तौ मनःसहितानां ज्ञानकरणानां विलीनत्वात्कथमनुभवसिद्धिरित्याशङ्क्य किं सुखानुभवसाधनं नास्तीत्युच्यतेऽज्ञानानुभवसाधनं वा । नाऽऽद्यः । स्वप्रकाशचिद्रूपत्वे सुखस्य करणानपेक्षत्वात् । न द्वितीयः । स्वप्रकाशसुखबलादेव तदाकारकाज्ञानप्रतीतिसिद्धिरित्यभिप्रायेणाऽऽह—**चिदात्मेति** । ततः स्वप्रकाशसुखादज्ञानधीरज्ञानस्य प्रतीतिर्भवतीति ॥ ६० ॥

ननु सौषुप्तसुखस्य स्वप्रकाशसुखत्वेऽपि ब्रह्मानन्दः स्वयं भवेदित्यत्रोक्तं ब्रह्मरूपत्वं न सम्भवति मानाभावादित्याशङ्क्य विज्ञानमानन्दमित्यादि बृहदारण्यकवाक्यस्य सद्भावान्मैवमित्याह—**ब्रह्म विज्ञानमिति** ॥ ६१ ॥

नन्वनुभवस्मरणयोरेकाधिकरणत्वनियमात्सुखमहमस्वाप्सं न किंचिदवेदिषमिति च सौषुप्तसुखाज्ञानयोर्विज्ञानमयशब्दवाच्येन जीवेन स्मर्यमाणत्वात्तस्यैव सुखाद्यनुभवितृत्वं वक्तव्यमित्याशङ्क्य तदुपाधेर्विज्ञानस्याज्ञानकार्यस्याज्ञाने विलीनत्वान्मैवमित्यभिप्रायेणाऽऽह—

यदज्ञानमिति । न किंचिदवेदिषमितिस्मरणान्यथानुपपत्त्या गम्यमानं यदज्ञानमस्ति तत्र तस्मिन्नज्ञाने तौ प्रमातृप्रमाणत्वेन प्रसिद्धौ विज्ञानमनोमयौ विलीनौ विज्ञानत्वाद्याकारं परित्यज्य कारणरूपेणावस्थितावद्रुपाधिकस्य नानुभवितृत्वमिति भावः । तत्रोपपत्तिमाह—**तयोरिति** । हि यस्मात्तयोर्विज्ञानमनोमययोर्विलीनावस्था निद्रेत्युच्यते विज्ञानविरतिः सुषुप्तिरित्यभिधानात् तर्हि निद्रायामेव विलीनाविति वक्तव्यमित्याशङ्क्याऽऽह—**अज्ञानमिति** । सैवनिद्रा विद्वद्भिरज्ञानमिति व्यवह्रियत इत्यर्थः ॥ ६२ ॥

ततः किं तदाह—**परामर्श इति** ॥ ६० ॥

तत्र विज्ञानमानन्दं ब्रह्मेति श्रुतिं प्रमाणयति—**ब्रह्मेति** ॥ ६१ ॥

नन्वेवं चेत्सुप्त्यैव मुक्त्यापत्तिरत आह—**यदज्ञानमिति** ॥ ६२ ॥

विलीनघृतवत् पश्चात् स्याद्विज्ञानमयो घनः ।
विलीनावस्थ आनन्दमयशब्देन कथ्यते ।। ६३ ।।
सुप्तिपूर्वक्षणे बुद्धिवृत्तिर्या सुखबिम्बिता ।
सैव तद्बिम्बसहिता लीनानन्दमयस्ततः ।। ६४ ।।
अन्तर्मुखो य आनन्दमयो ब्रह्मसुखं तदा ।
भुङ्क्ते चिद्बिम्बयुक्ताभिरज्ञानोत्पन्नवृत्तिभिः ।। ६५ ।।

ननु तर्हि सौषुप्तसुखाद्यनुभवकालेऽसतो विज्ञानमयस्य प्रबोधे कथं तत्स्मर्तृत्वामित्याशङ्क्य विलयावस्थायामपि तत्स्वरूपनाशाभावाद्विलयावस्थोपाधिमदानन्दमयरूपेणानुभवितृत्वं विज्ञानशब्दवाच्यघनोभावोपाधिमत्त्वेन स्मर्तृत्वं चैकस्य घटत इत्यभिप्रायेणाऽऽह—

विलीनेति । यथाऽग्निसंयोगादिना विलीनं घृतं पश्चाद्वाय्वादिसम्बन्धवशाद्घनोभवत्येवं जाग्रदादिषु भोगप्रदस्य कर्मणः क्षयवशान्निद्रारूपेण विलीनमन्तःकरणं पुनर्भोगप्रदकर्मवशात्प्रबोधे विज्ञानाकारेण घनीभवति । अतस्तदुपाधिक आत्माऽपि विज्ञानमयो घनः स्यात्स एव पूर्वं विलयावस्थोपाधिकः सन्नानन्दमय इत्युच्यते ।। ६३ ।।

विलीनावस्थ आनन्दमय इत्युक्तमेवार्थं स्पष्टीकरोति ।

सुप्तेति । सुप्तेः पूर्वस्मिन्नव्यवहिते क्षणे याऽन्तर्मुखा बुद्धिवृत्तिः स्वरूपभूतसुखप्रतिबिम्बयुक्ता भवति ततोऽनन्तरं तत्प्रतिबिम्बसहिता सैव वृत्तिर्निद्रारूपेण विलीनानन्दमय इत्यभिधीयते ।। ६४ ।।

एवमानन्दमयस्वरूपं प्रदर्श्य तस्यैव प्रबोधकाले विज्ञानमयरूपेण स्मर्तृत्वसिद्धये तदानीं सुखानुभवमुपपादयति—

अन्तर्मुख इति । सुखप्रतिबिम्बसहितान्तर्मुखधोवृत्तिजनितसंस्कारहिताज्ञानोपाधिको य आनन्दमयस्तदा सुषुप्तौ ब्रह्मसुखं स्वरूपभूतं सुखं चिदाभाससहिताभिरज्ञानादुत्पन्नाभिः सुखादिगोचराभिर्वृत्तिभिः सत्त्वपरिणामविशेषैर्भुङ्क्तेऽनुभवति ।। ६५ ।।

तत्रोपपत्तिमाह—**विलीनेति** । एवमानन्दमयं व्युत्पादयति—**विलीनावस्थ इति** ।।६३।।

तत्र हेतुः—**सुप्तेति** । **सुखेति** । सुखस्य बिम्बं प्रतिबिम्बं सञ्जातं यस्यां सा तथेत्यर्थः । ततो हेतोः ।। ६४ ।।

अथ सुप्तो ब्रह्मसुखानुभवं सुखसाक्ष्यज्ञानाकाराज्ञानवृत्तिभिरेव विवरणोक्ताभिरानन्दमयस्य सूक्ष्मावस्थजीवास्याऽऽह—**अन्तर्मुख इति** ।। ६५ ।।

अज्ञानवृत्तयः सूक्ष्मा विस्पष्टा बुद्धिवृत्तयः ।
इति वेदान्तसिद्धान्तपारगाः प्रवदन्ति हि ॥ ६६ ॥
माण्डूक्यतापनीयादिश्रुतिष्वेतदतिस्फुटम् ।
आनन्दमयभोक्तृत्वं ब्रह्मानन्दे च भोग्यता ॥ ६७ ॥
एकीभूतः सुषुप्तस्थः प्रज्ञानघनतां गतः ।
आनन्दमय आनन्दभुक्चेतोमयवृत्तिभिः ॥ ६८ ॥

ननु तर्हि जागरण इवेदानीं सुखमनुभवामीत्यभिमानः कुतो न स्यादित्याशङ्क्याविद्यावृत्तीनां बुद्धिवृत्तिवत्स्पष्टत्वाभावादित्यभिप्रायेणाऽऽह—

अज्ञानवृत्तय इति । इदं कुतोऽवगतमित्यत आह—**इतीति** ॥ ६६ ॥

नन्वानन्दमयो ब्रह्मानन्दं सूक्ष्माभिरविद्यावृत्तिभिर्भुङ्क्त इत्यत्र किं प्रमाणमित्यत आह—

माण्डूक्येति । एतच्छब्दार्थमेवाऽऽह—**आनन्देति** ॥ ६७ ॥

इदानीं सुषुप्तस्थान एकीभूतः प्रज्ञानघन एवानन्दमयो ह्यानन्दभुक्चेतोमुख इति माण्डूक्यादिश्रुतिगतं वाक्यमर्थतः पठति—

एकीभूत इति । सुषुप्तं सुषुप्तिस्तत्र तिष्ठतीति सुषुप्तस्थः सुषुप्त्याभिमानीत्यर्थः । आनन्दमय आनन्दप्रचुर आनन्दभुक् स्वरूपभूतमानन्दं भुङ्क्त इत्यानन्दभुक् चेतोमयवृत्तिभिरिति चेतश्चेतन्यं तन्मय्यस्तत्प्रचुराश्चित्प्रतिबिम्बसहिता इत्यर्थः । ताश्च ता वृत्तयश्च चेतोमयवृत्तयः ताभिरानन्दभुगिति योजना ॥ ६८ ॥

नन्वेवं यदि सुषुप्तौ जीवस्य सूक्ष्मावस्थस्याज्ञानवृत्तिभिर्ब्रह्मसुखानुभवस्तर्हि तत्र जाग्रदादिवदहं सुखीत्युल्लेखः कुतो न सम्पद्यत इत्यत आह—**अज्ञानवृत्तय इति** । ननु किमत्र मानमित्याशङ्क्य विवरणाचार्यवचनमेवेत्याशयेन समाधत्ते—**इतीति** । तदुक्तं **सिद्धान्तविन्दौ** टीकायां **न्यायरत्नावल्यां ब्रह्मानन्दसरस्वतीभिः**—"साक्षिस्वरूपसुखस्वरूपाज्ञानस्वरूपाकारा निर्विकल्पास्तिस्रोऽविद्यावृत्तयः सुषुप्तौ जायन्ते" इति विवरणेऽङ्गीकृतमिति ॥ ६६ ॥

तत्र तन्मूलीभूता काचिच्छ्रुतिर्वाच्येत्यत्राऽऽह—**माण्डूक्येति** । आदिना "त्रिषु धामसु यद्भोग्यं भोक्ता भोगश्च यद्भवेत्" इति कैवल्यम् । एतत्किं तदाह—**आनन्दमयेति** ॥ ६७ ॥

तत्र सुषुप्तस्थान एकीभूतः प्रज्ञानघन एवाऽऽनन्दमयो ह्यानन्दभुक्चेतोमुख इतिमाण्डूक्यवाक्यमर्थतः पठति—**एकीभूत इति** । **चेत इति** । चित्प्रतिबिम्बप्रचुराज्ञानवृत्तिभिरित्यर्थः ॥ ६८ ॥

विज्ञानमयमुख्यैर्यो रूपैर्युक्तः पुराऽधुना ।
स लयेनैकतां प्राप्तौ बहुतण्डुलपिष्टवत् ॥ ६९ ॥
प्रज्ञानानि पुरा बुद्धिवृत्तयोऽथ घनोऽभवत् ।
घनत्वं हिमबिन्दूनामुदग्देशे यथा तथा ॥ ७० ॥
तद्घनत्वं साक्षिभावं दुःखभाव प्रचक्षते ।
लौकिकास्तार्किका यावद्दुःखवृत्तिविलोपनात् ॥ ७१ ॥

तद्वाक्यगतस्यैकीभूत इति पदस्यार्थमाह—

विज्ञानेति । य आत्मा पुरा जागरणावस्थायां विज्ञानमयमुख्यैः "स वा अयमात्मा ब्रह्म विज्ञानमयो मनोमयः प्राणमयश्चक्षुर्मयः श्रोत्रमयः पृथिवीमय आपोमयो वायुमय आकाशमयस्तेजोमयोऽतेजोमयः काममयोऽकाममयः क्रोधमयोऽक्रोधमयः" इत्यादिश्रुत्युक्तैरूपैराकारविशेषैर्युक्तोऽभूत्स एवाधुना लयेन विज्ञानमनआद्युपाधिविलयेनैकतामेकाकारतां प्राप्तो गतो भवति । तत्र दृष्टान्तमाह **बह्वीति** । बहुतण्डुलजनितपिष्टवदित्यर्थः ॥ ६९ ॥

अथ प्रज्ञानघनशब्दार्थमाह—**प्रज्ञानानीति** । पुरा पूर्वं जाग्रदादौ प्रज्ञानशब्दवाच्या घटादिगोचरा या बुद्धिवृत्तयोऽभवन्नथ सुषुप्तिकाले घटादिविषयाभावे सति घनोऽभवच्चिद्रूपेणैकरूपोऽभूत्तत्र दृष्टान्तमाह—**घनत्वमिति** ॥ ७० ॥

इदानीं प्रज्ञानघनशब्दार्थनिरूपणप्रसङ्गादागतं किञ्चिदाह—

तद्घनत्वमिति । यदिदं वेदान्तेषु साक्षित्वेनाभिधीयमानत्वमस्ति तदेव लौकिकाः शास्त्रसंस्काररहितास्तार्किका वैशेषिकादयः शास्त्रिणश्च दुःखाभावं प्रचक्षते दुःखाभाव इत्याहुः । कुत इत्यत आह—**यावदिति** । यावत्यो दुःखवृत्तयस्तासां सर्वासां विलयादित्यर्थः ॥ ७१ ॥

अथोक्तश्रुतिगतमेकीभूतपदं विशदयति—**विज्ञानमयेति** । 'स वा अयमात्मा ब्रह्म विज्ञानमयो मनोमयः" इत्यादिकाण्वश्रुत्युक्तानेकविधै रूपैरित्यर्थः ॥ ६९ ॥

एवं तत्रत्यमेव प्रज्ञानघनपदमपि विशदयति—**प्रज्ञानानीति** ॥ १७० ॥

तथा च जाग्रदवस्थायां तत्तद्धीवृत्त्यवच्छिन्नचिदाभासाः सर्वेऽपि स्वोपाधिमूलीभूतधिय एव सुप्तौ लीनत्वाद्धिमकणवद्घनिविडतां प्राप्नुवन्ति साक्षिणि तत्तदीयं साक्षित्वमेवाज्ञानप्रयुक्तं लोकास्तार्किकाश्च दुःखानुपलब्धेस्तदभावमेव वदन्तीत्याह—**तद्घनत्वमिति** ॥ ७१ ॥

अज्ञानबिम्बिता चित्स्यान्मुखमानन्दभोजने ।
भुक्तं ब्रह्मसुखं त्यक्त्वा बहिर्यात्यथ कर्मणा ॥ ७२ ॥

कर्म जन्मान्तरेऽभूद्यत्तद्योगाद्बुध्यते पुनः ।
इति कैवल्यशाखायां कर्मजो बोध ईरितः ॥ ७३ ॥

कश्चित्कालं प्रबुद्धस्य ब्रह्मानन्दस्य वासना ।
अनुगच्छेद्यतस्तूष्णीमास्ते निर्विषयः सुखी ॥ ७४ ॥

पूर्वोदाहृतश्रुतिवाक्यगतचेतोमुखशब्दार्थमाह—

अज्ञानेति । आनन्दभोजने सौषुप्तब्रह्मानन्दास्वादने मुखं साधनमज्ञानबिम्बिता चित् स्यादज्ञानवृत्तौ प्रतिबिम्बितं चैतन्यमेव भवेत् । ननु सुषुप्तवानन्दमयरूपेण जीवेन ब्रह्मसुखं चेद्भुज्यते तर्हि तत्परित्यज्याथ बहिः कुतो जागरणं दुःखलयमागच्छेदित्यत आह—**भुक्तमिति** । पुण्यापुण्यकर्मपाशबद्धत्वात्तेन प्रेरितो जीवः साक्षात्कृतमपि ब्रह्मानन्दं परित्यज्याथ बहिर्याति जागरणादिकं गच्छतीत्यर्थः ॥ ७ ॥

एतत्कुतोऽवगम्यत इत्याशङ्क्य "पुनश्च जन्मान्तरकर्मयोगात्स एव जीवः स्वपिति प्रबुद्धः" इति कैवल्यश्रुतिवाक्यादितिमन्वानस्तद्वाक्यमर्थतः पठंस्तदभिप्रायमाह—**कर्मेति** ॥ ७३ ॥

सुप्तौ ब्रह्मानन्दोऽनुभूत इत्यत्र लिङ्गं चाऽऽह—

कश्चिदिति । प्रबुद्धस्य जागरणं प्राप्तस्यापि कश्चित्कालं स्वल्पकालपर्यन्तं सुप्तावनुभूतस्य ब्रह्मानन्दस्य वासनासंस्कारोऽनुगच्छेदनुगच्छति । कुत एतदवगम्यत इत्यत आह—**यत इति** । यतः कारणात्प्रबोधादौ निर्विषयो विषयानुभवरहितोऽपि सुखी संतूष्णीमास्तेऽतोऽवगम्यत इत्यर्थः ॥ ७४ ॥

अथ चेतोमुखपदार्थमाह- **अज्ञानेति** । नन्वेवं ब्रह्मानन्दास्वादे जीवस्य ततो व्युत्थानमनुचितं तत्राऽऽह—**भुक्तमिति** ॥ ७२ ॥

तत्र मानमाह—**कर्मेति** । "पुनश्च जन्मान्तरकर्मयोगात्स एव जीवः स्वपिति प्रबुद्धः" इति तच्छ्रुतिः ॥ ७३ ॥

तत्र युक्तिमप्याह—**किञ्चिदिति** । तत्र हेतुः-- **यत इति** ॥ ७४ ॥

कर्मभिः प्रेरितः पश्चान्नानादुःखानि भावयन् ।
शनैर्विस्मरति ब्रह्मानन्दमेषोऽखिलो जनः ।। ७५ ।।
प्रागूर्ध्वमपि निद्रायाः पक्षपातो दिने दिने ।
ब्रह्मानन्दे नृणां तेन प्राज्ञोऽस्मिन्विवदेत कः ।। ७६ ।।
ननु तूष्णीं स्थितौ ब्रह्मानन्दश्चेद्भाति लौकिकाः ।
अलसाश्चरितार्थाः स्युः शास्त्रेण गुरुणाऽत्र किम् ।। ७७ ।।
बाढं ब्रह्मेति विद्युश्चेत्कृतार्थास्तावतैव ते ।
गुरुशास्त्रे विनाऽत्यन्तं गम्भीरं ब्रह्म वेत्ति कः ।। ७८ ।।

तर्हि तूष्णीं कुतो नावतिष्ठत इत्यत आह—

कर्मभिरिति । कर्मभिः पूर्वोक्तैर्नोदितः सर्वोऽपि प्राणी पश्चान्नानाविधानि दुःखान्यनुसन्दधानः शनैर्ब्रह्मानन्दं विस्मरति ।। ७५ ।।

इतोऽपि ब्रह्मानन्देन विप्रतिपत्तिः कार्येत्याह—**प्रागिति** । प्रत्यहं मनुष्याणां निद्रायाः प्रागूर्ध्वमपि निद्रारम्भे निद्रावसाने च ब्रह्मानन्दे स्नेहोऽस्ति यतो निद्रादौ मृदुशय्यादि सम्पादयन्ति तदवसाने च तं परित्यक्तुमशक्तास्तूष्णीमासते तेन कारणेनास्मिन्नानन्दे को बुद्धिमान्विवदेत न कोऽपीत्यर्थः ।। ७६ ।।

चोदयति—

नन्विति । गुरुशुश्रूषादिलभ्यस्य ब्रह्मानन्दानुभवस्य तूष्णीं स्थितिमात्रलभ्यत्वे गुरुशुश्रूषादिपूर्वकं श्रवणादिकं वृथा स्यादित्यर्थः ।। ७७ ।।

अयं ब्रह्मानन्द इति ज्ञाते सति कृतार्थता भवत्येव तदेव गुरुशुश्रूषादिकमन्तरेण न सम्भवतीत्याह—

बाढमिति । अत्यन्तं गम्भीरं दुरवगाहमवाङ्मनसगम्यं सर्वज्ञं सर्वान्तरं सर्वात्मरूपं ब्रह्म गुरुशास्त्रे विहायान्येन केनाप्युपायेन को जानीयान्न कोऽपीत्यर्थः ।। ७८ ।।

तर्हि तथैव कुतो न तिष्ठतीत्यत्राऽऽह—**कर्मभिरति** ।। ७५ ।।

एवं सुप्तौ निरुक्तब्रह्मनुभवसत्त्वे युक्त्यन्तरमप्याह—**प्रागिति** । निद्रायाः प्रागन्तर्मुखवृत्त्यनुभवेनोर्ध्वं वासनानन्दानुभवने चेत्यर्थः ।। ७६ ।।

नन्वेवं चेत्तर्हि लौकिकाः शास्त्रसंस्कारहीना अलसा अपि कृतार्थी भविष्यन्तीत्यक्षिपति—**नन्विति** ।। ७७ ।।

अथ सिद्धान्ती निरुक्ताशङ्कां किञ्चिदङ्गीकृत्याऽऽपादितं गुर्वादिवैयर्थ्यं प्रत्याह—**बाढमिति** । विद्युश्चेद्यदि जानीयश्चेत्तर्हि तावतैव ते कृतार्थाः सन्तीत्यन्वयः ।। ७८ ।।

जानाम्यहं त्वदुक्त्याऽद्य कुतो मे न कृतार्थता ।
शृण्वत्र त्वादृशो वृत्तं प्राज्ञंमन्यस्य कस्यचित् ॥ ७९ ॥
चतुर्वेदविदे देयमिति शृण्वन्नवोचत ।
वेदाश्चत्वार इत्येवं वेद्मि मे दीयतां धनम् ॥ ८० ॥
संख्यामेवैष जानाति न तु वेदानशेषतः ।
यदि तर्हि त्वमप्येवं नाशेषं ब्रह्म वेत्सि हि ॥ ८१ ॥
अखण्डैकरसानन्दे मायातत्कार्यवर्जिते ।
अशेषत्वसशेषत्ववार्तावसर एव कः ॥ ८२ ॥

ननु त्वद्वाक्यादेव ब्रह्मानन्दं जानतो मम न कृतार्थता लभ्यत इत्याशङ्क्यानुवादपूर्वकं सोपहासमुत्तरमाह—जानामिति ॥ ७९ ॥

तमेव वृत्तान्तं दर्शयति—

चतुर्वेदेति । कश्चिचतुर्वेदविदे कस्मैचिदिदं बहुधनं दातव्यमित्येवंविधं वाक्यं श्रुत्वा वेदाश्चत्वार इत्यस्मादेव वाक्यादहं वेद्म्यतो मे दीयतामिति वक्ति तद्वद्भवानपीत्यर्थः ॥ ८० ॥

ननु वेदाश्चत्वार इति यो वेद स वेदगतां संख्यामेव वेत्ति न तु वेदानां स्वरूपमिति चोदयति—

संख्यामिति । साम्ये तु समाधत्ते—**तर्हीति** । एवं चतुर्वेदाभिज्ञंमन्य इव त्वमप्यशेषं सम्पूर्णं यथा भवति तथा ब्रह्म न वेत्सि नैव जानासि ॥ ८१ ॥

ननु संख्यातिरिक्तवेदस्वरूपभेद इव स्वगतादिभेदशून्य आनन्दरूपे ब्रह्मण्यज्ञायमानस्यांशस्याभावादसम्पूर्णज्ञानित्वोपालम्भो न घटत इति चोदयति—**अखण्डैकेति** ॥ ८२ ॥

तत्राप्याक्षिपन्तं प्रति लौकिकवृत्तान्तकथनेनोपहसति—**जानामीति** ॥ ७९ ॥

कोऽसौ वृत्तान्त इत्यतस्तमाह—**चतुर्वेदेति** ॥ ८० ॥

तत्राप्यसौ चोदयति—**सङ्ख्यामेवेति** । अथ सिद्धान्ती तां तदीयशङ्कामनूद्य प्रतिबन्द्या प्रत्याचष्टे—**यद्येति** इति यदीति शेषपूरणम् ॥ ८१ ॥

तत्रापि पूर्ववादी शङ्कते—**अखण्डेति** ॥ ८२ ॥

शब्दानेव पठस्याहो तेषामर्थं च पश्यसि ।
शब्दपाठेऽर्थबोधस्ते संपाद्यत्वेन शिष्यते ॥ ८३ ॥

अर्थे व्याकरणाद्बुद्धे साक्षात्कारोऽवशिष्यते ।
स्यात्कृतार्थत्वधीर्यावत्तावद्गुरुमुपास्व भोः ॥ ८४ ॥

आस्तामेतद्यत्र यत्र सुखं स्याद्विषयैर्विना ।
तत्र सर्वत्र विद्धयेतां ब्रह्मानन्दस्य वासनाम् ॥ ८५ ॥

ब्रह्मज्ञानेऽप्यशेषत्वादिक दर्शयितु ब्रह्म जानामीति वदन्तं विकल्प्य पृच्छति—

शब्दानीति । किमखण्डैकरसमद्वितीयसच्चिदानन्दरूपमित्यादिशब्दानेव पठस्याहोऽथ वा तेषां शब्दानामर्थं स्वगतादिभेदशून्यत्वादिकं च पश्यसि । जानासीति विकल्पार्थः । आद्ये पक्षे सावशेषत्व दर्शयति—**शब्दपाठ इति** ॥ ८३ ॥

द्वितीयेऽपि तद्दर्शयति—

अर्थ इति । व्याकरणादित्युपलक्षणं निगमादे । व्याकरणादिना परोक्षज्ञाने सम्पादितेऽपि सशयादिनिरासेनापरोक्षीकरणमवशिष्यते । तर्हि कदा सम्पूर्णत्व ज्ञानस्येत्याशङ्क्य तदवधि दर्शयति—**स्यादिति** । यदा कृतार्थत्वबुद्धिरुत्पद्यते तदा ज्ञानस्य सम्पूर्णताऽवगन्तव्येत्यर्थः ॥ ८४ ॥

एव प्रासङ्गिकं परिसमाप्य प्रकृतमेवानुसरति—

आस्तामिति । यत्र यत्र यस्मिन्यस्मिन्काले तूष्णीम्भावादौ विषयानुभवमन्तरेण सुखं भवति तत्र तत्र सुखस्य विषयजन्यत्वाभावात्सामान्याहङ्कारावृतत्वाच्च वासनानन्दत्वमवगन्तव्यमित्यर्थः ॥ ८५ ॥

' तत्रापि सिद्धान्त्युपहसति—**शब्दानेवेति** ॥ ८३ ॥

अर्थस्तु व्याकरणतोऽवगम्यत एवेत्यत्राऽऽह—**अर्थ इति** । एवं तर्हि स साक्षात्कारः कथं स्यात्तत्राऽऽह—**स्यादिति** ॥ ८४ ॥

तर्हि त्वमेव मे गुरुरित्यन्तः शरणागतमिव तमिङ्गितैरालक्ष्यानुजिघृक्षया तं प्रति ब्रह्मानन्दवासनां सामान्यतो व्युत्पादयति । **अस्तामिति** ॥ ८५ ॥

विषयेष्वपि लब्धेषु तदिच्छोपरमे सति।
अन्तर्मुखमनोवृत्तावानन्दः प्रतिबिम्बति ॥ ८६ ॥
ब्रह्मानन्दो वासना च प्रतिबिम्ब इति त्रयम्।
अन्तरेण जगत्यस्मिन्नानन्दो नास्ति कश्चन ॥ ८७ ॥

एवं ब्रह्मानन्दवासनानन्दौ दर्शयित्वेदानीमानन्दत्रैविध्यनियमनायाऽऽत्माभिमुखधीवृत्तावित्यत्रोक्तमेव विषयानन्दं पुनरनुवदति—

विषयेष्वपीति। यदा यदा स्रगादिविषयलाभात्तत्तदिच्छोपरमो भवति तदा तदा मनस्यन्तर्मुखे सति तस्मिन्न्य स्वात्मानन्द प्रतिबिम्बितो भवत्ययं विषयानन्द इत्यर्थः ॥ ८६ ॥

फलितमाह—

ब्रह्मानन्द इति। उक्तप्रकारेण स्वप्रकाशतया सुषुप्तौ प्रतिभासमानो यो ब्रह्मानन्दो यश्च तूष्णीं स्थितौ विषयानुभवमन्तरेण प्रतीयमानो वासनानन्दो योऽप्यभीष्टविषयलाभादन्तर्मुखे मनसि प्रतिबिम्बितो विषयानन्द एतत्त्रितयातिरेकेणास्मिञ्जगति न कश्चिदानन्दोऽस्ति। नन्वानन्दस्त्रिविधो ब्रह्मानन्दो विद्यासुखं तथा विषयानन्द। इत्यनेन प्रकारेणाऽऽनन्दत्रैविध्यमुक्तमिदानीं तु ब्रह्मानन्दो वासना च प्रतिबिम्ब इति त्रयमिति तद्विलक्षणमानन्दस्य त्रैविध्यमुच्यते। अत पूर्वोत्तरविरोध.। किं च—"यावद्यावदहङ्कारो विस्मृतोऽभ्यासयोगतः। तावत्तावत्सूक्ष्मदृष्टेर्निजानन्दोऽनुमीयते" इति तादृक्पुमानुदासीनकालेऽप्यानन्दवासनामुपेक्ष्य मुख्यमानन्दं भावयत्येव तत्पर इति चोक्तप्रकारद्वयातिरिक्तो निजानन्दमुख्यानन्दावभिधीयते। तथा **द्वितीयाध्याये**—मन्दप्रज्ञं तु जिज्ञासुमात्मानन्देन बोधयेदिति। आत्मानन्द-

एवं ब्रह्मानन्दवासनानन्दौ व्युत्पाद्य प्रागुक्तमप्यात्माभिमुखधीवृत्तावानन्दः प्रतिबिम्बतीत्यादिना विषयानन्दं संख्याकरणार्थं तं पुनरनुवदति—**विषयेष्विति।** अभिलब्धेषु यथेच्छं मिलितेषु सत्स्वित्यर्थः ॥ ८६ ॥

ततः किं तत्राऽऽह—**ब्रह्मानन्द इति।** प्रतिबिम्बो विषयानन्द इत्यर्थः। ननु पुरा—आनन्दस्त्रिविधो ब्रह्मानन्दो विद्या सुखं तथा। विषयानन्द इति त्रैविध्यमभ्यधायि। तथा यावद्यावदहङ्कारो विस्मृतोभ्यासयोगतः। तावत्तावत्सूक्ष्मदृष्टेर्निजानन्दोनुमीयते" इति। "तादृक्पुमानुदासीनकालेऽप्यानन्दवासनाम्। उपेक्ष्य मुख्यमानन्दं भावयत्येव तत्परः" इति निजानन्दमुख्यानन्दद्वयमपि। एवं **द्वितीयाध्याये**—'मन्दप्रज्ञं तु जिज्ञासमात्मानन्देन बोधयेद" इत्यात्मानन्दश्च। योगानन्दः परोक्तो य इति योगानन्दो-

स्ततोऽन्योभिधीयते। योगानन्दः पुरोक्तो य इत्यत्र योगानन्दोऽपि कश्चिदवभासते। ब्रह्मानन्दाभिधे ग्रन्थे तृतीयाध्याय ईरितः। अद्वैतानन्द एव स्यादित्यत्राद्वैतानन्दं चान्यमवगच्छामः। अतः, अन्तरेण जगत्यस्मिन्नानन्दो नास्ति कश्चनेत्युक्तिर्विरुद्ध्येतेति चेन्मैवम्। विद्यानन्दस्य विषयानन्दवदन्तःकरणवृत्तिविशेषत्वेन विषयानन्देऽन्तर्भावस्य विषयानन्दवद्विद्यानन्दो धीवृत्तिरूपक इत्युत्तरत्र धोवृत्तिरूपत्वाभिधानेन विवक्षित्वान्निजानन्दमुख्यानन्दात्मानन्दयोगानन्दाद्वैतानन्दानां तु ब्रह्मानन्दादनतिरिक्तत्वाच्च। तथा हि यावद्यावदहङ्कार इत्युदाहृतश्लोके योगलक्षणोपायगम्यतया योगानन्दत्वेन विवक्षितस्य निजानन्दस्यैव "न द्वैतं भासते नापि निद्रा तत्रास्ति यत्सुखम्। स ब्रह्मानन्द इत्याह भगवानर्जुनं प्रति" इत्यस्मिन्नुत्तरश्लोक एव ब्रह्मानन्दत्वाभिधानान्निजानन्दो ब्रह्मानन्दान्न भिद्यते तथा मुख्यानन्दोऽपि ब्रह्मानन्द एव। तथा च विषयानन्दो वासनानन्द इत्यमू आनन्दौ जनयन्नास्ते ब्रह्मानन्दः स्वयंप्रभ इत्यत्र जन्यत्वेनामुख्यभूतयोर्विषयानन्दवासनानन्दयोर्जनकत्वेनाभिहितस्य ब्रह्मानन्दस्यैव तादृक्पुमानुदासीनकालेऽपीत्युदाहृत एव श्लोक आनन्दवासनामुपेक्ष्य मुख्यमानन्दं भावयत्येव। तत्पर इति मुख्यानन्दत्वाभिधानादात्मानन्दाद्वैतानन्दयोस्तु ब्रह्मानन्दत्वम्, योगानन्दः पुरोक्तो यः स आत्मानन्द इष्यतामिति तृतीयाध्यायादौ, प्रथमाध्याये योगानन्दतया

ऽपि। "ब्रह्मानन्दाभिधे ग्रन्थे तृतीयाध्याय ईरितः। अद्वैतानन्द एव स्यात्" इत्यद्वैतानन्दोऽपि। एवं चाद्वैतानन्दान्तोऽष्टमूर्तिरानन्दो निरुक्तवासनानन्देन सह दुवितारोऽपि(?) प्रतीयते तत्कथमुच्यते ब्रह्मानन्दो वासना च प्रतिबिम्ब इति त्रयम्। अन्तरेण जगत्यस्मिन्नानन्दो नास्ति कश्चनेति चेन्न। तात्पर्यानवबोधात्। तथाहि—विषयानन्दवद्विद्यानन्दो धीवृत्तिरूपक इत्युत्तरग्रन्थाद्विषयानन्दविद्यानन्दयोः संस्कारविशेषात्मकस्य वासनानन्दस्य च कार्यत्वं निर्विवादमेव। निजानन्दमुख्यानन्दात्मानन्दयोगानन्दाद्वैतानन्दानां तु पञ्चानामपि विषयानन्दादित्रितयनिरूपितकारणत्वोपलक्षितादब्रह्मानन्दादभिन्नत्वमेव। यावद्यावदहङ्कार इत्युदाहृतश्लोके हि निजानन्द एव योगोपायगम्यत्वेन योगानन्दस्तस्य च तदुत्तरश्लोके—"न द्वैतं भासते नापि निद्रा तत्रास्ति यत्सुखम्। स ब्रह्मानन्द इत्याह भगवानर्जुनं प्रति" इत्यत्र योगानन्दनिजानन्दयोर्ब्रह्मानन्दत्वोक्तेः। "तथा च विषयानन्दो वासनानन्द इत्ययम्। आनन्दो जनयन्नास्ते ब्रह्मानन्दः स्वयंप्रभः" इत्यग्र एव जन्यत्वेनामुख्यीभूतविषयानन्दवासनानन्दापेक्षया "तादृक्पुमानुदासीनकालेऽप्यानन्दवासनाम्। उपेक्ष्य मुख्यमानन्दं भावयत्येव तत्परः" इत्यत्रोक्तस्य कारणत्वेन मुख्यस्याऽऽनन्दस्यापि ब्रह्मानन्दत्वसिद्धेः। एवं योगानन्दः पुरोक्तो यः स आत्मानन्द इष्यतामिति तृतीयाध्याये

तथा च विषयानन्दो वासनानन्द इत्यम् ।
आनन्दौ जनयन्नास्ते ब्रह्मानन्दः स्वयंप्रभः ॥ ८८ ॥

विवक्षितस्य ब्रह्मानन्दस्यैव योगानन्दशब्देनानुवादपूर्वकमात्मानन्दतामभिधाय कथं ब्रह्मत्वमेतस्य सद्वयस्येति चेदिति प्रश्नपूर्वकमाकाशादिशरीरान्तमित्यादिनाऽद्वितीयस्य ब्रह्मत्वप्रतिपादनादवगन्तव्यम् । तस्माद्ब्रह्मानन्दो वासना च प्रतिबिम्ब इत्युक्तं त्रैविध्यं सुस्थम् । ननु तर्हि—नन्वेवं वासनानन्दाद्ब्रह्मानन्दादपीतरम् । वेत्तु योगी निजानन्दमित्यत्र निजानन्दस्य ब्रह्मानन्दवासनानन्दाभ्यां भेदेन निर्देशो न युज्यत इति न शङ्कनीयम् । एकस्यैव ब्रह्मानन्दस्य जगत्कारणत्वोपाधिसाहित्यराहित्यभेदेन भेदव्यपदेशोपपत्तेः । तथा हि ब्रह्मानन्दनिरूपणावसरे "आनन्दाद्ध्येवेमानि भूतानि जायन्ते" इत्यादिना जगत्कारणत्वाभिधानेन ब्रह्मानन्दस्य समायत्वमवगम्यते । निर्मायिस्य जगत्कारणात्वानुपपत्तेः । निजानन्दनिरूपणकालेऽपि यावद्यावदहङ्कार इत्यादिना सकारणस्याहङ्कारस्य विलयप्रतिपादनान्निजानन्दस्य निर्मायत्वमिति सर्वमनवद्यम् ॥ ८७ ॥

नन्वस्मिन्नध्याये ब्रह्मानन्दविवेचनस्यैव प्रस्तुतत्वादितरानन्दद्वयप्रतिपादनं प्रकृतासङ्गतमित्याशङ्क्य तयोर्ब्रह्मानन्दजन्यत्वेन तद्बोधोपयोगित्वान्न प्रकृतासङ्गतमित्यभिप्रायेणाऽऽह—

तथेति । तथा चैवमानन्दत्रैविध्ये सति यः स्वयंप्रकाश आनन्दो विषयानन्दवासनानन्दौ जनयति स ब्रह्मानन्दो वेदितव्य इत्यर्थः ॥ ८८ ॥

प्रथमाध्योक्तयोगानन्दस्यैवाऽऽत्मानन्दत्वमुक्त्वा कथं ब्रह्मत्वमेतस्य सद्वयस्येति प्रश्नपूर्वकमाकाशादिशरीरान्तमित्यादिना द्वैतस्य सत्तानतिरेकेण सन्मात्रत्वेनाऽऽत्मानन्दाद्वैतानन्दयोरप्यर्थाद्ब्रह्मानन्दत्वलब्धेश्च । न चाथापि "नन्वेवं वासनानन्दाद्ब्रह्मानन्दादपीतरम् । वेत्तु योगी निजानन्द"मिति निजानन्दस्य ब्रह्मानन्दाद्भिन्नत्वमुक्तं विरुध्येतेति साम्प्रतम् । ब्रह्मानन्दस्य कारणत्वेन समायत्वान्निजानन्दस्य तु निर्मायत्वाच्च । तदेवं कार्यकारणादिभावभेदेनोक्तमानन्दत्रैविध्यं व्यावहारिकम् । वस्तुतस्त्वद्वय एव ब्रह्मानन्दः पारमार्थिक इति दिक् ॥ ८७ ॥

अत एव—**तथा चेति** ॥ ८८ ॥

श्रुतियुक्त्यनुभूतिभ्यः स्वप्रकाशचिदात्मके ।
ब्रह्मानन्दे सुप्तिकाले सिद्धे सत्यन्यदा शृणु ॥ ८९ ॥
य आनन्दमयः सुप्तौ स विज्ञानमयात्मताम् ।
गत्वा स्वप्नं प्रबोधं वा प्राप्नोति स्थानभेदतः ॥ ९० ॥
नेत्रे जागरणं कण्ठे स्वप्नः सुप्तिर्हृदम्बुजे ।
आपादमस्तकं देहं व्याप्य जागर्ति चेतनः ॥ ९१ ॥
देहतादात्म्यमापन्नस्तप्तायःपिण्डवत्ततः ।
अहं मनुष्य इत्येवं निश्चित्यैवावतिष्ठते ॥ ९२ ॥

वृत्तानुसंकीर्तनपूर्वकमुत्तरग्रन्थमवतारयति—

श्रुतीति । श्रुतिभिः "सुषुप्तिकाले सकले विलीने तमोभिभूतः सुखरूपमेति" इत्यादिभिरुदाहृताभिर्युक्तिभिः सुखमहमस्वाप्समित्यादिपरामर्शान्यथानुपपत्त्यादिभिरनुभूत्या चार्थापत्तिकल्पितेन सुषुप्त्यनुभवेन च सुषुप्तिकाले स्वप्रकाशो ब्रह्मानन्दः साधितः । इतः परमन्यदा जागरणावस्थायामपि यो ब्रह्मानन्दावगमोपायो वक्ष्यते तं शृण्वित्यर्थः ॥ ८९ ॥

प्रतिज्ञातमेव ब्रह्मानन्दावगमोपायं दर्शयितुं तदुपोद्घातत्वेन सनिमित्तां जीवस्यावस्थाद्वयप्राप्तिं दर्शयति—

य इति । सुप्तौ सुषुप्तिकाले विलीनावस्थः आनन्दमयशब्देन कथ्यत इत्युक्तो य आनन्दमयः स विज्ञानशब्दाभिधेयबुद्ध्युपाधिमत्त्वेन विज्ञानमयतां प्राप्य स्थानभेदतो वक्ष्यमाणस्थानविशेषयोगेन स्वप्नं जागरणं वा कर्मानुसारेण गच्छति ॥ ९० ॥

इदानीं जाग्रदाद्यवस्थोपयोगीनि स्थानानि दर्शयति—

नेत्र इति । नेत्रशब्दस्य कृत्स्नदेहोपलक्षणपरतामभिप्रेत्य नेत्रे जागरणमित्यंशस्यार्थमाह—आपादेति । चेतनो जीवः ॥ ९१ ॥

देहं व्याप्येत्यनेन विवक्षितमर्थं दृष्टान्तप्रदर्शनेन स्पष्टयति—

देहतादात्म्यमिति । तत्र प्रमाणमाह—तत इति । यतो मनुष्यत्वादिजातिमता देहेन तादात्म्यं प्राप्तस्ततोऽहं मनुष्य इत्येवं निश्चित्य संशयादिरहितज्ञानेन गृहीत्वैवावतिष्ठते ॥ ९२ ॥

अथोक्तानुवादपूर्वकमवस्थान्तरेऽपि ब्रह्मानन्दकथनं प्रतिजानीते—श्रुतीति ॥८९॥
तदेवाह—य इति ॥ ९० ॥
स्थानान्याह—नेत्रे इति ॥ ९१ ॥
तत्प्रकारमाह—देहेति ॥ ९२ ॥

उदासीनः सुखी दुःखीत्यवस्थात्रयमेत्यसौ ।
सुखदुःखे कर्मकार्ये त्वौदासीन्यं स्वभावतः ॥ ९३ ॥
बाह्यभोगान्मनोराज्यात्सुखदुःखे द्विधा मते ।
सुखदुःखान्तरालेषु भवेत्तूष्णीमवस्थितिः ॥ ९४ ॥
न कापि चिन्ता मेऽस्त्यद्य सुखमास इति ब्रुवन् ।
औदासीन्ये निजानन्दभानं वक्त्यखिलो जनः ॥ ९५ ॥
अहमस्मीत्यहङ्कारसामान्याच्छादितत्ववतः ।
निजानन्दो न मुख्योऽयं किन्त्वसौ तस्य वासना ॥ ९६ ॥

देहतादात्म्याभिमानहेतुकान्येवावस्थान्तराणि दर्शयति—

उदासीन इति । तत्र सुखित्वदुःखित्वयोः कर्मजन्यत्वज्ञानाय विशेषणभूतयोः सुखदुःखयोस्तद्धेतुकत्वं दर्शयति—सुखेति ॥ ९३ ॥

तयोश्च सुखदुःखयोर्निमित्तभेदाद्द्वैविध्यमाह—

बाह्येति । तर्ह्यौदासीन्यं कदा स्यादित्यत आह—सुखेति । व्यक्तिभेदविवक्षया बहुवचनम् ॥ ९४ ॥

यदर्थं जाग्रदाद्युपन्यस्तं तदिदानीं दर्शयति—

न काऽपीति । सर्वोऽपि जन इदानीं मम काऽपि चिन्ता गृहादिविषया नास्ति, अतः सुखं यथा भवति तथा तिष्ठामीति वदन्नौदासीन्यकाले स्वरूपानन्दस्फूर्तिं ब्रूतेऽतो जागरणावस्थायामपि निजानन्दभानमस्तीत्यवगन्तव्यमित्यभिप्रायः ॥ ९५ ॥

नन्वौदासीन्येऽवभासमानस्य निजानन्दत्वे तस्य ब्रह्मानन्दत्वात्पूर्वोक्ता वासनानन्दता न स्यादित्याशङ्क्याहङ्कारसामान्यावृतत्वान्न ब्रह्मानन्दतेति परिहरति—

अहमस्मीति । देवदत्तोऽहमित्यादिविशेषशून्येनाहमस्मीत्येवंरूपेणाह-

अथ स्वप्नजागयोरपि प्रातिभासिकव्यावहारिकदेहतादात्म्यादवान्तरमवस्थात्रयं कथयति—**उदासीन इति** । तत्फलमाह—**सुखेति** ॥ ९३ ॥

निरुक्तसुखाद्योरपि पुनर्द्वैविध्यमाह—**बाह्येति** । तत्प्रयोजनमाह—**सुखेति** ॥९४॥

ततः किं तदाह—**न काऽपीति** । अखिलपदेन नैवात्र विवादावसर इति सूचितम् ॥ ९५ ॥

नन्वेवमौदासीन्यकाले यदि निजानन्दः स्फुरति चेत्तर्हि स प्रागुक्तरीत्या ब्रह्मा-

नीरपूरितभाण्डस्य बाह्ये शैत्यं न तज्जलम् ।
किन्तु नीरगुणस्तेन नीरसत्ताऽनुमीयते ।। ९७ ।।
यावद्यावदहङ्कारो विस्मृतोऽभ्यासयोगतः ।
तावत्तावत्सूक्ष्मदृष्टेर्निजानन्दोऽनुमीयते ।। ९८ ।।

ङ्कारसामान्येनावृतत्वान्नायं मुख्य इत्यर्थः । तर्हि तस्य किंरूपतेत्यत आह—**किं त्वसाविति** ।। ९६ ।।

मुख्यानन्दातिरिक्तवासनानन्दसद्भावे दृष्टान्तः—

नीरेति । जलपूर्णकुम्भस्य बहिर्भागस्पर्शनेनोपलभ्यमानं यच्छैत्यमस्ति तत्तावज्जलं न भवति द्रवत्वानुपलम्भात् । किं तर्हि तदित्यत आह—**किं त्विति** । नीरगुणत्वं कथमवगम्यत इत्यत आह—**तेनेति** । विमतं घट उपलभ्यमानं शैत्यं जलजन्यं भवितुमर्हति शैत्यत्वाज्जल उपलभ्यमानशैत्यवदिति ।। ९७ ।।

भवत्वेवं नीरानुमापकत्वं शैत्यस्य प्रकृते किमायातमित्याशङ्क्य तद्वद्वासनानन्दस्यापि मुख्यानन्दानुमापकत्वमायातमित्याह—

यावदिति । अभ्यासयोगतो ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत्तद्यच्छेच्छान्त आत्मनीति श्रुत्यभिहितनिरोधसमाध्यभ्यासयोगेन यावद्यावदहमादिवृत्तिविलयवशाच्चित्तस्य सूक्ष्मता जायते तावत्तावन्निजानन्दाभिव्यक्तिर्भवतीत्यनुमीयते । अयमत्र प्रयोगः । अहङ्कारसङ्कोचविशेषविशिष्टक्षणेषु द्वितीयादिक्षणः पक्षः स पूर्वस्मात्क्षणादधिकनिजानन्दाविर्भाववानहङ्कारसङ्कोचविशेषयुक्तकालत्वादहङ्कारसङ्कोचयुक्ताद्यक्षणवदिति ।। ९८ ।।

नन्द एव । तथा—"किञ्चित्कालं प्रबुद्धस्य ब्रह्मानन्दस्य वासना । अनुगच्छेद्यतस्तूष्णीमास्ते निर्विषयः सुखी" इति प्रागुक्तोदासीनकालावच्छेदेनावभासमानसुखरूपस्य तस्य वासनानन्दता न स्यादित्यत्राऽऽह **अहमस्मीति** ।। ९६ ।।

तत्र दृष्टान्तमाह—**नीरेति** ।। ९७ ।।

दार्ष्टान्तिकमाह—**यावद्यावदिति** । **अभ्यासेति** । "लीने पूर्वविकल्पे तु यावदन्यस्य नोदयः । निर्विकल्पकचैतन्यं स्पष्टं तावद्विभासते । एवं द्वित्रिक्षणेष्वेव विकल्पस्य निरोधनम् । क्रमेणाभ्यस्यतां नित्यं ब्रह्मानुभवकाङ्क्षिभिः" इति लघुवाक्यवृत्तिविहितास्यासयोगाद्धेतोरित्यर्थः । अत्रायं प्रयोगः । अहङ्कारलयविशिष्टक्षणेषु मध्ये द्वितीयादिक्षणः पक्षः, पूर्वाधिकसुखवान्, अहङ्कारलयविशिष्टकालत्वात्, तद्विशिष्टाद्यक्षणवदिति ।। ९८ ।।

सर्वात्मना विस्मृतः सन्सूक्ष्मतां परमां व्रजेत् ।
अलीनत्वान्न निद्रैषा ततो देहोऽपि नो पतेत् ॥ ९९ ॥
न द्वैतं भासते वाऽपि निद्रा तत्रास्ति यत्सुखम् ।
स ब्रह्मानन्द इत्याह भगवानर्जुनं प्रति ॥ १०० ॥
शनैः शनैरुपरमेद्बुद्ध्या धृतिगृहीतया ।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत् ॥ १ ॥

बुद्धिसौक्ष्म्यस्य कोऽवधिरित्याकाङ्क्षायां साक्षात्कारोऽवधिरित्याह—सर्वेति । तर्हि सा निद्रैव स्यादित्यत आह—अलीनेति । सर्ववृत्तिविलयेऽप्यन्तःकारणस्वरूपविलयाभावान्नेयं निद्रा बुद्धेः कारणात्मनाऽवस्थानं सुषुप्तिरित्याचार्यैरुक्तत्वादित्यर्थः । अन्तःकरणस्वरूपविलयाभावे लिङ्गमाह—तत इति । यत्र सुषुप्त्यादावहङ्कारविलयस्तत्र देहपातो दृष्ट इह तु तदभावादविलीन इति गम्यते ॥ ९९ ॥

फलितमाह—

न द्वैतमिति । यस्मिन्काले द्वैतभानं नास्ति निद्राऽपि नाऽऽगच्छति तस्मिन्काल उपलभ्यमानं यत्सुखमस्ति स ब्रह्मानन्द इत्यर्थः । अयं ब्रह्मानन्द इति कुतोऽवगतमित्याशङ्क्य कृष्णवाक्यादित्याह—इतीति । गीतायां षष्ठाध्याय इति शेषः ॥ १०० ॥

तत्र कैः श्लोकैरुक्तवानित्याशङ्क्य तान्श्लोकान्पठत्यर्थक्रमानुसारेण—शनैरिति । अयमर्थः । धृतिगृहीतया धैर्ययुक्तया बुद्ध्या साधनभूतया शनैर्न सहसोपरमेन्मन उपरतिं कुर्यात् । कियत्पर्यंतमित्यत आह—आत्मेति । मन आत्मसंस्थमात्मनि संस्था सम्यक्स्थितिरात्मैवेदं सर्वं न ततोऽन्यत्किञ्चिदस्तीत्येवंरूपा यस्य तदात्मसंस्थं तथाविधं कृत्वा किञ्चिदपि न चिन्तयेदेष योगस्य परमोऽवधिः ॥ १ ॥

ततः किं तदाह—सर्वेति । ननु तथा चेन्निद्रा स्यान्नेत्याह—अलीनत्वादिति । मनस इति शेषः । अत एवाऽऽहुः—।"लीयते हि सुषुप्तौ तन्निगृहीतं न लीयते" इति । तत्र लिङ्गमप्याह—तत इति ॥ ९९ ॥

किमेतावता प्रकृते ब्रह्मानन्दविचार इत्यत आह—न द्वैतमिति ॥ १०० ॥

कैर्वाक्यैरित्यपेक्षायां तान्येव पठति—शनैः शनैरित्यादिना । एतेन यमनियमासनप्राणायामाः क्रमात्प्रोच्यन्ते ॥ १०१ ॥

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम् ।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥ २ ॥
प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम् ।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम् ॥ ३ ॥

एतत्सम्पादने प्रवृत्तो योगी प्रथमं किं कुर्यादित्यत आह—

यत इति । चञ्चलं स्वाभावदोषादत एवास्थिरमेकत्र विषयेऽनियतमेवंविधं मनो यदा यदा यतो यस्माद्यस्माच्छब्दादेर्निमित्तान्निश्चरति निर्गच्छति ततस्ततस्तस्मात्तस्माच्छब्दादेः सकाशान्नियम्य तेषां शब्दादीनां मिथ्यात्वादिदोषदर्शनेनाभासीकृत्य वैराग्यभावनापूर्वकं निरुद्ध्यैतन्मन आत्मन्येव वशं नयेदात्मवश्यतामापादयेत् । एवं योगाभ्यासतोऽभ्यासबलादात्मन्येव मनः प्रशाम्यति ॥ २ ॥

मनः प्रशान्तौ किं भवतीत्यत आह—

प्रशान्तेति । शान्तरजसं प्रक्षीणमोहादिक्लेशरजसमत एव प्रशान्तमनसं प्रकर्षेणात्यर्थं शान्तं विक्षेपशून्यं मनो यस्य तं ब्रह्मभूतं ब्रह्मैवेदं सर्वमिति निश्चयवत्तया जीवन्मुक्तकल्पषमधर्मादिवर्जितमेनं योगिन उत्तमं क्षयित्वसातिशयित्वादिदोषरहितं सुखमुपैति, उपगच्छति ॥ ३ ॥

अथ प्रत्याहारमाह—यतो यत इति । सरलमेवापरम् ॥ १०२ ॥

अथ संयमाख्यं क्रमप्राप्तमन्तरङ्गं धारणाध्यानसमाध्याख्यं योगाङ्गत्रयं तत्फलं प्रकृतप्रकरणे शतश्लोकयन्तोक्तेन भगवद्गीतायामुक्तश्लोकावधिनिरूपितेन ब्रह्मात्मैक्यविचारेण साकमेवानुष्ठितत्वादखिलप्रतिबन्धक्षयाद्धारणादित्रयानुष्ठानकाले चिन्तितादहं ब्रह्मास्मि ब्रह्माहमस्मीति च महावाक्यादेव सञ्जातापरोक्षज्ञानेनैवाज्ञानध्वस्तो सत्यां जीवन्मुक्तिलक्षणमसम्प्रज्ञातापराभिधनिर्विकल्पसमाधिसंज्ञमप्यभिधत्ते—प्रशान्तेति । एवं प्रत्याहारान्तयोगाङ्गपञ्चकानुष्ठानेन प्रकृष्टशमशालिमानसमित्यर्थः । एतादृशमत एव शान्तेति । शान्तं रजो रजोगुणकार्यीभूतब्रह्मलोकान्तयावदिष्टशब्दादिविषयविषयलोभवृन्दं ब्रह्मरन्ध्रादिदेशावच्छेदेनोक्तवाक्यार्थचिन्तनलक्षणधारणया यस्य स तथा तमित्यर्थः । अत एव "अकल्मषं प्राणायामैर्दहेदेनो धारणाभिश्च किल्बिषम्" इतिवचनादुक्तरूपधारणया निरस्तकलुषत्वादेव ब्रह्मात्मैक्यभावनसातत्यशालिनमिति यावत् । एतेन ध्यानं ध्वन्यते । हिरवधारणे । निरुक्तविशेषणद्वयविशिष्टं योगिनमेव युजसमाधाविति स्मरणात्समाहितं ब्रह्मात्मैक्यविषयकचित्तैकाग्र्यवन्तमेव । एनं साधकं प्रति । उत्तमम् "उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः" इति स्मृतेर्विषयादिमुखविलक्षणत्वेन निरतिशयम् । अत एव ब्रह्मभूतं ब्रह्मरूपम् । एतादृशं सुखमद्वैतात्मसुखमित्यर्थः । एतेनोन्मन्यवस्था व्यज्यते । उपैत्याविर्भवतीति सम्बन्धः ॥ १०३ ॥

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया ।
यत्र चैवाऽऽत्मनाऽऽत्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति ।। ४ ।।
सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम् ।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः ।। ५ ।।
यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः ।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते ।। ६ ।।

सङ्गृहीतार्थप्रपञ्चनपरान्तदीयानेव श्लोकान्पठति—

यत्रेति । चित्तं यत्र यस्मिन्काले योगसेवया योगानुष्ठानेन सर्वस्माद्विषयान्निवारितं सदुपरमत उपरतिं गच्छति । किं च यत्र यस्मिन्काल आत्मना समाधिपरिशुद्धेनान्तःकारणेनाऽऽत्मानं परं चैतन्यं ज्योतिःस्वरूपं पश्यन्नुपलभमानः स्वस्मिन्नेव तुष्यति तुष्टिं भजते न विषयेष्वित्यर्थः ।। ४ ।।

किं च यत्र यस्मिन्काल आत्मनि स्थितोऽयं योगी, आत्यन्तिकमत्यन्तमेव भवतीत्यात्यन्तिकमनन्तं बुद्धिग्राह्यमिन्द्रियनिरपेक्षया बुद्ध्या गृह्यमाणमतीन्द्रियमिन्द्रियगोचरातीतमविषयजनितं यत्तदीदृशं सुखं वेत्त्यनुभवति । किं च, आत्मनि स्थितोऽयं तत्त्वतस्तस्मादात्मस्वरूपान्न चलति न प्रच्यवते ।। १०५ ।।

किं च यमात्मानं लब्ध्वा प्राप्य परं लाभं लाभान्तरं ततोऽधिकं न मन्यते "आत्मलाभान्न परं विद्यते" इति स्मृतेः । किं च यस्मिन्नात्मतत्त्वे स्थितो गुरुणा महताऽपि दुःखेन शस्त्राभिघातादिलक्षणेन प्रह्लाद इव न विचाल्यते ।। ६ ।।

अत एवायं योगस्तत्र प्रागेव भगवता महाफलत्वेनोपन्यस्त इति द्योतयितुं तच्छ्लोकचतुष्टयं पठति—**यत्रोपरमत इत्यादिना** । अत्र कालापकं चतुर्भिः स्यादितिवचनाद्यत्रेत्यादित्रिश्लोकीगतषण्णामपि यच्छब्दानां चतुर्थश्लोकगतेन तं विद्यादितितच्छब्देनान्वयः । योगसेवया योगाभ्यासेन । उपरमते शाम्यति । आत्मनैवोपरतेन चित्तेनैव । आत्मानमद्वैतपरमात्मानमेव । पश्यन्नहं ब्रह्मास्मीति साक्षात्कुर्वन्कूटस्थ इत्यार्थिकम् । आत्मनि निरुक्तस्वस्वरूपविषये ।। १०४ ।।

सुखमिति । तदिति । तद्बुद्ध्या शोधिततत्पदार्थविषयकप्रमयैव ग्रहीतुं शक्यत इति । यत्र च स्थितोऽयमधिकारी तत्त्वतो नैव चलतीति सम्बन्धः ।। १०५ ।।

यं लब्ध्वेति । गुरुणाऽपि दुःखेन माण्डव्यादिवच्छूलारोपणजन्यप्राणान्तदुःखेनापीत्यर्थः ।। १०६ ।।

तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम् ।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा ।। ७ ।।
युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः ।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते ।। ८ ।।
उत्सेक उदधेर्यद्वत्कुशाग्रेणैकबिन्दुना ।
मनसो निग्रहस्तद्वद्भवेदपरिखेदतः ।। ९ ।।

इदानीमुपपादितं योगं निगमयति—

तं विद्यादिति । शनैः शनैरित्यादिना यावद्भिर्विशेषणैर्विशिष्ट आत्मावस्थाविशेषो यो योग उक्तस्तं दुःखसंयोगवियोगं दुःखैः संयोगो दुःखसंयोगस्तेन वियोगस्तं विपरीतलक्षणया योगसंज्ञितं योग इत्येवं संज्ञा यस्येति तं योगसज्ञितं विद्याज्जानीयात् । एवंविधयोगानुष्ठाने किञ्चित्कर्तव्यताविशेषमाह—**स निश्चयेनेति** । स पूर्वोक्तो योगो निश्चयेनाध्यवसायेनानिर्विण्णचेतसा निर्वेदरहितेन चित्तेन योक्तव्योऽनुष्ठेयः ।। ७ ।।

इदानीमुक्तमर्थमुपसंहरति—

युञ्जन्निति । विगतकल्मषो विगतपापो योगान्तरायवर्जितो योगी सदात्मानमेवं यथोक्तेन प्रकारेण युञ्जन्ननुसन्दधानः सुखेनानायासेन ब्रह्मसंस्पर्शं ब्रह्मणा संस्पर्शो यस्य सुखस्य तद्ब्रह्मसंस्पर्शं ब्रह्मस्वरूपभूतमिति यावत् । अत्यन्तमविनश्वरं निरतिशयं सुखमश्नुते प्राप्नोतीत्यर्थः ।। ८ ।।

अनिर्वेदेन क्रियमाणो योगाभ्यासः फलपर्यन्तो भवतीत्येतत्सदृष्टान्तमाह—

उत्सेक इति । कुशाग्रेणोद्धृतेनैकेन बिन्दुना क्रियमाण उदधेरुत्सेकः । उद्धृत्य बहिः सेचनं परिखेदाभावे सति यद्वत्कालान्तरे भवेदेव तद्वन्मनसो

तमिति । **दुःखेति** । दुःखसम्बन्धविधुरमिति यावत् । अनिर्विण्णेति च्छेदः । आदरातिशयवतेत्यर्थः ।। १०७ ।।

उपसंहरति—**युञ्जन्निति** । तत्फलमाह—**सुखेनेति** । **ब्रह्मेति** । अद्वैतैक्यविषयरूपम् ।। १०८ ।।

नन्वेवमपि सनिश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसेत्यत्र त्वया यथाश्रुते विरक्तचेतसेति प्रकृतानुकूलेऽर्थे सम्भवति सत्यप्यनिर्विण्णचेतसाऽऽदरातिशयवतेत्यर्थोऽयं किमिति क्रियते ह्यकारप्रश्लेषं विधायेति चेत्साम्प्रदायिकसम्मतत्वाद्दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारसेवितो दृढभूमिरिति सूत्राशयाच्च सूचयन्गौडपादाचार्यवचनमेवाऽऽदरातिशयांशे समुदाहरति—

बृहद्रथस्य राजर्षेः शाकायन्यो मुनिः सुखम् ।
प्राह मैत्राख्यशाखायां समाध्युक्तिपुरःसरम् ।। १० ।।

यथा निरिन्धनो वह्निः स्वयोनावुपशाम्यति ।
तथा वृत्तिक्षयाच्चित्तं स्वयोनावुपशाम्यति ।। ११ ।।

निग्रहोऽपि श्रमराहित्येन क्रियमाणः कालान्तरे सिद्ध्येत । इदं च टिट्टिभोपाख्यानं मनसि निधायोक्तम् ।। ९ ।।

न केवलमयमर्थो गीतायामभिहितः किं तु मैत्रायणीयशाखायामपीत्याह—

बृहद्रथस्येति । मैत्राणयीयनामके यजुःशाखाभेदे शाकायन्यनामा कश्चिदृषिः स्वशिष्यत्वेनोपपन्नस्य बृहद्रथाख्यस्य राजर्षेर्ब्रह्मसुखं समाध्यभिधानपूर्वकं यथा भवति तथोक्तवान् ।। ११० ।।

केन प्रकारेणोक्तवानित्याशङ्क्य तत्प्रतिपादकांस्तदीयान्मन्त्रान्पठति—

यथेति । निरिन्धनो दग्धकाष्ठो वह्निः स्वयोनौ स्वकारणे तेजोमात्र उपशाम्यति ज्वालादिरूपं विशेषाकारं परित्यज्य तेजोमात्ररूपे यथाऽवतिष्ठते तथा तेनैव प्रकारेण चित्तमन्तःकरणमपि वृत्तिक्षयान्निरोधसमाध्यभ्यासेन राजसादिसकलवृत्तिनाशात्स्वकारणे सत्त्वमात्र उपशाम्यति सत्त्वमात्रावशेषं भवतीत्यर्थः ।। ११ ।।

उत्सेक इति । उदधेः समुद्रस्य । कुशाग्रेणैकबिन्दुना यद्वत्कालेन लोकप्रसिद्धटिट्टिभोपाख्यानन्यायेन चैहिक एव । **अपरीति** । तदसिद्धिखेदाभावेनैवाभूदेव तद्वन्मनसोऽपि निग्रहो भवेदेवेत्यन्वयः ।। १०९ ।।

अथोक्तयोगे **मैत्रायणीयश्रुतीरप्युदाहरिष्यन्स्तत्रत्यं** संवादमवतारयति— **बृहद्रथस्येति** ।। ११० ।।

ता एव पठति—**यथेति** । स्वयोनौ स्वकारणे सूक्ष्मतेजसि । स्वयोनौ स्वकारणेऽपञ्चीकृतपञ्चमहाभूतसत्त्वप्रधानांशपञ्चक इत्यर्थः ।। ११ ।।

स्वयोनावुपशान्तस्य मनसः सत्यकामिनः ।
इन्द्रियार्थविमूढस्यानृताः कर्मवशानुगाः ॥ १२ ॥
चित्तमेव हि संसारस्तत्प्रयत्नेन शोधयेत् ।
यच्चित्तस्तन्मयो मर्त्यो गुह्यमेतत्सनातनम् ॥ १३ ॥

ततः किमत आह—

स्वयोनाविति । सत्य आत्मनि विषये कामोऽस्यास्तीति सत्यकामो तस्यात एव स्वयोनावुपशान्तस्योपशान्तत्वादेवेन्द्रियार्थाविमूढस्येन्द्रियार्थेषु विषयेषु शब्दादिषु विमूढस्य विमुखस्य ज्ञानशून्यस्य मनसः कर्मवशमनुगच्छन्तीति कर्मवशानुगाः ससाधनाः सुखादयोऽनृता मायिकत्वज्ञानेन मिथ्याभूता स्युरित्यर्थः ॥ १२ ॥

ननु चित्तोपशान्तौ जगन्मिथ्या भवतीत्येतदनुपपन्नं तदुपादानकत्वाभावात्तस्येत्याशङ्क्याऽऽह—

चित्तमेवेति । यद्यपि स्वरूपेण चित्तोपादानकं जगन्न भवति तथाऽपि तस्य योग्यत्वं चित्तकारणमेव हि शब्देनात्र सर्वानुभवं प्रमाणयति सुषुप्त्यादौ चित्तविलये भोगादर्शनादिति भावः । यतश्चित्तात्मकः संसारोऽतस्तच्चित्तमेव प्रयत्नेनाभ्यासवैराग्यादिलक्षणेन शोधयेद्रजस्तमोराहित्येनैकाग्रं कुर्यात् । नन्वात्मनो विमुक्तय आत्मैव शोधनीयो न चित्तमित्याशङ्क्याऽऽह—**यच्चित्त इति** । मर्त्य इत्युपलक्षणं देहिमात्रस्य । यो देही यच्चितो यस्मिन्पुत्रादौ विषये चित्तवान्भवति स तन्मयस्तदात्मक एव तत्साकल्यवैकल्ययोपात्मन्येव समारोपणादेतत्सनातनमिदमनादिसिद्धं गुह्यं रहस्यम् । एतदुक्तं भवति । स्वभावतः शुद्धस्याऽऽत्मनो यतश्चित्तसम्पर्कादेव संसारित्वं "ध्यायतीव लेलायतीव" इतिश्रुतेः । अतश्चित्तस्य शोधनेनाऽऽत्मनः संसारनिवृत्तिरिति ॥ १३ ॥

ततः किं तदाह—**स्वेति** । **सत्येति** । कालत्रयाबाध्यब्रह्मात्मप्राप्तिविषयक्तोत्कण्ठाशालिन इत्यर्थः । एतादृशस्य मनसः स्वयोनावुपशान्तस्य सत इति यावत् । अत एव । **इन्द्रियेति** । इन्द्रियैरर्थ्यमानशब्दादिज्ञानहीनस्येत्येतत् । अत एव । संस्कारतः कदाचिव्द्युत्थितस्यापि सतः । **कर्मेति** । कर्मवशं जीवमनुगच्छन्त्येतादृशाः समाधानसुखादय इत्यर्थः । अनृताः स्वाविद्याकल्पितत्वेन मिथ्या भवन्तीति योजना ॥ १२ ॥

तत्र द्वेतः—**चित्तमेवेति** । दप्रिसप्र्यभिप्रायेणैवेदम ॥ १३ ॥

चित्तस्य हि प्रसादेन हन्ति कर्म शुभाशुभम् ।
प्रसन्नात्माऽऽत्मनि स्थित्वा सुखमक्षय्यमश्नुते ।। ११४ ।।
समासक्तं यथा चित्तं जन्तोर्विषयगोचरे ।
यद्येव ब्रह्मणि स्यात्तत्को न मुच्येत बन्धनात् ।। ११५ ।।
मनो हि द्विविधं प्रोक्तं शुद्धं चाशुद्धमेव च ।
अशुद्धं कामसम्पर्काच्छुद्धं कामविवर्जितम् ।। ११६ ।।

नन्वनादिभवपरम्परोपार्जितसुखदुःखप्रदपुण्यपापकर्मणोः सतोश्चित्तशोधनेनापि कथमात्मनः संसारनिवृत्तिर्भविष्यतीत्याशङ्क्य चित्तप्रसादोपलक्षितब्रह्मानुसन्धानेन सकलकर्मक्षयोपपत्तेर्मैवमिति परिहरति—

चित्तस्येति । हिशब्देन "तद्यथेषीकातूलमग्नौ प्रोतं प्रदूयेतैवं हाऽस्य सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्ते" "उपपातकेषु सर्वेषु पातकेषु महत्सु च । प्रविश्य रजनीपादं ब्रह्मध्यानं समाचरेत्" इत्यादिश्रुतिस्मृतिप्रसिद्धिं द्योतयति । ततः किमित्यत आह—**प्रसन्नेति** । प्रसन्न आत्मा चेतो यस्य स तथोक्तः । आत्मनि स्वस्वरूपभूतेऽद्वितीयानन्दलक्षणे ब्रह्मणि स्थित्वा तदेवाहमिति निश्चयेन दृश्यजातं परिहृत्य चिन्मात्ररूपेणावस्थायाक्षय्यमविनाशि यत्सुखं स्वरूपभूतं तदश्नुते ।। ११४ ।।

प्रसन्नात्माऽऽत्मनि स्थित्वेत्युक्तमेवार्थं दृष्टान्तोक्तिपुरःसरं द्रढयति—

समासक्तमिति । प्राणिनश्चित्तं विषय एव गोचर इन्द्रियप्रचारभूमिस्तस्मिन्यथा स्वभावतः सम्यगासक्तं भवति तदेव चित्तं ब्रह्मणि प्रत्यगभिन्ने परमात्मनि यद्येवमासक्तं स्यात्तर्हि कः संसारान्न मुच्यते, सर्वोऽपि मुच्येतैवेत्यर्थः ।। ११५ ।।

उक्तार्थदार्ढ्याय मनसोऽवान्तरभेदमाह—

मन इति । तत्र कारणमाह—**अशुद्धमिति** । काम इत्युपलक्षणं क्रोधादेरपि ।। ११६ ।।

अत एव । **चित्तस्य हीति** । हिरवधारणे । प्रसादेन तत्त्वज्ञानरूपपरमविमलपरिणामेनेत्यर्थः ।। ११४ ।।

को वाऽत्र प्रसादेऽस्त्युपाय इत्यत आह—**समासक्तमिति** । **विषयेति** । बन्धके विषये ।। ११५ ।।

तत्रापि हेतुः—**मनो हीति** ।। ११६ ।।

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः ।
बन्धाय विषयासक्तं मुक्त्यै निर्विषयं स्मृतम् ।। १७ ।।

समाधिनिर्धूतमलस्य चेतसो
निवेशितस्यात्मनि यत्सुखं भवेत् ।
न शक्यते वर्णयितुं गिरा तदा
स्वयं तदन्तःकरणेन गृह्यते ।। १८ ।।

यद्यप्यसौ चिरं कालं समाधिर्दुर्लभो नृणाम् ।
तथापि क्षणिको ब्रह्मानन्दं निश्चाययत्यसौ ।। १९ ।।

द्विविधस्य तस्यैव क्रमेण संसारमोक्षयोर्हेतुतां दर्शयति—मन-एवेति ।। १७ ।।

"प्रसन्नात्माऽऽत्मनि स्थित्वा सुखमक्षय्यमश्नुते" इत्युक्तमेवार्थं श्रुतिः स्वयमेव प्रपञ्चयति—

समाधीति । आत्मनि प्रत्यक्स्वरूपे निवेशितस्य समाधिनिर्धूतमलस्य समाधिना प्रत्यग्ब्रह्मणोरैक्यगोचरप्रत्ययावृत्त्यया निर्धूतमलस्य निःशेषेण निवारितरजस्तमोमलस्य चेतसस्तस्मिन्समाधौ यत्सुखमुत्पद्यते तदा समाधावुत्पन्नं तत्सुखं गिरा वाचा वर्णयितुं न शक्यतेऽलौकिकसुखत्वादित्यर्थः । किं तु स्वयं तत्स्वरूपभूतं सुखमन्तःकरणेनैव गृह्यते ।। १८ ।।

नन्वस्यैव समाधेर्दुर्लभत्वात्कथमनेन ब्रह्मानन्दनिश्चयसम्भव इत्याशङ्क्याऽऽह—

यद्यपीति । अस्य समाधेः संततस्यासंभवेऽपि क्षणिकस्य तस्य संभवात्तेनैवायमानन्दो निश्चेतुं शक्यत इत्यर्थः ।। १९ ।।

फलितमाह—मन एवेति । निर्विषयं तत्त्वज्ञानान्मिथ्याभूतत्वेन निरस्तविषयमित्यर्थः ।। १७ ।।

अत एव । समाधीति । आत्मन्यद्वैतत्वेन ब्रह्मरूपे प्रतीचीत्यर्थः ।। १८ ।।

ननूदाहृतयोगसूत्रे दीर्घकालस्य समाधिसाधने विनिवेशात्कलावत्राल्पायुषामस्माकं तु सोऽतिदुर्लभ एवेत्यत्राऽऽह—यद्यपीति । क्षणिकोऽप्यसौ समाधिर्ब्रह्मानन्दं ब्रह्माद्वैतस्वरूपमतिप्रेमास्पदं प्रत्यञ्चमित्यर्थः । निश्चाययति निर्णाययत्येवेत्यन्वयः ।। १९ ।।

श्रद्धालुर्व्यसनी योऽत्र निश्चिनोत्येव सर्वथा ।
निश्चिते तु सकृत्तस्मिन्विश्वसित्यन्यदाप्ययम् ॥ १२० ॥

तादृक् पुमानुदासीनकालेऽप्यानन्दवासनाम् ।
उपेक्ष्य मुख्यमानन्दं भावयत्येव तत्परः ॥ २१ ॥

परव्यसनिनी नारी व्यग्रापि गृहकर्मणि ।
तदेवास्वादयत्यन्तः परसङ्गरसायनम् ॥ २२ ॥

नन्वात्मदर्शनाय श्रवणादौ प्रवृत्ता अपि केचिदानन्दनिश्चयशून्या बहिर्मुखा एव वर्तंत इत्याशङ्क्य श्रद्धादिरहितानां तथात्वेऽपि श्रद्धादिमतां तन्निश्चयो भवत्ये वेत्याह—

श्रद्धालुरिति । व्यसनं सर्वथा संपादयिष्यामीत्याग्रहः, तद्वान्व्यसनी अत्र समाधौ सर्वथाऽवश्यम् । ततः किमित्यत आह—**निश्चिते त्विति** । अस्मिन्ब्रह्मानन्दे सकृदेकदा क्षणिकसमाधौ निश्चिते सत्ययं सकृन्निश्चयवानन्यदाऽपीतरस्मिन्नपि काले विश्वसित्यानन्दोऽस्तीति विश्वासं करोति ॥ २० ॥

ततोऽपि किं तत्राऽऽह—

तादृगिति । तादृक्पुमाञ्श्रद्धादिपुरःसरं सकृन्निश्चयवान्पुरुष औदासीन्यदशायामप्युपलभ्यमानां पूर्वोक्तामानन्दवासनामुपेक्ष्य तत्परो मुख्यानन्दे तात्पर्यवान्भूत्वा तमेव भावयति ॥ २१ ॥

एवं व्यवहारकालेऽपि निजानन्दं भावयतीत्यत्र दृष्टान्तमाह—**परेति** ॥ २२ ॥

नन्वेवं चेत्तर्हि किमिति न सर्वे कृतश्रवणा अपि बहिर्मुखा एवेत्यत आह—**श्रद्धालुरिति** । श्रद्धा गुरुशास्त्रातिविश्वासस्तदुक्तफलावश्यम्भावनिर्णयरूपस्तच्छील इत्यर्थः । येन विना जाग्रति यदनवस्थितिस्तत्तस्य व्यसनं तद्वाऽन्यमादियोगाङ्गाभ्यासस्वभाव इति यावत् । अयं सकृद्ब्रह्मानन्दनिश्चयवान्मुमुक्षुर्योगतत्पर इत्यर्थः । अन्यदा सर्वकालमपि । विश्वसिति विश्वासं प्राप्नोत्येव । ब्रह्मानन्दानुभव प्रतीति शेषः ॥ २० ॥

अत एव **तादृगिति** । निरुक्तविश्वासशाली ॥ २१ ॥

तत्परतया तद्भावने दृष्टान्तं प्रकटयति—**परेति** ॥ २२ ॥

एव तत्त्वे परे शुद्धे धीरो विश्रान्तिमागतः ।
तदेवाऽऽस्वादयत्यन्तर्बहिर्व्यवहरन्नपि ॥ २३ ॥
धीरत्वमक्षप्राबल्येऽप्यानन्दास्वादवाञ्छया ।
तिरस्कृत्याखिलाक्षाणि तच्चिन्तायां प्रवर्तनम् ॥ २४ ॥
भारवाही शिरोभारं मुक्त्वाऽऽस्ते विश्रमं गतः ।
संसारव्यापृतित्यागे तादृग्बुद्धिस्तु विश्रमः ॥ २५ ॥
विश्रान्तिं परमां प्राप्तस्त्वौदासीन्ये यथा तथा ।
सुखदुःखदशायां च तदानन्दैकतत्परः ॥ २६ ॥

दार्ष्टान्तिके योजयति—**एवमिति** ॥ २३ ॥

धीरशब्दार्थमाह—

धीरत्वमिति । इन्द्रियाणां विषयाभिमुख्येन पुरुषाकर्षणसामर्थ्येऽपि स्वरूपसुखानुसन्धानेच्छया सर्वाणीन्द्रियाणि तिरस्कृत्याऽऽनन्दानुसन्धान एव प्रवर्तमानत्वं धीरत्वमित्यर्थः ॥ २४ ॥

विश्रान्तिशब्दस्य विवक्षितमर्थं सदृष्टान्तमाह—

भारवाहीति । यथा लोके भारं वहन्पुरुषः श्रमहेतुं शिरसि स्थितं भारं परित्यज्य श्रमरहितो वर्तते तथा संसारव्यापारत्यागे सति श्रमरहित आसमिति जायमाना या बुद्धिः सा विश्रमशब्देनोच्यत इत्यर्थः ॥ १२५ ॥

इदानीं फलितमर्थमाह—

विश्रान्तिमिति । परमां निरतिशयां विश्रान्तिमुक्तलक्षणां प्राप्तः पुरुषः स्वस्यौदासीन्यदशायां यथा परमानन्दास्वादने तात्पर्यवान्भवति, एवं सुख-दुःखहेतुप्राप्तिकालेऽपि तदनुसन्धानं परित्यज्य निजानन्दास्वादन एव तात्पर्य-वान्भवतीत्यर्थः ॥ २६ ॥

दार्ष्टातिकं स्पष्टयति—**एवमिति** । परेऽविद्यातत्कार्यादिहीने । शुद्धे परोक्षत्वमल-विकल इत्यर्थः । धीरः—"धीरत्वं बुद्धतत्त्वस्य तत्त्वानुस्मृतिसन्ततिः" इत्युक्तलक्षणधैर्य-वान् । विश्रान्ति सुखम् ॥ २३ ॥

धीरपदार्थं स्वेष्टं स्फुटयति—**धीरत्वमिति** । स्वस्येत्यार्थिकम् ॥ २४ ॥

एवं विश्रान्तिपदार्थमपि कथयति—**भारवाहीति** । **संसारेति** । मिथ्यात्वेनेत्या-र्थिकम् ॥ १२५ ॥

ततः किं तत्राऽऽह—**विश्रान्तिमिति** । **सुखेति** । चोऽप्यर्थे । **तदिति** । औदासीन्य-कालिकोक्तवासनान्दोपेक्षणपूर्वकानुसन्धितब्रह्मात्मैक्यानन्दमात्रास्वादपर इत्यर्थः॥ २६ ॥

अग्निप्रवेशहेतौ धीः शृङ्गारे यादृशी तथा ।
धीरस्योदेति विषयेऽनुसन्धानविरोधिनि ॥ २७ ॥

अविरोधिसुखे बुद्धिः स्वानन्दे च गमागमौ ।
कुर्वन्त्यास्ते क्रमादेषा काकाक्षिवदितस्ततः ॥ २८ ॥

एकैव दृष्टिः काकस्य वामदक्षिणनेत्रयोः ।
यात्यायात्येवमानन्दद्वये तत्त्वविदो मतिः ॥ २९ ॥

ननु दुःखस्य प्रतिकूलत्वेन तदनुसन्धानेच्छाभावेऽपि वैषयिकसुखत्वानुकूलत्वेन पुरुषैरर्थ्यमानत्वात्तदनुसन्धानेच्छा कुतो न भवेदित्याशङ्क्य तस्य विषयसंपादनादिद्वाराऽतीव बहिर्मुखत्वापादनेन निजानन्दानुसन्धानविरोधित्वात्तदिच्छाऽपि विवेकिनो न जायत इति दृष्टान्तप्रदर्शनपूर्वकमाह—

अग्नीति । शीघ्रं देहविमोचनेच्छायां दृढतरायां सत्यां तद्विलम्बकारणेऽलङ्कारादौ यथाऽग्निप्रवेष्टुर्वैरस्य बुद्धिरुत्पद्यत एवं वैराग्यादिसाधनसम्पन्नस्य विवेकिनो ब्रह्मानुसन्धानविरोधिनि विषयसुखेऽपीत्यर्थः ॥ २७ ॥

मा भूद्विरोधिविषये सुखेच्छाऽप्रयत्नसौलभ्येनाबहिर्मुखत्वहेतौ विषये किं न भवतीत्यत आह—अविरोधीति ॥ २८ ॥

दृष्टान्तं विवृणोति—

एकैव दृष्टिरिति । यथा काकस्य दृष्टिर्दृश्यतेनयेति दर्शनसाधनं चक्षुरिन्द्रियमेकमेव वामदक्षिणनेत्रयोर्गोलकयोः पर्यायेण गमनागमने करोति, एवं विवेकिनो बुद्धिरप्यानन्दद्वय इत्यर्थः ॥ २९ ॥

ननु सुखादिदशायामप्यात्मानुसन्धाने किं सुखादिभानं तस्य नेत्यत्राऽऽह–अग्नीति । मृतस्वपतिमनुदेहं दहन्त्या इति शेषः । अनुसन्धानेति । अद्वैतात्मानुसन्धानप्रतिकूल इत्यर्थः ॥ २७ ॥

नन्वास्तामनुसन्धानविरोधिनि सुखे स्रक्चन्दनवनितादिजन्ये निरुक्तदृष्टान्तसिद्धतुच्छत्वबुद्धिः परन्तु तदविरोधिनि भोजनादिजे कथं सा तत्र तस्येत्यत आह—अविरोधीति ॥ २८ ॥

अद्वैत ब्रह्मानन्दानुसन्धानाविरोधिनि विषयानन्दे च योगिनो वृत्तिः कालभेदेनैकाऽपि गमागमौ करोतीत्यत्रोक्तं काकाक्षिदृष्टान्तं स्पष्टयति—एकैवेति ॥ २९ ॥

भुञ्जानो विषयानन्दं ब्रह्मानन्दं च तत्त्ववित् ।
द्विभाषाभिज्ञवद्विद्यादुभौ लौकिकवैदिकौ ॥ १३० ॥

दुःखप्राप्तौ न चोद्वेगो यथापूर्वं यतो द्विदृक् ।
गङ्गामग्नार्धकायस्य पुंसः शीतोष्णधीर्यथा ॥ ३१ ॥

इत्थं जागरणे तत्त्वविदो ब्रह्मसुख सदा ।
भाति तद्वासनाजन्ये स्वप्ने तद्भासते तथा ॥ ३२ ॥

दार्ष्टान्तिकं प्रपञ्चयति—

भुञ्जान इति । तत्त्वविद्धि विषयान्भुञ्जानस्तज्जन्यं विषयानन्दमुपनिषद्वाक्यादवगतं ब्रह्मानन्दं च लौकिकवैदिकावुभौ विषयानन्दब्रह्मानन्दौ भाषाद्वयवेदिवज्जानीयादित्यर्थः ॥ १३० ॥

ननु दुःखानुभवदशायामुद्वेगे सति कथं निजानन्दानुभव इत्याशङ्क्याऽऽह—

दुःखेति । यतो यस्मात्कारणाद्विवेकी द्विदृग्लौकिकवैदिकव्यवहारयोरुभयोरपि वेत्ता, अतो दुःखप्राप्तावपि पूर्ववदज्ञानदशायामिव न तस्योद्वेगः । विवेकेन तदा तदा बोध्यमानत्वादतो दुःखानुभवकालेऽपि निजानन्दानुसन्धानं न विरुध्यत इत्यर्थः । युगपदुभयानुसन्धाने दृष्टान्तमाह—**गङ्गेति** ॥ ३१ ॥

फलितमाह—

इत्थमिति । सदा सुखदुःखानुभवदशायां तूष्णीं स्थितौ चेत्यर्थः । न केवलं जागरण एव तद्भानं किं तु स्वप्नावस्थायामपीत्याह—**तद्वासनेति** । हेतुगर्भं विशेषणं जाग्रद्वासनाजन्यत्वात्स्वप्नस्य । तत्रापि तद्ब्रह्मसुखं तथा जाग्रदवस्थायामिव भासत इत्यर्थः ॥ ३२ ॥

दार्ष्टान्तिकं स्फुटयति—**भुञ्जान इति** । आनन्दाविति शेषः । अत्र लौकिकस्य विषयानन्दस्य वैदिकेन ब्रह्मानन्देन सहाविरोधोऽस्तु स्वाश्रमादिधर्मत्वादेवेति तत्त्वम् ॥ १३० ॥

नन्वेवमपि दुःखप्राप्तौ कथं तत्राऽऽह—**दुःखेति** । यथापूर्वं तस्योद्वेगः कुतो नेत्यत आह—**यत इति** । तत्र निदर्शनमाह—**गङ्गेति** ॥ ३१ ॥

ततः किं तदाह—**इत्थमिति** ॥ ३२ ॥

अविद्यावासनाप्यस्तीत्यतस्तद्वासनोत्थिते ।
स्वप्ने मूर्खवदेवैष सुखं दुःखं च वीक्षते ॥ ३३ ॥
ब्रह्मानन्दाभिधे ग्रन्थे ब्रह्मानन्दप्रकाशकम् ।
योगिप्रत्यक्षमध्याये प्रथमेऽस्मिन्नुदीरितम् ॥ १३४ ॥

इति ब्रह्मानन्दे योगानन्दो नाम प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

इति श्रीमद्विद्यारण्यमुनिविरचितायां पञ्चदश्यामेकादशं प्रकरणं समाप्तम् ॥ ११ ॥

ननु स्वप्नस्याऽऽनन्दानुभववासनाजन्यत्वे सत्यानन्द एव भासत इत्याशङ्क्याऽऽह—

अविद्येति । न केवलमानन्दवासनाबलादेव जायते किं त्वविद्यावासनाबलादपि । अस्तद्वासनाजन्यत्वात्तत्राज्ञस्येव सुखाद्यनुभवो भवतीत्यर्थः ॥३३॥

एतावता ग्रन्थसन्दर्भेणोक्तमर्थं निगमयति—

ब्रह्मानन्देति । ब्रह्मानन्दनामकेऽध्यायपञ्चात्मके ग्रन्थेऽस्मिन्प्रथमेऽध्याये सुषुप्त्यवस्थायामौदासीन्यकालेऽपि समाध्यवस्थायां सुखदुःखदशायां च स्वप्रकाशचिद्रूपब्रह्मानन्दस्य प्रकाशकं योग्यनुभवरूपं प्रत्यक्षमुक्तमित्यर्थः । इदं चोपलक्षणमागमादीनां तेषामप्यत्र दर्शितत्वात् ॥ १३४ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीभारतीतीर्थविद्यारण्यमुनिवर्यकिङ्करेण श्रीरामकृष्णाख्यविदुषा विरचिते ब्रह्मानन्दे योगानन्दो नाम प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

नन्वविद्यावासनया हर्षशोकाद्यपि स्यादित्याशङ्क्यां प्रत्याह—अविद्येति ॥ ३३ ॥

उपसंहरन्प्रथमाध्यायस्यास्य स्वारस्यमाह—ब्रह्मानन्देति । ननु ग्रन्थस्यास्य पञ्चदश्याख्यस्य व्याख्योपक्रमे—"कैवल्ये क्व नु विषया गुरुशास्त्रारामगङ्गतीराद्याः । इति विह्वलता चित्ते प्रतिबन्धः प्रथम एष ऐक्येऽपि "इत्यार्यया ब्रह्मात्मैक्ये विषयवासनाख्यं प्रथमं प्रतिबन्धमुक्त्वा, एकादशे तु यौगिकसुखस्य बोधेन निरतिशयतोक्त्या निर्विषयेऽपि पुमर्थात्तत्परता तस्य निर्णेयेत्यार्यान्तरेणास्य प्रकरणस्योक्तप्रतिबन्धबाधकत्वं यदुक्तं तत्कथमिति चेदुच्यते । अत्र तावद्ब्रह्मानन्दं प्रवक्ष्यामीत्युपक्रम्य ब्रह्मानन्दप्रकाशं योगिप्रत्यक्षमित्युसंहृतं तेनाद्वैतानन्दानुभवे निरतिशयसुखपरत्वेनास्य दृश्यसुखाभासबाधकत्वमाद्यं लिङ्गम् । एवं ब्रह्मविदाप्नोतीत्यादि द्वितीयादिश्लोकनवकेनोक्तार्थविषय-

कस्तदग्रेऽपि तत्र तत्र तथाऽभ्यासः स्पष्ट एव । एतेनैवापूर्वता फलार्थवादोपपत्त्याख्यलिङ्ग-चतुष्टयमपि व्याख्यातम् । तेषां तत्र कण्ठत एव स्फुटितत्वादिति दिक् ॥ १३४ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य श्रीमदद्वैतसच्चिदानन्देन्द्रसरस्वतीशिष्य श्रीमत्पदवाक्यप्रमाण० षष्ठ्युनामकश्रीनारायणशास्त्रिचरण० मोडकोपनामकाच्युतशर्मणा विद्यार्थिना० योगानन्दप्रकाशो नामाध्यायः ॥१॥ ॥ ११ ॥

अथ पञ्चदस्यां द्वादशं प्रकरणम्

तत्र ब्रह्मानन्द आत्मानन्दाख्यो द्वितीयोऽध्यायः ।

नन्वेवं वासनानन्दाद्ब्रह्मानन्दादपीतरम् ।
वेत्तु योगी निजानन्दं मूढस्यात्रास्ति का गतिः ॥ १ ॥

अथ ब्रह्मानन्दान्तर्गतमात्मानन्दनामकद्वितीयाध्यायमारभते, तदेवं प्रथमाध्याये विवेकिनो योगेन निजानन्दानुभवप्रकारं प्रदर्श्य मूढस्य जिज्ञासोरात्मानन्दशब्दवाच्यत्वं पदार्थविवेचनमुखेन ब्रह्मानन्दानुभवप्रकारप्रदर्शनाय शिष्यप्रश्नमवतारयति—नन्वेवमिति ॥ १ ॥

अद्वैतानन्दसच्चिद्विभुविमलपरब्रह्मकूटस्थरूपं
मोहाद्द्वैतेन्द्रजालालयमपि तिलकं स्वप्रकाशं श्रुतीनाम् ।
सर्वांश्चाऽऽचार्यवर्यान्रघुकुलतिलकं सद्गुरुं ब्रह्मनिष्ठं
श्रीमन्नारायणाख्यं स्वगुरुमपि महादेवसंज्ञं प्रणौमि ॥ १ ॥

मत्वा जीवज्जीवान्विद्यारण्यं च भारतीतीर्थम् ।
आत्मानन्दं स्फुटयाम्यथ कौमुद्या रविप्रकाशेन ॥ २ ॥

अथ भगवान्भारतीतीर्थाचार्यः पञ्चदश्याः पूर्वस्मिन्स्वकृते तावदेकादशे तत्तृतीयांशत्वेनाध्यायपञ्चकात्मकब्रह्मानन्दीये योगानन्दाख्यप्रथमाध्यायात्मके प्रकरणेऽन्ते यदुक्तम्—

"ब्रह्मानन्दाभिधे ग्रन्थे ब्रह्मानन्दप्रकाशकम् ।
योगिप्रत्यक्षमध्याये प्रथमेऽस्मिन्निरूपितम् ॥"

इति तदाश्रित्य मन्दानुजिघृक्षयाऽऽत्मानन्दाभिधं द्वादशं द्वितोयाध्यायाह्वयं प्रकरणमारभमाणः प्रथितप्रमाणप्रयोजनं ब्रह्मानन्दपदेन ब्रह्मात्मैक्यलक्षणं मङ्गलमाचरंस्तेनैव प्रकृतप्रकरणीयविषयाद्यनुबन्धचतुष्टयमपि सूचयन्स्वयमेव शिष्यशङ्कामनुवदति—नन्विति । **वासनानन्दः** संस्कारात्सुप्तोत्थितस्य किंचित्कालमनुभूयमानः सुखविशेषः । **ब्रह्मानन्दः** सुषुप्तिकालिकोऽसावपि प्राक्तनप्रकरणे प्रपञ्चितः । एवं **निजानन्दो**ऽपि—'यावद्यावदहंकारो विस्मृतोऽभ्यासयोगतः । तावत्तावत्सूक्ष्मदृष्टेर्निजानन्दोऽनुमीयते" इत्यादिना योगिप्रत्यक्षप्रक्रियया ॥ १ ॥

धर्माधर्मवशादेष जायतां म्रियतामपि ।
पुनः पुनर्देहलक्षैः किं नो दाक्षिण्यतो वद ॥ २ ॥
अस्ति वोऽनुजिघृक्षुत्वाद्दाक्षिण्येन प्रयोजनम् ।
तर्हि ब्रूहि स मूढः किं जिज्ञासुर्वा पराङ्मुखः ॥ ३ ॥
उपास्तिं कर्म वा ब्रूयाद्विमुखाय यथोचितम् ।
मन्दप्रज्ञं तु जिज्ञासुमात्मानन्देन बोधयेत् ॥ ४ ॥

शिष्येणैवं पृष्टो गुरुरतिमूढस्य विद्याधिकार एव नास्तीत्याह—

धर्मेति । एषोऽतिमूढोऽनादौ संसारेऽतीतेषु जन्मस्वनुष्ठितसुकृतवशान्नानाविधदेहस्वीकारेण पुनः पुनर्जायतां म्रियतां चेत्यर्थः ॥ २ ॥

सर्वानुग्राहकत्वाचार्येण तस्याऽपि काचन गतिर्वक्तव्येति शिष्य आह—

अस्तीति । यो युष्माकमनुजिघृक्षुत्वादनुगृहीतुमिच्छवोऽनुजिघृक्षवस्तेषां भावस्तत्त्वं तस्याच्छिष्योद्धरणेच्छायुक्तत्वाद्दाक्षिण्यतस्तदुद्धरणलक्षणं प्रयोजनमस्तीत्यर्थः । एवं शिष्यवचनमाकर्ण्य गुरुस्तं विकल्प्य पृच्छति—**तर्हीति** । यदि मूढस्य काचन गतिर्वक्तव्या तर्हि मूढः किं रागी विरक्तो वा वदेति ।३।

रागी चेत्तद्रागानुसारेण कर्म वोपासनं वा वक्तव्यमिति प्रथमे परिहारमाह—

उपास्तिमिति । विमुखाय तत्त्वज्ञानविमुखाय बहिर्मुखायेत्यर्थः । यथोचितं यथायोग्यं ब्रह्मलोकादिकामश्चेदुपास्तिं ब्रूयात्स्वर्गादिकामश्चेत्कर्म ब्रूयादित्यर्थः । जिज्ञासुत्वेऽपि सोऽतिविवेकी मन्दप्रज्ञो वेति विकल्प्यातिविवेकिनः पूर्वाध्यायोक्तप्रकारेण योगेन ब्रह्मसाक्षात्कारमभिप्रेत्य मन्दप्रज्ञस्य तद्दर्शनोपायमाह—**मन्देति** । यो मन्दप्रज्ञः, मन्दा जडा प्रज्ञा बुद्धिर्यस्य स मन्दप्रज्ञः तं मन्दप्रज्ञं ज्ञातुमिच्छुर्जिज्ञासुस्तमात्मानन्देनाऽऽत्मानन्दविवेचनमुखेन बोधयेत् ॥ ४ ॥

एवमुक्तप्रश्ने सिद्धान्त्युदासीनतयैव समाधत्ते-**धर्मेति** । दाक्षिण्यतः सकलाज्ञबोधनसामर्थ्याभिनिवेशेनेत्यर्थः ॥ २ ॥

अथ पुनरपि शिष्यस्तत्प्रयोजनमाह—**अस्तीति** । तत्राप्याचार्यः पृच्छति— **तर्हीत्याविना** विकल्प्य ॥ ३ ॥

अन्त्यं प्रत्यधिकारतारतम्येनोपायमाह—**उपास्तिमिति** । किंचिद्धीसौक्ष्म्ये ध्यानदीपोक्तनिर्गुणाहंग्रहाद्युपासनामित्यर्थः । तदभावे तु कर्मकाम्यादिहीनमीशतोषबुद्ध्या नित्यादि । आद्यं प्रत्याह—**मन्देति** ॥ ४ ॥

बोधयामास मैत्रेयीं याज्ञवल्क्यो निजप्रियाम् ।
न वा अरे पत्युरर्थे पतिः प्रिय इतीरयन् ।। ५ ।।
पतिर्जाया पुत्रवित्ते पशुब्राह्मणबाहुजाः ।
लोका देवा वेदभूते सर्वं चात्मार्थतः प्रियम् ।। ६ ।।
पत्याविच्छा यदा पत्न्यास्तदा प्रीतिं करोति सा ।
क्षुदनुष्ठानरोगाद्यैस्तदा नेच्छति तत्पतिः ।। ७ ।।

एवं केन को बोधित इत्यत आह––

बोधयामासेति । **याज्ञवल्क्य** एतन्नामको यजुःशाखाविशेषप्रवर्तकः कश्चिदृषिः, **मैत्रेयी**मेतन्नामिकां निजप्रियां स्वभार्यां 'न वा अरे पत्युरर्थे पतिः प्रियः' इति 'न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवति' इत्यादिप्रकारेण, ईरयन् ब्रुवन्, बोधयामास बोधितवानित्यर्थः ।। ५ ।।

इतरत्र परप्रेमास्पदत्वेन परमानन्द इष्यतामितिवाक्येन परप्रेमास्पदत्वेन हेतुनाऽऽत्मनः परमानन्दरूपतां सिसाधयिषुरादौ परप्रेमास्पदत्वहेतुसमर्थनाय तावदुदाहृतवाक्यस्योपलक्षणपरतामभिप्रेत्य तत्प्रकरणस्थसकलपर्यायवाक्यतात्पर्यमाह––

पतिरिति । पतिजायादिकं भोग्यजातं भोक्तुः शेषत्वाद्भोक्तुं सम्बन्धेनैव प्रियं न स्वरूपेणेत्यभिप्रायः ।। ६ ।।

इदानीं पूर्वोदाहृतस्य 'न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवति आत्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति' इत्यस्य वाक्यस्य तात्पर्यार्थं विभज्य दर्शयति––

पत्याविति । यदा यस्मिन्नकाले पत्न्या जायायाः पत्यौ भर्तरि विषये इच्छा कामो भवति तदा सा पत्नी पत्यौ प्रीतिं स्नेहं करोति यदा तत्पतिः क्षुधादिनेच्छाभावहेतुना युक्तो भवति चेत्तदा तं नेच्छति न कामयते ।।७।।

को वा लाघवादात्माभिन्न आनन्दः कथं तद्बोधनप्रक्रिया प्रमाणसंप्रदाया इत्यत आह—**बोधयामासे**त्यादिना ।। ५ ।।

तन्निर्दिष्टपदार्थान्संक्षिपति—**पतिरिति** ।। ६ ।।

क्रमेण तान्विवृणोति––**पत्यावि**त्यादिना । **क्षुदिति** । तदा माया प्रीतिकाले ।।७।।

न पत्युरर्थे सा प्रीतिः स्वार्थ एव करोति ताम् ।
पतिश्चाऽऽत्मन एवार्थे न जायार्थे कदाचन ।। ८ ।।

अन्योन्यप्रेरणेऽप्येवं स्वेच्छयैव प्रवर्तनम् ।। ९ ।।

श्मश्रुकण्टकवेधेन बाले रुदति तत्पिता ।
चुम्बत्येव न सा प्रीतिर्बालार्थे स्वार्थ एव सा ।। १० ।।

एवं च सति किं फलितमित्यत आह--

न पत्युरिति । जायया क्रियमाणा या प्रीतिः सा पत्युरर्थे पत्युः प्रयोजनाय न किन्तु जाया तां पत्यौ प्रीतिं स्वार्थ एव स्वप्रयोजनायैव करोति न वा अरे जायायै कामाय जाया प्रिया भवत्यात्मनस्तु कामाय जाया प्रिया भवतीत्यादि न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवति आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवतीत्यन्तानां वाक्यानां तात्पर्यं क्रमेण विभज्य दर्शयति---**पतिश्चेत्यादिना ।** पतिश्च भर्ताऽपि स्वप्रयोजनायैव जायायां प्रीतिं करोति न जायाप्रीतय इत्यर्थः ।। ८ ।।

नन्वेकैककामनया प्रवृत्तौ प्रीतिः स्वार्था भवतु युगपदुभयेच्छया प्रवृत्तौ तु प्रीतेरुभयार्थता स्यादित्याशङ्क्याऽऽह---

अन्योन्येति । एवमुक्तेन प्रकारेण स्वेच्छयैव स्वकामनापूरणेच्छयैव प्रवर्तनमुभयोरपीति शेषः ।। ९ ।।

स्वेच्छया प्रवर्तनमेव दर्शयति--

श्मश्रुकण्टकेति । पित्रा क्रियमाणं पुत्रमुखादिचुम्बनं न पुत्रप्रीत्यर्थं तस्य श्वश्रुकण्टकवेधेन रोदनकर्तृत्वादतस्तत्पितुः स्वतुष्टयर्थमेवेत्यवगन्तव्यमित्यर्थः ।। १० ।।

नेति । अर्थे प्रयोजनविषये । एतत्पत्यादावप्यतिदिशति---**पतिश्चेति** ।। ८ ।।

ननु देवात्किचित्कालावच्छेदेनोभयानुकूल्यमपि दृश्यत इत्यत आह---**अन्योन्येति** केवलार्थेनैव ।। ९ ।।

एवं पुत्रेऽप्याह---**श्मश्रुकण्टकेत्यादि** ।। १० ।।

निरिच्छमपि रत्नादिवित्तं यत्नेन पालयन् ।
प्रीतिं करोति स स्वार्थे वित्तार्थत्वं न शङ्कितम् ॥ ११ ॥

अनिच्छति बलीवर्दे विवाहयिषते बलात् ।
प्रीतिः सा वणिगर्थैव बलीवर्दार्थता कुतः ॥ १२ ॥

ब्राह्मण्यं मेऽस्ति पूज्योऽहमिति तुष्यति पूजया ।
अचेतनाया जातेर्नो सन्तुष्टिः पुंस एव सा ॥ १३ ॥

चेतनेषु पतिजायापुत्रेषु क्रियमाणायाः प्रीतेः स्वार्थत्वपरार्थत्वसन्देह-सम्भवादचेतनत्वेनेच्छामात्ररहितस्य वित्तविषयस्य तच्छङ्कैव नास्तीत्यभिप्रेत्य न वा अरे वित्तस्य कामाय वित्तं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय वित्तं प्रियं भवतीत्यस्य **वाक्यस्य** तात्पर्यमाह—**निरिच्छमपीति** ॥ ११ ॥

चेतनत्वेऽपि वहानादीच्छारहितपशुविषयस्य **न वा अरे** पशूनामित्य-स्य **वाक्यस्य** तात्पर्यमाह—

अनिच्छतीति । बलीवर्देऽनडुहि, अनिच्छति भारं वोढुमिच्छामकु-र्वत्यपि बलाद्विवाहयिषते वाहयितुम् कामयते, तत्र वहनादिविषयायाः प्रीतेर्वणिगर्थतैव न बलीवर्दार्थतेत्यर्थः ॥ १२ ॥

न वा अरे ब्रह्मणः कामायेतिवाक्यस्य तात्पर्यमाह—

ब्राह्मण्यमिति । ब्राह्मण्यनिमित्तया पूजया ब्राह्मणोऽहमस्तीत्यभिमा-नवानेव तुष्यति न जडा जातिरित्यर्थः ॥ १३ ॥

एवं वित्तेऽप्याह—**निरिच्छमपीति । प्रीतिमिति** देवदत्त इत्यार्थिकम् । तत्र यां प्रीतिं करोति सा स्वार्थे स्वस्य कण्ठादौ तद्धारणादिप्रयोजनविषयिण्येव भवति यतस्तस्यां रत्नार्थत्वं केनचिदद्यापि शङ्कितमपि नैवास्तीत्यध्याहृत्यान्वयः ॥ ११ ॥

एवं पशावपि विशदयति—**अनिच्छतीति** । एवं बलीवर्दे वृषभेऽप्यनिच्छति भार-मुद्वोढुमनभिलषति सतीत्यर्थः । अथापि वणिक्तस्मै तृणान्नपानादिना बलादबलं संपाद्येति यावत् । ल्यब्लोपे पञ्चमीयम् । विणहयिषते विशेषेण तद्द्वारा स्वीयभारं वाहयितुमिच्छ-तीत्यर्थः । शिष्टं तु स्पष्टमेव ॥ १२ ॥

एवं ब्राह्मणत्वजातावप्याह—**ब्राह्मण्यमिति** ॥ १३ ॥

क्षत्रियोऽहं तेन राज्यं करोमीत्यत्र राजता ।
न जातेर्वैश्यजात्यादौ योजनायेदमीरितम् ।। १४ ।।
स्वर्गलोकब्रह्मलोकौ स्तां ममेत्यभिवाञ्छनम् ।
लोकयोर्नोपकाराय स्वभोगायैव केवलम् ।। १५ ।।
ईशविष्ण्वादयो देवाः पूज्यन्ते पापनष्टये ।
न तन्निष्पापदेवार्थं तत्तु स्वार्थं प्रयुज्यते ।। १६ ।।
ऋगादयो ह्यधीयन्ते दुर्ब्राह्मण्यानवाप्तये ।
न तत्प्रसक्तं वेदेषु मनुष्येषु प्रसज्जते ।। १७ ।।

न वा अरे क्षत्रस्येत्यादिवाक्यस्य तात्पर्यमाह—

क्षत्रिय इति । राज्योपभोगनिमित्तं सुखं क्षत्रियत्वजातिमत एव न क्षत्रियत्वजातेरित्यर्थः । इदं क्षत्रियोदाहरणं वैश्याद्युपलक्षणार्थमित्याह—**वैश्यजात्यादाविति** ।। १४ ।।

न वा अरे लोकानां कामायेत्यादिवाक्यस्य तात्पर्यमाह—

स्वर्गलोक इति । लोकद्वयोपादानं कर्मोपासनालक्षणसाधनद्वयसम्पाद्य-सकललोकोपलक्षणार्थम् ।। १५ ।।

किञ्च—**ईशविष्ण्वादय इति** । पापनष्टये पापनिवृत्तय इत्यर्थः । तत्पूजनं न निष्पापदेवार्थं स्वतः पापरहितानां देवानां प्रयोजनाय किन्तु स्वार्थं पूजाकर्तुः प्रयोजनाय ।। १६ ।।

किं च । **ऋगादय इति** । दुर्ब्राह्मण्यं व्रात्यत्वं तच्च दुर्ब्राह्मण्यं मनुष्येषु तद्रहितेषु वेदेषु न प्रसज्जत इत्यर्थः ।।१७।।

एवं क्षत्रियत्वजातावप्युपलक्षणत्वेन विवृणोति—**क्षत्रियोऽहमिति** ॥ १४ ॥

एतत्स्वर्गादिलोकेऽप्याह—**स्वर्गेति** । स्तां भवेताम् ॥ १५ ॥

एवं देवेष्वप्याह—**ईशेति** । आदिना गणेशाद्याः ॥ १६ ॥

एतद्वेदेष्वपि कथयति—**ऋगादयो हीति** । **दुर्ब्राह्मण्येति** । दुष्टब्राह्मणत्वानाप्त्यै । मनुष्येषु कलौ क्षत्रियवैश्ययोरुक्तलक्षणयोरप्यानुपलब्धेर्मनुष्यब्राह्मणेष्वित्यर्थः । एवं च वेदपदविवक्षितस्वशाखाध्ययनाभावे दुर्ब्राह्मणत्वपरिहारार्थं तदध्ययनवन्त एव मनुष्य-ब्राह्मणास्तद्भिन्नास्तु तिर्यग्ब्राह्मणा एवेति भावः ॥ १७ ॥

भूम्यादिपञ्चभूतानि स्थानतृट्पाकशोषणैः ।
हेतुभिश्चावकाशेन वाञ्छन्त्येषां न हेतवः ॥ १८ ॥
स्वामिभृत्यादिकं सर्वं स्वोपकाराय वाञ्छति ।
तत्तत्कृतोपकारस्तु तस्य तस्य न विद्यते ॥ १९ ॥
सर्वव्यवहृतिष्वेवमनुसन्धातुमीदृशम् ।
उदाहरणबाहुल्यं तेन स्वां वासयेन्मतिम् ॥ २० ॥
अथ केयं भवेत्प्रीतिः श्रूयते या निजात्मनि ।

किं च । **भूम्यादीति** । सर्वे प्राणिनः स्थानप्रदानतृण्निवारणपाककरणार्द्रशोषणावप्रकाशप्रदानाख्यैर्हेतुभिर्निमित्तैः पृथिव्यादीनि पञ्चभूतानि वाञ्छत्यपेक्षन्ते । एषां पृथिव्यादीनां तु हेतवः स्थानवाञ्छनादीनि निमित्तानि न सन्ति, अतो न स्वयमाकाङ्क्षन्त इत्यर्थः ॥ १८ ॥

इदानीं न वा अरे सर्वस्य कामायेत्यस्य वाक्यस्य तात्पर्यमाह—

स्वामीति । भृत्यादिसर्वो जनः स्वाम्यादिकं सर्वं स्वोपकाराय स्वप्रयोजनाय वाञ्छति । एवं स्वाम्यादिरपि ॥ १९ ॥

ननु श्रुतावेवं बहूदाहरणदर्शनं किमर्थं कृतमित्याशङ्क्याऽऽह—

सर्वव्यवहृतिष्विति । इच्छापूर्वकेषु सर्वेष्वपि भोजनादिव्यवहारेषु । एवमात्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवतीत्युक्तेन प्रकारेणानुसन्धातुमनुसन्धानायेदृशं पतिजायादिषु प्रीतिदर्शनरूपमुदाहरणबाहुल्यमुक्तमिति शेषः । तेन कारणेन स्वां स्वसम्बन्धिनीं मतिं बुद्धिं वासयेत्सर्वस्यापि स्वशेषत्वावगमेन स्वात्मनः प्रियतमत्वानुसन्धानवती कुर्यादित्यर्थः ॥ २० ॥

नन्वात्मशेषत्वेन सर्वस्य प्रियत्वोक्तेरात्मनः प्रियतमत्वमुक्तमनुपपन्नम् प्रीतिविकल्पे क्रियमाणे प्रीतेरेव दुर्निरूपत्वादित्यभिप्रायेण प्रीतिस्वरूपम् पृच्छति—

अथेति । अथशब्दः प्रश्नार्थः या निजात्मनि प्रीतिः श्रूयत इयं का ? किं रागरूपा किं वा श्रद्धारूपा ? उत भक्तिरूपा ? यद्वेच्छारूपेति ? ।

एवं भूतपञ्चकेऽप्याह—**भूम्यादीति** ॥ १८ ॥
स्वाम्यादावपि मूले सर्वपदेष्ट एवमाह—**स्वामीति** । आदिना गृह्यादि ॥ १९ ॥
फलितमाह—**सर्वेति** । वासयेद्विवेकसंस्कृतां कुर्यादित्यर्थः ॥ २० ॥

रागो वध्वादिविषये श्रद्धा यागादिकर्मणि ।
भक्तिः स्याद्गुरुदेवादाविच्छा त्वप्राप्तवस्तुनि ॥ २१ ॥
तर्ह्यस्तु सात्त्विकी वृत्तिः सुखमात्रानुवर्तिनी ।
प्राप्ते नष्टेऽपि सद्भावादिच्छातो व्यतिरिच्यते ॥ २२ ॥
सुखसाधनतोपाधेरन्नपानादयः प्रियाः ॥ २३ ॥

किंशब्दार्थश्चतुर्ष्वपि पक्षेषु प्रीतेः सर्वविषयत्वं न सम्भवतीत्याह—राग इति । रागश्चेद्वध्वादिष्वेव स्यान्न यागादिषु श्रद्धाचेद्यागादिष्वेव स्यान्न वध्वादिषु भक्तिश्चेद्गुर्वादिष्वेव स्यान्नेतरेषु । इच्छाचेदप्राप्तवस्तुविषयैव स्यान्नेतरविषयाऽतो न सर्वविषयत्वं प्रीतेरित्यर्थः ॥ २१ ॥

उक्तप्रकारचतुष्टयातिरिक्तं पक्षमादायोत्तरमाह—

तर्ह्यस्त्विति । तर्हि प्रीते रागादिरूपत्वासम्भवे सति सुखमात्रानुवर्तिनो सुखमेव सुखमात्रमनुसृत्य वर्तत इति सुखमात्रानुवर्तिनी सुखैकगोचरेत्यर्थतः । सात्त्विकी सत्त्वगुणपरिणामरूपा वृत्तिरन्तःकरणवृत्तिः प्रीतिरस्तु । ननु तर्हि सा प्रीतिरिच्छैवेत्याशङ्क्य परिहरति—प्राप्त इति । इच्छा तावदप्राप्तसुखादिमात्रविषया । इयं तु सर्वविषया प्राप्ते लब्धे सुखादौ नष्टेऽपि तस्मिन्विषये विद्यमानत्वात् । अत इच्छात इच्छाया व्यतिरिच्यते भिद्यते ॥ २२ ॥

इदानीं सुखसाधनभूतेष्वन्नादिष्विवाऽऽत्मन्यपि प्रीतिदर्शनादात्मनोऽप्यन्नादिवत्सुखसाधनत्वं स्यादिति शङ्कते—

सुखेति । अन्नपानादयः सुखसाधनत्वोपाधिना यथा प्रिया दृष्टा आत्माऽप्यानुकूल्यात्प्रियत्वादन्नादिसमोऽन्नपानादिवत्सुखसाधनं स्यादित्यर्थः ॥२३॥

अथ प्रीतिस्वरूपनिर्णयार्थं विकल्प्य पृच्छति—अथेत्यादि सार्धेन ॥ २१ ॥

भक्तिरिति । एवं च रागश्रद्धाभक्तीच्छास्वन्यतमोऽपि प्रीतिपदशक्यो नैव दृश्यते तत्राऽऽह—तर्हीति । रागेच्छयोर्व्युदासाय सात्त्विकीति । सिद्धान्ते मोक्षस्याविद्यास्तमयो मोक्ष इति वार्तिकादनादित्वेनाध्यस्ताविद्याध्वस्तिरूपस्य तस्याधिष्ठानीभूतब्रह्मात्मानतिरेकात्तदिच्छा त्वात्मेच्छैव तस्य सर्वात्मनैवाप्राप्तत्वाभावान्न तदिच्छायां व्यभिचारः । प्रमायामतिव्याप्तिव्यावृत्तये—सुखेति । मात्रचा कान्तालिङ्गनादिजन्यसुखनिरासः । एवं च सुखमात्रविषयकत्वे सति सात्त्विकचित्तवृत्तित्वं प्रीतित्वमिति तल्लक्षणं फलति । तत्रापि सौषुप्तिका विद्यावृत्तिव्यावृत्त्यर्थं चित्तेरयाकूतम् ॥ २२ ॥

एवमपि सुखेच्छानिराकरणाय स्वयमेवाऽऽह—प्राप्त इति । नन्वेवमन्नादीनामपि प्रीतिविषयत्वमस्त्येवेत्यत्राऽऽह—सुखेति ॥ २३ ॥

आत्माऽऽनुकूल्यादन्नादिसमश्चेदमुनाऽत्र कः ।
अनुकूलयितव्यः स्यान्नैकस्मिन्कर्मकर्तृता ॥ २४ ॥
सुखे वैषयिके प्रीतिमात्रमात्मा त्वतिप्रियः ।
सुखे व्यभिचरत्येषा नाऽऽत्मनि व्यभिचारिणी ॥ २५ ॥
एकं त्यक्त्वाऽन्यदादत्ते सुखं वैषयिकं सदा ।
नाऽऽत्मा त्याज्यो न चादेयस्तस्मिन्व्यभिचरेत्कथम् ॥ २६ ॥

अत्रेदमनुमानं सूचितम् । विमत आत्मा सुखसाधनं भवितुमर्हति प्रियत्वादन्नादिवदिति । अन्नपानादिषु भोग्यत्वमुपाधिरित्यभिप्रायेण परिहरति—अमुनेति । अत्र लोकेऽमुना सुखसाधनतयाऽनुकूलयितव्यः कः स्यान्न कोऽपि स्यादात्मातिरिक्तस्य भोक्तुरभावादित्यर्थः । ननु स्वयमेवानुकूलयितव्यः स्यादित्यत आह—नैकस्मिन्निति । एकस्यैवाऽऽत्मनो युगपदुपकार्यत्वमुपकारकत्वं चेति धर्मद्वयं विरुध्यत इत्यर्थः ॥ २४ ॥

नन्वन्नादिवत्सुखसाधनत्वाभावेऽपि सुखवद्भोक्तृशेषता स्यादित्याशङ्क्याऽऽत्मनो निरतिशयप्रेमास्पदत्वान्मैवमिति परिहरति—सुख इति । वैषयिके विषयजन्ये सुखे प्रीतिमात्रं प्रीतिरेव न निरतिशया । आत्मा त्वतिप्रियो निरतिशयप्रेमविषयः । अतो न विषयजन्यसुखतुल्य इत्यर्थः । तत्रोभयत्रोपपत्तिमाह—सुखे व्यभिचरतीति । सुखे वैषयिके सुखे जायमाना एषा प्रीतिर्व्यभिचरति कदाचित्सुखान्तरं गच्छति न तस्मिन्नेव नियताऽवतिष्ठते । आत्मनि तु विद्यमाना प्रीतिर्न व्याभिचारिणी विषयान्तरगामिनी न भवति । अतो निरतिशया सेत्यर्थः ॥ २५ ॥

सुखगोचरायाः प्रीतिर्व्यभिचारं दर्शयति—एकमिति । आत्मनि तु तदभावं दर्शयति—नाऽऽत्मेति । अयोग्यत्वादित्यर्थः । फलितमाह—तस्मिन्निति ॥ २६ ॥

आत्माऽन्नादिसम आनुकुल्याद्व्यतिरेके व्याघ्रादिवदित्यनुमानेन तत्रापि शङ्कते—आत्मेति । अथ सिद्धान्ती तत्रापि समाधातुं पृच्छति—अमुनेत्यादिना । अमुना सुखसाधनतयाऽन्नादिवदनुकूले नाऽऽत्मनेति यावत् । कोऽन्यो भोक्ताऽनुकूलयितव्यः संतर्पणीयः स्यान्न कोऽपीत्यर्थः । ननु भोक्ताऽप्यात्मैव सूर्यंतत्प्रभावत्तत्राऽऽह—नेति ॥ २४ ॥

किञ्च विषयसुखात्मप्रीत्योर्वैषम्यमपीत्याह—सुख इति । तत्र हेतुः—सुखे व्यभिचरतीति ॥ २५ ॥

तदुभयमपि विवृणोति—एकमिति क्रमेण । देवदत्तप्रीतिरित्यार्थिकम् ॥ २६ ॥

हानादानविहीनेऽस्मिन्नुपेक्षा चेत्तृणादिवत् ।
उपेक्षितुः स्वरूपत्वान्नोपेक्ष्यत्वं निजात्मनः ॥ २७ ॥
रोगक्रोधाभिभूतानां मुमूर्षा वीक्ष्यते क्वचित् ।
ततो द्वेषाद्भवेत्त्याज्य आत्मेति यदि तन्न हि ॥ २८ ॥
त्यक्तुं योग्यस्य देहस्य नाऽऽत्मता त्यक्तुरेव सा ।
न त्यक्तर्यस्ति स द्वेषस्त्याज्ये द्वेषे तु का क्षतिः ॥ २९ ॥

हानादिविषयत्वाभावेऽप्यात्मनस्तृणादिवदुपेक्षाविषयत्वं किं न स्यादिति शङ्कते—

हानेति । हानं परित्यागः । आदानं स्वीकारः । उपेक्षा औदासीन्यम् । आत्मनो हानाद्यविषयत्ववदुपेक्षाविषयत्वमपि न सम्भवत्ययोग्यत्वादित्यभिप्रायेण परिहरति—उपेक्षितुरिति । उपेक्षितुरुपेक्षाकर्तुर्यो निजात्माऽविनाशिस्वरूपमस्ति तस्य स्वस्वरूपत्वादेव स्वव्यतिरिक्ततृणादिवदुपेक्ष्यत्वमुपेक्षाविषयत्वं न विद्यत इति शेषः ॥ २७ ॥

ननु हानविषयत्वमात्मनो नास्तीत्युक्तमनुपपन्नं द्वेषात्त्याज्यत्वदर्शनादिति शङ्कते—

रोगेति । यतो मुमूर्षा दृश्यते तत आत्मनि द्वेषसम्भवाद्वृश्चिकादिवदात्माऽपि त्याज्य इति यद्युच्येतेति शेषः । तत्त्यागस्याऽऽत्मव्यतिरिक्तदेहविषयत्वान्मैवमिति परिहरति—तन्न हीति ॥ २८ ॥

त्यक्तुमिति त्यक्तुमुत्स्रष्टुं योग्यस्योचितस्य देहस्याऽऽत्मता नास्ति कस्य तर्हि सेत्यत आह—

त्यक्तुरिति । त्यक्तुर्देहत्यागकारिणो देहातिरिक्तस्य जीवस्य साऽऽत्मतेत्यर्थः । भवतु त्यक्तुरात्मत्वं प्रकृतमायातमित्यत आह—न त्यक्तरीति । अतो नाऽऽत्मनस्त्याज्यत्वमित्यभिप्रायः । मा भूदात्मनि विद्वेषो देहे तूपलभ्यत एवेत्याशङ्क्याऽऽह—त्याज्येति । त्याज्ये देहगोचरे द्वेषे सत्यपि का क्षतिरात्मनस्त्यागाभाववादिनो ममेति शेषः ॥ २९ ॥

तत्रापि शङ्कते—हानेति । समाधत्ते—उपेक्षितुरिति ॥ २७ ॥
तत्रापि शङ्कते—रोगेति । मुमूर्षा मर्तुमिच्छा । तत्खण्डनं सिद्धान्ती सानुवादं प्रतिजानीते—इतीत्यादिशेषेण ॥ २८ ॥
तदुपपादयति—त्यक्तुमिति ॥ २९ ॥

आत्मार्थत्वेन सर्वस्य प्रीतेश्चाऽऽत्मा ह्यतिप्रियः ।
सिद्धो यथा पुत्रमित्रात्पुत्रः प्रियतरस्तथा ॥ ३० ॥
मा न भूवमहं किन्तु भूयासं सर्वदेत्यसौ ।
आशीः सर्वस्य दृष्टेति प्रत्यक्षा प्रीतिरात्मनि ॥ ३१ ॥
इत्यादिभिस्त्रिभिः प्रीतौ सिद्धायामेवमात्मनि ।
पुत्रभार्यादिशेषत्वमात्मनः कैश्चिदीरितम् ॥ ३२ ॥

तदेवं न वा अरे पत्युः कामायेत्यारभ्याऽऽत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवतीत्यन्तायाः श्रुतेस्तात्पर्यपर्यालोचनयाऽऽत्मनः प्रियतमत्वं प्रदर्श्य युक्तितोऽपि तद्दर्शयति—

आत्मेति । सर्वस्य सुखसहितस्य तत्साधनजातस्य पतिजायादेरात्मार्थत्वेन स्वस्योपकारकत्वेन प्रीतेश्च प्रियत्वादप्यात्मा उपकार्यः स्वयमतिशयेन प्रियः सिद्धो हि । एतदेव दृष्टान्तप्रदर्शनेन स्पष्टयति—यथेति । लोके यथा पुत्रमित्रात्पुत्रस्य मित्रभूतात्पुत्रद्वारा प्रीतिविषयाद्यज्ञदत्तादेः सकाशात्पुत्रो देवदत्तादिरव्यवधानेन प्रीतिविषयत्वात्तस्मादतिशयेन प्रियो भवति पितुर्विष्णुदत्तादेस्तथा तद्वत्स्वसम्बन्धित्वेन प्रीतिविषयात्सर्वस्मात्स्वयमतिशयेन प्रियो भवतीत्यर्थः ॥ ३० ॥

एवमात्मनि श्रुतियुक्तिभ्यामुपपादितां निरतिशयां प्रीतिं स्वानुभवप्रदर्शनेन द्रढयति—

मा न भूवमिति । अहं मा भूवमिति न, न क्वापि ममाऽऽत्मसत्त्वमस्तु किन्तु सर्वदा भूयासं सदा मम सत्ताऽस्तु, इत्येवंरूपाऽऽशीः प्रार्थना सर्वस्य प्राणिजातस्य सम्बन्धिनी दृष्टा । सर्वोऽप्येवमेव प्रार्थयत इत्यर्थः । फलितमाह—प्रत्यक्षेति । यत एवं सर्वैः प्रार्थ्यतेऽत आत्मनि निरतिशया प्रीतिः प्रत्यक्षसिद्धेत्यर्थः ॥ ३१ ॥

वृत्तानुकीर्तनपुरःसरं मतान्तरं दूषयितुमनुभाषते—

इत्यादिभिरिति । इतिशब्देनानुभवः परामृश्यते । आदिशब्देन युक्तिश्रुती इत्यादिभिरनुभवयुक्तिश्रुतिलक्षणैस्त्रिभिः प्रमाणैरेवमुक्तेन प्रकारेणा-

फलितं निगमयति—आत्मेति । तत्र दृष्टान्तं स्पष्टयति—यथेत्यादिशेषेण ॥३०॥
तदेवातिप्रियत्वं साभिनयमनुभावयति—मा न भूवमिति । आशीर्मनोरथः । उपसंहरति—इतीत्यादिना ॥ ३१ ॥

एतद्विवक्षया पुत्रे मुख्यात्मत्वं श्रुतीरितम् ।
आत्मा वै पुत्रनामेति तच्चोपनिषदि स्फुटम् ।। ३३ ।।
सोऽस्यायमात्मा पुण्येभ्यः कर्मभ्यः प्रतिधीयते ।
अथास्येतर आत्माऽयं कृतकृत्यः प्रमीयते ।। ३४ ।।

ऽऽत्मनि प्रीतौ सिद्धायामपि कैश्चिच्छ्रुत्यादितात्पर्यानभिज्ञैरात्मनः पुत्रभार्यादिशेषत्वं पुत्रादीन्प्रति स्वस्योपसर्जनत्वमीरितमभिहितम् ।। ३२ ।।

इदं कुतोऽवगतमित्यत आह–

एतदिति । एतद्विवक्षयैवं कैश्चिदीर्यंत इत्येतदभिव्यक्तीकरणाभिप्रायेणाऽऽत्मा वै पुत्रनामासीदित्यादिकया–**श्रुत्या** पुत्रस्य मुख्यात्मत्वमीरितमित्यर्थः । किञ्च तत्पुत्रस्य मुख्यात्मत्वमुपनिषदि, **ऐतरेयोपनिषदादौ** स्फुटं व्यक्तमभिहितमिति शेषः ।। ३३ ।।

सोऽस्येति । अस्य पितुः स पुरुषे ह वाऽयमादितो गर्भो भवतीति-प्रकरणादौ पुरुषे देहे गर्भत्वेनोक्तः । अयं सोग्र एव कुमारं जन्मनोऽग्रेऽधिभावयतीत्यत्रातिशयेन पालनीयतयोक्तः पुत्ररूप आत्मा पुण्येभ्यः कर्मभ्यः पुण्यकर्मानुष्ठानाय प्रतिधीयते प्रतिनिधित्वेनावस्थाप्यते पित्रेति शेषः । अथानन्तरमस्य पितुरयं प्रत्यक्षेण परिदृश्यमान इतरः पुत्रादन्यो जरसा ग्रस्तः पितृरूप आत्मा स्वयं कृतकृत्योऽनुष्ठितकृत्यजातः सन्प्रमीयते म्रियत इत्यर्थः ।। ३४ ।।

ततः किं तदाह—**इत्यादिभिरिति** त्रिभिः । न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवत्यात्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवतीत्यादिश्रुतेर्युक्तिघटितत्वात्प्रयागतीर्थराजे गङ्गायमुनोभयाम्भावच्छ्रुतियुक्तिलक्षणं प्रमाणद्वयं तथा पूर्वपद्योक्तानुभूत्याख्यं तत्तृतीयमिलितैः प्रमाणैरित्यर्थः ।। ३२ ।।

ननूक्तप्रमाणत्रयविरुद्धं पुत्राद्युपसर्जनत्वमात्मनस्तैः कथमुच्यत इत्यत आह—**एतदिति** । प्रतिज्ञातकेचिन्मतानुवादेच्छयेत्यर्थः श्रुतीरितम् "आत्मा वै पुत्रनामासीत्" इत्यादिश्रुत्या कथितमस्तीति शेषः । उपनिषदि स्फुटम्, **ऐतरेयोपनिषदि** प्रपञ्चितं भवतीत्यर्थः ।। ३३ ।।

अथोक्तोपनिषद्वाक्यमेव किञ्चिदर्थतः संग्रथयति—**सोऽस्यायमिति** । अस्य पितुः स पुरुषे ह वा अयमादितो गर्भो भवतीति प्रागुपन्यस्त इत्यर्थः । अयं प्रत्यक्षः पुत्ररूपः । पुण्येभ्यः कर्मभ्यः सत्कर्मार्थम् । प्रतिधीयते तदनुष्ठानविषये पित्रा प्रतिनिधित्वेन विधीयत इति यावत् । अथानन्तरमयं प्रत्यक्षोऽस्य पितुरितरो देहरूप आत्मा कृतकृत्यः सम्भुक्तारब्धकर्मफलः सन्प्रमीयते म्रियत इत्यर्थः ।। ३४ ।।

सत्यप्यात्मनि लोकोऽस्ति नापुत्रस्यात एव हि ।
अनुशिष्टं पुत्रमेव लोक्यमाहुर्मनीषिणः ।। ३५ ।।

मनुष्यलोको जय्यः स्यात् पुत्रेणैवेतरेण नो ।
मुमूर्षुर्मन्त्रयेत्पुत्रं त्वं ब्रह्मेत्यादिमन्त्रकैः ।। ३६ ।।

उक्तार्थस्य दृढीकारणाय पुत्ररहितस्य परलोकाभावप्रदर्शनपरस्य नापुत्रस्य लोकोऽस्तीति वाक्यस्यार्थमाह—

सत्यपीति । यतः पुत्रस्य मुख्यमात्मत्वमस्त्यत एवाऽऽत्मनि स्वस्मिन्सत्यपि स्थितेऽप्यपुत्रस्य पुत्ररहितस्य पितुर्लोकः परलोको नास्ति हि, इदं पुराणादिषु प्रसिद्धमित्यर्थः । व्यतिरेकमुखेनोक्तस्यार्थस्यान्वयमुखेन प्रतिपादकस्यानुशिष्टं पुत्रं लोक्यमाहुरितिवाक्यस्यार्थमाह—**अनुशिष्टमिति** । मनीषिणः शास्त्रार्थाभिज्ञा अनुशिष्टं वक्ष्यमाणैस्त्वं ब्रह्मेत्यादिभिर्मन्त्रैः शिक्षितमेव पुत्रं लोक्यं लोकाय हितं परलोकसाधनमाहुरित्यर्थः ।। ३५ ।।

इदानीमैहिकसुखस्यापि पुत्रहेतुकत्वप्रतिपादनपरं सोऽयं मनुष्यलोकः पुत्रेणैव जय्यो नान्येन कर्मणेतिश्रुतिवाक्यमर्थतः पठति—

मनुष्यलोको इति । मनुष्यलोकसुखं पुत्रेणैव जय्यं स्यात्सम्पाद्यं स्यादितरेण कर्मादिना साधनान्तरेण नो नैव भवति पुत्रशून्यस्य सुखसाधनमपि धनादिकं निर्वेदजनकं भवतीतिभावः । अनुशिष्टं पुत्रं लोक्यमित्यत्र पुत्रानुशासनमुक्तमिदानीं तस्यावसरं तन्मत्रांश्च दर्शयति—**मुमूर्षुरिति** । आदिशब्देन 'त्वं यज्ञस्त्वं लोकः' इतिमन्त्रौ गृह्येते । एभिस्त्वं ब्रह्मेत्यादिभिस्त्रिभिर्मन्त्रैर्मुमूर्षुः पिता मरणावसरे पुत्रं मन्त्रयेत्पुत्रस्यानुशासनं कुर्यादित्यर्थः ।। ३६ ।।

उक्तानुग्राहिकामेव नापुत्रस्य लोकोऽस्तीति श्रुतिमप्यर्थतोऽनुबध्नाति—**सत्यपीति** । नापुत्रस्य लोकोऽस्तीत्यैतरेयवचः । एवमनुशिष्टं पुत्रं लोक्यमाहुरिति वाक्यमप्यत्र संवादयति—**अनुशिष्टमिति** ॥ ३५ ॥

तद्वत्सोऽयं मनुष्यलोकः पुत्रेणैव जय्य इति **काण्वश्रुतिमप्याह—मनुष्येति** । पूर्वपद्ये पुत्रस्यानुशासनमुक्तं तत्प्रकारं विधत्ते—**मुमूर्षुरिति** । आदिना त्वं यज्ञस्त्वम् लोक इति **मन्त्रौ** ॥ ३६ ॥

इत्यादिश्रुतयः प्राहुः पुत्रभार्यादिशेषताम् ।
लौकिका अपि पुत्रस्य प्राधान्यमनुमन्वते ॥ ३७ ॥

स्वस्मिन्मृतेऽपि पुत्रादिर्जीवेद्वित्तादिना यथा ।
तथैव यत्नं कुरुते मुख्याः पुत्रादयस्ततः ॥ ३८ ॥

बाढमेतावता नाऽऽत्मा शेषो भवति कस्यचित् ।
गौणमिथ्यामुख्यभेदैरात्माऽयं भवति त्रिधा ॥ ३९ ॥

उक्तमर्थं निगमयति—

इत्यादीति । न केवलमयं श्रुतिसिद्धोऽर्थः किं तु लोकप्रसिद्धोऽपीत्याह—**लौकिका इति** ॥ ३७ ॥

तदेवोपपादयति—

स्वस्मिन्निति । स्वस्मिन्पित्रादावेकेनाऽऽदिशब्देन गृह्यन्ते द्वितीयेन क्षेत्रादयः । ललितमाह—**मुख्या इति** । यस्मात्स्वप्रयासं सोढ्वाऽपि पुत्रादिजीवनोपायं संपादयति । ततस्तस्मात्पुत्रादयो मुख्याः प्रधानभूता इत्यर्थः ॥ ३८ ॥

एवं लोकप्रसिद्धिभ्यां प्रदर्शितं पुत्रादिप्राधान्यमङ्गीकरोति—

बाढमिति । तर्ह्यात्मनः शेषित्वोपपादनं व्याकुप्येदित्याशङ्क्याऽऽह—**एतावतेति** । एतावता पुत्रादेः क्वचित्प्राधान्यमस्तीत्येतावता न हि प्रतिज्ञामात्रेणार्थसिद्धिरित्याशङ्क्य यत्र यत्र व्यवहारे यस्य यस्याऽऽत्मत्वं विवक्ष्यते तस्य तस्याऽऽत्मनस्तत्र तत्र प्राधान्यदर्शनायोपोद्घातत्वेनाऽऽत्मत्रैविध्यमाह—**गौणेति** । गौणात्मा मिथ्यात्मा मुख्यात्मा चेत्ययमात्मा त्रिधा भवति ।३९।

उपसंहरति—**इत्यादीति** । आदिना प्रजया पितृभ्य इत्यादि । **भार्यादीति** । अर्धो वा एष आत्मनो यत्पत्नीतिश्रुतिसिद्धमेव । अत्राप्यादिना प्राणादि ॥ ३७ ॥

अत एव—**स्वस्मिन्निति** । कुरुते देवदत्त इति शेषः । पूर्ववादी फलितमाह—**मुख्या इत्यादिना** ॥ ३८ ॥

अथ सिद्धान्ती समाधातुमर्धमङ्गीकरोति—**बाढमिति** । शेष उपसर्जनम् । तत्प्रकारमाह—**गौणेत्यादिना** ॥ ३९ ॥

देवदत्तस्तु सिंहोऽयमित्यैक्यं गौणमेतयोः ।
भेदस्य भासमानत्वात्पुत्रादेरात्मता तथा ॥ ४० ॥
भेदोऽस्ति पञ्चकोशेषु साक्षिणो न तु भात्यसौ ।
मिथ्यात्मताऽतः कोशानां स्थाणोश्चोरात्मता यथा ॥ ४१ ॥
न भाति भेदो नाप्यस्ति साक्षिणोऽप्रतियोगिनः ।
सर्वान्तरत्वात्तस्यैव मुख्यमात्मत्वमिष्यते ॥ ४२ ॥

तत्र पुत्रादेर्गौणात्मत्वप्रदर्शनाय लोके गौणप्रयोगमुदाहरति—

देवदत्त इति । अयं देवदत्तः सिंह इति यद्देवदत्तसिंहयोरैक्यं तद्गौणमौपचारिकं तत्र हेतुमाह—**एतयोरिति** । दार्ष्टान्तिके योजयति—**पुत्रादेरिति** ॥ ४० ॥

अनन्तरं मिथ्यात्मानं दर्शयति—

भेद इति । पञ्चकोशेष्वानन्दमयाद्यन्नमयान्तेषु पञ्चसु कोशेषु साक्षिणः सकाशाद्विद्यमानोऽपि भेदो नावभासतेऽतस्तेषां मिथ्यात्मत्वमित्यर्थः । मिथ्यात्मत्वे दृष्टान्तमाह—**स्थाणोरिति** । वस्तुश्चोराद्भिन्नस्य स्थाणोश्चोररूपत्वं यथा मिथ्या तद्वदित्यर्थः ॥ ४१ ॥

एवं गौणमिथ्यात्मानावुपपाद्येदानीं साक्षिणो मुख्यात्मत्वमुपपादयति—

न भातीति । साक्षिणः साक्षिरूपस्याऽऽत्मनो गौणात्मनः पुत्रादेरिव कस्मादपि भेदो न भाति मिथ्यात्मनो देहादेरिव भेदो नास्त्यपि, तत्रोभयत्र हेतुः—**अप्रतियोगिन इति** । हेतुगर्भितं विशेषणमप्रतियोगित्वाद्यथा पुत्रादे-

ननु भवत्वेवमात्मनो गौणत्वादिना त्रैविध्यं ततः किं प्रकृत इत्यत आह—**देवदत्तस्त्वति** । गौणं क्रौर्यादिगुणजन्यम् । एतयोः प्रकृतवाक्योक्तदेवदत्तसिंहयोरित्यर्थः । मुख्यं कुतो नेत्यत्राऽऽह—**भेदस्येत्यादिना** । प्रकृते योजयति—**पुत्रादेरिति** । आदिना पत्नी ॥ ४० ॥

अथ मिथ्यात्मानं क्रमागतं कथयति—**भेद इति** । कोशानां ब्राह्मणः प्राणायामं कृत्वाऽहं सुखप्रस्मीत्यध्यासगृहीतानां देहादिवद्भानामप्युक्तहेतोर्मिथ्यात्मतैवास्तीत्यन्वयः । तत्र निदर्शनमाह—**स्थाणोरित्यादिविशेषेण** ॥ ४१ ॥

नन्वेवं मुख्यात्माऽपि वक्तव्य इति चेत्सोऽनुपदं सूचितोऽपि मूढैर्न ज्ञायत इति कण्ठत एव तदुपपादयति—**न भातीति** । देवदत्ते सिंहस्येव साक्षिणि कस्यचिद्वस्तुनो

सत्येवं व्यवहारेषु येषु यस्याऽऽत्मतोचिता ।
तेषु तस्यैव शेषित्वं सर्वस्यान्यस्य शेषता ।। ४३ ।।
मुमूर्षोर्गृहरक्षादौ गौणात्मैवोपयुज्यते ।
न मुख्यात्मा न मिथ्यात्मा पुत्रः शेषी भवत्यतः ।। ४४ ।।

देहादेरपि स्वयं प्रतियोगी विद्यते नैवं स्वस्य वस्तुभूतः कश्चित्प्रतियोग्यस्ति, देहादेः सर्वस्याऽऽरोपितत्वादिति भावः । ननु भेदाभावेन साक्षिणो गौण-मिथ्यात्वे मा भूतां, मुख्यात्मत्वं तु कुत इत्यत आह—**सर्वेति** । सर्वस्माद्देह-पुत्रादेरान्तरत्वात्सर्वसाक्षिणः प्रतीचः सर्वान्तरत्वेन प्रतीयमानत्वात्तस्यैव साक्षिण एवाऽऽत्मत्वं मुख्यमनौपचारिकमिष्यतेऽभ्युपगम्यत इत्यर्थः । अत्रद-मनुमानं सूचितं विमतः साक्षी मुख्यात्मा भवितुमर्हति सर्वान्तरत्वात् । यो मुख्यात्मा न भवति स सर्वान्तरोऽपि न भवति यथाऽहङ्कारादिरिति केवल-व्यतिरेकी ।। ४२ ।।

भवत्वात्मत्रैविध्यं पुत्रादेः शेषित्वाभिधाने किमायातमित्यत आह—

सत्येवमिति । एवमात्मत्रैविध्ये सत्यपि येषु लौकिकवैदिकलक्षणेषु पालनपोषणब्रह्मात्मत्वानुसन्धानादिषु व्यवहारविशेषेषु यस्य पुत्रादेर्देहादेः साक्षिणो वाऽऽत्मत्वमुचितं भवति तेषु तस्य पुत्रादेर्देहादेः साक्षिणो वा शेषित्वं प्रधानत्वमन्यस्य तद्व्यतिरिक्तस्य सर्वस्य शेषता उपसर्जनत्वं भव-तीति शेषः ।। ४३ ।।

एतदेव प्रपञ्चयति—

मुमूर्षोरित्यादिना श्लोकपञ्चकेन । गृहरक्षादौ कर्मविशेषे गौणात्मैव पुत्रभार्यादिरूप एवोपयुज्यत उपयुक्तो भवति । उत्तरत्र जिजीविषुत्वा-

व्यावहारिकोऽपि भेदो न भाति नापि पञ्चकोशानामिवास्ति चेति संबन्धः । तत्र हेतुं वदंस्तं विशिनष्टि—**अप्रतीति** । उपलक्षणमिदमनुयोगित्वस्यापि । एवं सर्वमपि घटाद्यविद्यान्तं द्वैतं स्वप्रकाशात्साक्षिणः पृथग्भासेत चेत्तत्प्रतियोगिकः साक्षिण्यनुयोगिनि भेदो भासेतापि तथा साक्षिप्रतियोगिकोऽसौ तत्रानुयोगिनि दृश्येऽपि परन्तु तस्य रजतादिवत्कल्पितत्वाच्छु-क्त्यादेरिव साक्षिणोऽधिष्ठानभूतात्पार्थक्येव स्फूर्त्यादिकमेव नास्तीत्ययमप्रतियोग्येवेति भावः । फलितमाह—**सर्वेति** । तथा चायं प्रयोगः । विमतः साक्ष्येव मुख्यात्मा । अखिला-न्तरत्वात् । । व्यतिरेके सर्वदृश्यवदिति केवलव्यतिरेकीत्याशयः ।। ४२ ।।

ततः किं तदाह—**सत्येवमिति** । शेषित्वमङ्गित्वम् । शेषत्वमङ्गत्वम् ।। ४३ ।।

तद्व्यवस्थामेवाऽऽह—**मुमूर्षोरित्यादिना** ।। ४४ ।।

अध्येता वह्निरित्यत्र सन्नप्यग्निर्न गृह्यते ।
अयोग्यत्वेन योग्यत्वाद्बटुरेवात्र गृह्यते ॥ ४५ ॥

कृशोऽहं पुष्टिमाप्स्यामीत्यादौ देहात्मतोचिता ।
न पुत्रं विनियुङ्क्तेऽत्र पुष्टिहेत्वन्नभक्षणे ॥ ४६ ॥

तपसा स्वर्गमेष्यामीत्यादौ कर्त्रात्मतोचिता ।
अनपेक्ष्य वपुर्भोगं चरेत्कृच्छ्रादिकं ततः ॥ ४७ ॥

दित्यर्थः । मुख्यात्मा साक्षी नोपयुज्यतेऽविकारित्वान्नापि मिथ्यात्मा तस्य मरणोन्मुखत्वादिति भावः । फलितमाह—पुत्र इति । स्पष्टम् ॥ ४४ ॥

उक्ते गृहरक्षादिव्यवहारे सत्यपि स्वस्मिन्पुत्रादिस्वीकारे दृष्टान्तमाह—

अध्येतेति । अयमध्येता वह्निरित्यस्मिन्प्रयोगे स्वरूपेण विद्यमानोऽप्यग्निर्नाग्निशब्दार्थत्वेन गृह्यते तस्याध्येतृत्वायोगात् । किन्तु अध्येतृत्वे योग्यो बटुर्माणवक एवात्रास्मिन्प्रयोगेऽग्निशब्दार्थत्वेन गृह्यते योग्यत्वादित्यर्थः ॥ ४५ ॥

एवं गौणात्मप्राधान्यस्थलमुदाहृत्य मिथ्यात्मप्राधान्यस्थलमुदाहरति—

कृश इति । अहं कृशो जातोऽतोऽन्नभक्षणादिना पुष्टिं संपादयिष्यामीत्यादौ लोकव्यवहारेऽन्नभक्षणयोग्यस्य देहस्यैवाऽऽत्मत्वं ग्रहीतुमुचितम् । उक्तमर्थं लोकव्यवहारप्रदर्शनेन द्रढयति—न पुत्रमिति ॥ ४६ ॥

किञ्च । तपसेति । यदा तु तपः कृत्वा स्वर्गं संपादयिष्यामीत्यादिव्यवहारं करोति तदा कर्तृशब्दवाच्यविज्ञानमयस्यैवाऽऽत्मत्वमुचितं न देहादेरित्यर्थः । तदेवोपपादयति—अनपेक्ष्येति । यतो न देहस्याऽऽत्मत्वमुचितं ततो देहभोगपरित्यागपूर्वकं कर्तुरुपकारकं कृच्छ्रचान्द्रायणादिकं चरतीत्यर्थः ॥ ४७ ॥

अध्येतेति । एवं चेदं निरुक्तगौणात्माख्यपुत्रग्रहणे निदर्शनमित्याशयः ॥ ४५ ॥

कृशोऽहमिति ॥ ४६ ॥

तपसेति । वपुरिति । स्रक्चन्दनवनितादिशरीरोपभोगमित्यर्थः ॥ ४७ ॥

मोक्ष्येऽहमित्यत्र युक्तं चिदात्मत्वं तदा पुमान् ।
तद्वेत्ति गुरुशास्त्राभ्यां न तु किञ्चिच्चिकीर्षति ।। ४८ ।।

विप्रक्षत्रादयो यद्वद्बृहस्पतिसवादिषु ।
व्यवस्थितास्तथा गौणमिथ्यामुख्या यथोचितम् ।। ४९ ।।

तत्र तत्रोचिते प्रीतिरात्मन्येवातिशायिनी ।
अनात्मनि तु तच्छेषे प्रीतिरन्यत्र नोभयम् ।। ५० ।।

किञ्च । मोक्ष्येऽहमिति । यदा पुमाञ्शमादीन्सम्पाद्य मुक्तिं प्राप्स्यामीति मतिं करोति तदा गुरुशास्त्राभ्यामाचार्योपदेशवाक्यार्थविचारजन्यापरोक्षज्ञानेन नाहं कर्त्राद्यात्मा सच्चिदानन्दब्रह्माहमस्मीति चिदात्मानमवगच्छति तस्य चिदात्मत्वमेवोचितं न तु तत्र कर्त्राद्यात्मत्वमित्यर्थः । सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मविज्ञानमानन्दं ब्रह्म अनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नः प्रज्ञानघन एव इत्यादिश्रुतेः ।। ४८ ।।

उदाहृतानां त्रिविधानामात्मनां व्यवहारविशेषेषु व्यवस्थया प्राधान्ये दृष्टान्तमाह—

विप्रेति । यथा ब्राह्मणे बृहस्पतिसवेन यजेतेत्यत्र ब्राह्मणस्यैवाधिकारो न क्षत्रियवैश्ययो राजा राजसूयेन यजेतेत्यत्र राज्ञ एवाधिकारो न ब्राह्मणवैश्ययोः, वैश्यो वैश्यस्तोमेन यजेत्यत्र वैश्यस्यैवाधिकारो नेतरयोः । एवं गौण मिथ्यामुख्यामुख्यभेदानामात्मनां यथायोग्यं स्वोचितव्यवहारेषु प्राधान्यमिति भावः ।। ४९ ।।

फलितमाह—

तत्र तत्रेति । यस्मिन्व्यवहारे यो य आत्मा उचितो भवति तत्र तत्र तस्मिंस्तस्मिन्व्यवहार उचित उपयोगितया प्रधानभूत आत्मन्येव प्रीतिरति-

मोक्ष्येऽहमिति । चिदिति । स्वप्रकाशसाक्ष्याख्यमुख्यात्मत्वमित्यर्थः ।। ४८ ।।

पर्यवसितमाह—विप्रेति । ब्राह्मणो बृहस्पतिसवेन यजेत । राजा राजसूयेन यजेतेत्यादिश्रुतेरित्यर्थः । आत्मान इति शेषः ।। ४९ ।।

अथैवं प्रीतिमपि यथोचितां व्यवस्थापयति—तत्र तत्रेति । आत्मनि मुख्यात्मन्येव तच्छेषे तत्र तथोक्तगृहरक्षादिव्यवहारे तदङ्ग इत्यर्थः । उभयमतिप्रीत्यादिद्वयमपि । अन्यत्राङ्गित्वादिशून्ये तु न नैवास्तीति योजना ।। ५० ।।

उपेक्ष्यं द्वेष्यमित्यन्यद्द्वेधा मार्गतृणादिकम् ।
उपेक्ष्यं व्याघ्रसर्पादि द्वेष्यमेवं चतुर्विधम् ॥ ५१ ॥

आत्मा शेष उपेक्ष्यं च द्वेष्यं चेति चतुर्ष्वपि ।
न व्यक्तिनियमः किन्तु तत्तत्कार्यात्तथा तथा ॥ ५२ ॥

स्याद्व्याघ्रः संमुखो द्वेष्यो ह्युपेक्ष्यस्तु पराङ्मुखः ।
लालनादनुकूलश्चेद्विनोदायेति शेषताम् ॥ ५३ ॥

शायिन्यतिशयवती । तच्छेषे तस्याऽऽत्मनः शेषे शेषभूतेऽनात्मन्यात्मव्यतिरिक्ते वस्तुनि प्रीतिमात्रं न निरतिशयंप्रेमेत्यर्थः अन्यत्राऽऽत्मतच्छेषाभ्यामन्यस्मिन्वस्तुनि नोभयमुभयविधमपि प्रेम नास्तीत्यर्थः ॥ ५० ॥

अन्यत्र नोभयमित्यत्राभिहितस्यान्यशब्दार्थस्यावान्तरभेदमाह—

उपेक्ष्यमिति । अन्यदन्यदि च्युतमानं वस्तूपेक्ष्यमुपेक्षाविषयो द्वेष्यं द्वेषविषयश्चेति द्विधा द्विप्रकारं भवति तदुभयमुदाहरति—**मार्गेति** । मार्गगतं तृणलोष्टादिकमुपेक्ष्यं स्वस्योपद्रवहेतुर्व्याघ्रादिकं द्वेष्यमित्यर्थः । फलितमाह—**एवमिति** ॥ ५१ ॥

चातुर्विध्यमेव दर्शयति—

आत्मेति । नन्वात्मादीनां चतुर्णामपि प्रियतमत्वादिकं किं नियतं नेत्याह—**चतुर्ष्वपीति** । अयमेव प्रियतमोऽयमेव प्रिय इदमेवोपेक्ष्यमिदमेव द्वेष्यं नान्यदिति नियमो नास्तीत्यर्थः । किं तर्हीत्यत आह—**किं त्विति** । तस्मात्तस्मात्कार्यविशेषादुपकारादिरूपात्तया तथा प्रियादिरूपतेत्यर्थः ॥५२॥

सर्वत्राप्यनियमयोजनाय प्रसिद्धे द्वेष्यव्याघ्रे तदभावं दर्शयति—

स्यादिति । यदा व्याघ्रः स्वभक्षणाय संमुख आगच्छति तदा द्वेष्यो

ननु किं तदन्यदङ्गित्वादिशून्यमनात्मवस्त्वित्यत आह—**उपेक्ष्यमिति** । निगमयति—**एवमित्यादिशेषेण** । पदार्थजातमित्यर्थः ॥ ५१ ॥

तद्विशदयति—**आत्मेति** । ननु भवत्वेवमथापि साक्षी तु सर्वांतरत्वान्मुख्यात्मैव प्रियतमः परन्तु शेषादीनां त्रयाणां किमङ्गत्वादिव्यक्तिनियमोऽस्त्ययमेवाङ्गमयमेवोपेक्ष्योऽयमेव द्वेष्य इति व्यक्तिविशेषावच्छेदेनेत्यत आह—**इतोत्याविशेषेण** ॥ ५२ ॥

व्यक्तीनां नियमो मा भूल्लक्षणात्तु व्यवस्थितिः ।
आनुकूल्यं प्रातिकूल्यं द्वयाभावश्च लक्षणम् ।। ५४ ।।

आत्मा प्रेयान्प्रियः शेषो द्वेषोपेक्षे तदन्ययोः ।
इति व्यवस्थितो लोको याज्ञवल्क्यमतं च तत् ।। ५५ ।।

भवति स एष पराङ्मुखो गच्छति चेदुपेक्ष्यो भवति स एव यदि लालनात् स्वानुकूलो भवति तदा विनोदायेति विनोदसाधनं भवतीतिशेषतां स्वस्योपकारत्वेन प्रियत्वं भजत इत्यभिप्रायः ।। ५३ ।।

नन्वेकस्यैव वस्तुनः प्रियत्वादिधर्मत्रयाङ्गीकारे व्यवहारव्यवस्था न स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—

व्यक्तीनामिति । व्यक्तिनियमाभावेऽपि लक्षणवशाद्व्यवस्था भविष्यतीत्यर्थः । किंलक्षणमित्याकाङ्क्षायां तल्लक्षणमाह—**आनुकूल्यमिति** । अनुकूलत्वं प्रियस्य लक्षणं व्यावर्तको धर्मः प्रतिकूलत्वं द्वेष्यस्य लक्षणमुपेक्ष्यस्याऽऽनुकूल्यप्रातिकूल्यरूपद्वयाभावश्च लक्षणमित्यर्थः ।। ५४ ।।

एतवता ग्रन्थसन्दर्भेणोपपादितमर्थं बुद्धिसौकर्याय संक्षिप्य कथयति—

आत्मेति . आत्मा प्रत्यगानन्दः । प्रेयानतिशयेन प्रियः । शेषः स्वोपसर्जनभूतः पदार्थः प्रियः । तदन्ययोस्ताभ्यामात्मनस्तच्छेषाच्चान्ययोः, व्याघ्रपथिगततृणादिरूपयोर्द्वेषोपेक्षे यथाक्रमं भवत इति । एवं चातुर्विध्येन लोको व्यवस्थितो व्यवस्थां प्राप्तः । उक्तप्रकारचतुष्टयातिरिक्तं न किंचिद्विद्यत इत्यभिप्रायः । अयमर्थः । श्रुत्यभिमतोऽपीत्याह—**याज्ञवल्क्येति** । आत्मादीनां प्रियतमत्वादिकं यत्तद्याज्ञवल्क्यमतं च याज्ञवल्क्यस्यापि सम्मतमित्यर्थः ।। ५५ ।।

तदुदाहरति—**स्यादिति** । शेषतामङ्गताम् ।। ५३ ।।

एतदङ्गीकृत्य शेषादिलक्षणं पृच्छति—**व्यक्तीनामिति** । तत्संक्षिपति—आनुकूल्यमिति । क्रमाच्छेषद्वेष्योपेक्ष्याणामित्यार्थिकम् ।। ५४ ।।

फलितमाह—**आत्मेति** ।। ५५ ।।

अन्यत्रापि श्रुतिः प्राह पुत्राद्वित्तात्तथाऽन्यतः ।
सर्वस्मादान्तरं तत्त्वं तदेतत्प्रेय इष्यताम् ॥ ५६ ॥

श्रौत्या विचारदृष्ट्याऽयं साक्ष्येवाऽऽत्मा न चेतरः ।
कोशान्पञ्च विविच्यान्तर्वस्तुदृष्टिर्विचारणा ॥ ५७ ॥

जागरणस्वप्नसुप्तीनामागमापायभासनम् ।
यतो भवत्यसावात्मा स्वप्रकाशचिदात्मकः ॥ ५८ ॥

न केवलं मैत्रेयीब्राह्मण एवाऽऽत्मनः प्रियतमत्वमुक्तं किन्तु पुरुषविधब्राह्मणेऽपीत्यभिप्रायेण तद्वाक्यार्थं संगृह्णाति—

अन्यत्रापीति । "तदेतत्प्रेयः पुत्रात्प्रेयो वित्तात्प्रेयोऽन्यस्मात्सर्वस्मादन्तरतरं यदयमात्मा" इत्यनेन **वाक्येन** पुत्रवित्तादेः सर्वस्मादान्तरस्याऽऽत्मतत्त्वस्य प्रियतमत्वमीरितमित्यर्थः ॥ ५६ ॥

भवत्वेवं श्रुतावभिधानं प्रकृते किमायातमित्यत आह—

श्रौत्येति । श्रुत्यर्थं पर्यालोचनरूपया विचारदृष्ट्या साक्षिण एव मुख्यमात्मत्वं नेतरस्य पुत्रादेरित्यर्थः । विचारदृष्ट्येत्यभिहितस्य स्वरूपमाह—**कोशानिति** । अन्नमयादीन्पञ्चकोशांस्तैत्तिरीयश्रुत्युक्तप्रकारेणाऽऽत्मनः पृथक्कृत्यान्तःस्थितस्याऽऽत्मनोऽनुभवो विचारणेत्यर्थः ॥ ५७ ॥

अन्तःस्थितस्य वस्तुनो दर्शनप्रकारमेवाऽऽह—

जागरेत्यादिना । जाग्रदाद्यवस्थानां मध्य उत्तरोत्तरावस्थागमस्य पूर्वपूर्वावस्थानिवृत्तेश्चावभासनं यतो नित्यचैतन्यरूपात्साक्षिणो भवति स स्वप्रकाशचिद्रूप आत्मेत्यर्थः ॥ ५८ ॥

एवं "तदेतत्प्रेयः पुत्रात्प्रेयो वित्तात्प्रेयोऽन्यस्मात्सर्वस्मादन्तरतरं यदयमात्मा" इति बृहदारण्यक एवाऽऽत्मनः परमप्रीतिविषयत्वमुक्तमिति वक्तुं तद्वाक्यमेवार्थतः संग्रथयति—**अन्यत्रापीति** ॥ ५६ ॥

ततः किं तदाह—**श्रौत्येति** ॥ ५७ ॥

नन्वस्त्वेवं पञ्चकोशविवेके नान्तर्वस्तुदर्शनलक्षणश्रुतिजन्यविचारदृष्ट्या साक्ष्यात्मन्येवातिप्रीतिनिर्णीतिरथाप्यसावेव क इत्यत आह—**जागरेति** ॥ ५८ ॥

शेषाः प्राणादिवित्तान्ता आसन्नास्तारतम्यतः ।
प्रीतिस्तथातारतम्यात्तेषु सर्वेषु वीक्ष्यते ।। ५९ ।।

वित्तात्पुत्रः प्रियः पुत्रात्पिण्डः पिण्डात्तथेन्द्रियम् ।
इन्द्रियाच्च प्रियः प्राणः प्राणादात्मा प्रियः परः ।। ६० ।।

एवं स्थिते विवादोऽत्र प्रतिबुद्धविमूढयोः ।
श्रुत्योदाहारि तत्रात्मा प्रेयानित्येव निर्णयः ।। ६१ ।।

संग्रहेणोक्तं श्रुत्यर्थं प्रपञ्चयति—

शेषा इति । साक्षिव्यतिरिक्ताः प्राणादिवित्तान्ता वक्ष्यमाणाः पदार्था-स्तारतम्येनाऽऽत्मन आसन्नाः समीपवर्तिनो भवन्ति तत्रोपपत्तिमाह—**प्रीति-रिति** । यथा तारतम्येनाऽऽन्तरत्वं तद्वदेव तेषु प्राणादिषु तारतम्यात्प्रीति-र्वीक्ष्यते सर्वैरपीति शेषः ।। ५९ ।।

प्रीतेस्तारतम्येनानुभवमेव विशदयति—

वित्तादिति । पिण्डोऽन्नमयो देहः । अयं भावः । सर्वैः प्राणिभिः पुत्रादिविपत्परिहाराय वित्तव्ययः क्रियते स्वदेहरक्षणाय कदाचित्पुत्रादिरपि दीयते, इन्द्रियनाशपरिहाराय ताडनादिना देहपीडाऽप्यङ्गीक्रियते, मरण-प्रसक्तौ तत्परिहारायेन्द्रियवैकल्यमप्यङ्गीक्रियतेऽत एवोत्तरोत्तरमतिशयेन प्रियत्वं सर्वानुभवसिद्धम् । आत्मनस्तु निरतिशयप्रेमास्पदत्वं विद्वदनुभव-सिद्धमिति ।। ६० ।।

एवमात्मनः प्रियतमत्वे प्रमाणासिद्धेऽपि ज्ञान्यज्ञानिनोर्विप्रतिपत्ति-निरसनाय श्रुत्या तद्विप्रतिपत्तिर्दर्शितेत्याह—

एवं स्थित इति । तत्र निर्णयमाह—**तत्राऽऽत्मेति** । आत्मनः प्रियत-मत्वस्योपपादितत्वादित्यर्थः ।। ६१ ।।

एवमपि के तच्छेषास्तत्राऽऽह—**शेषा इति** । आसन्ना निकटाः ।। ५९ ।।

तदेवाऽऽह—**वित्तादिति** ।। ६० ।।

एवं श्रुत्यैवज्ञान्यज्ञानिनोर्विवादमुपन्यस्य प्रियतमत्वमात्मन एव दर्शितमित्याह—**एवमिति** ।। ६१ ।।

साक्ष्येव दृश्यादन्यस्मात् प्रेयानित्याह तत्त्ववित् ।
प्रेयान्पुत्रादिरेवेमं भोक्तुं साक्षीति मूढधीः ।। ६२ ।।
आत्मनोऽन्यं प्रियं ब्रूते शिष्यश्च प्रतिवाद्यपि ।
तस्योत्तरं वचो बोधशापौ कुर्यात्तयोः क्रमात् ।। ६३ ।।
प्रियं त्वां रोत्स्यतीत्येवमुत्तरं वक्ति तत्त्ववित् ।
स्वोक्तप्रियस्य दुष्टत्वं शिष्यो वेत्ति विवेकतः ।। ६४ ।।

तामेव विप्रतिपत्तिमाह—साक्षिति ।। ६२ ।।

आत्मातिरिक्तस्य प्रियत्ववादिनो विभज्योत्तराभिधानाय तमेव वादिनं विभज्य कथयति—

आत्मन इति । उत्तराभिधानप्रकारमाह—**तस्योत्तरमिति** । तयोः शिष्यप्रतिवादिनोः सम्बन्धिनस्तस्य वचनस्योत्तरं वचः प्रत्युत्तररूपं वाक्यं क्रमेण बोधशापौ बोधरूपं शापरूपं च कुर्यादित्यर्थः ।। ६३ ।।

प्रतिवचनप्रदानरूपं स योऽन्यमात्मनः प्रियं ब्रुवाणं ब्रूयात् प्रियं रोत्स्यतीति समनन्तरश्रुतिवाक्यमर्थतः पठति—

प्रियं त्वामिति । तत्त्वविच्छिष्यप्रतिवादिनावुभावपि प्रति हे शिष्य हे प्रतिवादिन् प्रियं त्वदभिप्रेतं पुत्रादिरूपं स्वनाशेन त्वां शिष्यं प्रतिवादिनं वा रोत्स्यति रोदयिष्यति । इत्येवमुक्तप्रकारेणोत्तरं प्रतिवचनं वक्ति ब्रवीति । इदमेकमेव वचनं शिष्यप्रतिवादिनोरुभयोः कथमुत्तरं जातमित्याशङ्क्य शिष्यं प्रत्युत्तरं तावद्द्योतयति—**स्वोक्तप्रियस्येत्यादिना वीक्षते तमहर्निश**मित्यन्तेन सार्धश्लोकचतुष्टयेन—**स्वोक्तप्रियस्येति** । शिष्यः स्वोक्तप्रियस्य स्वेनाभिहितस्य पुत्रादिरूपस्य प्रीतिविषयस्य विवेकतो वक्ष्यमाणदोषाविचारेण दुष्टत्वं वेत्त्यवगच्छति ।। ६४ ।।

तत्र कः पक्षस्तत्त्वविदो निरुक्तबृहदारण्यकश्रुतावित्यत आह—**साक्ष्येवेति** । कोऽत्र प्रतिवादिनोऽज्ञस्य पक्ष इत्यतस्तमप्याह—**प्रेयानिति** ।। ६२ ।।

अत एव । **आत्मन इति** । तत्रोत्तरं किं सिद्धान्तिना तत्त्वविदा विधेयमित्यत आह—**तस्येति** ।। ६३ ।।

अथ तामेव श्रुतिं स योऽन्यमात्मनः प्रियं ब्रुवाणं प्रति ब्रूयात्प्रियं त्वां रोत्स्यतीत्येवमर्थतः पठति—**प्रियमिति** । ततः शिष्ये किं भवति तदाह—**स्वोक्तेति** ।। ६४ ।।

अलभ्यमानस्तनयः पितरौ क्लेशयेच्चिरम् ।
लब्धोऽपि गर्भपातेन प्रसवेन च बाधते ॥ ६५ ॥
जातस्य ग्रहरोगादिः कुमारस्य च मूर्खता ।
उपनीतेऽप्यविद्यत्वमनुद्वाहश्च पण्डिते ॥ ६६ ॥
यूनश्च परदारादि दारिद्र्यं च कुटुम्बिनः ।
पित्रोर्दुःखस्य नास्त्यन्तो धनी चेन्म्रियते तदा ॥ ६७ ॥
एवं विविच्य पुत्रादौ प्रीतिं त्यक्त्वा निजात्मनि ।
निश्चित्य परमां प्रीतिं वीक्षते तमहर्निशम् ॥ ६८ ॥
आग्रहाद्ब्रह्मविद्वेषादपि पक्षममुञ्चतः ।
वादिनो नरकः प्रोक्तो दोषश्च बहुयोनिषु ॥ ६९ ॥

दोषविचारप्रकारमेव दर्शयति—अलभ्यमान इति । श्लोकत्रयेण ॥ ६५ ॥ ६६ ॥ ६७ ॥

एवं पुत्रगतदोषकीर्तनं दारादिसर्वविषयदोषोपलक्षणार्थम् । एवं विविच्येति । एवमुक्तेन प्रकारेण पुत्रादौ विषयजाते विविच्य विद्यमानान्दोषान्विभज्य ज्ञात्वा तस्मिन्प्रीतिं परित्यज्य निजात्मनि प्रत्यग्रूपे साक्षिणि परमां निरतिशयां प्रीतिं निश्चित्य तं प्रत्यगात्मानमहर्निशं सर्वदा वीक्षतेऽनुसंधत्त इत्यर्थः ॥ ६८ ॥

प्रियं त्वां रोत्स्यतीत्यस्यैव वाक्यस्य प्रतिवादिनं प्रति शापरूपत्वं प्रकटयति—

आग्रहादिति । आग्रहादुक्तं पुत्रादिप्रियत्वं सर्वथा न त्यजामीत्येवंरूपाद्ब्रह्मविद्वेषादनेनोक्तं विघटयिष्यामीत्येवंरूपाच्च पक्षं पुत्रादीनामेव प्रिय-

तदेव दौष्ट्यं प्रपञ्चयति—अलभ्यमान इत्यादित्रिभिः ॥ जातस्येति । ग्रहो बालग्रहादिः प्रसिद्ध एव ॥ यूनश्चेति । सपुत्र इत्यार्थिकम् ॥ ६५-६६-६७ ॥

ततः किं तदाह—एवमिति । आदिना पत्न्यपि । तद्दुःखविवेचनमुक्तं दिङ्मात्रेण प्रबोधसुधाकरे—"भार्या रूपविहीना मनसः खेदाय जायते पुंसाम् । दैवाद्रूपवती चेत्सा परपुरुषैर्वशीक्रियते" इति । वीक्षतेऽनुसंधत्त इत्यर्थः ॥ ६८ ॥

ननु भवत्वेवं शिष्यस्याथापि प्रतिवादिनः किं स्यादिति तदाह— आग्रहादिति । अमुञ्चतोऽत्यजत इत्यर्थः ॥ ६९ ॥

ब्रह्मविद्ब्रह्मरूपत्वादीश्वरस्तेन वर्णितम् ।
यद्यत्तत्तथैव स्यात्तच्छिष्यप्रतिवादिनोः ।। ७० ।।

यस्तु साक्षिणमात्मानं सेवते प्रियमुत्तमम् ।
तस्य प्रेयानसावात्मा न नश्यति कदाचन ।। ७१ ।।

त्वाभिधानरूपमपरित्यजतः प्रतिवादिनो नरकप्राप्तिस्तथा बहुयोनिषु तिर्यंगादिष्वनेकेषु जन्मसु दोषः पुत्रभार्यादीष्टवियोगानिष्टप्राप्तिरूपः प्रोक्तः प्रियं त्वां रोत्स्यतीति वदता ज्ञानिनेति शेषः ।। ६९ ।।

ननु ज्ञानिनोक्तस्यैकवाक्यस्य शिष्यं प्रत्युपदेशरूपत्वं वादिनं प्रति शापरूपत्वं चेति विरुद्धं रूपद्वयं कथं घटत इत्याशङ्क्योत्तरप्रदातुरीश्वररूपत्वात्तस्याभिप्रायानुसारेणोभयं भविष्यतीति मत्वा तदुपपादकस्येश्वरो ह तथैव स्यादिति समनन्तरवाक्यस्य तात्पर्यमाह—**ब्रह्मविदति** । यतो ब्रह्मविदः स्वस्य ब्रह्मत्वानुभवादीश्वरत्वमस्त्यतस्तेन यं शिष्यादिकं प्रति यद्यदिष्टमनिष्टं वाऽभिधीयते तत्तत्तच्छिष्यप्रतिवादिनोस्तस्य ज्ञानिनो यः शिष्यो यश्च प्रतिवादी तयोस्तथैव स्यादिष्टमनिष्टं वाऽवश्यं भवेदित्यर्थः ।। ७० ।।

व्यतिरेकमुखेनोक्तस्यार्थस्यान्वयमुखेन प्रतिपादकमात्मानमेव प्रियमुपासीत स य आत्मानमेव प्रियमुपास्ते नेहास्य प्रियं प्रमायुकं भवतीतिसमनन्तरवाक्यमर्थतः पठति—

यस्त्विति । तु शब्दः उक्तवैलक्षण्यद्योतनार्थः । अनात्मप्रियत्ववादिनोऽन्यो यः शिष्य आत्मानमेवोत्तमं प्रियं निरतिशयं प्रेमगोचरं सेवते सदाऽऽत्मानं स्मरति तस्य शिष्यादेः प्रेयान्प्रियतमत्वेनाभिमतोऽसावात्मा प्रतिवाद्यभिमतं प्रियमिव न कदा चिद्विनश्यति किन्तु सदानन्दरूपः सन्नवभासत इत्यर्थः ।। ७१ ।।

तत्र हेतुः—**ब्रह्मविदिति** । ननु प्रियं त्वां रोत्स्यतीत्येकमेव वचः कथं शिष्यप्रतिवादिनोः क्रमाद्विवेकनरकयोः प्रयोजकं भवतीति चेन्न । अधिकारभेदेन फलभेदात् । यथैकमेव जलं द्राक्षायां मधुरतरं मरीचिकायां कटुतरं च तद्वदिति तत्त्वम् ।। ७० ।।

ततः पर्यवसितमाह—**यस्त्विति** ।। ७१ ।।

परप्रेमास्पदत्वेन परमानन्दरूपता ।
सुखवृद्धिः प्रीतिवृद्धौ सार्वभौमादिषु श्रुता ॥ ७२ ॥

चैतन्यवत्सुखं चास्य स्वभावश्चेच्चिदात्मनः ।
धीवृत्तिष्वनुवर्तेत सर्वास्वपि चितिर्यथा ॥ ७३ ॥

मैवमुष्णप्रकाशात्मा दीपस्तस्य प्रभा गृहे ।
व्याप्नोति नोष्णता तद्वच्चितेरेवानुवर्तनम् ॥ ७४ ॥

इत्यमात्मनः परप्रेमास्पदत्वहेतुं प्रसाध्येदानीं फलितमाह—

परप्रेमेति । अत्रायं प्रयोगः । आत्मा परमानन्दरूपः । निरतिशयप्रेमविषयत्वाद्यः परमानन्दरूपो न भवति स निरतिशयप्रेमविषयो न भवति यथा घटादिरिति केवलव्यतिरेकी परप्रेमास्पदत्वहेतोरात्मनः परमानन्दरूपतासाधने सामर्थ्यद्योतनाय प्रीतिवृद्धौ सुखवृद्धिमुदाहरति—सुखवृद्धिरिति । यतः सार्वभौमादिहैरण्यगर्भान्तेषु पदविशेषेषु यत्र यत्र प्रीतिर्वर्धते तत्र सुखाभिवृद्धिरस्तीति तैत्तिरीयबृहदारण्यकश्रुत्योरभिहितमतः प्रीतेर्निरतिशयत्वे सत्यानन्दस्यापि निरतिशयत्वमवगन्तुं शक्यत इति भावः ॥ ७२ ॥

नन्वात्मनः परमानन्दरूपत्वमनुपपन्नं तथात्वे चैतन्यस्येव तत्स्वरूपभूतस्याऽऽनन्दस्यापि सर्वासु धीवृत्तिष्वनुवृत्तिः प्रसज्येतेति शङ्कते—चैतन्यवदिति ॥ ७३ ॥

चिदानन्दयोरुभयोरप्यात्मस्वरूपत्वेऽपि वृत्तिषु चित्त एषानुवृत्तिर्नानन्दस्येति दृष्टान्तावष्टम्भेन परिहरति—

मैवमिति । यथोष्णप्रकाशात्मकस्य दीपस्य प्रकाश एव गृहादावनुगच्छति नोष्णता, एवं चैतन्यस्यैवानुवृत्तिर्नाऽऽनन्दस्येत्यर्थः ॥ ७४ ॥

तत्र हेतुः—परेति । एवं च जीवन्मुक्तिसुखातिशय एव तस्य भवतीति भावः ॥ ७२ ॥

अत्र शङ्कते—चैतन्यवदिति ॥ ७३ ॥

तत्र सदृष्टान्तं समाधत्ते—मैवमिति ॥ ७४ ॥

गन्धरूपरसस्पर्शेष्वपि सत्सु यथा पृथक् ।
एकाक्षेणैक एवार्थो गृह्यते नेतरस्तथा ॥ ७५ ॥

चिदानन्दौ नैव भिन्नौ गन्धाद्यास्तु विलक्षणाः ।
इति चेत्तदभेदोऽपि साक्षिण्यन्यत्र वा वद ॥ ७६ ॥

आद्ये गन्धादयोऽप्येवमभिन्नाः पुष्पवर्तिनः ।
अक्षभेदेन तद्भेदे वृत्तिभेदात्तयोर्भिदा ॥ ७७ ॥

ननु चिदानन्दयोरभेदे चिदभिव्यञ्जकधीवृत्तावेवानन्दाभिव्यक्तिरपि स्यादित्याशङ्क्य तथा नियमाभावे दृष्टान्तमाह—

गन्धेति । यथैकद्रव्यवर्तिनां गन्धादीनां चतुर्णां मध्ये घ्राणादिनैकेनेन्द्रियेण गन्धादिरेक एवगुणो गृह्यते नेतरस्तथा चिदानन्दयोर्मध्ये चित एवावभासनमित्यर्थः ॥ ७५ ॥

दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोर्वैषम्यं शङ्कते—

चिदानन्दाविति । विलक्षणा भिन्नेत्यर्थः । उक्तवैषम्यं परिहर्तुं दार्ष्टान्तिके चिदानन्दयोरभेदः किं स्वाभाविक उत औपाधिक इति विकल्पयति—तदभेद इति । तदभेदस्तयोश्चिदानन्दयोरभेद ऐक्यं साक्षिण्यात्मस्वरूपे वाऽन्यत्र तदुपाधिभूतासु वृत्तिषु वेत्यर्थः ॥ ७६ ॥

प्रथमे पक्षे दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोः साम्यमाह—

आद्य इति । आद्ये चिदानन्दयोः साक्षिणि भेदाभावपक्षे पुष्पवर्तिनो

नन्वस्त्वेवं चितेरेवानुवर्तनमथापि तदभिन्नस्याऽऽनन्दस्य कुतो न चित्तवृत्तिष्वनुवर्तनमित्याशङ्कां दृष्टान्तेनैव निराचष्टे—गन्धेति । आम्रफलादिद्रव्य इति शेषः । एकाक्षेण घ्राणाद्येकैकेंद्रियेणेत्यर्थः एक एव गन्धादिरेकैक एव । तथा तद्वत्सामान्यतश्चित्तवृत्त्या चितिरेव । रम्यादिस्वेष्टविषयकज्ञानादिवृत्त्या स्वानन्दऽपि व्यज्यत इति भावः ॥ ७५ ॥

उक्तदृष्टान्ते वैषम्यं शङ्कते—चिदानन्दाविति । तत्रापि सिद्धान्ती विकल्प्य पृच्छति—इति चेदित्यादिना तच्छङ्कानुवादपूर्वकम् ॥ ७६ ॥

आद्यं प्रति साम्येन समाधत्ते—पुष्पेति । मालत्यादिकुसुमनिष्ठा गन्धरूपरसस्पर्शा अप्यभिन्ना एव भेदेन नैव प्रतीयन्त इत्यर्थः। इन्द्रियभेदेन तद्विषयकज्ञानभेदात्तद्भेदमाशङ्क्य तत्रापि तौल्येनैव समाधानमभिधत्ते—अक्षेति । अक्षभेदेनेन्द्रियभेदेन । तद्भेदे तेषां गन्धादीनां भेदेऽवश्यं वाच्ये सति प्रकृतेऽपि वृत्तिभेदान्निरुक्तसामान्यविशेषभावावच्छिन्नोदाहृतचित्तवृत्तिभेदादेव तयोश्चिदानन्दवस्तुनोरपि भिदा भेदो भवतीत्यन्वयः ॥ ७७ ॥

सत्त्ववृत्तौ चित्सुखैक्यं तद्वृत्तेर्निर्मलत्वतः ।
रजोवृत्तेस्तु मालिन्यात्सुखांशोऽत्र तिरस्कृतः ॥ ७८ ॥

तिन्तिणीफलमत्यम्लं लवणेन युतं यदा ।
तदाऽम्लस्य तिरस्कारादीषदम्लं यथा तथा ॥ ७९ ॥

ननु प्रियतमत्वेन परमानन्दताऽऽत्मनि ।
विवेक्तुं शक्यतामेवं विना योगेन किं भवेत् ॥ ८० ॥

गन्धादयोऽप्येवं चिदानन्दवदेवाभिन्नाः परस्परं भेदरहिता इतरपरिहारेणैक-स्यानेतुमशक्यत्वादिति भावः द्वितीये पक्षेऽपि साम्यमाह—अक्षेति । अक्षाणां गन्धादिग्राहकाणां घ्राणादीन्द्रियाणां भेदेन तद्भेदे तेषां गन्धादीनां भेदाभ्यु-पगमे तद्वदेव वृत्तिभेदाच्चिदानन्दाभिव्यक्तिहेतूनां राजससात्त्विकवृत्तीनां भेदात्तयोश्चिदानन्दयोर्भिदा भेदो भविष्यतीत्यर्थः ॥ ७७ ॥

ननु तर्हि चिदानन्दयोरैक्यं कुत्रोपलभ्यत इत्याशङ्क्याऽऽह—

सत्त्ववृत्ताविति । सत्त्ववृत्तौ शुभकर्मोपस्थापितायां सत्त्वगुणपरिणाम-रूपायां बुद्धिवृत्तौ चित्सुखैक्यं चिदानन्दयोरैक्यं भासत इति शेषः । तत्रोप-पत्तिमाह—तद्वृत्तेरिति । कुतस्तर्हि भेदोऽवभासत इत्यत आह—**रजो-वृत्तेरिति** ॥ ७८ ॥

विद्यमानस्यापि सुखांशस्य तिरस्कारे दृष्टान्तमाह—

तितिणीति । यथा तिन्तिणीफले लवणयोगादत्यम्लत्वं तिरोहितं तद्वद्रजोवृत्तावानन्दस्य तिरोभाव इत्यर्थः ॥ ७९ ॥

गूढाभिसन्धि शङ्कते—

नन्विति । ननूक्तेन प्रकारेणाऽऽत्मनः परमानन्दरूपत्वं परप्रेमास्पद-त्वहेतुना गौणमिथ्यात्मरूपेभ्यः प्रियोपेक्ष्यद्वेष्येभ्यो विवेक्तुं विविच्य ज्ञातुं

ननु कथमसौवृत्तिभेदश्चिदानन्दादिव्यञ्जननियामक इत्यत आह—सत्त्वेति ॥७८॥

तत्र दृष्टान्तमाह—तिन्तिणीति ॥ ७९ ॥

नन्वेवं प्रियतमप्रियोपेक्ष्यद्वेष्यविचारे क्रियमाणे निरुपचरितप्रीतिविषयत्वात्पर-मानन्दरूप आत्मैवेति विवेके सत्यप्यपरोक्षप्रमा विना योगाभ्यासं नैव सेत्स्यतीति गूढाभिसन्धिः शङ्कते—नन्विति ॥ ८० ॥

यद्योगेन तदेवेति वदामो ज्ञानसिद्धये ।
योगः प्रोक्तो विवेकेन ज्ञानं किं नोपजायते ॥ ८१ ॥
यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते ।
इति स्मृतं फलैकत्वं योगिनां च विवेकिनाम् ॥ ८२ ॥
असाध्यः कस्यचिद्योगः कस्यचिज्ज्ञाननिश्चयः ।
इत्थं विचार्य मार्गौ द्वौ जगाद परमेश्वरः ॥ ८३ ॥

शक्यतां नाम तथाऽपि नायं विवेको मुक्तिसाधनमपरोक्षज्ञानद्वारा मुक्तिहेतोर्योगस्याभिधानादिति गूढोऽभिसन्धिः ॥ ८० ॥

गूढाभिसन्धिरेवोत्तरमाह—

यद्योगेनेति । यथा योगस्यापरोक्षज्ञानहेतुत्वमस्ति, एवं विवेकस्यापीत्यत्रापि गूढोऽभिसन्धिः । इदानीं चोद्यपरिहारयोरुभयोरभिसन्धिं प्रकटयति—**ज्ञानेति** । यथा परोक्षज्ञानसाधनत्वेन योगोऽभिहितः पूर्वस्मिन्नध्याय एवमस्मिन्नध्यायेऽभिहितेन गौणाद्यात्मत्वविवेकद्वारा कोशपञ्चकविवेकेनापि ज्ञानमुत्पद्यत एवेत्यर्थः ॥ ८१ ॥

तत्र किं प्रमाणमित्याशङ्क्याऽऽह—

यत्सांख्यैरिति । सांख्यैरात्मानात्मविवेकिभिर्यत्स्थानं मोक्षरूपं प्राप्यते गम्यते तद्योगैर्योगिभिरपि गम्यते प्राप्यत इत्यनेन योगिनां विवेकिनां च फलैकत्वं ज्ञानद्वारा मोक्षलक्षणफलस्यैकत्वमुक्तमित्यर्थः ॥ ८२ ॥

ननु विवेकयोगयोरेकमेव चेत्फलं तर्ह्यनयोरन्यतरस्यैव युक्तं शास्त्रेषु

यद्योगेनापरोक्षज्ञानं भवतीति त्वयोच्यते तदेव विचारेणापि भवेदिति गूढाभिसन्धिरेव सिद्धान्त्युत्तरयति—**यदिति** । तत्रापि शङ्कते—**ज्ञानेत्यादिना** । तत्र सिद्धान्ती साक्षेपं समाधत्ते—**विवेकेनेति**प्रभृतिशेषेण ॥ ८१ ॥

विचारादिमार्गद्वयेऽपि तत्त्वसाक्षात्कारद्वारा मोक्षसाधकत्वे स्मृतिं प्रमाणयति—**यत्सांख्यैरिति** । सम्यक्ख्यायन्त्युपनिषदादितात्पर्यविषयत्वेन कथयन्ति ब्रह्मात्मैक्यं द्वैतमिथ्यात्वेनेति तथा ॥ ८२ ॥

ननु विवेकयोगयोस्तुल्यफलत्वेऽन्यतरविधानमेव शास्त्रे कुतो नोक्तमित्याशङ्क्याधिकारिभेदेनोभयोरप्यावश्यकत्वादित्यभिप्रेत्य—"द्वौ क्रमौ चित्तनाशस्य योगो ज्ञानं च राघव । योगस्तद्वृत्तिरोधः स्याज्ज्ञानं सम्यगवेक्षणम् । असाध्यः कस्यचिद्योगः कस्यचिज्ज्ञाननिश्चयः । प्रकारौ द्वौ ततो देवो जगाद परमः शिवः" इति **बृहद्योगवासिष्ठ**वाक्यांशेन समाधत्ते—**असाध्य इति** ॥ ८३ ॥

योगे कोऽतिशयस्तेऽत्र ज्ञानमुक्तं समं द्वयोः ।
रागद्वेषाद्यभावश्च तुल्यो योगिविवेकिनोः ॥ ८४ ॥

न प्रीतिर्विषयेष्वस्ति प्रेयानात्मेति जानतः ।
कुतो रागः कुतो द्वेषः प्रातिकूल्यमपश्यतः ॥ ८५ ॥

प्रतिपादनं नोभयोरित्याशङ्क्याधिकारिवैचित्र्याद्युक्तमुभयोः प्रतिपादनमित्यभिप्रायेणाऽऽह—**असाध्य इति** ॥ ८३ ॥

नन्वत्यन्तायाससाध्यस्य योगस्य निरायाससुलभाद्विवेकादतिशयो वक्तव्य इत्याशङ्क्य सोऽतिशयः किमपरोक्षज्ञानजनकत्वादुच्यते, उत रागद्वेषादिनिवृत्तिहेतुत्वात्, अथ वा द्वैतानुपलब्धिकारणत्वादिति विकल्प्य प्रथमपक्षे फलसाम्यमित्याह—

योग इति । द्वयोर्विवेकयोगयोरुभयोरपि ज्ञानलक्षणं फलं सममुक्तं यत्साङ्ख्यैरित्यादिनाऽतस्तव योगे कोऽतिशयो न कोऽपीत्यर्थः । द्वितीयं प्रत्याह—**रागद्वेषेति** ॥ ८४ ॥

विवेकिनो रागाद्यभावमुपपादयति—

न प्रीतिरिति । आत्मा प्रेयानित्यात्मा प्रियतम इति जानतः पुरुषस्य न तावद्विषयेषु प्रीतिरस्त्यतो न तेषु रागो जायते रागहेतोरानुकूल्यज्ञानस्याभावात् । नापि द्वेषः, तद्धेतोः प्रातिकूल्यज्ञानस्याभावादित्यर्थः ॥ ८५ ॥

ननु महाप्रयाससाध्येऽनायाससाध्याद्विवेकाद्योगे कोऽतिशय इत्याशङ्क्य किमपरोक्षज्ञानजनकत्वमुत रागादिराहित्यमाहोस्विद्द्वैतानुपलम्भनमिति विकल्प्याऽऽद्यं प्रत्याह—**योग इति ।** अपरोक्षज्ञानजनकत्वं योगविवेकयोर्द्वयोरपि निरुक्तभगवद्वाक्ये समानमेवोक्तमित्यर्थः । द्वितीयं प्रत्याह—**रागेति** ॥ ८४ ॥

तदुपपादयति—**नेति ।** अतः कुतो राग इति पूर्वेणान्वयः । एवं सर्वत्राऽऽत्मानुसंधानेन प्रातिकूल्यमपश्यतो द्वेषोऽपि कुतः स्यादितियोजना ॥ ८५ ॥

देहादेः प्रतिकूलेषु द्वेषस्तुल्यो द्वयोरपि ।
द्वेषं कुर्वन्न योगी चेदविवेक्यपि तादृशः ।। ८६ ।।

द्वैतस्य प्रतिभानं तु व्यवहारे द्वयोः समम् ।
समाधौ नेति चेत्तद्वन्नाद्वैतत्वविवेकिनः ।। ८७ ।।

ननु विवेकिनो व्यवहारदशायां देहाद्युपद्रवकारिषु द्वेषो दृश्यत इत्याशङ्क्य तदा योगविवेकिनोः स तुल्य इति परिहरति—

देहादेरिति । प्रतिकूलेषु वृश्चिकादिषु द्वेषकर्तुस्तदा योगित्वमेव नाभ्युपगम्यते चेद्भवता तर्हि तादृशस्य विवेकित्वमपि नाभ्युपगच्छाम इत्याह—**द्वेषमिति** । तादृशो द्वेषकर्ता चेदविवेक्यपि विवेकवानपि न भवतीत्यर्थः ।। ८६ ।।

ननु विवेकिनो द्वैतदर्शनमस्ति योगिनस्तु तन्नास्तीति तृतीये विकल्पे योगिनोऽतिशयो भविष्यतीत्याशङ्क्य विवेकिनस्तदद्वैतदर्शनं किं व्यवहारदशायामुच्यत उतान्यदेति विकल्प्याऽऽद्ये तद्योगिनोऽपि समानमित्याह—

द्वैतस्येति । द्वितीयमाशङ्कते—**समाधाविति** । योगिनः समाधिकाले द्वैतदर्शनं नास्तीत्युच्यते चेदित्यध्याहारः । तर्हि विवेकिनोऽपि विवेकदशायां द्वैतादर्शनं तुल्यमिति परिहरति **तद्वदिति** । योगिनः समाधिदशायामिवाद्वैतत्वविवेकिनोऽद्वैतं तत्त्वमितिश्रुतियुक्तिभ्यां विवेचनं कुर्वतोऽपि तस्मिन्काले द्वैतदर्शनं नास्तीत्यर्थः ।। ८७ ।।

ननु देहेन्द्रियादिपीडकेषु द्वेषो विवेकिनोऽपि व्यवहारे दृश्यत एवेति चेद्योगिनोऽप्येतत्समानमेवेत्याह – **देहादेरिति** । ननु प्रतिकूलद्वेषिणो योगित्वमेव नास्तीति चेत्तादृशे विवेकित्वमपि न स्यादित्याह **द्वेषमिति** ।। ८६ ।।

ननु द्वैतं योगिनो न भासत इत्ययमेव विवेकाद्योगेऽतिशय इति तृतीयपक्षश्चेत्किं तदभानं व्यवहारे समाधौ वेति विकल्प्याऽऽद्ये द्वयोरपि व्यवहारे द्वैतभानं समानमेवान्यथा व्यवहार एव न स्यादित्याह—**द्वैतस्येति** । अथ द्वितीयमाशङ्क्य निराकरोति—**समाधाविति** । तद्वद्योगिवदद्वैतत्वविवेकिनोऽपि वैचारिकसमाधौ द्वैतभानं नैवास्तीति संबन्धः ।। ८७ ।।

विवक्ष्यते तदस्माभिरद्वैतानन्दनामके ।
अध्याये हि तृतीयेऽतः सर्वमप्यतिमङ्गलम् ॥ ८८ ॥
सदा पश्यन्निजानन्दमपश्यन्निखिलं जगत् ।
अर्थाद्योगीति चेत्तर्हि सन्तुष्टो वर्धतां भवान् ॥ ८९ ॥
ब्रह्मानन्दाभिधे ग्रन्थे मन्दानुग्रहसिद्धये ।
द्वितीयाध्याय एतस्मिन्नात्मानन्दो विवेचितः ॥ ९० ॥

इति श्री० ब्रह्मानन्द आत्मानन्दाख्यो द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

कथं तदभाव इत्याशङ्क्योपरितनेऽध्याये तदुपपादयिष्यत इत्याह—**विवक्ष्यत इति**। उक्तमर्थं निगमयति—**सर्वमपीति** ॥ ८८ ॥

ननु द्वैतादर्शनसहितात्मदर्शनवतो योगित्वमेव भविष्यतीति शङ्कते—**सदा पश्यन्निति** । इष्टापत्त्या परिहरति—**तर्हीति** ॥ ८९ ॥

अध्यायतात्पर्यं संक्षिप्य दर्शयति—**ब्रह्मानन्देति** ॥ ९० ॥

इति श्रीमत्परमहंसप० भारतीतीर्थविद्यारण्यमुनिकिङ्करेण रामकृष्णाख्यविदुषा विरचिताऽऽत्मानन्दव्याख्या समाप्ता ॥ १२ ॥

ननु कथं तद्वैचारिकसमाधावद्वैतत्वविवेकिनो द्वैतभानं नास्तीत्युपपद्यत इत्यत्राऽऽह—**विवक्ष्यत इति** । उपसंहरति—**अत इत्यादिशेषेण** ॥ ८८ ॥

ननु नामरूपाद्यात्मकस्य द्वैतस्याद्वैतसच्चिदानन्दात्मनि कल्पितत्वेन सन्मात्रस्वरूपात्ततः पृथक्कारे सद्य एव गगनकुसुमायमानत्वं सम्पाद्यत इति वास्तविक विवेकयेव वास्तविकयोगीति चेदिष्टापत्तिरेवेत्यभिनन्दति—**सदेति** ॥ ८९ ॥

अथाध्यायार्थं संक्षिपति—**ब्रह्मानन्देति** । ननूपक्रमे भवता "अद्वैतिभिरैक्यार्थो यथामतं क्रियत एवमन्यैश्च । इत्यश्रद्धा येद्वा प्रतिबन्धोऽयं द्वितीय ऐक्येऽपि" इत्यार्यया शुद्धजीवब्रह्मैक्यविषयकः प्रमाणासंभावनाख्यः प्रतिबन्धो य उपन्यस्तस्तथा—"अद्वैतरूप ऐक्ये मैत्रेयीब्राह्मणादिवाक्यानाम् । सम्यक्समन्वयोक्तेस्तत्परता द्वादशेऽपि विज्ञेया" इत्यार्यान्तरेणाऽऽत्मानन्दाख्यद्वादशप्रकरणस्यास्य तद्बाधकत्वं यदुक्तं तत्कथमुपपद्यत इति चेदुच्यते । अत्र हि मैत्रेयीब्राह्मणादिवाक्यान्येव जीवत्वोपलक्षितचिन्मात्रस्य ब्रह्मत्वोपलक्षितचिन्मात्रेण सह निसर्गसिद्धैक्य एव स्वारसिकत्वेन पर्यवस्यन्तीति शापान्तनिग्रहस्थानावधिकभेदवादिजल्पकथापूर्वकं प्रतिपादनात्किमिति निरुक्तैक्यविषयका श्रद्धा समृद्धिमूलप्रमाणा सम्भावनात्मकोक्तप्रतिबन्धबाधकत्वं न स्यात् । यद्यत्राऽऽचार्यैर्निरुक्तवाक्योपन्यासपूर्वकमुक्तैक्यप्रतिपादनं नैव कृतं स्यात्तर्हि घटेतापि त्वदुक्तशङ्कावकाशः । श्रुत्याऽपि—

"न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति" इत्यादिरूपया। तथा "तदेतत्प्रेयः पुत्रात्प्रेयो वित्तात्प्रेयोऽन्यस्मात्सर्वस्मादन्तरतरं यदयमात्मा" इत्यादिरूपया च कण्ठत एव निरतिशयानन्दरूपब्रह्मण एवाऽऽत्मत्वं बोधयन्त्या तदनङ्गीकारे च भेदवादिभ्यः शापप्रदानमपि ब्रह्मविन्मुखेन कुर्वन्त्या सर्वलोकानुभवमपि ब्रुवन्त्योक्तशङ्कात्मकप्रतिबन्धः प्रबाध्यत इति बोध्यम् ॥ ९० ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमदद्वैतसच्चिदानन्देन्द्रसरस्वतीशिष्य श्रीमत्पदवाक्यप्रमाणक्षीरार्णवविहरणश्रीमदद्वैतविद्येन्दिरारमणषष्ठ्युपनामकश्रीनारायणशास्त्रिचरणसरोजराजहंसायमानमानसमोडकोपनामकाच्युतशर्मणा विद्यार्थिना विरचितायां पूर्णानन्देन्दुकौमुद्यभिधायां पञ्चदशीटीकायामात्मानन्दप्रकाशो द्वादशः सम्पूर्णः ॥ १२ ॥

इति श्रीमद्विद्यारण्यविरचितायां पञ्चदश्यां द्वादशं प्रकरणम् ॥ १२ ॥

श्रीमच्छङ्करगुरुवरचरणराजीवपरागराजिमात्रविराजमानोऽस्तु संततमतितराम्॥
श्रीरस्त्वनवरतमखिलगोब्राह्मणवृन्दानामभीष्टपुष्टिकरी श्रौती ॥
एकोऽद्वैतस्त्रिपुटीक्षयाच्च तुर्यश्च पञ्चकोशज्ञः ॥
षट्शास्त्रसार आत्मा सप्तमभूमिस्थितोऽष्टमूर्तिरपि ॥ १ ॥

इत्यच्युतविरचिताद्वैतामृतमञ्जर्यमिवार्या सर्वश्रुतितत्त्वसंसूचिका ॥

—०—

अथ पञ्चदश्यां त्रयोदशं प्रकरणम् ।

तत्र ब्रह्मानन्देऽद्वैतानन्दाख्यस्तृतीयोऽध्यायः ।

योगानन्दः पुरोक्तो यः स आत्मानन्द इष्यताम् ।
कथं ब्रह्मत्वमेतस्य सद्वयस्येति चेच्छृणु ।। १ ।।

नन्वानन्दस्त्रिविधो ब्रह्मानन्दो विद्यासुखं तथा विषयानन्द इति प्रथमाध्याय आनन्दत्रयमेव प्रतिज्ञाय द्वितीयाध्याये तदरिक्तात्मानन्दनिरूपणात्तद्विरोधो जायत इत्याशङ्क्याऽऽह--

योगानन्द इति । यथा प्रतिज्ञातस्यैव ब्रह्मानन्दस्य योगजन्यसाक्षात्कारविषयत्वेन योगानन्दत्वं निरुपाधिकत्वेन निजानन्दत्वं च व्यवहृतं तथा तस्यैव गौणमिथ्यामुख्यात्मविवेचनावगम्यत्वविवक्षयाऽऽत्मानन्दत्वमभिहितमिति भावः । ननु सजातीयाद्गौणात्मनः पुत्रभार्यादेर्मिथ्यात्मनो देहादेर्विजातीयादाकाशादेश्च विभिन्नस्य सद्वयस्याऽऽत्मानन्दस्य **प्रथमाध्यायोक्ता** द्वितीययोगानन्दरूपता न सम्भवतीति शङ्कते—**कथमिति** । सजातीयत्वेनाभिमतस्य गौणात्मनः पुत्रादेर्मिथ्यात्मनो देहादेश्च तैत्तिरीयश्रुत्यभिहितजगदन्तःपातित्वादाकाशादेश्च जगत आत्मानन्दातिरेकेणासत्त्वाच्चाद्वितीयब्रह्मरूपता तस्य घटत इति सबहुमानमुत्तरमाह— **शृण्विति** ।। १ ।।

अद्वैतानन्दसच्चिद्विभुविमलपरब्रह्मकूटस्थरूपं
मोहाद्द्वैतेन्द्रजालालयमपि तिलकं स्वप्रकाशं श्रुतिनाम् ॥
सर्वांश्चाऽऽचार्यवर्यान् रघुकुलतिलकं सद्गुरुं ब्रह्मनिष्ठं
श्रीमन्नारायणाख्यं स्वगुरुमपि महादेवसंज्ञं प्रणौमि ॥ १ ॥

मत्वा जीवंजीवान्विद्यारण्यं च भारतीतीर्थम् ॥
अद्वैतानन्दं स्मर प्रकाशतो द्योतयामि कौमुद्याः ॥ २ ॥

अथ भगवान्भारतीतीर्थमुनिः पंचदश्याः पूर्वस्मिन्स्वकृते द्वादशे तदीयतृतीयांशत्वेनाध्यायपञ्चकरूपब्रह्मानन्दीयात्मानन्दाख्यद्वितीयाध्यात्मके प्रकरणेऽन्ते यदुक्तं द्वितीयाध्याय एतस्मिन्नात्मानन्दो विवेचित इति तेन सह संगतिं प्रारिप्सिताद्वैतानन्दाख्यस्य तृतीयाध्यायाभिन्नत्रयोदशप्रकरणस्य सूचयन्प्रथितप्रमाणप्रयोजनं मङ्गलमप्यात्मानन्दपदध्वनिततत्त्वानुसन्धानलक्षणं कलयन्प्रकृतप्रकरणप्रतिपाद्यप्रयोजने अपि व्यञ्जयंस्तत्कामुकाधिकार्यद्यपि द्योतयंश्चाऽऽक्षिप्य शिष्यं समाधातुं संमुखयति—**योगानन्द इति** ॥ १ ॥

आकाशादिस्वदेहान्तं तैत्तिरीयश्रुतीरितम् ।
जगन्नास्त्यन्यदानन्दादद्वैतब्रह्मता ततः ॥ २ ॥

आनन्दादेव तज्जातं तिष्ठत्यानन्द एव तत् ।
आनन्द एव लीनं चेत्युक्तानन्दात्कथं पृथक् ॥ ३ ॥

कुलालाद्घट उत्पन्नो भिन्नश्चेति न शङ्क्यताम् ।
मृद्वदेष उपादानं निमित्तं न कुलालवत् ॥ ४ ॥

आकाशादीति 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः' इत्यादिकया **तैत्तिरीयश्रुत्याऽभिहितं** जगत्स्वकारणभूतादात्मानन्दाद्यतोऽन्यत्पृथङ्नास्त्यतः कारणात्तस्याऽऽत्मानन्दस्याद्वितीयत्वमित्यभिप्रायः ॥ २ ॥

ननूदाहृतश्रुतिवाक्य आत्मनः कारणत्वं श्रूयते नाऽऽनन्दस्येत्याशङ्क्य तत्प्रतिपादकं तदीयमेवाऽऽनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्त इत्यादिवाक्यमर्थतः पठति—

आनन्दादेवेति । व्याख्यातम् । फलितमाह—**इत्युक्तेति** । अत्रेदमनुमानं सूचितं विमतं जगदानन्दान्न भिद्यते तत्कार्यत्वात् यद्यत्कार्यं तत्ततो न भिद्यते यथा मृत्कार्यं घटादि मृदो न भिद्यत इति ॥ ३ ॥

कुलालादुत्पन्नस्य घटस्य ततो भेददर्शनादनैकान्तिकता हेतोरित्याशङ्क्य कुलालस्य निमित्तकारणत्वादिह चाऽऽनन्दस्योपादानत्वसमर्थनान्मैवमित्याह—

कुलालाविति । एष आत्मानन्दो मृद्वत् मृद्घटस्येवोपादानं कारणं कुलालवत् कुलाल इव निमित्तकारणं न भवति ॥ ४ ॥

तदाह—**आकाशादिति** । तथा च तत्र ब्रह्मवल्यामाम्नायते—"**तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः**" इत्यारभ्य "**स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः**" इत्यन्तम् ॥ २ ॥

तत्र हेतुः—**आनन्दादेवेति** । एतदपि तत्रैव श्रूयते—"आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते । आनन्देन जातानि जीवन्ति । आनन्दं प्रयन्त्यभिसम्विशन्ति" इति ।३।

तत्र तार्किकाशङ्कामुक्त्वा दूषयन्ति—**कुलालाविति** । तत्र हेतुः—**मृद्वदिति** । "यथा सोम्येकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातः स्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्" इति हि सामश्रुतिः ॥ ४ ॥

स्थितिर्लयश्च कुम्भस्य कुलाले स्तो न हि क्वचित् ।
दृष्टौ तौ मृदि तद्वत्स्यादुपादानं तयोः श्रुतेः ॥ ५ ॥
उपादानं त्रिधा भिन्नं विवर्ति परिणामि च ।
आरम्भकं च तत्रान्त्यौ न निरंशेऽवकाशिनौ ॥ ६ ॥
आरम्भवादिनोऽन्यस्मादन्यस्योत्पत्तिमूचिरे ।
तन्तोः पटस्य निष्पत्तेर्भिन्नौ तन्तुपटौ खलु ॥ ७ ॥

ननु कुतो नोपादानत्वं कुलालस्यापीत्याशङ्क्य स्थितिलयाधारत्वरूपोपादानत्वलक्षणाभावादित्याह—

स्थितिरिति । हि यस्मात्कारणाद्घटस्य स्थितिलयौ कुलालाधारौ न भवतोऽतो नोपादानत्वमिति शेषः । कुत्र तर्हि तदित्यत आह—दृष्टाविति । तौ घटस्य स्थितिलयौ तदुपादानभूतायां मृद्येव दृष्टौ प्रत्यक्षेणोपलब्धौ । भवत्वेवं तत्र प्रकृते किमायतमित्यत आह—तद्वदिति । मृद्वद्घटस्य मृदूपादानं तद्वज्जगतोऽप्यानन्द उपादनं स्यात् । तत्र हेतुः—तयोरिति । तयोर्जगत्स्थितिलययोः श्रुतेरानन्दाद्ध्येवेत्यादिवाक्य आनन्दहेतुकत्वश्रवणादित्यर्थः ॥ ५ ॥

आनन्दस्य स्वाभिमतं जगदुपादानत्वं वक्तुं तदवान्तरभेदमाह—

उपादानमिति । तत्र विवर्तं परिशेषयितुमितरौ पक्षौ दूषयति—तत्रेति । अन्त्यारम्भपरिणामपक्षौ निरंशे निरवयवे वस्तुनि नावकाशिनाववकाशवन्तौ न भवतः ॥ ६ ॥

तयोरनवकाशत्वमेव दर्शयितुं तावदारम्भकवादिनो मतमनुवदति—

आरम्भेति । आरम्भवादिनो वैशेषिकादयः । अन्यस्मात्कार्यापेक्षयाऽन्यस्मात्कारणादन्यस्य कारणापेक्षयाऽन्यस्य कार्यस्योत्पत्तिमूचिर उक्तवन्तः । कुत एवं वदन्तीत्यत आह—तन्तोरिति । निष्पत्तेरुत्पत्तेर्दर्शनादिति शेषः । एतावता कथं कार्यकारणभेदसिद्धिरित्यत आह—भिन्नाविति । विरुद्धपरिणामत्वाद्विरुद्धार्थक्रियावत्त्वाच्चेति भावः ॥ ७ ॥

यत्रोपपत्तिमाह—स्थितिरिति ॥ ५ ॥

नन्वेवमपि घटे मृत्प्रतीतिवद्द्वैतेऽप्यानन्दप्रतीत्यापत्तिरित्याशङ्क्य तद्व्यवस्थां कथयितुमुपादाने त्रैविध्यमभिधाय प्रकृतेऽन्त्यपक्षद्वयं सांख्यतार्किकमतं निरंशत्वान्नैव संमतमित्याह—उपादानमिति । अवकाशिनौ सावकाशौ । पक्षाविति शेषः ॥ ६ ॥

तत्र तार्किकेष्टमारम्भं सोदाहरणं संक्षिप्य लक्षयति—आरम्भेति । हेतुभिन्नसत्ताक एवाऽऽरम्भ इति तल्लक्षणम् ॥ ७ ॥

अवस्थान्तरतापत्तिरेकस्य परिणामिता ।
स्यात्क्षीरं दधि मृत् कुम्भः सुवर्णं कुण्डलं यथा ॥ ८ ॥
अवस्थान्तरभानं तु विवर्तो रज्जुसर्पवत् ।
निरंशेऽप्यस्त्यसौ व्योम्नि तलमालिन्यकल्पनात् ॥ ९ ॥
ततो निरंश आनन्दे विवर्तो जगदिष्यताम् ।
मायाशक्तिः कल्पिका स्यादैन्द्रजालिकशक्तिवत् ॥ १० ॥

इदानीं परिणामस्वरूपमाह—

अवस्थेति । एकस्यैव वस्तुनः पूर्वावस्थात्यागपुरःसरमवस्थान्तरप्राप्तिः परिणाम इत्यर्थः । तमुदाहरति—**स्यादिति** । यथा क्षीरमृत्सुपर्णादीनां क्षीरादिव्यवहारयोग्यतां परित्यज्य दध्यादिव्यवहारयोग्यतापत्तिः ॥८॥

इदानीं विवर्तलक्षणमाह—

अवस्थान्तरेति । तुशब्दोऽस्य पूर्वास्मात्पक्षद्वयाद्वैलक्षण्यद्योतनार्थः । पूर्वावस्थामपरित्यज्यैवावस्थान्तरभानं विवर्तः । तमुदाहरति—**रज्ज्वति** । यथा रज्ज्वात्मनाऽवस्थितस्यैव द्रव्यस्य सर्पात्मनाऽवभासनं विवर्तः । ननु विवर्तमानस्य रज्ज्वादेः सांशत्वदर्शनान्निरंशे सोऽपि न घटत इत्याशङ्क्य निरवयवे गगनादावपि तद्दर्शनान्मैवमित्याह—**निरंशेऽपीति** । असौ विवर्तो व्योम्नि तलत्वमधोमुखेन्द्रनीलकटाहतुल्यत्वं मालिन्यं नीलवर्णता तयोः कल्पनादाकाशस्वरूपानभिज्ञैरारोप्यमानत्वादित्यर्थः ॥ ९ ॥

फलितमाह—

तत इति । ततो निरंशेऽपि विवर्तसम्भवाज्जगन्निरंश आनन्दे विवर्तः कल्पित इत्यङ्गीकार्यमित्यर्थः । नन्वद्वितीय आनन्दे जगत्कल्पनमनुपपन्नं कल्पनाहेतोरभावादित्याशङ्क्याऽऽह—**मायेति** । शक्तेः कल्पकत्वं क्व दृष्टमित्यत आह–**ऐन्द्रजालिकेति** । यथैन्द्रजालिकनिष्ठाया मणिमन्त्रादिरूपाया मायायाः शक्तेर्गन्धर्वनगरादिकल्पकत्वं तथेत्यर्थः ॥ १० ॥

एवं परिणाममप्याह—**अवस्थेति** । मृदाद्युदाहरणद्वयं तु तार्किकनिराकरणायैव । अवस्थान्तरं तु पटेऽपि दधिसममेवेति नैवाऽऽरम्भः ॥ ८ ॥

तद्वद्विवर्तमप्याह—**अवस्थान्तरेति** । तमेव प्रकृते योजयति—**निरंशेऽपीति** । तलमधोमुखेन्द्रनीलकटाह इति साम्प्रदायिकः ॥ ९ ॥

ततः किं प्रकृते तदाह—**तत इति** ॥ १० ॥

शक्तिः शक्तात्पृथङ् नास्ति तद्वद्दृष्टेर्न चाभिदा ।
प्रतिबन्धस्य दृष्टत्वाच्छक्त्यभावे तु कस्य सः ।। ११ ।।
शक्तेः कार्यानुमेयत्वादकार्ये प्रतिबन्धनम् ।
ज्वलतोऽग्नेरदाहे स्यान्मन्त्रादिप्रतिबन्धता ।। १२ ।।

नन्वानन्दात्मातिरिक्ताया मायाया अभ्युपगमे द्वैतापत्तिरित्याशङ्क्य तस्या अनिर्वचनीयत्वेनानृतत्वं वक्तुमुत्तरत्र वक्ष्यमाणाया लौकिक्या अग्न्यादिशक्तेस्तावद्भेदेनाभेदेन वा निर्वक्तुमशक्यत्वं दर्शयति—**शक्तिरिति** । शक्तिरग्न्यादिनिष्ठा स्फोटादिजनिका शक्तादग्न्यादिस्वरूपात्पृथग्भेदेन नास्ति । कुत इत्यत आह—**तद्वदिति** । तद्वत्तथात्वस्य भेदेनासत्त्वस्य दृष्टेर्दर्शनादग्न्यादिस्वरूपातिरेकेणानुपलभ्यमानत्वादित्यर्थः । नाप्यग्न्यादिस्वरूपमेव शक्तिरित्याह—**न चेति** । अभिदाऽभेदोऽपि न च नैव । तत्रापि हेतुमाह—**प्रतिबन्धस्येति** । मणिमन्त्रादिभिः शक्तिकार्यः स्फोटादेः प्रतिबन्धदर्शनात्स्वरूपातिरिक्ता शक्तिर्द्रष्टव्येत्यभिप्रायः । भवतु प्रतिबन्धदर्शनं शक्तेर्भेदोऽपि मा भूत्को दोषस्तत्राऽऽह—**शक्त्यभाव इति** । प्रत्यक्षसिद्धस्याग्न्यादिस्वरूपस्य प्रतिवन्धासम्भवात्तद्व्यतिरिक्तशक्त्यनभ्युपगमे सति प्रतिबन्धोऽपि निर्विषयः स्यादित्यभिप्रायः ।। ११ ।।

नन्वतीन्द्रियायाः शक्तेः कथं प्रतिबन्धोऽवगन्तुं शक्यत इत्याशङ्क्याऽह—

शक्तेरिति । अतीन्द्रियाऽपि शक्तिर्यतः कार्यलिङ्गगम्याऽतोऽकार्ये सत्यपि

ननूक्तशक्तिकल्पने किं प्रमाणमित्याशङ्क्य तस्याः शक्तात्पृथक्सत्त्वं चेद्भवेदपि प्रमाणप्रतिपित्सा तत्र तव तदेव तावल्लौकिकग्न्यादिशक्तावपि न संभवतीत्याह—**शक्तिरिति । तद्वदिति** । तद्वदिति भाव प्रधानो निर्देशः । यथा घटोऽभिधेयः प्रमेयत्वात्पटवदिति केवलान्वयिन्यनुमाने घटपदस्य लाघवान्मीमांसकसम्मता जातावेव शक्तिर्विशेषनिर्देशाभावामानयेत्यादौ गोपदशक्तिवदतो घटादिपनिर्देशो भावप्रधानस्तथा प्रकृतेऽपि तद्वत्पदशक्यस्य तथात्वस्य दृष्टेरग्न्यादौ शक्तेर्दृष्टत्वादित्यर्थः । एवं शक्तेर्भेदाभावेऽभेदापत्तिरित्यत आह—**न चेति** । तत्र हेतुः—**प्रतिबन्धस्येति** । मण्यादिजन्याग्निनिष्ठदाहशक्तिप्रतिवन्धस्येत्यर्थः । तावता शक्त्यभेदाभावेऽर्थापत्ति सिद्धां ध्वनयति—**शक्त्यभावेत्वित्याविशेषेण** । शक्ताद्भिन्नत्वेनाभावे तु स प्रतिबन्धो मण्यादिकृतदाहादिकार्यनिरोधः कस्य स्यादग्नेः सत्त्वेऽपि तत्कार्यस्य दाहस्य निरोधस्तु मण्यादिकृतः प्रत्यक्षेणोपलभ्यते स न स्यात्तस्मात्तदन्यथानूपपत्त्या शक्तिः शक्तादभिन्नेत्यपि वक्तुमयुक्तमेवेति भावः ।। ११ ।।

नन्वेवमनिर्वचनीयातीन्द्रियायाः शक्तेः प्रतिबन्धोऽपि कथमवगम्यत इत्यत आह—

देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढां मुनयोऽविदन् ।
पराऽस्य शक्तिर्विविधा क्रिया ज्ञानबलात्मिका ॥ १३ ॥
इति वेदवचः प्राह वसिष्ठश्च तथाऽब्रवीत् ।
सर्वशक्ति परं ब्रह्म नित्यमापूर्णमद्वयम् ॥ १४ ॥

कारणे कार्यानुत्पत्तौ सत्यां प्रतिबन्धोऽवगम्यत इति शेषः । उक्तमर्थं दृष्टान्त-प्रदर्शनेन स्पष्टयति—ज्वलत इति । लोके स्वरूपेण ज्वलतोऽग्नेः सकाशाद्दाहादिलक्षणे कार्येऽनुत्पद्यमाने सति मन्त्रादिप्रतिबन्धता मन्त्रादीनां शक्तिप्रतिबन्धकत्वं स्यादित्यर्थः ॥ १२ ॥

इत्थं लौकिकशक्तिं स्वरूपतः प्रमाणतश्चोपन्यस्येदानीं मायाशक्तिसद्भावे "ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन्देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्" इति श्वेताश्वतरोपनिषद्वाक्यमर्थतः पठति—

देवात्मेति । मुनयः कालस्वभावादिकारणवादेषु दोषदर्शनवन्तः । जगत्कारणजिज्ञासया ध्यानयोगमास्थिता अधिकारिणो देवात्मशक्तिं देवस्य द्योतमानस्य स्वप्रकाशचिदात्मनः प्रत्यगभिन्नस्य ब्रह्मणः शक्तिं मायारूपां स्वगुणैः स्वकार्यभूतैः स्थूलसूक्ष्मशरीरैर्निगूढां नितरां गूढामावृताम-विन्दसाक्षात्कृतवन्त इत्यर्थः । तस्यामेवोपनिषदि स्थितं "पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च" इतिवाक्यान्तरमर्थतः पठति—परास्येति । अस्य ब्रह्मणः परोत्कृष्टा जगत्कारणभूता शक्तिर्विविधा श्रूयत इति वाक्यशेषः । विविधत्वमेवाऽऽह—क्रियेति । क्रियाज्ञाने प्रसिद्धे बलमिच्छाशक्तिसाहचर्यात् । क्रियादिशक्तय आत्मा स्वरूपं यस्याः सा क्रिया ज्ञानबलात्मिका ॥ १३ ॥

इदं वाक्यद्वयं कुत्रत्यमित्यत आह—

इतीति । न केवलं मायाशक्तिः श्रुतिप्रसिद्धा किन्तु स्मृतिप्रसिद्धाऽपीत्याह—वसिष्ठ इति । यथा श्रुतिर्विचित्रां मायाशक्तिमुक्तवती वसिष्ठो-

शक्तेरिति । मन्त्रादीति । यन्त्रमण्यौषधादिना प्रतिबद्धता प्रतिबद्धशक्तिता ज्वलतोऽप्यग्नेरदाहे तत्कर्तृकदाहाभावे सति स्यादिति सम्बन्धः ॥ १२ ॥

अथाऽऽत्मसत्तयैवोक्तशक्तिसत्त्वे "ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन्देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढां" इति "पराऽस्यशक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च" इति श्रुतिं प्रमाणयति—देवेति । निगूढां व्याप्ताम् ॥१३॥

यथोल्लसति शक्त्याऽसौ प्रकाशमधिगच्छति ।
चिच्छक्तिर्ब्रह्मणो राम ! शरीरेषूपलभ्यते ॥ १५ ॥
स्पन्दशक्तिश्च वातेषु दार्ढ्यशक्तिस्तथोपले ।
द्रवशक्तिस्तथाऽम्भःसु दाहशक्तिस्तथाऽनले ॥ १६ ॥
शून्यशक्तिस्तथाकाशे नाशशक्तिर्विनाशिनि ।
यथाण्डेऽन्तर्महासर्पो जगदस्ति तथाऽऽत्मनि ॥ १७ ॥
फलपत्रलतापुष्पशाखाविटपमूलवान् ।
ननु बीजे यथा वृक्षस्तथेदं ब्रह्मणि स्थितम् ॥ १८ ॥
क्वचित् काश्चित् कदाचिच्च तस्मादुद्यन्ति शक्तयः ।
देशकालविचित्रत्वात् क्ष्मातलादिव शालयः ॥ १९ ॥

ऽपि तां तथोक्तवान्वासिष्ठाभिधे ग्रन्थ इति शेषः । मायाप्रतिपादकान्वासिष्ठश्लोकानेव पठति—**सर्वेति** । नित्यमापूर्णमद्वयमिति ब्रह्मणः पारमार्थिकं रूपमुक्तं सर्वशक्तीति तस्यैव सोपाधिकं रूपम् ॥ १४ ॥

तत्परं ब्रह्म यदा यया मायाशक्त्योल्लसति विकसति विवर्तत इत्यर्थः । तदा तदाऽसावसौ शक्तिः प्रकाशमधिगच्छत्यभिव्यक्तिं प्राप्नोति । इदानीं तामेवाभिव्यक्तिं प्रपञ्चयति—**चिच्छक्तिरिति** । द्वाभ्याम् । शरीरेषु देवतिर्यङ्मनुष्यादिलक्षणेषु चिच्छक्तिश्चेतनत्वव्यहारहेतुभूतोपलभ्यते दृश्यते।१५।

स्पन्दशक्तिश्चलनहेतुभूता प्रकाशमधिगच्छतीत्युक्त्याऽनभिव्यक्तदशायामपि ब्रह्मणि जगत्सत्ता दर्शिता ॥ १६ ॥

अनभिव्यक्तस्यापि सत्त्वे दृष्टान्तमाह **यथाऽण्ड इति** ॥ १७ ॥

विचित्रस्यापि तस्य सत्त्वे दृष्टान्तमाह—**फलेति** ॥ १८ ॥

ननु सर्वासामपि शक्तीनां युगपदेवाभिव्यक्तिः कुतो न स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—

क्वचिदिति । क्वचिद्देशविशेषे काश्चिच्छक्त्यादयः । तासामयुगपदभिव्यक्तौ दृष्टान्तमाह—**क्ष्मातलादिति** । यथा भूमिगतानां सर्वेषां तद्वदित्यर्थः ॥ १९ ॥

एवं वेदवद्वसिष्ठवचोऽप्यत्रास्तीत्याह—**इतीति** । तद्वचनान्येव पठति—**सर्वेत्यादिना** ॥ १४ ॥

असौ शक्तिः । शरीरेषु देहावच्छेदेन ॥ १५ ॥

स आत्मा सर्वगो राम ! नित्योदितमहावपुः ।
यन्मनाङ्मननीं शक्तिं धत्ते तन्मन उच्यते ॥ २० ॥
आदौ मनस्तदनुबन्धविमोक्षदृष्टी
पश्चात् प्रपञ्चरचना भुवनाभिधाना ।
इत्यादिका स्थितिरियं हि गता प्रतिष्ठा-
माख्यायिका सुभग ! बालजनोदितेव ॥ २१ ॥
बालस्य हि विनोदाय धात्री वक्ति शुभां कथाम् ।
क्वचित्सन्ति महाबाहो ! राजपुत्रास्त्रयः शुभाः ॥ २२ ॥
द्वौ न जातौ तथैकस्तु गर्भ एव न च स्थितः ।
वसन्ति ते धर्मयुक्ता अत्यन्तासति पत्तने ॥ २३ ॥
स्वकीयाच्छून्यनगरान्निर्गत्य विमलाशयाः ।
गच्छन्तो गगने वृक्षान्ददृशुः फलशालिनः ॥ २४ ॥

इदानीं जगतः कल्पनामात्ररूपतां दर्शयितुं तत्कल्पकस्य मनसो रूपं तावद्दर्शयति—

स इति । नित्योदितमहावपुः, नित्यं सदोदितं प्रकाशमानं महद्देश-कालादिपरिच्छेदरहितं वपुः स्वरूपं यस्य स तथा । यद्यस्मिन्काले मना-गीषन्मननीं स्वपरावबोधनरूपां शक्तिं मायापरिणामरूपां धत्ते धारयति तत्तदा मन इत्युच्यते ॥ २० ॥

इदानीं कल्पनाप्रकारमाह—

आदाविति । आदौ प्रथमं मननशक्त्युल्लासेन मनो भवति तदनु तद-नन्तरं बन्धविमोक्षदृष्टी बन्धविमोक्षकल्पने भवतः पश्चादनन्तरं बन्धदृष्टावेव । भुवनाभिधाना भुवनमित्यभिधानं यस्याः सा भुवनाभिधाना । प्रपञ्चस्य गिरिनगरीसरित्समुद्रादे रचनाकल्पनं भवतीत्यादिका । एवं प्रकारा, इयं जगतः स्थितिः । प्रतिष्ठां स्थैर्यं गता प्राप्ता । कल्पितस्यापि वास्तवत्वप्रतीतौ दृष्टान्तमाह—आख्यायिकेति । बालजनायोदितोक्ताऽऽख्यायिका कथा यथा वास्तवत्वबुद्धिं गता तथेदं जगदित्यर्थः ॥ २१ ॥

मनः समष्टि ॥ २० ॥

सुभगेति । राजकुमारेत्यर्थः ॥ २१ ॥

भविष्यन्नगरे तत्र राजपुत्रास्त्रयोऽपि ते ।
सुखमद्य स्थिताः पुत्र ! मृगयाव्यवहारिणः ।। २५ ।।

धात्र्येति कथिता राम ! बालकाख्यायिका शुभा ।
निश्चयं स ययौ बालो निर्विचारणया धिया ।। २६ ।।

इयं संसाररचना विचारोज्झितचेतसाम् ।
बालकाख्यायिकेवेत्थमवस्थितिमुपागता ।। २७ ।।

इत्यादिभिरुपाख्यानैर्मायाशक्तेश्च विस्तरम् ।
वसिष्ठः कथयामास सैव शक्तिर्निरूप्यते ।। २८ ।।

कार्यादाश्रयतश्चैषा भवेच्छक्तिर्विलक्षणा ।
स्फोटाङ्गारौ दृश्यमानौ शक्तिस्तत्रानुमीयते ।। २९ ।।

तामेव वासिष्ठस्थां कथां कथयति—
बालस्येत्यादिना ।। २२ ।। २३ ।। २४ ।। २५ ।। २६ ।।
दृष्टान्तसिद्धमर्थं दार्ष्टान्तिके योजयति—**इयमिति** ।। २७ ।।

वसिष्ठोक्तमुपसंहरति—
इत्यादिभिरिति । एवं मायासद्भावे प्रमाणमुपन्यस्य तस्य अनिर्वचनीयत्वं वक्तुं प्रतिजानीते—**सैव शक्तिरिति** ।। २८ ।।

कार्यादिति । एषा मायाशक्तिः कार्यात्स्वकार्यभूताज्जगत आश्रयतः स्वाश्रयाद्ब्रह्मणश्च विलक्षणा विपरीतस्वभावा भवेत् । मायाशक्तेः कार्यादाश्रयतो वैलक्षण्यं दृष्टान्तेन स्पष्टयति—**स्फोटाङ्गाराविति** । वह्निगतशक्तेः कार्यरूपः स्फोट आश्रयरूपोऽङ्गारश्च प्रत्यक्षगम्यौ । शक्तिस्तु कार्यानुमेया । अतस्ताभ्यां सा विलक्षणेत्यर्थः ।। २९ ।।

उक्तदृष्टान्तमेव स्पष्टयति—**बालस्येति** ।। २२ ।। २३ ।। २४ ।। २५ ।। २६ ।।
दार्ष्टान्तिके योजयति—**इयमिति** ।। २७ ।।
वसिष्ठोक्तिमुपसंहृत्य प्रकृतं प्रतिजानीते—**इत्यादिभिरिति** ।। २८ ।।
प्रतिज्ञातमेव प्रपञ्चयति—**कार्यादित्यादिना** । तत्रोदाहरणमाह—**स्फोटेति** ।।२९।।

पृथुबुध्नोदराकारो घटः कार्योऽत्र मृत्तिका ।
शब्दादिभिः पञ्चगुणैर्युक्ता शक्तिस्त्वतद्विधा ॥ ३० ॥
न पृथ्वादिर्न शब्दादिः शक्तावस्तु यथा तथा ।
अत एव ह्यचिन्त्यैषा न निर्वचनमर्हति ॥ ३१ ॥
कार्योत्पत्तेः पुरा शक्तिर्निगूढा मृद्यवस्थिता ।
कुलालादिसहायेन विकाराकारतां व्रजेत् ॥ ३२ ॥

उक्तन्यायं मृच्छक्तावपि योजयति—

पृथुबुध्नेति । यः पृथुबुध्नोदराकारः पृथु स्थूलं बुध्नं वर्तुलमुदरं यस्य स पृथुबुध्नोदरस्तथाविध आकारो यस्य स पृथुबुध्नोदारकारस्तादृग्घटः कार्यः, शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाख्यपञ्चगुणोपेता मृत्तिका आश्रयः, शक्तिस्त्वतद्विधोभयविलक्षणेत्यर्थः ॥ ३० ॥

वैलक्षण्यमेवाऽऽह—

न पृथ्वादिरिति । शक्तौ पृथुत्वादिकार्यधर्मो नास्ति शब्दादिक आश्रयधर्मोऽपि न विद्यतेऽतो विलक्षणेत्यर्थः । तर्हि सा कीदृशीत्यत आह—**अस्त्विति** । यथा तथेत्युक्तमेवार्थं स्पष्टयति—**अत एवेति** । यतः कार्यादाश्रयतश्च विलक्षणा, अत एवैषाऽचिन्त्या चिन्तितुमशक्या । ननु तर्हि अचिन्त्यत्वमेव यस्या स्वरूपं स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—**न निर्वचनमिति** । भेदेनाभेदेनाचिन्त्यत्वादिना वा येन केनापि रूपेण निर्वचनं नार्हतीत्यर्थः ॥ ३१ ॥

ननु कारणस्वरूपातिरिक्ता शक्तिर्यद्यस्ति तर्हि कारणस्वरूपमिव सा कुतो नावभासत इत्याशङ्क्याऽऽह—

कार्योत्पत्तेरिति । मृच्छक्तिर्घटादिकार्योत्पत्तेः पूर्वं मृदि निगूढाऽवतिष्ठतेऽतो नावभासत इत्यर्थः । निगूढत्व उपरिष्टादपि न तस्या अभिव्यक्तिः

दार्ढ्यायोदाहरणान्तरमप्याह—**पृथ्विति** । पृथु स्थूलं बुध्नं वर्तुलमुदरं यस्य तादृगाकारो यस्य स तथेत्यर्थः । एतादृशो घटः कार्यः कुलालेन दण्डादिना निष्पाद्यो भवतीत्यर्थः । अत्र घटाख्ये कारणं शब्दादिभिः पञ्चगुणैर्युक्तास्तिशक्तिस्तु अतद्विधा कार्यादिविलक्षणा भवतीत्यन्वयः ॥ ३० ॥

तदेवाऽऽह—**नेत्यादिना** । फलितमाह—**अस्तित्वत्यादिपूर्वार्धशेषेण** । ततः किं तदाह—**अत एवेति** ॥ ३१ ॥

पृथुत्वादिविकारान्तं स्पर्शादि चापि मृत्तिकाम् ।
एकीकृत्य घटं प्राहुर्विचारविकला जनाः ।। ३३ ।।

कुलालव्यापृतेः पूर्वो यावानंशः स नो घटः ।
पश्चात्तु पृथुबुध्नादिमत्त्वे युक्ता हि कुम्भता ।। ३४ ।।

स घटो न मृदो भिन्नो वियोगे सत्यनीक्षणात् ।
नाप्यभिन्नः पुरा पिण्डदशायामनवेक्षणात् ।। ३५ ।।

स्यादित्याशङ्क्यानभिव्यक्तस्यापि नवनीतादेर्मथनादिनेव कुलालादिव्यापारेण तस्या अभिव्यक्तिः स्यादित्याह—**कुलालादीति** । आदिशब्देन दण्डचक्रादयो गृह्यन्ते ।। ३२ ।।

ननु कारणातिरिक्तस्य शक्तिकार्यस्य सत्त्वे कार्यकारणयोर्भेदो न कुतोऽवभासत इत्याशङ्क्य भेदप्रतीतिहेतोर्विचारस्याभावादित्याह —

पृथुत्वादीति । अविवेकिनो जनाः पृथुबुध्नत्वादिरूपं कार्यं शब्दस्पर्शादिगुणरूपां कारणभूतां मृत्तिकां चाविचारत एकीकृत्य घट इत्याचक्षते ।। ३३ ।।

उक्तस्य घटव्यवहारस्याविचारमूलत्वं कुत इत्याशङ्क्याऽऽह—

कुलालेति । कुलालव्यापारात्पूर्वभाविनो मृदंशस्याऽघटस्य घटत्वेन व्यवहारादविचारमूलत्वं तस्येति भावः । कस्य तर्हि घटत्वमित्यत आह— **पश्चात्त्विति** । कुलालव्यापारानन्तरं भाविनः पृथुबुध्नोदराकारस्येव घटशब्दवाच्यत्वमुचितं तदुत्पत्त्यनन्तरमेव घटशब्दप्रयोगदर्शनादिति भावः।।३४।।

ननु पारमार्थिकस्य घटस्यानिर्वचनीयशक्तिकार्यत्वमयुक्तमित्याशङ्क्य घटस्यापि पारमार्थिकत्वमसिद्धमित्याह—

स घट इति । घटो मृदः पृथक्कृत्य द्रष्टुमशक्यत्वान्न मृदो भिद्यते नापि मृदेव पिण्डावस्थायामनुपलभ्यमानत्वात् ।। ३५ ।।

तदुपपादयति—**कार्यस्याविना** ।। ३२ ।।

एवं तर्हि घटस्य किं रूपं तत्राऽऽह—**पृथुत्वादीति** । पृथुत्वादिलक्षणविकारं, तं प्रागुक्तम् । पृथुत्वादिविकारान्तमित्यपपाठ एव ।। ३३ ।।

तत्रोपपत्तिमाह—**कुलालेति** ।। ३४ ।।

ततः किं तदाह—**स इति** । मृद इति पञ्चमीवियोग इत्यत्राप्यनुकृष्या । एवं च मृदः सकाशाद्घटस्य वियोगे सत्यनीक्षणाददर्शनादित्यर्थः ।। ३५ ।।

अतोऽनिर्वचनीयोऽयं शक्तिवत्तेन शक्तिजः ।
अव्यक्तत्वे शक्तिरुक्ता व्यक्तत्वे घटनामभृत् ।। ३६ ।।
ऐन्द्रजालिकनिष्ठापि माया न व्यज्यते पुरा ।
पश्चाद्गन्धर्वसेनादिरूपेण व्यक्तिमाप्नुयात् ।। ३७ ।।
एवं मायामयत्वेन विकारस्यानृतात्मताम् ।
विकाराधारमृद्वस्तुसत्यत्वं चाब्रवीच्छ्रुतिः ।। ३८ ।।
वाङ्निष्पाद्यं नाममात्रं विकारो नास्य सत्यता ।
स्पर्शादिगुणयुक्ता तु सत्या केवलमृत्तिका ।। ३९ ।।

अतः शक्तिवदनिर्वचनीय एव घटः । फलितमाह—तेनेति । ननु शक्तिकार्ययोरुभयोरप्यनिर्वचनीयत्वे शक्तिः कार्यं चेतिभेदव्यवहारः । कुत इत्यत आह—**अव्यक्तत्वइति** ।। ३६ ।।

पूर्वमनभिव्यक्ता मायाशक्तिः पश्चादभिव्यज्यत इत्यतन्न प्रसिद्धं मायास्वरूपं लभ्यत इत्याशङ्क्याऽऽह—

ऐन्द्रजालिकेति । पुरा मणिमन्त्रादिप्रयोगात्पूर्वम् ।। ३७ ।।

शक्तिकार्यस्य घटादेरनृतत्वं शक्त्याधारस्य मृदादेः सत्यत्वमित्येतच्छान्दोग्यश्रुतावप्यभिहितमित्याह—

एवमिति । मायामयत्वेन मायाकार्यत्वेन विकारस्य कार्यरूपस्य घटादेरनृतात्मतां मिथ्यात्वं विकाराणां घटादीनामाधारभूताया मृदः सत्यत्वं वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येवसत्यमित्यादिश्रुतिरुक्तवतीत्यर्थः ।। ३८ ।।

इदानीं वाचारम्भणमित्याद्युदाहृतं वाक्यमर्थतः पठति—

वाङ्निष्पाद्यमिति । वागिन्द्रियेणोच्चार्यं नाममात्रं नामैवास्य घटादेर्न सत्यता न नामातिरेकेण पारमार्थिकं रूपमस्ति किन्तु तदाधारभूता मृदेव सत्येत्यर्थः ।। ३९ ।।

फलितमाह—**अत इति** । अनिर्वचनीयः कारणाद्भेदाभेदाभ्यां निर्वक्तुमशक्यः ।। ३६ ।।

ननु कार्यात्प्रागव्यक्तत्वे सति स्वाश्रयाद्भेदाभेदाभ्यामसत्त्वे च सति कार्यात्मना व्यक्तत्वमिति पर्यवसन्नं मायालक्षणं लोके क्व दृष्टमित्यतस्तत्स्पष्टयति—**ऐन्द्रजालिकेति** ।। ३७ ।।

फलितं कथयंस्तत्र श्रुतिं प्रमाणयति—**एवमिति** । **अनृतेति** । मिथ्यारूपत्वमित्यर्थः ।। ३८ ।।

तामेव छान्दोग्यगतां "वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्" इति श्रुतिमर्थतः पठति—**वागिति** ।। ३९ ।।

व्यक्ताव्यक्ते तदाधार इति त्रिष्वाद्ययोर्द्वयोः ।
पर्यायः कालभेदेन तृतीयस्त्वनुगच्छति ॥ ४० ॥
निस्तत्त्वं भासमानं च व्यक्तमुत्पत्तिनाशभाक् ।
तदुत्पत्तौ तस्य नाम वाचा निष्पाद्यते नृभिः ॥ ४१ ॥
व्यक्ते नष्टेऽपि नामैतन्नृवक्त्रेष्वनुवर्तते ।
तेन नाम्ना निरूप्यत्वाद्व्यक्तं तद्रूपमुच्यते ॥ ४२ ॥

शक्तितत्कार्ययोरनृतत्वे तदाधारस्य सत्यत्वे च कारणमाह—

व्यक्तेति । व्यक्तो घटादिलक्षणः कार्यः । अव्यक्ता तत्कारणभूता शक्तिः । ते व्यक्ताव्यक्ते तदाधारस्तयोराधारभूता मृत्तिकेत्येतेषु त्रिषु मध्य आद्ययोः प्रथमोद्दिष्टयोर्द्वयोः कार्यशक्त्योः सम्बन्धिनौ यौ कालौ तयोर्भेदेन भेदस्य विद्यमानत्वात्पर्यायः क्रमेण भवनं तृतीयस्तदुभयाधारस्तु मृदादिरनुगच्छत्युभयत्रानुवर्तते । अयं भावः । शक्तिकार्ययोः कादाचित्कत्वादनृतत्वमाधारस्य तु कालत्रयानुगामित्वासत्यत्वमिति ॥ ४० ॥

इदानीं विकारस्यैवासत्यत्वे हेतुत्रयमाह—

निस्तत्त्वमिति । व्यक्तं व्यक्तशब्दवाच्यं घटादिकार्यं स्वरूपेणासदेवावभासते तथोत्पत्तिविनाशवदुपलभ्यत उत्पत्त्यनन्तरं वागिन्द्रियजन्यनामात्मकत्वेन व्यवह्रियते च ॥ ४१ ॥

किं च, **व्यक्त इति** । व्यक्ते कार्यरूपे नष्टेऽपि एतत्कार्यादभिन्नं नाम नृवक्त्रेषु नृणां शब्दप्रयोक्तृणां मनुष्याणां वदनेष्वनुवर्तते । ततः किं तत्राऽऽह—**तेनेति** । व्यक्तं कार्यं तेन वाचा व्यवह्रियमाणेन नाम्ना शब्देन निरूप्यत्वाद्व्यवह्रियमाणत्वात्तद्रूपं तस्य नाम्नो रूपमेव रूपं यस्य तत्तथा नामात्मकमुच्यत इत्यर्थः । अयं भावः विमतो घटो घटशब्दात्मको भवितुमर्हति घटशब्देन व्यवह्रियमाणत्वाद्घटशब्दवदिति ॥ ४२ ॥

तदेवं शक्तितत्कार्ययोरुभयोरपि मिथ्यात्वं कथं स्यात्तत्राऽऽह—**व्यक्तेति** । अनुगच्छति व्यक्ताव्यक्तयोरुभयोरप्यनुवर्तत इत्यर्थः ॥ ४० ॥

एवं व्यावृत्तत्वाद्व्यक्ताव्यक्तयोरुभयोरपि मिथ्यात्वे समानेऽपि व्यक्ते को विशेष इत्याशङ्क्य जन्यत्वमेवेत्याह—**निस्तत्त्वमिति** ॥ ४१ ॥

अथ श्रुत्युक्तं वाचारम्भणत्वमुपपादयति—**व्यक्त इति**। तद्रूपं वाचारम्भणरूपम् ॥ ४२ ॥

निस्तत्त्वत्वाद्विनाशित्वाद्वाचारम्भणनामतः ।
व्यक्तस्य न तु तद्रूपं सत्यं किञ्चिन्मृदादिवत् ॥ ४३ ॥
व्यक्तकाले ततः पूर्वमूर्ध्वमप्येकरूपभाक् ।
सतत्त्वमविनाशं च सत्यं मृद्वस्तु कथ्यते ॥ ४४ ॥
व्यक्तं घटो विकारश्चेत्येतैर्नामभिरीरितः ।
अर्थश्चेदनृतः कस्मान्न मृद्बोधे निवर्तते ॥ ४५ ॥

एवं हेतुत्रयं प्रसाध्येदानीमनुमानरचनाप्रकारं सूचयति—

निस्तत्त्वत्वादिति । व्यक्तस्य घटादिरूपस्य कार्यस्य यत्पृथुबुध्नोदराकारं रूपमस्ति तत्किञ्चित्किमपि सत्यं न भवति निस्तत्त्वत्वान्निर्गतं तत्त्वं वास्तवरूपं यस्मात्तन्निस्तत्त्वं तस्य भावो निस्तत्त्वत्वं तस्मात्तथा विनाशित्वान्मृदि सत्यामेव विनाशप्रतियोगित्वाद्वाचारम्भणनामतो वागिन्द्रियजन्यशब्दमात्रात्मकत्वात्त्रिष्वपि हेतुषु वैधर्म्यदृष्टान्तः । अत्रैवं प्रयोगः। घटादिरूपः कार्योऽसत्यो भवितुमर्हति निस्तत्त्वत्वाद्यदसत्यं न भवति न तन्निस्तत्त्वं यथा घटाद्युपादानं मृदिति केवलव्यतिरेकी । एवमितरहेतुद्वयेऽपि योजनीयम्॥४३॥

एवं विकारस्यासत्यत्वमुपपाद्येदानीं तदधिष्ठानरूपाया मृदः सत्यत्वमुपपादयति—

व्यक्तेति । व्यक्तकाले स्थितिकाले ततः पूर्वं व्यक्तोत्पत्तेः पूर्वस्मिन्काल ऊर्ध्वमपि व्यक्तविनाशोत्तरकालेऽपि एकरूपभागेकाकारं सतत्त्वं तत्त्वेन वास्तवरूपेण सह वर्तत इति सतत्त्वमविनाशं विकारेण सह नाशरहितं यन्मृद्वस्तु तत्सत्यमिति कथ्यते । अत्रेदमनुमानं विमतं मृद्वस्तु सत्यं भवितुमर्हति सतत्त्वत्वादात्मवदित्यादि योज्यम् ॥ ४४ ॥

ननु घटादेः कार्यजातस्यासत्यत्वे तस्याऽऽरोपितरजतादेरिवाधिष्ठानज्ञानेन निवर्त्यता स्यादिति शङ्कते—

व्यक्तमिति । व्यक्तमित्यादिभिस्त्रिभिः शब्देरभिधीयमानो योऽर्थः कार्यरूपस्तस्य कारणातिरेकेणासत्त्वेऽङ्गीक्रियमाणे मृल्लक्षणकारणस्य ज्ञाने किं न तन्निवृत्तिः स्यादित्यर्थः ।।४५।।

अत एव । **निस्तत्त्वत्वादिति** । बाधितत्वादित्यर्थः । तत्र हेतुः— **वाचेति** । तत्रापि हेतु—**विनाशित्वादिति** ॥ ४३ ॥

मृदि विशेषमाह—**व्यक्तेति** । सतत्त्वं व्यक्तादिकालेऽपि तत्त्वेन मृत्त्वेन सहितमित्यर्थः । एतेन मृत्तिकेत्येव सत्यमिति व्याख्यातम् ॥ ४४ ॥

तत्र शङ्कते—**व्यक्तमिति** ॥ ४५ ॥

निवृत्त एव यस्मात्ते तत्सत्यत्वमतिर्गता ।
ईदृङ्निवृत्तिरेवात्र बोधजा न त्वभासनम् ।। ४६ ।।
पुमानधोमुखो नीरे भातोऽप्यस्ति न वस्तुतः ।
तटस्थमर्त्यवत्तस्मिन्नैवास्था कस्यचित्क्वचित् ।। ४७ ।।
ईदृग्बोधे पुमर्थत्वं मतमद्वैतवादिनाम् ।
मृद्रूपस्यापरित्यागाद्विवर्तत्वं घटे स्थितम् ।। ४८ ।।

इष्टापत्तिरिति परिहरति—निवृत्त इति । तत्रोपपत्तिमाह—यस्मादिति । यस्मात्कारणात्तव घटादिविषयसत्यत्वबुद्धिर्नष्टाऽतः स निवृत्त एवेत्यर्थः । नन्वारोपितरजतादिरूपस्यैवाप्रतीतिरुपलभ्यते न सत्यत्वबुद्ध्यपगम इत्याशङ्क्य तस्य निरुपाधिकभ्रमत्वादस्तु तथात्वमिह तु सोपाधिकभ्रमे सत्यत्वबुद्ध्यपगम एव निवृत्तिः स्यादित्यभिप्रायेणाऽऽह—ईदृगिति । अत्र सोपाधिकभ्रमस्थल ईदृगेव सत्यत्वबुद्ध्यपगमरूपैव बोधजाऽधिष्ठानयाथात्म्यज्ञानजन्या निवृत्तिरभ्युपेया न त्वभासनं न स्वरूपाप्रतीतिरूपेत्यर्थः ।।४६।।

एवं क्व दृष्टमित्यत आह—

पुमानिति । जलेऽधोमुखत्वेन प्रतिभासमानोऽपि पुमान्परमार्थतो नास्ति । तत्रोपपत्तिमाह—तटस्थेति । कस्यचिद्विवेकिनो वा तस्मिन्नधोमुखे पुरुषे तीरस्थपुरुष इव सत्यत्वाभिमानः क्वचिद्देशे काले वा नैवास्तीति।।४७।।

नन्वारोपितस्यासत्यत्वज्ञानमात्रान्न पुरुषार्थसिद्धिरित्याशङ्क्याऽऽह—ईदृगिति । अद्वैतवाद आत्मानन्दातिरिक्तस्य सर्वस्य मिथ्यात्वनिश्चये सत्यद्वितीय नन्दाभिव्यक्तिलक्षणः पुरुषार्थः सिद्ध्यतीत्यभिप्रायः । ननु घटस्य मृद्विवर्तत्वे सिद्धे तज्ज्ञानाद्घटसत्यत्वबुद्धिर्निवर्तते न चैतदिदानीं सिद्धमित्याशङ्क्याऽऽह—मृद्रूपस्येति ।। ४८ ।।

समाधत्ते—निवृत्त एवेति ।। ४६ ।।

तदुपपादयदि—पुमानिति । नीरे ह्यधोमुखत्वेन संचारिता नेत्रकिरणाः परावृत्याधः शिरस्त्वादिनैव गृह्णन्तीत्याकूतम् । अन्यत्तु मे सिद्धान्तरत्नग्रुद्धान्ते बोध्यम् ।। ४७ ।।

फलितमाह—ईदृगिति । तत्र हेतुः मृदिति । यतो भेदवादीशस्तार्किकः खण्डित इत्याशयः ।। ४८ ।।

परिणामे पूर्वरूपं त्यजेत्तत्क्षीररूपवत् ।
मृत्सुवर्णे निवर्तेते घटकुण्डलयोर्न हि ॥ ४९ ॥
घटे भग्ने न मृद्भावः कपालानामवेक्षणात् ।
नैवं चूर्णेऽस्ति मृद्रूपं स्वर्णरूपं त्वतिस्फुटम् ॥ ५० ॥
क्षीरादौ परिणामोऽस्तु पुनस्तद्भाववर्जनात् ।
एतावता मृदादीनां दृष्टान्तत्व न हीयते ॥ ५१ ॥

घटे मृद्रूपपरित्यागाभावेऽपि मृत्परिणामता घटस्य किं न स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—

परिणाम इति । यत्र क्षीरादौ परिणामोऽभ्युपगम्यते तत्र क्षीरादिभावस्य पूर्वरूपस्य त्याग उपलभ्यत इत्यर्थः । ननु विवर्ते पूर्वरूपापरित्यागः क्व दृष्ट इत्याशङ्क्य मृत्सुवर्णयोर्दृश्यत इत्याह—**मृत्सुवर्णेति** । मृत्सुवर्णविवर्तयोर्घटकुण्डलयोर्निष्पन्नयोरपि तत्कारणभूतमृत्सुवर्णरूपे न निवर्तेते, इति हि प्रसिद्धमित्यर्थः ॥४९॥

ननु घटस्य मृद्विवर्तत्वमनुपपन्नं घटनाशे पुनर्मृद्भावादर्शनादिति शङ्कते—

घट इति । मृद्भावाभावे कारणमाह—**कपालानामिति** । कपालानामपि नाशे मृद्भावोपलब्धिः स्यादिति परिहरति—**नैवमिति** । सुवर्णे त्वेतच्चोद्यमेवानवकाशमित्याह—**स्वर्णेति** ॥५०॥

ननु परिणामे दृष्टान्तत्वेनाभिहितानां क्षीरमृत्सुवर्णादीनां मध्ये यदि मृत्सुवर्णयोर्विवर्तदृष्टान्तत्वमङ्गीक्रियते, तर्हि तद्वदेव क्षीरस्यापि तथात्वं स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—**क्षीरादाविति** । तर्हि क्षीरवदेवावस्थान्तरमापद्यमानयोस्तयोर्विवर्तदृष्टान्तता न भवेदित्याशङ्क्याऽऽह—**एतावतेति** । एतावता क्षीरादेः परिणामित्वेन मृदादीनां सुवर्णादीनां दृष्टान्तभावो न हीयते न

परिणामे विशेषमाह—**परिणाम इति** । आरम्भादौ तद्व्यतिरेकं व्यनक्ति—**मृदिति** ॥ ४९ ॥

तत्राप्याशङ्क्य समाधत्ते—**घट इति** । चूर्णे कपालानामपि परिपेषणतः कृते चूर्णं इत्यर्थः । विस्तरस्त्वाकर एवेति दिक् ॥ ५० ॥

ननु श्रुतिप्रसिद्धा मृदादयः । विवर्तदृष्टान्तीभवितुमनर्हाः । परिणामित्वात् ।

आरम्भवादिनः कार्ये मृदो द्वैगुण्यमापतेत् ।
रूपस्पर्शादयः प्रोक्ताः कार्यकारणयोः पृथक् ॥ ५२ ॥
मृत्सुवर्णमयश्चेति दृष्टान्तत्रयमारुणिः ।
प्राहातो वासयेत्कार्यानृतत्वं सर्ववस्तुषु ॥ ५३ ॥

नश्यति । अयमभिप्रायः—क्षीरस्य पूर्वरूपपरित्यागपुरःसरसमवस्थान्तरप्राप्तिसद्भावात्परिणामित्वमेव । मृत्सुवर्णयोस्तु, अवस्थान्तरापत्तिसद्भावेऽपि पूर्वरूपपरित्यागाभावाद्विवर्तताऽपीति ॥ ५१ ॥

ननु मृत्सुवर्णयोः परिणामविवर्ताविवाऽऽरम्भकत्वमपि किं नाङ्गीक्रियत इत्याशङ्क्याऽऽह—

आरम्भवादिन इति । आरम्भवादिनो मते च कार्ये घटादिरूपे मृदो मृत्तिकादेर्द्रव्यस्य द्वैगुण्यं कार्याकारेण कारणाकारेण च द्विगुणत्वमापद्यंत । तथा च सति गुरुत्वादिद्वैगुण्यमप्यापद्येति भावः । कुतः एतदित्याशङ्क्याऽऽह—**रूपेति** । रूपादीनां गुणानां कार्यकारणयोर्भेदस्य तैरेवाङ्गीकृतत्वादिति भावः ॥ ५२ ॥

ननु मृत्सुवर्णयोः किं द्वयोरेव विवर्ते दृष्टान्तत्वं नेत्याह—

मृदिति । अरुणस्य पुत्र उद्दालकाख्यः कश्चिदृषिर्यथा सौम्यैकेन मृत्पिण्डेनेत्यारभ्य कार्ष्णायसमित्येव सत्यमित्यन्तेन वाक्यसन्दर्भेण कार्यस्यानृतत्वे मृत्सुवर्णयोरूपं दृष्टान्तत्रयमुक्तवानित्यर्थः । किमर्थमेवं दृष्टान्तत्रयमुक्तवानित्याशङ्क्याऽऽह—**अत इति** । यत एवं बहुषु मृदादिषु कार्यानृतत्वमुपलब्धमतो भूतभौतिकरूपेषु वस्तुषु कार्यानृतत्वं वासितं कुर्यादित्यर्थः ॥ ५३ ॥

क्षीरवदित्याशङ्क्य दृष्टान्तमङ्गीकृत्य दार्ष्टान्तिकं निराचष्टे – **क्षीरादाविति** । विवर्तवाद इत्याध्याहृत्य दष्टान्तत्वं न हीयत इत्यन्वयः ॥ ५१ ॥

अथाऽऽरम्भवादं विदलयति—**आरम्भवादिन इति** । मृद इत्युपलक्षणं सुवर्णादेरपि । तत्र हेतुः—**रूपेति** । कारणगुणाः कार्यगुणानारम्भत इति हि तार्किकसिद्धान्तादिना परिणामस्यापि ग्रहेण कार्यीभूतकटकादौ हाटकलक्षणकारणस्य द्वैगुण्यं स्यात् । आरम्भवादिभिरिति शेषः ॥ ५२ ॥

ननु मृदादेर्विवर्तदृष्टान्तत्वं क्वोक्तमित्यत आह—**मृदिति** । छान्दोग्ये तावदरुणस्य पुत्र उद्दालकः षष्ठाध्याये यथा "सोम्यैकेन मृत्पिडेन सर्वमित्यारभ्य कार्ष्णायसमित्येव सत्यम्" इत्यन्तेन वाक्यसन्दर्भेण मृत्सुवर्णमयश्च विवर्तवाद इत्यार्थिकम् । इति दृष्टान्तत्रयं

कारणज्ञानतः कार्यविज्ञानं चापि सोऽवदत् ।
सत्यज्ञानेऽनृतज्ञानं कथमत्रोपपद्यते ? ।। ५४ ।।
समृत्कस्य विकारस्य कार्यता लोकदृष्टितः ।
वास्तवोऽत्र मृदंशोऽस्य बोधः कारणबोधतः ।। ५५ ।।
अनृतांशो न बोद्धव्यस्तद्बोधानुपयोगतः ।
तत्त्वज्ञानं पुमर्थं स्याज्ज्ञानानृतांशावबोधनम् ।। ५६ ।।

ननु कार्यानृतत्वानुसन्धानमपि किमर्थमुक्तमित्याशङ्क्य कारणज्ञानासिद्धय इत्यभिप्रायेणाऽऽह—

कारणेति । कारणस्य मृदादेर्ज्ञानात्कार्यजातस्य घटादेर्ज्ञानमपि यथा सौम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृण्मयं विज्ञातं स्यादित्यादिवाक्यजातेनोक्तवानित्यर्थः । ननु मृत्सुवर्णादिरूपस्य पारमार्थिकस्य कारणस्य विज्ञानात्तद्विलक्षणस्य घटरूपकार्यादेर्विज्ञानमनुपपन्नमिति शङ्कते—**सत्येति** ।।५४।।

कार्यस्य सत्यानृतांशद्वयरूपत्वात्कारणज्ञानात्कार्यगतसत्यांशज्ञानं भवतीत्यभिप्रायेणाऽऽह—

समृत्कस्येति । समृत्कस्याधिष्ठानभूतमृत्सहितस्य विकारस्याऽऽरोपितस्य घटादिरूपस्य कार्यता कार्यशब्दार्थत्वं लोकप्रसिद्धमित्यर्थः । भवत्वेवमेतावता कारणज्ञानात्कार्यज्ञानं न संभवतीति चोद्यस्य कः परिहारो जात इत्याशङ्क्य कार्यगतानृतांशज्ञानाभावेऽपि तद्गतसत्यांशज्ञानं भवत्येवेति परिहरति—**वास्तव इति** । अत्र कार्ये यो वास्तवमृदंशोऽस्त्यस्य वास्तवांशस्य बोधो ज्ञानं कारणज्ञानाद्भवतीत्यर्थः ।। ५५ ।।

ननु कार्यगतसत्यांशवदनृतांशोऽपि बोद्धव्य इत्याशङ्क्य प्रयोजनाभावान्मैवमित्याह—

अनृतांश इति । प्रयोजनाभावमेव दर्शयति—**तत्त्वज्ञानमिति** ।

प्राहेति सम्बन्धः । ततः किं तदाह—**अत इत्यादिशेषेण** । अतो हेतोः सर्ववस्तुषु । कार्येति । कार्यमिथ्यात्वम् । वासयेदभ्यसेद्यावद्वस्त्ववच्छेदेन कार्यमिथ्यात्वं स्वबुद्धिं प्रति मुमुक्षुः संस्कुर्वीतेति शेषं प्रपूर्य योजना ।। ५३ ।।

तत्र हेतुः—**कारणेति** । यदि निरुक्तकार्यमिथ्यात्वसंस्कारादर्व्यं न स्याच्चेत्तर्हि कारणज्ञानतः कार्यविज्ञानमपि नैवोपपद्येतेत्यभिप्रायः । तत्र शङ्कते—**सत्येति** ।। ५४ ।।

समाधत्ते - **समृत्कस्येत्यादि द्वाभ्याम्** । विकारस्य घटादेः समृत्कस्य मृदविनाभावसिद्धस्येत्यर्थः ।। ५५ ।।

तर्हि कारणविज्ञानात् कार्यज्ञानमितीरिते ।
मृद्बोधान्मृत्तिका बुद्धेत्युक्तं स्यात्कोऽत्र विस्मयः ।। ५७ ।।
सत्यं कार्येषु वस्त्वंशः कारणात्मेति जानतः ।
विस्मयो माऽस्त्विहाज्ञस्य विस्मयः केन वार्यते ।। ५८ ।।
आरम्भी परिणामी च लौकिकश्चैककारणे ।
ज्ञाते सर्वमिति श्रुत्वा प्राप्नुवन्त्येव विस्मयम् ।। ५९ ।।

तत्त्वस्याबाध्यस्य वस्तुनो ज्ञानं पुमर्थं पुंसो ज्ञातुः पुरुषस्यार्थः प्रयोजनं यस्मिंस्तत्पुमर्थमिति बहुव्रीहिः । अनृतांशस्य विकारस्यावबोधनं प्रयोजनवन्न भवतीत्यर्थः ।। ५६ ।।

ननु कारणज्ञानात्कार्यज्ञानं भवतीत्येतच्छ्रोतृबुद्धौ चमत्कारहेतुर्भविष्यतीत्यभिप्रायेणोक्तं तदेतन्न संभवतीति शङ्कते—

तर्हीति । कारणस्य मृदादेर्ज्ञानात्कार्यगतं मृदादिसत्यांशज्ञानं भवतीत्युक्ते मृज्ज्ञानाम्मृदो ज्ञानमित्युक्तं भवति । एवं च सति शब्दत एव चमत्कारो नार्थत इत्यर्थः ।। ५७ ।।

इदृग्विवेकवतां विस्मयाभावेऽपि तद्रहितानां विस्मयः स्यादेवेति परिहरति—

सत्यमिति । कार्येषु घटादिषु विद्यमानो वास्तवोंऽशः कारणस्वरूपमेवेति ये जानन्ति तेषामाश्चर्यं मा भूदितरेषां तत्त्वज्ञानशून्यानां जायमानो विस्मयो न निवारयितुं शक्यत इत्यर्थः ।। ५८ ।।

अज्ञस्य विस्मयो भवेदित्युक्तमेवार्थं प्रपञ्चयति—

आरम्भीति । आरम्भो नाम समवाय्यसमवायिनिमित्ताख्यकारणेभ्यो भिन्नस्य कार्यस्योत्पत्तिस्तां यो वक्ति सोऽयमारम्भीत्युच्यते । पूर्वरूपपरित्यागेन रूपान्तरप्राप्तिलक्षणं परिणामं यो वक्ति स परिणामीत्युच्यते । प्रक्रियाद्वयमजानानो लोकव्यवहारमात्रपरो लौकिक इत्युच्यते । एषां त्रयाणामपि कारणस्यैकस्य ज्ञानादनेकेषां कार्याणां विज्ञानं भवतीतिवाक्यश्रवणाद्विस्मयो भवेदेवेत्यर्थः ।। ५९ ।।

अनृतांश इति । पुमर्थः पुमर्थमोक्षप्रदत्वादित्यर्थः ।। ५६ ।।
तत्रापि शङ्कते—तर्हीति ।। ५७ ।।
अङ्गीकृत्याभिप्रायान्तरेण समाधत्ते—सत्यमिति ।। ५८ ।।
तमुदाहरति—आरम्भीति ।। ५९ ।।

अद्वैतेऽभिमुखीकर्तुमेवात्रैकस्य बोधतः ।
सर्वबोधः श्रुतौ नैव नानात्वस्य विवक्षया ॥ ६० ॥
एकमृत्पिण्डविज्ञानात्सर्वमृन्मयधीर्यथा ।
तथैकब्रह्मबोधेन जगद्बुद्धिर्विभाव्यताम् ॥ ६१ ॥
सच्चित्सुखात्मकं ब्रह्म नामरूपात्मकं जगत् ।
तापनीये श्रुतं ब्रह्म सच्चिदानन्दलक्षणम् ॥ ६२ ॥

ननु यथाश्रुतमर्थं परित्यज्येत्थं व्याख्याने किं कारणमित्याशङ्क्य श्रुतेस्तत्र तात्पर्याभावादित्याह—

अद्वैत इति । अद्वैतविज्ञाने शिष्यमभिमुखीकर्तुमेव छान्दोग्यश्रुतावेतस्य कारणस्य विज्ञानात्सर्वेषां कार्याणां विज्ञानमुक्तं न तु कार्याणामनेकेषां विज्ञानसिद्धयर्थमित्यभिप्रायः ॥ ६० ॥

इदानीमेकविज्ञानसर्वविज्ञानदृष्टान्तप्रदर्शनपरस्य यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं स्यादितिवाक्यस्यार्थनिरूपणपुरःसरं दार्ष्टान्तिकप्रदर्शनपरस्योत तमादेशमप्राक्षो येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातमितिवाक्यस्यार्थं प्रदर्शयन्प्रकृते फलितमाह—

एकमृत्पिण्डेति । यथा घटशरावाद्युपादानस्यैकस्य मृत्पिण्डस्याबोधात्तद्विकाराणां सर्वेषां घटादीनां बोधो भवति, एवं सर्वोपादानस्यैकस्य ब्रह्मणो बोधात्तत्कार्यस्य कृत्स्नस्य जगतो बोधो भवतीत्यवगन्तव्यमित्यर्थः ॥ ६१ ॥

ननु ब्रह्मजगतोः स्वरूपापरिज्ञाने ब्रह्मज्ञानाज्जगतो ज्ञानं भवतीत्येवं नावगन्तुं शक्यत इत्याशङ्क्य तदवगमाय तदुभयस्वरूपं दर्शयति—

सच्चिदिति । ब्रह्मणः सच्चीदानन्दरूपत्वे किं प्रमाणमित्याशङ्क्य तापनीयादिश्रुतयः प्रमाणमित्यभिप्रायेणाऽऽह—**तापनीय इति ।** उत्तरस्मिस्तापनीय आथर्वणिकैस्तावद् ब्रह्मैवेदं सर्वं सच्चिदानन्दमात्रमित्यादिपदेषु ब्रह्मणः सच्चिदानन्दरूपत्वमुक्तमित्यर्थः ॥ ६२ ॥

तत्प्रयोजनमाह—**अद्वैत इति** । तस्मान्नकाऽप्यनुपपत्तिरित्याशयः ॥ ६० ॥

अथोक्ताद्वैताभिमुखीकरणपरां यथा "सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं स्यात्" इत्यादिश्रुतिमर्थतः पठति—**एकेति** । विभाव्यतामध्यस्तलक्षणस्य कार्यस्याधिष्ठानानतिरिक्तसत्ताकत्वेनाधिष्ठानीभूतसन्मात्रत्त्वविषयतयैवानुसन्धीयतामिति यावत् ॥६१॥

तदुपपादियतुं ब्रह्मजगतोः स्वरूपे क्रमादाह—**सच्चिदिति** । तत्राऽऽद्ये प्रमाणमाह—तापनीय इत्यादिना । "**ब्रह्मैवेदं सर्वं** सच्चिदानन्दमात्रमिति" नृसिंहोत्तराख्ये ॥ ६२ ॥

सद्रूपमारुणिः प्राह प्रज्ञानं ब्रह्म बह्वृचः ।
सनत्कुमार आनन्दमेवमन्यत्र गम्यताम् ॥ ६३ ॥
विचिन्त्य सर्वरूपाणि कृत्वा नामानि तिष्ठति ।
अहं व्याकरवाणीमे नामरूपे इति श्रुतेः ॥ ६४ ॥
अव्याकृतं पुरा सृष्टेरूर्ध्वं व्याक्रियते द्विधा ।
अचिन्त्यशक्तिर्मायैषा ब्रह्मण्यव्याकृताभिधा ॥ ६५ ॥

आदिशब्देन विवक्षितानि श्रुत्यन्तराणि दर्शयति—

सद्रूपमिति । अरुणपुत्रेणोद्दालकेन छान्दोग्यश्रुतौ सदेव सोम्येदमग्र आसीदित्यादिना सद्रूपं ब्रह्म निरूपितं तथा बह्वृचो ऋक्शाखाध्यायिन ऐतरेयोपनिषदि प्रज्ञा प्रतिष्ठा प्रज्ञानं ब्रह्मेति प्रज्ञानरूपत्वं ब्रह्मणो दर्शयन्ति । एवं पूर्वोदाहृतायां छान्दोग्यश्रुतावेव सनत्कुमाराख्यो गुरुर्नारदाख्यशिष्याय भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्य इत्युपक्रम्य यो वै भूमा तत्सुखमिति भूमशब्दाभिधेयस्य ब्रह्मण आनन्दरूपत्वमुक्तवानित्यर्थः । उक्तन्यायमन्यत्राप्यतिदिशति—**एवमिति ।** अन्यत्र तैत्तिरीयकादिश्रुतिषु, आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानादित्यादिवाक्यैरानन्दरूपत्वादिकमुक्तमिति द्रष्टव्यमिति भावः ॥ ६३ ॥

सच्चिदानन्देष्विव नामरूपयोरपि श्रुतिं दर्शयति—

विचिन्त्येति । "सर्वाणि रूपाणि विचिन्त्य धीरो नामानि कृत्वाऽभिवदन्यदाऽऽस्ते" इति "अनेन जीवोनाऽऽत्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणीति" च स्रष्टव्ये जगन्निष्ठे नामरूपे श्रुत्या दर्शिते इत्यर्थः ॥ ६४ ॥

तत्रैव श्रुत्यन्तरमुदाहरति—

अव्याकृतमिति । बृहदारण्यकश्रुतौ तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत्तन्नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियतासौ नामाऽयमिदंरूप इति सृष्टस्य जगतो नामरूपात्म-

तत्राप्येकैकरूपत्वं छान्दोग्यषष्ठादावुक्तमिति वक्ति—सद्रूपमिति । "सदेव सोम्येदमग्र असीदेकमेवाद्वितीयम्" इति श्रुत्या आरुणिरुद्दालकः सद्रूपः बह्वृचैतरेयशाखिनः प्रज्ञानं ब्रह्मेत्यादि बोध्यम् ॥ ६३ ॥

एवं ब्रह्मणः सच्चिदानन्दरूपत्वे प्रमाणान्यभिधाय जगतो नामरूपात्मकत्वे तान्याह—विचिन्त्येत्यादि । तथा चाऽऽम्नायते—' सर्वाणि रूपाणि विचित्य धीरः । नामानि कृत्वाऽभिवदन्यदास्ते" इति पुरुषसूक्ते । तथा—"अनेन जीवेनाऽऽत्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि" इति छान्दोग्ये । एवं "तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत्तन्नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियतासौ नामाऽयमिदं रूपम्" इति बृहदारण्यके च ॥ ६४ ॥

अविक्रियब्रह्मनिष्ठा विकारं यात्यनेकधा ।
मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम् ।। ६६ ।।
आद्यो विकार आकाशः सोऽस्ति भात्यपि च प्रियः ।
अवकाशस्तस्य रूपं तन्मिथ्या न तु तत्त्रयम् ।। ६७ ।।
न व्यक्तेः पूर्वमस्त्येव न पश्चाच्चापि नाशतः ।
आदावन्ते च यन्नाऽस्ति वर्तमानेऽपि तत्तथा ।। ६८ ।।

कत्वं दर्शितमित्यर्थः । सृष्टेः पूर्वमिदं जगदव्याकृतमव्यक्तनामरूपात्मकमभूदूर्ध्वं सृष्टयवसरे द्विधावाच्यवाचकभावेन व्याक्रियते व्यक्तीकृतमित्यर्थः । इदानीं तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीदित्यत्राव्यकृतशब्दस्यार्थमाह—**अचिन्त्येति** । येयं ब्रह्मण्यचिन्त्यशक्तिर्मायाऽस्त्येषाऽव्याकृताभिधाऽस्मिन्वाक्येऽव्याकृतशब्देनाभिधीयत इत्यर्थः ।। ६५ ।।

तन्नामरूपाभ्यामेम व्याक्रियत इत्यस्यार्थमाह—

अविक्रियेति । अविकारिणि ब्रह्मणि वर्तमाना साऽनेकधा भूतभौतिकप्रपञ्चरूपेण बहुधा विकारं परिणामं प्राप्नोति । माया ब्रह्मणि वर्तत इत्यत्र प्रमाणमाह—**मायां त्विति** । मायां पूर्वोक्तां प्रकृतिं प्रक्रियतेऽनयेति प्रकृतिरुपादानकारणं विद्याज्जानीयात् । मायिनं तस्या आश्रयत्वेन तद्वन्तं महेश्वरं मायानियामकं विद्यादित्यनुवर्तते । उभयत्र तुशब्दः परस्परवैलक्षण्यद्योतनार्थः ।। ६६ ।।

इदानीं मायोपहितस्य ब्रह्मणः प्रथमकार्यमाह—

आद्य इति । तस्य कारणादागतं रूपत्रयमाह—**सोऽस्तीति** । सच्चिदानन्दरूप इत्यर्थः । तस्य प्रातिस्विकं रूपमाह—**अवकाश इति** । तस्य पूर्वस्माद्रूपत्रयाद्वैलक्षण्यमाह—**तन्मिथ्येति** । सदादिरूपत्रयं वास्तवमित्यर्थः ।। ६७ ।।

तस्य चतुर्थरूपस्य मिथ्यात्वे हेतुमाह—

न व्यक्तेरिति । ननूत्पत्तिविनाशयोर्मध्ये प्रतीयमानस्यावकाशस्य कथमसत्त्वमित्याशङ्क्याऽऽह—**आदाविति** ।। ६८ ।।

एवमव्याकृतपदार्थमाह—**अचिन्त्येति** ।। ६५ ।।

तन्नामरूपाभ्यामेवेत्यादेरर्थमाह—**अविक्रियेति** । तत्र श्रुत्यन्तरमपि संवादयति—**मायां त्विति** ।। ६६ ।।

अथैतेषां सदादीनामधिष्ठानत्वेनानुस्यूतत्वं विश्वस्य तु नामाद्यात्मकस्य कल्पितत्वेन प्रागभावादिप्रतियोगित्वं च प्रपञ्चयति—**आद्य इत्यादिना** ।। ६७ ।।

तत्र हेतुः—**न व्यक्तेरिति** । आविर्भावादित्यर्थः ।। ६८ ।।

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत ! ।
अव्यक्तनिधनान्येवेत्याह कृष्णोऽर्जुनं प्रति ॥ ६९ ॥
मृद्वत्ते सच्चिदानन्दा अनुगच्छन्ति सर्वदा ।
निराकाशे सदादीनामनुभूतिर्निजात्मनि ॥ ७० ॥
अवकाशे विस्मृतेऽथ तत्र किं भाति ते वद ।
शून्यमेवेति चेदस्तु नाम तादृग्विभाति हि ॥ ७१ ॥
तादृक्त्वादेव तत्सत्त्वमौदासीन्येन तत्सुखम् ।
आनुकूल्यप्रातिकूल्यहीनं यत्तन्निजं सुखम् ॥ ७२ ॥

उक्तार्थे श्रीकृष्णवाक्यं प्रमाणयति—**अव्यक्तादीनीति** ॥ ६९ ॥

सदादिरूपत्रयस्यावकाशे सत्त्वे किं प्रमाणमित्याशङ्क्यानुभूतिरेव प्रमाणमित्याह—

मृद्वदिति। मृद्वदिति दृष्टान्तः प्रदर्शनार्थः । घटादिषु यथा कालत्रयेऽपि मृदनुवर्तते तथा सदादिरूपत्रयं सर्वदाऽनुगतमित्यर्थः । नन्ववकाशं विहाय सदादिरूपत्रयं कथमनुभूतमित्याशङ्क्याऽऽह—**निराकाश इति** ॥ ७० ॥

तदेवोपपादयति—

अवकाश इति । पूर्ववादिनश्चोद्यमनुवदति—**शून्यमिति** । अङ्गीकृत्य परिहारमाह—**अस्त्विति** । शब्दतः शून्यमस्त्वर्थतस्त्ववकाशाभावविशेषणस्य विशेष्यत्वेन प्रतीयमानं किञ्चिदस्तीत्यभ्युपगन्तव्यमित्याह—**तादृगिति** । हिशब्दो लोकप्रसिद्धिद्योतनार्थः ॥ ७१ ॥

भवत्वेवं प्रकृते किमायातमित्याशङ्क्य विशेष्यत्वेन प्रतीयमानस्य स्वरूपमभ्युपेयमित्याह—

तादृक्त्वादिति । तस्य सुखस्वरूपत्वमाह—**औदासीन्येनेति** औदा-

तत्र स्मृतिमपि प्रमाणयति—**अव्यक्तादीनीति** ॥ ६९ ॥

निगमयति—**मृद्वदिति** । अत्रायं प्रयोगः । सदादिरूप आत्मा । अधिष्ठानम्, अनुगतत्वान्मृद्वदिति । तथाऽनुभावयति—**निराकाश इति** । आत्मविशेषणमिदम् ॥ ७० ॥

ननु कदाऽऽत्मनो निराकाशत्वं प्रत्युत श्रुत्यैवोभयोरप्याकाशवत्सर्वगतश्च नित्य इत्यनया सर्वगतत्वाद्यभिधानादित्यत आह—**अवकाश इति** । तदुत्तरमाशङ्क्याङ्गीकृत्यापि तत्परिहरति—**शून्यमेवेतीति** । हिरवधारणे शून्यमिति तस्यावकाशाभावविशिष्टस्य वस्तुनस्त्वकल्पितं नामास्तु तथाऽपि तादृग्वस्तु स्वतो विभात्येवेत्यन्वयः ॥ ७१ ॥

ततः किं तदाह—**तादृक्त्वादेवेति** । एवं च विभात्येवेत्यनेन चित्त्वं तथा ताद-

आनुकूल्ये हर्षधीः स्यात् प्रातिकूल्ये तु दुःखधीः ।
द्वयाभावे निजानन्दो निजदुःखं न तु क्वचित् ।। ७३ ।।

निजानन्दे स्थिरे हर्षशोकयोर्व्यत्ययः क्षणात् ।
मनसः क्षणिकत्वेन तयोर्मानसतेष्यताम् ।। ७४ ।।

आकाशेऽप्येवमानन्दः सत्ताभाने तु सम्मते ।
वाय्वादिदेहपर्यन्तं वस्तुष्वेवं विभाव्यताम् ।। ७५ ।।

सीन्यविषयत्वात्तस्य सुखस्वरूपत्वमित्यर्थः । नन्वनुकूलत्वरहितस्य कथं सुखस्वरूपत्वमित्याशङ्क्याऽऽह—**आनुकूल्येति** ।। ७२ ।।

तदेवोपपादयति—

आनुकूल्य इति । ननु निजानन्दवन्निजदुःखमपि किं न स्यादित्याशङ्क्य दुःखे निजरूपसिद्ध्यभावान्नैवमित्याह—**निजदुःखमिति** ।। ७३ ।।

ननु निजानन्दस्य सदानन्दत्वात्सर्वदा हर्ष एव स्यान्न तु शोक इत्याशङ्क्य तस्य नित्यत्वेऽपि तद्ग्राहिणो मनसः क्षणिकत्वेन मानसयोस्तयोरपि क्षणिकत्वमित्याह—**निजानन्द इति** ।। ७४ ।।

दृष्टान्ते सिद्धमर्थं दार्ष्टान्तिके योजयति—

आकाशेऽपीति । एव निजात्मन्युक्तप्रकारेणेत्यर्थः । सत्ताभाने तु भवताऽप्यभ्युपगम्येते अतो नोपपादनीये इत्यर्थः आकाशे प्रतिपादितोऽर्थो वाय्वादिशरीरान्तेष्वभ्युपगन्तव्य इत्याह—**वाय्वादीति** ।। ७५ ।।

क्त्वादेव तत्सत्त्वं तद्वदौदासीन्येन तत्सुखमप्यस्तीति सच्चिदानन्दरूपत्वमात्मन्यनुभवसिद्धमेवेति सम्बन्धः ।। ७२ ।।

तदानुकूल्यादिहीने निजसुखत्वमुपपादयति—**आनुकूल्य इति** । ननु तथात्वे निजं दुःखमप्यस्त्वित्याशङ्क्याननुभवान्नैवमित्याह—निजं दुःखं त्वित्यादिशेषेण ।। ७३ ।।

फलितमाह—**निजेति** । आत्मैव निजपदवाच्यं आनन्द इत्याकारकचित्तवृत्तिविशेष इत्यर्थः । स्थिरेऽचले सतीति यावत् । व्यत्ययः सर्वांशेन शून्यत्वमिति यावत् । क्षणात्क्षणमात्रादेव स्यादिति योजना । ततः किं तदाह—**मनस इति** ।। ७४ ।।

उपसंहरति—**आकाशेऽप्येवमिति** । तत्र सदाद्यनुवृत्तौ तु वैमत्यमेव नास्त्यन्यथात्वाकाशस्यैव तत्कुसुमत्वापत्तेरित्याह—**सत्तेति** । निरुक्तविवेचनमन्यत्राप्यतिदिशति—**वाय्वादीति** ।। ७५ ।।

गतिस्पर्शौ वायुरूपं वह्नेर्दाहप्रकाशने ।
जलस्य द्रवता भूमेः काठिन्यं चेति निर्णयः ॥ ७६ ॥
असाधारण आकार ओषध्यन्नवपुःष्वपि ।
एवं विभाव्यं मनसा तत्तद्रूपं यथोचितम् ॥ ७७ ॥
अनेकधा विभिन्नेषु नामरूपेषु चैकधा ।
तिष्ठन्ति सच्चिदानन्दा विसंवादो न कस्यचित् ॥ ७८ ॥
निस्तत्त्वे नामरूपे द्वे जन्मनाशयुते च ते ।
बुद्धया ब्रह्मणि वीक्षस्व समुद्रे बुद्बुदादिवत् ॥ ७९ ॥
सच्चिदानन्दरूपेऽस्मिन्पूर्णे ब्रह्मणि वीक्षिते ।
स्वयमेवावजानाति नामरूपे शनैः शनैः ॥ ८० ॥
यावद्यावदवज्ञा स्यात्तावत्तावत्तदीक्षणम् ।
यावद्यावद्वीक्ष्यते तत्तावत्तावदुभे त्यजेत् ॥ ८१ ॥

तत्र वाय्वादीनामसाधारणधर्मान्दर्शयति–गतिस्पर्शाविति द्वाभ्याम् ॥७६॥

असाधारण इति ॥ ७७ ॥

फलितमाह–अनेकधेति ॥ ७८ ॥

तर्हि प्रतीयमानयोर्नामरूपयोः का गतिरित्याशङ्क्य कल्पितत्वमेव गतिरित्याह–निस्तत्त्वे इति । कल्पितत्वे हेतुः––जन्मेति ॥ ७९ ॥

ततः किमित्यत आह–सच्चिदानन्देति ॥ ८० ॥

ब्रह्मज्ञानदार्ढ्यस्य द्वैतावज्ञापूर्वकत्वाच्छ्रवणादिवद्द्वैतावज्ञाऽपि कर्तव्येत्याह–यावदिति ॥ ८१ ॥

तद्विभावनं संक्षिपति—गतीति ॥ ७६ ॥

आकाशे विशेषमाह—असाधारण इति । उक्तविवेचनमुपसंहरति—एवमिति ॥ ७७ ॥

फलितमाह—अनेकेति ॥ ७८ ॥

तदनुभावयति—निस्तत्त्वे इति । तत्र निदर्शनमाह—समुद्र इति । इदमपि प्राग्घटे साधितविवर्तत्वाभिप्रायमेव ॥ ७९ ॥

फलितमाह—सच्चिदिति ॥ ८० ॥

तयोर्वीक्षणावज्ञयोः परस्परहेतुत्वमाह—यावद्यावदिति । उभे नामरूपे ॥ ८१ ॥

तदभ्यासेन विद्यायां सुस्थितायामयं पुमान् ।
जीवन्नेव भवेन्मुक्तो वपुरस्तु यथा तथा ।। ८२ ।।
तच्चिन्तनं तत्कथनमन्योन्यं तत्प्रबोधनम् ।
एतदेकपरत्वं च ब्रह्माभ्यासं विदुर्बुधाः ।। ८३ ।।
वासनानेऽककालीना दीर्घकालं निरन्तरम् ।
सादरं चाभ्यस्यमाने सर्वथैव निवर्तते ।। ८४ ।।
मृच्छक्तिवद्ब्रह्मशक्तिरनेकाननृतान् सृजेत् ।
यद्वा जीवगता निद्रा स्वप्नश्चात्र निदर्शनम् ।। ८५ ।।

उभयाभ्यासस्य फलमाह–**तदभ्यासेनेति** ।। ८२ ।।

इदानीं ब्रह्माभ्यासस्वरूपमाह–**तच्चिन्तनमिति** ।। ८३ ।।

नन्वनादिकालमारभ्य प्रतिभासमानस्य द्वैतस्य कदाचित्केन ज्ञानाभ्यासेन कथं निवृत्तिरित्याशङ्क्य दीर्घकालनैरन्तर्येण सत्कारसेवितेनाभ्यासेन निवर्तत एवेत्याह–**वासनेति**।। ८४ ।।

ननु ब्रह्मण एकस्यानेकाकारजगद्धेतुत्वमनुपपन्नमित्याशङ्क्य मायासहितस्योपपद्यत इत्याह–

मृच्छक्तिवदिति । अनृतान्कार्याणीत्यर्थः । ननु मृच्छक्तेः सत्यत्वादनेकहेतुत्वाद्विषमो दृष्टान्त इत्याशङ्क्य पक्षान्तरमाह–**यद्वेति** ।। ८५ ।।

एवं नामरूपात्मकद्वैतानादरपूर्वकमनुस्यूताद्वैतसच्चिदानन्दात्मतत्त्वानुचिन्तनाभ्यासफलमाह—**तदभ्यासेनेति** । सुस्थितायां विपरीतभावनासंस्कारलक्षणप्रतिबन्धबाधेन जीवन्मुक्तिदानदक्षायां सत्यामित्यर्थः ।। ८२ ।।

निरुक्ततदभ्यासं विशदयति—**तच्चिन्तनमिति** । इदमधस्तादेवोक्तार्थम् ।। ८३ ।।

तत्र हेतुः—**वासनेति** । **दीर्घेति** । प्रपञ्चस्यानादित्वादेव । कालस्य सर्वाधारत्वप्रयोजिकेयं शक्तिः काली सा इना "इनः सूर्ये प्रभौ राज्ञि" इति नानर्थान्नियामिका प्रभुर्वद्यस्याः सा तथा दीर्घा चासौ कालीना चेति तथेति साधुः । अत एव । **दीर्घेति** । **पतञ्जलि**र्हि दीर्घकालनैरन्तर्यसत्काराणामेवावश्यकत्वमाह ।। ८४ ।।

ननु भवत्वेवं दीर्घकालं निरन्तरं सत्कारं च तच्चिन्तनादिनाऽभ्यस्यमानं ब्रह्मैव विपरीतभावनासंस्कारध्वंसनाज्जीवन्मुक्तिसुखदमथाप्यद्वैतस्य तस्य कथं नामानेकविधजगत्कल्पकत्वमेवाऽऽदावात्मनीत्यत आह—**मृच्छक्तिवदिति** । ननु मृदादिदृष्टान्त एवाऽऽदौ कारणीभूतसन्मात्रज्ञानेन सकलकार्यीभूतानन्तानिर्वचनीयदृश्यज्ञानबोधनादद्वैताभिमुखीकरणेन श्रोतॄणां तत्त्वसाक्षात्कारद्वाराऽद्वैतसच्चिदानन्दात्मामृतमात्रतात्पर्यकस्ततः क तच्छक्तिदृष्टान्तेन जागती व्यवस्था घटेतेत्यस्वरसादाह—**यद्वेति** । निदर्शनं क्रमान्मायाख्ये ह्यविद्यापरनाम्नि कारणे जगल्लक्षणे कार्ये च दृष्टान्तोऽस्तीत्यर्थः ।। ८५ ।।

निद्राशक्तिर्यथा जीवे दुर्घटस्वप्नकारिणी ।
ब्रह्मण्येषा स्थिता माया सृष्टिस्थित्यन्तकारिणी ।। ८६ ।।
स्वप्ने वियद्गतिं पश्येत् स्वमूर्धच्छेदनं यथा ।
मुहूर्ते वत्सरौघं च मृतपुत्रादिकं पुनः ।। ८७ ।।
इदं युक्तमिदं नेति व्यवस्था तत्र दुर्लभा ।
यथा यथेक्ष्यते यद्यत्तत्तद्युक्तं तथा तथा ।। ८८ ।।
ईदृशो महिमा दृष्टो निद्राशक्तेर्यदा तदा ।
मायाशक्तेरचिन्त्योऽयं महिमेति किमद्भुतम् ।। ८९ ।।
शयाने पुरुषे निद्रा स्वप्नं बहुविधं सृजेत् ।
ब्रह्मण्येवं निर्विकारे विकारान् कल्पयत्यसौ ।। ९० ।।
खानिलाग्निजलोर्व्यण्डलोकप्राणिशिलादिकाः ।
विकाराः प्राणिधोष्वन्तश्चिच्छाया प्रतिबिम्बिता ।। ९१ ।।

दृष्टान्तं विशदयति—

निद्रेति । दार्ष्टान्तिकमाह—**ब्रह्मणीति** ।। ८६ ।।

दुर्घटकारित्वमेव दर्शयति—**स्वप्न इति** ।। ८७ ।।

स्वप्नस्य दुर्घटत्वे हेतुमाह—**इदमिति** ।। ८८ ।।

उक्तमर्थं कैमुतिकन्यायेन स्पष्टयति—**ईदृश इति** ।। ८९ ।।

अप्रयतमानब्रह्मनिष्ठाया मायाया जगद्हेतुत्वे दृष्टान्तमाह—**शयान इति** ।। ९० ।।

मायाया सृष्टान्पदार्थान्दर्शयति—

खानिलेति । ननु पाञ्चभौतिकत्वेन साम्येऽपि केषाञ्चिच्चेतनत्वं केषाञ्चिज्जडत्वं कुत इत्याशङ्क्याऽऽह—**प्राणीति** । प्राणिशरीरेष्वन्तःकरणेषु चैतन्यप्रतिबिम्बनाच्चेतनत्वमितरत्र तदभावाज्जडत्वमित्यर्थः ।। ९१ ।।

दार्ष्टान्तिके योजयति—**निद्रेति** ।। ८६ ।।

स्वप्ने दुर्घटत्वं स्पष्टयति—**स्वप्न इति** ।। ८७ ।।

ततः किं तदाह—**इदमिति** ।। ८८ ।।

एवं निद्राशक्तेर्दुर्घटघटकत्वं स्पष्टयित्वा प्रकृते तत्सिद्धिं कैमुत्यतो द्योतयति—**ईदृश इति** ।। ८९ ।।

तदेव दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोः स्फुटयति—**शयान इति**। असौ माया ।। ९० ।।

तानेव विकारान्स्वसम्मतं तत्स्वरूपं चाऽऽह—**खेति** । लोकाः सत्यादयः ।

चेतनाचेतनेष्वेषु सच्चिदानन्दलक्षणम् ।
समानं ब्रह्म भिद्येते नामरूपे पृथक् पृथक् ॥ ९२ ॥
ब्रह्मण्येते नामरूपे पटे चित्रमिव स्थिते ।
उपेक्ष्य नामरूपे द्वे सच्चिदानन्दधीर्भवेत् ॥ ९३ ॥
जलस्थेऽधोमुखे स्वस्य देहे दृष्टेऽप्युपेक्ष्य तम् ।
तीरस्थ एव देहे स्वे तात्पर्यं स्याद्यथा तथा ॥ ९४ ॥

ननु चेतनाचेतनविभागश्चिद्रूपब्रह्मकृत एव किं न स्यादित्याशङ्क्य ब्रह्मणः सर्वोपादनत्वेन सर्वत्र समत्वान्मैवमित्याह—**चेतनेति** ॥ ९२ ॥

ब्रह्मणश्चिज्जडसाधारणत्वे हेतुमाह—

ब्रह्मणीति । ब्रह्मणः सर्वकल्पनाधारत्वात्सर्वगतत्वमित्यर्थः । तत्कथमवगम्यत इत्याशङ्कायां कल्पितनामरूपत्यागेऽधिष्ठानं ब्रह्मावगम्यत इत्याह—**उपेक्ष्येति** ॥ ९३ ॥

उक्तार्थे दृष्टान्तमाह—

जलस्थ इति । नीरेऽधोमुखे देहे परिदृश्यमानेऽपि तत्राऽऽदरं परित्यज्य तीरस्थे स्वदेहे तद्विपरीते ममत्वबुद्धिर्यथा तथेत्यर्थः ॥ ९४ ॥

आदिना वृक्षादयः । **प्राणीति** । जीवबुद्धिषु । **अन्तरिति** । प्रमाणादिवृत्त्यवच्छिन्नचिदाभासव्युदासायान्तरिति । एवं च कूटस्थाविविक्तसर्वजीवबुद्धिप्रतिबिम्बितचिदाभासप्रतिबिम्बिता इत्यर्थः । अत्र बिम्बराहित्यमेव दुर्घटत्वम् । एतेन प्रतिजीवं प्रपञ्चभेदरूपं भामतीमतमत्र सूचितम् ॥ ९१ ॥

अथ प्रकृतं नामरूपात्मकद्वैतस्य कल्पितत्वेनोपेक्षणपूर्वकमधिष्ठानीभूताद्वैतसच्चिदानन्दरूपब्रह्मात्मचिन्तनमेव प्रपञ्चयति—**चेतनेत्यादिना** ॥ ९२ ॥

नामरूपभेदे सच्चिदानन्दसाम्ये च हेतुं कल्पितत्वादिलक्षणं द्योतयन्दृष्टान्तेन तं साधयति—**ब्रह्मणीति** । ततः किं तदाह—**उपेक्ष्येति** ॥ ९३ ॥

उपेक्षायां चित्रदृष्टान्तेन हेतुर्द्योतितोऽपि कदाचिद्रम्यतमचित्रेऽत्यादरोऽपि स्वानुभवसिद्ध इति दृष्टान्तान्तरं स्पष्टयति—**जलस्थ इति** । अत्राधोमुखप्रतिबिम्बदर्शने कारणं त्वादर्शादौ सम्मुखे निर्मलद्रव्ये तद्भेदनाद्यसमर्थानां चक्षुःकिरणानां परावृत्यबिम्बीमुखादिग्रहणे प्राप्ते सति पुरःस्थितव्यावहारिकदेवदत्तदर्शने द्रष्टुर्दक्षिणं चक्षुस्तद्वामावयवैः सहैव सम्बध्यते तदितरमितरैरतस्तेषां तत्संस्काराद्बिम्बीभूतोऽपि तथैव भासत इति वामस्कन्धस्थितं यज्ञोपवीतमप्यादर्शे दक्षिणस्कन्धगत्वेन यथा भासते तथा जलस्थे प्रतिबिम्बदर्शने द्रष्टा तावदधोमुखो भवतीति तदीयचक्षुःकिरणा अपि तमधोमुखमूर्ध्वपादमेव गृह्णन्तीति सर्वमवदातम् । अत्र विस्तरस्तु मदीये सिद्धान्तरत्नशुद्धान्त एव द्रष्टव्य इति दिक् ॥ ९४ ॥

सहस्रशो मनोराज्ये वर्तमाने सदैव तत् ।
सर्वैरुपेक्ष्यते यद्वदुपेक्षा नामरूपयोः ॥ ९५ ॥

क्षणे क्षणे मनोराज्यं भवेत्येवान्यथाऽन्यथा ।
गतं गतं पुनर्नास्ति व्यवहारो बहिस्तथा ॥ ९६ ॥

न बाल्यं यौवने लभ्यं यौवनं स्थाविरे तथा ।
मृतः पिता पुनर्नास्ति नाऽऽयात्येव गतं दिनम् ॥ ९७ ॥

मनोराज्याद्विशेषः कः क्षणध्वंसिनि लौकिके ।
अतोऽस्मिन्भासमानेऽपि तत्सत्यत्वधियं त्यजेत् ॥ ९८ ॥

उपेक्षिते लौकिके धीर्निर्विघ्ना ब्रह्मचिन्तने ।
नटवत्कृत्रिमास्थायां निर्वहत्येव लौकिकम् ॥ ९९ ॥

इदानीं सर्वजनप्रसिद्धं दृष्टान्तान्तरमाह—सहस्रश इति । उपेक्षा कर्तव्येति शेषः ॥ ९५ ॥

प्रपञ्चवैचित्र्ये दृष्टान्तमाह—क्षण इति । दार्ष्टान्तिकमाह—व्यवहार इति ॥ ९६ ॥

तदेव विवृणोति—न बाल्यमिति ॥ ९७ ॥

द्वैतक्षणिकत्वमुपसंहरति—मनोराज्यादिति । क्षणिकत्वसाधने प्रयोजनमाह—अत इति ॥ ९८ ॥

ननु लौकिकोपेक्षायां को लाभ इत्याशङ्क्य ब्रह्मणि धीः स्थिरा भवतीत्याह—उपेक्षित इति । तर्हि ज्ञानिनो व्यवहारः कथमित्याशङ्क्याऽऽह—नटवदिति ॥ ९९ ॥

अत्र नामरूपयोः क्षणिकत्वेनोपेक्ष्यत्वे सर्वलोकप्रसिद्धान्दृष्टान्तानपि दार्ढ्यार्थमाह—सहस्रश इतिप्रभृतिस्त्रिभिः । उपेक्षा कर्तव्येति शेषः ॥ ९५ ॥

क्षणे क्षण इति । पूर्वप्रपञ्चनमेवेदम् ॥ ९६ ॥

न लभ्यमिति । स्थाविरे वृद्धत्वे ॥ ९७ ॥

दार्ष्टान्तिकं योजयति—मनोराज्यादीति ॥ ९८ ॥

तत्फलमाह—उपेक्षित इति । ननु तर्हि लौकिकं कथं निर्वहेत् । तदावश्यकता तु भगवताऽप्युक्ता—"लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन्कर्तुमर्हसि" इति । तत्राऽऽह—नटवदिति ॥ ९९ ॥

प्रवहत्यपि नीरेऽधः स्थिरा प्रौढशिला यथा ।
नामरूपान्यथात्वेऽपि कूटस्थं ब्रह्म नान्यथा ॥ १०० ॥
निश्छिद्रे दर्पणे भाति वस्तुगर्भं बृहद्वियत् ।
सच्चिद्घने तथा नाना जगद्गर्भमिदं वियत् ॥ १०१ ॥
अदृष्ट्वा दर्पणं नैव तदन्तःस्थेक्षणं तथा ।
अमत्वा सच्चिदानन्दनामरूपमतिः कुतः ॥ १०२ ॥
प्रथमं सच्चिदानन्दे भासमानेऽथ तावता ।
बुद्धिं नियम्य नैवोर्ध्वं धारयेन्नामरूपयोः ॥ १०३ ॥

ननु ज्ञानिनो व्यवहाराभ्युपगमे विकारित्वं प्रसज्येतेत्याशङ्क्य बुद्धौ व्यवहारवत्यामपि तत्साक्ष्यात्मा निर्विकार इति सदृष्टान्तमाह—प्रवहतीति । उदक उपरि प्रवहत्यप्यधःस्थिता प्रौढा शिला यथा न चलति तथैवं बुद्धौ संसरत्यामपि न ज्ञानी संसरतीत्यर्थः ॥ १०० ॥

नन्वखण्डे ब्रह्मणि तद्विलक्षणस्य जगतः कथमवभासनमित्याशङ्क्य निश्छिद्रे दर्पणे सावकाशवस्तुनो यथा भानं तद्वदित्याह—निश्छिद्र इति ॥ १०१ ॥

नन्वदृश्ये ब्रह्मणि कथं जगत्प्रतीतिरित्याशङ्क्य सच्चिदानन्दप्रतीतिपुरःसरमेव जगत्प्रतीतिरिति सदृष्टान्तमाह—अदृष्ट्वेति ॥ १०२ ॥

ननु नामरूपयोरपि भासमानत्वात्कथं निर्विषयब्रह्मप्रतीतिरित्याशङ्क्य तद्बुद्ध्युपायमाह—प्रथममिति । सच्चिदान्दे ब्रह्मणि कल्पितनामरूपात्मके प्रपञ्चे सच्चिदानन्दमात्रं बुद्ध्या गृहीत्वा नामरूपयोर्बुद्धिं न धारयेत् ॥ १०३ ॥

तत्र दृष्टान्तमाह—प्रवहत्यपीति ॥ १०० ॥

तत्र सदृष्टान्तं द्वैतमिथ्यात्वसाधकमेव हेतुमाह—निश्छिद्र इति । विशेषस्तु दार्ष्टान्तिके बिम्बमन्तरैव भानम् । तदुक्तं मदीयाद्वैतसुधायाम्—

"मय्यद्वैतचिदादर्शे द्रष्ट्राऽपि सहितं जगत् ।
चित्रविम्बं विनैवेदं प्रीतिबिम्बत्वमागतम्" इति ॥ १०१ ॥

निरुक्तदृष्टान्तेऽप्यधिष्ठानज्ञानपूर्वकमेवाध्यस्तज्ञानमाह—अदृष्ट्वेति । दार्ष्टातिके योजयति—अमत्वेति ॥ १०२ ॥

तत्र हेतुं तेन वृत्तिनिरोधनं च राजयोगाभिधानमप्याऽऽह—प्रथममिति ॥१०३॥

एवं च निर्जगद्ब्रह्म सच्चिदानन्दलक्षणम् ।
अद्वैतानन्द एतस्मिन्विश्राम्यन्तु जनाश्चिरम् ॥ १०४ ॥
ब्रह्मानन्दाभिधे ग्रन्थे तृतीयोऽध्याय ईरितः ।
अद्वैतानन्द एव स्याज्जगन्मिथ्यात्वचिन्तया ॥ १०५ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यविद्यारण्यमुनिविरचितो ब्रह्मानन्देऽद्वैतानन्दो नाम तृतीयोऽध्यायः समाप्तः ॥ ३ ॥

फलितमाह—

एवमिति । एवं च सति निर्जगद्ब्रह्म सच्चिदानन्दलक्षणं भवतीत्यर्थः ॥ १०४ ॥

इदानीमध्यायार्थमुपसंहरति—ब्रह्मानन्देति ॥ १०५ ॥

—

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीभारतीतीर्थविद्यारण्यमुनिवर्यकिङ्करेण श्रीरामकृष्णाख्यविदुषा विरचिता ब्रह्मानन्देऽद्वैतानन्दव्याख्या समाप्ता ॥१३॥

फलितमाह—एवं चेति । एतदनुसन्धाने मुक्तान्मुमुक्षूंश्च साधारण्येन प्रार्थयन्स्वाभिमानित्वं व्यनक्ति—अद्वैतेति ॥ १०४ ॥

प्रकृतपञ्चाध्यायात्मकग्रन्थेनास्य प्रकरण साङ्गत्यं तदभ्यासफलं चाऽऽह—ब्रह्मानन्देति । ननूपक्रमे तावद्यदुक्तं भवता—

"संभव इति जीव ईशः सोऽयं वा कथमपीह कल्पान्ते ।
न च दृश्यतेऽत्र तर्कः प्रतिबन्धोऽयं तृतीय ऐक्येऽपि"

इत्यार्यया प्रमेयासम्भावनाख्यं शोधितजीवब्रह्मैक्ये प्रतिबन्धमभिधाय ।

"उक्तं त्रयोदशेऽपि च नानाविधयुक्तितोऽद्वयैक्यस्य ।
सम्भावनमिति तस्य तु तत्प्राधान्यं समवसेयम्"

इत्यार्यान्तरेणास्याद्वैतानन्दाख्यस्य त्रयोदशप्रकरणस्य तद्बाधकत्वं तत्कथमुपपद्यत इति चेच्छृणु । अत्र हि मृद्घटोदाहरणेन कारणस्योपादानाख्यस्य सत्यत्वं सर्वावस्थानुगतत्वात्कार्यस्य विकाराख्यघटादेरतथात्वान्मिथ्यात्वं चोक्तमिति तु निर्विवादमेव । एवं च कार्योपाधिरयं "जीवकारणोपाधिरीश्वरः" इति श्रुतेर्जीवस्य कार्योपाधित्वेन कार्यमिथ्यात्वसिद्धिनाऽन्तरीयकसिद्धमिथ्यात्वात्तदुपलक्षितचिन्मात्रस्य कारणोपाधिनेश्वरेण विशिष्टेन सहैक्यासम्भवेऽपि कारणे कारणतायाः कार्यैकनिरूपितत्वात्तन्मिथ्यात्वेनैतस्याप्यविनाभावसिद्धमिथ्यात्वात्तदुपलक्षितचिन्मात्रेण सहैक्ये किं नाम बाधकम् । न हि घटोपाधिभङ्गे

घटाकाशस्य महाकाशेन सहैक्ये निसर्गसिद्धे कश्चिदपि विप्रतिपद्यते विद्वान्। एवं निद्रास्वप्नदृष्टान्तेनात्रत्येनैव कार्यकारणात्मकस्य निखिलद्वैतस्य मिथ्यात्वं तदुपलक्षितस्य तदधिष्ठानचिन्मात्रस्याद्वैतब्रह्मणः पारमार्थिकमैक्यमपि सुघटमेव। तस्मादुचितमेवास्य प्रकरणस्य निरुक्तप्रतिबन्धबाधकत्वमिति ध्येयं धीरैः ॥ १०५ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमदद्वैतसच्चिदानन्देन्द्रसरस्वतीशिष्यश्रीमत्पदवाक्यप्रमाणक्षोरार्णवविहरणश्रीमदद्वैतविद्येन्दिरारमणषष्ट्युपनामकश्रीनारायणशास्त्रिचरणसरोजराजहंसायमानमानसमोडकोपनामकाच्युतशर्मणा विद्यार्थिना विरचितायां पूर्णानन्देन्दुकौमुद्यभिधायां पञ्चदशीटीकायामद्वैतानन्दप्रकाशस्त्रयोदशः सम्पूर्णः ॥ १३ ॥

इति पञ्चदश्यां त्रयोदशं प्रकरणं समाप्तम् ॥ १३ ॥

अथ पञ्चदश्या चतुर्दशं प्रकरणम्

तत्र ब्रह्मानन्दे विद्यानन्दाख्यश्चतुर्थोऽध्यायः ।

योगेनाऽऽत्मविवेकेन द्वैतमिथ्यात्वचिन्तया ।
ब्रह्मानन्दं पश्यतोऽथ विद्यानन्दो निरूप्यते ॥ १ ॥

विषयानन्दवद्विद्यानन्दो धीवृत्तिरूपकः ।
दुःखाभावादिरूपेण प्रोक्त एष चतुर्विधः ॥ २ ॥

दुःखाभावश्च कामाप्तिः कृतकृत्योऽहमित्यसौ ।
प्राप्तप्राप्योऽहमित्येव चातुर्विध्यमुदाहृतम् ॥ ३ ॥

इदाननीं वृत्तवर्तिष्यमाणयोर्ग्रन्थयोः सम्बन्धमाह—योगेनेति ॥ १ ॥

विद्यानन्दस्वरूपमाह—विषयेति । तस्यावान्तरभेदमाह—दुःखाभावेति ॥ २ ॥

चातुर्विध्यमेव दर्शयति—दुःखाभावश्चेति ॥ ३ ॥

अद्वैतानन्दसच्चिद्विभुविमलपरब्रह्मकूटस्थरूपं
मोहाद्द्वैतेन्द्रजालालयमपि तिलकं स्वप्रकाशं श्रुतीनाम् ।
सर्वांश्चाऽऽचार्यवर्यान् रघुकुलतिलकं सद्गुरुं ब्रह्मनिष्ठं
श्रीमन्नारायणाख्यं स्वगुरुमपि महादेवसंज्ञं प्रणौमि ॥ १ ॥

मत्वा जीवंजीवान्विद्यारण्यं च भारतीतीर्थम् ।
विद्यानन्दं विद्याप्रकाशतो द्योतयामि कौमुद्याः ॥ २ ॥

अथ भगवान्भारतीतीर्थमुनिवरः स्वकृत एव ब्रह्मानन्दाख्ये पञ्चदश्यास्तृतीयांशत्वेन पञ्चाध्यायात्मके ग्रन्थे विद्यानन्दाभिधं चतुर्थमध्यायं चतुर्दशं प्रकरणमारभमाणः प्राच्यप्रकरणेः सहास्य सङ्गति कथयन्प्रथि(?)प्रमाणप्रयोजनं मङ्गलमप्यद्वैतब्रह्मात्मैक्यानुसन्धानलक्षणं ध्वनयंस्तावतैवास्य विषयादिचतुर्विधानुबन्धानपि व्यनक्ति—योगनेति ॥१॥

तद्रूपमाह—विषयेति ॥ २ ॥

तच्चातुर्विध्यं विस्पष्टयति—दुःखेति । अत्र पूर्वद्वयस्येव विवरणरूपमुत्तरद्वयं हेतुसाध्यभावेनानुभवात्मत्वाद्धमितयेवाभिधत्ते—कृतेत्यादिना शेषेण ॥ ३ ॥

ऐहिकं चामुष्मिकं चेत्येवं दुःखं द्विधेरितम् ।
निवृत्तिमैहिकस्याऽऽह बृहदारण्यकं वचः ॥ ४ ॥
आत्मानं चेद्विजानीयादयमस्मीति पूरुषः ।
किमिच्छन् कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरेत् ॥ ५ ॥
जीवात्मा परमात्मा चेत्यात्मा द्विविध ईरितः ।
चित्तादात्म्यात्त्रिभिर्देहैर्जीवः सन्भोक्तृतां व्रजेत् ॥ ६ ॥
परात्मा सच्चिदानन्दस्तादात्म्यं नामरूपयोः ।
गत्वा भोग्यत्वमापन्नस्तद्विवेके तु नोभयम् ॥ ७ ॥

निवर्तनीयं दुःखं विभजते—

ऐहिकमिति । ऐहिकस्य निवृतिर्बृहदारण्यकवाक्येनोच्यत इत्याह—**निवृत्तिमिति** ॥ ४ ॥

तच्छ्रुतिवाक्यं पठति—**आत्मानमिति** ॥ ५ ॥

आत्मनि शोकसम्बन्धं दर्शयितुं तद्भेदमाह—

जीवात्मेति । आत्मनो जीवत्वे निमित्तमाह—**चित्तादात्म्यादिति** । चैतन्यस्य स्थूलसूक्ष्मकारणरूपैस्त्रिभिः शरीरैस्तादात्म्यभ्रमे सति चितो भोक्तृत्वं भवति स भोक्ता जीव इत्युच्यते ॥ ६ ॥

इदानीं परमात्मनः स्वरूपमाह—

परात्मेति । तस्य भोग्यरूपत्वापत्तिप्रकारमाह—**तादात्म्यमिति** । नामरूपकल्पनाधिष्ठानत्वेन तत्तादात्म्यं प्राप्य भोग्यत्वमश्नुत इत्यर्थः । भोक्तृत्वाद्यभावे कारणमाह—**तद्विवेक इति** । ताभ्यां शरीरत्रयजगद्भ्यां विवेके भेदज्ञाने जाते सति नोभयं भोक्तृभोग्यरूपं नास्तीत्यर्थः ॥ ७ ॥

तत्र प्रथमप्रतियोगिदुःखद्वैविध्यं विधत्ते—**ऐहिकं चेति** । ब्रह्मात्मैक्यप्रथयेव तस्य सर्वस्य समूलस्य ध्वस्तौ प्रमाणं प्रतिजानीते—**निवृत्तिमिति** ॥ ४ ॥

तदेव पठति—**आत्मानं चेदिति** ॥ ५ ॥

एतद्विस्तरतस्तृप्तिदीपे विवृतमपि संक्षेपतः प्रकृतेऽपि व्याकुरुते—**जीवेत्यादि**-षड्भिः । तत्र जीवस्वरूपं निरूपयति—**चिदिति** । शुद्धाद्वैतचितिरेवाविद्यया त्रिभिः स्थूलादिभिः प्रसिद्धैर्देहैः साकं तादात्म्याद्भेदसहिष्णवभेदाध्यासाज्जीवः सन्भोक्तृतां व्रजेदिति योजना ॥ ६ ॥

परात्मेति । नन्वथापि कथं भोक्त्रादिद्वैतोपशान्तिरित्यत आह—**तदित्यादि**-शेषेण ॥ ७ ॥

भोग्यमिच्छन् भोक्तुरर्थे शरीरमनुसंज्वरेत् ।
ज्वरास्त्रिषु शरीरेषु स्थिता न त्वात्मनो ज्वराः ॥ ८ ॥
व्याधयो धातुवैषम्ये स्थूलदेहे स्थिता ज्वराः ।
कामक्रोधादयः सूक्ष्मे द्वयोर्बीजं तु कारणे ॥ ९ ॥
अद्वैतानन्दमार्गेण परात्मनि विवेचिते ।
अपश्यन्वास्तवं भोग्यं किं नामेच्छेत्परात्मवित् ॥ १० ॥
आत्मानन्दोक्तरीत्याऽस्मिन् जीवात्मन्यवधारिते ।
भोक्ता नैवास्ति कोऽप्यत्र शरीरे तु ज्वरः कुतः ॥ ११ ॥
पुण्यपापद्वये चिन्ता दुःखमामुष्मिकं भवेत् ।
प्रथमाध्याय एवोक्तं चिन्ता नैनं तपेदिति ॥ १२ ॥

उक्तमर्थं विवृणोति—भोग्यमिति ॥ ८ ॥

कस्मिञ्शरीरे को ज्वर इत्याशङ्क्य स्थूलदेहे विद्यमानाञ्ज्वरान्दर्शयति व्याधय इति । लिङ्गदेहकारणदेहगताञ्ज्वरानाह—कामेति ॥ ९ ॥

इदानीमुदाहृतश्रुतितात्पर्यकथनव्याजेन पूर्वोक्तमेवार्थं विशदयति—

अद्वैतेति । तृतीयाध्यायोक्तप्रकारेण मायाकार्यनामरूपाभ्यां सच्चिदानन्दे परमात्मनि विवेचिते भेदेन ज्ञाते सति सर्वं प्रपञ्चं मिथ्येति जानन् किं नाम भोग्यमिच्छति ॥ १० ॥

ततः पूर्वाध्यायोक्तरीत्या जीवात्मस्वरूपेऽसङ्गकूटस्थचैतन्यरूपे निश्चिते सति कामयितुरभावाज्ज्वरादिसम्बन्धो नास्तीत्याह—आत्मानन्देति ॥११॥

इदानीमामुष्मिकं ज्वरं दर्शयति—

पुण्येति,। तस्याभावः प्रथमाध्याये निरूपित इत्याह—प्रथमेति ॥१२॥

भोग्यमिति । ननु ज्वराः किमात्मनि नेत्याह—ज्वरा इति ॥ ८ ॥

व्याधय इति । तत्प्रपञ्चनमेवेदम् । बीजं संस्कारादि ॥ ९ ॥

अद्वैतेति । भोग्यं नामरूपात्मकं संयोगवियोगाभ्यां क्रमादिष्टत्वाद्यवच्छेदेन सुखादिप्रदमखिलदृश्यमित्यर्थः ॥ १० ॥

आत्मेति । इदमप्युक्तभोग्यमिथ्यात्ववद्भोक्तृमिथ्यात्वावधारकमेव ॥ ११ ॥

एवमैहिकदुःखाभावमभिधाय पारत्रिकं तं वक्तुमादौ तत्प्रतियोग्येवसंक्षिपति—पुण्येति । तदभावं प्रागुक्तमेव स्मारयति—प्रथमेति । "एतमेव तपेन्नैषा चिन्ता कर्माग्निसंभृता" इति पञ्चमश्लोक एव तदीये ॥ १२ ॥

यथा पुष्करपर्णेऽस्मिन्नपामश्लेषणं तथा ।
वेदनादूर्ध्वमागामिकर्मणोऽश्लेषणं बुधे ॥ १३ ॥
इषीकातृणतूलस्य वह्निदाहः क्षणाद्यथा ।
तथा संचितकर्मास्य दग्धं भवति वेदनात् ॥ १४ ॥
यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन ! ।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा ॥ १५ ॥
यस्य नाहङ्कृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ।
हत्वाऽपि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते ॥ १६ ॥
मातापित्रोर्वधः स्तेयं भ्रूणहत्यान्यदीदृशम् ।
न मुक्तिं नाशयेत्पापं मुखकान्तिर्न नश्यति ॥ १७ ॥

ननु ज्ञानिन आरब्धकर्मविषया चिन्ता मा भूदागामिकर्मविषया चिन्ता भवत्येवेत्याशङ्क्य "तद्यथा पुष्करपर्णे" इत्यादिश्रुत्या ज्ञानिन आगामिकर्मसम्बन्धनिराकरणात्तद्विषयाऽपि चिन्ता नास्तीत्याह **यथेति** ॥ १३ ॥

"तद्यथेषीकातूलमग्नौ प्रोतं प्रदूयेतैवं हास्य सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्ते" इतिश्रुत्यवष्टम्भेन सञ्चितकर्मविषयाऽपि चिन्ता ज्ञानिनो नास्तीत्याह— **इषोकेति** ॥ १४ ॥

उक्तार्थे भगवद्वाक्यमपि प्रमाणयति—**यथैधांसीति** ॥ १५ ॥

यस्य नाहमिति ॥ १६ ॥

अस्मिन्नेवार्थे न मातृवधेन न पितृवधेन न स्तेयेन न भ्रूणहत्यया नास्य पापं चन चक्रुषो मुखान्नीलं वेतीतिकौषीतकीश्रुतिवाक्यमर्थतः पठति—**मातापित्रोरिति** । चनेत्येकं पदं नीलमिति कान्तिरित्यर्थः ॥ १७ ॥

ननु तद्वचनं संचितपरमेवास्तु क्रियमाणं तु बाधकं स्यादेवेत्यत आह—**यथेति** । तद्यथा पुष्करपर्णं इत्यादिश्रुतिः प्रसिद्धैव ॥ १३ ॥

एवं "तद्यथेषीकातूलमग्नौ प्रोतं प्रदूयेतैवं हास्य सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्ते" इतिश्रुतिमप्यर्थतः पठति—**इषीकेति** ॥ १४ ॥

तत्र स्मृतिमपि संवादयति—**यथेतिप्रभृतिना** ॥ १५ ॥

यस्येति । भावः सन्मात्ररूप आत्मा । अहङ्कृतोऽहङ्कारतादात्म्यसाधित इत्यर्थः । एतादृशो यस्य न भवति । अत एव । **बुद्धिरित्यादि** । स इमान्प्रत्यक्षविषयाँल्लोकान्प्राणिनः । हत्वाऽपि विनिहत्य स्थितोऽपीति यावत् । शिष्टं तु स्पष्टमेव ॥ १६ ॥

एतन्मूलीभूतां "न मातृवधेन न पितृवधेन न स्तेयेन न भ्रूणहत्यया नास्य पापं चन चक्रुषो मुखान्नीलं वा" इतिकौषीतकीश्रुतिमर्थतः पठति—**मातेति** । एतदर्थस्तूकोऽ-

दुःखाभाववदेवास्य सर्वकामाप्तिरीरिता ॥
सर्वान्कामानसावाप्त्वा ह्यमृतोऽभवदित्यतः ॥ १८ ॥
जक्षन्क्रीडन्रतिं प्राप्तः स्त्रीभिर्यानैस्तथेतरैः ।
शरीरं न स्मरेत्प्राणः कर्मणा जीवयेदमुम् ॥ १९ ॥
सर्वान्कामान्सहाऽऽप्नोति नान्यवज्जन्मकर्मभिः ।
वर्तन्ते श्रोत्रिये भोगा युगपत्क्रमवर्जिताः ॥ २० ॥

उक्तचातुर्विध्यमध्ये द्वितीयप्रकारमाह—**दुःखेति** । ईरिता श्रुत्येति शेषः । अस्मिन्नर्थे ऐतरेयश्रुतिवाक्यमर्थतः पठति—**सर्वानीति** ॥ १८ ॥

जक्षन्क्रीडन्रममाणः स्त्रीभिर्वा यानैर्वा ज्ञानिभिर्वाऽज्ञानिभिर्वा वयस्यैर्वा नोपजनं स्मरन्निदं शरीरमिति छान्दोग्यश्रुतिवाक्यमर्थः पठति—**जक्षन्निति** ॥ १९ ॥

तत्रैव तैत्तिरीयश्रुतिवाक्यमर्थतः पठति—

सर्वानीति । ननु कर्मफलभोगाङ्गीकारे जन्मापि प्रसज्येतेत्त्याशङ्क्याऽऽह—**नान्यवदिति** । ज्ञानेन सञ्चितकर्मणां दग्धत्वादज्ञवज्जन्म नास्तीत्यर्थः ॥ २० ॥

नुभूतिप्रकाशे—"वाचा वा मनसा मातृवधादीन्कुरुते यदि । तथाऽपि ज्ञानिनो मोक्षो न ह्यंतैर्विनिवार्यते । पापं कृतवतोऽप्यस्य मुखे हर्षक्षयो न हि । न मुक्तिर्नश्यतीत्येव शास्त्रैरस्य विनिश्चयात्" इत्यादिना ॥ १७ ॥

अथ क्रमागतां सुखावाप्तिमपि कथयति—दुःखेति । ईरिता ऐतरेयश्रुत्येति शेषः । तामेव श्रुतिमर्थतः संग्रथयति—सर्वानिति । सर्वान्कामानाप्त्वाऽमृतः समभवदिति ह्यैतरेयोपनिषद्वचनम् ॥ १८ ॥

एवमत्रैव जक्षत्क्रीडन्रममाणः स्त्रीभिर्वा यानैर्वा ज्ञातिभिर्वा नोपजनं स्मरन्निदं शरीरन्निदं शरीरमिति छान्दोग्यश्रुतिमप्यर्थतः संग्रथयति—जक्षन्निति । विवृतमिदं वचोऽनुभूतिप्रकाशे—"इन्द्रराजादिदेहेषु नानाखाद्यादि भक्षयन् । बालैः साकं हसन्स्त्रीभिः कदाचिद्रमते सह । यानैः क्वापि ज्ञातिभिश्च सहितो मोदते खलु । न कदाचित्स्मरत्येतद्वपुर्जनसमीपगम् । एतद्देहेन तादात्म्यभ्रान्त्या दुःखमभूत्पुरा । विवेकेन भ्रमेऽपेते तद्दुःखं नाद्य वीक्ष्यते । इंद्रराजादिदेहेषु न तादात्म्यं पुराऽपि च । अतो न तद्देहदुःखशंकाऽप्यस्य तु विद्यते । सुखानि तद्देहगानि साक्षी सर्वाण्यवेक्षते । साक्ष्यात्मत्वाभिमानी सञ्ज्ञानी तान्यभिमन्यते । दुःखान्यपीक्षते साक्षी तथाऽप्येतेषु तत्त्ववित् । नाभिमानमुपादत्ते दुःखानां मायिकत्वतः । ब्रह्मानन्दस्य लेशाः स्युरानन्दा विषयोत्थिताः । अतस्तत्त्वविदः पक्षपातो ह्येतेषु विद्यते । पुण्यमेवामुमाप्नोति न देवान्पापमाप्नुयात् । इति श्रुत्यन्तरं ब्रूते सुखं सर्वात्मदर्शिनः" इति ॥ १९ ॥

तद्वत्सोऽश्नुते सर्वान्कामान्सह ब्रह्मणा विपश्चितेत्यादितैत्तिरीयश्रुत्यर्थमपि संक्षिप्याऽऽह—सर्वानिति प्रमुखैः सार्धचतुर्भिः ॥ २० ॥

युवा रूपी च विद्यावान्नीरोगी दृढचित्तवान् ।
सैन्योपेतः सर्वपृथ्वीं वित्तपूर्णां प्रपालयन् ॥ २१ ॥
सर्वैर्मानुष्यकैर्भोगैः संपन्नस्तृप्तभूमिपः ।
यमानन्दमवाप्नोति ब्रह्मविच्च तमश्नुते ॥ २२ ॥
मर्त्यभोगे द्वयोर्नास्ति कामस्तृप्तिरतः समा ।
भोगान्निष्कामतैकस्य परस्यापि विवेकतः ॥ २३ ॥
श्रोत्रियत्वाद्वेदशास्त्रैर्भोगदोषानवेक्षते ।
राजा बृहद्रथो दोषांस्तान्गाथाभिरुदाहरत् ॥ २४ ॥
देहदोषांश्चित्तदोषान् भोग्यदोषाननेकशः ।
शुना वान्ते पायसे नो कामस्तद्वद्विवेकिनः ॥ २५ ॥

इदानीं तैत्तिरीयकबृहदारण्यकवाक्यं संक्षिप्यार्थतः पठति—युवेति ॥ २१ ॥

ननु सार्वभौमादिहिरण्यगर्भान्तानां जीवनिष्ठानामानन्दानां कथं ज्ञानिनि सम्भव इत्याशङ्क्य सर्वेषामानन्दानां ज्ञानिनाऽवगवतब्रह्मांशत्वात्सम्भव इत्याह—सर्वैरिति ॥ २२ ॥

ननु सार्वभौमश्रोत्रिययोर्विषयप्राप्तिसाम्याभावात्कथमानन्दसाम्ययमित्याशङ्क्य नैरपेक्ष्यसाम्यात्तृप्तिसाम्यमित्याह मर्त्येति । तृप्तिसाम्ये हेतुमाह—भोगादिति ॥ २३ ॥

श्रोत्रियत्वादिति । विषयदोषाः कस्यां शाखायां केन निरूपिता इत्याशङ्क्य बृहद्रथेन मैत्रायणीयाख्यशाखायां गाथाभिरुक्ता इत्याह—राजेति॥ २४ ॥

विवेकिनः कामानुदये दृष्टान्तमाह—शुनेति ॥ २५ ॥

युवेति । दृढेति । एतेन चित्तपारवश्यविरहो व्यज्यते ॥ २१ ॥

सर्वैरिति । तृप्तेत्यत्र कर्मधारयः ॥ २२ ॥

मर्त्येति । द्वयोः सार्वभौमश्रोत्रिययोः । मर्त्यभोगे मनुष्यलोकभोग इत्यर्थः ॥ २३ ॥

श्रोत्रियत्वादिति । क वेदे विषयभोगदोषा इत्यत आह—राजेत्यर्धेनैव । बृहद्रथो वै नाम राजेत्यादिर्मैत्रायणीयश्रुतिः ॥ २४ ॥

तानेव संक्षिपति—देहेति ॥ २५ ॥

निष्कामत्वे समेऽप्यत्र राज्ञः साधनसञ्चये ।
दुःखमासीद्भ्राविनाशादतिभीरनुवर्तने ॥ २६ ॥
नोभयं श्रोत्रियस्यातस्तदानन्दोऽधिकोऽन्यतः ।
गन्धर्वानन्द आशास्ति राज्ञो नास्ति विवेकिनः ॥ २७ ॥
अस्मिन्कल्पे मनुष्यः सन्पुण्यपाकविशेषतः ।
गन्धर्वत्वं समापन्नो मर्त्यगन्धर्व उच्यते ॥ २८ ॥
पूर्वकल्पे कृतात्पुण्यात्कल्पादावेव चेद् भवेत् ।
गन्धर्वत्वं तादृशोऽत्र देवगन्धर्व उच्यते ॥ २९ ॥
अग्निष्वात्तादयो लोके पितरश्चिरवासिनः ।
कल्पादावेव देवत्वं गता आजानदेवताः ॥ ३० ॥

सर्वभौमाच्छ्रोत्रियस्याऽऽधिक्यमाह—निष्कामत्व इति ॥ २६ ॥

सार्वभौमत्वं साधनसाध्यं पश्चाच्च तन्नाशभीतिश्चेति दोषद्वयत्वाच्छ्रोत्रिये तु तदुभयाभावादाधिक्यमित्यर्थः । श्रोत्रियस्याऽऽधिक्यान्तरमाह—गन्धर्वेति ॥ २७ ॥

इदानीं गन्धर्वानन्दे द्वैविध्यं दर्शयितुं श्लोकद्वयेन गन्धर्वभेदमाह—अस्मिन्निति ॥ २८ ॥

पूर्वेति ॥ २९ ॥

चिरलोकपित्रानन्दप्रदर्शनाय चिरलोकपितॄनाह—अग्निष्वात्तादय इति । देवानन्दत्रैविध्यज्ञानाय देवभेदमाह—कल्पादाविति ॥ ३० ॥

अथ सिंहावलोकनन्यायेन प्रागुक्तसार्वभौमश्रोत्रिययोः समत्वे विशेषान्तरमप्याह—निष्कामत्व इत्यादिना । दुःखमासीदिति पूर्वान्वयि ॥ २६ ॥

नोभयमिति । उभयं दुःखभयद्वयम् ॥ २७ ॥

अस्मिन्निति । कल्पान्तर इत्यार्थिकम् ॥ २८ ॥

पूर्वेति । अत्र कल्पादावेव गन्धर्वत्वमिति पूर्वस्माद्विशेषः । तत्र त्वस्मिन्नेव कल्पे मनुष्यशरीरावच्छेदेन कृतपुण्यस्य पाकविशेषात्तद्देहपातोत्तरमेव गन्धर्वत्वप्राप्तिरिति विशेषः ॥ २९ ॥

अग्नीति । लोके पितृलोके ॥ ३० ॥

अस्मिन्कल्पेऽश्वमेधादि कर्म कृत्वा महत्पदम् ।
अवाप्याऽऽजानदेवैर्याः पूज्यास्ताः कर्मदेवताः ॥ ३१ ॥
यमाग्निमुख्या देवाः स्युर्ज्ञाताविन्द्रबृहस्पती ।
प्रजापतिर्विराट् प्रोक्तो ब्रह्मा सूत्रात्मनामकः ॥ ३२ ॥
सार्वभौमादिसूत्रान्ता उत्तरोत्तरकामिनः ।
अवाङ्मनसगम्योऽयमात्मानन्दस्ततः परः ॥ ३३ ॥
तैस्तैः काम्येषु सर्वेषु सुखेषु श्रोत्रियो यतः ।
निःस्पृहस्तेन सर्वेषामानन्दाः सन्ति तस्य ते ॥ ३४ ॥
सर्वकामाप्तिरेषोक्ता यद्वा साक्षिचिदात्मना ।
स्वदेहवत्सर्वदेहेष्वपि भोगानवेक्षते ॥ ३५ ॥

अस्मिन्कल्प इति ॥ ३१ ॥

यमाग्नीति । इन्द्रबृहस्पती प्रसिद्धावित्यर्थः ॥ ३२ ॥

सार्वभौमादिसूत्रान्तानां श्रोत्रियान्न्यूनत्वद्योतनायाऽऽह—

सार्वभौमादीति । एभ्यः सर्वेभ्योऽधिकमानन्दमाह—**अवाङ्मनसेति** । यतोऽयमात्मानन्दोऽवाङ्मनसगम्योऽत एभ्यः सर्वेभ्योऽधिक इत्यर्थः ॥ ३३ ॥

इदानीं सर्वेषामानन्दाः श्रोत्रिये विद्यन्ते तस्य तेषु निस्पृहत्वादित्याह—**तैस्तैरिति** ॥ ३४ ॥

उपपादितमर्थमुपसंहरति—

सर्वेति । इदानीं पक्षान्तरमाह—**यद्वेति** । यथा स्वदेह आनन्दाकारबुद्धिसाक्षित्वेनाऽऽनन्दित्वमितरेष्वपि देहेषु तद्वदित्यर्थः ॥ ३५ ॥

अस्मिन्कल्प इति । आजानदेवैः । कल्पादावेव देवत्वं गतैरित्यर्थः ॥ ३१ ॥

यमेति । मुख्यपदेन वरुणवायुकुबेरादयः । ज्ञातौ प्रख्यातौ ॥ ३२ ॥

अथ सार्वभौमादिसूत्रान्तानन्देभ्योऽपि श्रोत्रियेण शमादिमता ब्रह्मविदा लब्धेऽद्वैतब्रह्मानन्दे विशेषमभिधत्ते—**सार्वभौमादीति** । उत्तरोत्तरेति तेषामपरत्वे हेतुगर्भं विशेषणम् । एवमवागित्याद्यात्मानन्देऽपि तत्तस्य परत्व इति स्पष्टमेव ॥ ३३ ॥

एवं श्रोत्रिये निरुक्तानन्दसत्त्वे निःस्पृहतैव हेतुरित्याह—**तैस्तैरिति** ॥ ३४ ॥

एवमुक्तां सर्वकामाप्तिमुपसंहृत्यान्यां तामाह—**सर्वेति** । अवेक्षते ज्ञातत्वाज्ञातत्वाभ्यां सर्वं साक्षिभास्यमिति सिद्धान्तादज्ञातत्वेनानुसन्धत्त इत्यर्थः ॥ ३५ ॥

अज्ञस्याप्येतदस्त्येव न तु तृप्तिरबोधतः ।
यो वेद सोऽश्नुते सर्वान्कामानित्यब्रवीच्छ्रुतिः ।। ३६ ।।

यद्वा सर्वात्मतां स्वस्य साम्ना गायति सर्वदा ।
अहमन्नं तथाऽन्नादश्चेति साम ह्यधीयते ।। ३७ ।।

दुःखाभावश्च कामाप्तिरुभे ह्येवं निरूपिते ।
कृतकृत्यत्वमन्यच्च प्राप्तप्राप्यत्वमीक्षताम् ।। ३८ ।।

उभयं तृप्तिदीपे हि सम्यगस्माभिरीरितम् ।
त एवात्राऽनुसन्धेयाः श्लोका बुद्धिविशुद्धये ।। ३९ ।।

ननूक्तप्रकारेणाज्ञस्यापि सर्वानन्दप्राप्तिरस्तीत्याशङ्क्य सर्वेषु सर्वबुद्धिसाक्ष्यहमितिज्ञानाभावान्मैवमित्याह—

अज्ञस्येति । उक्तार्थे तैत्तिरीयश्रुतिं प्रमाणयति—यो वेदेति । गुहायां निहितं ब्रह्म यो वेद सोऽश्नुत इति योजना ।। ३६ ।।

इदानीं तृतीयप्रकारमाह—

यद्वेति । इमाल्ँ लोकान्कामान्निष्कामरूप्यनुचरन्नित्यादिनेत्यर्थः ।।३७।।

अतीतग्रन्थेन सिद्धमर्थं संक्षिप्याऽऽह—दुःखेति ।। ३८ ।।

अवशिष्टं कृतकृत्यत्वं प्राप्तप्राप्यत्वमित्युभयं तृप्तिदीपे द्रष्टव्यमित्याह—त एवेति।। ३९ ।।

तत्राप्याशङ्क्य समाधत्ते—अज्ञस्यापीति । तत्र श्रुतिं प्रमाणयति—यो वेदेति ॥ ३६ ॥

ननूक्तश्रुत्या तु "एतस्यैवाऽऽनन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति" इति श्रुतेर्ब्रह्मात्मरूपतयैव सर्वकामाप्तिरुक्तेत्यस्वरसात्प्रकारान्तरेण तामाह—यद्वेति ॥ ३७ ॥

उक्तदुःखाभावाद्युपसंहृत्य कृतकृत्यत्वाद्यपि तृप्तिदीपोक्तमेवेक्ष्यमित्याह—दुःखेति ॥ ३८ ॥

कृतकृत्यत्वादिकं त्वस्माभिस्तृप्तिदीपे प्रपञ्चितमेवातस्तदनुसंधानमेवात्रापि कार्यमित्याह—उभयमिति ॥ ३९ ॥

ऐहिकामुष्मिकव्रातसिद्ध्यै मुक्तेश्च सिद्धये ।
बहुकृत्यं पुराऽस्याभूत्तत्सर्वमधुना कृतम् ॥ ४० ॥

तदेतत्कृतकृत्यत्वं प्रतियोगिपुरःसरम् ।
अनुसन्दधदेवायमेवं तृप्यति नित्यशः ॥ ४१ ॥

दुःखिनोऽज्ञाः संसरन्तु कामं पुत्राद्यपेक्षया ।
परमानन्दपूर्णोऽहं संसरामि किमिच्छया ॥ ४२ ॥

अनुतिष्ठन्तु कर्माणि परलोकयियासवः ।
सर्वलोकात्मकः कस्मादनुतिष्ठामि किं कथम् ॥ ४३ ॥

व्याचक्षतां ते शास्त्राणि वेदानध्यापयन्तु वा ।
येऽत्राधिकारिणो मे तु नाधिकारोऽक्रियत्वतः ॥ ४४ ॥

निद्राभिक्षे स्नानशौचे नेच्छामि न करोमि च ।
द्रष्टारश्चेत्कल्पयन्ति किं मे स्यादन्यकल्पनात् ॥ ४५ ॥

गुञ्जापुञ्जादि दह्येत नान्यारोपितवह्निना ।
नान्यारोपितसंसारधर्मानेवमहं भजे ॥ ४६ ॥

शृण्वन्त्वज्ञाततत्त्वास्ते जानन्कस्माच्छृणोम्यहम् ।
मन्यन्तां संशयापन्ना न मन्येऽहमसंशयः ॥ ४७ ॥

विपर्यस्तो निदिध्यासेत्किं ध्यानमविपर्यये ।
देहात्मत्वविपर्यासं न कदाचिद्भजाम्यहम् ॥ ४८ ॥

अहं मनुष्य इत्यादिव्यवहारो विनाऽप्यमुम् ।
विपर्यासं चिराभ्यस्तवासनातोऽवकल्पते ॥ ४९ ॥

आरब्धकर्मणि क्षीणे व्यवहारो निवर्तते ।
कर्माक्षये त्वसौ नैव शाम्येद्ध्यानसहस्रतः ॥ ५० ॥

॥ ४० ॥ ४१ ॥ ४२ ॥ ॥ ४३ ॥ ४४ ॥ ४५ ॥ ४६ ॥ ४७ ॥ ४८ ॥ ४९ ॥ ५० ॥

॥ ४० ॥ ४१ ॥ ४२ ॥ ॥ ४३ ॥ ४५ ॥ ४५ ॥ ४६ ॥ ४७ ॥ ४८ ॥ ४९ ॥ ५० ॥

विरलत्वं व्यवहृतेरिष्टं चेद्धयानमस्तु ते ।
अबाधिकां व्यवहृतिं पश्यन्ध्यायाम्यहं कुतः ।। ५१ ।।

विक्षेपो नास्ति यस्मान्मे न समाधिस्ततो मम ।
विक्षेपो वा समाधिर्वा मनसः स्याद्विकारिणः ।। ५२ ।।

नित्यानुभवरूपस्य को मेऽत्रानुभवः पृथक् ।
कृतं कृत्यं प्रापणीयं प्राप्तमित्येव निश्चयः ।। ५३ ।।

व्यवहारो लौकिको वा शास्त्रीयो वान्यथापि वा ।
ममाकर्तुरलेपस्य यथाऽऽरब्धं प्रवर्तताम् ।। ५४ ।।

अथवा कृतकृत्योऽपि लोकानुग्रहकाम्यया ।
शास्त्रीयेणैव मार्गेण वर्तेऽहं का मम क्षतिः ।। ५५ ।।

देवार्चनस्नानशौचभिक्षादौ वर्ततां वपुः ।
तारं जपतु वाक् तद्वत् पठत्वाम्नायमस्तकम् ।। ५६ ।।

विष्णुं ध्यायतु धीर्यद्वा ब्रह्मानन्दे विलीयताम् ।
साक्ष्यहं किञ्चिदप्यत्र न कुर्वे नापि कारये ।। ५७ ।।

कृतकृत्यतया तृप्तः प्राप्तप्राप्यतया पुनः ।
तृप्यन्नेवं स्वमनसा मन्यतेऽसौ निरन्तरम् ।। ५८ ।।

धन्योऽहं धन्योऽहं नित्यं स्वात्मानमञ्जसा वेद्मि ।
धन्योऽहं धन्योऽहं ब्रह्मानन्दो विभाति मे स्पष्टम् ।। ५९ ।।

धन्योऽहं धन्योऽहं दुःखं सांसारिकं न वीक्षेऽद्य ।
धन्योऽहं धन्योऽहं स्वस्याज्ञानं पलायितं क्वापि ।। ६० ।।

धन्योऽहं धन्योऽहं कर्तव्यं मे न विद्यते किञ्चित् ।
धन्योऽहं धन्योऽहं प्राप्तव्यं सर्वमद्य संपन्नम् ।। ६१ ।।

।। ५१ ।। ५२ ।। ५३ ।। ५४ ।। ५५ ।। ५६ ।। ५७ ।। ५८ ।।
५९ ।। ६० ।। ६१ ।।

५१ ।। ५२ ।। ५३ ।। ५४ ।। ५५ ।। ५६ ।।।। ५७ ।। ५८ ।। ५९ ।। ६० ।। ६१ ।।

धन्योऽहं धन्योऽहं तृप्तेर्मे कोपमा भवेल्लोके ।
धन्योऽहं धन्योऽहं धन्यो धन्यः पुनः पुनर्धन्यः ॥ ६२ ॥
अहो पुण्यमहो पुण्यं फलितं फलितं दृढम् ।
अस्य पुण्यस्य संपत्तेरहो वयमहो वयम् ॥ ६३ ॥
अहो शास्त्रमहो शास्त्रमहो गुरुरहो गुरुः ।
अहो ज्ञानमहो ज्ञानमहो सुखमहो सुखम् ॥ ६४ ॥
ब्रह्मानन्दाभिधे ग्रन्थे चतुर्थोऽध्याय ईरितः ।
विद्यानन्दस्तदुत्पत्तिपर्यन्तोऽभ्यास इष्यताम् ॥ ६५ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीविद्यारण्यस्वामि-विरचितायां पञ्चदश्यां ब्रह्मानन्दे विद्यानन्दो नाम चतुर्थोऽध्यायः समाप्तः ॥ ४ ॥

॥ ६२ ॥ ६३ ॥ ६४ ॥

इममध्यायार्थमुपसंहरति—**ब्रह्मानन्दाभिध इति** ॥ ६५ ॥

इति श्रीपञ्चदशीव्याख्यायां ब्रह्मानन्दे विद्यानन्दो नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥ १४ ॥

॥ ६२ ॥ ६३ ॥ ६४ ॥

ग्रन्थप्रकरणयोः सङ्गतिमाह—**ब्रह्मानन्देति** । अथैतदाविर्भावावधिमुमुक्षोः शमादीनां श्रवणादीनां च दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारपूर्वकानुष्ठानावश्यकतां विधत्ते—**तदुत्पत्ती-त्यादि**शेषेण । ननूपक्रमे तावद्भवता यदुक्तं—"ज्ञानेऽपि देहपातानन्तरमेवास्ति मुक्तिरद्वैतात् । सप्तमभूम्या वेति प्रतिबन्धोऽयं चतुर्थं ऐक्येऽपि" इत्यार्यया शोधिततत्त्वंपदार्थयोरैक्यविषयकचतुर्थप्रतिबन्धग्रथनम् । एवं चतुर्दशेऽपि "ज्ञानादेवाद्वयात्मतनुमुक्तेः । उक्तत्वात्स्पष्टतरं तत्परता तस्य किं न स्यात्" इत्यार्यान्तरेण विद्यानन्दाभिधस्यास्य चतुर्दशप्रकरणस्य तद्बाधकत्वं च तत्कथमिति चेदाकलय । ब्रह्मानन्दे ह्यत्र ब्रह्मात्मैक्यविषयकापरोक्षप्रमया निखिलाविद्यातद्व्याप्यतत्कार्यात्मकदृश्यबाधेनाद्वैतसच्चिदानन्दात्ममात्रस्थितिलक्षणा मुक्तिः स्पष्टतरैव प्रतिपादितेति नैवात्र वैमत्यगन्धोऽपीत्यलं पल्लवितेन ॥ ६५ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमदद्वैतसच्चिदानन्दसरस्वतीशिष्यश्रीमत्पदवाक्यप्रमाणक्षीरार्णवविहरणश्रीमदद्वैतविद्येन्दिरारमणषष्ट्युपनामकश्रीमन्नारायणशास्त्रि-चरणसरोजराजहंसायमानमानसेन मोडकोपनामकेनाच्युतशर्मणा विद्यार्थिना विरचितायां पूर्णानन्देन्दुकौमुदीसमाख्यायां पञ्चदशीव्याख्यायां तत्तृतीयांशात्मकब्रह्मानन्दाख्याध्यायपञ्चकरूपग्रन्थस्य विद्यानन्दाभिधस्य चतुर्थाध्यायस्य चतुर्दशप्रकरणस्य चतुर्दशः प्रकाशः सम्पूर्णः ॥ १४ ॥

॥ इति चतुर्दशं प्रकरणं समाप्तम् ॥ १४ ॥

अथ पञ्चदश्यां पञ्चदशं प्रकरणम् ।

तत्र ब्रह्मानन्दे विषयानन्दाख्यः पञ्चमोऽध्यायः ।

अथात्र विषयानन्दो ब्रह्मानन्दांशरूपभाक् ।
निरूप्यते द्वारभूतस्तदंशत्वं श्रुतिर्जगौ ॥ १ ॥

एषोऽस्य परमानन्दो योऽखण्डैकरसात्मकः ।
अन्यानि भूतान्येतस्य मात्रमेवोपभुञ्जते ॥ २ ॥

पञ्चमाध्यायस्य प्रतिपाद्यमर्थमाह —

अथेति । ननु विषयानन्दस्य लौकिकत्वान्मोक्षशास्त्रे निरूपणमनुपपन्नमित्याशङ्क्य तस्य लौकिकप्रसिद्धत्वेऽपि ब्रह्मानन्दैकदेशत्वेन ब्रह्मज्ञानोपयोगित्वाद्युक्तमित्याह—द्वारेति । ब्रह्मानन्दैकदेशत्वे किं प्रमाणमित्याशङ्क्याऽऽह—तदशंत्वमिति ॥ १ ॥

अद्वैतानन्दसच्चिद्विभुविमलपरब्रह्मकूटस्थरूपं
मोहाद्द्वैतेन्द्रजालालयमपि तिलकं स्वप्रकाशं श्रुतीनाम् ।
सर्वांश्चाऽऽचार्यवर्यान् रघुकुलतिलकं सद्गुरुं ब्रह्मनिष्ठ
श्रीमन्नारायणाख्यं स्वगुरुमपि महादेवसंज्ञं प्रणौमि ॥ १ ॥

मत्वा जीवंजीवान्विद्यारण्यं च भारतीतीर्थम् ।
विषयानन्दं तु तिथिप्रकाशतो द्योतयामि कौमुद्याः ॥ २ ॥

तामेव श्रुतिमर्थतः पठति—एष इति ॥ २ ॥

अथ भगवान्भारतीतीर्थमुनिवरः पञ्चदश्यास्तृतोयांशत्वेन पञ्चाध्यायात्मके ब्रह्मानन्दाभिधग्रन्थे विषयानन्दाह्वये पञ्चमाध्याये पञ्चदशप्रकरणे प्रारिप्सया प्रथितप्रमाणप्रयोजनं ब्रह्मानुसंधानलक्षणं मङ्गलं कलयन्प्रकृतप्रकरणेऽभिधेयं कथयंस्तेन तद्विषयप्रयोजनाद्यनुबन्धचतुष्टयमपि द्योतयति—अथेत्यादित्रिपाद्या । द्वारेति । ब्रह्मानन्दप्राप्तेरित्यार्थिकम् । निरुक्तांशत्वे मानं प्रतिजानीते—तदित्यादिचरमचरणेन ॥ १ ॥

ते एव "एषोऽस्य परमानन्दः" इति "एतस्यैवाऽऽनन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति" इति च श्रुती क्रमादर्थतः संग्रथयति—एष इति ॥ २ ॥

शान्ता घोरास्तथा मूढा मनसो वृत्तयस्त्रिधा ।
वैराग्यं क्षान्तिरौदार्यमित्याद्याः शान्तवृत्तयः ॥ ३ ॥
तृष्णा स्नेहो रागलोभावित्याद्याः घोरवृत्तयः ।
संमोहो भयमित्याद्याः कथिता मूढवृत्तयः ॥ ४ ॥
वृत्तिष्वेतासु सर्वासु ब्रह्मणश्चित्स्वभावता ।
प्रतिबिम्बति शान्तासु सुखं च प्रतिबिम्बति ॥ ५ ॥
रूपं रूपं बभूवासौ प्रतिरूप इति श्रुतिः ।
उपमा सूर्यकेत्यादि सूत्रयामास सूत्रकृत् ॥ ६ ॥

इदानीं विषयानन्दस्य ब्रह्मानन्दलेशत्वप्रदर्शनाय तदुपाधिभूतान्तःकरणवृत्तीर्विभजते—

शान्ता इति । शान्ताः सात्त्विक्यो वृत्तयः । घोरा राजस्यः । मूढास्तामस्यः । ता एव शान्तादिवृत्तीर्दर्शयति—**वैराग्यमित्यादिना** ॥३।४॥

उदाहृतासु विविधास्वपि वृत्तिषु ब्रह्मणश्चिद्रूपत्वं भातीत्याह—

वृत्तिष्विति । शान्तासु विशेषमाह—**शान्तास्विति ।** च शब्दोऽनुक्तद्वयसमुच्चयार्थः ॥ ५ ॥

उक्तार्थे श्रुतिवाक्यमर्थतः पठति—**रूपमिति ।** तत्रैव व्याससूत्रैकदेशं पठति—**उपमेति ।** अत एव चेति सूत्रस्य पूर्वभागः ॥ ६ ॥

एवं विषयानन्दस्य ब्रह्मानन्दांशरूपत्वं सप्रमाणं प्रतिज्ञातमुपपादयितुं तदुपयोगित्वेन विषयानन्दस्य चित्तवृत्तिविशेषरूपत्वात्सामान्यतः प्रथमं ता एव त्रिविधत्वेन विभनक्ति—**शान्ता इति ।** ननु सत्त्वादिगुणभेदेन भवत्वेवमथापि तन्निर्णय एवाऽऽदौ कथं कार्यं इत्यत आह—**वैराग्यमित्यादिसार्धेन ।** क्षान्तिर्विवेकेन दुःखसहिष्णुता । आद्यपदेनाद्वेष्टत्वामानित्वाभयादयः ॥ **तृष्णेति ।** विषयाभिलाषस्तृष्णा । चेतनविषयः प्रेमा स्नेहः । स एव दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारघटितो रागः । एवं वित्तलालस्यं लोभ इति तद्भेदः । अत्राप्याद्यपदेन दम्भादयः । सम्मोहभये प्रसिद्धे एव । आद्यपदेनाऽऽलस्याद्याः ॥ ३ ॥ ४ ॥

ततः किं तदाह—**वृत्तिष्विति ।** शान्तवृत्तिषु विशेषमाह—**शान्तास्विति ।** चोऽप्यर्थे । तत्र नियामकं तु सर्वनिर्मलद्रव्ये सूर्यप्रकाशप्रतिबिम्बनेऽपि सूर्यकान्ते तावदौष्ण्यमपि प्रतिलभ्यत इति नैर्मल्यवैपुल्यमेव ॥ ५ ॥

निर्गुणस्यापि प्रतिबिम्बने प्रमाणमाह—**रूपं रूपमिति ।** "रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव" इत्यादि श्रुतिः । एवं सूत्रमपि प्रमाणयति—**उपमेति ।** अत एव चोपमा सूर्यकादिवदिति हि **सूत्रम्** । यथा हि "अयं ज्योतिरात्मा विवस्वानपोभिन्ना बहुधैकोऽनुगच्छन् । उपाधिना क्रियते भिन्नरूपो देवः क्षेत्रेष्वेवमजोऽयमात्मा" इति हि तद्विषयवाक्यम् ॥ ६ ॥

एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः ।
एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत् ॥ ७ ॥
जले प्रविष्टश्चन्द्रोऽयमस्पष्टः कलुषे जले ।
विस्पष्टो निर्मले तद्वद्द्वेधा ब्रह्मापि वृत्तिषु ॥ ८ ॥
घोरमूढासु मालिन्यात् सुखांशश्च तिरोहितः ।
ईषन्नैर्मल्यतस्तत्र चिदंशप्रतिबिम्बनम् ॥ ९ ॥
यद्वापि निर्मले नीरे वह्नेरौष्ण्यस्य संक्रमः ।
न प्रकाशस्य तद्वत्स्याच्चिन्मात्रोद्भूतिरेव च ॥ १० ॥
काष्ठे त्वौष्ण्यप्रकाशौ द्वावुद्भवं गच्छतो यथा ।
शान्तासु सुखचैतन्ये तथैवोद्भूतिमाप्नुतः ॥ ११ ॥

स्वरूपेणैकस्योपाधिसम्पर्कान्नानात्वे श्रुतिं पठति—एक एवेति ॥ ७ ॥

ननु निरवयवस्य ब्रह्मणः क्वचिच्चिन्मात्रभानमितरत्र चिदानन्दमानमित्येवं विभागकरणमनुपपन्नमित्याशङ्क्य चन्द्रदृष्टान्तेन परिहरति—

जले प्रविष्ट इति । उक्तमर्थं दार्ष्टान्तिके योजयति—तद्वदिति ॥८॥

तदेवोपपादयति—घोरेति ॥ ९ ॥

ननु चन्द्रोपाधेरुदकस्य द्वैविध्यादंशभानमुपपन्नं प्रकृते तूपाधिभूतस्यान्तःकरणस्यैकत्वादेकांशभानमनुपपन्नमित्याशङ्क्य दृष्टान्तान्तरमाह—यद्वाऽपीति ॥ १० ॥

इदानीं शान्तासु वृत्तिषु चिदानन्दयोः प्रतीतौ दृष्टान्तान्तरमाह—काष्ठे त्विति ॥ ११ ॥

अत्र श्रुतिमेवाऽऽह—एक एवेति ॥ ७ ॥

श्रुत्युक्तं चन्द्रदृष्टान्तमेव विस्पष्टयन्वृत्तिषु चित्प्रतिबिम्बस्य चित्सुखोभयप्रतिबिम्बस्य च व्यवस्थां कथयति—जल इति । एवं च कलुषजलावच्छेदेन चन्द्रस्यास्पष्टत्वद्यथा प्रकाशान्शमात्रप्रतिबिम्बः शुद्धजलावच्छेदेन तु विस्पष्टत्वात्प्रकाशचन्द्रत्वयानन्दजनकत्वोभयोरपि प्रतिबिम्बनं तथोक्तवृत्तिषु ब्रह्मणोऽपि प्रतिबोधितचिदादिप्रतिबिम्बव्यवस्था द्रष्टव्येति भावः ॥ ८ ॥

दार्ष्टान्तिके योजयति—घोरेति ॥ ९ ॥

नन्वन्तःकरणस्यापञ्चीकृतपञ्चमहाभूतसत्त्वमात्रकार्यत्वेन पङ्किलादिजलदृष्टान्तानुपपत्तिरित्यस्वारस्याद्दृष्टान्तान्तरमाह—यद्वाऽपीति । वह्नेः पात्रमात्रव्यवहितहसन्त्यादिगताग्नेरित्यर्थः । एवं च सत्त्वैककार्येऽन्तःकरणे सात्त्विकशान्तवृत्तिषु ब्रह्मसन्निकर्षे व्यवधायकाभावात्तत्र चिदानन्दावुभावपि प्रतिबिम्बितस्तदितरघोरादिवृत्तिषु तु रजोगुणादिव्यवधानेनेषन्मालिन्याच्चिन्मात्रप्रतिफलनमग्न्यौष्ण्यवदुपपन्नमेवेत्यभिप्रायः ॥ १० ॥

तदेव दृष्टान्तेन—स्पष्टयति—काष्ठे त्विति ॥ ११ ॥

वस्तुस्वभावमाश्रित्य व्यवस्था तूभयोः समा ।
अनुभूत्यनुसारेण कल्प्यते हि नियामकम् ॥ १२ ॥

न घोरासु न मूढासु सुखानुभव ईक्ष्यते ।
शान्तास्वपि क्वचित्कश्चित्सुखातिशय ईक्ष्यताम् ॥ १३ ॥

गृहक्षेत्रादिविषये यदा कामो भवेत्तदा ।
राजसस्यास्य कामस्य घोरत्वात्तत्र नो सुखम् ॥ १४ ॥

सिध्येन्न वेत्यस्ति दुःखमसिद्धौ तद्विवर्धते ।
प्रतिबन्धे भवेत्क्रोधो द्वेषो वा प्रतिकूलतः ॥ १५ ॥

नन्वेवं व्यवस्था कुतः कृतेत्याशङ्क्याऽऽह—**वस्त्विति** । तत्र किं नियामकमित्याशङ्क्याऽऽह—**अनुभूतीति** ॥ १२ ॥

अनुभूतिमेव दर्शयति—

न घोरास्विति । शान्तास्वप्यानन्दप्रकाशोऽस्ति सोऽपि क्वचित्कश्चित्सुखातिशयो भवतीत्याह—**शान्तास्विति** ॥ १३ ॥

पूर्वोक्तघोरमूढवृत्तिषु सुखाभावमेवाभिनीय दर्शयति—**गृहक्षेत्रेति**।१४।

सुखासिद्धौ दुःखं वर्धते सुखस्य प्रतिबन्धे तु क्रोधो भवति । सुखाभावे कारणान्तरमाह—**द्वेषो वेति** । तत्र प्रतिकूलदुःखस्य सत्त्वादित्यर्थः ॥ १५ ॥

ननूक्तव्यवस्थायां किं मानमित्यत आह—**वस्तुस्वभावमिति** । एवं तर्हि किं स्वभाववादः प्रकृते नेत्याह **अनुभूतीति** । तथा चानुभूत्यन्यथानुपपत्तिरेवात्र मानं स्वभाववादे त्वन्यथोपपत्तेर्नेह स इत्याशयः ॥ १२ ॥

अनुभूतिमेवाऽऽह—**न घोरास्विति** । नन्वेवं चेत्तर्हि किं शान्तास्वपि सुखप्रतिबिम्बैकरूप्यमस्ति न वेत्यत्राऽऽह—**शान्तास्वपीति** ॥ १३ ॥

तदेवोपपादयति—**गृहेत्यादिना** ॥ १४ ॥

सिध्येन्न वेतीति । इत्याकारकसन्देह इत्यर्थः । तद्दुःखम् । प्रतिबन्धे सतीत्यर्थः ॥ १५ ॥

अशक्यश्चेत्प्रतीकारो विषादः स्यात्स तामसः ।
क्रोधादिषु महद्दुःखं सुखशङ्काऽपि दूरतः ॥ १६ ॥
काम्यलाभे हर्षवृत्तिः शान्ता तत्र महत्सुखम् ।
भोगे महत्तरं लाभप्रसक्तावीषदेव हि ॥ १७ ॥
महत्तमं विरक्तौ तु विद्यानन्दे तदीरितम् ।
एवं क्षान्तौ तथौदार्ये क्रोधलोभनिवारणात् ॥ १८ ॥
यद्यत्सुखं भवेत्तत्तद्ब्रह्मैव प्रतिबिम्बनात् ।
वृत्तिष्वन्तर्मुखास्वस्य निर्विघ्नं प्रतिबिम्बनम् ॥ १९ ॥
सत्ता चितिः सुखं चेति स्वभावा ब्रह्मणस्त्रयः ।
मृच्छिलादिषु सत्तैव व्यज्यते नेतरद्वयम् ॥ २० ॥
सत्ता चितिर्द्वयं व्यक्तं धीवृत्त्योर्घोरमूढयोः ।
शान्तवृत्तौ त्रयं व्यक्तं मिश्रं ब्रह्मेत्थमीरितम् ॥ २१ ॥

परिहारस्याशक्यत्वे विषादो भवति । तस्यापि तामसत्वान्न तत्र सुखमित्याह—**अशक्य इति** । क्रोधादिष्वित्यादयः स्पष्टार्थाः ॥१६॥१७॥१८॥

एवं क्षान्त्यादीनां सिद्धमित्याह—**वृत्तिष्विति** ॥ १९ ॥

इदानीं सर्वत्र ब्रह्मस्वरूपानुभूतिप्रदर्शनाय तत्स्वरूपं स्मारयति—**सच्चेति** । मृच्छिलादिषु सन्मात्रमित्यर्थः ॥ २० ॥

घोरमूढयोर्द्वयोः सत्ताचिती द्वौ शान्तवृत्तौ सच्चिदानन्दास्त्रयोऽपि व्यक्ताः । एवं सप्रपञ्चं ब्रह्माभिहितमित्याह—**मिश्रमिति** ॥ २१ ॥

अशक्य इति । प्रतीकारः प्रतिबन्धादिनिरास इत्यर्थः विषादोऽतिखेदः ॥ एवं घोरादिवृत्तिषु दुःखादिफलेषु चिदंशमात्रानुवृत्तिमुपपाद्येदानीं सात्त्विकासु शान्तवृत्तिषु चिदानन्दोभयप्रतिबिम्बनं प्रपञ्चयति—**काम्येत्यादिना** । ननु काम्यलाभप्रसक्तौ च पुत्रकामस्य स्वपत्नीगर्भधारणदर्शनतः सुखोपलब्धेस्तत्कीदृगित्यत आह—**लाभेति** ॥ नन्वेवमपि महत्तमं सुखं केत्यत्राऽऽह—**महत्तममिति** । तत्कीदृशमित्यपेक्षायां तत्स्मारयति —**विद्येति** । एतदन्यत्राप्यतिदिशति—**एवमिति** ॥ १६ ॥ १७ ॥ १८ ॥

फलितमाह—**यद्यदिति** । अस्य ब्रह्मणः ॥ १९ ॥

ननु भवत्वेवं चिदानन्दयोः प्रतिबिम्बव्यवस्था तथाऽपि सत्तायाः क्व प्रतिबिम्ब इत्यत आह—**सत्तेत्यादिना** ॥ २० ॥

एवमपि सत्तादिद्वयोस्त्रयाणां च क्वाभिव्यक्तिरित्यत आह—**सत्तेति** । उपसंहरति—**मिश्रमित्यादिशेषेण** ॥ २१ ॥

अमिश्रं ज्ञानयोगाभ्यां तौ च पूर्वमुदीरितौ ।
आद्येऽध्याये योगचिन्ता ज्ञानमध्याययोर्द्वयोः ॥ २२ ॥
असत्ता जाड्यदुःखे द्वे मायारूपत्रयं त्विदम् ।
असत्ता नरशृङ्गादौ जाड्यं काष्ठशिलादिषु ॥ २३ ॥
घोरमूढधियोर्दुःखमेवं माया विजृम्भिता ।
शान्तादिबुद्धिवृत्त्यैक्यान्मिश्रं ब्रह्मेति कीर्तितम् ॥ २४ ॥
एवं स्थितेऽत्र यो ब्रह्म ध्यातुमिच्छेत् पुमानसौ ।
नृशृङ्गादिमुपेक्षेत शिष्टं ध्यायेद्यथायथम् ॥ २५ ॥

अमिश्रं कुतो ज्ञायत इत्याशङ्क्याऽऽह—

अमिश्रमिति । तौ च ज्ञानयोगौ पूर्वमेवोक्तावित्यर्थः । कुत्रोक्तावित्याशङ्क्य योगः प्रथमाध्याय उक्त इत्याह—**आद्य इति** । समनन्तराध्याययोर्ज्ञानमुक्तमित्याह—**ज्ञानमिति** ॥ २२ ॥

ननु सच्चिदानन्दानां ब्रह्मरूपत्वे मायायाः किं रूपमित्याशङ्क्याऽऽह—

असत्तेति । नृशृङ्गादावसत्त्वं मृच्छिलादिषु जाड्यमिति विवेकः ॥२३॥

दुःखं कुत्रेत्याशङ्क्याऽऽह—

घोरमूढेति । एवं सर्वत्र माया प्रतिभासत इत्याह—**एवमिति** । शान्तादिषु वृत्तिषु ब्रह्मणो मिश्रत्वे किं कारणमित्यत आह—**शान्तादीति** ॥२४॥

एतदभिधानं किमर्थमित्याशङ्क्य ब्रह्मध्यानार्थमित्याह—

एवमिति । नृशृङ्गादिमुपेक्ष्यान्यत्र ब्रह्मध्यानं कर्तव्यमित्याह—**नृशृङ्गादिमिति**॥ २५ ॥

नन्वमिश्रं ब्रह्म तर्हि कथं ज्ञायते तत्राऽऽह—**अमिश्रमिति** । तद्विभागमाह—**आद्य इति** ॥ २२ ॥

नन्वेवमपि मायायाः सर्वानुस्यूतं तर्हि किं रूपमित्यत आह—**असत्तेति** । असत्ता तथा द्वे जाड्यदुःखे जाड्यं चिद्विरोधित्वं दुःखं सुखविरोधित्वं चेति मिलित्वा तु त्रयमिदं मायारूपं भवतीत्यन्वयः । तान्युदाहरति—**असत्तेति** ॥ २३ ॥

घोरेति । ननु यच्छान्तवृत्तिषु सच्चिदानन्दरूपं पूर्णमेव ब्रह्म प्रतिबिम्बति चेत्कथं तत्र शान्तवृत्तावित्यादिना मिश्रं ब्रह्मेत्थमीरितमित्युच्यत इति चेन्न । बुद्धिवृत्तितादात्म्यादेवेत्याह—**शान्तास्थिति** ॥ २४ ॥

उपसंहृत्य ब्रह्मध्यानोपायं विधत्ते—**एवमिति** । आदिना जाड्यदुःखे ॥ २५ ॥

शिलादौ नामरूपे द्वे त्यक्त्वा सन्मात्रचिन्तनम् ।
त्यक्त्वा दुःखं घोरमूढधियोः सच्चिद्द्विचिन्तनम् ॥ २६ ॥

शान्तासु सच्चिदानन्दांस्त्रीनप्येवं विचिन्तयेत् ।
कनिष्ठमध्यमोत्कृष्टास्तिस्रश्चिन्ताः क्रमादिमाः ॥ २७ ॥

मन्दस्य व्यवहारेऽपि मिश्रब्रह्मणि चिन्तनम् ।
उत्कृष्टं वक्तुमेवात्र विषयानन्द ईरितः ॥ २८ ॥

औदासीन्ये तु धीवृत्तेः शैथिल्यादुत्तमोत्तमम् ।
चिन्तनं वासनानन्दे ध्यानमुक्तं चतुर्विधम् ॥ २९ ॥

अन्यत्रेत्युक्तं कुत्र कथं ध्येयमित्यत आह—

शिलादाविति। घोरमूढबुद्धिषु दुःखं परित्यज्य सच्चिद्रूपयोश्चिन्तनं कर्तव्यमित्याह—**त्यक्त्वेति**॥ २६ ॥

सात्त्विकवृत्तिषु सच्चिदानन्दास्त्रयोऽपि ध्येया इत्याह—

शान्तास्विति । एषां ध्यानानां किं साम्यं नेत्याह—**कनिष्ठेति** ॥२७॥

इदानीं निर्गुणब्रह्मध्यानेऽनधिकारिणोऽनुग्रहाय मिश्रब्रह्मध्यानेऽधिकार इत्यभिप्रायेणाऽऽह—**मन्दस्येति** ॥ २८ ॥

एवं सवृत्तिकं ध्यानत्रयमुक्त्वाऽवृत्तिकं ध्यानमाह—**औदासीन्येत्विति**। एभ्यो ध्यानेभ्योऽधिकमित्यर्थः । उक्तं निगमयति—**ध्यानमिति** ॥ २९ ॥

उक्तध्यानप्रकारमेवाववोधयति—**शिलादाविति**। **घोरेति**। प्रागुक्तराजसतामसमानसवृत्त्योरित्यर्थः ॥ २६ ॥

अथ क्रमप्राप्तशान्ताख्यसात्त्विकवृत्तिषु सच्चिदानन्दरूपस्य पूर्णस्यैव ब्रह्मणः प्रतिफलनात्तच्चिन्तनमात्रेणैव वृत्तिनिष्ठनामरूपजाड्यानां स्वयमेव विलयनात्तत्त्यागमनुक्त्वैव तच्चितन्नं विधत्ते—**शान्तास्विति**। अथोक्तानां चिन्तानां तारतम्यमाह—**कनिष्ठेति** ॥ २७॥

एतत्प्रयोजनमाह—**मन्दस्येति**। अधिकारिण इत्यार्थिकम् । **मिश्रेति**। दृश्योपहितब्रह्मविषय इत्यर्थः ॥ २८ ॥

एवं शान्तादिवृत्तित्रयावच्छेदेन ब्रह्मचिन्तनलक्षणं सवृत्तिकं ध्यानत्रयरूपं विषयानन्दमभिधायाधुना वासनानन्दाभिधं निर्वृत्तिकमुत्तमोत्तमं तादृगधिकारिणस्तुरीयं ध्यानमभिधत्ते—**औदासीन्ये त्वित्यादि**त्रिपाद्या । निगमयति—**ध्यानमिति** ॥ २९ ॥

न ध्यानं ज्ञानयोगाभ्यां ब्रह्मविद्यैव सा खलु ।
ध्यानेनैकाग्र्यमापन्ने चित्ते विद्या स्थिरीभवेत् ॥ ३० ॥

विद्यायां सच्चिदानन्दा अखण्डैकरसात्मताम् ।
प्राप्य भान्ति न भेदेन भेदकोपाधिवर्जनात् ॥ ३१ ॥

शान्ता घोराः शिलाद्याश्च भेदकोपाधयो मताः ।
योगाद्विवेकतो वैषामुपाधीनामपाकृतिः ॥ ३२ ॥

निरुपाधिब्रह्मतत्त्वे भासमाने स्वयंप्रभे ।
अद्वैते त्रिपुटी नास्ति भूमानन्दोऽत उच्यते ॥ ३३ ॥

अयं ध्यानावान्तरभेदः किं नेत्याह—**न ध्यानमिति** । तर्हि किमेतदित्याशङ्क्याऽऽह—**ब्रह्मविद्येति** । इयं ब्रह्मविद्या कथमुत्पन्नेत्याशङ्क्याऽऽह—**ध्यानेनेति** ॥ ३० ॥

अस्या विद्यात्वे हेतुमाह—**विद्यायामिति** ॥ ३१ ॥

भेदकोपाधिवर्जनादित्युक्तं तानेव भेदकोपाधीनाह—**शान्ता इति** । एतेषां परिहारः केनोपायेनेत्याशङ्क्याऽऽह—**योगादिति** ॥ ३२ ॥

फलितमाह—**निरुपाधीति** । त्रिपुटीभानाभावाद्भूमानन्द इत्युच्यत इत्यर्थः ॥ ३३ ॥

नन्विदं यदि ध्यानं तत्पातञ्जलमतापत्तिरित्यत आह—**नेति ज्ञानेति** । आत्मानन्दाद्वैतानन्दोक्तज्ञानेन योगानन्दोक्तयोगेन चेत्यर्थः । एवं तर्ह्यत्र ध्यानं किमयुक्तमित्यत आह—**ध्यानेनेति** । स्थिरा संशयविपर्ययविरहादज्ञानादिबाधदक्षेति यावत् ॥ ३० ॥

ततः किं तदाह—**विद्यायामिति** ॥ ३१ ॥

के वा भेदकोपाधयः कथं वा तद्वर्जनमित्यत आह—**शान्ता इति** । **शिलेति** । उपलक्षणमिदं मूढवृत्तीनामपि । यद्वा घोरपदमेव तदुपलक्षकमिति संक्षेपः ॥ ३२ ॥

फलितमाह—**निरुपाधीति** । **स्वयमिति** वृत्तिव्युदासः । **भूमेति** । "यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमा" इति भूमैव सुखं "नाल्पे सुखमस्ति" इति च छान्दोग्ये श्रूयते ॥ ३३ ॥

ब्रह्मानन्दाभिधे ग्रन्थे पञ्चमोऽध्याय ईरितः ।
विषयानन्द एतेन द्वारेणान्तः प्रविश्यताम् ॥ ३४ ॥
प्रीयाद्धरिर्हरोऽनेन ब्रह्मानन्देन सर्वदा ।
पायाच्च प्राणिनः सर्वान्स्वाश्रिताञ्छुद्धमानसान् ॥ ३५ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीविद्यारण्यमुनिविरचितायां पञ्चदश्यां ब्रह्मानन्दे विषयानन्दो नाम पञ्चमोऽध्यायः समाप्तः ॥१५॥

ग्रन्थमुपसंहरति—ब्रह्मानन्देति । स्पष्टत्वान्न व्याख्यायते ॥ ३४ ॥
प्रीयादिति ॥ ३५ ॥

इति पञ्चदश्यां पञ्चदशं प्रकरणं समाप्तम् ॥ १५ ॥

एवमखिलाद्वैतशास्त्रतत्प्रकरणतात्पर्यभूमिभूतयावदद्वैतध्वस्त्युपलक्षिताद्वैतसच्चिदानन्दब्रह्मात्म्यैक्यरूपमुक्तिललितभूमानन्दमुपपाद्येदानीं पञ्चदशप्रकरणीचरमतृतीयांशात्मकपञ्चाध्यायग्रन्थेन सहास्य विषयानन्दाभिधपञ्चमाध्यायस्य पञ्चदश्याः पञ्चदशप्रकरणस्य सङ्गतिं द्वारद्वारीभावरूपामाह—ब्रह्मानन्देति । विषयप्रतिभासकालेऽपि मिथ्यात्वेन तत्तिरस्कारपूर्वकाद्वैतस्वप्रकाशप्रत्यगानन्दचिन्तनोपपादनादस्य विषयानन्द इत्यन्वर्थाभिधानत्वं बोध्यम् ॥ ३४ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीभारतीतीर्थविद्यारण्यमुनिवर्यकिङ्करेण श्रीरामकृष्णाख्यविदुषा विरचिता ब्रह्मानन्दान्तर्गतविषयानन्दव्याख्या समाप्ता ॥ १५ ॥

अथाऽऽचार्यः स्वग्रन्थान्तेऽपि मङ्गलमाशीर्वादलक्षणं सफलं कलयन्नद्वैतात्मानमेव भक्तानुग्रहार्थं वामभागे प्रकटितहरिरूपं दक्षिणभागे प्रकटितहररूपं मायामयलीलाविग्रहविशेषावच्छिन्नं परमेश्वरं प्रार्थयन्नुक्तग्रन्थमिमं तदेकचरणार्पणीकरोति—प्रीयादिति । अत्र सर्वदेति हारमध्यमणिन्यायेन प्रीयात्पायाच्चेत्याख्यातद्वयेनापि संबध्यते । एवं ब्रह्मानन्देनेत्यपि । तेन सर्वप्राणिनां तत्करणकं रक्षणमेतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्तीति श्रुतेरिष्टशब्दाद्यवच्छेदेनैव । स्वाश्रितशब्दितभक्तानां तु सार्वदिकपरानुरक्तिरूपभक्तिदानेनैव । एवं शुद्धमानसमुमुक्षूणां तु निरुक्तमुक्त्यैवेति तत्त्वम् । ननूपक्रमे तावद्भवता यदुक्तम्—"एकरसेऽपि मिथुनसुखममृतेऽस्त्येव स्वरूपसाक्षितया । स्वप्रभरवितत्करवत्प्रतिबन्धः पञ्चमोऽयमैक्येऽपि" इति गीत्या शोधितजीवब्रह्मैक्यविषयकं फलविपरीतभावनाभिधं पञ्चमं प्रतिबन्धमुपन्यस्य । "पञ्चदशेऽप्युक्तिः खल्वद्वैतस्वप्रकाशसुखभूम्नः । सर्वांशभास्यभासकराहित्यस्येति तस्य तत्परता" इत्यार्यान्तरेणास्य पञ्चदशप्रकरणस्य तद्बाधकत्वं तत्कथमुपपद्यत इति चेत्सत्यम् । यद्यद्वैतात्मनि स्वप्रकाशेऽपि व्यावहारिकसावयवस्वप्रकाशरविवत्स्वभास्यभासकभावेन स्वरूपसाक्षित्वं निरवयवे निर्गुणे ब्रह्मणि

स्याच्चेद्घटेतापीयं शङ्का तदेव तु कालत्रयेऽपि नैव सम्भवतीति विषयानन्देऽत्र दृश्योपलक्षितब्रह्मध्यानबोधनेनैवोक्तम् । तथाहि । अत्र प्रकरणे तावच्छान्तादिपदवाच्यसात्त्विकादिवृत्त्युपलक्षितसच्चिदानन्दाद्वैतब्रह्मानुसन्धानबोधनमुपक्रम्यान्ते "अद्वैते त्रिपुटी नास्ति भूमानन्दोऽत उच्यते" इति कण्ठत एवोपसंहारव्याजेन निर्गुणनिरवयवाद्वैतभूमानन्दस्वप्रकाशब्रह्मात्मवस्तुनिखिलदृश्यबाधध्वननपूर्वकमेव बोधितमिति तु निर्विवादमेवेति सर्वमनवद्यमेवेति शिवम् ॥ ३५ ॥

श्रीनारायणदेशिकेश्वरपदाम्भोजद्वयं पातु नः
श्रीसच्चित्सुखसद्गुरूत्तमपदद्वन्द्वेऽस्तु निर्द्वन्द्वता ।
तद्वन्मे शिवभक्तिदाद्यतिवरादाचार्यतः श्रीश्चिरं
ग्रन्थस्यास्य सुरक्षणक्षमतमा प्रख्यातिकर्यप्यलम् ॥ १ ॥

साक्षीशोऽनादिभावाविदुपधिरवतात्सच्चिदानन्द आत्माप्ये-
तत्कार्यात्मबुद्धिप्रतिफलितचिदाभासरूपांस्तु जीवान् ।
तच्छुद्ध्या यत्र तद्वित्स तु भवति तदज्ञानहानाद्विमुक्तोऽप्या
प्रारब्धं विपश्यन्निजमतिकलितं द्वैतमेतन्मृगाम्भः ॥ २ ॥

श्रीमत्कपालेश्वररामलक्ष्मीप्राणेशगोदाः प्रणिपत्य भूयः ।
अद्वैतविद्याऽतुलसंप्रदायसिद्ध्यर्थमेतत्सुखमर्पयामि ॥ ३ ॥

द्विजवर इह राजा शीघ्रमस्तु स्वधर्मैः स्वजनुष इव लोकान् रक्षयञ्शिक्षयंश्च ।
सुरपतिरपि वृष्टेः पुष्टिमिष्टां तनोतु प्रभवतु सुखमुच्चैर्ब्राह्मणानां गवां च ॥ ४ ॥

वेदान्तैर्निजसुखमेव शोधयं तु श्रीशैकार्पितनिजधर्मशुद्धचित्ताः ।
शान्त्यादिस्थितिललितद्विजा विरक्ताः स्वाद्वैतामितसुखचिद्विमुक्तिसक्ताः ॥५॥

भवतु सततं भुक्त्या मुक्त्या कृतार्थतरो जनो
गुरुवरपरब्रह्मप्रीत्या स्वधर्मरतः सदा ।
अ[illegible]नयतु हृत्तापं लब्ध्वा गुरोः करुणाबलाद्
गुरुनुतमुखः पूर्णानन्देन्दुजामिति कौमुदीम् ॥ ६ ॥

पूर्णानन्देन्दुकौमुद्याः प्रकाशास्तन्मिता इमे ।
श्रीपञ्चदश्यामभवन्गुरुपादप्रसादतः ॥ ७ ॥

क्व विद्यार्थ्यच्युताह्वोऽहं पञ्चदश्याः क्व भासनम् ।
तथाऽपि श्रीगुरूणां तत्पदाब्जेन्दुभिरर्जितम् ॥ ८ ॥

श्रीशालिवाहनशकीय(१७५१)शशोपुर्वाब्धिक्ष्मासंख्यवर्षललितावतभार्गवाह्नि ।
गोदावरीतटविराजितपञ्चवट्यां श्रीपञ्चदश्यनुगता खलु कौमुदीयम् ॥ ९ ॥

नारायणपुत्रोऽहं नारायणचरणकमलशिष्योऽहम् ।
नारायणाश्रितोऽहं नारायण एव भूयासम् ॥ १० ॥

श्रीपाण्डुरङ्गशास्त्री गुरुपुत्रः सततमस्तु दीर्घायुः ।
धनपुत्रपौत्रविद्याऽतुलधर्मैरद्यात्मदो भगवन् ॥ ११ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमदद्वैतसच्चिदानन्देन्द्रसरस्वतीशिष्यश्रीमत्पदवाक्यप्रमाणक्षीरार्णवविहरणश्रीमदद्वैतविद्येन्दिरारमणश्रीमत्षष्ठ्युपनामकश्रीनारायणशास्त्रिचरणसरोजराजहंसायमानमानसेन मोडकोपाह्वयेनाच्युतशर्मणा विद्यार्थिना विरचितायां पूर्णानन्देन्दुकौमुद्याख्यायां पञ्चदशीव्याख्यायां पञ्चदशोऽयं प्रकाशः सम्पूर्णः ॥ १५ ॥

श्रीशङ्करगुरुवरचरणकमलार्पणोऽस्तु ग्रन्थश्चायं सर्वेष्टदोऽस्तु श्रीरस्तु ॥

॥ समाप्ता चेयं टीकाद्वयसमेता पञ्चदशी ॥

—०—

अथ पञ्चदशीप्रकरणस्थश्लोकाद्यचरणप्रतीकानां अकारादिवर्णाऽनुक्रमणिका

अ	प्र.	श्लो०
अक्षाणां विषय०	३	२७
अक्षेष्वर्थार्पिते०	२	१३
अखण्डैकरसा०	११	८२
अग्निप्रवेशहे०	११	१२७
अग्निष्वात्तादयो	१४	३०
अचिदात्मघटा०	६	१२७
अचिन्त्यरचना०	६	१५१
अचिन्त्यरचना०	६	२४६
अचिन्त्याः खलु ये	६	१५०
अचेतनानां हे०	६	१८७
अज्ञस्याप्येतद०	१४	३६
अज्ञातत्वेन ज्ञा०	८	५
अज्ञातो ब्रह्मणा	८	७
अज्ञात्वा शास्त्रहृ०	६	२७५
अज्ञानबिम्बिता	११	७२
अज्ञानमावृतिश्चैते	७	३८
अज्ञानमावृतिस्तद्वत्	७	३३
अज्ञानवृत्तयः	११	६६
अज्ञानस्याऽऽश्रयो	७	४३
अज्ञानादपुम०	९	१२०
अज्ञानावृतिवि०	७	२८
अज्ञानी विदुषा	६	२७
अणुं वदन्त्यान्त०	६	७९
अणुर्महान्मध्य०	६	७८
अणोरणीयाने०	६	८०
अत एव द्विती०	२	५१
अत एव श्रुति०	३	३२
अत एवात्र दृ०	६	२२४
अतद्व्यावृत्तिरू०	७	८७
अतिप्रसङ्ग इ०	९	९९

अ	प्र.	श्लो०
अतिप्रसङ्गो मा	७	१३२
अतिबालः स्तनं	११	५०
अतीतेनापि म०	९	४१
अतो निर्वचनी०	१३	२६
अत्यन्तं निर्जगं०	२	४२
अत्यन्तबुद्धिमा०	९	५४
अत्रापि कलहा०	६	१०४
अथ केन प्रयु०	७	१५९
अथ केयं भवे०	१२	२१
अथवा कृतकृत्योऽपि	७	२६८
अथवा कृतकृत्योऽपि	१४	५५
अथवा योगिना०	९	४८
अथात्र विषया०	१५	१
अदृष्ट्वा दर्पणं	१३	१०२
अद्वयानन्दरू०	१०	४
अद्वितीयं ब्रह्म०	६	२१४
अद्वितीयब्रह्म०	६	२११
अद्वितीयब्रह्म०	६	२१७
अद्वैतः प्रलयो	११	२९
अद्वैतसिद्धिर्यु०	११	२७
अद्वैतानन्दमा०	१४	१०
अद्वैतेऽभिमुखी०	१३	६०
अधिक्षिप्तस्ताडि०	७	२८८
अधिष्ठानतया	६	२२
अधिष्ठानांशसं०	७	७
अधीतवेदवे०	९	४०
अध्येता वह्निरि०	१२	४५
अध्येतृवर्गमध्यस्य	१	१२
अनन्याश्चिन्तय०	७	१०८
अनपह्नुत्य लो०	७	१८०

	प्र०	श्लो०		प्र०	श्लो०
अनात्मबुद्धिशै०	९	१५६	अपनीतेषु मूर्ते०	३	३०
अनादाविह सं०	१	५९	अपरोक्षज्ञान०	७	४८
अनादिमायया	६	२२३	अपरोक्षत्वयो०	७	५४
अनादृत्य श्रुति	२	३१	अपरोक्षशिला०	९	२३
अनिच्छति बली०	१२	१२	अपरोक्षात्मवि०	१	६४
अनिवृत्तेऽपीशसृ०	४	४०	अपि पाशुपत०	७	२८०
अनुतिष्ठन्तु क०	७	२५६	अपेक्षते व्यव०	९	८९
अनुतिष्ठन्तु कर्मा०	१४	४३	अप्यब्धिपानान्म०	७	१२१
अनुभूतेरभा०	९	१५५	अप्रतीकाधिका	९	१४५
अनुष्ठानप्रका०	९	६४	अप्रमत्तो भव०	२	७३
अनुसन्दधतै०	७	१२५	अप्रमेयमना०	७	९५
अनुसृत्य गुरुः	९	४२	अप्रवेश्य चिदा०	६	२६२
अनूनो जायते	७	१७८	अबाधकं साध०	४	४२
अनृतांशो न बो०	१३	५६	अभानावरणे	७	४६
अनेकजन्म भ०	१०	३	अभाने न परं	१	११
अनेकदर्पणा०	८	२	अभाने स्थूलदे०	१	३८
अनेकधा विभि०	१६	७८	अमार्गेण विचा०	७	३६
अन्नजन्यं मनो	८	६१	अमिश्रं ज्ञानयो०	१५	२२
अन्नप्राणादिको०	७	६५	अमुना वासना०	१	६१
अन्नं प्राणो मनो	१	३३	अयं जीवो न कू०	६	२५
अन्यतायाः प्रति०	६	५०	अयं यत्सृजते	६	१६०
अन्यत्रापि श्रुतिः	१२	५६	अयथावस्तुवि०	९	१२
अन्यत्ववारकं	६	४२	अयथावस्तुस०	७	२३५
अन्यथा मृत्तिका०	९	११	अयमित्यपरो०	७	२१
अन्यथा याज्ञव०	७	१८४	अयमित्यपरो०	७	४९
अन्यथेति विजा०	७	११४	अर्थानामर्जने	७	१३९
अन्यूनो जायते	७	१७८	अर्थे व्याकरणा०	११	८४
अन्योन्यप्रेरणे	१२	९	अर्थोऽयमात्मगी०	९	१५१
अनोन्याध्यासम०	६	१९०	अर्पकान्तररा०	३	१५
अनोन्याध्यासरू०	६	१९३	अलभ्यमानस्त	१२	६५
अन्योन्याध्यासरू०	७	१०	अवकाशात्मकं	२	६९
अन्यो विज्ञानम०	६	७७	अवकाशे विस्मृ०	१३	७१
अन्वयव्यतिरे०	१	३७	अवज्ञातं सद०	२	१०१
अन्वयव्यतिरे०	४	३२	अवश्यं प्रकृतिः	६	२३१
अपथ्यसेविन०	७	१५३	अवश्यं भाविभा०	७	१५६

	प्र०	श्लो०		प्र०	श्लो०
अवस्थान्तरता०	१३	८	असन्दिग्धाविप०	७	१९
अवस्थान्तरभा०	१३	९	असाधारण आ०	१३	७७
अवाङ्मनसग०	८	७२	असाध्यः कस्यचि०	१२	८३
अवाङ्मनसग०	९	५६	अस्ति कूटस्थ इ०	७	३१
अवान्तरेण वाक्ये०	७	६९	अस्ति तावत्स्वयं	३	२३
अवास्तवी वेद्य०	९	६१	अस्ति ब्रह्मेति चे०	६	१६
अविक्रियब्रह्म०	१३	६६	अस्ति भूस्तत्त्वशु०	२	९४
अविचारकृतो	१०	५	अस्तु बोधोऽपरो०	७	९७
अविद्यावशग०	१	१७	अस्ति बोऽनुजिघृ०	१२	३
अविद्यावासना०	११	१३३	अस्त्येवोपासक०	९	११९
अविद्यावृतकू०	६	३३	अस्थूलादेर्निषे०	९	६९
अविद्यावृतिता०	६	५३	अस्पर्शयोगो ना०	२	२९
अविद्वदनुसा०	७	२८७	अस्मिन्कल्पे मनु०	१४	२८
अविनाश्ययमा०	८	४०	अस्मिन्कल्पेऽश्वमे०	१४	३१
अविरोधिसुखे	११	११८	अस्मन्निद्राऽपि जी०	८	६३
अविवेककृतः	६	२३२	अस्य सत्त्वमस०	६	१३१
अवेद्योऽप्यपरो०	३	२८	अस्याः श्रुतेरभि०	७	२
अव्यक्तादीनि भू०	१३	६९	अस्वतन्त्रा हि मा०	६	१३२
अव्याकुलधियां	९	१३३	अहङ्कारगते०	६	२६४
अव्याकृतं पुरा	१३	६५	अहङ्कारचिदा०	६	२६१
अशक्यश्चेत्प्रती०	१५	१६	अहङ्कारं धियं	१०	१२
अशास्त्रीयमपि	४	४९	अहङ्कारः प्रभुः	१०	१४
अशेषप्राणिबु०	६	१६१	अहन्तास्वत्वयो०	६	५१
अश्नाति वा न वा०	७	११५	अहन्तां ममतां	३	६
अश्रद्धालोरवि०	९	२४	अहन्त्वाद्भिद्यतां	६	४१
असत्ता जाड्यदुः०	१५	२३	अहंप्रत्ययबी०	६	७१
असत्त्वांशो निव०	७	५६	अहं ब्रह्मेति वा०	७	९८
असत्यपि च बा०	४	३३	अहं ब्रह्मेत्यनु०	७	५१
असत्यालम्बन०	८	५७	अहं मनुष्य इ०	७	२६२
असदेवेदमि०	६	७५	अहं मनुष्य इत्या०	१४	४९
असद्ब्रह्मेति चे०	३	२५	अहंवृत्तिरिदंवृ०	६	७०
असङ्ग एव कू०	८	७०	अहंवृत्तौ चिदा०	८	१८
असङ्गचिद्विभु०	६	२२१	अहमर्थपरि०	७	८८
असङ्गायाश्चितेर्बं०	६	१००	अहमस्मीत्यहं०	११	९६
असङ्गोऽहं चिदा०	७	१३	अहमित्यभिमन्ता	१०	६

	प्र०	श्लो०		प्र०	श्लो०
अहो पुण्यमहो	७	२९६	आत्मानंदोक्तरी०	१४	११
अहो पुण्य-फलि०	१४	६३	आत्मानुकूल्याद०	१२	२४
अहो शास्त्रमहो	७	२९७	आत्मा प्रेयान्प्रियः	१२	५५
अहो शास्त्रमहो	१४	६४	आत्मा ब्रह्मेति वा०	७	५८
अन्तर्बहिर्वा स०	१०	२२	आत्माभासस्य जी०	६	११
अन्तर्मुखाऽहमि०	१०	७	आत्माभासाश्र या	८	२६
अन्तर्मुखो य आ०	११	६५	आत्माभिमुखधी०	११	४४
अन्तर्यमयती०	६	१७५	आत्मार्थत्वेन स०	१२	३०
अन्तर्यामिणमा०	६	१२१	आत्मा वा इदमि०	४	३
अन्तःकरणत०	८	२५	आत्मा वा इदमि०	७	६८
अन्तःकरणसं०	७	८३	आत्मा शेष उपे०	१२	५२
अन्तःकरणसं०	७	८९	आत्माऽस्तसङ्गतो०	९	१०४
अन्तःकरणसा०	७	८५	आदावविद्यया	७	२८१
अन्तःस्था धीः सहै०	१०	१७	आदिमध्यावसा०	७	६२
अन्त्यप्रत्ययतो०	९	१३८	आदौ मनस्तद०	१३	२१
अन्धः सन्नप्यनं०	११	३४	आद्ये गन्धादयो०	१२	७७
अथागृहीतेर्भा०	७	५५	आद्यो विकार आ०	२	६०
आ			आद्यो विकार आ०	१३	६७
आकाशादिस्वदे०	१३	२	आनन्दमय ई०	६	१९८
आकाशेऽप्येवमा०	१३	७५	आनन्दमयको०	६	९४
आगामिप्रतिबं०	९	४५	आनन्दमयवि०	६	२१२
आग्रहाद् ब्रह्मवि०	१२	६९	आनन्दरूपः सर्वा०	८	५८
आज्ञाया भीतिहे०	६	१८०	आनन्दस्त्रिविधो	११	११
आतपाभातलो	६	२०४	आनन्दं ब्रह्मणो	११	५
आत्मतत्त्वं न जा०	७	१८६	आनन्दादिभिर०	९	७३
आत्मधीरेव वि०	७	१८९	आनन्दादेर्विधे	९	६८
आत्मनोऽन्यं प्रियं	१२	६३	आनन्दादेव त०	१३	३
आत्मनो मनसा	६	९०	आनन्दादेव भू०	११	१३
आत्मब्रह्मविचा०	४	४४	आनुकूल्ये हर्ष०	१३	७३
आत्मभेदो जग०	६	२२८	आपातदृष्टित०	६	१९२
आत्मा कतम इ०	७	१९८	आपातरमणी०	७	१३८
आत्मा देहादिभि०	७	१११	आप्तोपदेशं वि०	९	७७
आत्मानं चेद्विजा०	७	१	आभास उदित०	८	१३
आत्मानं चेद्विजा०	७	९६	आभासब्रह्मणी	८	१७
आत्मानं चेद्विजा०	१४	५	आभासहीनया	८	८

	प्र.	श्लो.
आरब्धकर्मणि०	१४	५०
आरब्धकर्मनाना	६	२८७
आरम्भवादिनः	१३	५२
आरम्भवादिनो०	१३	७
आरम्भी परिणा०	१३	५९
आरोपितस्य दृ०	६	३६
आलस्यभ्रान्तितं०	२	१५
आलम्बनतया	७	७१
आविर्भावतिरो०	६	१८६
आविर्भावयति	६	१८३
आवृत्तपापनु०	७	२३७
आस्तामेतद्यत्र	११	८५
आस्तां दुस्तार्किकैः	६	५७
आस्तां शास्त्रस्य सि०	७	८०
आहारादित्यज०	७	१२९
इ.		
इन्द्रजालमिदं	७	१७४
इच्छाद्वेषप्रय०	६	८९
इति न्यायेन स०	७	२०४
इति वार्तिकका०	६	१८९
इति वार्तिकका०	८	१२
इति वेदवचः	१३	१४
इति शैवपुरा०	८	५९
इति श्रुतिस्मृति	७	१०९
इति श्रुत्यनुसा०	६	१२४
इतोऽप्यतिशयं	९	६६
इत्यभिप्रेत्य भो०	७	२२२
इत्यदिभिरुपा०	१३	२८
इत्यादिभिस्त्रिभि	१२	३२
इत्यादिश्रुतयः	१२	३७
इत्यादिश्रुतयो	११	१०
इत्युक्त्वा तद्विशे०	६	८७
इत्थं जागरणे	११	१३२
इत्थं ज्ञात्वाऽप्यसं०	६	२५७
इत्थं तत्त्वविवे०	१	६५

	प्र.	श्लो.
इत्थं लौकिकदृ०	६	१२८
इत्थं वाक्यैस्तद०	१	५३
इत्थं सच्चित्परा०	१	१०
इत्थमन्योन्यता०	७	७७
इदमंशं स्वतः	६	३७
इदमो ये विशे०	१०	८
इदं गुणक्रिया०	१	५१
इदं त्वरूप्यते०	६	३८
इदं युक्तमिदं	१३	८८
इदं रूपं तु य०	३	३३
इदं रूप्यमिदं	६	४०
इदं सर्वं पुरा	२	१९
इदमग्रे सदे०	४	६
इदमंशश्च सत्य०	६	३४
इमं कूटस्थदी०	८	७६
इयं संसाररच०	१३	२७
इयमात्मा परा०	१	८
इषीकातृणतू०	१४	१४
इह वा मरणे	९	१५०
इह वाऽमुत्र वा	९	३४
ई.		
ईक्षणादिप्रवे०	६	२१३
ईक्षणादिप्रवे०	७	४
ईक्षणादिप्रवे०	८	६९
ईक्षे शृणोमि जि०	१०	१०
ईदृग्बोधेनेश्व०	६	१७८
ईदृग्बोधे पुम०	१३	४८
ईदृशो महिमा	१३	८९
ईशकार्यं जीव०	४	१८
ईशनिर्मितम०	४	२०
ईशविष्ण्वादयो	१२	१६
ईशसूत्रविरा०	६	२०६
ईशेन यद्यप्ये०	४	१७
ईश्वरः सर्वभू०	६	१७१

	प्र.	श्लो.		प्र.	श्लो.
ईश्वरेणापि जी०	४	१	एक एवाऽऽत्मा मं०	७	२१४
ईषद्भासनमा०	८	३२	एकमृत्पिण्डवि०	१३	६१
उ.			एकमेवाद्वितो०	२	२६
उत्तमाधमभाव०	६	२१८	एकमेवाद्वितो०	५	५
उत्तरस्मिस्ताप०	९	६३	एकस्वभावं स०	२	६१
उत्सेक उदधे०	११	१०९	एकं त्यक्त्वाऽन्यदा	१२	२६
उदासीनः सुखी	११	९३	एकादशेन्द्रियै०	२	१८
उद्गीथब्राह्मणे	६	११२	एकभूतः सुषु०	११	६८
उपक्रमादिभि०	६	१९५	एकैव दृष्टिः का०	११	१२९
उपदेशमवा०	१	३२	एतत्कक्षोपयो०	६	२२७
उपमृद्नाति चि०	९	९१	एतदालम्वनं	९	१४९
उपस्थकुष्ठिनी	७	२३८	एतद्विवक्षया	१२	३३
उपादानं त्रिधा	१३	६	एतस्मात्किमिवे	६	१४७
उपादाने विन०	६	५४	एतस्मिन्नेव चै०	८	५०
उपायः पूर्वमे०	७	११८	एतस्मिन्भ्रान्तिकां०	७	२३२
उपासक इव	९	९६	एतस्य वा अक्ष०	६	१८१
उपासकस्तु स०	९	११६	एते ज्वराः शरी०	७	२२७
उपासकानाम०	९	१३१	एवं च कलहः	७	२७१
उपासनं नाति०	९	१३६	एवं च निर्जग०	१३	१०४
उपासनस्य सा०	९	१४२	एवं च सति बं०	८	५५
उपास्तयोऽत्र ए०	७	१०५	एवं च सर्वग०	६	९३
उपास्ति कर्म वा	१२	४	एवं चान्योन्यवृ०	७	२७३
उपास्तीनामनु०	९	२८	एवं तत्त्वे परे	११	१२३
उपेक्षिते लौकि०	१३	९९	एवं तर्हि शृणु	६	२४५
उपेक्ष्यं द्वेष्यमि०	१२	५१	एवं ध्यानैकनि०	९	८७
उपेक्ष्य तत्तीर्थ०	९	१३०	एवं नास्ति प्रसं०	९	१०५
उभयं तत्त्वबो०	४	५०	एवं मायामय०	१३	३८
उभयं तृप्तिदी०	१४	३९	एवं विद्वान्कर्म०	११	६
उभयं मिलितं	७	१८७	एवं विविच्य पु०	१२	६८
उभयात्मक ए०	७	१९७	एवं विवेचिते	७	२१६
उष्णः स्पर्शः प्रमा०	२	४	एवं श्रुतिविचा०	२	६६
ऋ			एवं सति महा०	७	७९
ऋगादयो ह्यधी०	१२	१७	एवं स्थितेऽत्र यो	१५	२५
ए.			एवं स्थिते विवा०	१२	६१
एक एव कि भू०	१५	७	एवमन्ये स्वस्व०	६	१२०

	प्र.	श्लो.
एकमाकाशमि०	२	७७
एवमादिषु शा०	७	१४९
एवमानन्दवि०	६	२२६
एवमारब्धभो०	७	२४५
एष मध्ये बुभु०	७	२८६
एषा ब्राह्मी स्थितिः	२	१०३
एषोऽस्य परमा०	१५	२
ऐ.		
ऐन्द्रजालिकनि०	१३	३७
ऐहिकं चाऽऽमुष्मि०	१४	४
ऐहिकाऽऽमुष्मिकः	६	२४०
ऐहिकाऽऽमुष्मिक०	७	२५३
ऐहिकाऽऽमुष्मिक०	१४	४०
औ.		
औदासीन्यं विधे०	६	२७०
औदासीन्ये तु धी०	१५	२९
क.		
कश्चित्कालं प्रबु०	११	७४
कथं तर्हि किमि०	७	१६३
कथं तादृङ्मया ग्रा०	१०	२४
कथं न्विदं साक्ष०	८	३७
कथं प्रविष्टोऽसङ्ग०	८	३८
कथनादौ न नि०	७	१२२
कदाचित्कत्वतो०	३	१०
कदाचित्पिहिते	२	८
कर्णादिगोलक०	२	७
कर्त[illegible]	२	३७
कर्ता भा[illegible]व	७	३२
कर्तारं च क्रियां	१०	९
कर्तृत्वकरण०	३	८
कर्तृत्वादीन्बुद्धि	८	५२
कर्म जन्मान्तरे	११	७३
कर्मभिः प्रेरितः	११	७५
कर्मोपास्ती विचा०	९	२६
काचिदन्तर्मुखा	३	९
का ते भक्तिरुपा०	९	६२
का बुद्धिः कोऽय०	८	५३
काम एष क्रोध	७	१६०
कामक्रोधादयः	७	२२५
काम्यलाभे हर्ष०	१५	१७
काम्यादिदोषदृ०	४	५८
कारणज्ञानतः	१३	५४
कारणे सत्त्वमा०	१	३६
कार्यादाश्रयत०	१३	२९
कार्योत्पत्तेः पुरा	१३	३२
कालाभावे पुरे०	२	३८
कालेन परिप०	९	३७
काव्यनाटकत०	७	२०६
काष्ठे त्वौष्ण्यप्रका०	१५	११
किमद्वैतमुत	११	२६
किमिच्छन्निति वा	७	२५१
कियन्तं कालमि०	६	२४८
किं कूटस्थश्चिदा०	७	१९४
किं मन्त्रजपव०	७	११३
कीदृक्तर्हीति चे०	३	२६
कुतस्तज्ज्ञानमि०	९	३९
कुमारादिवदे०	११	५४
कुर्वते कर्म भो०	१	३०
कुलालव्यापृतेः	१३	३४
कुलालाद्घट उ०	१३	४
कूटस्थब्रह्मणो०	६	२३७
कूटस्थमनुप०	६	१३४
कूटस्थसत्यतां	७	२००
कूटस्थादिशरी०	६	६०
कूटस्थासङ्गमा०	६	१३३
कूटस्थे कल्पिता	६	२३
कूटस्थेऽप्यतिशं	८	६५
कूटस्थो ब्रह्म जी०	७	१८
कूटस्थोऽस्मीति बो	७	१६

	प्र.	श्लो.		प्र.	श्लो.
कृतकृत्यतया	७	२९१	गूढं चैतन्यमु०	६	९५
कृतकृत्यतया	१४	५८	गृहकृत्यव्यस०	९	८६
कृत्वा रूपान्तरं	४	१०	गृहक्षेत्रादिवि०	१५	१४
कृशोऽहं पुष्टिमा०	१२	४६	गृहान्तरगतः	१०	१८
कृषिवणिज्यसे०	७	१२४	गृहीतो ब्राह्मणो	७	२३९
केषाञ्चित्स विचा०	९	५३	गोदावर्युदकं	९	८
कोऽयमात्मेत्येव०	७	१९९	गौडाचार्या निर्वि०	२	२८
कोशोपाधिविव०	३	४१	ग्रन्थमभ्यस्य मे०	४	४६
कौशलानि विव०	७	२०९	ग्रन्थिभेदात्पुरा०	६	२६५
क्रमाद्विच्छिद्य वि०	८	२०	ग्रन्थिभेदेऽपि सं०	६	२६३
क्रमेण युगप०	६	१९९	**घ.**		
क्लेशकर्मविपा०	६	१०५	घटः स्वयं न जा०	६	४४
क्वचित्काश्चित्कदा०	१३	१९	घटादौ निश्चिते	६	९४
क्षणे क्षणे जन्म०	६	७२	घटावच्छिन्नखे	६	१९
क्षणे क्षणे मनो०	१३	९६	घटे द्विगुणचै०	८	२२
क्षत्रियोऽहं तेन	१२	१४	घटे भग्ने न मृ०	१३	५०
क्षयातिशयदो०	४	५३	घटैकाकारधी०	८	४
क्षीरादौ परिणा०	१३	५१	घटोऽयमित्यसा०	८	१६
क्षुत्पिपासादयो	६	२४९	घोरमूढधियो०	१५	२४
क्षुधया पीड्यमा०	७	१४२	घोरमूढासु मा०	१५	९
क्षुधेव दृष्टवा०	७	११७	**च.**		
ख.			चक्षुर्दीपावपे०	७	९३
खं वाय्वग्निजलो०	४	४	चतुर्भुजाद्यव०	९	१६
खमात्रं भासये०	८	१९	चतुर्मुखेन्द्रदे०	५	२
खादित्यदीपिते	८	१	चतुर्वेदविदे	११	८०
खानिलाग्निजलो०	१३	९१	चंचलं हि मनः	७	१२०
ग.			चिच्छायाचेशतः	३	४०
गतिस्पर्शौ वायु०	१३	७६	चित्तिमत्त्वाच्चेत०	६	९१
गर्भ एव शया०	९	३५	चित्तमेव हि सं०	११	११३
गन्धरूपरस०	१२	७५	चित्तस्य हि प्रसा०	११	११४
गन्धर्वपत्तने	७	१३७	चित्तैकाग्र्यं यथा	७	२०८
गुणानां लक्षक०	९	७२	चित्रदीपमिमं	६	२९०
गुहाहितं ब्रह्म	३	१	चित्रस्थपर्वता०	६	९
गुञ्जापुञ्जादिद०	७	२५९	चित्रार्पितमनु०	६	६
गुञ्जापुञ्जादिद०	१४	४६	चित्प्रत्यक्षा ततो	६	२५६

	प्र.	श्लो.		प्र.	श्लो
चित्सन्निधौ प्रवृ॰	६	१०२	जन्मादिकारण॰	७	६३
चिदप्यचिन्त्यर॰	६	५३	जपयागोपास॰	७	२०७
चिदानन्दो नैव	१२	७६	जलपाषाणमृ॰	६	२०८
चिदाभासविशि॰	८	३	जलव्योम्ना घटा॰	६	२४
चिदाभासान्तधी॰	८	६	जलस्थेऽघोमुखे	१३	९४
चिदाभासेऽप्यसं॰	७	२३०	जलाभ्रोपाध्यधी॰	६	२:५
चिदाभासे स्वतः	७	२२९	जले प्रविष्टश्चन्द्रो॰	१५	८
चिदेवाऽऽत्मा जग॰	७	१२३	जागरणस्वप्न॰	१२	५८
चिद्रूपत्वं च सं॰	८	६२	जाग्रत्स्वप्नजग॰	६	१५२
चिद्रूपेऽपि प्रस॰	६	२५०	जाग्रत्स्वप्नसुषु॰	७	२१३
चिरं तयोः सर्व॰	७	१७३	जाग्रद्व्यावृत्तिभिः	११	४३
चिन्तयेद्वह्निम॰	२	८७	जाड्यांशः प्रकृते	६	९९
चेतनाचेतन॰	६	४५	जातस्य ग्रहरो॰	१२	६६
चेतनाचेतने॰	१३	९२	जातिव्यक्ती देहि॰	२	७१
चैतन्यं द्विगुणं	८	१५	जानामि धर्मं न	६	१७६
चैतन्यं यदधि॰	४	११	जानाम्यहं त्वदु॰	११	७९
चैतन्यवत्सुखं	१२	७३	जिते तस्मिन्वृत्ति॰	४	६३
चोद्यं वा परिहा॰	२	३९	जिह्वेति व्यवह॰	७	२२०
चोद्येऽपि यदि चो॰	६	१३८	जिह्वा मेऽस्ति न वे॰	३	२०
छ.			जीवद्वैतं तु शा॰	४	४३
छिद्रानुवृत्तिर्नै॰	२	८२	जीवन्मुक्तिरियं	४	५२
ज.			जीवन्मुक्तेः परा	४	६९
जक्षन्क्रीडन् रतिं	१४	१९	जीवात्मनिर्गमे	६	६२
जगच्चित्रं स्वचै॰	६	२८९	जीवात्मा परमा॰	१४	६
जगतो यद्रूपा॰	१	४४	जीवानामप्यसं॰	६	१०८
जगत्तदेकदे॰	८	५१	जीवापेतं वाव	८	४१
जगत्सत्यत्वमा॰	७	१७७	जीवोपाधिमन॰	११	४८
जगदव्याकृतं	४	८	जीवोऽसङ्गत्वमा॰	६	२२९
जगद्भ्रमस्य स॰	८	४९	ज्ञस्य भाति सदा	२	७५
जगद्योनिर्भवे॰	६	१८२	ज्ञात इत्युच्यते	८	९
जगन्मिथ्यात्वधी॰	७	१३६	ज्ञातताज्ञातते	८	२३
जगन्मिथ्यात्वव॰	७	१९२	ज्ञातत्वं नाम कुं॰	८	१०
जडं मोहात्मकं	६	१२६	ज्ञात्वा सदा तत्त्व॰	६	२१५
जडो भूत्वा तदा॰	६	९६	ज्ञानद्वयेन न॰	७	४४
जनकादेः कथं	७	१३०	ज्ञानिताज्ञानिते	७	१४

	प्र.	श्लो.
ज्ञानिनोऽज्ञानिन०	७	१३३
ज्ञानिनो विपरी०	६	२४१
ज्वरेणाऽऽप्तः सनि०	९	९
झ.		
झटित्यध्यास आ०	६	२५१
त.		
तच्चिन्तनं तत्क०	७	१०६
तच्चिन्तनं तत्क०	१३	८३
तच्चेद्विरोधिके०	६	३२
तच्छ्रमस्यापनु०	११	४५
ततो निरंश आ०	१३	१०
ततोऽभिज्ञापकं	९	११८
तत्कारणं सांख्य०	९	१३५
तत्तेदन्ते अपि०	६	४७
तत्तेदन्ते स्वता०	६	४९
तत्त्वनिश्चयका०	६	१२२
तत्त्वबोधं क्षयं	६	२७१
तत्त्वबोधः प्रधा	६	२८१
तत्त्वभावनया	७	११२
तत्त्वमस्यादिवा०	७	७४
तत्त्वविद्यदि न	९	९८
तत्त्वविस्मृतिमा०	७	१२६
तत्त्वंस्मृतेरव०	७	१२७
तत्त्वं बुद्ध्वाऽपि का	४	५४
तत्पादाम्बुरुह०	१	२
तत्प्रेमात्मार्थम०	१	९
तत्र तत्रोचितं	१२	५०
तत्र तं बुद्धिसं०	९	४९
तत्साक्षात्कारसि०	६	१७
तत्सामर्थ्याज्जाय०	९	१४०
तथा च विषया०	११	८८
तथाऽपि पुंविशे०	६	१०६
तथा सति स्वसु०	११	३८
तथा तद्वस्तुनो	२	२१
तथा स्वप्नेऽत्र वे०	१	४
तथाऽन्तर्याम्ययं	६	१७०
तदभ्यासेन विद्या०	१३	८२
तदर्थस्य च पा०	७	७८
तदा स्तिमितगं०	२	४०
तदित्थं तत्त्ववि०	९	११४
तदिष्टमेष्टव्य०	७	१९०
तदेतत्कृतकृ०	७	२५४
तदेतत्कृतकृ०	१४	४१
तद्घनत्वं साक्षि०	११	७१
तद्भोगाय पुन०	१	२६
तद्विवेकाद्विवि०	१	४०
तपसा स्वर्गमे०	१२	४७
तमःप्रधानः क्षेत्रा०	६	१८८
तमःप्रधानप्र०	१	१८
तमेव धीरो वि०	४	४७
तमेव धीरो वि०	७	१०७
तमेव विद्वान०	११	८
तमेवैकं विजा०	४	४८
तमेवैकं विजा०	७	१२८
तर्हि कारणवि०	१३	५७
तर्हि साधनज०	११	४१
तर्ह्यंशोऽहं ब्रह्म०	७	४२
तर्ह्यस्तु सात्त्विकी	१२	२२
तस्मात्कुतर्क	८	६८
तस्मादात्मा महा०	६	८६
तस्मादाभासपु०	७	१८
तस्माद्वेदान्तसं०	२	१०९
तस्मान्मुमुक्षुभि०	६	२१९
तस्य हेतुः समा०	१	१४
तन्तुः पटे स्थितो	६	१६५
तन्तूनां दिनसं०	६	५५
तन्तोर्वियुज्यंत	७	२२८
तन्तोः संकोचवि०	६	१६९
तं विद्याद्दुःखसं०	११	१०७
तात्कालिकद्वैत०	४	३९

	प्र.	श्लो.
तादात्म्याध्यास ए०	६	५२
तादृक्त्वादेव त०	१३	७२
तादृक्पुमानुदा०	११	१२१
तादृशेनापि बो०	७	१७
ताभ्यां निर्विचिकि०	१	५४
तामसैर्नोभयं	२	१६
तावता कृतकृ०	९	७६
तावता मुक्तिरि०	६	१७९
तिष्ठन्तु मूढाः प्र०	९	६७
तिष्ठन्त्वज्ञानत०	७	२८२
तिन्तिणीफलमि०	१२	७९
तुच्छाऽनिर्वचनी	६	१३०
तृणार्चकादियोगा०	६	२१६
तृप्तिदीपमिमं	७	२९८
तृष्णा स्नेहो राग०	१५	४
ते आत्मत्वेऽप्यनु०	६	४८
तेन द्वैतमप०	७	१८२
तैजसा विश्वतां	१	२९
तैरण्डस्तत्र भु०	१	२८
तैरन्तःकरणं	१	२०
तैस्तैः काम्येषु स०	१४	३४
तैः सर्वैः सहितैः	१	२२
त्युक्तं योग्यस्य दे०	१२	२९
त्यज्यतामेष का०	४	५९
त्रयाभावे तु वि०	११	१६
त्रयोऽप्यत्यन्तप०	६	२८२
त्रितयीमपि तां	१	४६
त्रिषु धामसु य०	७	२१५
त्वमेव दशमो०	७	२७

द.

	प्र.	श्लो.
दग्धबीजमरो०	७	१६५
दर्शनादर्शने	४	६८
दशमः क्व इति	७	५९
दशमामृतिला०	७	२४८
दशमोऽपि शिर०	७	२४७
दशमोऽस्तीति वि०	७	५७
दशमोऽस्तीत्यविश्रान्तं	७	५७
दशमोऽस्मीति वा०	७	६०
दिगम्बरा मध्य०	६	८२
दिङ्मात्रेण विभा०	६	२४३
दिने दिने स्वप्न०	२	१०७
दीपप्रभामणि०	९	६
दीपोऽपवरक०	९	३
दुःखनाशार्थमे०	११	४०
दुःखप्राप्तौ न चो०	११	१३१
दुःखाभाववदे०	१४	१८
दुःखाभावश्च का०	१४	३
दुःखाभावश्च का०	१४	३८
दुःखिनोऽज्ञाः संस०	७	२५५
दुःखिनोऽज्ञाः संस०	१४	४२
दुर्घटं घटया०	६	२३४
दूरदेशं गते	४	३४
दूरे प्रभाद्वये	९	४
दृश्यं नास्तीति बो०	४	६४
दृश्यमानस्य स०	५	८
दृष्टान्तः परसु०	११	३०
दृष्टान्ताः शकुनिः	११	४६
देवं मत्वा हर्ष०	११	९
देवत्वकामा ह्य०	७	२४२
देवदत्तस्तु सिं०	१२	४०
देवदत्तः स्वयं	६	३९
देवात्मशक्ति स्व०	१३	१३
देवार्चनस्नान	७	२६९
देवार्चनस्नान	१४	५६
देशः कोऽपि न भा०	१०	२१
देशकालान्यव०	३	३६
देहतादात्म्यमा०	११	९२
देहदोषांश्चित्त०	१४	२५
देहद्वयचिदा०	७	३७
देहवद्धटघा०	६	१४८
देहवाग्बुद्धय	७	२७५

	प्र.	श्लो.
देहात्मज्ञानव०	७	२०
देहादभ्यन्तरः	३	२
देहादिपञ्जरं	६	१७३
देहादेः प्रतिकू०	१२	८६
देहाद्यात्मत्ववि०	९	२१
देहाऽभिमानं वि०	९	१५७
देहे मृतेऽपि बु०	८	३५
देहेन्द्रियादयो	६	१४४
देहेन्द्रियादिषु०	८	४८
देहोपलमपा०	९	१५४
दोषदृष्टिर्जिहा०	६	२७८
द्रवत्वमुदके	६	१३५
द्रष्टुर्दृष्टेरलोप०	६	९७
द्वयं यस्यास्ति त०	९	११०
द्विगुणीकृतचै०	८	२४
द्वित्र्यन्तरत्वक०	६	१६७
द्विधा विधाय चै०	१	२७
द्वैतस्य प्रतिभा०	१२	८७
द्वैतावज्ञा सुस्थि०	२	१०२
द्वैतेन हीनम०	६	२४४
द्वौ न जातौ तयै०	१३	२३
ध.		
धन्योऽहं धन्योऽहं	७	२९२
धन्योऽहं धन्योऽहं	७	२९३
,, ,,	७	२९४
,, ,,	७	२९५
धन्योऽहं कर्तव्यं	१४	६१
धन्योऽहं–तृप्तेर्मे	१४	६२
धन्योऽहं०–दुःखं	१४	६०
धन्योऽहं–नित्यं	१४	५९
धर्ममेघमिमं	१	६०
धर्माधर्मवशा०	१२	२
धात्र्येति कथिता	१३	२६
धीयुक्तस्य प्रवे०	८	३६
धीरत्वमक्षप्रा०	११	१२४
धीवृत्त्या भासकुं०	८	१४

	प्र.	श्लो.
ध्यातृध्याने परि०	१	५५
ध्यानं त्वैच्छिकमे०	९	९७
ध्यानदीपमिमं	९	१५८
ध्यानान्मानाद्युक्ति०	२	७४
ध्यानोपादानकं	९	११७
ध्यायतो विषया०	४	६०
न.		
न काऽपि चिन्ता मे०	११	९५
न किञ्चिद्वेत्ति बा०	९	१०७
न कुड्यसदृशी	८	२९
न कृत्स्नब्रह्मवृ०	२	५४
न घोरासु न मू०	१५	१३
न चात्रैतद्द्वार०	७	१५४
न चेश्वरत्वमी०	७	१५७
न जातु कामः का०	७	१४७
न जानामि किम०	६	१४६
न जानामीत्युदा०	७	३५
न तत्त्वमोरुभाव०	६	२२२
न तत्र मानापे०	१०	२५
न दुःखाभावमा०	११	३५
नद्यां ममार द०	७	२५
न द्वेष्टि सम्प्रवृ०	६	२६९
न द्वैतं भासते	११	१००
न ध्यानं ज्ञानयो०	१५	३०
न निरूपयितुं	६	१४१
न विरोधो न चो०	६	२३५
न विरोधो न चो०	८	७१
ननु ज्ञानानि भि०	४	२४
ननु तूष्णीं स्थितौ	११	७७
ननु देहमुप०	३	११
ननु द्वैते सुखं	११	२२
ननु प्रियतम०	१२	८०
ननु भूम्यादिकं	२	४१
ननु सद्वस्तुपा०	२	८३
नन्वेवं वासना०	१२	१

	प्र.	श्लो.		प्र.	श्लो.
न पत्युरर्थे सा	१२	८	निजस्थानस्थितः	१०	१९
न पृथ्वादिर्न श०	१३	३१	निजानन्दे स्थिरे	१३	७४
न प्रीतिर्विषये०	१२	८५	नित्यज्ञानप्रय०	६	१०९
न बाल्यं यौवने	१३	९७	नित्यज्ञानादिम०	६	१११
न बाह्यो नान्तरः	१०	२०	नित्यनिर्गुणरू०	९	१३९
न भाति नास्ति कू०	७	३०	नित्यानुभवरू०	७	२६६
न भाति नास्ति द०	७	२४	नित्यानुभवरू०	१४	५३
न भाति भेदो ना०	१२	४२	निद्राभिक्षे स्नान०	७	२५८
नमः श्रीशङ्करा०	१	१	निद्राभिक्षे स्नान०	१४	४५
न मृतो दशमो०	७	२६	निद्रायां तु सुखं	१२	४२
न युक्तस्तमसा	२	३३	निद्राशक्तिर्यथा	१३	८६
न लभ्यं यौवने	१३	९७	नियमेन जपं	७	११६
न लभ्यते मणि०	९	५	निरधिष्ठानवि०	६	७६
नवसंख्याहृत०	७	२३	निरन्तरं भास०	१०	१३
न वेत्ति लोको या०	६	१३६	निरंशस्योभया०	६	९८
न व्यक्तेः पूर्वम०	१३	६८	निरंशोऽप्यंशमा०	२	५८
न व्यापित्वाद्देश०	३	३५	निरिच्छमपि र०	१२	११
न सद्वस्तु सतः	२	४८	निरुक्तावभिमा०	६	१९
न हि धीभावभा०	८	३४	निरुपाधिब्रह्म०	१५	३३
न ह्याहारादि सं०	६	२७३	निरूपयितुमा०	६	१४३
नाद्वैतमपरोक्षं०	६	२८२	निरोधलाभे पुं०	९	१२७
नानिच्छन्तो न चे०	७	१६२	निर्गुणब्रह्मत०	९	५५
नानुतिष्ठति को०	९	६५	निर्गुणब्रह्मत०	९	७०
नानुभूतिर्न दृ०	११	२८	निर्गुणोपासनं	९	१२६
नाप्रतीतिस्तयो०	६	१३	निर्गुणोपास्तिसा०	९	१४६
नाभ्युपैम्यहम०	११	२५	निर्जगद्व्योम	२	४३
नामरूपोद्भव०	२	२३	निर्णीतोऽर्थः कल्प०	९	२७
नायं क्लेशोऽत्र स०	७	१४५	निर्बाधस्तस्ववि०	७	१७५
नायं दोषश्चिदा०	७	१५	निर्विकल्पसमा०	७	१८५
नार्थः पुरुषका०	६	१७७	निर्विकारासङ्ग०	९	१२८
नाविद्या नापि त०	७	२७८	निवृत्त एव य०	१३	४६
नासदासीद्विभा०	६	१२९	निवृत्ते सर्वसं०	७	४७
नासदासीन्नो स०	२	५०	निश्चित्य सकृदा	९	९५
नासङ्गेऽहंकृति०	७	९	निश्चेष्टत्वात्परः	११	३१
नाहं ब्रह्मेति बु०	८	४२	निश्छिद्रे दर्पणे	१३	१०१

	प्र.	श्लो.		प्र.	श्लो.
निष्कामत्वे समे॰	१४	२६	परसङ्गं स्वाद॰	९	८५
निष्कामोपासना	९	१४३	परागर्थप्रमे॰	८	११
निस्तत्त्वत्वाद्विना॰	१३	४३	परात्मा सच्चिदा॰	१४	७
निस्तत्त्वरूपतै॰	२	८४	परापरब्रह्म॰	९	१४८
निस्तत्त्वं भासमा॰	१३	४१	परापरात्मनो॰	१	४३
निस्तत्त्वाकार्यग॰	२	४७	परामर्शोऽनुभू॰	११	६०
निस्तत्त्वे नामरू॰	१३	७९	परिज्ञायोपभु॰	७	१४८
निन्दितस्तूयमा॰	७	२८९	परिणामे पूर्वं॰	१३	४१
नीरपूरितभा॰	११	९७	परोक्षं ब्रह्मवि॰	१	६३
नीरोग उपवि॰	२	१०६	परिपूर्णः परा॰	५	३
नीलपृष्ठत्रिको॰	६	३५	परिमाणाविशे॰	८	३१
नृत्यशालास्थितो	१०	११	परोक्षज्ञानका॰	७	५०
नेत्रे जागरणं	११	९१	परोक्षज्ञानतो	७	४५
नेन्द्रियाणि न॰ दृ॰	११	३२	परोक्षज्ञानम॰	९	३१
नैतावताऽपरा॰	७	२४६	परोक्षत्वापरा॰	९	१७
नैवं जानन्ति मू॰	६	२६६	परोक्षमपरो॰	७	२२
नैवं ब्रह्मत्वबो॰	७	८४	परोक्षा चापरो॰	६	१५
नैष दोषो यतो॰	७	१५२	पादोऽस्य सर्वा भू॰	२	५५
नैष्कर्म्यसिद्धाव॰	८	४४	पामराणां व्यव॰	९	१२१
नैष्कर्म्येण स त॰	९	१०३	पारोक्ष्येण विबु॰	७	६७
नोभयं श्रोत्रिय॰	१४	२७	पिताऽपि सुताव॰	११	५६
न्यूनाधिकशरी॰	६	८४	पितृत्वाद्यभिमा॰	११	५७
प.			पितृभुक्तान्नजा॰	३	३
पञ्चकोशपरि॰	३	२२	पुंविशेषत्वम॰	६	११०
पञ्चोक्त्यादानग॰	२	१०	पुण्यपापद्वये	१४	१२
पटरूपेण सं॰	६	१६८	पुत्रदारेषु त॰	७	२३३
पटादप्यान्तर॰	६	१६६	पुत्रादेरविव॰	३	४२
पतिजायादिकं	७	१९३	पुत्रार्थं तमुपा॰	६	११६
पतिर्जाया पुत्र॰	१२	६	पुनर्द्वैतस्य व॰	६	२४७
पत्याविच्छा यदा॰	१२	७	पुनस्तिरोभाव॰	६	१८४
परप्रेमास्पद॰	१२	७२	पुनः पुनर्विचा॰	९	३८
परमात्माऽद्वया॰	१०	१	पुमानधोमुखो	१३	४७
परमात्मावशे॰	६	१४	पुरत्रयं साद॰	६	११९
परव्यसनिनी	९	८४	पुरुषस्येच्छया क॰	९	८०
परव्यसनिनी	११	१२२	पूर्णे बोधे तद॰	६	२८४

	प्र.	श्लो.
पूर्णो देहे बलं	३	५
पूर्वकल्पे कृता०	१४	२९
पूर्वजन्मन्यस०	३	४
पूर्वपक्षतया	६	२२०
पूर्वापरपरा०	६	५९
पूर्वाभ्यासेन ते०	९	५०
पृथक्कृतायां सत्ता०	२	९५
पृथक्पृथक्चिदा०	६	७
पृथगाभासकू०	७	११
पृथुत्वादिविकारं तं	१३	३३
पृथुत्वादिविका०	१३	३३
पृथुबुध्नोदरा०	१३	३०
प्रज्ञानानि पुरा	११	७०
प्रणवोपास्तयः	९	१४७
प्रतिध्वनिर्विय०	२	३
प्रतिबन्धो वर्त०	९	४३
प्रतिबन्धोऽस्ति भा०	१	१३
प्रतिष्ठां विन्दते	११	३
प्रत्यक्परोक्षतं०	७	७३
प्रत्यक्षत्वेनाभि०	६	६३
प्रत्यक्षस्यानुमा०	९	१०
प्रत्यग्बोधो य आ०	७	७६
प्रत्यग्व्यक्तिमनु	९	१५
प्रत्यूषे वा प्रदो०	६	२०१
प्रथमं सच्चिदा०	१३	१०३
प्रधानक्षेत्रज्ञ०	६	१०३
प्रमाणोत्पादिता	२	१०८
प्रलये तन्निवृ०	४	४१
प्रवहत्यपि नी०	१३	१००
प्रवृत्तावाग्रहो	७	२८४
प्रवृत्तिर्नोपयु०	७	२७६
प्रवृत्तौ वा निवृ०	६	२६७
प्रशान्तमनसं	११	१०३
प्रश्नोत्तराभ्यामे०	७	१५८
प्रसरन्ति हि चो०	६	१३७

	प्र.	श्लो.
प्रस्थेन दारुजे०	८	३०
प्रागभावयुतं	६	२५५
प्रागभावो नानु०	६	२५४
प्रागूर्ध्वमपि नि०	११	७६
प्राज्ञस्तत्राभिमा०	१	२४
प्राणो जागर्ति सु०	६	६६
प्राप्य पुण्यकृतां०	९	४७
प्राभाकरास्तार्कि०	६	८८
प्रारब्धकर्मणि	७	२६३
प्रारब्धकर्मप्रा०	७	१४३
प्रियं त्वां रोत्स्यती०	१२	६४
प्रियोऽप्रिय उपे०	४	२२
प्रीयाद्धरिर्हरो०	१५	३५
फ.		
फलपत्रलता०	१३	१८
ब.		
बन्धमोक्षव्यव०	६	२३३
बन्धस्तेनभानस०	४	३८
बद्धमुक्तो मही०	७	१५०
बहिरन्तर्विभा०	१०	१६
बहुजन्मदृढा	७	१०३
बहुवारमधी	९	३६
बहुव्याकुलचि०	९	१३२
बहु स्यामहमे०	४	५
बाढं निद्रादयः	३	१२
बाढं ब्रह्मेति वि०	११	७८
बाढं माने तु मे०	४	२७
बाढं सन्ति ह्यदा०	७	९९
बाढमेतावता	१२	३९
बाधितं दृश्यता०	७	२७९
बालस्य हि विनो०	१३	२२
बाष्पं धूमतया	९	७
बाह्यं रथ्यादिकं	११	५५
बाह्यभोगान्मनो	११	९४
बुद्धतत्त्वेन धी	४	६२

	प्र.	श्लो.
बुद्धश्चेन्न बुभु	७	२७७
बुद्धाद्वै तस्वत०	४	५५
बुद्धिकर्मेन्द्रिय ·	१	२३
बुद्धितत्स्थचिदा०	७	९१
बुद्धोऽपि भेदो नो	२	७२
बुद्धौ तिष्ठान्नान्त०	६	१६४
बुद्धयवच्छिन्न कू०	८	२७
बुद्धयादीनां स्वरू०	८	५४
बुद्धयारोहाय त०	६	३०
बृहद्रथस्य राज०	११	११०
बोधयामास मै०	१२	५
बोधात्पुरा मनो०	४	५६
बोधादूर्ध्वं च त०	४	५१
बोधेऽप्यनुभवो	३	१९
बोधोपास्त्योर्विशे०	९	७४
ब्रह्मचारी भिक्ष०	९	७९
ब्रह्मण्यज्ञानना०	७	९२
ब्रह्मण्यारोपित०	७	४०
ब्रह्मण्येते नाम०	१३	९३
ब्रह्म नास्तीति मा०	७	५२
ब्रह्ममात्रं सुवि०	९	२२
ब्रह्म यद्यपि शा०	९	२०
ब्रह्मलोकतृणी०	६	२८५
ब्रह्म लोकाभिवां०	९	५१
ब्रह्मविज्ञानमा०	११	६१
ब्रह्म विद्धि तदे०	९	५९
ब्रह्मवित्परमा०	११	२
ब्रह्मानन्दाभिधे	११	१३४
ब्रह्मविद्ब्रह्मरू०	१२	७०
ब्रह्मसाक्षात्कृति०	९	३०
ब्रह्माद्याः स्तंवप०	६	५
ब्रह्मानन्दं प्रव०	११	१
ब्रह्मानन्दाभिधे	११	१३४
ब्रह्मानन्दाभिधे	१२	९०
ब्रह्मानन्दाभिधे	१३	१०५
ब्रह्मानन्दाभिधे	१४	६५

	प्र.	श्लो.
ब्रह्मानन्दाभिधे	१५	३४
ब्रह्मानन्दो वास०	११	८७
ब्रह्मापरोक्ष्यसि	७	७०
ब्रह्माण्डमध्ये ति०	२	९६
ब्रह्माण्डलोकदे०	२	५७
ब्राह्मण्यं मेऽस्ति पू०	१२	१३
भ.		
भगवत्पूज्यपा०	२	३०
भरतादेरप्र	६	२७२
भर्जितानि तु बी०	७	१६४
भविष्यन्नमरे	१३	२५
भातीति चेद्भ्रातु	२	७०
भारवाही शिरो०	११	१२५
भार्या स्नुषा ननां०	४	२३
भिक्षावस्त्रादि र०	९	११२
भिद्यते हृदय०	११	७
भिन्ने वियत्सती०	२	६७
भीषाऽस्मादित्येव०	६	१०७
भुञ्जाना वा अपि	७	१४४
भुञ्जानोऽपि निजा०	९	८३
भुञ्जानो विषया०	११	१३०
भूतभौतिकमा०	२	९८
भूतोत्पत्तेः पुरा	११	१४
भूमौ कडकडा०	२	५
भूम्यादिपञ्चभू०	१२	१८
भृगुः पुत्रः पितुः	११	१२
भेदोऽस्ति पंचको०	१२	४१
भोक्ता स्वस्यैव भो०	७	२०१
भोगेन चरिता०	७	१६६
भोग्यमिच्छन्भोक्तु०	१४	८
भोग्यानां भोक्तृशे०	७	२०२
भ्रमाधिष्ठानभू०	७	५
भ्रमांशस्य तिर०	७	८
भ्राम्यन्ते पण्डितं	६	५८
भ्रान्तिस्वप्नमनो०	४	२६

	प्र.	श्लो.
म		
मग्नस्याब्धौ यथा०	२	२७
मणिप्रदीपप्र०	९	२
मन आत्मेति म०	६	६७
मन एव मनु०	६	६८
मन एव मनु०	११	११७
मनसो निगृही०	७	१४९
मनुष्यलोको ज०	१२	३६
मनो जृम्भणरा०	२	४६
मनो दशेन्द्रिया०	२	१२
मनोराज्याद्विशे०	१३	९८
मनोवाक्कायत०	९	९०
मनो हि द्विविधं	११	११६
मर्त्यभोगे द्वयो०	१४	२३
मर्त्यान्नमेकं दे०	४	१५
मशकध्वनिमु०	७	१८८
महतः परम०	६	१०१
महत्तमं विर०	१५	१८
महत्तरप्रयासे०	११	३९
महाकाशस्य म०	६	२०
महाराजः सार्वं०	११	५१
महाविप्रो ब्रह्म०	११	५२
मन्दस्य व्यवहा०	१५	२८
माण्डूक्यतापनी०	११	६७
मातापित्रोर्वंध०	१४	१७
मातुर्नामाभिनि	४	३०
माधुर्यादिस्वभा०	३	१४
मा न भूवमहं	१२	३१
मायाख्यायाः काम०	६	२३६
माया चेयं तमो०	६	१२५
मायात्वमेव नि०	६	१४०
मायाधीनश्चिदा०	६	१५७
मायाभासेन जी०	६	१५५
मायाभासेन जी०	७	३
मायाभासेन जी०	८	६०
मायामयः प्रपं०	९	८८
मायामयत्वं भो०	७	१७०
मायामेघो जग०	८	७५
मायाविद्ये विहा०	१	४८
मायावृत्त्यात्मको	४	१९
मायां तु प्रकृतिं	४	२
मायां तु प्रकृतिं	६	१२३
मायिकोऽयंचिदा०	७	२१७
मायी सृजति वि०	६	१९७
मायोपाधिर्जग०	७२	७२
मार्गे गंत्रोर्द्वयोः	७	१३४
मा विनश्यत्वयं	७	१६७
मासाब्दयुगक०	१	७
माऽस्त्वद्वैते सुखं	११	२३
माहेश्वरी तु मा०	४	१२
मांसपाञ्चालिका०	७	१४०
मिथ्याभियोगदो०	७	२३६
मिथ्यात्वबुद्धया त०	९	११५
मिथ्यात्ववासना०	७	१३१
मुक्तिस्तु ब्रह्मत०	६	२१०
मुखदैन्यविका०	११	३६
मुग्धबुद्धातिबु०	११	५३
मुमूर्षोर्गृहर०	१२	४४
मूर्तिप्रत्यसां०	७	११९
मूर्तिध्यानस्य मं०	९	१२५
मूसासिक्तं यथा	४	२८
मृच्छक्तिवद्ब्रह्म०	१३	८५
मृतेऽपि तस्मिन्वा०	४	३५
मृत्सुवर्णमय०	१३	५३
मृद्वते सच्चिदा०	१३	७०
मेघवद्वर्तते	६	१५६
मेघाकाशमहा	६	१९४
मेघांशरूपमु०	६	२१
मैवं मांसमयी	४	२५
मैवमुष्णप्रका०	१२	७४

	प्र.	श्लो.
मोक्ष्येऽहमित्यत्र	१२	४८
मोहादनीशतां	४	१३
य.		
यं कर्मी न विजा०	७	२७४
यं यं वाऽपि स्मर०	९	१३७
यं लब्ध्वा चापरं	११	१०६
य आनन्दमयः	११	९०
य उपास्ते त्रिमा०	९	१४४
य एवमतिशू०	७	२८३
य एवं ब्रह्म वे०	३	४३
यतो वाचो नि०	११	१०२
यत्र त्वस्य जग०	७	१८१
यत्र यद्दृश्यते	७	२११
यत्रोपरमते	११	१०४
यत्सांख्यैः प्राप्यते	९	१३४
यत्सांख्यैः प्राप्यते	१२	८२
यथाऽगाधनिधे०	९	१५३
यथा चित्रपटे	६	१
यथा चेतन आ०	६	४६
यथाऽत्र कर्मव०	६	९२
यथा दीपो निवा०	१	५८
यथा धौतो घट्टि०	६	२
यथा निरिंधनो	११	१११
यथा पुष्करप०	१४	१३
यथा मुञ्जादिषी०	१	४२
यथा यथोपास०	६	२०९
यथा विधिरूपा०	७	८६
यथा संवादिवि०	९	१२३
यथा स्रगादिनी०	६	२३०
यथैधांसि समि०	१४	१५
यदज्ञानं तत्र	११	६२
यदद्वैतं श्रुतं	६	२३८
यदभावि न तद्भा०	७	१६८
यदा मलिनस०	१	४५
यदा सर्वे प्रमि०	६	२६०

	प्र.	श्लो.
यदा सर्वे प्रमु०	६	२५९
यदा स्वस्यापि भो०	७	२२१
यदि विद्याऽपह्नु०	७	१७९
यदि सर्वग्रह०	१०	२६
यद्यत्सुखं भवे०	१५	१९
यद्यथा वर्तते	२	६५
यद्यथा वर्तते	७	११०
यद्यद्रूपादि क०	१०	२३
यद्यपि त्वमसी०	७	६४
यद्यप्यसौ चिरं	११	११९
यद्योगेन तदे०	१२	८१
यद्वाऽपि निर्मले	१५	१०
यद्वा प्रतिध्वनि०	२	६२
यद्वा सर्वात्मतां	१४	३७
यद्वाऽन्तकालः प्रा०	२	१०५
यमाग्निमुख्या दे०	१४	३२
यमादिर्धीनिरो०	६	२८०
यया यया भवे०	८	७३
ययोल्लसति श०	१३	१५
यस्तु साक्षिणमा	१२	७१
यस्मिन्यस्मिन्नस्ति	३	२१
यस्य नाहंकृतो	१४	१६
या प्रीतिरविवे०	७	२०३
या बुद्धिवासना०	६	१५३
यावच्चिन्त्यस्वरू०	९	७८
यावत्स्वदेहदा०	७	२४३
यावद्यावदव०	१३	८१
यावद्यावदहं०	११	९८
यावद्विज्ञानसा०	९	१२२
या शक्तिः कल्पये०	२	६३
युञ्जन्नेवं सदा०	११	१०८
युवा रूपी च वि०	१४	२१
यूनश्च परदा०	१२	६७
येनायं नटने०	७	२९०

	प्र.	श्लो.
येनेक्षते शृणो०	५	१
येनेदं जानते	३	१७
ये वदन्तीत्यमे०	६	२३९
योगभ्रष्टस्य गी०	९	४६
योगानन्दः पुरो०	१३	१
योगाभ्यासस्त्वेत०	९	१२९
योगे कोऽतिशय०	१२	८४
योगेनाऽऽत्मविवे०	१४	१
यो ब्रह्म वेद ब्र०	७	२४१
यो भूमा स सुखं	११	१७
योऽयं स्थाणुः पुमा	८	४३
यौवराज्ये स्थितो	७	२४०
र.		
रजोंऽशैः पञ्चभि०	१	२१
रज्जुज्ञानेऽपि कं०	७	२४४
रागो लिङ्गमबो०	७	१९१
रात्रिघस्रौ सुप्ति०	६	१८५
रूपं रूपं बभूवा०	१५	६
रोगक्रोधाभिभू०	१२	२८
ल.		
लिङ्गाभाने सुषु०	१	३९
लीना सुप्तौ वपु०	३	७
लौकिकव्यवहा०	७	१२
व.		
वपुर्वाग्धीषु नि०	७	२७२
वर्णाश्रमपरा०	९	११३
वर्णाश्रमवयो	९	१००
वर्णाश्रमादयो	९	१०१
वस्तुत्वं घोषयं०	८	६६
वस्तुधर्मा नित्य०	३	३९
वस्तुस्वभावमा०	१५	१२
वस्त्राभासस्थिता०	६	८
वह्निरुष्णः प्रका०	२	८९
वाक्पाणिपादपा०	२	११

	प्र.	श्लो.
वाक्येमप्रतिब०	१	६२
वागादीनामिन्द्रि०	६	६४
वागाद्यगोचरा०	९	५७
वाङ्निष्पाद्यं ना०	१३	३९
वातपित्तश्लेष्म०	७	२२४
वायुरस्तीति स०	२	८०
वायुः सूर्यो वह्नि०	११	४
वायोर्दशांशतो	२	८८
वालाग्रशतभा०	६	८१
वासनानां परो०	६	१६३
वासनाऽनेकका०	१३	८४
वासनायां प्रवृ०	२	७६
विकल्पतदभा०	१	५२
विकल्पो निर्विक०	१	५०
विकारिबुद्धयधी०	७	१९६
विक्षिप्यते कदा०	४	६६
विक्षेपावृत्तिरू०	६	२६
विक्षेपोत्पत्तितः	७	३९
विक्षेपो नास्ति य०	७	२६५
विक्षेपो नास्ति य०	१४	५२
विक्षेपो यस्य ना०	४	६७
विचारयन्नाम०	९	३३
विचाराज्जायते	९	७५
विचारितमलं	४	६५
विचार्याप्यापरो०	९	३२
विचिन्त्य सर्वरू०	१३	६४
विजातीयमस०	२	२५
विज्ञानमय उ०	११	१५
विज्ञानमयको०	६	७३
विज्ञानमयमु०	६	१६३
विज्ञानमयमु०	११	६९
विज्ञानमयरू०	६	१७४
विज्ञानमात्मेति	६	६९
विज्ञानवादो बा०	४	३६
विज्ञानं क्षणिकं	६	७४

	प्र.	श्लो.
विड्वराहादि तु०	४	५७
वित्तात्पुत्रः प्रियः	१२	६०
विदितादन्यदे०	९	६०
विद्यायां सच्चिदा०	१५	३१
विद्यारब्धे विरु०	७	१७६
विद्वांश्चेत्तादृशां	७	२८५
विघ्यभावान्न बा०	९	१०६
विना क्षोदक्षमं	६	५६
विपरीता भाव०	७	१०४
विपर्यस्तो निदि०	७	२६१
विपर्यस्तो निदि०	१४	४८
विप्रक्षत्रादयो	१२	४९
विप्रक्षत्रियवि०	६	२०७
वियदादेर्नाम०	२	३४
विरलत्वं व्यव०	७	२६४
विरलत्वं व्यव०	१४	५१
विराण्मनुर्नरा	४	९
विरोधिप्रत्ययं	९	८२
विलयोऽप्यस्य सु०	७	२१८
विलीनघृतव०	११	६३
विवक्ष्यते तद०	१२	८८
विविच्य नाशं नि०	७	२१९
विविच्य भ्रान्तिमु०	७	२३४
विविक्तता भोक्तृ०	७	२१०
विवेके जाग्रति	७	१५१
विवेके द्वैतमि०	६	२५२
विवेकेन परि०	७	१४६
विश्रान्ति परमं	११	१२६
विश्वरूपाध्याय०	६	२०५
विषयानन्दव०	१४	२
विषयेष्वपि ल०	११	८६
विष्टभ्याहमिदं	२	५६
विष्णुं ध्यायतु धी०	७	२७०
विष्णुं ध्यायतु धी०	१४	५७
विष्णोर्नाभेः समु०	६	११७
विष्ण्वाद्युत्तमदे०	१०	२
विस्फुलिङ्गा यथा	४	७
विस्मयैकशरी०	६	१३९
वीर्यस्यैष स्वभा०	६	१४५
वृक्षस्य स्वगतो	२	२०
वृत्तयस्तु तदा०	१	५६
वृत्तिष्वेतासु स०	१५	५
वृत्तीनामनुवृ०	१	५७
वृत्तेः साक्षितया	८	५६
वृद्धिमिष्टवतो	७	८२
वेदवाक्यानि ने०	९	२९
वेदान्तविज्ञान०	९	७२
वेदान्तानामशे०	७	१०१
वेदान्तेभ्यो ब्रह्म०	९	१४
वेदाध्यायी ह्यप्र०	९	८१
वेदाध्यासात्पुरा	११	१९
वैतथ्यंमस्तु वा	४	३७
वैराग्यं क्षान्तिरौ०	२	१४
वैराग्यबोधोप०	६	२७६
वैराग्योपरती	६	२८३
व्यक्तं घटो विकारे	१३	४५
व्यक्तकाले ततः	१३	४४
व्यक्ताव्यक्ते तदा०	१३	४०
व्यक्तीनां नियमो	१२	५४
व्यक्ते नष्टेऽपि ना०	१३	४२
व्यक्त्यनुल्लेखमा०	१	५३
व्यञ्जको वा यथा०	४	२९
व्यज्यन्ते ह्यान्तरा०	२	९
व्यवहारो लौकि०	७	२६१
व्यवहारो लौकि०	१४	५४
व्याचक्षतां ते शा०	७	२५७
व्याचक्षतां ते शा०	१४	४३
व्याधयो धातुवै०	१४	९
व्यासादेरपि सा०	९	१०९
व्रताभावाद्यदा०	७	२४९

	प्र.	श्लो.		प्र.	श्लो.
	प्र.	श्लो.	श्मश्रुकण्टकवे०	१२	१०
व्रात्यश्रोत्रिययो०	६	२६८	श्येनो वेगेन नी०	११	४९
व्रीह्यादिकं दर्श०	४	१६	श्रद्धालुर्व्यसनी	११	१२०
श.			श्रवणादित्रयं	६	२७९
शकुनिः सूत्रब०	११	४७	श्रुतितात्पर्यम०	८	७४
शक्तिः शक्तात्पृथ०	१३	११	श्रुतियुक्त्यनुभू०	११	७९
शक्तिरस्त्यैश्वरी	३	३८	श्रुत्यर्थं विशदी०	८	६७
शक्तेः कार्यानुमे०	१३	१२	श्रोतुर्देहेन्द्रिया०	५	६
शक्त्याधिक्ये जीवि०	२	५२	श्रोत्रियत्वाद्वेद०	१४	२४
शक्यं जेतुं मनो०	४	६१	श्रौतीकर्तुं स्वप०	६	६१
शनैः शनैरुप०	११	१०१	श्रौत्या विचारदृ०	१२	५७
शब्दस्पर्शादयो	१	३	स.		
शब्दस्पर्शौ रूप०	२	२	संख्यामेवैष जा०	११	८१
शब्दानेव पठ०	११	८३	सङ्गी हि बाध्यते	६	२७४
शमयत्यौषधे०	७	२५०	सन्त्यापोऽमूः शून्य	२	९२
शमाद्यैः श्रवणा०	९	४४	सन्ध्ययोऽखिलवृ०	८	२१
शयाने पुरुषे	१३	९०	संवादिभ्रमतः	९	१
शाखाभेदात्काम०	७	१००	संसर्गो वा विशि०	७	७५
शापानुग्रहसा०	९	१०८	संसारः परमा०	६	१०
शास्त्राण्यधीत्य मे०	४	४५	संसाराशक्तिचि०	७	२९
शास्त्रोक्तेनैव मा०	९	१९	संसायहं विबु०	७	४१
शान्ता घोरास्तथा	१५	३	स आत्मा सर्वगो	१३	२०
शान्ता घोराः शिला	१५	३२	सकृत्प्रत्ययमा०	९	९२
शान्तासु सच्चिदा०	१५	२७	सकृदाप्तोपदे०	९	२५
शिलादौ नामरू०	१५	२६	सगुणत्वमुपा	९	५८
शिवस्य पादाव०	६	११८	स घटो न मृदो	१३	३५
शून्यत्वमिति चे०	२	४९	सच्चित्सुखात्मकं	१३	६२
शून्यमासीदिति	२	३२	सच्चिदाननन्दम०	१	१५
शून्यशक्तिस्तथा०	१३	१७	सच्चिदानन्दरू०	९	१८
शृण्वसङ्गः परि०	८	२८	सच्चिदानन्दरू०	१३	८०
शृण्वन्त्वज्ञातत०	७	२६०	सतो नावयवाः	२	२२
शृण्वन्त्वज्ञातत०	१४	४७	सतोऽनुवृत्तिः स०	२	८१
शेषाः प्राणादिवि०	१२	५९	सतोऽपि नामरू०	२	३५
शोधितस्त्वंपदा०	८	४७	सतो विवेचिता०	२	९३
शोषस्पर्शौ गति०	२	७९	सतो विवेचिते	२	९१

	प्र.	श्लो.
सतो व्योमतत्वमा०	२	६४
सत्कर्मपरिपा०	१	३१
सत्तत्त्वमाश्रिता	२	५९
सत्ता चितिर्द्वयं	१५	२१
सत्ता चितिः सुखं	१५	२०
सत्त्ववृत्तौ चित्सु०	१२	७८
सत्त्वशुद्धयविशु०	१	१६
सत्त्वांशैः पञ्चभि	१	१९
सत्यं कार्येषु व०	१३	५८
सत्यं ज्ञानमनं०	३	३७
सत्यं ज्ञानमनं०	६	१९१
सत्यं ज्ञानमनं०	६	१९६
सत्यं ज्ञानमनं०	७	६६
सत्यत्वं बाधरा०	३	२९
सत्यत्यात्मनि लो०	१२	३५
सत्येवं विषयौ	४	३१
सत्येवं व्यवहा०	१२	४३
सदन्तरं सजा०	२	२४
सदद्वैतं श्रुतं	२	१
सदद्वैतात्पृथ०	२	९९
सदद्वैतेऽनृत०	२	१०४
सदसत्त्वविवे०	२	८५
सदा पश्यन्निजा	१२	८९
सदा विचारये०	६	१२
सदासीदिति श०	२	३६
सदृशं चेष्टते	७	१५५
सदेवेत्यादिवा०	७	६१
सद्बुद्धिरपि चे०	२	४५
सद्रूपमारुणिः	१३	६३
सद्वस्तुन्येकदे०	२	७८
सद्वस्तु ब्रह्म शि०	२	८६
सद्वस्तु शुद्धं त्व०	२	४४
सद्वस्त्वधिकवृ०	२	६८
सन्मायाव्योमवा०	२	९०
सपुराणान् पञ्च०	११	१८
सप्तान्नब्राह्मणे	४	१४
सप्तावस्था इमाः	७	३४
स बोधो विषया०	१	६
स भूमिं विश्वतो	२	५७
समन्वमाध्याय	७	१०२
समष्टिरीशः स०	१	२५
समाधिनिर्धूत०	११	११८
समाधिमथ क०	९	१०२
समासक्तं यथा	११	११५
समुत्थायेष भू०	८	३९
समृत्कस्य विका०	१३	५५
समेऽपि भोगे व्य०	७	१६९
सम्यग्विचारो०	६	२५८
स यत्तत्रेक्षते	७	२१२
सर्वकामाप्तिरे०	१४	३५
सर्वज्ञत्वादिकं चे०	८	६४
सर्वज्ञत्वादिके	६	१५९
सर्वतः पाणिपा०	६	११५
सर्वतो लाञ्छितो	६	२०२
सर्वथा शक्तिमा०	२	५३
सर्वबाधे न किं०	३	३१
सर्वभूतानि वि०	६	१७२
सर्वव्यवहृति०	१२	२०
सर्वं ब्रह्मेति जग०	८	४५
सर्वात्मना विस्मृ०	११	९९
सर्वान्कामान्सहा०	१४	२०
सर्वैर्मानुष्यकै०	१४	२२
सविकल्पस्य ल०	१	४९
स वेत्ति वेद्यं त०	३	१८
सङ्गत्वविका०	८	३३
सस्यं वा शाकजा०	६	२०३
सहस्रशीर्षेत्ये०	६	११४
सहस्रशो मनो०	१३	९५
साक्षात्कर्तुमश०	९	१५२
साक्षात्कृतात्मधीः	७	१३५

	प्र.	श्लो		प्र.	श्लो.
साक्षिसत्यमत्वम०	७	२३१	स्थितिर्लयश्च कुं०	१३	५
साक्ष्येव दृश्याद०	१२	६२	स्थितोऽप्यसौ चिदा०	७	९४
सात्त्विकैर्धीन्द्रियैः	१	३५	स्थूलं देहं विना	६	११३
साधिष्ठानो विमो०	७	६	स्थूलं सूक्ष्मं कार०	७	२२३
साभासमेव त०	६	१५४	स्पन्दशक्तिश्च वा०	१३	१६
सामर्थ्यहीनो नि	९	१११	स्पष्टं भाति जग०	६	१४२
सामानाधिकर०	८	४६	स्पष्टशब्दादियु०	२	१७
सार्वभौमादिसू०	१४	३३	स्यात्पञ्चीकृतभू०	१	३४
साङ्कुशा विषयै०	७	२५२	स्याद्व्याघ्रः सम्मुखो०	१२	५३
सांख्यकाणादबौ०	२	१००	स्रक्चन्दनवधू०	७	२०५
सांशस्य घटव०	६	८५	स्वकीयाच्छून्यन०	१३	२४
सिद्धं ब्रह्मणि स०	३	३४	स्वकीये सुखदुः०	११	३७
सिध्येन्न वेत्यस्ति	१५	१५	स्वतः तूर्णः परा०	५	४
सुखदुःखाभिमा०	७	१९५	स्वतः शुभ्रोऽत्र धौ	६	३
सुखमस्वाप्सम०	११	५९	स्वतश्चिदन्तर्या०	६	४
सुखमात्यन्तिकं	११	१०५	स्वतोऽपरोक्षजी०	७	८१
सुखसाधनतो०	१२	२३	स्वप्नेन्द्रजालस०	७	१७१
सुखं वैषयिकं	११	२१	स्वप्ने वियदर्गिन	१३	८७
सुखिदुःख्यभिमा०	७	१९५	स्वप्रकाशतया	९	९३
सुखे वैषयिके	१२	२५	स्वप्रकाशापरोक्षत	५	७
सुप्तिपूर्वक्षणे	११	६४	स्वप्रकाशे कुतो०	३	२८
सुप्तिवद्विस्मृतिः	६	२८६	स्वप्रकाशोऽपि सा०	७	९०
सुप्तोत्थितस्य सौ०	१	५	स्वप्रभत्वे भव	११	२४
सुरभीतरगं०	२	६	स्वभावजेन कौन्ते०	७	१६१
सुषुप्तिकाले स०	११	५८	स्वयंज्योतिर्भव०	३	१६
सुषुप्तिविषया	७	१८३	स्वयं भ्रमोऽपि सं०	९	१३
सुषुप्त्यभाने भा०	१	४१	स्वयमात्मेति प०	६	४३
सूक्ष्मनाडीप्रचा०	६	८३	स्वयमेवानुभू०	३	१३
सूत्रात्मा सूक्ष्मदे०	६	२००	स्वयोनावुपशा०	११	११२
सोऽकामो निष्काम	९	१४१	स्वर्गलोकब्रह्म०	१२	१५
सोऽयमित्यादिवा०	१	४७	स्वस्थानसंस्थितो	१०	१५
सोऽस्यायमात्मा पु०	१२	३४	स्वस्मिन्मृतेऽपि पु०	१२	३८
सोऽहं विद्वन्प्रशो०	११	२०	स्वस्वकर्मानुसा०	६	२८८
सोषुप्तमानन्द०	६	१५८	स्वस्वप्नमापरोक्ष्य	७	१७२
स्तामद्वैतस्वप्र०	११	३३	स्वं परं च न वे०	७	२२६

	प्र.	श्लो.
स्वानुभूताववि०	६	२९
स्वानुभूतिरवि०	६	३१
स्वामिभृत्यादिकं	१२	१९
स्वासत्त्वं तु न क०	३	२४
ह.		
हानादानविही०	१२	२७

	प्र.	श्लो.
हिरण्यश्मश्रुसू०	९	७१
हेतुस्वरूपका०	६	२७७
हैरण्यगर्भाः प्रा०	६	६५
हृष्यत्येको मणि	४	२१

इति पञ्चदशीस्थश्लोकाऽनुक्रमणिका ॥